ॐ आनन्दमय

ॐ शान्तिमय

श्रीमद्भगवद्गीता

महाराजभाष्य

(द्वितीय भाग)

परम पूज्य महाराजजी

ॐ आनन्दमय ॐ शान्तिमय

श्रीमद्भगवद्गीता

महाराजभाष्य

(द्वितीय भाग)

श्री भागीरथी धाम, गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पौड़ी, उत्तराखण्ड,
हिमालय, पिन २४१ ३०४

श्री भागीरथी धाम, हरिपुरकला, प्रेम विहार चौक, हरिद्वार, उत्तराखण्ड,
पिन २४६ २०५

प्रथम संस्करण २५००
मार्गशीष, मोक्षदा एकादशी
श्रीगीता जयन्ती, सम्वत् २०६३
सन् दिसम्बर २००६
द्वितीय संस्करण ११००
श्रीरामनवमी, सम्वत् २०७०
सन् १६ अप्रैल २०१३

सर्वाधिकार सुरक्षित – श्री भागीरथी धाम समिति
श्री भागीरथी धाम,
गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पौड़ी, उत्तराखण्ड,

मुद्रक – विद्यार्थी प्रेस, पटना, बिहार, पिन ८०० ००४

प्रकाशक भक्तों की ओर से दो शब्द :

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यह सूत्र वाक्य निर्विवादतः परम पूज्य महाराजजी के प्रस्तुत महाराजभाष्य पर पूर्णरूपेण लागू होता है। स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने बाँसुरी को प्रतीक मानकर विभिन्न राग–रागिनियों के माध्यम से लोक जीवन एवं ब्रह्मतत्त्व के विविध पक्षों से अर्जुन का रणभूमि में साक्षात्कार कराते हुए आध्यात्मिक कर्मपथ पर प्रवृत्त किया है। आज जब लौकिक ऐश्वर्यों के चकाचौंध में भौतिक साधनों का संग्रह ही जीवन का उद्देश्य होता जा रहा है, परिणामतः दुःख, संघर्ष एवं संत्रास से आज मानव घिरा हुआ है। इस घेरे को तोड़कर ब्रह्मानन्द से साक्षात्कार का अभीष्ट प्राप्त करने तथा अखिल ब्रह्माण्ड नायक परमपिता परमात्मा के श्रीचरणों में स्वयं को समर्पित करने के निमित्त गीताजी को हृदयंगम करने के अतिरिक्त कलियुग में और कोई साधन नहीं है क्योंकि परम पूज्य महाराजजी ने स्पष्टतः रेखांकित किया है कि "जिस अलौकिक गीताजी में तंत्र, मंत्र, योग, ज्ञान, विज्ञान सब समाए हुए हैं अर्थात् जिसके पठन, पाठन, चिन्तन, मनन से ही सम्पूर्ण योगों का, साधनाओं का, जप–तप का फल प्राप्त हो जाता है।" (प्रथम अध्याय, पृ० ४६)

महर्षि व्यासजी से लेकर आज तक विविध कालखण्डों में विभिन्न संतों, ऋषियों एवं मनीषियों द्वारा श्रीमद्भागवत का अमृत पान कराने की परम्परा स्थापित है। सद्गुरु अपने भक्तों को श्रीमद्भागवत की महत्ता एवं प्रासंगिकता इस दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं कि उन्हें साधना, उपासना का सहज फल प्राप्त हो सके। इसी पृष्ठभूमि एवं परम्परा का निर्वाह करते हुए परम पूज्य महाराजजी ने गीता के गूढ़ अर्थों, उसमें निहित दर्शन, तत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मविद्या को आम भक्तों के लिये सरल, सुगम एवं सहजग्राहीरूप में प्रस्तुत भाष्य अपने भक्तों को प्रदान किया है। अपनी अमृतवाणी से परम पूज्य महाराजजी ने गूढ़ गद्यमय भाष्य को काव्यात्मकता के कलेवर में प्रस्तुत किया है ताकि भाव–सम्प्रेषण केंद्रीय विषय बना रहे। लोकभाषा में प्रचलित शब्दों एवं शैलियों का प्रयोग इस भाष्य में निःसंकोचरूप से इसीलिए किया गया है कि प्रस्तुत भाष्य आम भक्तों का भाष्य बन सके।

इस भाष्यरूपी ज्ञान गंगोत्री में डुबकी लगाते समय भक्तों को यह सहज प्रतीति होगी कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण उनके संकटों, समस्याओं एवं संशयों का निवारण करते हुए भगवदर्थ कर्म एवं ज्ञान मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। भाष्य पाठन के पश्चात् भक्त स्वयं अर्जुन की भाँति भय, विषाद, संकोच, असमंजस आदि से मुक्त हो सत्य को अंगीकार करते हुए कर्मपथ पर प्रवृत्त हो रहा है।

परम पूज्य महाराजजी ने आत्मजिज्ञासुओं, साधकों एवं भक्तों के हितार्थ स्वामी आत्मानन्दजी, स्वामी रामानन्दजी, स्वामी शेषानन्दजी आदि साधकों एवं राधेश्यामजी, मुन्नालालजी आदि भक्तों के अतिशय अनुरोध पर ही इस गीता भाष्य को वैसे ही प्रकट किया है जैसे देवताओं, संतों एवं भक्तों ने भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवती आदि को प्रकट किया है। गुरुदेव की हम भक्तों पर इससे और बड़ी कृपा नहीं हो सकती। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसका पठन–पाठन कर हम जीवन के उन सभी प्रश्नों का सहज उत्तर प्राप्त कर सकेंगे, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय तथा शान्तिमय हो सके।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना समीचीन होगा कि यह भाष्य चूँकि वाणिज्यिक दृष्टि से प्रकाशित नहीं किया जा रहा है इसीलिए इसका मूल्य अंकित नहीं है। यह हम लोगों जैसे ही सभी श्रद्धावान भक्तों को सहजरूप से उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है। मुद्रण में आए वित्तीय भार का वहन स्वैच्छिकरूप से श्री प्रकाश राजगड़िया (मुम्बई वाले) ने किया है।

हम हैं आपके–

श्री भागीरथी धाम, भक्त परिवार

गुरु वन्दना

नमामि सद्गुरो पदं, नमामि सद्गुरो पदं,
भजामि सद्गुरो वदं, भजामि सद् गुरो ददं।
स्मरामि सद्गुरो पठं, पठामि सद्गुरो पठं,
वदामि सद्गुरो वदं, ददामि सद्गुरो ददं।।१।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

लिखामि सद्गुरो लिखं, चलामि सद्गुरो चलं,
खदामि खाद सद्गुरो, पिवामि सद्गुरो पिवं।
करोमि सद्गुरो करं, धरोमि सद्गुरो धरं,
भरामि सद्गुरो भरम, रचामि सद्गुरो रचं।।२।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

अर्चामि अर्चनम गुरो, वन्दनामि वन्दनं गुरो,
नमामि सद्गुरो नमं, भजामि सद्गुरो भजं।
कृड़ामि सद्गुरो कृड़ं, वृणामि सद्गुरो वृणं,
व्रजामि सद्गुरो व्रजं, नमामि सद्गुरो पदं।।३।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

स्मरामि रूप सद्गुरो, जानामि रूप सद्गुरो,
भजामि रूप सद्गुरो, नमामि रूप सद्गुरो।
हुंकरामि सद्गुरो, हुंकरामि सद्गुरो,
जपामि च तपामि च, ध्यानामि ध्यान सद्गुरो।।४।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

कथाम्यहं सत् वचन, महाराज कथति सत् वचन,
कुरूत्वमादरेण सः येन्विध्या तेन्कृतं।
प्राप्स्यसि तु तत्पदं, प्राप्तं स यत्पदं,
प्राप्स्यसि तु तत्पदं, प्राप्तं स यत्पदं।।५।।
नमामि सद्गुरो पदं.....

(राग–मिश्र शिवरंजिनी)

परम पूज्य महाराजजी की वाणी से निःसृत अनमोल वचन

❁ यदि कोई साधक दूरसंचार (टेलीफोन) का प्रयोग न करे तो उसे दूरश्रवण की सिद्धि प्राप्त हो सकती है, यदि चलचित्र (टेलीविजन) न देखे तो दूरदृष्टि की सिद्धि मिल सकती है और समाचार पत्र नहीं पढ़े तो शास्त्रों के गूढ़ात्मक रहस्यों को समझने की दक्षता प्राप्त हो सकती है तथा घड़ी न पहने तो उसका समय भगवान बन जाता है क्योंकि बह्म समय में ही प्रकट होता है। समय के हत्यारे को अध्यात्म में ब्रह्म हत्यारा कहा गया है।

❁ पूआ–पकवान सामने रखे हुए हैं और खानेयोग्य वस्तु ही संयम के दृष्टिकोण से यदि खाता है तो आज के समय में यह बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी क्योंकि साधक संकल्प में विकल्प नहीं आने देता बल्कि वह इस विषय में जगत में किसी से समझौता नहीं करता।

❁ साधु में गुदड़ी शोभा देती है शृंगार शोभा नहीं देता। सत्संग के अभाव में माया अपना काम कर जाती है। सुन्दर भोजन, मान–सम्मान को भगवान की कृपा न समझे बल्कि माया समझे और ज्ञान, वैराग्य को भगवान की कृपा समझे।

❁ यदि साधक को अशान्ति है तो वह परधर्म में स्थित है क्योंकि वह ब्रह्मचर्य के आठ अंगों का पालन नहीं कर रहा है। सपने से हररोज साधक जानता है कि हम कितने पानी में हैं। इन्द्रियों में विषय है तो उन विषयों से उपराम सद्गुरु की आज्ञा के अनुसार ही हो सकता है। सकामी अपने मान के सामने सद्गुरु का भी अपमान कर सकता है।

❁ यदि जीव के पास प्रमाद नहीं है तो वह आत्मा ही है अर्थात् ब्रह्म ही है। अनुमान से प्रमाद होता है, प्रमाद अज्ञान से होता है और अज्ञान अज्ञानियों के संसर्ग से होता है इसलिए सत्पुरुषों का संसर्ग करना ही श्रेष्ठ धर्म है।

❁ जो प्रमाद से युक्त रहता है उसे जीव कहते हैं और जो प्रमाद को दूर करने का प्रयत्न करता है उसे साधक कहते हैं। यदि प्रमाद दूर करने मे सफलता मिल जाती है तो उसे सिद्ध कहते हैं और जो सफलता–असफलता से परे है उसे संत कहते हैं।

❁ शरीर प्रारब्धों को भोगने के लिए नहीं मिला है बल्कि भगवत् प्राप्ति के लिए मिला है इसलिए जीवनरूपी रथ पर सद्गुरु को बैठा लें और मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मैं कहाँ जाऊँगा इत्यादि जिज्ञासा का समाधान कराकर भवसागर से पार हो जायँ।

❁ जिसको सद्गुरु जो साधना दे दे उसेक लिए वही साधना सर्वोपरी होता है। साधना एक व्यवस्था और बहाना है भी है।

❁ जाग्रत में अपने को शरीर न मानकर जगत को ब्रह्ममय देखने का प्रयत्न करना चाहिए। स्वप्न को महत्त्व देते हैं लेकिन जाग्रत को महत्त्व न देने से ध्यान के प्रति आकर्षण होता है। आप स्वप्न में गंगादर्शन, संतदर्शन का महत्त्व देते हैं लेकिन जो जाग्रत में सहज प्राप्त है उसका महत्त्व नहीं देते। जाग्रत को व्यवस्थित करना ही श्रेष्ठ साधना है।

❁ भक्त को स्वार्थ और परमार्थ दोनों प्राप्त होना चाहिए। परमार्थ सद्गुरु से प्राप्त होता है और स्वार्थ भाई–बान्धव, सगे–सम्बन्धियों से प्राप्त होता है। संन्यासी के लिए त्याग ही क्रिया है। त्याग की बात समझ में नहीं आती इसलिए जप, तप की बात की जाती है।

❁ गृहस्थाश्रम में सद्गुरु मिल गया और उत्कट जिज्ञासा है तो गृहस्थाश्रम और संन्यास आश्रम में कोई अन्तर नहीं है। सद्गुरु मिल गये तो साधक का कर्तव्य है कि सद्गुरु जैसी मर्यादा बतायें उसका पालन करे। गृहस्थाश्रम में भरतजी का व्यवहार ही जपयज्ञ है।

❁ सद्गुरु वही है जो शिष्य के दोषों को प्रकट करता रहे क्योंकि अच्छाई तो जो है वह सामने है, भगवान की चाहना ही अच्छाई है।

❁ खण्डित द्रष्टा शरीरगत होता है और अखण्डित द्रष्टा आत्मगत होता है। जब साधक दुःख को भोगता है और सुख का त्याग करता है तब अध्यात्म पकड़ में आता है।

❁ आत्मा का धर्म निर्लेपता है जैसे वायु दस स्थान में विभक्त होकर भी उनके गुणों को ग्रहण नहीं करता। साक्षीत्व उसका स्वरूप है और अकर्तापना ही उसका कर्तृत्व है।

❁ सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु और जाबाल आदि के व्यवहार साधकों के लिये जपयज्ञ है। उपनिषद ज्ञानकाण्ड है, भगवान तथा संत की सेवा उपासनाकाण्ड और माता–पिता इत्यादि की सेवा कर्मकाण्ड है।

❁ जो पाँचो विषयों का त्याग कर दिया है और विषय आन्दोलित नहीं कर रहे हैं तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। विषयों को छोड़कर क्या करें ? स्वाध्याय, जप, तप, चिन्तन के साथ प्रतीक्षा करें भगवान की क्योंकि भगवान ही अध्यात्म का सार है।

❁ आत्मस्मृति से सम्पन्न होकर इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है वह योगी है। अज्ञान में ही काम का वास है और अज्ञान से ही न चाहने पर भी पापकर्म हो जाते हैं इसलिए भगवान कहते हैं कि ज्ञानरूपी तलवार से अज्ञान का छेदन कर समत्वयोग में स्थित हो जाओ।

❁ सद्गुरु भी यदि विषय दें तो उसको स्वीकार नहीं करना चाहिए भले ही सद्गुरु नाराज हो जायँ। यह तभी हो पायेगा जब आप नित्य निरन्तर सद्गुरु के आज्ञा का पालन कर रहे हैं। तभी यह विवेक आयेगा कि कब मानना चाहिए और कब नहीं मानना चाहिए।

❁ शीलवान ब्रह्मचारी का पतन हो जाता है। ब्रह्मचारी यदि बारह साल निष्कामी होकर गुरु की सेवा–शुश्रूषा कर देता है तो फिर उसका पतन नहीं होता। लक्ष्मण का जीवन आपको प्राप्त है तो आप निष्कामी हैं, जब आप लोलुप नहीं हैं दृढ़व्रती हैं तो निष्कामी हैं।

❁ भगवान सूर्य की तरह साधक को किसी भी अवस्था में अपने नियम का परित्याग नहीं करना चाहिए। साधक को सीमारेखा का निर्धारण करना चाहिए, कल कभी नहीं आता काल आता है। वासना भीतर में विचारों से प्रकट होती है और बाहर रूप में प्रकट होती है अतः बाहर–भीतर दोनों ओर से वासना का त्याग करना चाहिए।

समर्पणम्

महाराजकृतं गीताभाष्यं समर्पणं समर्पणम्।।

आस्तिकं कर्षणं नास्तिकं कर्षणं, ज्ञानी ध्यानी च योगीन्कर्षणम्।
मन मतिं हृदयं प्राणं कर्षणं, त्राणं त्राणं जीवनं कर्षणम्।।

जीवनं जीवनस्य जीवनं अमृतस्य, जीवनं सत्याऽपि च असत्यस्य जीवनम्।
जीवनं कर्माऽपि च अकर्मस्य जीवनं, धर्माधर्मस्य जीवनं अर्पणम्।।

गीतमयं भगवद्गीता प्रभुमयं च भाष्यमिदम्।
महाराजमयं च भाष्यमिदं तव प्रभुणा अर्पणं अर्पणम्।।

(राग–मिश्र विहाग)

विषय एवं अध्याय सूची

विषय / अध्याय	पृष्ठ	विषय / अध्याय	पृष्ठ
अष्टमोऽध्यायः	.....७७३	त्रयोदशोऽध्यायः	.....१०४७
नवमोऽध्यायः	.....८०८	चतुर्दशोऽध्यायः	.....११३६
दशमोऽध्यायः	.....८८५	पञ्चदशोऽध्यायः	.....११६७
एकादशोऽध्यायः	.....६३७	षोडशोऽध्यायः	.....१२५५
द्वादशोऽध्यायः	.....६६८	सप्तदशोऽध्यायः	.....१३०६
		अष्टादशोऽध्यायः	.....१३५०

अर्धमासपारायणके विश्राम–स्थल

	पृष्ठ		पृष्ठ
पहला विश्राम	१०५	नवाँ विश्राम	६३६
दूसरा "	२०५	दसवाँ "	१०४६
तीसरा "	३०६	ग्यारहवाँ "	११३५
चौथा "	४०५	बारहवाँ "	१२१६
पाँचवाँ "	५१०	तेरहवाँ "	१३०८
छठा "	६१३	चौदहवाँ "	१३६१
सातवाँ "	७१६	पंद्रहवाँ "	१४७२
आठवाँ "	८२६		

मासपारायणके विश्राम–स्थल

पहला विश्राम	६१	सोलहवाँ विश्राम.....	८२६
दूसरा "	१०५	सत्रहवाँ "	८८४
तीसरा "	१५६	अठारहवाँ "	६३६
चौथा "	२०५	उन्नीसवाँ "	६८७
पाँचवाँ "	२५८	बीसवाँ "	१०४६
छठा "	३०६	इक्कीसवाँ "	१०८६
सातवाँ "	३५६	बाईसवाँ "	११३५
आठवाँ "	४०५	तेईसवाँ "	११७६
नवाँ "	४६५	चौबीसवाँ "	१२१६
दसवाँ "	५१०	पचीसवाँ "	१२५४
ग्यारहवाँ "	५६२	छब्बीसवाँ "	१३०८
बारहवाँ "	६१३	सत्ताईसवाँ "	१३४६
तेरहवाँ "	६६४	अट्ठाईसवाँ "	१३६१
चौदहवाँ "	७१६	उनतीसवाँ "	१४३४
पंद्रहवाँ "	७६०	तीसवाँ "	१४७२

उपरोक्त विश्राम–स्थल के आधार पर ही आप द्विमास, त्रिमास, चतुर्मास आदि के विश्राम–स्थल का निर्णय ले सकते हैं इसप्रकार स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ में आप सहजता से प्रवेश कर सकते हैं

गीता–माहात्म्य

गीता गायी प्रभु ने ऐसी गायी नहीं जाये।
महाराज कछु गाये भक्तन्ह मन भाये।।

जूती पहन रास घोड़े की कर में, सजे स्वर्ण भूषण पीताम्बरी में,
रोते–बिलखते जो अर्जुन को पायी, द्रवित चित्त प्रभु ने गीता सुनायी।
दे दी पहेलि सारे जगत को, समझ बूझ जो पाये।।

खाये पीये कुछ रहे चाहे कैसे, श्रद्धा सुमन से पढ़े चाहे जैसे,
जूती पहन चाहे वाहन में जाये, अपवित्र गीता न तो भी हो पाये।
अध्याय आधी या पूरी पढ़े वो, दुःख दुविधा सब जाये।।

सकल सृष्टि उसकी हो जाये, पाठ करे नित गीता,
जीवनरथ सद्गुरु जो थामें, महामोह को जीता।
काम क्रोध अरु लोभ शत्रु को, सहजहिं मार भगाये।।

अमृत बने मृत्यु करे सेवकायी, सारे विभूति करें पहुनायी,
सकल मंत्र तन्त्रों की जननी ये गीता, पढ़े या सुने फिर भी होवे न भीता।
आगम निगम सब बनें उसके मीता, अमृत परम सुख पाये।।

शरणागति हो गीता की जिस दिन, साधु कहाये प्रभु से ही उसदिन,
वर्ण जाति पाँति न पूछे ये गीता, स्त्री पुरुष कोई अमृत जो पीता।
परम पूज्य बनता वही सारे जग में, जनम मरण मिटि जाये।।

अंधा भी देखे बहरा सुने भी, लँगड़ा चले अरु लुल्हा करे भी,
पढ़े रंक गीता राजा हो जाये, पढ़ता रहे तो परम पद को पाये।
महिमा महाराज भैरवी में गाये, जो प्रभु को सहजहिं भाये।।
(भैरवी या देशराग)

अथाष्टमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रभु ने सोचा कि अर्जुन को बिना आध्यात्मिक बनाये बात बननेवाली नहीं है, इसलिए आत्यंतिक कुशलता एवं चतुराई के साथ अपने प्रिय भक्त अर्जुन को वैसे ही छेड़ा, जैसे सद्गुरु अपने शिष्य को छेड़ता है। उन्होंने ऐसा कहकर छेड़खानी ही तो की है कि 'जन्म–मरण से मुक्त होने के लिये ही भक्त हमारी शरण में आता है; किन्तु मैं उसे आवागमन से मुक्त ही नहीं करता बल्कि मुक्त करने के पूर्व अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव आदि का ज्ञान भी करा देता हूँ।' ऐसा सुनकर स्वाभाविक ही है कि अर्जुन के मन में जानने की जिज्ञासा जगेगी और वे प्रभु से पूछ बैठेंगे कि हे प्रभु! ये अध्यात्म, अधिभूत आदि क्या हैं? मैंने तो आजतक इन सबके विषय में सुना तक नहीं है और वही हुआ भी। महात्मा अर्जुन कौतूहलवश पूछ ही बैठे–

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है तथा अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ एवं कर्म का स्वरूप क्या है? और इतना ही नहीं, हे मधुसूदन! निश्चितरूप से आप निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं, इसलिए अब तो आपको बताना ही होगा कि शरीर छोड़ते समय भक्त के सामने आप कैसे प्रकट होते हैं? उस समय आप उसके स्मरण में कैसे आते हैं?

भक्त अर्जुन के द्वारा प्रभु के सन्मुख ये आठ प्रश्न किये गये, जो यह सिद्ध करता है कि वे अब मुमुक्षु बन गये हैं। ब्रह्म को जानने की जिज्ञासावाले को मुमुक्षु कहते हैं। यह मानवमात्र के जीवन में पहली बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। यह मुमुक्षुता एक दिव्य सिद्धि है जो आध्यात्मिक भूमि में प्रवेश पाने का पहला दरवाजा है। मुमुक्षुता के आये बिना किसी भी शिष्य के लिये कोई भी सद्गुरु सार्थक नहीं होता। अष्टसिद्धि–नवनिधियों को जानने की जिज्ञासा प्रायः सभी साधकों को होती है; किन्तु स्वयं को और ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा प्राकृतसिद्धों में भी नहीं पायी जाती। आध्यात्मिक प्रश्नों का मूल है 'मैं कौन हूँ', जिसका उत्तर भगवान ने अर्जुन के बिना पूछे ही दे दिया है कि 'तुम आत्मा हो'। इसलिए 'मैं कौन हूँ' ऐसा प्रश्न उन्होंने नहीं

किया है तथा सगुण ब्रह्म के दो रूपों का सविस्तार वर्णन प्रभु ने उनसे कर दिया है– एक विश्वरूपवाला और दूसरा चौबीस अवतारोंवाला। इसलिए अब उन्होंने निर्गुण–निराकार बह्म के स्वरूप तथा नाम को पूछा– वह ब्रह्म क्या है, किस रूपवाला है? इसका आशय है कि निर्गुण–निराकार रूप आपका कैसा है?

यहाँ आप ऐसा अर्थ क्यों दे रहे हैं? इसलिए कि महात्मा अर्जुन ने प्रभु को यहाँ पुरुषोत्तम कहकर संबोधित किया है तथा ऐसा भी कहा है कि अन्त में आप स्मरण में कैसे आते हैं। महाराज की दृष्टि में प्रभु की कृपा से उन्होंने यह भलीभाँति जान लिया कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही इस रूप में प्रकट हुआ है जो कृष्ण एवं वासुदेव आदि नामों से जाना जाता है।

प्राकृतिक चकाचौंध में 'मैं' की जिज्ञासा सो सी गई है। मन, बुद्धि, अहंकार आदि को ही सत्य मानकर बैठ गये हैं। सामान्य पौराणिक कर्म को ही कर्म मानकर अपनी जिज्ञासा में निष्क्रियता आ गई है। जो व्यावहारिक धर्म है उसी को व्यवस्थित चित्त से करने की सामाजिक और पारिवारिक परम्परा है, उससे अन्यथा चलने पर विरोध का सामना भी करना पड़ सकता है; किन्तु सद्गुरु मिल जाये और उसके प्रति समर्पण हो जाये, तो निश्चित ही जिज्ञासु की जिज्ञासा पूरी होती है अर्थात् उसको जिज्ञास्य प्राप्त होता ही है।

इन प्रश्नों में कर्म क्या है? ऐसा पूछना बहुत ही महत्त्व का हो जाता है। महात्मा अर्जुन ने सोचा था कि मैं इन्हें सद्गुरु बना लूँगा तो कर्म करना ही नहीं पड़ेगा, क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि संन्यासी शिष्य भिक्षा में मधुकरी माँगकर लाता है और गुरुजी को खिलाकर खाता है; किन्तु यहाँ तो ठीक उसके विपरीत ही हो गया। धर्मरूप कर्म करना तो दूर, एक ऐसे कर्म को करने की आज्ञा मिल रही है जिसे आये दिन गृहस्थाश्रम में पुत्र एवं पोते आदि अपने पिता और पितामहों के साथ किया करते हैं। वे मूर्ख खाना, कपड़ा, मकान और पद–प्रतिष्ठा के लिये अपने पूज्यों से लड़ते–झगड़ते रहते हैं। दुरात्मा दुर्योधन के द्वारा पिता–माता एवं पितामहों तथा गुरुजनों की बात न मानने का उदाहरण उनके सामने है। अतः यह स्वाभाविक है कि वे भगवान से विकर्म की परिभाषा को फिर से सुनें। यद्यपि कर्म, अकर्म एवं विकर्म की परिभाषा को भगवान नारायण से उन्होंने अभी कुछ देर पहले सुन लिया है किन्तु उस समय उनमें मुमुक्षुता न होने के कारण से उन परिभाषाओं में महत्बुद्धि नहीं थी, आदरबुद्धि नहीं थी। यही कारण है कि कर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा पुनः हो गयी है। ऐसी स्थिति गृहस्थाश्रम से संन्यास लेकर सद्गुरु आश्रम में आये हुए नवसिखिये शिष्य की होती है। सद्गुरु आश्रम में जाकर उसे झाड़ू लगाना पड़ता है, बर्तन माँजना पड़ता है, प्रसाद बनाना पड़ता है तथा आगन्तुकों की सेवा करनी पड़ती है, तब वह मन में सोचता है कि जब यहाँ भी कर्म ही करना पड़ रहा है फिर इससे अच्छा तो घर ही था। यह सब कर्म घर में ही करके, माता–पिता को संतुष्ट करके, घर में भी भजन कर सकता था। इतना समय तो मुझे घर में ही मिलता था। ऐसा सोच–सोचकर कितने साधक तो घर को लौट जाते हैं और कितने विचारकुशल साधक सद्गुरु से समाधान करा लेते हैं। महात्मा अर्जुन उत्तम अधिकारी हैं, अतः भगवान जैसे सद्गुरु से ही अपना समाधान कराते हैं। वे कहते हैं कि आपने मेरे कर्म को तो भलीभाँति नकार दिया है, मेरे ज्ञान को भलीभाँति अज्ञान

सिद्ध कर दिया है, मेरे देवी–देवताओं को भी आपने काल्पनिक देवी–देवता सिद्ध कर दिया है। अतः आप अपने निर्गुण–निराकार स्वरूप को बताकर, फिर अध्यात्म, अधिभूत, कर्म आदि का विवेचन करें।

साधना के प्रारम्भिक चरण में प्रायः साधकों को सगुण ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा होती है। जब वह सगुण ब्रह्म के स्वरूप को भलीभाँति जान लेता है तो उसी ब्रह्म की कृपा से साधक के हृदय में अपने वास्तविक स्वरूप को भी जानने की जिज्ञासा होती है। यदि किसी साधक को प्रथम चरण में सहसा बताया जाय कि तुम आत्मा ही हो, तो वह इस बात को ऐसे ही नहीं पचा पाता जैसे महात्मा अर्जुन। उनके मन में तो 'मैं कौन हूँ' की जिज्ञासा थी ही नहीं और प्रभु ने आत्मस्वरूप का विवेचन करना प्रारम्भ कर दिया, सम्पूर्ण दूसरा अध्याय इसका विलक्षण उदाहरण है। महाराज के ही वर्तमान जीवन में ऐसा देखने को आया है कि इसे चौथी कक्षा से ही अपने इष्ट में प्रीति हो गई, नौवीं कक्षा में अपने इष्ट को प्राप्त करने की उत्कण्ठा अति तीव्र हो गई तथा ग्यारहवीं कक्षा के अन्त तक अपने इष्ट से 'मैं कौन हूँ' की जिज्ञासा प्रकट हुई। उस जिज्ञासा के प्रकट होते ही, सद्गुरु का प्राप्त होना तथा उनसे 'मैं कौन हूँ' का समाधान कराना, आध्यात्मिक साधना के महत्त्वपूर्ण सोपानों में से एक है। उस समय लगता था कि बहुत समय बीत रहा है जबकि बाद में इसका अनुभव हुआ तो पता चला कि यह तो बहुत शीघ्र ही समाधान हो गया। 'मैं कौन हूँ' की अनुभूति में सौ साल, दो सौ साल, हजार साल बीत जायें और तदोपरान्त अनुभूति हो जाये तो हजार साल कुछ दिन के बराबर भी नहीं हैं। तो चलें, अब हमलोग अपनी बात करना छोड़ें, इन गूढ़ात्मक प्रश्नों का उत्तर भगवान के श्रीमुख से सुनें–

भगवान अहैतुकी कृपावश स्वयं की जगह से बोलने लगते हैं, फिर सहसा बात याद आती है कि मैं तो सद्गुरु के पद पर हूँ , तब सद्गुरु की भाषा बोलने लगते हैं। भगवान तो भगवान हैं, परन्तु जीवनपर्यन्त अबके पूर्व कभी–कभार छोड़कर, इन्होंने भगवद् भाषा बोली ही नहीं। गोप और गोपियों के बीच उनकी भाषा बोलते हैं, भाई के पास भाई की भाषा, मित्र के पास मित्र की भाषा एवं राजसिंहासन पर राजा की भाषा बोलते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि शिशुपालवध के समय उन्होंने भगवत् सत्ता को प्रकाशित कर दिया, धृतराष्ट्र की भरी सभा में दूत की भाषा बोलते–बोलते भगवत् भाषा बोल गये। वैसे ही सारथि की भाषा बोलते–बोलते भगवत् भाषा बोल गये, किन्तु जब महात्मा अर्जुन को भगवत् भाषा समझ में नहीं आयी और शिष्यरूप से शरणागत हो गये, तब सद्गुरु की भाषा बोलना शुरू कर दिये। अबतक प्रभु ने सद्गुरु भाषा बोलते–बोलते सैकड़ों बार भगवत् भाषा का प्रयोग कर दिया है जिसका प्रभाव अर्जुन के चित्त पर भलीभाँति पड़ा है। अब इस अध्याय में तो स्वयं अर्जुन ने ही इन्हें अपने स्वरूप में होकर बोलने के लिये बाध्य कर दिया है। अतः अब प्रभु को अपने स्वरूप में होकर बोलने में हिचक नहीं होगी। तो आयें, अब अर्जुन के इन प्रश्नों का उत्तर प्रभु से ही सुनें–

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४ ॥

हे पार्थ! जो कभी क्षरता नहीं, वही परम ब्रह्म कहलाता है तथा उस ब्रह्म का संकल्प (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है एवं गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत ब्रह्म की प्रसन्नता के निमित्त किया जानेवाला कर्म (देवयज्ञ) ही कर्म नाम से कहा जाता है और उत्पत्ति–विनाशवाले सारे प्राणिपदार्थों को अधिभूत कहा जाता है। वैसे ही निष्काम कर्मयोग, जो साधकों के द्वारा चित्तशुद्धि के निमित्त किया जाता है, उस जप, तप, यज्ञ को ही अधियज्ञ जानना चाहिए।

दूसरे अध्याय में दिये हुए ब्रह्म के स्वरूप को ही भगवान नारायण ने यहाँ पुनः दे दिया। (न जायते म्रियते वा कदाचित्.....) अर्थात् जो न कभी जन्मता है, न मरता है वही ब्रह्म है; जो अव्यय है, अविनाशी है, शाश्वत है, सनातन है, घट–घट वासी है और सुख की राशि है, वही परम ब्रह्म परमात्मा कहलाता है। इस मंत्र के द्वारा 'ॐ' नामक अक्षर ब्रह्म को ही कोई ब्रह्म न समझ ले, इसलिए प्रभु ने अक्षर के पहले 'परम' विशेषण दिया है। 'ॐ' तो ब्रह्म है ही, जैसे 'राम' नाम ब्रह्म है, 'कृष्ण' नाम भी ब्रह्म है उसीप्रकार 'ॐ' नाम भी ब्रह्म है। रामनाम जपते–जपते प्रभु श्रीराम ही प्रकट हो गये तो उस अवस्था में, वे ही परम ब्रह्म कहे जायेंगे। इसप्रकार उनका रामनाम ब्रह्म ही हुआ और वे परम ब्रह्म हुए। नाम स्मरण से नामी प्रकट हो जाता है, अर्थात् नाम ने नामी को दे दिया और स्वयं हट गया, इसलिए वह नाम ब्रह्म कहा जाता है और नामी परम ब्रह्म कहा जाता है, जिसका उल्लेख इसी अध्याय के तेरहवें मंत्र में किया गया है। इसप्रकार 'ॐ' नाम तो ब्रह्म हुआ और 'ॐ' नाम के अन्तर्गत छिपा हुआ सर्वव्यापी आत्मा ही परम ब्रह्म हुआ। (स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते.....) और उस ब्रह्म का संकल्प ही उसका स्वभाव है जिसे जीवात्मा भी कहते हैं। बुद्धि को ही जीवात्मा कहते हैं; क्योंकि वही उस परम ब्रह्म परमात्मा का संकल्प है। एक ऐसा तत्त्व जिसमें परमात्मा विशेष प्रकाशित होता रहता है, वह बुद्धि ही है, इसलिए बुद्धि को ही अध्यात्म समझना चाहिये। आत्मा के निकट यह बुद्धि उसका पहला आवरण है जिसे भगवान ने तीसरे अध्याय में स्पष्ट किया है– शरीर से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि तथा बुद्धि से परे परमात्मा है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा का संकल्प बुद्धि है, बुद्धि का संकल्प मन है, मन का संकल्प इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों का संकल्प शरीर है। अतः स्पष्ट हो गया कि शरीर अन्तिम आवरण है और बुद्धि प्रथम आवरण। सृजन, संहार और पालन की शक्ति बुद्धि में ही है। वही चिंतन के द्वारा गुण–दोषों का विभाग करके क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, ऐसा निर्णय करके संकल्प के अनुसार वैसा किया करती है। पुराण में रूपक के माध्यम से उसी को ब्रह्मा कहा जाता है, आध्यात्मिक शास्त्रों में इसी को जीवात्मा कहते हैं। इस मंत्र में इसे ब्रह्म का स्वभाव कहा गया है इसलिए प्रभु ने इसे अध्यात्म की संज्ञा दी है। सब कुछ इस बुद्धि के द्वारा ही जाना जाता है। दूसरे अध्याय में भी 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' अर्थात् बुद्धि के नाश होनेपर सब कुछ नाश हो जाता है, ऐसा कहकर प्रभु

ने इसी स्वभाव को अध्यात्म कहा है। स्वभाव का तात्पर्य है आदर्श, जैसे पिता पुत्र का आदर्श होता है, इसलिए पिता ब्रह्म है तो पुत्र उसका अध्यात्म है। ठीक ऐसे ही अजन्मा ब्रह्म जो अविनाशी है वही परम ब्रह्म परमात्मा है तथा उसके संकल्प से प्रकट होनेवाली बुद्धि ही अध्यात्म है।

परम ब्रह्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिये गृहस्थाश्रम में इन्द्र, अग्नि, वरुण, अश्विनीकुमार, दिक्पाल और क्षेत्रपाल आदि के लिए जो हविष्य के द्वारा यज्ञ किया जाता है तथा सगुण देवता माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि की सेवा की जाती है, वही कर्म देवयज्ञ कहा जाता है।

मन ही मन महात्मा अर्जुन हँसते हुए सोच रहे हैं कि इसीप्रकार के कर्म के लिए ही तो मैं युद्ध नहीं कर रहा हूँ, फिर मेरे इस कर्म को ये कर्म क्यों नहीं मान रहे हैं? तत्काल दूसरे समाधान पर विचार आ रहा है कि माँ कुन्ती भी तो मेरी परिभाषा से प्रसन्न नहीं होगी तथा गुरुदेव द्रोणाचार्य एवं पितामहभीष्म ने भी एक बार भी नहीं कहा कि तुमलोग युद्ध मत करो। इसप्रकार प्रभु ने अर्जुन के सम्पूर्ण मनोभावों को जानते हुए, उनसे कुछ नहीं कहा और आगे कहते गये। प्रभु का संकेत है कि जब प्रभु की प्रसन्नता के लिए पौराणिक मतों का आश्रय लिया जाता है, तब उन्हीं कर्मों के द्वारा लोगों में सद्भाव प्रकट होता है। उस सद्भाव से देवताओं की प्रसन्नता के कारण से समयानुसार वर्षा होती है, उस वर्षा से धन–धान्य की उत्पत्ति होती है, उस धान्यरूप प्रसाद को पाकर लोग सत्कर्म में प्रवृत्त होते हैं; सत्कर्म अर्थात् भगवत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः इसप्रकार का कर्म ही कर्म नाम से जाना जाता है।

(अधिभूतं क्षरो भावः.....) जो भी दृश्यवर्ग दिखाई दे रहा है चाहे वह जाग्रत् हो या स्वप्न हो, वह कभी न कभी अदृश्य हो ही जायेगा। इसलिए इसप्रकार रूपान्तरित होनेवाले प्राणिपदार्थों को अधिभूत कहा जाता है। इस न्याय से अपने सारे स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि शरीर भी अधिभूत कहे जाते हैं।

(पुरुषश्चाधिदैवतम्.....) दैव और अधिदैव– इस मंत्र में अधिदैव शब्द आया है। यह सूर्य ही भौतिक जगत में अधिदैव कहा जाता है; क्योंकि यही इस ब्रह्माण्ड की आत्मा है। यह है तो ब्रह्माण्ड है, नहीं है तो ब्रह्माण्ड नहीं है, इसलिए यही अधिदैवत् पुरुष कहा जाता है। उसीप्रकार शरीर में रहकर जो शरीर पर, इन्द्रियों पर तथा मन, बुद्धि, चित्त पर शासन करता है, वह प्रारब्ध ही अधिदैव नामक पुरुष कहा जाता है तथा निष्काम कर्मयोग ही अधियज्ञ है। जिसप्रकार गंगा को नदी, कामधेनु को गाय और हनुमानजी को बन्दर नहीं कहा जाता, उसीप्रकार ब्रह्म के निमित्त किये हुए जप, तप, योग को जप, तप, योग न कहकर ब्रह्म ही कहा जाता है।

अब पुनः इसे दूसरे अर्थों में सुनें– आपकी आत्मा ही ब्रह्म है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' भाव ही आपकी आत्मा है, यही परम चेतन है। समष्टि चेतन 'अहम्' ही ब्रह्म है। उससे उत्पन्न होनेवाला व्यष्टि चेतन, जिसका बुद्धि में विशेष प्रकाश हो रहा है, वह व्यष्टि चेतन ही अध्यात्म है और जिस जप, तप, योग के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ ब्रह्म की ओर अभिमुख होती हैं, गमन करती हैं, वही कर्म कहा जाता है। आपका शरीर अधिभूत हुआ तथा प्रारब्ध अधिदैव एवं चित्त ही अधियज्ञ है, इसलिए कि चित्तशुद्धि के लिए ही साधक सत्कर्मों को स्वीकार करते हैं; क्योंकि

बिना चित्त शुद्ध हुए अपने स्वरूप का दर्शन हो ही नहीं सकता, जिसप्रकार मैले दर्पण में अपना शरीर दिखाई नहीं पड़ता। इस चित्त को ही पौराणिक मतानुसार विष्णु नाम की संज्ञा दी गई है। जिसप्रकार भगवद्भक्त भगवान विष्णु की प्रसन्नता के लिए ही अपने तन, मन, वचन से होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों को उन्हें समर्पित कर देते हैं, उसीप्रकार मुमुक्षु साधक भी शरीर, मन, वाणी से होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों को चित्तशुद्धि के निमित्त ही करते हैं। इसलिए प्रभु ने कहा– वह अधियज्ञ नामक पुरुष मैं हूँ।

एक तीसरे अर्थ में भी आप समझें– भगवान कहते हैं कि मैं कृष्ण ही ब्रह्म हूँ, तुम अर्जुन ही अध्यात्म हो, ये सारे के सारे पक्ष और विपक्षवाले अधिभूत हैं, जिनका सर्वनाश सुनिश्चित है। ये महाराज युधिष्ठिर ही अधिदैव हैं; क्योंकि इनके सत्य का ही शासन यहाँ सबपर है। सत्य के ही शासन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि स्थित हैं तथा ये ऋषि, महर्षि, साधक, सिद्ध ही यहाँ अधियज्ञ हैं; क्योंकि इन सबकी सन्तुष्टि के लिए ही महाराज युधिष्ठिर ने धर्मयुद्ध को स्वीकार किया है।

अब इसे चौथे अर्थ में भी देखें– अन्न ही ब्रह्म है, उससे प्राप्त होनेवाला रस ही अध्यात्म है। जल ही कर्म है, इसका स्थूल भाग नाश होते हुए देखा जाता है अतः वह अधिभूत है। अन्न और जल से एक दिव्य शक्ति प्राप्त होती है जो शरीर की सुरक्षा करती है, वही अधिदैव है और उस शक्ति के प्राप्त होने के उपरान्त जो ध्यान होता है, वह ब्रह्म का ध्यान होता है, वही अधियज्ञ है। अतः वह ध्यान नामक विष्णु ही अधियज्ञ है।

अब फिर पाँचवें अर्थ में देखें– पिता ही ब्रह्म है, माँ ही अध्यात्म है, पुत्र ही कर्म है। इनसे उत्पन्न होनेवाला साम्राज्य ही अधिभूत है। इनके कुलदेवता, जिनकी प्रसन्नता के लिए कर्म करते हैं, वही इस कुल की आत्मा अधिदैव पुरुष है तथा कुल की प्रसन्नता के लिए किया जानेवाला कर्म ही अधियज्ञ है।

पुनः अब सुगमता से अपने समझने के लिए छठा अर्थ देखें– प्राण ही ब्रह्म है, बुद्धि ही अध्यात्म है, शरीर ही अधिभूत है, मन ही अधिदैव है तथा इस प्राण, मन, बुद्धि के योग से सद्गुरु की प्रसन्नता के लिए किया जानेवाला कर्म ही कर्म है। सद्गुरु ही आपका विष्णु है इसलिए वह अधियज्ञ है; क्योंकि उसकी प्रसन्नता के लिए ही आप कर्म कर रहे हैं, इसलिए कि आपका वह चित्त ही तो है, अतः अधियज्ञ है।

यहाँ तक अधिभूत, अधियज्ञ, कर्म, अध्यात्म और ब्रह्म को आपने बहुत कुछ समझ लिया होगा। आप यदि साधक हैं तो आपको सर्वप्रथम उपरोक्त स्वरूपों पर भलीभाँति चिन्तन करके, इनमें से भी कौन त्याग के योग्य है, कौन ग्रहण के योग्य है, इसका निर्णय करके साधना प्रारम्भ करनी चाहिए। ये माता–पिता, भाई–बान्धव हैं, ये मेरे बाल–बच्चे हैं, ये मेरे देवी–देवता हैं, इसप्रकार जानने को जानना नहीं कहते। हाँ, ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूतादि तथा मन, बुद्धि, प्राणादि को जानना ही जानना कहा जाता है।

एक बार फिर आठवें अर्थ को देखने के लिए गहरे में उतरें, यह गूढ़ात्मक अर्थ आप जैसे साधकों के लिए है– रात्रि ही ब्रह्म है, इस रात्रि में शयन करनेवाला पुरुष अध्यात्म है, स्वप्न ही अधिभूत है, स्वप्न में भी जप, तप, योगादि साधन करना कर्म है, स्वप्न का देवता ही अधिदैव है और सुषुप्ति अवस्था ही अधियज्ञ है; क्योंकि सभी सुषुप्ति यानी प्रगाढ़ निद्रा की कामना करते हैं। ठीक उसीप्रकार यह दिन ही ब्रह्म है, इसमें जागनेवाले आप सभी ही अध्यात्म हैं अर्थात् दिन की आत्मा हैं, प्रभु के निमित्त किया जानेवाला अभ्यासयोग ही आपका कर्म है, आपकी साधना में विघ्न डालनेवाले विरोधी तत्त्व अधिभूत हैं; क्योंकि आपका विरोध करके स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, आपके पापों का भी नाश कर डालते हैं, इस कारण से वे अधिभूत हैं। मैं ब्रह्म के लिए जाग रहा हूँ यह आपका संकल्प ही अधिदैव है; आपका सद्गुरु ही दिनरूपी ब्रह्म में अधियज्ञ है; क्योंकि उसी की प्रसन्नता के लिए आप अभ्यासयोग या जप, तप, योगादि साधन करते हैं।

(अक्षरं ब्रह्म परमं.....) इस मंत्र का स्पष्टीकरण बृहदारण्यकोपनिषद् की आख्यायिका के माध्यम से भी समझें– योगिनी गार्गी ने महाराज जनक के दरबार में विद्वत् समुदाय के बीच याज्ञवल्क्य से पूछा– हे महात्मन्! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथ्वी से नीचे है और जो द्युलोक–पृथ्वी के मध्य में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथ्वी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान, भविष्य– इसप्रकार कहते हैं, वे किसमें ओत–प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा– हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में है और स्वयं भी जो द्युलोक और पृथ्वी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान, भविष्य– इसप्रकार कहते हैं, वे सब आकाश में ही ओतप्रोत हैं।

पुनः गार्गी ने पूछा कि हे ब्रह्मज्ञ! वह आकाश किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने कहा– हे गार्गि! उस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं; वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न पीला है, न ठोस है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अंधकार) है, न वायु है, न आकाश है, न शब्द है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न उसमें अन्दर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता।

हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन–रात, अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस–जिस दिशा को बहने लगती हैं, उसी का अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान की और पितृगण दर्वीहोम का अनुवर्तन करते हैं।

हे गार्गि! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेकों सहस्त्र वर्षपर्यन्त तप करता है उसका वह सब कर्म अन्तवान ही होता है। जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है।

हे गार्गि! यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं है किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत–प्रोत है। (बृहदारण्यकोपनिषद् तृतीय अध्याय, अष्टम ब्राह्मण, मंत्र ७,८,९,१०,११)

अब महात्मा अर्जुन के आठवें प्रश्न का उत्तर प्रभु ने देना प्रारम्भ कर दिया–

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

इसप्रकार हे पार्थ! जो मेरे अक्षर स्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है वह मुझे ही प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई संशय है ही नहीं; क्योंकि यह नियम है कि शरीर छोड़ते समय जो–जो, जिस–जिस भाववाले होते हैं, वे उसी भाव के अनुरूप गति को प्राप्त करते हैं।

प्रभु ने भक्तों के लिए स्पष्ट कहा है कि अन्तिम समय में उन्हें अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञादि को छोड़कर मुझ अक्षर अविनाशी तत्त्व का ही स्मरण करना चाहिए। सारे के सारे दृश्यवर्ग अर्थात् प्राणिपदार्थ किसी न किसी के लिए अध्यात्म हैं, अधिभूत हैं, अधिदैव हैं, अधियज्ञ हैं। इसलिए व्यावहारिक परम्परा को हृदय के अन्तर्गत नहीं लाना चाहिए। महात्मा अर्जुन ऐसे उत्तम अधिकारी शिष्यों में से हैं जो भगवान जैसे सद्गुरु को प्राप्तकर उस सगुण विग्रह के प्रति भी सम्पूर्णता से समर्पित होने को राजी नहीं हैं, तभी तो उन्होंने उनके निर्गुण–निराकाररूप को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। वे ये भी सोच सकते थे कि साक्षात् नारायण ही मेरे सामने 'कृष्ण' नाम और रूपवाले प्रकट हुए हैं तो मुझे और कुछ जानने की क्या आवश्यकता? किन्तु वे अति सावधान हैं, इसलिए कि वे जान गये हैं कि सगुण विग्रह भी आने–जानेवाला है, अतः उसके मूल को भी जान लेना चाहिए।

बहुधा साधक सद्गुरु को पाकर असावधान होते देखे जाते हैं जबकि और भी सावधान होना चाहिए। जामवंत के द्वारा एक ऐसा प्रसंग आया है, जिसके द्वारा उनकी कुछ असावधानी दृष्टिगोचर हो रही है। उन्होंने भगवती सीता की खोज के समय समुद्र के तट पर भक्त अंगद

से कहा है–

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

यहाँ स्पष्ट है कि जामवंत ने किसी के द्वारा सुन लिया है, चाहे हनुमानजी से सुना हो चाहे किसी भी संत से कि प्रभु श्रीराम साक्षात् निर्गुण–निराकार परब्रह्म परमात्मा ही हैं; किन्तु जब द्वापर युग में अपनी गुफा के अन्तर्गत भगवान श्रीकृष्ण से युद्ध करते हैं और पराजित होने के उपरान्त भगवान को पहचानते हैं, तो यहाँ पर इनकी अल्पज्ञता भी सिद्ध होती है। उन्होंने अंगद से कहा है कि जो सगुण उपासक होते हैं, वे मोक्ष को त्याग कर वैकुण्ठ धाम में निवास करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सगुण ब्रह्म के उपासकों के पास वह आँख ही न हो, जो ब्रह्म के प्रकट होने पर अथवा आने पर उसे पहचान ही न सके। भगवती शबरी, सुतीक्ष्ण, शरभंग, अगस्त्य आदि ने भी भगवान का दर्शन किया और उनकी जीवनी से स्पष्ट देखा जा रहा है कि उनके हाथ में सगुण धाम और निर्गुण धाम दोनों ही प्राप्त हैं। प्रभु को पहचानने में उनकी आँखें धोखा नहीं खातीं। यदि जामवंत की आँखें धोखा खा गयीं, तो यह सिद्ध होता है कि उन्होंने प्रभु श्रीराम को सगुण ब्रह्म के रूप में मानकर विश्वास कर लिया था, किन्तु निर्गुण–निराकार स्वरूप की माँग प्रभु श्रीराम से उन्होंने कभी नहीं की। वहीं पर अध्यात्म रामायण के अनुसार हनुमानजी ने निर्गुण–निराकार ब्रह्म के विषय में जानने के लिए श्रीराम प्रभु को बहुत छेड़ा है, जैसे कोई मुमुक्षु साधक इस रूप को जानने के लिए सद्गुरु का पीछा किये रहता है।

उपरोक्त मंत्र के द्वारा भक्त अर्जुन भी भगवान को छेड़ ही रहे हैं, किन्तु भगवान तो भगवान ही हैं। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि अब मैं तुझे प्राप्त हो गया हूँ। अतः सभी पक्ष–विपक्षियों के शरीरों को अधिभूत समझो, मरणधर्मा समझो और मरणधर्मा के रूप में देखो भी, तथा मुझ अमर को अविनाशी के रूप में देखो और मेरे शरणागत होने के कारण से अपने को भी अजर, अमर, शाश्वत, सनातन के रूप में देखो। इसप्रकार अपनी इच्छानुसार जब तुम शरीर छोड़ोगे, तो ब्रह्मरूप ही हो जाओगे। तुम्हारी ही बात क्या, यह तो सनातन परम्परा ही है कि जो भी मुझ सगुण स्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह मुझ सगुण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है और निर्गुण–निराकार का चिन्तन करता हुआ, निर्गुण–निराकाररूप हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि शरीर छोड़ते समय अम्बा ने अगले जन्म में नपुंसक के रूप में जन्म लेने का संकल्प किया था और वैसा ही हुआ, वह हिजड़ा बनकर आ गयी। वह जान गयी थी कि पितामहभीष्म को हिजड़ा होने का पाप लग गया है; क्योंकि भगवती द्रौपदी के चीर–हरण के समय वे नपुंसक की तरह ही बैठे रह गये थे। अतः नपुंसक को नपुंसक ही मारेगा।

वनप्रदेश में पेड़ों को काटनेवाला कुल्हाड़ी में लोहे का डंडा लगाकर आया। बुद्धिमान पेड़ अति प्रसन्न थे, अन्य पेड़ों से कह रहे थे कि क्यों डर रहे हो? यह तो हमलोगों को काट नहीं

पायेगा; क्योंकि लोहे की कुल्हाड़ी में लोहे का डंडा लगा बैठा है। वही हुआ पेड़ को काटते समय जब उसके दोनों हाथों में फोड़े–फफोले आ गये और कुल्हाड़ी में लकड़ी का डंडा डाल लिया, तब बुद्धिमान पेड़ भी काँप गये। कहने लगे कि अब कफन की तैयारी कर लो; क्योंकि इसने हमलोगों के अंग को ही अपना अंग बना लिया, इसलिए अब यह हमलोगों को काट लेगा। इस मंत्र के द्वारा यह संकेत है कि शरीर छोड़ते समय हम जिसे याद करेंगे उसी रूपवाले हो जायेंगे, तो क्यों न सदा–सर्वदा ही भगवान को याद करें; क्योंकि अम्बा ने भी अन्तिम समय में मैं हिजड़ा बन सकूँ, इसके लिए मृत्युपर्यन्त घोर जप–तप किया। वह जानती थी कि अन्तिम समय अपने अभीष्ट संकल्प के लिए स्मृति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यहाँ प्रभु ने भी अगले मंत्र के द्वारा संकेत किया–

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

हे पार्थ! इस परम सफलता के लिए अहर्निश मेरा ही स्मरण करो और युद्ध भी करो। इसप्रकार अपने मन, बुद्धि के द्वारा स्मरण करने के कारण से, भले ही तुम युद्धरूप घोर कर्म करोगे, किन्तु मेरे को ही प्राप्त हो जाओगे।

नियमानुसार शरीर छोड़ते समय जीव का स्मरण करनेवाला जीव बन जाता है, पशु–पक्षी का स्मरण करनेवाला पशु–पक्षी बन जाता है, लाठी से, भाले–बरछे से अथवा नदी–सरोवर में डूबने से, अग्नि द्वारा जलने से अथवा वाहन आदि से गिरकर मरने से व्यक्ति निश्चित ही प्रेत बन जाता है; क्योंकि जिसके द्वारा वह मरता है, उसे वह काल जैसा दिखाई देता है। अतः वैसी अवस्था में भय वृत्ति जाग ही जाती है, जिसकारण से वह प्रेत बन जाता है। इसलिए प्रभु ने कहा कि भक्त को सदा–सर्वदा मेरा ही स्मरण करना चाहिए ताकि ऐसी अवस्था कभी आ जाये तो वह भक्त मुझे ही याद कर सके।

(मामनुस्मर युध्य च.....) का तात्पर्य है कि मेरी आज्ञानुसार युद्ध करो। तुम यह समझो कि मुझे प्रभु ने आज्ञा दी है; क्योंकि मैं अपनी प्रत्येक आज्ञा में रहता हूँ। देखा भी जाता है कि संत हर समय वचन में रहता है, देवता अपने मंत्र में रहता है, अज्ञानी पिता अपने पुत्र–पुत्रियों में रहता है; उसीप्रकार प्रभु भी अपनी प्रत्येक आज्ञा में रहता है। प्रभु ने आज्ञा दी है, इसलिए कर्म कर रहा हूँ, यह सोच ही उस कर्म को ब्रह्म बना देती है। मन को स्वजनों से हटाकर प्रभु को देना होगा। किसी साधक को चौबीस घण्टे में एक अंश भी यदि माता–पिता, भाई–बान्धव मोह के कारण से याद आ रहे हैं तो उसी की भक्ति को व्यभिचारी भक्ति कहते हैं। अभयानन्द का कहना है कि 'विचार कैसे नहीं आयेंगे, जब उन्हीं माता–पिता, भाई–बान्धवों के बीच से आये हैं तो विचार आना तो स्वाभाविक ही है? महाराज का ऐसा कहना नहीं है, जैसा तुम समझ बैठे हो। उनकी याद आनी अलग बात है और मोहपूर्वक उनके विषय में विचार आना अलग बात है। उनकी याद आ रही है तो उसकी तो काट है ही, किन्तु मोहपूर्वक विचार आ रहा है तो स्पष्ट

है कि प्रभु में आपको मोह नहीं हुआ है, सद्गुरु और साधना में आपको मोह नहीं हुआ है।

एक भक्त ने सद्गुरु से कहा कि गुरुदेव यह आश्रम मुख्य रास्ते पर है तो क्यों न मेरे पिताजी मुख्य दरवाजे से हटकर, दीवार से ही लगी हुई पान की गुमटी खोल लें? सद्गुरु ने कहा कि बात तो तुम ठीक ही कह रहे हो, किन्तु अभी तुम आश्रम में रहने के योग्य नहीं हो। पहले अपने पिता को जाकर धन–धान्य से सम्पन्न करो, निर्मल वैराग्य हो जाये तो आना।

यदि उनकी याद आती है तो उसकी काट है– जब माँ की याद आये तो वहाँ परम भाव से उसकी प्रार्थना करें। मन में माँ को लाकर दिव्य सिंहासन पर आसीन कर दें और मानसिक पूजा करते हुए कहें कि हे प्रभु! आप तो साक्षात् नारायण हैं। इतने सालों तक आपको माँ ही समझता रहा, इस अपराध को क्षमा करें और कृपा करें कि जिस लक्ष्य को लेकर मैं निकला हूँ, वह पूरा हो, पिता–पुत्र, बाल–बच्चों की याद आने पर ऐसा कहने और करने पर कुछ महीने और वर्षों में याद भी आनी बंद हो जाएगी।

मानो प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि अबतक तूने मुझे द्वारिकाधीश के रूप में देखा, सारथि के रूप में देखा, गुरु रूप में देखा और सद्गुरु रूप में देखा, किन्तु अब तो तूने भलीभाँति देख लिया कि मैं ही साक्षात् नारायण हूँ, सच्चिदानन्दघन परमात्मा हूँ। अतः मन में मेरी आज्ञा को ध्यान में रखते हुए अपने हाथों में धनुष–बाण लो और फिर देखो कि तुम्हारे हाथों से तुम युद्ध करते हो कि मैं युद्ध करता हूँ। महात्मा अर्जुन के मन में विचार चमक उठे कि सदा ब्रह्म का स्मरण और कर्म बड़ा कठिन है। चलो मैं तो ऐसा करूँगा ही; क्योंकि ये तो मेरे साथ ही हैं, किन्तु साधकों के साथ तो सदा रहते नहीं हैं अथवा साधकों के साथ चौबीस घण्टे सद्गुरु रहता नहीं है तो साधना और चौबीस घण्टे स्मरण बड़ा कठिन हो जाएगा। प्रभु ने उनके मन की बात जान ली और समाधान करना प्रारम्भ किया।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितार–
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप–
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्–
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

हे पार्थ! जैसा तुम सोच रहे हो वैसा नहीं है। निरन्तर ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास किया जाये तो इस योग के द्वारा परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका शासक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सबका धारण–पोषण करनेवाला, सूर्य की तरह नित्य प्रकाश स्वरूप तथा अविद्या से परे है, उसका नित्य स्मरण करता हुआ भक्तियुक्त पुरुष, शरीर छोड़ते समय योगबल द्वारा भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी तरह से स्थापित करके, अचल मन के द्वारा स्मरण करता हुआ, परम दिव्य परम ब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है।

(अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा.....) सर्वविदित है कि अभ्यासयोग के द्वारा केवल ब्रह्म को ही स्मरण नहीं किया जाता बल्कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों की याद भी अभ्यासयोग के द्वारा की जाती है। क, च, ट, त, प तथा अकार, इकार, उकार आदि व्यंजन एवं स्वरों को पहचानने में बालक को अभ्यास के द्वारा भी साल–डेढ़ साल लग जाते हैं, माता–पिता, भाई–बान्धवों को स्वीकार करने में बालक को साल–डेढ़ साल लग जाते हैं, स्वर व्यंजनों के उच्चारण में भी साल–डेढ़ साल लग जाते हैं, सारे दृश्यवर्ग के नाम और गुणों को हृदयंगम करने में वर्षों लग जाते हैं; किन्तु जब कोई भगवान के लिए ध्यान में बैठता है तो कुछ ही दिन में ऊबकर ध्यानाभ्यास को छोड़ बैठता है। कहता है कि जब पलभर के लिए ध्यान लगता नहीं तो बैठना क्या? अभ्यासयोग का तात्पर्य, साधक और भक्त का सम्पूर्ण व्यवहार भी प्रभु के ध्यानयोग के अन्तर्गत ही आवे। ऐसा नहीं कि व्यवहार तो आपका जीव का है, विषयी का है, छली–कपटी, रागी–द्वेषी का है और जप, तप, योग साधक का है तो ये दोनों बातें एक साथ कैसे होंगी? इन दोनों का परस्पर में योग कैसे होगा? इसीलिए तो भगवान ने अध्यात्म, अधिभूतादि को जानने की बात की है। आप मानेंगे संसार और करेंगे ध्यान, मानेंगे पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे तथा मनुष्य और करेंगे ध्यान, यह कैसे होगा? नींद की कामनावाला श्रम और भोजन दोनों करता है, तब तो पाँच–छः घण्टे सुख से सो पाता है। उसीप्रकार ब्रह्म के ध्यानयोग में रमण करनेवाले को अपने मन में सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को ब्रह्म का ही विविध रंग–रूप, आकार–प्रकार समझना होगा, तभी कालान्तर में जप, तप, योग भी हो सकेगा। ऐसा नहीं करनेवाले का जप, तप, योग राजस अथवा तामस बन जाएगा। परम पुरुष को पाने के लिए परम साधक बनना होगा, सर्वज्ञ को पाने के लिए सर्वज्ञ, सबपर शासन करनेवाले को पाने के लिए, सम्पूर्ण तन, मन, वचन तथा इन्द्रियों का शासक बनना होगा, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश स्वरूप को पाने के लिए सदा–सर्वदा सजग रहना होगा, अविद्या से अति परे ब्रह्म को पाने के लिए सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञ आदि को जानना होगा, जीव की भक्ति छोड़कर, अनन्यभक्तियोग के द्वारा ब्रह्म की भक्ति करनी होगी। इसप्रकार का व्यवहार करनेवाला भक्त अथवा इसप्रकार के विशेषणों से युक्त भक्त, अच्छीप्रकार से अपनी स्मृति को भृकुटि तथा आकाश के मध्य स्थापित कर अपने परम ब्रह्मरूप को प्राप्त कर सकता है। घर से संन्यास लेकर गुरु आश्रम में आये हुए साधक को तो सदा–सर्वदा ब्रह्म के चिन्तन–मनन, पठन–पाठन तथा स्वाध्याय एवं सद्गुरु की सेवा में ही लगा रहना होगा।

एक साधक ने कहा– आप चौबीसों घण्टे ध्यान करने की बात करते हैं, यह कैसे होगा? महाराज ने कहा कि संन्यास लेते समय तुमने तो यही सोचा होगा कि ध्रुव, प्रह्लाद की तरह सदा–सर्वदा जप–तप ही करूँगा? चलो कोई बात नहीं, यह बताओ कि चौबीस घण्टे माता–पिता के साथ कैसे रहते थे? उसने कहा– आठ–दस घण्टे पढ़ने में बीत जाते थे, एक–दो घण्टे खेल में बीतते थे, कुछ समय घर के कर्म करने में बीतते थे और छः–सात घण्टे नींद में बीत जाते थे। महाराज ने पूछा– चाहे जो भी तुम करते थे, तुम्हारे मन में यह संकल्प सहज रहता था कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह माता–पिता, परिवार की प्रसन्नता के लिए कर रहा हूँ? उसने कहा– हाँ, यह तो स्वाभाविक ही था। महाराज ने कहा– वही तो यहाँ भी करना है। सद्गुरु की प्रसन्नता के लिए सवेरे चार बजे जग जाओ, स्नान आदि करके एक घण्टा प्रभु का ध्यान करो, एक घण्टा प्रभु के नाम का जाप करो, एक घण्टा आसन करो उसके उपरान्त एक घण्टा भण्डार में काम कर लो फिर एक घण्टे में प्रसाद पाकर, डेढ़–दो घण्टे अच्छे साधकों के साथ सत्संग कर लो, हरिचर्चा कर लो, बारह बजे मध्याह्न से चार बजे तक स्वाध्याय कर लो, फिर एक घण्टा चिन्तन करते हुए टहलो, पुनः स्नान करके आधा घण्टा ध्यान और आधा घण्टा जप करो, फिर भण्डार में सेवा करके प्रसाद पा लो, पुनः अच्छे साधकों के साथ बैठकर आध्यात्मिक चर्चा (वाद) करो, पुनः एक घण्टा स्वाध्याय करो उसके उपरान्त प्रभु नाम जपते–जपते सो जाओ, यह हुआ अभ्यासयोग। इस अभ्यासयोग में मन को समय ही कहाँ है कि घर–परिवार, भाई–बान्धवों के विषय में सोचे। आपके पास यदि सोचने का समय है तो आपकी साधना के अंगों में से किसी न किसी अंग का अवश्य अभाव है। सद्गुरु भी अभ्यासयोग द्वारा ही पकड़ा जाता है। अगस्त्य ऋषि ने सुतीक्ष्ण एवं सरभङ्ग जैसे उच्चकोटि के साधकों की साधना को देखते हुए अपने आश्रम के निकट ही उनकी साधना की व्यवस्था कर दी थी। परिणाम सब जानते हैं कि प्रभु श्रीराम ने उन दोनों संतों को भी अपना परम धाम दे दिया था।

आप साधना करना चाहते हैं तो घर में एकादशी व्रत करते थे, नवरात्रि व्रत करते थे, श्रावण का महीना, कार्तिक, माघ का महीना आपके लिए विशेष महत्त्व का होता था। इन महीनों में विशेष पूजा–पाठ का संकल्प करते थे, किन्तु वहाँ पर आपने यम–नियमादि साधनों के पालन करने का व्रत नहीं लिया था। अतः संन्यास लेने के उपरान्त तो यह व्रत लिया जाता है कि आज से मन से, कर्म से, वचन से किसी को नहीं सताऊँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूँगा, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करूँगा तथा सद्गुरु से मन की हर बात कह दूँगा। फिर आप देखेंगे कि मन कहाँ भटकता है? यद्यपि घर में हिंसा के साथ आप रहते थे, इसलिए अहिंसा पालन आपके लिए कठिन हो जाएगा किन्तु अभ्यास करके तो देखें।

(अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा.....) प्रभु ने कहा– हे पार्थ! तुम युद्धविजेता होकर जब आते थे तो आचार्य द्रोण, पितामहभीष्म, कुलगुरु कृपाचार्य आदि तुम्हारे स्वागत के लिए नगर के बाहर तक आते थे, अब वे ही लोग तुम्हारे विपक्षी होकर खड़े हो गये हैं तो तुम दुम दबाकर पीछे भाग रहे हो। नहीं, नहीं, ऐसा न करो! अब तो तुम जान ही गये हो कि मैं आचार्यों का भी आचार्य

हूँ, पितामहों का भी पितामह हूँ। अतः उन सम्पूर्ण नातों को मेरे से ही जोड़ लो। ऐसा करने से तुम्हारे द्वारा मेरा चिन्तन सहज हो जाएगा तथा मेरी आज्ञापालन करने में स्वाभाविक प्रीति हो जाएगी।

(कविं पुराणमनुशासितार.....) वह सर्वज्ञ पुरुष सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से भक्त के अति सूक्ष्म पाप और पुण्यों पर भी शासन करता है। इसी से तो उसे अचिन्त्य कहते हैं। शास्त्र, पुराणों में तथा वेद, स्मृतियों में पाप और पुण्य दोनों के सामर्थ्य और स्वरूप की चर्चा की गई है, किन्तु प्रभु ने शरणागत भक्तों के पाप–पुण्यों की असमर्थता की बात की है। उन्होंने कहा है कि पुण्य और पाप का भी भरण–पोषण ब्रह्म ही करता है। 'आदित्यवर्णम्' अर्थात् वह आदित्य के वर्णवाला नहीं बल्कि आदित्य (सूर्य) के स्वभाववाला है। सूर्य, पापात्मा–पुण्यात्मा दोनों को समान प्रकाश देता है और उन दोनों पर समयानुसार शासन भी करता है। हनुमानजी को ब्रह्मज्ञान देता है तो समयानुसार श्रीराम प्रभु के सामने दिया हुआ वरदान बाली से छीन भी लेता है। उसी के प्रकाश में पापात्मा पापकर्म करते हैं, पुण्यात्मा पुण्यकर्म करते हैं; किन्तु वह तबतक साक्षी बना रहता है जबतक कि उसका भक्त शरणागत होकर पाप–पुण्य के समाधान के लिए प्रार्थना नहीं करता। जयद्रथवध के पूर्व सूर्य साक्षी मात्र थे; किन्तु प्रभु की आज्ञानुसार जयद्रथवध के लिए वे छिप भी गये और प्रकट भी हो गये। यही बात सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वज्ञ ब्रह्म की भी है। वह सर्वज्ञ होते हुए भी आपके लिए तबतक अल्पज्ञ बना रहता है, जबतक कि उसके शरणागत आप नहीं हो जाते।

'आदित्यवर्णम्'– सूर्य के समान प्रकाशवाला कहने से तो ब्रह्म किसी वर्णवाला हो जाएगा, जबकि न उनमें प्रकाश प्रवेश कर सकता है, न अंधकार। इसीलिए यहाँ पर सूर्य की तरह स्वभाववाला अर्थात् साक्षी, नित्यचेतन ही ब्रह्म को समझना चाहिए। सूर्य में कभी अन्धकार प्रवेश नहीं कर सकता, उसीप्रकार ब्रह्म में अविद्या प्रवेश नहीं कर सकती, इसीलिए यहाँ पर उसके लिए सूर्य की उपमा दी गई है।

(प्रयाणकाले मनसाचलेन.....) प्रयाणकाल के अवसर पर पुरातन पुरुष को अचल मन से प्राप्त किया जाता है; इसलिए कि वह ब्रह्म अचल है न! पलकें क्यों चलती हैं? क्योंकि पुतलियों में मन बसता है, हाथ–पाँव में मन बसता है अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों में मन बसता है और मन में विचार चल रहे होते हैं। यदि विचार नहीं चल रहे हैं, तो पलकें खुली की खुली रह जायेंगी, ठहरी की ठहरी रह जायेंगी। मानो किसी ने स्तंभित कर दिया हो, पुतलियों में भी हलन–चलन तभी होता है जब विचारों में हलन–चलन होता है। कुछ लोग सोये रहते हैं और उनकी आधी पलकें खुली रहती हैं। वहाँ आप ध्यान से देखें तो उनकी पुतलियाँ चलती रहती हैं; क्योंकि वह पुरुष स्वप्नलोक में विचरण कर रहा होता है, और स्वप्न एक विचार ही तो है। जिसके मन में कोई भी न हो तो वह अचल ब्रह्म ही है।

(भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव.....) वह अचल मन होगा कैसे? इसी का उत्तर है कि भक्तियोग से। भक्ति ही योग का बल है। जब कोई साधक ब्रह्म के सिवा कुछ देखता ही नहीं

है, तब वही ब्रह्म इन्द्रियों, मन, बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसप्रकार उसके सम्पूर्ण अंग–उपांग भी अचल हो जाते हैं।

(भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्.....) इसका सामान्य अर्थ है कि जब आप दोनों भौहों के मध्यस्थान भृकुटि में मन को केन्द्रित करते हैं, तो कुछ महीने में आप पायेंगे कि प्राण, नासिका और भौहों से ही पुनः नाभि को लौट जाता है; क्योंकि मन जहाँ जायेगा वहीं प्राण जायेगा। यह अष्टांगयोगियों के ध्यानयोग की प्रक्रिया है। चूँकि यह आध्यात्मिक शास्त्र है, इसलिए इसका मौलिक भाव सुनें– शरीर और बाह्यजगतरूप दृश्य ये दो भौहें हैं, इन दोनों के मध्य में आकाश ही भृकुटि है, जगत ऊर्ध्वपलक है और शरीर अधः (नीचे की) पलक है। इन दोनों के मध्य में आकाश नामक गोलक है, जिसे अन्तरिक्ष कहते हैं। अन्तरिक्ष का तात्पर्य जो आकाश की आँख है उसी मध्य आकाश में आप द्रष्टा होकर देखते हैं, तब अपने दिव्य परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर जाते हैं। तो फिर यहाँ प्राण क्या है? जब भौहें शरीर और जगत हो गईं तथा भृकुटि इन दोनों दृश्यों के मध्य का आकाश हो गया, तो फिर प्राण क्या है? हाँ, यहाँ इस मंत्र के द्वारा स्मृति ही प्राण है। अब यह स्पष्ट हो गया कि प्रयाणकाल में शरीर और जगत के मध्य अन्तरिक्ष में 'मैं ही ब्रह्म हूँ'– इस भाव से द्रष्टा हो जाने पर पुरुष अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

(कविं पुराणमनुशासितार.....प्रयाणकाले मनसाचलेन.....) इन मंत्रों का आशय एक बार पुनः देख लें– वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है आप स्थूल हो गये हैं। सूक्ष्म का आवाहन किया जाता है, उसे पकड़ नहीं सकते आप, इसलिए भगवान ने छठे अध्याय में ध्यान की बात की। यदि प्रश्न खड़ा होता है कि बैठकर ध्यान करने की बात क्यों कर दी भगवान ने? हाँ, तो इसलिए कि जो विचार आएँ उन्हें नकार दें। सब ब्रह्म है, 'सर्वाहमस्मि' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' सब ब्रह्म ही है, 'सब मैं ही हूँ' इसकी स्थापना करने के उपरांत हृदय में, जगतभाव और जगतभाव से उत्पन्न होनेवाले प्राणि–पदार्थों और प्राणि–पदार्थों के प्रति उत्पन्न होनेवाले राजस, तामस तथा सात्त्विक तीनों प्रकारों के विचारों को त्याग दें। शुद्ध साक्षी चेतन पहले हो जाएँ। क्यों हो जाएँ? तो कहते हैं– 'कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।' वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञाता तो वही है, पुरातन तत्त्वों का ज्ञाता तो वही है, सबका शासक तो वही है, अणु का भी अणु है। आप क्या इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन की बात करेंगे! उस अणीयांसं की अर्थात् जो अणु–परमाणु का भी अणु–परमाणु है, उसका सदा स्मरण करें आप। 'सर्वस्य धाता' सबका धारण–पोषण करनेवाला वह है। सबके धारण–पोषण का तात्पर्य, चाहे कोई माने चाहे न माने लेकिन सबके प्राणों की रक्षा करता है। सबके प्रारब्ध को स्वीकार करता है, जबतक उसके पुण्य का बल है तबतक उसको छेड़ता ही नहीं। रावण को भी नहीं छेड़ा उसने, जबतक उसके पुण्य का प्रताप था, जबतक तप का प्रभाव था तबतक छेड़ा ही नहीं। इतना सम्मान करता है सबका, इसलिए 'सर्वस्व धाता' कहा जाता है, सबका धारण–पोषण करता है।

'आदित्यवर्णं'– आदित्य के वर्णवाला है का तात्पर्य होता है कि सूर्य के व्यवहार जैसा है। सूर्य के व्यवहारवाला अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश सबके लिये है– चींटी से हाथी तक, मनुष्य

से देवता तक, पशु–पक्षी तक के लिये है, वैसे ही वह ब्रह्म सबके लिए है, उसकी सारी सम्पत्ति, सारा वैभव सबके लिए है। महापापी से भी पापी उसकी शरण में जिस दिन गये, उस दिन उसकी विभूति, ऐश्वर्य, विरासत सब उनकी हो गयी। सूर्य के पास कर्ण भी जाता है, छिप जाता है, उसके पास स्वागत है उसका। उसने यह नहीं कहा कि तुम विरोध करके आए हो नर–नारायण से, अतः मैं तुम्हें शरण नहीं दूँगा। वैसे ही भगवान ने यह नहीं कहा कि तुम ब्रह्म हत्यारे हो तो मैं तुम्हें शरण में नहीं लूँगा। वह सबको आश्रय देता है। 'सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्' वह सबका धारण–पोषण करता है, आप उसका चिन्तन क्या करेंगे। हाँ, धारण तो करेंगे कि 'सब ब्रह्म ही है' लेकिन चिंतन क्या करेंगे क्योंकि वह 'अचिन्त्य' है, इसलिए शुद्ध साक्षी होकर ध्यान करें। चिंतन अर्थात् नकारात्मक तत्त्वों को नकारना है, इसलिए कहा जाता है कि आप आत्मचिंतन करें। द्वैत को नकारना ही चिंतन कहलाता है, अतः आत्मचिंतन कोई क्या करेगा।

'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम्'– चंचल मन हो गया है नानात्व व्यवहार करने से, नानात्व दर्शन करने से, नानात्व के भविष्य की चिन्ता करने से। तो प्रभु कहते हैं कि आप उसको नकारेंगे–नकारेंगे, बस वह आपका आत्मचिंतन कहा जायेगा। अचिन्त्यरूप है वह इसलिए चिंतन नहीं कर सकते। इसलिए भी चिन्तन नहीं कर सकते कि आपके लिये वही चिन्तन कर रहा है। इसलिए अचिन्त्यरूप होकर, शुद्ध साक्षी रूप होकर ध्यान करें, उसकी प्रतिक्षा करें।

(तमसः परस्तात्.....) आप अज्ञान में हैं, वह अज्ञान से परे है। आएगा तो वह, पर आप कैसे जानेंगे! इसीसे तो कहा है– 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'असतो मा सद्गमय', 'मृत्योर्मा अमृतमगमय' और जो ऐसा कहता है उसके लिए आह भरने की कोई घड़ी है ही नहीं। आह क्यों भरेगा, शोक–संताप क्यों करेगा! 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' आपके हृदय में छिपा है तो बस इतना ही जान लेना कि छिपा है हृदय में, मन में छिपा है, बुद्धि में छिपा है। बस बैठकर शुद्ध साक्षी चेतन होकर आवाहन कर देना। आएँ! हे प्रभु! आएँ! हे जगत्पते! आएँ! आपने ऐसा कहा है कि आप आदित्यवर्णवाले हैं तो मुझे विश्वास है कि सच में आप आदित्य स्वभाववाले ही हैं। अतः मैं आपकी प्रतीक्षा करता हूँ, आएँ! यह बात सत्य है, मैं विश्वास करता हूँ। अतः सत्य को सिद्ध करने के लिए आप आएँ। आप कवि हैं, पुराण पुरुष हैं, अणु के भी अणु हैं आप, अतः इस सत्य को सत्य करने आएँ!

'प्रयाणकाले'– हर दिन प्रयाण काल होता है। जब ध्यान में बैठते हैं आप तो जगत से प्रयाण हो ही जाता है आपका। यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मात्र शरीर छोड़ते समय को ही प्रयाण काल कहा जाता है। आप अचल मन से उसको चिंतनरूप में ला रहे हैं, ध्यान कर रहे हैं अथवा जगत को छोड़ दिया संन्यास लेकर तो समझा जायेगा कि प्रयाण काल हो गया आपका। जगत को त्याग दिया आपने तो जगत के लिए आप मर गये अथवा जगत से मर रहे हैं आप। निश्चित ही जगत से आपको मृत्यु चाहिये। जीवन जीना है भगवान से, जीवन जीना है भगवान के लिए, जीवन जीना है भगवान में, उसकी परिधि में आने के लिए जगत से आप मर रहे हैं, प्रयाण काल हो रहा है, शनैः–शनैः, धीरे–धीरे आप मर रहे हैं। 'ममता त्याग करहि जिमि ज्ञानी' धीरे–धीरे ममता का त्याग करता है ज्ञानी, मोह का त्याग करता है, काम–क्रोध,

राग–द्वेष का त्याग करता है। जैसे किसान धीरे–धीरे निदाई करता है फसल में से वैसे धीरे–धीरे आप जगत से मर रहे होते हैं। वह आपका यथार्थ में प्रयाण काल है। 'मनसाचलेन' अचल मन से। कैसे होगा अचल मन? प्रयाण काल तो है आपका लेकिन अचल मन कैसे होगा? इसी के उत्तर में कहा है– (भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव.....) भक्तियोग के बल से अचल मन हो जाएगा। भक्तियोग क्या है? हाँ, 'कविं पुराणमनुशासितारम्' सबके भीतर वह छिपा हुआ है, सबका धारण–पोषण करता है, वह तो सबके लिये है– चींटी के लिए भी है, हाथी के लिए भी है तो हमारे लिए तो विशेष है, ऐसा समझना यह भक्तियोग का बल है।

(भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्) भृकुटि के मध्य में स्थापित कर दिया मन को अर्थात् छोड़ दिया इस शरीर को। जब आप शरीर को छोड़ते हैं हर रोज प्रयाण काल में तो बस न वह रहेगा, न यह रहेगा, मध्य रहेगा अर्थात् शुद्ध साक्षी चेतनपना आ जाएगा। 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' अर्थात् प्राण को संयमित करके अर्थात् त्याग करके (प्राण का तात्पर्य प्रारब्ध होता है यहाँ पर) प्रारब्ध को नकारते हुए। यहाँ प्रारब्ध क्या है? विचार ही प्रारब्ध है, नानात्व ही प्रारब्ध है। इसको त्यागते हुए 'स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' नकारते–नकारते–नकारते, द्वैत को नकारते–नकारते–नकारते एक दिन यह भी छूटेगा, वह भी छूटेगा। फिर तदाकारता सहज ही आ जायेगी। इस आठवें अध्याय से उपसंहार हुआ छठे अध्याय का। ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित होकर क्या–क्या क्रिया करनी चाहिए इसको भगवान ने बताया, अब आप सब इसपर विचार करें।

महात्मा अर्जुन के मन में विचार आना स्वाभाविक है कि ऐसे दिव्य योग की युक्ति किन–किन को आती है? प्रभु ने उनके मन की बात जानी और कहा–

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

हे पार्थ! इस दिव्य परम स्वरूप को जिसे वैदिक ऋषियों ने अक्षर कहा है, जिसमें वीतरागी यति (संन्यासी) प्रवेश करते हैं, जिस परमपद की चाहना से नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, उस परमपद को मैं थोड़े में ही कहता हूँ। सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्तम्भित कर मन को हृदेश में स्थापित कर एवं प्राण को सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मस्तक में स्थापित कर योगधारणा

के द्वारा 'ॐ' का उच्चारण करता हुआ, इसके मौलिक स्वरूप निर्गुण–निराकार का चिन्तन करता हुआ, शरीर को त्यागकर जानेवाला पुरुष परमगति को प्राप्त हो जाता है।

(यदक्षरं वेदविदो वदन्ति.....सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये.....) इस मंत्र में संन्यास और ब्रह्मचर्य इन दोनों को दो क्यों कह दिया; जबकि जो ब्रह्मचारी है वही संन्यासी है, जो संन्यासी है वही ब्रह्मचारी है? हाँ, इसलिए कि कोई गृहस्थाश्रम से संन्यास लेकर अपने–आप को संन्यासी गुरु को समर्पित कर देता है और वहाँ ब्रह्मचर्य व्रत, नियमपालन द्वारा सद्गुरु की सेवा–शुश्रूषा करते हुए तथा उनके द्वारा बताये हुए जप, तप, योग को धारण करते हुए उनकी कृपा प्रसाद द्वारा अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञान से अपने परमपद को प्राप्त कर जाता है और दूसरा गृहस्थाश्रम से संन्यास लेकर सद्गुरु के द्वारा अपने आत्मस्वरूप का भलीभाँति निर्णय कराकर सम्पूर्ण जप, तप, योग का त्यागकर गुरु आदेशानुसार जगत से संन्यास लेकर भगवान दत्तात्रेय के मार्ग का अनुसरण करते हुए संन्यासपद द्वारा अपने दिव्य परम स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

मन ही मन अर्जुन ने सोचा– मैं तो इन दोनों में से एक भी नहीं हूँ, फिर मेरा क्या होगा? ये ऐसा क्यों कह रहे हैं कि तुम युद्ध करो और मैं तुझे परमपद दूँगा? प्रभु ने उनके मन में दूसरी प्रेरणा कर दी, इसलिए पुनः विचार आया कि हो सकता है कोई मेरे लिए तीसरा मार्ग हो, जो ये अभी बतायें। उनके इस मन के संशय और प्रश्न का समाधान ही नवम् अध्याय है। प्रभु ने स्पष्ट कहा ही है कि मैं तुझे राजयोग दूँगा (गीता अध्याय ६) जो दोनों ही मार्गों से विलक्षण है। वे संन्यासी और ब्रह्मचारी करते क्या हैं, देखें–

(सर्वद्वाराणि संयम्य.....) शरीर नव दरवाजोंवाला पुर है, इसलिए आत्मा को नव मुखोंवाला कहा जाता है; क्योंकि वह इन्हीं नव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है इसलिए निर्विषयी होते हुए भी विषयी जीव कहलाता है और जब इन नव दरवाजों पर संयम कर लेता है तब वही नव दुर्गा कहलाता है अर्थात् जिसके लिए ये नव दरवाजे संयमित होकर अति तेजोमय हो जायँ तब यह नव दरवाजोंवाला दुर्ग (किला) नव दुर्गा की संज्ञावाला हो जाता है। वह साधक मानो दिव्य संकल्परूपी शेर पर आसीन हो जाता है और लोकसंग्रह के लिए व्यवहार में कभी ऐं, ह्रीं, क्लीं आदि शक्तियों का आवाहन करता हुआ, हुंकार भरता हुआ, विचरण करता रहता है तथा–

(ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म.....) शरीर छोड़ते समय 'ॐकार' की मौलिक आत्मा का स्मरण करता हुआ, जिसे अक्षर ब्रह्म ही कहते हैं, उस परमपद को प्राप्त हो जाता है अर्थात् निर्गुण–निराकार रूप हो जाता है।

(सर्वद्वाराणि संयम्य.....) आँखों में देखनेवाला पुरुष है, कानों में सुननेवाला पुरुष है, नाकों में सूँघनेवाला पुरुष है, वाणी में बोलनेवाला पुरुष है, गुदा द्वार में मलत्याग करनेवाला पुरुष है तथा शिश्न (लिंग) में मैथुन की कामनावाला पुरुष है। इस पुरुष पर संयम कर साधक मन को हृदय में स्थापित कर अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर जाता है। तो वह पुरुष कौन है जो इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है? वह प्रारब्ध नामक पुरुष है। वह पाप एवं पुण्य

नामवाला भी कहा जाता है। जो पापमय (प्रारब्ध) पुरुष है वह कानों के द्वारा अनर्गल सुनता है, आँखों के द्वारा कुदृश्य देखता है, वाणी के द्वारा अनर्गल बोलता है आदि। जो पुण्यमय (प्रारब्ध) पुरुष होता है वह कानों से शुभ सुनता है, आँखों से शुभ देखता है, जिह्वा से शुभ खाता है आदि तथा जप, तप, योग के द्वारा शुभ देवलोकों की चाहना करता है। इन दोनों प्रकार के पुरुषों का त्यागना ही अर्थात् उनका कहना न मानना ही उनपर शासन करना है। जो सामर्थ्यवान हैं वे तो बाह्य इन्द्रियों पर भी संयम करेंगे और इन्द्रियों के विषयों को अस्वीकार भी करेंगे, किन्तु शरीर की वृद्धावस्था आने पर जो मुमुक्षु हुए, साधक हुए, वे बाह्य इन्द्रियों पर संयम क्या करेंगे, वे तो मात्र इन्द्रियों के विषयों का त्याग ही करेंगे। नींद ही एक देवता है, असमय में आने पर उसका त्याग करना; इधर–उधर ताकने–झाँकनेवाला देवता है, उसका त्याग करना; विचार ही एक देवता है, उसका त्याग करना; असमय में दिव्य व्यञ्जनों की माँग करनेवाला ही एक देवता है, उसकी माँग का त्याग करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों पर बैठे हुए शुभ–अशुभ विषयों की माँग को त्याग देना ही सम्पूर्ण इन्द्रियों पर संयम करना है। इससे सिद्ध होता है कि मन को इन्द्रियों के विषयों से हटाया जा सकता है। उसके उपरान्त–

(मनो हृदि निरुध्य च.....) मन को हृदय में स्थापित करना अर्थात् अपने स्वरूप में स्थापित कर लेना; क्योंकि अपने स्वरूप को ही आध्यात्मिक शास्त्रों में हृदय कहा गया है। 'मैं आत्मा हूँ, अक्षर हूँ, सत्य हूँ, साक्षी हूँ' यह अनुभूति ही हृदय है। इस अनुभूतिरूप स्वरूप में सदा साक्षीरूप होकर रहना ही मन को हृदेश में स्थापित करना है।

(मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्.....) उसके उपरान्त मस्तिष्क के मूर्धा नामक नाड़ी में प्राणों को स्थापित कर योगधारणा के द्वारा ब्रह्मचिन्तन की बात की गई है। यहाँ पर इसका मौलिक अर्थ है शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले सम्पूर्ण भक्तसमुदाय को सर्वाहमस्मिरूप परम भाव में लीन करके, वह समष्टि साक्षीरूप हो जाता है अर्थात् सदा–सर्वदा के लिए द्रष्टारूप हो जाता है। अर्थात् शरीर ही एक प्राण है, शरीर की उपासना करनेवाले साधकगण भी उसके प्राण हैं, अकार (ब्रह्मा) ब्राह्मीशक्ति, उकार (विष्णु) वैष्णवीशक्ति, मकार (शिव) माहेश्वरीशक्ति– इन तीनों प्राणों को भी अक्षर स्वरूप समझता हुआ, वह सम्पूर्ण साक्षी रूप हो जाता है।

(ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म.....) यदि मस्तिष्क में मूर्धा नाम की नाड़ी के द्वारा अथवा सुषुम्ना के द्वारा प्राणों को स्थापित करके ब्रह्मरन्ध्र से कोई प्राणों को छोड़कर जाता है तो फिर वह योगी तो मृत्युलोक के अन्तर्गत राजा बन जाता है और पुनः पुण्य क्षीण होनेपर नरकगामी बन जाता है, अतः इस मंत्र का वैसा अर्थ नहीं करना चाहिए। प्राण का तात्पर्य स्मृति और मस्तिष्क का तात्पर्य 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वाहमस्मि' लेना चाहिए। यहाँ 'ॐ' को ही परम ब्रह्म नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसे सम्पूर्ण देवी–देवताओं का बीजरूप आत्मा मानना चाहिए और परम ब्रह्म परमात्मा का स्मरण करनेवाला भाव मानना चाहिए। जैसे माँ! माँ! माँ! कोई पुत्र अपनी माँ को पुकारता है तो वह माँ का स्मरण करता है। बेटे के लिए माँ शब्द ही माँ का नाम है, उसीप्रकार 'ॐ' निर्गुण–निराकार ब्रह्म का स्मरण है। कदाचित् किसी को आत्मज्ञान नहीं हुआ है और ॐकार

के स्मरण का अभ्यासी है तो अन्तिम काल में इस ॐकार के स्मरण मात्र से ही अक्षर ब्रह्म का बोध होकर अपने स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी।

(ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म.....) परम ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के पूर्व में इस 'ॐ' नामक ब्रह्म के स्मरण का संकेत किया गया है, जो अकार, उकार और मकार– इन तीन मात्राओंवाला है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन गतियोंवाला है, उसके ऊपर जो अनुस्वार है, वही अमात्ररूप तुरीय पदवाला है। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' में 'ॐ' ही एक अक्षर ब्रह्म है और वासुदेव उसकी आत्मा हैं। 'ॐ ब्रह्मणे नमः', में 'ॐ' ही एक अक्षर ब्रह्म है और ब्रह्मा उसकी आत्मा हैं। 'ॐ नमः शिवाय' में 'ॐ' ही एक अक्षर ब्रह्म है और शिव उसकी आत्मा हैं। 'ॐ दुर्गायै नमः' इसमें 'ॐ' ही एक अक्षर ब्रह्म है और दुर्गा उसकी आत्मा हैं। ठीक इसीप्रकार सम्पूर्ण देवी–देवताओं के मंत्रों के पूर्व, नामों के पूर्व यही 'ॐ' व्यवहृत होने से एक अक्षर ब्रह्म कहा जाता है। अकार, उकार, मकार अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिवाला पुरुष जीव कहलाता है। जब वे तीनों साम्यावस्था में होते हैं, तो वही अमात्रा शेष बचती है, अनुस्वार शेष बचता है, जो तुरीयावस्था का बोध कराता है। वह उस अवस्था में द्रष्टारूप हो जाता है। अतः प्रयाणकाल के अवसर पर ये सारे प्राणिपदार्थ जो अकार, उकार, मकारवाले ही हैं अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिवाले ही हैं और मैं इन सबकी आत्मा होने के कारण से इन सबके भीतर–बाहर ओत–प्रोत हूँ, इस दिव्य अनुभूति में स्थित होकर वह अपने साक्षी स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी को परमपद कहते हैं।

(ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म.....) जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब शरीर छोड़ते समय भी क्या उसकी कोई क्रिया होती है? इसी का स्पष्टीकरण इस मंत्र के द्वारा किया गया है। क्रिया तो नहीं होती लेकिन अकार, उकार, मकार के अनुसार मात्रा का और उनकी अवस्था का बोध होने के कारण से उसे जो दिखाई पड़ता है अथवा उस समय जो अनुभूति में आता है उसी को स्पष्ट किया जाता है। वह आत्मज्ञानी 'ॐ' की गति को और स्वरूप को भलीभाँति जानता है। वह स्पष्ट देख ही रहा है कि शरीर के नाभि के नीचे का भाग मकार है, नाभि से कंठ तक का भाग उकार है तथा कंठ से शिखा तक का भाग अकार है। वह देख रहा होता है कि पृथ्वी से जल तक का भाग मकार है, जल से वायु तक का भाग उकार है तथा वायु से ब्रह्म तक का भाग अकार है। इसप्रकार शरीर को ब्रह्माण्ड से जुड़ा हुआ देखता है। वह देखता है कि मकार ही अपान है और अकार ही प्राण है तथा इन दोनों के मध्य के उपप्राण जैसे समान, उदान, व्यान, नाग, देवदत्त, धनंजय, कूर्म और कृकल ही उकार हैं। इसप्रकार वह पुनः देख रहा होता है कि मकार ऊर्ध्वगामी होकर उकार में विलीन हो रहा है और उकार, अकार में सिमट रहा है, जो प्राण का मुख्य प्रदेश है। इसप्रकार संकल्पशक्ति के द्वारा अपान को प्राण में और प्राण को स्मृति में निगलता जा रहा है। उस अवस्था में जिस क्रम से उसने माँ के गर्भ में अपने शरीररूपी सृष्टि का 'ॐ' का स्मरण करते हुए ही मानो सृजन किया था, कैसे? जैसे 'ॐ' का स्मरण करता गया और उसके स्मरण मात्र से ही अकार, उकार, मकाररूप शरीरमय सृष्टि का सृजन होता गया। यदि आप भी 'ॐ' की लम्बी ध्वनि करें ओऽऽऽ.....म्, तो इसप्रकार अकार प्रकट होता–होता उकार प्रकट हो जाता है और उकार प्रकट होता–होता मकार प्रकट

हो जाता है। इसे फिर से समझें– अकार का स्मरण होते–होते, निर्गुण–निराकाररूप से वही आत्मा शरीर का ऊर्ध्वभाग अर्थात् कंठ के ऊपर का भाग बन गया तथा उकार का स्मरण होते–होते शरीर का मध्यभाग बना और मकार का स्मरण होते–होते शरीर का अधोभाग बना। अब चूँकि प्रयाणकाल का समय है तो भी 'ॐ' को ही स्मरण करेगा। हाँ, उस समय यह स्मरण रहेगा कि अँगूठे से नाभि तक का अपानरूप मकार ऊर्ध्वगामी हो रहा है और ऊर्ध्वगामी होते–होते नाभि से कंठ तक के उपप्राण रूप उकार को समेटता हुआ, मुख्य प्राण रूप अकार में विलीन हो रहा है। इसप्रकार मकार, उकार, अकाररूप प्राण जब एक हो जाते हैं, तब वह अन्तिम संस्कार को अर्थात् अन्तिम विचाररूपी प्रारब्ध को अहंरूप समष्टि चेतन में विलीन होते देखता है और उसी समय जैसे ही वह समष्टि चेतनरूप होता है, तभी बाहर की वायु उस शरीर के भीतर ही प्रवेश कर जाती है। आमलोगों का जहाँ प्राण किसी न किसी इन्द्रिय से बाहर निकलता हुआ देखा जाता है, वहीं उसके शरीर का प्रारब्ध ब्रह्ममय हो जाने के कारण से बाहर की वायु को शरीर के भीतर जाते हुए देखा जाता है। इसप्रकार आत्मज्ञानी के शरीर छोड़ने की प्रक्रिया का आंशिक संकेत दिया गया, जिसपर साधकगण विचार करेंगे। महात्मा अर्जुन के मन में आश्चर्य के साथ हृदय से निकल पड़ा कि हे माधव! यह परमगति सर्वसाधारण के लिए अति कठिन है। प्रभु ने कहा– हाँ, हे पार्थ! दुर्गम तो है लेकिन सुगम कैसे है यह भी सुनो–

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

हे पार्थ! जो सदा–सर्वदा मेरे ही नाम का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करता रहता है, उसके लिए यह परमगति प्राप्त होना अति सुलभ है और इतना ही नहीं मेरी परमगति को प्राप्त कर, वे महात्माजन इस दुःखरूप संसार में पुनः नहीं आते।

(अनन्यचेताः सततं.....) जिस चित्त के द्वारा ब्रह्म के सिवा दूसरा दिखाई नहीं देता उस चित्त को अनन्यचेताः कहते हैं। वह न स्वर्ग की कामनावाला होता है और न ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की कामनावाला, बल्कि ब्रह्म की कामनावाला अर्थात् स्वयं की कामनावाला होता है। सुतीक्ष्ण श्रीराम प्रभु की कामनावाले थे; क्योंकि प्रभु श्रीराम ने उनके हृदय से अपने रूप को हटाकर चतुर्भुज रूप दिखाया तो वे अति विकल होकर ध्यान छोड़ बैठे, तब प्रभु श्रीराम जो पेड़ों की ओट में छिपे हुए थे, उस संत के अनन्य चित्त को देखकर सामने प्रकट हो गये।

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा।।
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें।।

(श्रीरामचरित मानस, अरण्यकाण्ड)

मानसकार ने तात्कालिक समय की अद्‌भुत झाँकी प्रस्तुत की है, जिसे आप देखें– चतुर्भुज रूप दिखाने का क्या प्रयोजन हो सकता है? यही कि प्रभु श्रीराम, भगवती सीता और लक्ष्मण को तथा अन्य संतों को अनन्य चित्त का लक्षण दिखाना चाहते हैं। चतुर्भुज रूप के प्रति प्रायः सभी भक्तों में बहुत विशेष प्रेम होने की सम्भावना होती है; किन्तु उस संत में अंशमात्र भी ऐसा देखा नहीं गया। उन्होंने अपने गुरुदेव अगस्त्य मुनि के कहने से अयोध्या में प्रकट हुए प्रभु श्रीराम के नाम का स्मरण किया था, न कि निर्गुण राम का और न ही 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र का। उन्होंने अपना हृदय राम को दे दिया था, न कि अन्य देवी–देवताओं को। उनके हृदय में राम के सिवा किसी अन्य की जगह नहीं थी। इसीलिए वैसे चित्त को अनन्य चित्त कहा जाएगा।

साधकों एवं भक्तों को अपने चित्त को भलीभाँति निरखना–परखना चाहिए। यदि घर–परिवार में आसक्ति है तो अनन्य चित्त नहीं है। यदि काम–क्रोध, राग–द्वेष आदि के प्रकट होनेपर आप उनके हो जाते हैं तो आपका अनन्य चित्त नहीं है। यदि अपमान की अवस्था में चित्त उबल जाता है और सम्मान की अवस्था में चित्त प्रसन्न हो जाता है तो आपका अनन्य चित्त नहीं है और जबतक अनन्य चित्त नहीं होगा तबतक साधना की सिद्धि में देर होने से साधना ही बोझ बनती जायेगी। अन्ततोगत्वा मन साधना से उपराम होकर पुनः संसार में भटक जायेगा।

(मामुपेत्य पुनर्जन्म.....) यह संसार दुःखों का घर है, जिसने इसप्रकार के दुःख का भलीभाँति अन्वेषण कर लिया है, वही तो अनन्य चित्तवाला होगा।

इन्दौर के भक्त मित्तलजी, मोहनजी तथा हीरालालजी (अम्बाचन्दन)– ये तीनों कुछ दिनों के लिए अथवा महीने–दो महीने के लिए प्रभु–भजन करने ओंकारेश्वर एक संत के आश्रम में पहुँचे। तीसरे दिन संत से अपने मन की बात बताई। संत तो विनोदी होते ही हैं, उनकी बात भी उलटी ही होती है। आखिर उलटे लोगों से संत उलटी बात नहीं करेगा तो क्या सीधे लोगों से उलटी बात करेगा? संत ने कहा– आप तीनों घर लौट जाओ क्योंकि यहाँ (आश्रम में) तो दुःख ही दुःख है। जो आप सब घर में भजन कर रहे थे, यहाँ वह भी छूट जाएगा। संत की बात इन तीनों को बहुत अच्छी लगी, दो ही दिन में ऊब तो गये ही थे ये लोग, ऊपर से बहाना और मिल गया, खुशी–खुशी तीनों भक्त इन्दौर तक प्रेमपूर्वक भजन करते हुए चले आये। महाराज ने तो सुना है तथा भलीभाँति देखा भी है कि घर में दुःख ही दुःख है और आश्रम में सुख ही सुख है; किन्तु उन भक्तों ने उलटा ही समझ लिया। यह तो सत्य ही है कि आश्रम में बाल–बच्चे तो हैं नहीं, तो गाली–गलौज करेंगे किससे? अपने चित्त की मवाद निकालें तो किसपर? फिर इससे बड़ा दुःख क्या होगा? अपना वस्त्र अपने से धोना पड़ेगा, इससे बड़ा दुःख क्या होगा? अपना बिस्तर अपने से लगाना पड़ेगा, इससे बड़ा दुःख क्या होगा? जो घर में सभी सदस्यों को आज्ञा देता है, उसको सामान्य से सामान्य संतों की आज्ञा में रहना होगा, इससे बड़ा दुःख क्या होगा? जो भोजन में मिर्च–मसाले की कमी–बेशी पर थाली पटकता रहता है, उसे आश्रम में साधारण से साधारण भोजन को प्रसाद मानकर पाना होगा, इससे बड़ा दुःख क्या

होगा? छिः! धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो सुखमय से सुखमय स्थान– संत और सद्गुरु के आश्रम को दुःखमय स्थान मानकर घर लौट आते हैं, ऐसे लोगों के लिए ब्रह्म अति दुर्लभ है।

(दुःखालयमशाश्वतम्.....) जिन्होंने सुख को भी दुःखरूप ही देखा है, वे ही अनन्य चित्तवाले हो सकते हैं, दूसरे नहीं। अभी इन्दौर क्षेत्र के एक युवक ने दुःखरूप संसार से ऊबकर सुखरूप मृत्यु को प्राप्त करने के लिए जहर खा लिया। जब असह्य पीड़ा होने लगी तो वह छाती पीट–पीटकर कहने लगा कि चाहे संसार में जितना भी कष्ट हो; किन्तु कोई जहर न खाये। मैं तो समझता था कि जहर खाओ और मर जाओ; किन्तु मरते समय की जो पीड़ा है, संसार की सम्पूर्ण पीड़ाओं से भी अतिशय पीड़ादायक है। अन्ततोगत्वा वह मरा भी नहीं और आत्यंतिक दुःख का अनुभव भी कर लिया। इसी से तो सारे जीव मरने से डरते हैं। आप नहीं देखते कि प्राण छोड़ते समय सभी की स्मृति जाती रहती है, असह्य वेदना का परिणामरूप फल ही तो है वह। किन्तु जिनका चित्त ब्रह्ममय हो गया है, उन्हें इस दुःख का भी सामना नहीं करना पड़ता। अर्जुन ने सोचा– ये माधव कैवल्य पद की ही बात क्यों कर रहे हैं? ये अपने लोक की ही प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? ब्रह्मा, विष्णु, महेश का लोक भी तो इन्हीं के लोक जैसा अपुनरावर्ती ही है अर्थात् इनके लोक को जाकर भी पुनः मृत्युलोक में आना नहीं पड़ता? प्रभु ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं, पार्थ!

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

ब्रह्मादिलोक भी आने–जानेवाले होते हैं और जब ब्रह्मा ही उत्पत्ति–विनाशवाले हैं, तो उनका लोक अविनाशी कैसे हो सकता है? कुछ मन्वंतरों के बाद तो स्वयं ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है, फिर उनके लोक के समय की गणना क्या करना। किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त करके कोई भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं हो सकता।

आप सब ने ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, देव, पितर, गन्धर्व आदि लोकों के विषय में ग्रन्थों में पढ़ भी रखा है तथा साधकों, संतों से सुन भी रखा है। बहुधा कम लोग जानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का भी प्रलय होता है, क्योंकि ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि देवता भी सौ–सौ वर्ष की उम्रवाले ही हैं। हाँ, यह बात अलग है कि हजार बार सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग व्यतीत होनेपर ब्रह्मा का एक दिन होगा। इसीप्रकार उनकी एक रात्रि भी होगी। इसप्रकार सौ वर्ष बीतने पर वे भी अपने कारण में विलीन हो जायेंगे। जो काल की अपेक्षावाला है, वह जीव ही तो है। जो भी प्राणिपदार्थ या देवी–देवता प्रकट होते हैं, वे अन्तर्ध्यान भी होते हैं अर्थात् वे सदा–सर्वदा एक जैसे नहीं रह सकते। सारे के सारे तंत्र–मंत्र संख्या से सिद्ध होनेवाले हैं, इसलिए उनके द्वारा प्राप्त लोक या सिद्धियाँ निश्चित समय–सीमा तक रहेंगी उसके उपरान्त फिर कोरा का

कोरा जीवन हो जाता है।

(सहस्रयुगपर्यन्तं.....) अब इसका आध्यात्मिक अर्थ सुनें– इस मंत्र के द्वारा बुद्धि ही ब्रह्मा है। बुद्धि ही सोती है और जागती है– बुद्धि जब जागती है तो सृष्टि प्रकट हो जाती है और बुद्धि जब सोती है तो सुषुप्ति अवस्था आ जाती है अर्थात् सृष्टि का प्रलय हो जाता है। किन्तु द्रष्टारूप आत्मा बुद्धि के सोने और जागने से भी मुक्त ही रहता है। आकाश में बादल प्रकट होते हैं और बरस जाते हैं; किन्तु उनका अधिष्ठाता आकाश उनकी अपेक्षा अचल और साक्षी बना रहता है। आखिर वह बुद्धि क्या है? वह तत्त्व (शरीर) जो शुभ और अशुभ वृत्तियों को अपने–आप में समेटकर लोक–लोकान्तरों का सृजन कर, वहाँ दुःख अथवा सुखरूप कर्म और कर्मफल का हेतु बनता है। कबतक? जबतक कि आप सम्पूर्ण देवी–देवताओं की उपासना छोड़कर ब्रह्म के नहीं हो जाते हैं। बुद्धि का जागना अर्थात् सृष्टि का प्रकट होना और बुद्धि के समाधिस्थ हो जाने का परिणाम सृष्टि का प्रलय हो जाना होता है। प्रयाणकाल के समय जो बुद्धि आपके लिए जाग रही थी, वह मानो सो जाती है तथा संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों कर्मों को लेकर पुनः आपके लिए नई सृष्टि की रचना कर देती है। वह तबतक रचना करती रहती है जबतक आप ब्रह्म के नहीं हो जाते।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

हे पार्थ! ये सारे के सारे प्राणी ब्रह्म के दिनकाल में प्रकट होते हैं और रात्रिकाल में उसी में विलीन हो जाते हैं। वे ही सम्पूर्ण भूतसमुदाय ब्रह्मा की दिन–रात्रि के क्रमानुसार, उसी से उत्पन्न हो–होकर उसी में लीन होते रहते हैं और उसकी समाधि अवस्था में उसी में प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। स्पष्ट है कि उपरोक्त सौ वर्ष की आयुवाले ब्रह्मा के संकल्प से उसकी जाग्रदवस्था में सारे प्राणिपदार्थ प्रकट होते हैं। यहाँ विलक्षण बात प्रभु ने कह दी कि ब्रह्म व्यक्त है और ब्रह्मा अव्यक्त है। ऐसा सुनकर लोगों को कौतूहल तो होगा किन्तु सजग होकर विचार करेंगे तो बात समझ में आ जाएगी। यहाँ लिखते समय अवधेशानन्द और अभयानन्द को भी आश्चर्य हो गया कि महाराजजी क्या लिख रहे हैं? किन्तु महाराज का कहना है कि जो दीख रहा है, भले इसे आप संसार मानें, तत्त्व मानें, माया मानें; किन्तु आपके मानने से तो यह दृश्यब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म, माया या संसार या पंचभूत तो हो नहीं जायेगा। स्पष्ट ही है कि जो दिखाई नहीं पड़ता वह माया है और जो दिखाई पड़ रहा है वह ब्रह्म है। ब्रह्म के दो रूप प्रारम्भ में कहे गये हैं– एक पर ब्रह्म, दूसरा अपर ब्रह्म। जैसे प्रकाश में अन्धकार कभी हुआ ही नहीं, वैसे ब्रह्म में माया कभी हुई ही नहीं। ब्रह्म का किसी–किसी के लिए माया बन जाना अलग बात है; किन्तु स्वतंत्र माया का प्रकट होना अलग बात है। स्वतंत्र माया के प्रकट होने का अर्थ है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र शक्ति विद्यमान है और ऐसा मानने से आप सांख्यमतावलंबियों के दास बन

जायेंगे। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मा का तात्पर्य बुद्धि से है। पुराणों में ब्रह्मा नाम, आकृति तथा उसकी सत्ता–सामर्थ्य सामान्यलोगों के लिए एक रूपक है। जिन्होंने लम्बे समय तक ज्ञान–ध्यान, जप–तप तथा समाधि का अभ्यास किया है, जिसकारण से चित्त अति निर्मल हो गया है, उन्हें तो यह बात स्पष्ट समझ में आ जाएगी। साधक ध्यान में बैठता है और प्रथम चरण में वह यह भी नहीं जान पाता कि विचाररूप सृष्टियाँ कहाँ से प्रकट होती हैं और मानसपटल पर आ–आकर कहाँ चली जाती हैं। अवधेशानन्द जैसा चेतन समाधिवाला साधक भी इन विचाररूप सृष्टियों से परेशान–परेशान है। वह कहता है कि समाधि में विचार पता नहीं कहाँ चले जाते हैं और समाधि टूटने के उपरान्त पता नहीं विचारों की झड़ी कहाँ से लग जाती है, जिनके न हाथ हैं, न पाँव हैं, न सिर हैं पर विचार तो हैं ही। वह कहता है कि पता नहीं कितने जन्म के विचार आकर खड़े हो जाते हैं। उनके सामने असंख्य विचार आकर खड़े हो जाते हैं, यह साधना की सफलता मानी जाती है। बहुत विशेष खोज करने पर विचारों का उद्‌गम दिखाई पड़ता है। उन विचारों के उद्‌गम को ही यहाँ बुद्धि (ब्रह्मा) कहा गया है। अतः जबतक सदा–सर्वदा के लिए बुद्धि का प्रलय नहीं हो जाता, तबतक जन्म–मृत्यु का प्रवाह चलता ही रहेगा। आप तो देखते ही हैं कि सुषुप्ति में हररोज विचारों का प्रलय सा दिखाई पड़ता है तथा एक–दो घण्टे के बाद स्वप्न में सृष्टि का सृजन हो जाता है। छः घण्टे नींद के अन्तर्गत कई बार तो सुषुप्ति में विचारों का प्रलय हो जाता है और बहुत बार स्वप्नजगत का निर्माण हो जाता है। आपका शरीर भी एक ऐसा विलक्षण ब्रह्मा है जिसमें प्रत्येक दिन स्वप्नजगत नामक नई सृष्टियाँ प्रकट होती रहती हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि जो बाहर में प्रत्यक्ष अपर ब्रह्म दीख रहा है, उसे आपने संसार मान लिया है, अतः सोने में वही संसार विकसित होता है। संसार मानने से संसार ही तो प्रकट होगा, ब्रह्म कहाँ से प्रकट हो जायेगा? इसप्रकार जाग्रदवस्था बुद्धि का दिनकाल है और सुषुप्ति उस बुद्धि का रात्रिकाल है। फिर स्वप्न की बात आपने तो की ही नहीं? यहाँ दिन और रात्रि की व्याख्या करने पर स्वप्न और जाग्रत् को एक ही रूप माना है। इसलिए कि बाहर का अपर ब्रह्म आपके लिए वासना बन गया है, अतः जाग्रत् और स्वप्न अवस्था (दोनों) वासना ही तो हैं। इतना स्पष्ट होनेपर भी यदि बात समझ में नहीं आये तो वह जान ले कि अभी उसका चित्त भलीभाँति साफ–सुथरा नहीं हुआ है। महात्मा अर्जुन के मन में विचार आता है कि तब तो जीवन–जीवन समाधान होना असंभव है। प्रभु ने कहा ऐसा मत सोचो–

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

इस अव्यक्त से भी अति विलक्षण सनातन परम भाव है, जिसके प्रकट हो जाने पर बुद्धि का अता–पता ही नहीं चलेगा, उसका सदा–सर्वदा के लिए महाप्रलय हो जायेगा। वह परम भाव अव्यक्त अक्षर नाम से कहा जाता है, वही अव्यक्तभाव अपने स्वरूप को अर्थात् परम धाम

को देनेवाला होता है।

'सर्वाहमस्मि' अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ , ये सारे के सारे नाम और रूप मुझ निर्गुण–निराकार से प्रकट होने के कारण से सगुण ही हैं, यही अव्यक्त सनातन भाव है, इसी को परम भाव भी कहते हैं। इस परम भाव के प्रकट होते ही विचाररूप सारी सृष्टियाँ अथवा बुद्धिरूप सारी सृष्टियाँ वैसे ही इस परम भाव में विलीन होती हैं, जैसे सम्पूर्ण अन्धकार सूर्य के धीरे–धीरे प्रकट होनेपर प्रकाश में ही विलीन होता जाता है। जिसप्रकार साँप की सन्तान साँप होती है, गाय की सन्तान गाय होती है, मनुष्य की संतान मनुष्य होती है, उसीप्रकार मेरे से उत्पन्न होनेवाला दृश्यवर्ग मेरा ही रूप है, अहर्निश ऐसा चिन्तन करना ही परम भाव है।

(परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो.....) मूल में क्या है? यह देखना चाहिए। यदि मूल में ब्रह्म है तो ब्रह्म ही है, ऊपर से चाहे जो कुछ भी दिखाई पड़े। व्यक्ति को देखा जाता है, व्यक्ति के शरीर में कितनी मैल है, कितने जूएँ हैं– यह नहीं देखा जाता; वह किस रंग का, कैसा कपड़ा पहना हुआ है– यह नहीं देखा जाता। व्यक्ति से प्रयोजन है या व्यक्ति के सिर के जूएँ से! जूएँ भी तो उसके पसीने से ही प्रकट हुए हैं, उसीप्रकार नाना रंग–रूप, आकार–प्रकार ब्रह्म से ही प्रकट हुए हैं। ठीक वैसे ही आप मूल में आत्मा हैं, थोड़े समय के लिए आपने 'मैं' और 'तू', 'मेरा' और 'तेरा' स्वीकार कर लिया था; किन्तु स्वीकार करने के उपरान्त भी न आप शरीर हुए न कोई शरीर आपका हुआ। इसप्रकार का चिन्तन ही परम भाव है, जिसमें बुद्धि का प्रलय हो जाता है। अर्जुन के मन में आया कि 'मैं ब्रह्म हूँ', यह भी तो भाव ही है, चाहे भले परम भाव हो, नाश तो उसका भी होगा; चाहे सामान्य व्यक्ति का शरीर हो या ब्रह्मज्ञानी का शरीर हो, शरीर का तो नाश होता ही है। भगवान ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं यह दृष्टांत तुम्हारा ठीक नहीं है।

(यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति.....) जिसप्रकार रामनाम जपते–जपते राम प्रकट हो गये तो राम नाम का नाश होना नहीं माना जायेगा; क्योंकि उसने सनातन परम ब्रह्म परमात्मा को प्रकट कर दिया। आम का बीज अंकुरित होने के पूर्व ऊपर से नाश होता हुआ दिखाई पड़ेगा, किन्तु नाश नहीं होता बल्कि अंकुरित होते–होते पौधा बन जाता है, पौधे से वृक्ष बन जाता है और वृक्ष से आम बन जाता है। उसीप्रकार यह परम दिव्य भाव विकसित होते–होते 'अव्यक्तोऽक्षर इति'– परम अक्षर ब्रह्म बन जाता है, 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते'– जिसको प्राप्त होकर पुनः लौटना नहीं पड़ता।

(परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो.....) थोड़ा सा आप ध्यान दें। प्रभु ने महात्मा अर्जुन को ज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम अपने स्वरूप में स्थित करना चाहा। बात नहीं बनी, तो निष्काम कर्मयोग से, फिर निष्काम कर्म और ज्ञान से, पुनः कर्मसंन्यासयोग से, फिर ध्यानयोग से, पुनः ज्ञानविज्ञानयोग से सफलता नहीं मिलने पर, अब अक्षर ब्रह्मयोग द्वारा उन्हें अपने स्वरूप में स्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'मैं आत्मा हूँ'– यही सनातन अव्यक्तभाव है, जिस भाव में बुद्धि का ही प्रलय हो जाता है, फिर विचाररूपी सृष्टियाँ कहाँ से प्रकट होंगी? 'मैं शरीर हूँ'– यह व्यक्तभाव अर्थात्

सामान्य भाव है। इस सामान्य भाव को स्वीकार करते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग और द्वेष आदि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होने लगते हैं। इन्हीं अज्ञानमय ब्रह्माण्डों का परम भाव में महाप्रलय हो जाता है, जिसके महाप्रलय का प्रयत्न आप दिन–रात करते रहते हैं।

अर्जुन ने मन में कहा– 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा कहने मात्र से तो ब्रह्म हो नहीं सकता? तो प्रभु ने कहा कि मैं कहने मात्र के लिए नहीं कह रहा हूँ, प्रयोग के लिए कह रहा हूँ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

हे पार्थ! जिस निर्गुण–निराकार ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत विद्यमान है, वह परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है, अन्य साधन उसके लिए है ही नहीं।

महात्मा शुकदेव ने जब गुरुमुख से सुना कि वे ही वह अव्यक्त अक्षर पुरुष हैं, तो ऐसा सुनकर वे सुमेरु पर्वत पर चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने ज्ञानसमाधि के द्वारा इस ज्ञान को आत्मसात् किया यानी पचाया, फिर कालान्तर में लोकहितार्थ अपने अनुभव को महाराज परीक्षित के पास भगवत्कथा के माध्यम से प्रकट किया। साधक परम सनातनभाव को सद्गुरु मुख से सुनकर, सर्वप्रथम तबतक जगत के लिए अज्ञात रहते हैं, जबतक कि 'सर्वाहमस्मि– सब कुछ मैं ही हूँ' रूप नहीं हो जाते; और जगत में तब लौटते हैं जब उनके लिए प्रकृति का संकेत मिलता है। प्रभु अनन्य भक्ति के साथ इस परम भाव को स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं अन्यथा यह परम भाव प्रज्ञावादी बना देगा। 'मन है चंगा तो कठौती में गंगा'– कहते हुए लोग पाये जाते हैं; किन्तु महाराज कहता है– 'बिना गंगा (भागीरथी) के और बिना दिव्य गंगा के उनका मन रहता है गन्दा का गन्दा'।

(यस्यान्तः स्थानि भूतानि.....) जब आप समझते हैं कि सम्पूर्ण भूत उस ब्रह्म से ही प्रकट होते हैं, ब्रह्म से प्रकट होने के कारण से ब्रह्म में ही रहते हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त है, तो इस समझ के साथ प्रयोग करने के लिए जब जप, तप, योग करते हैं, उसके उपरान्त सद्गुरु मिलता है। सद्गुरु के पास जप–तप करने से ऐश्वर्य मिलता है, उस ऐश्वर्य को त्यागने के उपरान्त आध्यात्मिक इच्छा प्रकट होती है, उसके उपरान्त अनन्य भक्ति प्राप्त होती है और अनन्य भक्ति रूप परम साधन में प्रतिष्ठित होनेपर परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

अर्जुन के मन में आता है कि वह आपका परम धाम अनन्य भक्ति से तो प्राप्त होता है; किन्तु प्रयाणकाल के समय परम भाव रहनेपर वह किस भाँति परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। उनके मन की बात जानकर प्रभु ने कहा–

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! तुम्हारे समझने के लिए प्राणों को छोड़कर योगी जिस मार्ग से ब्रह्म

को प्राप्त करता है उसे भी कहूँगा तथा जिस मार्ग से जाकर स्वर्ग से ही लौट आता है, उसे भी कहूँगा।

ब्रह्मलोक ही अपुनरावर्ती लोक है, अन्य सारे–देवलोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, इस बात को सभी को जान लेना चाहिए, इसीलिए यहाँ प्रभु ने समझाने के लिए पौराणिक सिद्धान्त का आश्रय लिया है। जिसने कभी भी आध्यात्मिक शास्त्र का पठन–पाठन अथवा श्रवण–मनन नहीं किया है, उसको भगवान की बात अटपटी लग सकती है। ब्रह्मा, विष्णु और शिवलोक तथा सम्पूर्ण देवादिलोक नाशवान हैं– ऐसा सुनकर शिव–भक्त, वैष्णव–भक्त, शाक्त–भक्त, देव–भक्त इत्यादि भगवान पर बहुत कुछ आक्षेप कर सकते हैं; किन्तु यदि अपने इष्ट के प्रति उनके चित्त में अनन्यता है तो उनका इष्ट ही कभी न कभी 'प्रभु की बात यथार्थ ही है'– ऐसा बतायेगा। वे दोनों मार्ग कौन हैं? इसके विषय में भगवान कहते हैं–

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

हे पार्थ! ब्रह्म की कामनावाले भक्त का जब शरीर छूटता है, तब उसके सूक्ष्म शरीर को अग्नि नामक देवता के द्वारा ज्योति नामक देवता तक पहुँचा दिया जाता है। ज्योति नामक देवता दिन नामक देवता तक, दिन नामक देवता शुक्लपक्ष नामक देवता तक तथा शुक्लपक्ष नामक देवता, उत्तरायण नामक देवता तक पहुँचा देता है और वह उत्तरायण नामक देवता ब्रह्मपद तक पहुँचा देता है। ठीक इसके विपरीत, जो सकामी भक्त हैं, शरीर छूटने के बाद उनके सूक्ष्म शरीर को धूम नामक देवता, रात्रि नामक देवता तक पहुँचा देता है, वह रात्रि नामक देवता, कृष्णपक्ष नामक देवता के पास पहुँचा देता है, वह कृष्णपक्ष नामक देवता, दक्षिणायन नामक देवता तक तथा दक्षिणायन नामक देवता देवलोक तक पहुँचा देता है, जहाँ से पुण्य क्षय होने के उपरान्त पुनः मृत्युलोक या नरकलोक को प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार शुक्लमार्ग एवं कृष्णमार्ग ही सनातन मार्ग कहे जाते हैं, जिनमें से शुक्लमार्ग से गया हुआ पुरुष पुनः लौटता नहीं और कृष्णमार्ग से गया हुआ पुरुष पुण्य क्षीण होनेपर, पुनः लौट आता है।

उपरोक्त अर्थ पौराणिक है। प्रभु ने यहाँ पर सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है; क्योंकि वहाँपर अर्जुन के साथ धृतराष्ट्र भी श्रोता हैं, पितामहभीष्म भी श्रोता हैं तथा ऋषि–महर्षि, साधक–सिद्ध भी श्रोता हैं। अर्जुन और अन्यान्य संतों को तो प्रभुकृपा से इसके गूढ़ात्मक अर्थ

का पता चल गया; किन्तु पितामहभीष्म और धृतराष्ट्र इसके सामान्य अर्थ में ही अटके–लटके रह गये।

(अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः.....) जब आपमें निष्काम भक्ति जगती है तो आपको निश्चितरूप से सद्गुरु की आवश्यकता होती है। उस समय ब्रह्म कृपाकर आपको सद्गुरु नामक देवता के पास पहुँचा देता है। उसी को इस उपरोक्त मंत्र में अग्नि नामक देवता कहा गया है। वह अग्नि नामक देवता, ज्योति नामक देवता अर्थात् ज्ञान नामक देवता के पास भेज देता है। वह ज्ञान नामक देवता आपको दिन नामक अर्थात् वैराग्य नामक देवता के पास भेज देता है। मानस में भी आया है–

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

वैराग्यरूपी दिन में ही वह योगी जागता है वह वैराग्य नामक देवता उसे शुक्लपक्ष नामक देवता को अर्थात् ब्रह्मध्यान नामक देवता को दे देता है। वह ध्यान नामक देवता छः माहवाले उत्तरायण नामक देवता को अर्थात् ब्रह्मसमाधि तक पहुँचा देता है और उस समाधि नामक देवता से 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वाहमस्मि' का बोध हो जाता है। यही आपका परमपद है, जहाँ से आपको लौटना नहीं पड़ता।

उत्तरायण अर्थात् उत्तर अयन तथा दक्षिणायन अर्थात् दक्षिण अयन की बात भी आप समझ लें– अयन का तात्पर्य मुख से भी होता है। दक्षिण अयन अर्थात् दक्षिण दिशा की तरफ यमपुरी है, ऐसा कहा जाता है। उत्तर दिशा की तरफ ब्रह्मपुरी, पश्चिम दिशा की तरफ लक्ष्मीपुरी और पूर्व दिशा की तरफ देवपुरी है– ऐसा कहा जाता है। यह तो स्थूल परिभाषा हुई; क्योंकि कर्मकाण्ड में ऐसा ही लिखा है कि जो ब्रह्म को चाहते हैं, वे उत्तर दिशा की तरफ मुँह करके संध्या करें, जो लक्ष्मी और ऐश्वर्य को चाहते हैं, वे पश्चिम दिशा की तरफ मुँह करके संध्या करें, जो सिद्धि और शक्ति चाहते हैं अर्थात् देवलोक चाहते हैं, वे पूर्वाभिमुख होकर संध्या करें। दक्षिण दिशा की तरफ बैठकर कोई भी संध्या नहीं करता; क्योंकि मृत्यु को लोग नहीं चाहते। इसप्रकार जो पूर्व और पश्चिमाभिमुख होकर जप, तप, योग करते हैं, वे स्वर्गादि के सुख को भोगकर पुनः कालान्तर में अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं।

(अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः.....) अब छिपे हुए तत्त्व को सुनें– शरीर सात चक्रोंवाला कहा जाता है। शरीर के ऊर्ध्व भाग को उत्तर दिशा कहते हैं, अधः भाग को दक्षिण दिशा, दाँयें भाग को पूर्व और बाँयें भाग को पश्चिम दिशा कहते हैं। भारत का नक्शा भी शरीररूपी नक्शे को देखकर ही बनाया गया है। गर्भ में बालक का सिर और पाँव दोनों एक साथ मिले रहते हैं अर्थात् सिर के ऊपर दोनों पाँव होते हैं, जिसे गर्भासन कहते हैं। मानो वह उस समय किसी दिशावाला नहीं रहता; क्योंकि ब्रह्म में कोई दिशा नहीं होती। आठ–दस साल तक बच्चों में भी सातों चक्रों का मुख उ त्तरायण ही रहता है अर्थात् ऊपर की तरफ ही खुला रहता है। जैसे–जैसे वे काम–क्रोध, लोभ, राग–द्वेषादि के वशीभूत होते जाते हैं वैसे–वैसे अधोमुख होने

लगता है। जब साधक जप, तप, योग में आसीन होता है, तब सारे चक्रों का मुख पुनः ऊर्ध्वमुख हो जाता है। साधनाकाल में ही अग्नि नामक देवता अर्थात् मूलाधार नामक देवता साधक की स्मृति को, ज्योति नामक देवता तक अर्थात् स्वाधिष्ठान नामक देवता तक पहुँचा देता है। स्वाधिष्ठान नामक देवता दिन नामक देवता तक अर्थात् मणिपुर चक्र नामक देवता तक, मणिपुर चक्र नामक देवता शुक्लपक्ष नामक देवता अर्थात् अनाहद चक्र नामक देवता तक, वह अनाहद नामक देवता विशुद्ध चक्र नामक देवता अर्थात् उत्तरायण नामक देवता तक तथा वह उत्तरायण नामक देवता आज्ञा चक्र नामक देवता अर्थात् ब्रह्म नामक देवता तक पहुँचा देता है। यह (आज्ञा चक्र) सहस्त्रार चक्र नामक देवता का भी मूल है। यहीं पर जीवात्मा का वासस्थान है। सुषुम्ना नामक शक्ति भी यहीं पर आश्रय लेती है; क्योंकि ब्रह्म का मुख्य दरवाजा होने के कारण से यह ब्रह्म ही कहा जाता है। सौ में से निन्यानबे ध्यानयोगी मन को यहीं केन्द्रित करके ध्यान करते हैं। पूर्व में कहा गया है कि कोई मन को यहीं पर केन्द्रित कर ध्यान करता है तो कुछ ही महीनों में प्राण भृकुटि के मध्य को स्पर्श करता हुआ नाभि में लौटता रहेगा। उस अवस्था में भृकुटि के मध्य दबाव की अनुभूति होगी और समय बीतने पर भृकुटि में प्राण चलता हुआ दीखेगा, जैसे शिशु के मस्तिष्क में प्राण चलता हुआ दीखता है और समय बीतने पर भृकुटि के मध्य सुषुम्ना के अन्तर्गत प्राण प्रवेश करता दीखेगा मानो सुषुम्ना प्राणों को पी रही हो। कुछ और समय बीतने पर पाँव के अंगूठे से प्राण खींचते हुए ऊर्ध्वगामी होकर सम्पूर्ण प्राण सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है और जड़समाधि लग जाती है। बहुत से साधक, पाँव के अंगूठेसहित सम्पूर्ण अंगों के रोम–रोम से प्राण जब ऊपर खिचता है, तो भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं, इसकारण से समाधि नहीं लगती और पुनः डर के मारे बैठते भी नहीं। यदि भृकुटि में स्मृति केन्द्रित हो गयी तो चित्त शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध हो जाता है और अपने स्वरूप की अनुभूति हो जाती है। वह पुनः जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। अपान की गति सदा नीचे की तरफ बहती है अर्थात् दक्षिणाभिमुख रहती है। वही जब भृकुटि में ध्यानयोग के द्वारा प्राण की तरफ गमन करती है तो वीर्य भी उसके साथ उत्तराभिमुख हो जाता है। उस अवस्था में दिव्य ब्रह्मज्योति एवं दिव्य अनाहद नाद प्रकट होते हैं, जिसे कुंडलिनी शक्ति भी कहते हैं, जिसका प्रदर्शन नहीं किया जाए तो चित्तशुद्धि में अत्यंत सहायक है।

(अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः .....) थोड़ा युद्ध की तरफ भी देख लें– मानो भगवान संकेत कर रहे हैं कि तुम्हारी साध्वी माँ कुन्ती ने तुम्हें अग्नि नामक देवता अर्थात् कृपाचार्य नामक देवता के पास भेजा, उस कृपाचार्य नामक देवता ने तुम्हें ज्योति नामक देवता अर्थात् भीष्म नामक देवता के पास भेजा, उस भीष्म नामक देवता ने दिन नामक देवता अर्थात् द्रोणाचार्य के पास, द्रोणाचार्य नामक देवता ने शुक्लपक्ष नामक देवता अर्थात् युधिष्ठिर नामक देवता के पास भेजा, युधिष्ठिर नामक देवता ने उत्तरायण नामक देवता अर्थात् मुझ कृष्ण नामक देवता के पास भेजा, जिसको तुमने अभी सद्गुरु बनाया है। अब मैं तुम्हें, तुम्हारे स्वरूप का बोध करा रहा हूँ। अब तुम अपने स्वरूप को प्राप्त कर जीवभाव को स्वीकार नहीं कर सकते।

(अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः.....) साधकजन ध्यान दें– महात्मा अर्जुन का विषाद (विषाद योग) यानी अग्नि नामक देवता, ज्योति अर्थात् ज्ञानयोग नामक देवता (दूसरे अध्याय) के पास भेज देता है, वह ज्योति नामक देवता दिन नामक देवता अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानकर्मयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग तथा अक्षर ब्रह्मयोग नामक देवता (तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ अध्याय नामक देवता) के पास भेज देता है, वह दिन नामक देवता शुक्लपक्ष नामक देवता अर्थात् राजयोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग तथा भक्तियोग नामक देवता (नवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ अध्याय नामक देवता) के पास भेज देता है, वह शुक्लपक्ष नामक देवता उत्तरायण नामक देवता अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग तथा श्रद्धात्रयविभागयोग नामक देवता (अर्थात् तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह अध्याय नामक देवता) के पास भेज देता है, उत्तरायण नामक देवता मोक्षसंन्यासयोग नामक देवता (अर्थात् अठारहवाँ अध्याय नामक देवता) के पास भेज देता है– जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता।

(धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः.....) जो स्वर्ग की कामना करते हैं उनके लिए स्वर्ग दिलानेवाला अज्ञानी कुलपुरोहित होता है। वही यहाँ धूमाभिमानी देवता है। इसप्रकार वह धूमाभिमानी देवता शिष्य को रात्रि नामक देवता अर्थात् अज्ञान (मैं, तू, मेरे–तेरे) नामक देवता के पास पहुँचा देता है, वह अज्ञान (रात्रि) नामक देवता स्वर्ग (सुख–ऐश्वर्य) की कामना तक ले जाता है अर्थात् कृष्णपक्ष नामक देवता के पास भेज देता है, वह कृष्णपक्ष नामक देवता देवयज्ञ करा देता है अर्थात् दक्षिणायन नामक देवता के पास भेज देता है, वह दक्षिणायन नामक देवता उस सकामी भक्त को स्वर्गलोक (चन्द्रलोक) दे देता है, जहाँ से पुण्य क्षीण होनेपर पुनः लौटना ही पड़ता है। इसे सूत्ररूप में भी देखें–

धूमाभिमानि देवता ➔ रात्रि नामक देवता के पास

रात्रि नामक देवता ➔ कृष्णपक्ष नामक देवता के पास

कृष्णपक्ष नामक देवता ➔ दक्षिणायन नामक देवता के पास

दक्षिणायन नामक देवता ➔ चन्द्रलोक को भेज देता है जहाँ से पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक को लौट जाना पड़ता है।

(धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः.....) इसे दूसरे अर्थों में देखें– अज्ञानी कुलपुरोहित एवं माता–पिता ही धूमाभिमानी देवता हैं, जो तुम शरीर हो, तुम अमुक जाति के हो, यह तुम्हारा गाँव–घर है अर्थात् 'मैं' और 'मेरा', 'तू' और 'तेरा' नामक रात्रि देवता के पास भेज देते हैं। वह रात्रि नामक देवता कृष्णपक्ष अर्थात् 'मैं' और 'मेरे' से उत्पन्न होनेवाले मोह नामक देवता के पास भेज देता है और वह मोह नामक देवता दक्षिणायन अर्थात् स्वर्ग की कामना नामक देवता के पास भेज देता है, जिससे वह जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की कामनारूपी फाँसी में फँस जाता है, जिसके कारण से ब्रह्मकामना हो ही नहीं पाती। उसके उपरान्त वह उस कामना से

अभिभूत हुआ अपने से पूज्यों की सेवा–शुश्रूषा करता है और पिता की विरासत को, जो अपार सम्पत्ति है, उसे प्राप्त कर लेता है तथा पुण्य क्षीण होने पर उससे हाथ धोकर पुनः गरीबी नामक मृत्युलोक को प्राप्त कर जाता है।

(धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः.....) भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! धृतराष्ट्र ही धूमाभिमानी देवता हैं, जिन्होंने अपने नराधम दुर्योधन को 'मैं' और 'तू' नामक रात्रि देवता के पास भेज दिया था, इस रात्रि नामक देवता ने मूर्खतारूपी कृष्णपक्ष नामक देवता के पास भेज दिया था, उस कृष्णपक्ष नामक देवता ने उसे शकुनि, कर्ण, दुःशासन इत्यादि दक्षिणायन नामक देवता के पास भेज दिया था जिसके कारण से कुछ साल तक इनलोगों ने स्वर्गीय सुख भोग लिया था और अब पूर्व का पुण्य क्षीण हो जाने से ये सब नरकगामी हो जायेंगे।

(शुक्लकृष्णे गती ह्येते.....) इसप्रकार शुक्ल और कृष्णमार्ग को भलीभाँति आप सब ने जान लिया तथा इन दोनों सनातन मार्गों के द्वारा चलने का परिणामरूप फल भी देख लिया। अब भगवान ज्योतिर्मार्ग का अनुसरण करनेवाले साधकों की महिमा का भी वर्णन कर रहे हैं–

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

हे पार्थ! इन दोनों मार्गों के रहस्य को जाननेवाला योगी मार्ग के चुनाव में मोहित नहीं होता तथा ज्योतिर्मार्ग प्राप्त करने के लिए अहर्निश जप, तप, योग में लगा रहता है। इसलिए तुम भी इस ज्योतिर्मार्ग का ही अनुसरण करो। यह निष्काम मार्ग ही ज्योतिर्मार्ग है। इसलिए तुम निष्कामी हो जाओ। यदि तुम्हारी प्रीति संन्यास लेकर वेदों के स्वाध्याय में है, अश्वमेधादि यज्ञों में है, घोर तप तपने में है और सम्पूर्ण पृथ्वी को दुर्योधन को दान दे देने में ही है, तो यह तुम्हारी सोच धर्मसंगत नहीं है क्योंकि–

(वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव.....) अहर्निश वेदों के स्वाध्याय में, वाजपेयादि यज्ञों में, तीक्ष्ण (कृच्छ) चान्द्रायणादि व्रतों अथवा घोर तपों में और सम्पूर्ण का दान देने में जो ब्रह्म की प्रसन्नता होती है तथा उसके उपरान्त जो ब्रह्म प्राप्त होता है उस पद को तो निष्काम कर्मयोगी जीवनपर्यन्त सद्गुरु की आज्ञा में रहकर ही प्राप्त कर लेता है।

यहाँ प्रभु ने ब्रह्म और सद्गुरु दोनों ही पक्षों (जगहों) से बोला है। जिन्होंने वेदों के स्वाध्याय से अथवा सम्पूर्ण यज्ञ, दान, तप से ब्रह्म को प्राप्त किया है, उनका वह साधन कराने के मूल में सद्गुरु है। मानो भगवान नारायण ने उस समय दानवीर कर्ण, पितामहभीष्म तथा

अश्वत्थामा की हँसी भी की है। यदि वेदों के स्वाध्याय से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती तो कृपाचार्य को हो जानी चाहिए थी, यदि सम्पूर्ण यज्ञों के करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति होनी होती तो पितामह भीष्म को कभी की हो गई होती, यदि घोर तप तपने से ही ब्रह्म मिलता तो अश्वत्थामा जैसे घोर तपस्वी को कभी का ब्रह्म प्राप्त हो गया होता, उसीप्रकार यदि जीवनदान देने से भगवान प्रसन्न होता तो दानवीर कर्ण पर भगवान कभी का प्रसन्न हो गया होता; किन्तु तुम देख ही रहे हो कि इन सभी की बुद्धि मारी गयी है। भगवान मानो कह रहे हैं कि तुम्हारे जैसा पलायनवादी तो अब वह भी नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने अपने स्वधर्म को त्यागने का मन बना लिया हो उसका पुण्य भी उसका साथ छोड़ देता है। राजा जनक जैसे याज्ञिक का यज्ञ तो ब्रह्मज्ञान बन जाता है; क्योंकि उनके सारे यज्ञ सद्गुरु की आज्ञा से हो रहे हैं। राजा बलि जैसे दानी का दान भगवान बन जाता है; क्योंकि उनका सम्पूर्ण दान ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए होता है।

वही पुरुष वैदिक है, याज्ञिक है, तपस्वी है, दानी है, जो सम्पूर्ण कर्मों को सद्गुरु की आज्ञानुसार उसकी प्रसन्नता के लिए कर रहा है। आरुणि, सत्यकाम, उपमन्यु आदि जैसे शिष्यों को विशेष कुछ करना नहीं है। यह नहीं देखना है कि सद्गुरु ने हमें निकृष्ट चाकरी दी है या विशिष्ट। सत्यकाम जैसा ब्रह्मचारी वैदिक स्वाध्यायी बनने योग्य था; किन्तु गौतम कात्यायिनी जैसे सद्गुरु ने उसे गोसेवक बना दिया। उस जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी ने उस गोसेवा को ही वेद, यज्ञ, तप तथा दान समझ लिया और गोसेवा से सद्गुरु को प्रसन्नकर ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया।

(वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव.....) मानो भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! तुमने जीवनपर्यन्त गुरुजनों को प्रसन्न करने के लिए ही यज्ञ, दान, तप तथा धर्मयुद्ध भी किया है, अब बारी है मेरी प्रसन्नता की। तुम्हारे में यदि निष्कामता नहीं होती तो तुम्हारे प्रति मेरी प्रसन्नता नहीं होती। यह परम युद्ध करने की चाहना तुम्हारे में नहीं मेरे में है, अतः तुम्हें मेरी चाह पूरी करनी है। अपने पिता की प्रसन्नता के लिए ही पितामहभीष्म ने अपनी जवानी दे दी है, उसीप्रकार तुम्हें मेरी प्रसन्नता के लिए अपनी विनम्रता, शीलता और सदाचार देना है। अब तुमने समझ लिया कि मैं साक्षात् नारायण हूँ, इसलिए मैं ही तुम्हारी आत्मा हूँ। अतः तुम अपनी आत्मा की प्रसन्नता के लिए युद्ध करो। जैसे विषयी माता–पिता के नहीं चाहने पर भी कोई भगवद्भक्त पुत्र उनके रोते–कलपते रहने पर भी उनके कल्याण के लिए संन्यास ले लेता है, वैसे ही धृतराष्ट्र, माँ गान्धारी आदि के विकल होनेपर भी तुम उनकी भी मुक्ति के लिए धर्मयुद्ध करो और मुझे प्रसन्न करो।

महात्मा अर्जुन ने कौतूहल तथा आश्चर्य की तरह पुनः प्रभु की तरफ देखा मानो वे कह रहे हों–

(राग – दुर्गा)

प्रभु तोरी लागत मधुरी बोलिया।।
मधुर मधुर चित मधुर तेरो चितवन, मधुर बैठकी मधुर उठवन।
मधुर गमन तेरो मधुर डोलत, मधुर हरति हिय की झोलिया।।
प्रभु तोरी लागत.....

मधुर मधुर पद देत ब्रह्मपद, मधुर सुनत मधु मधुर गावत मधु।
मधुर कर्म अध्यात्म मधुर तेरो, मधुर मधुर अधिदैव की टोलिया।।
प्रभु तोरी लागत.....
मधुर मधुर अधियज्ञ सकल हिय, मधुर मधुर तेरो सृष्टि पहेलिया।
मधुर सुन्यों दोऊ मार्ग सनातन, मधुर खेल्यों विज्ञान की होलिया।।
प्रभु तोरी लागत.....
मधुर मधुर मधु और मधुर वह, मधुर मधुर कुछ और मधुर यह।
सोचत अर्जुन मधुर मन ही मन, महाराज हिय खोलत खोलिया।।
प्रभु तोरी लागत.....

संजय सारी की सारी आख्यायिका धृतराष्ट्र के सामने सुनाते–सुनाते ठिठके से रह गये। धृतराष्ट्र ने पूछा मौन क्यों हो गये संजय?

हाँ राजन्! लगता है, वहाँ पर कुछ कौतूहल प्रकट होनेवाला है, लगता है भगवान का मनोरथ पूरा होने को है। वे मन ही मन प्रसन्न हैं। उन्हें लग रहा है कि मैंने अर्जुन को अपने घेरे में ले लिया है। जो उनके रोंगटे खड़े थे, अब वे सम शान्त हो गये हैं, पसीना बहना बंद हो गया है। अब तो ठीक उसके विपरीत आनन्दातिरेक के कारण से बार–बार रोमांच हो रहा है। मन अति प्रसन्न होकर भगवान की रूप–माधुरी को पीये जा रहा है। आँखें एकटक प्रेम मग्न हो ऐसे देख रही हैं, मानो ये भगवान को अपने में ही उतार लें। मैंने सुना है अन्नदाता! कि नयनाभिराम प्रभु श्रीराम का विभीषण ने प्रथम दर्शन किया तो वे भी इसीप्रकार ठिठके से रह गये थे, अपलक देखते से रह गये थे। प्रभु श्रीराम ने वैसी अवस्था में जैसे महात्मा विभीषण को अपनी शरणागति दे दी थी, उसीप्रकार लगता है भगवान मधुसूदन प्रेम में भरकर अर्जुन को कहीं अंक (गोद) में न भर लें। हाँ भूपाल! अब भगवान ने अपनी चुप्पी तोड़ दी और जैसे माँ अपने बालक को पुचकारती हुई, प्यार करती हुई, दुलारती हुई, उसके सिर पर हाथ रखते हुए, उससे कुशल–क्षेम पूछती है, उसीप्रकार प्रभु महात्मा अर्जुन की भुजा पकड़कर, एक हाथ प्यार से कंधे पर रखकर पूछ रहे हैं– अब तो सारी बात तुम जान गये? अब तो तूने मुझे पहचान लिया? अब तो मेरी सारी बात पर विश्वास हो गया?

ये क्या राजन्!

क्या हुआ संजय?

संजय ने कहा– अर्जुन के दोनों नेत्रों से प्रेम के आँसू छलक रहे हैं मानो वे मन ही मन यह कह रहे हों कि 'हे माधव! मैं बड़ा अपराधी हूँ। हे प्रभु! मेरी भूल को क्षमा करें।' जैसे दूध चुरानेवाली गाय अपने बछड़े के लिए दूध चुराकर रखती है तथा ग्वाले के हटने पर दूध थन में उतारकर बछड़े को पिलाती है, उसीप्रकार शरणागत हुए अर्जुन के लिए भगवान ने अपने हृदयरूपी कोश में छिपाये हुए राजयोग को देना प्रारम्भ कर दिया है।

इस अध्याय को महाराज ने गेयपद के रूप में गाया है, जिसे गाने मात्र से इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त हो जाएगा। तो लें आप भी काफी–राग से गायें–

अर्जुन! ॐ परम ब्रह्म गावत।।
ब्रह्म स्वभाव अध्यात्म कहें, अधिभूत दृश्य को मानत।
शास्त्रविहित सब कर्म कर्म, अधिदैव पुरुष को जानत।।
अर्जुन! ॐ परम.....

वैष्णव शक्ति अधियज्ञ कहौं, जहँ कर्म समर्पण आवत।
जागत ब्रह्म सकल जग उपजत, सूतत प्रलय को पावत।।
अर्जुन! ॐ परम.....

ब्रह्म शतायु होत हिं विनशत, अव्यक्त भाव को जावत।
येहि विधि सृष्टि चक्र यह घूमत, कोऊ नहिं थाह बतावत।।
अर्जुन! ॐ परम.....

परम ब्रह्म हौं भाव सनातन, करि कोऊ नाहिं नसावत।
ज्योतिर्मार्ग सो पाइ परमपद, धूम मार्ग नहीं आवत।।
अर्जुन! ॐ परम.....

अहं ब्रह्म सुनु शुक्लमार्ग, तन भाव ही धूम कहावत।
महाराज कह प्रभु भक्तन्ह सों, कछु कबहुँ न छिपावत।।
अर्जुन! ॐ परम.....

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ नवमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

हे पार्थ! तुझ दोषदृष्टि से रहित के प्रति अब मैं गुह्यतम ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा जिसे जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे। यह गुह्यतम ज्ञान राजविद्या है जो गोपनीयों में भी गोपनीय, पवित्रों में पवित्र अर्थात् परम पवित्र है। उसकी साधना अति सुगम एवं प्रत्यक्ष फल देनेवाली है किन्तु हे परंतप! यह खेद है कि श्रद्धारहित पुरुष इस राजविद्या को न पाकर पुनः–पुनः संसारसागर में ही भ्रमते रहते हैं।

प्रभु ने कहा– हे उदारमना! हे महत् दृष्टिवाले! हे दोषदृष्टिवालों में भी निर्दोष दृष्टिवाले पार्थ! अब मैं तुझपर अति प्रसन्न हूँ, इसलिए पुनः ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा, जिसे जानकर निश्चित ही तुम अशुभ संस्कारों (संसार) से मुक्त हो जाओगे। अबतक मैंने जो ज्ञान, भक्ति एवं कर्मयोग आदि की बात बतायी है, उन सम्पूर्ण साधनों से विलक्षण साधन तुम्हें बताऊँगा; क्योंकि तुम ठीक ही सोच रहे हो कि यह न घर है, न संन्यासाश्रम ही है तथा न यहाँ संन्यासीशिष्य ही है, न संन्यासीसद्गुरु ही, बल्कि यह तो रणभूमि है। अब जब तुम्हारे जैसा गृहस्थाश्रमी शिष्य युद्धभूमि में ही एक योद्धा के साथ–साथ आध्यात्मिक जिज्ञासु भी बन गया है और मेरे जैसा ब्रह्म तुम्हारा सद्गुरु, तो यहाँपर तुम्हें न ज्ञान, न कर्म ही चाहिए बल्कि इन दोनों की आत्मा चाहिए, जिसका नाम है राजयोग। जो सम्पूर्ण उत्तम विद्याओं में भी उत्तम विद्या तथा सम्पूर्ण रहस्यों का भी रहस्य एवं पावन से भी पावन अर्थात् परम पावन विद्या है, जिसे धारण करने में अति सुगमता है। जब मैं तुम्हें दूँगा तो तुम्हारी निर्मल दृष्टि उसे देखेगी अर्थात् दर्शन करेगी, तुम्हारा निर्मल मन उसका मनन करने लग जायेगा, तुम्हारी विशुद्ध बुद्धि उसे सहज में ही स्वीकार कर लेगी।

तुम जो सोच रहे हो कि इन्होंने ज्ञान को विज्ञान के साथ कहा था और अब पुनः कहेंगे, यह क्या पहेली है? तो तुम ठीक ही सोच रहे हो। अरे! तुम अशुभ मृत्युलोक के वासी हो गये थे न! इसीलिए यह परम विद्या तुम्हें पहले नहीं दी थी। यह तो तुम जानते ही हो कि जो अशुभ दृष्टिवाला होता है, उसे शुभदृष्टि दी जाती है और जो शुभ दृष्टिवाला होता है उसे परम शुभ दृष्टि दी जाती है। अब तुम शुभ दृष्टिवाले हो गये हो, इसलिए परम शुभ राजयोग दे रहा हूँ, तुम अविनाशी हो गये हो इसलिए इस अविनाशी तथा अव्यय विद्या को दे रहा हूँ; जिसे धारण करने में पद्मासन–सिद्धासन आदि लगाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि इसको प्राप्त करने के लिए तो अपने सद्गुरु के प्रति भगवद्भाव एवं आध्यात्मिक श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है। श्रद्धाहीनों के पास सद्गुरु है, तो भी वे इस महत्विद्या को प्राप्त न कर इस संसाररूपी चक्र में चक्रवात की तरह घूमते रहते हैं। अबतक तुमने सुना था कि ज्ञान भी दुःखसाध्य है, कर्म तो दुःखसाध्य है ही, इसलिए चित्त शुद्ध होने में लम्बाकाल लग जाता है, जिससे साधक का मन कुंठित होते देखा जाता है। इसीलिए बहुत साधक ऊबकर अपने साधनपथ से विमुख भी हो जाते हैं। स्वयं तुमने भी प्रश्न कर ही दिया था कि यदि जिसका ध्यानयोग सिद्ध नहीं हुआ है और साधनाकाल में ही उस साधक की मृत्यु हो गयी अथवा रोग–व्याधि के कारण से साधना सदा के लिए छूट ही गयी तो छिन्न–भिन्न बादल की तरह उसकी साधना भी छिन्न–भिन्न तो नहीं हो जाती? तो ऐसा नहीं है। यह राजयोग धारण करने में अति सुगम है तो ऐसा मत सोच लेना कि इसका शीघ्रातिशीघ्र नाश भी हो जाता है, अपितु यह अव्यय अविनाशी योग है।

प्रभु ने अर्जुन को सर्वप्रथम दूध पिलाया पर उन्हें सन्तुष्टि नहीं हुई, फिर छाँछ (मट्ठा) पिलाया, पर संतोष न हुआ, पुनः दही खिलाया, लेकिन तृप्ति नहीं हुई, उसके उपरान्त मक्खन भी खिला दिया पर शक्ति पूरी तरह नहीं मिल पायी, तब अब प्रभु ने उन्हें घी खिलाना चाहा है। घी अविनाशी तत्त्व है, वह निर्मल तत्त्व है; क्योंकि उससे मल नहीं बनता। शरीर में उसके उत्तमात्युत्तम भाग से बुद्धि का निर्माण होता है, उत्तम भाग से वाणी का तथा मध्यम भाग से वीर्य बन जाता है। अधम भाग इसमें होता ही नहीं, इसीलिए महाराज ने इसे अविनाशी तत्त्व कहा है। गीताजी में दूसरा अध्याय ही दूध है, तीसरा अध्याय छाँछ, चौथा, पाँचवा, छठा अध्याय दही तथा सातवाँ एवं आठवाँ अध्याय मक्खन है और यह नवाँ अध्याय ही घी है, जो अर्जुन को पिलाया जायेगा। स्वर्गीय पुरुष घी ही पीते हैं। अर्जुन भी स्वर्गीय पुरुष हैं; अतः बिना घी पीये उन्हें शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति नहीं होगी। आज भी जिन उत्तम अधिकारियों को उनके सद्गुरुओं ने राजयोग दिया है, सच में वे भी स्वर्गीय पुरुष ही हैं। स्वर्गीय पुरुष मृत्युलोक में आकर आत्मज्ञानरूपी घी ही पीते हैं; उन्हें क्रिया करने में प्रीति नहीं होती इसलिए उन्हें राजयोग दिया जाता है।

प्रभु ने इस राजयोग का माहात्म्य पहले ही गा दिया ताकि महात्मा अर्जुन में सुनने की महत् उत्कण्ठा जाग जाए। भगवान मानो शक्तिपात करने जा रहे हों और उसकी तैयारी वे स्वयं कर रहे हों। वे चाहते हैं कि जिसप्रकार स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए वर्षा की एक बूँद भी किसी

खुली हुई सीपी में चली जाती है तो सीपी का मुँह तत्काल बंद हो जाता है और वह बूँद उसमें मोती बन जाती है, उसीप्रकार मैं इसे राजयोग दूँ और वह इसके लिए ब्रह्मविद्या बन जाये, ब्रह्मज्ञान बन जाये, इसके लिए कुछ मनन–चिन्तन भी न करना पड़े। जिसप्रकार कोई ऐसी दवा होती है जिसे नेत्ररोगी देखे और रोशनी बढ़ जाये। जैसे हिमाचल के गावों में किसी–किसी वृद्ध पिता को छोड़कर किसी के भी आँख में चश्में नहीं होते; क्योंकि उन्हें सदा हरे वन एवं हरी जड़ी–बूटियों को ही देखने का अवसर मिलता रहता है। अतः आँख की रोशनी मरते दमतक बनी रहती है। उसीप्रकार यह राजयोग है, जो सद्गुरु के मुख से सुना जाता है और ब्रह्मविद्या बन जाता है। जो ऐसे वृद्ध हैं– जिनके पाँव अस्त–व्यस्त हो गये हैं, जिनका शरीर अब बैठ भी नहीं सकता, किन्तु अर्जुन जैसी श्रद्धा से सम्पन्न और दोष–दृष्टिरहित हैं तो यह राजयोग उनके लिए भी उतना ही सार्थक है जितना कि एक स्वस्थ पुरुष के लिए। इतना ही नहीं बल्कि शरीर जिसका कल जानेवाला है और यदि उस श्रद्धावान को आज ही राजयोग मिल गया तो वह मुक्त ही हो जायेगा। दोषदृष्टि से रहित होना अर्थात् किसी में दोषदृष्टि नहीं रखना, यह व्यावहारिक धर्म है। जो ऐसी प्रतिज्ञा कर लेता है कि सारे लोग मेरे में दोष देखेंगे लेकिन मैं किसी में दोष देखूँगा ही नहीं, तो ऐसे साधक में सम्पूर्ण अहिंसा प्रशस्त हो जाती है, इसलिए ऐसे अहिंसक के पास स्वयं भगवान राजयोग बन जाते हैं।

प्रभु अबतक ऊपरी आवरणों से पिघल रहे थे अर्थात् ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग इत्यादि आवरणों से पिघल गये थे, अब यह राजयोग अन्तिम आवरण है जिसके द्वारा भगवान अर्जुन के लिये ही क्या सम्पूर्ण जगत के भक्तों के लिये पिघल रहे हैं। जैसे प्रिय पति के पास उसकी धर्मपत्नी अपने आपको सम्पूर्णता से समर्पित कर देती है, वैसे ही भगवान अपने परम प्रिय भक्तों के पास सम्पूर्ण आवरणों (वस्त्रों) को किनारे कर, अपने मौलिक स्वरूप में प्रकट हो रहे हैं। अर्थात् सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंगों को दिखाकर अब अन्तिम अंग को दिखा रहे हैं, जिसे कहते हैं राजयोग। यह वह योग है जो रहस्यों से भरा है, यह वह विद्या है जो रहस्यों से परिपूर्ण है, यह वह विद्या है जो परम पावन है, यह वह विद्या है जो उत्तमात्युत्तम है, यह वह विद्या है जिसका कभी नाश नहीं होता और यह वह विद्या है जिसके सुनने के बाद एकमात्र दर्शन शेष रहता है, क्रिया नहीं। अन्य साधनाएँ सुनने के बाद पहले क्रिया देती हैं अर्थात् क्रियामय बना देती हैं, पहले कर्ता बनाती हैं फिर उसका फल देती हैं, किन्तु राजयोग में ऐसी बात नहीं है बल्कि यह ऐसी विद्या है कि सद्गुरु जिसे आँखों एवं कानों के माध्यम से देता है और साधक मात्र सुनकर कर्ता से अकर्ता हो जाता है, व्यष्टि द्रष्टा से समष्टि द्रष्टा हो जाता है। मैं शरीर का द्रष्टा हूँ– यह भाव ही व्यष्टि द्रष्टा तथा मैं ब्रह्माण्ड का द्रष्टा हूँ यह भाव ही समष्टि द्रष्टा कहलाता है।

प्रभु इस मंत्र के द्वारा श्रद्धा की माँग कर रहे हैं; क्योंकि आध्यात्मिक श्रद्धा ही जिज्ञासु का वह दिव्य मुख है जिसके द्वारा सद्गुरु से ब्रह्मविद्या की माँग करता है, श्रद्धा ही उसकी वह दिव्य आँख है जिसके द्वारा वह अपने सद्गुरु को साक्षात् निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मरूप में देखता है तथा

श्रद्धा ही उसका वह दिव्य कान है, जिस श्रद्धामय कान से सुनने मात्र से ही वह परम द्रष्टामय हो जाता है, कुछ करना शेष नहीं रहता अर्थात् ब्रह्मभाव से सद्गुरु का दर्शन करते हुए उसकी अमृतमयी वाणी से दिव्य ज्ञान श्रवण करता रहता है जिससे वह परम अमृतमय ही हो जाता है।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि इस राजयोग को प्रभु ने पहले ही क्यों नहीं दिया? इसलिए कि उन्होंने तो भगवान को न भगवान समझा था, न सद्गुरु समझा था तथा दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि को महापापात्मा, दुरात्मा, मूर्ख एवं अज्ञानी कहा था। इतना ही नहीं, भगवान नारायण को उपदेश देना भी प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने प्रभु से इतना तक कह दिया था कि अहो खेद है! हमलोग बुद्धिमान होकर भी तुच्छ राज्य और सुख के लिए स्वजनों का वध करने के लिए उद्यत हुए हैं (गीता अध्याय १)। अब चूँकि भगवान को भगवान समझ रहे हैं तथा प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म और जीव आदि गूढ़ात्मक रहस्यों की गुत्थी उनके लिए हद तक सुलझ सी गयी है इसलिए अब वे मुमुक्षु बन गये हैं। रामचरितमानस में लिखा है–

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

इसी न्याय से अब वे इस विद्या के उत्तम अधिकारी हो गये हैं। अतः प्रभु ने पहले इसे नहीं दिया। यह वह विद्या है, जिसमें सम्पूर्ण विद्या समायी हुई है, यह ऐसा योग है, जिसमें सारे के सारे योग राजयोग ही हो जाते हैं। अतः बुद्धिरूपी आँख पर कालीपट्टी बाँधकर जो श्रद्धावान सद्गुरु के हर वाक्य को महामंत्र के रूप में स्वीकार करते हैं, उन्हीं जिज्ञासु श्रद्धावानों के लिए ही यह राजयोग है।

इस राजविद्या का माहात्म्य सुनकर गद्गद हृदय से प्रसन्नमना अर्जुन ने जो प्रेम के अतिरेक में बोल नहीं पा रहे हैं, हाथ जोड़कर नतमस्तक हो, पुनः प्रभु को प्रणाम किया। मानो कह रहे हों– दे दें माधव! दे दें! हृदयरूपी झोली फैली हुई है, लें इसमें डाल दें। हे महत् क्षमावान! अब कृपा करें, अब कृपा करें, अब कृपा करें!

हे राजन्! आप थोड़ा एकाग्रचित्त हो जायें, श्रद्धा से सम्पन्न हो जायें– ऐसा धृतराष्ट्र से संजय ने निवेदन किया।

ऐसी क्या बात हो गयी संजय! कि तुम मेरे से श्रद्धा की माँग कर रहे हो?

नहीं राजन्! श्रद्धा की माँग प्रभु कर रहे हैं।

मेरे से या अर्जुन से?

इस समय जो–जो श्रोता हैं, उन सभी से राजन्!

मैं उनका श्रोता नहीं हूँ संजय! मैं तुम्हारा श्रोता हूँ। महर्षि व्यास की कृपा से मेरे लिए तुम्हारे को दिव्य आँख मिली है, न कि मधुसूदन की कृपा से।

(मन ही मन) ओ! अब समझा। इसीलिए भगवान मधुसूदन ने अभी कुछ देर पहले आपको

धूमाभिमानी देवता की संज्ञा दी थी तथा दुर्योधन को रात्रि की एवं शकुनि, कर्ण और दुःशासन को कृष्णपक्ष की। (प्रकट में) किन्तु हे राजन्! अभी तो आपको श्रद्धा के साथ भगवान मधुसूदन को प्रणाम करना ही होगा, तभी इस राजयोग को मैं आपके सामने कह पाऊँगा अन्यथा आपसे छिपाने के लिए विवश हो जाऊँगा।

धृतराष्ट्र ने प्रभु को प्रणामकर सावधानी बरती और संजय ने बड़े आदर के साथ भगवान की तरफ अपने नेत्र एवं कान केन्द्रित कर दिए। तबतक उद्घोष हुआ अर्थात् प्रभु ने हुंकार भरा–

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

हे पार्थ! मुझ अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा से ही यह सारा जगत व्याप्त है। इतना होने पर भी सारे भूत मेरे में तो हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। मेरी तो बात ही छोड़ो, भूतों को धारण–पोषण करनेवाला तथा भूतों के भावों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा भी भूतों में स्थित नहीं है।

यह कैसे हो सकता है कि जो भगवान कहते हैं कि मैं सर्वत्र और सबमें व्याप्त हूँ अर्थात् सबमें हूँ लेकिन इतना होने पर भी सम्पूर्ण भूत मेरे में तो हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ? हाँ, हो सकता है, श्रद्धा और अश्रद्धा के कारण। जिसप्रकार संत जगत के लोगों को अपना ही मानता है किन्तु जो उस संत की आज्ञानुसार चलते हैं उनके लिए वह उनके मन और कर्म दोनों में रहता है तथा वे भक्त भी संत के हृदय में रहते हैं; लेकिन जो संत को नहीं मानते–जानते, मानना–जानना तो दूर बल्कि उससे ईर्ष्या भी करते हैं, उस अवस्था में संत के हृदय में वे नहीं है। पुराणों में देखा ही जाता है कि जो आततायी हैं, भगवान विरोधी हैं तथा शास्त्र विरोधी हैं उन्होंने संतों से शाप पाया है और जो भगवद्भक्त हैं उन्होंने उनसे वरदान पाया। अथवा जैसे जल कहता है कि बर्फ मेरे में नहीं है किन्तु मैं उसमें हूँ; क्योंकि बर्फ में से मेरी एक–एक बूँद निकाल दी जाए तो बर्फ वहाँ खोजने से भी नहीं मिलेगी, जबकि बर्फ के नाम, रूप, गुण और कर्म मुझ जल से सर्वथा भिन्न हैं लेकिन यदि बर्फ में से जल की एक–एक बूँद निकाल दें तो वहाँ जल ही मिलता है बर्फ नहीं मिलती, न उसका नाम बचता है न गुण और कर्म ही, उसीप्रकार जिस दृश्यवर्ग को अज्ञानी जगत कहते हैं और सांख्यवादी तत्त्व कहते हैं, यदि इसमें से ब्रह्म को निकाल दिया जाए तो न जगत बचेगा, न उसका कर्म, न सांख्यवादियों का तत्त्व बचेगा, न मायावादियों की माया। बस, जो शेष बचेगा वह परम चेतन निर्गुण–निराकार ब्रह्म होगा। अथवा जैसे मिट्टी से घड़े, सकोरे तथा कुल्हड़ आदि नानाप्रकार के बर्तन बनाये जाते हैं, यदि उन बर्तनों में से मिट्टी के एक–एक कण को निकाल दिया जाय तो वहाँ मिट्टी के सिवा कुछ शेष नहीं बचता। उसीप्रकार जगत में से ब्रह्म (चेतन) को निकाल दिया जाए तो जगत नहीं बचता अथवा जैसे कपास कहता है कि मेरे सिवा कुछ वस्त्र में है ही नहीं, बल्कि वस्त्र शब्द नाम और रूप

दोनों को व्यवस्थित करने के लिए है। यदि धोती–कुर्ता, बनियान, कोट आदि में से रूई को निकाल दिया जाय तो रूई के सिवा वहाँ कुछ शेष नहीं बचता। उसीप्रकार इस जगत में से नानाप्रकार के नाम और भाव को निकाल दिया जाए तो शेष जगत नहीं बचता, वहाँ तो मात्र परम चेतन ब्रह्म ही रहता है।

सच है प्रभु ने जो कहा है, वही बात अनुभूति में भी आती है; क्योंकि महाराज ने देखा है कि मान्यता का नाम ही मन है। अबतक जो भी माना गया है, उस मान्यता को निकाल दिया जाय तो मन कहाँ है दिखाई ही नहीं पड़ता और मान्यता में चिन्तन करने का नाम बुद्धि है अर्थात् चिन्तन करने के उपरान्त संकल्प कर लेना कि यह ही सत्य है– यह संकल्पात्मक क्रिया बुद्धि नाम से विख्यात है। यह देखने में नहीं आया कि मन ने जन्म लिया है या बुद्धि ने, इतना ही नहीं बल्कि यह भी देखने में नहीं आया कि मन एक तत्त्व है, बुद्धि एक तत्त्व है। इन काल्पनिक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के होने का भगवान ने यहाँ पर खण्डन किया है। अब के पूर्व भगवान जो मन, बुद्धि, अहंकार और पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों की तथा देवी–देवताओं की बात कर रहे थे, वह तो सांख्यमत के अनुसार अर्जुन को समझाने का मात्र एक प्रयत्न था; क्योंकि अर्जुन में आध्यात्मिक श्रद्धा का अभाव था। अब चूँकि निर्मल श्रद्धा से सम्पन्न हो गये हैं, इसलिए प्रभु ने 'मिथ्यात्व का निषेध' कर 'राजयोग' की स्थापना कर दी है। मानो अर्जुन का प्रश्न था कि हे प्रभु! जिस ब्रह्म की बात कर रहे हैं आप, वह किस रूप में और कहाँ रहता है? तो प्रभु कहते हैं कि कहाँ और किन रूपों में मत पूछो बल्कि यह पूछो कि जगत कहाँ और किन रूपों में रहता है, जगत का आधार क्या है, यह पूछो कि सारे के सारे लोग जिन्हें तुम बहुत कुछ मान बैठे हो ये कहाँ रहते हैं, इनकी सत्ता क्या है। अरे ! जिसप्रकार जल कहता है कि बर्फ में मैं हूँ लेकिन बर्फ मेरे में नहीं है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, उसीप्रकार प्रभु का कहना कि 'सम्पूर्ण भूत मेरे में हैं किन्तु मैं उन भूतों में नहीं हूँ,' यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जगत मेरे में है, मैं इसमें नहीं हूँ– यह वैसी ही बात है, जैसे कोई चिल्लाता है– देखो! देखो! देखो! दौड़ो! लाठी–डण्डा लेकर आना, बड़ा भारी सर्प है, ऐसा कोई धुंधले प्रकाश में चिल्लाता है। बड़ा भारी साँप देखकर शरीर काँप रहा है, पसीना बह रहा है, हिमालय का गाँव है, पतली पगडंडी है, भागें तो कहाँ भागें? लोग लाठी–डण्डे एवं टॉर्च लेकर आते हैं। वह कहता है– अपना–अपना मोर्चा सम्भाल लो तथा टॉर्च इस ढंग से जलाओ ताकि सर्प की आँखपर पड़े, जिससे सर्प भागने न पाये। टॉर्च जलायी जाती है तो उसे देखकर सभी चिल्लाते हैं– अरे मूर्ख! यह तो बहुत मोटी रस्सी है! तुमने तो अति ही कर दी, सबको परेशान कर दिया, सबको भयभीत कर दिया! पहले ही तुमको विचार करना चाहिए था कि साँप है या रस्सी।

इसप्रकार साँप–साँप ही है, रस्सी–रस्सी ही है। रस्सी में तो किसी काल में साँप आया ही नहीं। इसलिए उस काल्पनिक साँप का न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। ठीक उसीप्रकार ब्रह्म में काल्पनिक जगत का आदि, अन्त और मध्य नहीं होता। इसीप्रकार ब्रह्म में काल्पनिक माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र, बाल–बच्चे, जाति–पाति, देवता–गन्धर्व, किन्नर–नाग,

यक्ष–राक्षस, भूत–प्रेत, पशु–पक्षी एवं काल्पनिक कीट–पतिंगे आदि भाव का आदि, अन्त, मध्य है ही नहीं; क्योंकि यह एकमात्र काल्पनिक मान्यता है। आप विचार करें– किसी स्त्री को धर्मपत्नी मानते हैं, तो खोज करें कि धर्मपत्नी एक भाव है या सत्य है; क्योंकि जिस आकृति को आप धर्मपत्नी मान रहे हैं, उसी आकृति को संत ब्रह्म के रूप में देखते हैं। जब उसमें धर्मपत्नी की खोज करेंगे तो बहन भाव मिल जायेगा; क्योंकि शादी के पूर्व उसमें बहन भाव था। उसके पहले एक बच्ची भाव था, बच्ची के पूर्व गर्भ में चमड़ा, मांस, हड्डीरूप पिण्डभाव था। उससे आगे खोज करनेपर रज और वीर्य भाव था। जैसे–जैसे आप खोज करते हुए आगे बढ़ते जायेंगे तो धर्मपत्नी की जगह शेष सगुण ब्रह्मभाव ही मिलेगा। यदि सजगता से देखें तो वह धर्मपत्नी नामक शरीर, चमड़ा, हड्डी, मांस, रक्त, वीर्य से बना हुआ चलता–फिरता एक मायामय मकान है। यह एक ऐसा दिव्य महल है जिसके नीचे दो खंभे जड़े हुए हैं जिसे पैर कहते हैं, इसमें एक ऐसी दीवार है जिसे पीठ कहते हैं, इसके आगे के भाग में एक ऐसा थैला बना हुआ है जिसे पेट कहते हैं, जिसमें भोजन और जल भर दिया जाता है। इस दीवार के आगे के मध्य भाग में हड्डियों से मढ़ा हुआ ऐसा खोल है जिसे छाती कहते हैं, इसमें दोनों तरफ दो चमड़े की थैलियाँ हैं, जिसमें शिशु को पीने के लिए अपने–आप दूध भर जाता है। इसके अधोभाग में दो नलियाँ लगाई गयी हैं, जिन्हें गुदा और योनि नाम से जाना जाता है। इसमें से एक के द्वारा मल निकलता है और दूसरे के द्वारा गन्दा पानी। इसमें दस प्रकार की हवा प्रकट होती रहती है, जो अपने–अपने नियत स्थान पर रहकर अपना–अपना काम करती रहती है जिनमें प्राण और अपान मुख्य है। इस महल के ऊपरी भाग में सात खिड़कियाँ हैं, जिन्हें आँख, कान, नाक एवं मुख कहते हैं, जिन खिड़कियों से अज्ञानमय काल्पनिक पुरुष देखता है, सुनता है, बोलता है, सूँघता है तथा मनन एवं चिन्तन करता है। यदि इस काल्पनिक पुरुष को अस्वीकार कर दिया जाय अथवा निकाल दिया जाय तो शेष जो बचता है वह परम द्रष्टा है। वह परम द्रष्टा, जिसमें द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य तीनों की एकाकारता होगी। वैसी अवस्था में मैं अलग हूँ, दृश्य अलग है ऐसा नहीं दीखेगा। आप प्रयोग करके देखेंगे तो पता चलेगा कि सारी की सारी मान्यताओं को निकाल दिया जाय तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी दिखाई ही नहीं देंगे। बस, वहाँ आप होंगे अर्थात् सम शान्त साक्षी चेतन आत्मरूपता ही होगी।

तो आखिर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये सब क्या बला है? अथवा यह कैसी पहेली है? तो आयें अब महाराज के साथ मन आदि पर विचार करें–

आज विचार करे मन पे, महाराज सुनो रे साधक।
जप तप योग नियम पालन में, पड़ा हुआ जो बाधक।।

मन क्या है और कहाँ से उपजा, क्या शक्ति है उसकी।
यह सब पहले जान लो, तब तो बड़ी सुगम है मुक्ति।।

गर्भवास से बाहर आकर, एक पिण्ड मचलावे।
इधर उधर बस देखे–देखे, समझ नहीं कुछ आवे।।

कहता कोई माँ तेरी हूँ, कहे कोई मैं भाई।
कहे कोई मैं पिता तुम्हारा, हो गयी मधुर सगाई।।

तुम ब्राह्मण परिवार यही सब, धन वैभव सब तेरा।
बड़े हुए तब शादी कर दी, पुत्र हुए घनेरा।।

देखी सूनी भक्ति जागी, मन्दिर में जा बैठे।
बाहर का भगवान नहीं जब, भीतर तेरे पैठे।।

तब विद्वान बतावें तुमको, मन नहिं तेरा माने।
मार उसी को पहले तू तो, फिर ईश्वर पहचाने।।

बिना गुने वह मन को माने, संत को आवे हाँसी।
सोचे मुझको भी ऐसे ही, यही लगी थी फाँसी।।

महाराज कर कृपा बतावे, मन क्या तुझको दीखे।
चिन्तन कर तू मन को देखे, फिर विद्या सब सीखे।।

जप–तप योग ध्यान में बैठे, इधर उधर की आवे।
तन धन भवन सुहृद सबही की, चिन्ता तभी सतावे।।

माता–पिता के भले बुरे, व्यवहार ध्यान में आवे।
पुत्र और परिवार बन्धु, फिर स्त्री भाव सतावे।।

उनके इनके, इतने उतने, ध्यान समय का बीता।
झोली भर गयी चिन्ता से ही, मैं रीता का रीता।।

ऊपर में जो दस नातों के, माया खड़े किए हैं।
विचार उन्हीं से आते दीखें, नहिं कहिं पड़े हुए हैं।।

मन के सगुण रूप दस बाहर, भीतर को जब जाते।
संशय मोह शोक तब उपजे, मन सब यही कहाते।।

पाने–खोने की दुःख दुविधा, ग्रहण त्याग ही आवे।
नहिं समझ पड़े जब कुछ भी, मन सब यही बतावे।।

मान लो जिस दिन उन नातों को, मन जन्मा है उस दिन।
मत मानो जब उनको अपना, मरा हुआ मन तिसदिन।।

मान्यता का नाम ही मन है, और नहिं कुछ दिखता।
सद्गुरु पास अभी तुम जाओ, महाराज सच लिखता।।

ठूँठ पेड़ को प्रेत समझकर, मूरख ही चिल्लावे।

निशदिन याद करे जब उसकी, तब पागल हो जावे।।

यही बात तेरे मन की है, बिना हुए तुझे मारे।
सद्गुरु की तू अभी शरण जा, बिना किये कुछ तारे।।

अज्ञान ग्रहण कर तू रोता है, मन का बास वही है।
महाराज बस मन इतना ही, सच्ची बात यही है।।

(मया ततमिदं सर्वं.....) इस अज्ञानमय पुरुष को निकाल कैसे फेकेंगे? हाँ! इसके बहुत से उपाय हैं, जिनमें एक आध्यात्मिक रेचक प्राणायाम भी है। पहले इसी को सुनें– अहो आश्चर्य है! आश्चर्य है! अबतक मैं समझता था कि आँख, कान, नाक, जीभ, मन, बुद्धि एवं अहंकार आदि हैं तथा इनकी सत्ता–सामर्थ्य भी है; किन्तु अब मैं देख रहा हूँ कि मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा में न हाथ है, न पाँव है, न लिंग है, न गुदा है, न पेट है, न पीठ है, न छाती है, न गर्दन है, न बाल है, न सिर है, न ललाट है, न भौंह है, न भृकुटि है, न आँख है, न कान है, न नाक है, न जीभ है, न त्वचा है, न रक्त है, न मांस है, न वीर्य है, न हड्डी है, न प्राण है, न अपान है, न समान है, न उदान है, न व्यान है, न नाग है, न देवदत्त है, न धनञ्जय है, न कृकल आदि प्राण हैं, न मन है, न बुद्धि है, न चित्त है, न अहंकार है, न प्रकृति है, न पुरुष है। ये सारी की सारी मान्यतायें मैंने मान रखी हैं। यहाँ तो मैं एक तरफ द्रष्टा हूँ, दूसरी तरफ दृश्य है तथा यह दृश्य भी मुझ द्रष्टा का संकल्प होने से अपना ही सगुण स्वरूप है। अरे! जिसे मैं माँ, पिता, भाई, बान्धव, हित, मित्र, घर, गाँव, देश समझता था, अब तो ये सब दिखाई ही नहीं दे रहे हैं! यह कैसा भ्रम था! अब तो जो कहता है कि मैं तुम्हारी माँ हूँ, मैं तुम्हारा पिता हूँ, मैं तुम्हारा बान्धव हूँ, मैं तुम्हारा मित्र हूँ, वे इसीप्रकार कहते रहें लेकिन मैं उनका कहा हुआ स्वीकार नहीं करूँगा। इसप्रकार सम्पूर्ण काल्पनिक भावों को चिन्तन के द्वारा निकाल दिया जाय तो शेष जो बचेगा वह परम द्रष्टा होगा– इसी को आध्यात्मिक रेचक प्राणायाम कहते हैं। रेचक प्राणायाम करने के उपरान्त पूरक करते–करते कुम्भक प्राणायाम कर लिया जाता है, अतः अब आध्यात्मिक पूरक एवं कुम्भक प्राणायाम को भी आज जान लें– अहो! वह कैसी माया थी जो अभी पलभर पहले मुझ शुद्ध चेतन ब्रह्म में भास रही थी, वह कहाँ गयी, कैसे गयी, क्यों गयी? सच में हर रोज देखा जाता है कि जब सूर्य प्रकट होता है तो अन्धकार उसी में विलीन हो जाता है फिर तो उसका आदि–अन्त दिखाई नहीं पड़ता। उसीप्रकार मुझ सच्चिदानन्दघन के द्वारा अपने निर्गुण–निराकार रूप में प्रकट होते ही मुझसे प्रकट हुई माया मेरे में ही समा गयी, विलीन हो गयी। अब मैं न उसका आदि देख रहा हूँ, न अन्त और न मध्य ही देख रहा हूँ बल्कि सर्वत्र–सर्वरूपों में एकमात्र अपने–आपसे अपने–आपको ही देख रहा हूँ। अब तो मुझे न यह दिखाई दे रहा है, न वह दिखाई दे रहा है, न इसका दिखाई दे रहा है, न उसका दिखाई दे रहा है, न 'मैं' (शरीरगत मैं) दिखाई दे रहा है, न 'तू' दिखाई दे रहा है, न 'मेरा' दिखाई दे रहा है, न 'तेरा' दिखाई दे रहा है, न माया दिखाई दे रही है, न जीव दिखाई दे रहा है बल्कि मैं तो एकमात्र अपने–आपसे अपने–आपको देख रहा हूँ।

इस आध्यात्मिक कुम्भक प्राणायाम को भगवान दत्तात्रेय ने अपने ढंग से गाया है जिसे आप भी गाकर अपने मन, बुद्धि, चित्त की मवाद को निकाल दें।

सारे के सारे नामों को यदि निकाल दिया जाय तो मात्र एक पिण्ड (रूप) बचता है, जो कालान्तर में संकल्प से तिरोहित हो जाता है। नाम को पकड़ा गया था इसलिए छोड़ा जा सकता है, भाव को भी पकड़ा गया था इसलिए छोड़ा जा सकता है तथा रूप को संकल्प से प्रकट किया गया था, अतः संकल्प से ही त्याग किया जा सकता है। जिसका निर्माण आपने किया है, उन निर्मित नाम और भावों का संहार आप कर सकते हैं। इस न्याय से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं सम्पूर्णभावों के आप ही संहारक हैं, इसलिए अहर्निश चिन्तन के द्वारा इसका संहार कर दें।

(मया ततमिदं सर्वं.....) जैसे स्वप्नलोक में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य तथा कर्ता, कर्म और करण सब तो द्रष्टा ही बना हुआ है। वैसे द्रष्टा ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ बना हुआ है। जगने के बाद यदि स्वप्नलोक को खोजते हैं तो इस शरीर में वह कहीं मिलता ही नहीं है; क्योंकि वह न ठोस था, न तरल, न गैस बल्कि मानी हुई वासना थी, जो द्रष्टा की शक्ति–सामर्थ्य के कारण आकाश, वायु, अग्नि आदि के रूप में दिखाई पड़ रही थी। जिस ढंग से, जिस क्रम से जो स्वप्न एक बार आ गया वह किसी भी जीवन में ज्यों का त्यों नहीं आ सकता। जैसे एक बार आप जिस नाम–रूपवाले इस मृत्युलोक में प्रकट हो गये पुनः उसी नाम–रूपवाले कभी किसी काल में, कभी किसी जीवन में नहीं हो सकते। आपका शरीर वर्तमान में जिसका पुत्र बन गया, वह पुनः किसी जन्म में उसी माता–पिता का पुत्र नहीं बन सकता। शरीर सोता है और आप वासना को लेकर मानो चिदाकाश में प्रवेश कर जाते हैं। वहाँ पर आप सम्पूर्ण द्रष्टा होने के कारण संकल्पसिद्ध आत्मा होते हैं। उस अवस्था में वासना के कारण से जिसप्रकार के लोक की आप रचना करना चाहते हैं, उसप्रकार का लोक आप स्वयं ही बन जाते हैं। इसलिए वह लोक बनकर आप ही स्वयं माता, पिता, पुत्र बन गये; आप ही स्वयं पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री बन गये; गुरु, शिष्य, देवी, देवता, तंत्र, मंत्र, योग, जप, तप बन गये। आप ही ज्ञान, ध्यान, विज्ञान बन गये; आप ही वहाँ राग, द्वेष, छल, कपट, पाखण्ड बन गये; आप ही वहाँ मित्र और वैरी बन गये; आप ही विष तथा अमृत बन गये; आप ही वहाँ पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे बन गये; आप ही वहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं अन्यान्य देवी–देवता बन गये; आप ही उस स्वप्नलोक के घड़ी, पक्ष, मुहूर्त, मास, वर्ष, युग तथा मन्वन्तर बन गये; आप ही वहाँ के सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म, कर्म, अकर्म, विकर्म, साधक, सिद्ध, ऋषि, महर्षि, वेद, पुराण, शास्त्र, श्रुति, स्मृति इत्यादि सबकुछ बन गये। अतः वहाँ क्या बन्धन, क्या मोक्ष? जब नींद खुलती है तो चिन्तन के द्वारा आप अपने से हँसते हैं और आप स्वयं कहते हैं– अहो! आश्चर्य है– स्वप्नलोक तथा स्वप्नलोक का प्राणी तो मैं ही बना हुआ था! इसप्रकार जैसे पुरुष कहता है कि मेरे में स्वप्न है लेकिन मैं स्वप्न में नहीं हूँ, तो इसप्रकार कहने में कोई आक्षेप नहीं कर

सकता; क्योंकि उसके ऐसा कहने से यह स्पष्ट हो रहा है कि उसके होने से स्वप्न का होना है, स्वप्न के होने से उसका होना सिद्ध नहीं हो रहा है अर्थात् उसकी सत्ता से स्वप्न की सत्ता है न कि स्वप्न की सत्ता से उसकी सत्ता है अथवा यदि बीज को पृथ्वी में डाल दें तो विकसित होता–होता विशाल वृक्ष बन जायेगा। यदि पृथ्वी कहे कि मेरे में सभी पेड़–पौधे एवं वनस्पतियाँ हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी अथवा यों कहें कि मैं ही बीज हूँ, तना हूँ, शाखाएँ हूँ, टहनियाँ हूँ, डालियाँ हूँ, पत्ते, फूल और फल हूँ, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि उस पेड़ में से पृथ्वी को निकाल दें तो शेष कुछ बचता नहीं। उसीप्रकार यदि आप स्वप्न से जागने के उपरान्त कहते हैं कि मैं ही उस स्वप्न का मूल था, उस स्वप्नरूपी वृक्ष का तना, टहनियाँ, डालियाँ, पत्ते, फूल और फल था, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि आप स्वप्न को वृक्ष की संज्ञा देते हैं तो उस वृक्ष के फूल और फल क्या हैं? हाँ, तो प्रश्न तो आपने ठीक ही किया। वहाँ के सूक्ष्म शरीरवाले प्राणी तो फूल हैं और उनके द्वारा जो परस्पर में क्रिया का आदान–प्रदान होता है, सुख–दुःख का आदान–प्रदान होता है, वही वहाँ का फल है।

जब आपको भी यह अनुभूति सद्गुरु कृपावश प्रकट हो जायेगी, तो आप भी महाराज की तरह मस्ती में झूम–झूमकर गायेंगे। तो आयें साथ में गायें–

कहते हैं पाँच तत्त्व से, बना हुआ शरीर है।
पर पाँच तत्त्व किससे बना, यह प्रश्न भी गम्भीर है।।

कहते हैं माया कर रही, पर माया कौन कर रहा।
माया को जानता हूँ, ऐसा कौन दम्भ भर रहा।।

मनुष्य से मनुष्य ही का, जन्म होते देखता।
फिर ब्रह्म से संसार को, क्यों हुआ तू लेखता।।

स्वप्न के संसार को, किस तत्त्व से तुम मानते।
किसने रचा किससे रचा, क्या इसको तुम हो जानते।।

यदि जानते नहीं तो, फिर इसको आज जान लो।
इस गूढ़तम रहस्य को, तुम ठीक से पहचान लो।।

यह ब्रह्म ही है जागता, संकल्प को करता हुआ।
एक से अनेक की है, कल्पना करता हुआ।।

यह भी करूँ वह भी करूँ, वह भी बनूँ यह भी बनूँ।
नभ में उड़ान भर सदा, राजा न रंक को गिनूँ।।

संकल्प है यह ब्रह्म का तो, व्यर्थ कैसे जायेगा।
बन स्वप्नमय संसार तो, यथार्थ ही हो जायेगा।।

स्वप्न में वह बन गया, दिन रात मास पक्ष भी।
देव दनुज मानव अरु, भूत प्रेत यक्ष भी।।

आकाश वायु अग्नि बन, जल धरा भी बन गया।
पर्वत नदी नाले सरोवर, औषधि बन सन गया।।

हो चराचर प्राणमय, स्वप्न में वह चेतता।
बन दृश्य नाना नाम से, स्वयं को ही देखता।।

उस स्वप्न में नहिं तत्त्व की, है कहीं भी कल्पना।
यदि खोजता किसी तत्त्व को, तो झूँठी है यह जल्पना।।

बस वही का है वही, दृष्टान्त यहाँ जानिये।
नहीं दृश्य द्रष्टा की कहानी, स्वप्न में भी मानिये।।

ब्रह्म की ही कल्पना है, इस जगत को जानिये।
नहीं ब्रह्म से है दूसरा, स्वप्न में भी मानिये।।

माया नहीं है है वही, सबकुछ वही है कर रहा।
कर्ता महा, भोक्ता महा, वह जी रहा भी मर रहा।।

मरता हुआ नहीं मर रहा, जीता हुआ नहीं जी रहा।
खाता हुआ नहीं खा रहा, पीता हुआ नहीं पी रहा।।

वह जग रहा है सो रहा, कुछ पा रहा है खो रहा।
जगता हुआ सोता नहीं, नहिं पा रहा नहिं खो रहा।।

सम शान्त बन बैठा कहीं है, स्वयं के ही बोध में।
जिज्ञासु बनके दीखता वह, लगा हुआ है शोध में।।

मैं मैं किया करता वही, अबोध में भी क्रोध में।
यह मेरा तेरा कर रहा, निर्लोभ और लोभ में।।

कहीं भक्त बन भगवान का, नाटक खड़ा है कर रहा।
कहीं जीव और शिव का, वह भेद है अड़ा रहा।।

कहीं कर रहा शैतान का है, पाठ बड़े प्रेम से।
कहीं धर रहा इन्सान का है, ठाठ बड़े नेम से।।

कहीं रो रहा वियोग में, कहीं योग में है हँस रहा।
कहीं छूटने का दम्भ कर, कहीं बन्धन में है फँस रहा।।

जप तप है करके इष्ट से, वरदान भी कहीं ले रहा।

क्रोध के आवेश में कहीं, श्राप भी वह दे रहा।।

शिष्य बनके सीस को, कहीं दे रहा गुरुदेव को।
गुरुदेव के आशीष से, वह पा गया जगदेव को।।

जग भी बना जगदीश भी, श्राप भी आशीष भी।
अपराध अपराधी बना, न्याय न्यायाधीश भी।।

जीवन बिताता पुत्र के ही, भाव में अभिमान से।
यह पुत्र मेरा है कहीं, कह रहा स्वाभिमान से।।

भगवान हूँ तेरे लिये, कहिं बन पति वह कह रहा।
पत्नी बना कहीं प्रेम से, दुःख सुख सभी वह सह रहा।।

सर्प शेर बन कहीं, एकान्त सेवन कर रहा।
भयभीत होता है कहीं, भयभीत कहीं कर रहा।।

कहीं जप रहा कहीं तप रहा, कहीं योग साधन कर रहा।
कहीं तंत्र मंत्र फूँकता, कहीं वेद शास्त्र पढ़ रहा।।

आस्तिक बना नास्तिक बना, कहीं दोनों बीच बैठता।
कहीं शिव से शक्ति बड़ी, कह सदा ही ऐंठता।।

कहीं राम के आचार को, वह प्रेम से अपना रहा।
कहीं राम की निन्दा करे, रावण बड़ा बना रहा।।

रावण बना वह राम भी, कृष्ण वही कंस भी।
कौवा बना कोयल भी, बगुला वही हंस भी।।

धर्म कर्म अधर्म भी, शर्म नर्म बन गया।
शोक और संताप सुख दुःख दया भी जन गया।।

लँगड़ा बना लूल्हा बना, अंधा बहरा गूंगा भी।
काना वही खोटा वही, छोटा मोटा चंगा भी।।

कहीं पाँव से वह चल रहा, कहीं पेट से ही रेंगता।
कहीं पंख से बल भर रहा, कहीं सीर के बल झेंपता।।

चींटी जैसा छोटा बना, हाथी जैसा मोटा भी।
बिल्ली जैसा सीधा बना, चूहा जैसा खोटा भी।।

स्वयं के दुर्भाग्य को, रंक बनके कोसता।
कर्म से बड़ा भाग्य कह, दिन रात है अफसोसता।।

राजा बना वह कर्म को ही, श्रेष्ठ है बतला रहा।
कर्मरुप में भिन्नता है, वह हमें सिखला रहा।।

नहीं श्रेष्ठ कर्म भाग्य है, भगवान श्रेष्ठ दीखता।
कर्म भाग्य कर किनारे, उसकी कथा ही लीखता।।

इसप्रकार इस पद को याद करके भी ध्यान के समय उसी के अनुसार ज्ञानमय ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि पद के साथ अति सुगमता से थोड़े में ही विशेष चिन्तन हो जाता है।

(मया ततमिदं सर्वं.....) जल में ही मछली रहती है लेकिन मछली को जल दिखाई नहीं देता, जैसे आप वायु में ही रहते हैं लेकिन आपको वायु दिखाई नहीं देता। जल कहता है कि मेरे में मछली का वास है ही नहीं, मैं ही हूँ अथवा जल कह सकता है कि मेरे में तो मछली है लेकिन मैं मछली में नहीं हूँ और मछली कहती है कि न मेरे में जल है, न मैं जल में हूँ। पता नहीं, मेरा मूल क्या है? उसे जल से निकाला भी नहीं जा सकता। मात्र इतना ही है कि वह बड़ी हो गयी है, जबकि पहले वह एक कीटाणु के रूप में थी, जिसे निकालने की सामर्थ्य किसी में है ही नहीं। जल में और भी नानाप्रकार के जीव–जन्तु बीजरूप में हैं, जिन्हें निकालने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जल के जीव–जन्तुओं को जल आकाश की तरह दिखाई देता है। जैसे आप पृथ्वी पर वायु के अन्तर्गत चलते हैं, दौड़ते हैं, उसीप्रकार वे भी जल में चलते हैं दौड़ते हैं; क्योंकि उसके लिए वह आकाश की तरह दिखाई देता है। यद्यपि आपका भी ऑक्सीजन, जिसे आप गैस कहते हैं, वह भी एक सघन आवरण है, उसका भेदन करना कुछ जीवों के लिए अति कठिन है। कुछ ऐसे जीव हैं जो कार्बनडाई ऑक्साइड लेते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। जहाँ ऑक्सीजन की सीमा समाप्त हो जाती है और कार्बनडाई ऑक्साइड का क्षेत्र आता है, वे उस क्षेत्र में रहते हैं। उनके लिए ऑक्सीजन का क्षेत्र जल की नदी की तरह दिखाई पड़ता है। मछली को भी जल के बाहर पृथ्वी पर निकाल दिया जाय तो उसके लिए भी ऑक्सीजन एक तरल पदार्थ की तरह दिखाई पड़ता है। जैसे आपके लिए उसका आकाश जल की तरह दिखाई पड़ता है, उसीप्रकार उसको आपका आकाश नदी की तरह दिखाई पड़ता है। आपका शरीर वायुप्रधान होने के कारण से वायु को नहीं देख सकता और मछली का शरीर जलप्रधान होने से जल को नहीं देख सकता। अरे! जल को जल कैसे देख सकता है? उसीप्रकार वायु को वायु कैसे देख सकता है? वायु कहता है मुझे शरीर दिखाई नहीं पड़ते, उसीप्रकार जल कहता है मुझे मछली दिखाई नहीं पड़ती। इस न्याय से भगवान इस मंत्र के द्वारा निर्गुण–निराकार होकर बोल रहे हैं। वे कह रहे हैं कि सारी सृष्टियाँ, सारे प्राणिपदार्थ मेरे में हैं; किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। जिसप्रकार स्वप्न द्रष्टा, स्वप्न से जाग्रत् अवस्था में लौटने पर कहता ही है कि मेरे में स्वप्न है, मैं स्वप्न में नहीं हूँ। ठीक उसीप्रकार जो आत्मज्ञानी है, वह कहता है कि मेरे में संसार और संसार के प्राणिपदार्थ तो हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ। इतना ही नहीं–

(मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः.....) 'भगवान में सब स्थित हैं लेकिन भगवान किसी में स्थित नहीं है' इसे समझने के लिए संकेत किया जाता है, इस पर थोड़ा विशेष ध्यान

देंगे– जैसे रज्जु में तो भ्रांतिवश सर्प है लेकिन सर्प में रज्जु नहीं है, सीपी में भ्रांतिवश चाँदी है लेकिन चाँदी में सीपी नहीं है, ठूँठ पेड़ में भ्रांतिवश प्रेत (भूत) है लेकिन प्रेत में पेड़ नहीं है, मरुमरीचिका में भ्रांतिवश जल है लेकिन जल में मरुमरीचिका नहीं है, शरीर में पिताभाव, माताभाव, पतिभाव, पत्नीभाव, पुत्र–पुत्री भाव, स्वजनभाव है लेकिन इन भावों में शरीर नहीं है। उसीप्रकार किसी शरीर में भ्रांतिवश पत्नीभाव से काम है लेकिन काम में स्त्री नहीं है। किसी शरीर में भ्रांतिवश वैरी भाव से क्रोध है लेकिन क्रोध में शरीर नहीं है, किन्हीं–किन्हीं शरीरों में भ्रांतिवश अपनत्व की भावनावश राग है, द्वेष है, छल है, कपट है लेकिन इन सब भावों में शरीर नहीं है। उसीप्रकार ब्रह्म के विविधरूपों में विविधभाव हैं लेकिन विविधभावों में ब्रह्म नहीं है। जैसे आकाश नामक ब्रह्म में तत्त्वभाव है लेकिन आकाश तत्त्व भाव में ब्रह्म नहीं है, वायु नामक ब्रह्म में तत्त्व भाव है लेकिन वायु तत्त्व भाव में ब्रह्म नहीं है, अग्नि नामक ब्रह्म में अग्नि तत्त्व भाव है लेकिन अग्नि तत्त्व भाव में अग्नि नामक ब्रह्म नहीं है, जल नामक ब्रह्म में जल तत्त्व भाव है लेकिन जल तत्त्व भाव में जल नामक ब्रह्म नहीं है, पृथ्वी नामक ब्रह्म में पृथ्वी तत्त्व भाव है लेकिन पृथ्वी तत्त्व भाव में पृथ्वी नामक ब्रह्म नहीं है, उसीप्रकार पेड़–पौधे एवं वनस्पति नामक ब्रह्म में पेड़–पौधे, वनस्पति भाव है लेकिन इन भावों में पेड़–पौधे, वनस्पति नामक ब्रह्म नहीं है, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे नामक ब्रह्म में पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे आदि भाव है, लेकिन पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे भाव में इन नामोंवाला ब्रह्म नहीं है, वैसे ही मनुष्य, देवता, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेत नामक ब्रह्म में मनुष्य एवं देवता आदि भाव है लेकिन इस मनुष्य, देवता, गन्धर्व आदि भाव में मनुष्य, देवता, गन्धर्व, किन्नर, आदि नामक ब्रह्म नहीं है, वैसे ही भोजन, वस्त्र, आवास नामक ब्रह्म में भोजन, वस्त्र, आवास भाव तो है लेकिन भोजन, वस्त्र, आवास भाव में भोजन, वस्त्र, आवास नामक ब्रह्म नहीं है। इसीप्रकार कहाँ तक कहा जाये जितने भी नाम एवं रूप हैं वे ब्रह्म की विभिन्न आकृतियों में तो हैं लेकिन ब्रह्म की नानाप्रकार की आकृतियाँ उन नाम एवं रूपों में नहीं हैं।

'मया ततमिदं' को समझने के लिए भगवान दत्तात्रेय की अवधूतगीता नामक ग्रन्थ के अध्याय चार में सम्पूर्ण मंत्र अति विलक्षण हैं, उन्हें भी देखना चाहिए।

(न च मत्स्थानि भूतानि.....) भगवान की विभूति अर्थात् आत्मा सम्पूर्ण भूतप्राणियों में रहता भी है, उनको धारण भी करता है; किन्तु उनके गुण–दोषों से लिप्त नहीं होता। अतः भगवान कहते हैं कि यह मेरी महत् योगमाया है जो यह मेरा आत्मा हर किसी प्राणिपदार्थ में रहते हुए भी नहीं रहता। तो क्या आत्मा और परमात्मा दो हैं?– ऐसा प्रश्न खड़ा हो जाता है। नहीं, नहीं यह तो समझाने के लिए औपचारिकता मात्र ही है ऐसा समझना चाहिए। जो सम्पूर्ण वाक्यों में, पदों में 'अहम्' (मैं)– बीज मंत्र के रूप में प्रकाशित होता है, जिस अहम् के बिना किसी भी प्राणी की सत्ता नहीं है, उसी अहम् प्रत्यय को यहाँ आत्मा कहा गया है। जैसे–

मैं मनुष्य हूँ	मैं देवता हूँ	मैं पशु हूँ
मैं संत हूँ	मैं असंत हूँ	मैं सामान्य हूँ

मैं ज्ञानी हूँ	मैं मूर्ख हूँ	मैं कुछ नहीं हूँ
मैं सर्प हूँ	मैं शेर हूँ	मैं पक्षी हूँ
मैं कीड़ा हूँ	मैं मच्छर हूँ	मैं चींटी हूँ आदि।

इन वाक्यों में 'मैं' ही आत्मा है। इस 'मैं' के बिना कोई कुछ भी नहीं है। इस 'मैं' को लेकर ही अथवा इस 'मैं' से ही प्राणिपदार्थ प्रकट होते हैं। इसी 'मैं' को व्यष्टि चेतन कहते हैं। जब कोई आकृति नहीं रहती देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की, तब यही 'मैं' समष्टि चेतन कहा जाता है। जैसे आकाश का विभाग नहीं किया जा सकता; किन्तु औपचारिकता के लिए तो घटाकाश, मठाकाश, चिदाकाश, भूताकाश आदि आकाश का विभाग करके कहा ही जाता है, जबकि आकाश, आकाश ही है, अतः स्वरूपतः उसका विभाजन हो ही नहीं सकता। उसीप्रकार 'मैं' (अहम्), 'मैं' ही है, इसका विभाजन हो ही नहीं सकता। तत्त्वतः चींटी द्वारा व्यवहृत 'मैं' ही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी द्वारा व्यवहृत 'मैं' है। ऐसा नहीं कि चींटी का 'मैं' अशुद्ध है और देवता, मनुष्य, संत आदि का 'मैं' शुद्ध है। यह 'मैं' ही तो द्रष्टा है, साक्षी और चेतन है। इसे शुद्ध–अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। यही निर्गुण–निराकार आत्मा है। परम पूज्य मस्तराम बाबा ने इसका संकेत अत्यन्त पैनी–दृष्टि से अपने 'आत्मचिंतनम्' नामक ग्रंथ में दिया है–

स्फुरति विशति संविद् यत्र सकृद् विभातः, विविधविभवभावान् नेहते नेति नेति।
अविदितविदिताभ्यामन्यताऽनन्य एव, अहमिति परिपूर्णप्रत्ययः प्रत्यगात्मा।।
(आत्मचिन्तनम्, श्लोक सं० १८)

इस मंत्र में अहम् प्रत्यय को ही जो सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में स्फुरित हो रहा है, वही परिपूर्ण आत्मा है– ऐसा सिद्ध किया गया है।

इसप्रकार आत्मा–परमात्मा में भेद नहीं मानना चाहिए।

(न च मत्स्थानि भूतानि.....) इसका एक दूसरा अर्थ सुनें– इस जीवजगत में सम्पूर्ण भूतप्राणियों के भावों को उत्पन्न करनेवाला जो ब्रह्मज्ञानी है, वही आत्मा है। वह सभी प्राणियों के साथ रहते हुए भी किसी के भी गुण–दोष नामक धर्म से लिपायमान नहीं होता, यही उसका योगमय ऐश्वर्य है। वह अज्ञानियों के बीच में ही प्रकट होता है उन्हीं के द्वारा उसका शरीर पाल–पोषकर बड़ा किया जाता है किन्तु जब वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है तो वे अज्ञानी उसके सम्पूर्ण शासन में रहते हैं, उसकी सम्पूर्ण अध्यक्षता में रहते हैं; अब वह उन अज्ञानियों के अनुसार नहीं रहता। हाँ, जो उसके निष्कामी और सकामी भक्त हैं, जो उसकी आत्मा ही हैं, वे उसमें और वह उनमें रहता ही है, यही उसका ऐश्वर्य है। वह साधु के साथ रहता है, असाधु के साथ रहता है, कामी और अकामी के साथ तथा शुभ और अशुभ के भी साथ रहता है लेकिन वह अपने स्वरूप में ही रहता है। जैसे माँ बेटी के साथ, बेटे के साथ, पति के साथ, बहन–भाई के साथ रहनेपर भी बेटे–बेटी के पास अपने को माँ, पति के पास अपने को पत्नी तथा सेवक के पास अपने को मालकिन कहती है; लेकिन सभी भावों के मूल में उसका

स्त्रीभाव सूक्ष्मरूप से बना ही रहता है। वैसे ही आत्मज्ञानी सबके साथ रहता है, सबको शान्ति वहन करता रहता है, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान देता रहता है, गुरु एवं शिष्य अर्थात् संत का व्यवहार करता रहता है; किन्तु उसकी आत्मरूपता बनी की बनी रहती है, उसकी ब्रह्मस्मृति पलभर के लिए भी विस्मृत नहीं होती।

'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'– यहाँ भूत शब्द का तात्पर्य मुमुक्षुओं यानी जिज्ञासुओं से है। प्रभु ने कहा– वह आत्मज्ञानी जिज्ञासुओं के हृदय में दिव्य भाव प्रकट करता है, ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट करता है, पुनः ब्रह्मजिज्ञासा की रक्षा करता है और कालान्तर में ब्रह्मज्ञान भी देता है, तो भी वह अकर्ता ही बना रहता है। पूर्व में कहा भी गया है कि इस ब्रह्माण्ड का वह पिण्ड है अर्थात् आत्मा है। उसके पास उसके आश्रम में रहनेवाले शिष्यों के द्वारा जो घटना घटती है, वही ब्रह्माण्ड के संसद में घटती है।

(मया ततमिदं सर्वं.....) जिसप्रकार सोने में से कंगन, कड़ा, बाजूबंद, हार, अँगूठी आदि सारे नाम निकाल दिये जायँ तथा इन आकृतियों को समाप्त कर दिया जाय तो न ये सब नाम रहेंगे न उन गहनों की आकृतियाँ रहेंगी, बल्कि मात्र वहाँ सोना रह जायेगा। उसीप्रकार आपके मन से नाम और रूप विस्मृत हो जायें तो सम शान्त ब्रह्म ही बचेगा। महाराज के परम पूज्य गुरुदेव ने 'मेरा लक्ष्य' में लिखा है–

सगुण ब्रह्म सब जगत है निर्गुण बसता माहिं।
शिवानन्द सच कह रहा किञ्चित दूसर नाहिं।।

तथा श्रीरामचरितमानस में भी कहा गया है कि

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें।।

(बालकाण्ड)

अर्थात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही प्रकट है, जो अज्ञानियों के द्वारा जगत कहा जा रहा है।

प्रश्न है कि जब सब ब्रह्म ही है तो यह जगत क्या बला है? इसका उत्तर परम पूज्य मस्तराम बाबा ने दिया है–

परमोपात्तपर्जन्य विद्युद्दामाहिसम्भ्रमः।
भ्राजमानः प्रपंचोऽत्र आत्मा साक्षी सदक्षरः।।
(आत्मचिन्तनम्)

यह राजयोग है। यद्यपि आत्मा साक्षी है, सत् है, त्रिकाल में अक्षर है तो भी सीपी में चाँदी और मरुमरीचिका में जल चमक जाता है लेकिन सीपी में चाँदी और मरुमरीचिका में जल खोजें तो नहीं मिलेगा। वैसे ही ब्रह्म में रजोगुण नाम की शक्ति कौंध जाती है लेकिन ढूँढने पर रजोगुण

की शक्ति नहीं मिलती है। उसीप्रकार ब्रह्म में थोड़े समय के लिए द्वैत चमक जाता है लेकिन उसकी सत्ता नहीं है। उसीप्रकार ब्रह्म में खोजेंगे द्वैत को, मैं और तुम को, तो वह नहीं मिलेगा। ब्रह्म में संसार कैसे भास (भासित हो) रहा है, जैसे आकाश में बादल तथा बादल में बिजली भास रही है लेकिन आकाश में बादल और बादल में बिजली को ढूँढेंगे तो ये नहीं मिलेंगे क्योंकि ये हैं ही नहीं। संगठित वाष्प बादल कहलाता है। वैसे ही जिस माया की बात करते हैं उसकी आपने खोज नहीं की, जबकि खोजेंगे तो माया नहीं मिलेगी।

अबतक आपने राम को खोजा है, अब माया को खोजें अर्थात् माया पर चिंतन करें, जो बाधा बन रही है राम को खोजने में। आप राम को खोजेंगे क्या? जो है उसे खोजा नहीं जा सकता। ब्रह्म कथं? ब्रह्मित्थं। यह ब्रह्म ही तो है। तो फिर भ्रांति कहाँ से आ रही है? हाँ! 'भ्राजमानः प्रपंचोऽत्र'– जैसे आत्मा (ब्रह्माकाश) में जगत नहीं चमक रहा है बल्कि जगतभाव (जगत होने का भाव) चमक रहा है, वैसे ही आपके मन में ये मेरी स्त्री है, यह भाव चमक रहा है, ये बाल–बच्चे हैं, यही बिजली चमक रही है, जो मरने के बाद अर्थात् इस शरीर के जाने के बाद समाप्त हो जायेगी अथवा चिंतन करेंगे तो खत्म हो जायेगी, अर्थात् द्वैतभाव खत्म हो जायेगा।

इसप्रकार यह शरीर मेरा है यह ब्रह्म में क्षुद्र भाव चमक रहा है, अज्ञानता चमक रही है। यहाँ द्वैत ज्ञान ही बिजली है, बिजली भी किसी को मारने का कारण बन जाती है, जो इसके घेरे में आयेगा, भस्म हो जायेगा। 'भ्राजमानः प्रपंचोऽत्र'– यद्यपि आत्मा साक्षी है, सत् है, अक्षर है। जो जिससे प्रकट होता है, उसी में प्रकट होता है और उसी में विलीन हो जाता है, उसे ही विक्षेप शक्ति कहते हैं, तामस शक्ति कहते हैं, सात्त्विक शक्ति कहते हैं। वैसे ही समाधि चमक जाती है, वैराग्य चमक जाता है, ध्यान चमक जाता है, कालान्तर में न वह ज्ञान रहता है, न ध्यान रहता है, न समाधि रहती है; बल्कि 'ब्रह्मित्थं, इत्थं इत्थं' ही रहता है। 'मया ततमिदं सर्वं'– जो शेष बचता है, केवल ब्रह्म होता है। चिंतन के अभाव में आपकी मृत्यु हो गयी है। अतः जब किसी भी पदार्थ और पदार्थ के स्वरूप एवं उसकी सत्ता पर विचार करेंगे तो उसे उस रूप में नहीं पायेंगे और आप आगे बढ़ेंगे।

(मया ततमिदं सर्वं.....) अब आप पुनः सावधान हो जाएँ; क्योंकि महाराज जो कहने जा रहा है उसे अति सजगता में ही समझ सकते हैं। जिसे आप जगत कहते हैं, संसार कहते हैं, वह ब्रह्म के निर्गुण–निराकार शरीर के चित्त के किसी एक कोने में भ्रमण करनेवाले एक अणु का स्वप्न है। वही अणु स्वप्न देख रहा है, इसलिए उसके स्वप्नजगत के आप स्वप्ननर हैं। आपको जिस शरीर पर, सम्पत्ति पर, भाई–बान्धवों पर, हित–मित्रों पर, माता–पिता आदि पर बड़ा गर्व हो रहा है, जिसके चलते अहंकार के मद में आप मतवाले हो रहे हैं, वे सब उस अणु के स्वप्ननर और स्वप्नपदार्थ हैं। हाँ! आपकी द्रष्टारूपता और उसकी द्रष्टारूपता में कोई अन्तर नहीं है। जो सत्य है उसको तो सत्य कहना ही पड़ेगा, इसलिए आपके द्वारा मनन, चिन्तन, निदिध्यासन– सब उस अणु का स्वप्नविषय ही कहा जायेगा। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे– ये सब स्वप्न देखते हैं। इनका स्वप्न भी उतना ही बड़ा होता है, जितना कि उस अणु का यह स्वप्नजगत है। उस अणु के इस स्वप्नजगत में उसके लिए ब्रह्मज्ञानी और अज्ञानी का शरीर एक

ही महत्त्ववाला है, चींटी और ब्रह्मज्ञानी का शरीर एक ही महत्त्ववाला है। यदि आप जगत के मूल को ढूँढने जायेंगे तो उसी अणु को पायेंगे, जिसका यह स्वप्न है और उस अणु को यदि खोजने जायेंगे तो निर्गुण–निराकार परमात्मा को पायेंगे अर्थात् अपने परम चैतन्यघनरूप परम द्रष्टारूपता को ही पायेंगे। आपको न वहाँ ब्रह्मा मिलेंगे, न विष्णु मिलेंगे और न महेश ही मिलेंगे, न उनका लोक ही मिलेगा, न देवलोक मिलेंगे न सत्यलोक मिलेंगे। जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न देख रहा है और यदि कोई संकल्पसिद्ध साधक अपने संकल्प से अपनी स्मृति द्वारा उसके स्वप्नजगत में प्रवेशकर, उस सोते हुए को ढूँढे तो वहाँ पर उसका शरीर तो नहीं मिलेगा बल्कि उसकी स्मृति ही मिलेगी। उसके स्वप्न का आदि, मध्य, अन्त तो मिलेगा ही नहीं; क्योंकि न वह स्वप्न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न कारण है, बल्कि वह तो स्मृतिरूप ही है।

महाराज ने खगेन्द्रानन्द से पूछा– मन भारी क्यों लग रहा है? उन्होंने कहा– गुरुदेव! अपराध बोध हो रहा है। ऐसा लग रहा है कि आपकी आज्ञा का पालन नहीं हो रहा है। महाराज ने कहा– हाँ, घर छोड़कर घर, गाँव, क्षेत्र के लोगों से पुनः मित्रता करना ब्रह्महत्या का पाप ही है। यही तो ढोंग है, और ढोंग है क्या? संन्यास का तात्पर्य है उस क्षेत्र से, गाँव–घर से अथवा जहाँतक परिचित क्षेत्र है, वहाँ के लिए मर जाना और अपरिचित क्षेत्र में जाना अर्थात् पुनः जन्म लेना। वहाँ अपरिचित क्षेत्र में तबतक साधक अपरिचित रहता है, जबतक परब्रह्म प्राप्तिरूप लक्ष्य पूरा न हो जाय। प्रभु प्राप्ति के उपरान्त उस अपरिचित क्षेत्र में लोकसंग्रह के लिए अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और ब्रह्म के प्रचार–प्रसार के लिए वहाँ के लोगों के दृष्टिपथ में तो आ जाता है; किन्तु उस समय भी अपने पूर्व के घर–बार, क्षेत्र के लिए मरा ही रहता है। आज तक इतिहास में जितने भी ब्रह्मजिज्ञासु हुए, वे ब्रह्मप्राप्ति के उपरान्त भी अपने पूर्व के परिचितों में अथवा क्षेत्र में नहीं लौटे। कुछ साधक जिनको घर–द्वार से आसक्ति है, वे भगवान बुद्ध का उदाहरण देते हैं। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि उनको (भगवान बुद्ध को) संत की श्रेणी में नहीं लिया गया है बल्कि चौबीस अवतारों में से वे एक हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है। उनका अवतार असुरों को मोहित करने के लिए हुआ था। इसीलिए उनके भौतिक सिद्धान्तों को भारतवर्ष के सनातनी, संन्यासाश्रमी–साधक और संतों ने कभी स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, उनके सिद्धान्त को आद्यगुरु शंकराचार्य ने भारतभूमि से उखाड़ ही फेंका।

चित्रकूट में प्रभु श्रीराम के पास एक बार महात्मा भरत और अयोध्यावासी आ गये। उन लोगों के जाते ही प्रभु ने कहा– लक्ष्मण! अयोध्या के लोग जान गये, अब वे लोग आते–जाते रहेंगे, पीछा नहीं छोड़ेंगे। इसलिए चलो हमलोग वैसी जगह चलते हैं जहाँ न कोई परिचित जान पाये, न पहुँच पाये। प्रभु श्रीराम ने संन्यास नहीं लिया है, केवल वानप्रस्थ के नियम में हैं, इसी से धर्मपत्नी और भाई को साथ रखे हुए हैं। जब एक वानप्रस्थी परिचितों से अपरिचित रह सकता है, तो फिर संन्यासी के विषय में तो कहना ही क्या? खगेन्द्रानन्द से पुनः कहा– आप चौबीस घण्टे भजन करने आये थे, संन्यास लेने की भी कामना है आपको। यदि चौबीस घण्टे भजन नहीं होगा तो अपराध–बोध होगा ही। यहाँ अपवाद को छोड़कर लगभग सभी अपराधी बैठे हुए हैं।

ये लोग कहते हैं कि ध्यान में मन क्यों नहीं लगता? हाँ, इसलिए कि इनके मन में कोई अपना प्रिय स्वजन बैठा है। एक पच्चीस साल से सम्पर्क में रहनेवाले साधक ने कहा कि ज्ञानसमाधि कब लगेगी? जो अनुभव हुआ है वह प्रयोग में क्यों नहीं आ रहा है? महाराज ने कहा– अवसर आने पर बतायेगा। कुछ दिनों के बाद उसके बेटे–बेटी दर्शन के लिए आश्रम पर आ गये। उनलोगों का आना जानकर वह आश्रम में ही छिप गया। उसके कहने के अनुसार बच्चों से बता दिया गया कि वे तो पता नहीं कहाँ हैं? बारह साल उन्हें संन्यास लिए हो गया और तुमलोग अब आ रहे हो? बेटे–बेटियों ने कहा कि कोई बात नहीं महाराजजी! आपके दर्शन में ही हमलोगों को उनका दर्शन हो गया। हमलोग भी चाहते हैं कि जिस मार्ग में वे निकले हैं, उस मार्ग में सफल हों। तीसरे दिन उस साधक ने बताया– महाराजजी! रातभर तो कुछ भी नहीं हुआ; लेकिन इसके बाद में चौबीस घण्टे तक बच्चों और परिवार के प्रति ऐसा मोह आया कि मन को मथ दिया। अब जाकर मन पूर्ववत् निर्मल हुआ है। महाराज ने कहा– यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। ज्ञानसमाधि इसलिए नहीं लगती कि अभी तुम्हारे मन में प्रिय स्वजन बैठे हुए थे। आज से यदि वे प्रिय स्वजन निकल गये होंगे, तो अन्य समाधियों की तरह ज्ञानसमाधि भी प्रारम्भ हो जायेगी।

लगभग सभी साधकों का कहना है कि समाधि क्यों नहीं आती? यह उत्तर उन सभी के लिए है। भगवान कहते हैं– 'मया ततमिदं सर्वं' और आप कहते हैं– 'मया स्वजनं सर्वं', फिर ध्यान कैसे लगे? आपके मन के हर भाग में, हर कोने में, हर अंग में ब्रह्म व्याप्त तो है, किन्तु वह प्रकट कैसे होवे; क्योंकि उन सम्पूर्ण जगहों में तो आपके स्वजन व्याप्त हैं। आप नहीं जानते कि आपसे ब्रह्म का अनादर हो रहा है। इसी से आपका मन, जप, तप, ध्यान आदि में नहीं लगता। ब्रह्म तो जप, तप, योग बनकर आता है; ध्यान, समाधि और विज्ञान बनकर आता है, उसके आने के लिए आप अपने मन को खाली करें तब तो वह आये!

महाराज ने साधकों से पूछा कि जल में मछली रहती है या मछली में जल रहता है? आत्मानन्द और अवधेशानन्द ने कहा– मछली ही जल में रहती है; क्योंकि जल में से उसे निकाल दिया जाय तो जीवित नहीं रह सकती। वह जल में जल से ही प्रकट होती है और उसी में रहते हुए उसी में विलीन हो जाती है। उसका आदि, अन्त, मध्य जल ही है; किन्तु मछली चाहे जल में रहे या न रहे, जल उसके बिना रहता ही है। ठीक उसीप्रकार निर्गुण–निराकार ब्रह्म कहता है कि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' अर्थात् सम्पूर्ण भूत मेरे में हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ। तात्पर्य है कि जल की सत्ता मछली से नहीं है लेकिन मछली की सत्ता जल से ही है। उसीप्रकार सम्पूर्ण सृष्टियोंसहित सम्पूर्ण प्राणियों की सत्ता ब्रह्म से तो है, किन्तु प्राणियों से ब्रह्म की सत्ता–सामर्थ्य नहीं है। वह अपने–आप में अपने–आप से सृजन, संहार और पालनरूप संकल्पशक्ति से सम्पन्न है। उसमें से सम्पूर्ण सृष्टियों को, सम्पूर्ण भूतप्राणियों को निकाल दिया जाय तो भी उसका एक अंश भी नहीं निकलेगा और वह ज्यों का त्यों बना रहेगा। यद्यपि सृष्टियों और भूत–प्राणियों को उसमें से निकाला भी नहीं जा सकता; जैसे मनुष्यों के मन में से विचारों को निकाला नहीं जा सकता है। यह तो मात्र समझाने के लिए कहा जा रहा है।

उसीप्रकार अनुभवी साधक चिन्तन करें कि शरीरसहित सम्पूर्ण जगत मेरे में है लेकिन मैं इनमें नहीं हूँ। मैं तो इनके भीतर–बाहर सर्वत्र विद्यमान हूँ, जिसप्रकार स्वप्न से लौटा हुआ पुरुष कहता है कि स्वप्नजगत मेरे में था, मैं स्वप्नजगत में नहीं था। अब यदि बात समझ में आ गयी हो तो कहें अपने–आप से, अपने–आप के लिए घोषणा करें कि जिस शुद्ध चेतन साक्षी परम ब्रह्म परमात्मा की खोज मैं कर रहा था वह तो 'मैं ही हूँ', अतः मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूँ। इस तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए महाराज ने एक पद भी गाया है जिसे आप भी गुनगुनाएँ और गाएँ तो विश्वास है कि इस तत्त्व को आप पूरी तरह समझ जायेंगे–

(राग–भीम पलासी)

जग जाये हेराय ज्ञान हो जाये जब।।

मेरा तेरा भागे मैं तू न आगे, आगे–आगे निजरूप आगे।
जागे सकल–शक्ति सामर्थ्य अपनी, परम शान्ति आनन्द आनन्द आये तब।।
जग जाये हेराय ज्ञान.....

नानात्व जाये एकत्व आये, ब्रह्मत्व भीतर–बाहर में छाये।
संशय भ्रम कामादिक शत्रु विलाये, फिर मरने व तरने की बातें कहाँ कब।।
जग जाये हेराय ज्ञान.....

त्रियगयोनि त्रिदेवों की सब कहानी, अज्ञानियों की बस रह गयी रुझानी।
महाराज देखे बस बोले यहाँ क्या, सदा–सर्वदा स्वयं दर्शन करे अब।।
जग जाये हेराय ज्ञान.....

एकमात्र गुरुदेव वसिष्ठ के द्वारा प्राप्त सत्संग से ही प्रभु श्रीराम ने अपना ज्ञानमय उद्‌गार प्रकट किया था जो इसप्रकार है– यह सबकुछ शान्त, आलम्बनरहित, विज्ञानस्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पनारहित, विशुद्ध, अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है, न द्रष्टा है, न सृष्टि है, न जगत है, न जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है, वह सब असत् ही है। मुने! इस भ्रान्ति की उत्पत्ति कहाँ से होती है? इस बात का विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव हो जाने पर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारण का विचार करना कहाँ तक संगत हो सकता है? निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म में भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्तिरूपता का ज्ञान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे मृगतृष्णा में जल का, आकाश में गन्धर्वनगर का और नेत्रदोष के कारण उत्पन्न दो चन्द्रमा का भ्रम विचार से उपलब्ध नहीं होता, उसीप्रकार अविद्या नामक भ्रम की भी विचार से उपलब्धि नहीं होती। मुने! वह भ्रान्ति कहाँ से आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है उसी पर विचार करने से लाभ होता है, जो है ही नहीं, उसपर विचार करने से क्या लाभ होगा? इसलिए कभी कोई भ्रान्ति सम्भव नहीं है। यह आवरणरहित नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही सब ओर से व्याप्त है। आज

यहाँ जो कुछ भी जगत भासित होता है, यह परब्रह्म ही है। नित्य निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परब्रह्म में यह पूर्ण परब्रह्म ही विराज रहा है। जन्मरहित, अमर, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के अयोग्य, अर्थात्– अतिन्द्रिय श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित निर्विकार तथा सब ओर से निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है। वही 'अहम्' (मैं) पद से कहा गया है, फिर भी वह अहंकार से सर्वथा रहित है। अनेकरूप से प्रतीत होनेपर भी वह एक है तथा विशुद्ध एवं सदा प्रकाशमान है।

आदि, अन्त और मध्य से रहित जिस परमपद को देवता तथा ऋषि भी नहीं जानते हैं, वही यहाँ सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। कहाँ है जगत और कहाँ है उसकी दृश्यता? द्वैत और अद्वैत की भावना को उभाड़नेवाले जो वाक्य सन्देह और भ्रम हैं, उनसे हमारा क्या प्रयोजन है? वास्तव में सबका आदि, अनामयस्वरूप एक परम शान्त ब्रह्म ही परिपूर्ण है। अपरिछिन्न उदयवाले सर्वव्यापी इस परब्रह्म का साक्षात्कार हो जानेपर अज्ञानी की दृष्टि में स्फुरित होनेवाला संसाररूपी पिशाच तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नष्ट हो जाता है। वह जड़ की भाँति व्यवहार में लगा हो तो भी उस ज्ञानी की पूर्व की भेदबुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जल के भीतर लहर नष्ट हो जाती है। यहाँ न वास्तव में अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुख का उदय ही है। विद्या–अविद्या, सुख–दुःख, सबकुछ निर्मल ब्रह्म ही है। जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। ब्रह्मन्! वह ब्रह्म मैं ही हूँ। सदा ही सबकुछ एकमात्र मैं ही हूँ। मेरा कहीं अन्त नहीं है। मैं परम शान्त हूँ, सबकुछ हूँ, अथवा कुछ नहीं हूँ। एकमात्र सत्–स्वरूप ही हूँ अथवा वह भी नहीं हूँ। मैं ही परम आश्चर्यरूप निर्वाण नामक परम शान्ति–स्वरूप हूँ।

(संक्षिप्त योगवासिष्ठ, निर्वाण– प्रकरण ३० पेज नं. ६६६)

ॐ मासपारायण, सोलहवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, आठवाँ विश्राम ॐ

अब आते हैं एक पल युद्ध के मैदान में कि इन मंत्रों के माध्यम से भगवान का आशय क्या है इसे देखते हैं। भगवान कहते हैं महात्मा अर्जुन से कि हे जितेन्द्रिय! हे महावीर! तुम इस भारत की आत्मा हो। यहाँ का राजतंत्र अब तुम्हारे हाथों में आ जायेगा। 'मया ततमिदं सर्वं'– जैसे सबकुछ मेरे से व्याप्त है उसीप्रकार अब यहाँपर सबकुछ तुम्हारे से व्याप्त हो जायेगा, निःसंदेह तुम आत्मज्ञानी हो जाओगे अर्थात् सबके भीतर–बाहर व्याप्त हो जाओगे। ये महाराज युधिष्ठिर भी आत्मज्ञानी हैं। ये तो तुम जानते ही हो कि आत्मज्ञानी की जो निन्दा करता है, उसके मस्तिष्क के हजार टुकड़े हो जाते हैं अर्थात् वह अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है। अतः महात्मा युधिष्ठिर की इन कौरवों ने घोर निन्दा की है, जिसके कारण अब ये सत्ताहीन हो जायेंगे तथा तुम देखोगे कि इस रणभूमि में सियार और कुत्ते तथा गिद्ध आदि इनके मस्तिष्क के टुकड़े–टुकड़े करके खायेंगे। जिन्हें तुम बहुत कुछ मान बैठे थे, वे कुछ भी नहीं हैं पार्थ! कुछ भी नहीं हैं। जिसप्रकार सपने में दो योद्धाओं में युद्ध हुआ, एक महारथी ने दूसरे महारथी को

शाम तक मार डाला। उसकी जय–जयकार हुई, ढोल–नगाड़ों के साथ उसे स्वप्नलोक का राजसिंहासन प्राप्त हो गया, लेकिन जैसे ही आनन्दित हुआ वह राज्य पाकर वैसे ही स्वप्नलोक में उसकी आँखें बन्द हुईं तथा आँख बन्द होते ही यहाँ जाग्रत् लोक में उसकी आँखें खुल गईं। अब बताओ पार्थ! किसकी विजय थी वह? वह सिंहासन किसका था? आँख खुल गई जिस पुरुष की उसका या उस स्वप्नलोकवाले पुरुष का? ऐसा सुनते ही महात्मा अर्जुन की आँखें खुल गईं। मानो वे कहते हैं– हे माधव! ठीक कह रहे हैं आप। तो फिर हस्तिनापुर की भी यही कहानी है क्या? प्रभु ने कहा– हाँ, हाँ, यहाँ भी वही कहानी है। यह मायामय हस्तिनापुर है, अतः सबकुछ यहाँ मायामय है। कोई एक अणु (पुरुष) सोया हुआ है जिसे लोग ब्रह्मा कहते हैं, अव्यक्त कहते हैं। उसी ब्रह्मा के मन में यह मायामय जगत है तथा उसी मायामय जगत के ये सारे पक्षी–विपक्षी युद्ध के मैदान में खड़े हैं। जब इस मायामय जगत का वह आदिपुरुष जगेगा तो यह सारा जगत उसी के चित्त में विलीन हो जायेगा। अतः तुम विचार कर लो कि तुम्हें अब क्या करना है?

महात्मा अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि फिर यह संसार उस पुरुष के मन से कैसे प्रकट हो रहा है? कुछ तो उदाहरण चाहिए। प्रभु ने उनके मन के प्रश्न को जानकर कहा–

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

जिसप्रकार आकाश से उत्पन्न होकर महान वायु नित्य आकाश में ही सर्वत्र विचरण करता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतप्राणी मेरे से ही उत्पन्न होकर मेरे में ही विद्यमान रहते हैं, इस बात पर तुम विश्वास करो। इतना होने पर भी हे कौन्तेय! सम्पूर्ण प्राणी कल्प के अन्त में अपनी प्रकृति (प्रारब्ध) को ही प्राप्त हो जाते हैं, जिन्हें मैं कल्प के आदि में उनकी प्रकृति के अनुसार ही पुनः प्रकट कर देता हूँ।

हे पार्थ! तुम ठीक ही सोच रहे हो, उदाहरण तो चाहिए ही चाहिए। जिसप्रकार आकाश से उत्पन्न होनेवाला वायु अति सामर्थ्यवान दिखाई देता है (क्योंकि कोई भी पुरुष, योगियों को छोड़कर, उसे वश में नहीं कर सकता), आकाश से उत्पन्न होकर आकाश में ही रहता है लेकिन आकाश के लिए वह महान नहीं होता, उसीप्रकार ये सारे के सारे भूत समुदाय मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म से प्रकट होकर मेरे में ही रहते हैं, जो एक–दूसरे के लिए अति सामर्थ्यवान से दिखाई पड़ते हैं, जबकि मेरे लिए इनकी सत्ता–सामर्थ्य कुछ भी नहीं है अथवा मेरे में मेरे से ही यह सम्पूर्ण जगत (जो अज्ञानियों के लिए अति सामर्थ्यवान दिखाई पड़ता है) प्रकट होता है और मेरी सत्ता–सामर्थ्य से ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

प्रभु ने यहाँ इस जगत को अति शक्तिसम्पन्न बताया; क्योंकि जिन साधकों के पास अनन्य भक्तियोग का बल नहीं है, बल्कि सांख्ययोग या अष्टांगयोग का बल है, वे इस जगत के उत्पात से मोहित होते रहते हैं। सांख्यमत के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय– ये पाँचों विकार आकाश तत्त्व से प्रकट होते हैं, इसलिए इनपर विजय प्राप्त करने के लिए आकाश तत्त्व पर विजय प्राप्त करनी होगी। उसीप्रकार क्षुधा, तृषा, मैथुन और आलस्य आदि अग्नि तत्त्व के गुण हैं। जिन्हें इन विकारों पर विजय प्राप्त करनी है, उन्हें अग्नि तत्त्व पर विजय प्राप्त करनी होगी। इसीप्रकार सम्पूर्ण तत्त्वों के अपने–अपने विकार हैं, जिनको अपने वश में करने के लिए उन तत्त्वों पर विजय प्राप्त करनी होगी। अष्टाङ्गयोगी योगधारणा के द्वारा इन तत्त्वों के मूलबिन्दु चक्रों पर मन को केन्द्रित करके उनपर विजय प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें सफलता–असफलता दोनों की सम्भावना होती है। सांख्ययोगी ज्ञानयोग के द्वारा चिन्तन का आश्रय लेकर गुण–अवगुणों का विभाग करते हुए मौलिक तत्त्व तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। उनके लिए गोस्वामीजी ने कहा–

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।

किन्तु अनन्यभक्तियोग का आश्रय लिया हुआ राजयोगी, सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को आत्मरूप समझता हुआ ही अपने स्वरूप में शीघ्रातिशीघ्र स्थित हो जाता है।

(यथाकाशस्थितो नित्यं.....) अतः राजयोगी साधक को चिन्तन करना चाहिए कि 'जिसप्रकार आकाश में ही आकाश से उत्पन्न होनेवाला वायु सम्पूर्ण भूतों का अस्तित्व बना हुआ है, सम्पूर्ण भूतों का जीवन बना हुआ है; किन्तु आकाश को उससे कुछ लेना–देना नहीं है। उसीप्रकार ये सारे ब्रह्माण्डरूप प्राणी मेरे से मेरे में ही उत्पन्न होकर मेरे में ही सम्पूर्ण प्राणियों को मोहित कर रहे हैं किन्तु मेरा इन ब्रह्माण्डों से अंशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार मैं इन सम्पूर्ण प्राणियों के कार्य और करण से सर्वथा अतीत हूँ।' उसे चिन्तन करना चाहिए कि 'जिस शरीर को अपना स्वरूप समझता था तथा इससे उत्पन्न होनेवाले शुभ–अशुभ विचारों को अपना विचार समझता था, यह मात्र एक भ्रम था; क्योंकि यह शरीर तो मुझ चेतन, साक्षी में अपने–आप प्रकट हुआ और अपने–आप कारण में विलीन हो जायेगा।'

(सर्वभूतानि कौन्तेय.....) किन्तु यह बात नहीं समझ में आ रही है कि सारे भूत अन्ततोगत्वा जाते कहाँ हैं? इसका उत्तर दिया जाता है कि ये सारे भूतसमुदाय कल्प के अंत में ब्रह्म की प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और कल्प के आदि में पुनः ब्रह्म के संकल्प से ही प्रकट हो जाते हैं। जिसप्रकार यह स्वप्नजगत पुरुष के जगने के उपरान्त उसके मन में ही विलीन हो जाता है अर्थात् उसके चिदाकाश से ही स्वप्न उत्पन्न होता है और चिदाकाश में ही विलीन हो जाता है, उसीप्रकार इस जगतरूप स्वप्न की भी आयु है, जिसका संकेत आठवें अध्याय में किया गया है। अतः मन्वन्तर के समाप्त होनेपर ब्रह्म के चिदाकाश से प्रकट हुआ यह जगत उसी में विलीन हो जाता है, जैसे आकाश में बादल प्रकट होते हैं और आकाश में ही विलीन होते देखे जाते हैं। ब्रह्म की सात्त्विक, राजस तथा तामस तीन प्रकार की प्रकृति है। यह जगत राजस और तामस मिश्रित है, इसलिये महाप्रलय के समय ब्रह्म की राजस प्रकृति को प्राप्त हो जाता है। कुछ

ऐसे लोक हैं जो सतोमय एवं तेजोमय हैं, वे कल्प के अन्त में ब्रह्म की सात्त्विक प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं तथा कुछ ऐसे लोक हैं जो सम्पूर्णता से तमोमय हैं, जो प्रलय के समय ब्रह्म की तामस प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। (व्यष्टिमय प्रकृति की व्याख्या इसी अध्याय के मंत्र सं०– २५ वें में की जायेगी)

पृथ्वी से उत्पन्न हुए पेड़ अपनी उम्र समाप्त कर पुनः पृथ्वी में ही समा जाते हैं, किन्तु पेड़ का प्रलय हो जाने से उससे प्राप्त हुए बीज का प्रलय नहीं मान लेना चाहिए। वे धरतीरूपी कोश में ही सुरक्षित रहते हैं और बरसात के दिनों में पुनः प्रकट हो जाते हैं। इसी क्रमानुसार सृष्टियों का प्रलय एवं प्रकट होना मानना चाहिए; किन्तु भगवान ने 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्' कह दिया है, अर्थात् कल्प के आदि में मैं पुनः सृष्टिसहित सम्पूर्ण भूतों की रचना कर देता हूँ। क्या ऐसा कहकर प्रकृति की जगह स्वयं को सृष्टिकर्ता कह रहे हैं? हाँ सत्य है, यहाँ पर प्रभु गूढ़ात्मक रहस्य बताते–बताते भक्तों के महाप्रयाण काल के अवसर की बात बोलने लगे हैं; क्योंकि पूर्व में प्रभु ने कह दिया है कि 'मेरे भक्त का नाश नहीं होता। यदि इस जन्म में मेरे को प्राप्त नहीं कर सका तो अगले जन्म में मैं वैसा योग बना देता हूँ कि वह निश्चित ही मेरे को प्राप्त कर जाता है (गीता अध्याय– ६)।' इसलिए तो अर्जुन ने प्रश्न कर दिया– तब तो आपको सृष्टि का सृजन और संहाररूप कर्म में पाप–पुण्यरूपी दोष लगता ही होगा? तो प्रभु ने कहा– नहीं! नहीं! ऐसा मत सोचो–

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥१०॥

हे पार्थ! भूतसमुदाय की रचना उनके स्वभावानुसार अपनी प्रकृति के संकल्प द्वारा करता तो हूँ, किन्तु मैं निश्चितरूप से वहाँ उदासीन रहता हूँ; क्योंकि कर्मों में मेरी प्रीति नहीं होने के कारण से वे कर्म के दोष–गुण मुझे स्पर्श नहीं करते। हे कौन्तेय! मैं कर्ता नहीं हूँ, मेरी प्रकृति ही मेरी अध्यक्षता में सम्पूर्ण जगत की रचना करती है; इसलिए मैंने अपने को कर्ता कह दिया। स्वाभाविक ही है कि मैं अपनी प्रकृति को मना कर देता तो वह सृजन–संहार नहीं करती।

(प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य.....) भगवान ने अकारण ही 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा नहीं कह दिया। यदि ऐसा नहीं कहते तो प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता–सामर्थ्य की स्थापना हो जाती जो भगवान को प्रिय नहीं है। जहाँ प्रकृति की सत्ता–सामर्थ्य दिखाई दे रही है वहाँ भगवान मौन हैं, ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि तामस, सात्त्विक और राजस कर्मों से तो भगवान स्वाभाविक ही उदासीन हैं। हाँ!

ब्रह्मकर्मा भक्त के पास भगवान को सदा हस्तक्षेप करते हुए देखा गया है। यदि युधिष्ठिर के पराजित होते समय प्रभु मौन हैं तो इससे सिद्ध हो जाता है कि वे राजस कर्म में उदासीन हैं और एक विलक्षण बात है कि शकुनि सकामी है और युधिष्ठिर निष्कामी हैं। शकुनि अपने विजय की कामना से इष्ट का आवाहन कर रहा है और युधिष्ठिर जान–बूझकर अपने इष्ट का आश्रय नहीं ले रहे हैं। वे जान ही रहे हैं कि छल–कपट किया जा रहा है, अतः इसमें भगवान का ही कुछ हेतु है। अतः भगवान के हेतु में वे सहायक ही बन रहे हैं। भगवान जब कह रहे हैं कि प्राणियों के स्वभावानुसार, उनके प्रारब्धानुसार, मेरी प्रकृति ही उनका सृजन–संहार करती है तो प्रभु मानो कह रहे हैं– मैं वहाँ जान–बूझकर हस्तक्षेप नहीं करता। प्रभु ने जान–बूझकर जयद्रथ के द्वारा युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव की पराजय देखी। वे जानते थे कि जयद्रथ को भगवान शंकर ने अर्जुन को छोड़कर चार पाण्डवों पर एक दिन विजय प्राप्त करने का वरदान दिया है, अतः वे वहाँ पर भगवान शंकर का समादर कर रहे हैं। वे चाहते तो भगवान शंकर के वरदान को विफल कर देते तथा अभिमन्यु की भी उम्र को बढ़ा सकते थे। वह भगवान को मात्र भौतिक गुरु तो मानता था लेकिन भगवान नहीं मानता था, इसलिए भी प्रभु ने उस दिन अर्जुन को वहाँ से हटा दिया था ताकि जब कौरव पक्ष के सारे सेनापति एकसाथ अभिमन्यु का वध करते हैं तो अर्जुन के मन से द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि के प्रति जो अति पूज्यभाव है, वह चला जायेगा और फिर उत्साहित होकर अर्थात् रंग में आकर युद्ध करेंगे। भगवान अपने भक्तों को छोड़कर अन्य प्राणियों को अपने प्रारब्धानुसार जीने–मरने को छोड़ देते हैं। इसीलिए तो कह रहे हैं कि 'न च मां तानि कर्माणि' अर्थात् उदासीन रहूँ अथवा आसीन रहूँ, सम्पूर्ण कर्म मेरे ही मानने चाहिएँ, किन्तु मुझे मारने–जिलाने का पाप–पुण्य नहीं लगता; क्योंकि मेरे में तो शरीरभाव है ही नहीं। यदि शरीरभाव होता तब तो सृजन–संहाररूप कर्मबन्धन में पड़ता!

आत्मज्ञानी संत को भी सारे साधक देखते ही हैं कि वह सारे शिष्यों एवं साधकों के साथ रहता है तथा उनकी प्रकृति के अनुसार उनकी व्यवस्था भी देता है; किन्तु उनके प्रारब्धों से वह उदासीन रहता है। उसके भीतर से अति समर्पित हुए भक्त के प्रति स्वाभाविक ही वरदान निकल जाता है और जो उतना समर्पित नहीं है, उसके प्रति स्वाभाविक ही पिता या सद्गुरु जैसा व्यवहार होता रहता है। जगतरूप ब्रह्म के रूप में भी वह सम एवं शान्त बैठा हुआ है। उसका किसी से कुछ लेना–देना नहीं है। वह अपने हर अंग से मानो देख रहा है। पृथ्वी के रूप से देख रहा है कि उसमें से असंख्य प्राणी उत्पन्न हो–होकर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं, लेकिन उसका कुछ बिगड़ता–बनता नहीं है। हाँ, भगवती सीता जैसे कोई शरण माँगे तो देने को तैयार है। जल के रूप में वह सम्पूर्ण जल–जन्तुओं एवं प्राणियों से उदासीन है; किन्तु कोई श्रीराम जैसा शरण माँगे तो देने को तैयार है। अग्निरूप से वह सम शान्त है किन्तु कोई श्रीराम की तरह अपनी प्रिय वस्तु उसमें छिपाये तो उसके लिए वह तैयार है। इसीप्रकार अन्य रूपों को भी समझ लेना चाहिए।

(न च मां तानि कर्माणि.....) संत के रूप में वह ब्रह्म ही सम एवं शान्त बैठा रहता है

लेकिन जो जैसा स्वभाववाला है उसके अनुसार व्यवहार कर देता है। वह खाता–पीता, सोता–जागता अज्ञानियों जैसा ही है, किन्तु वह स्पष्ट कहता है कि मुझे ब्रह्म ही खिलाता–पिलाता, सुलाता–जगाता है, इसलिए मुझे खाने–पीने, सोने–जागने का पाप नहीं लगता। भगवान मानो कह रहे हैं कि इस समय मैं संहारक शक्ति बन गया हूँ, अपने भक्तों, संतों एवं देवताओं के कहने से। इसलिए इस संग्राम में होनेवाला दोष मुझे स्पर्श नहीं करेगा, वैसे ही जैसे साधकों के भीतर सात्त्विक शक्ति प्रकट होकर तामस और राजस वृत्ति को छिन्न–भिन्नकर मार डालती है लेकिन उसे पाप नहीं लगता। क्यों पाप नहीं लगता उस सात्त्विक शक्ति को? इसलिए कि वह जैसे ही प्रकट होती है वैसे ही अपने–आप तामस और राजस शक्ति का वध हो जाता है, अब उसमें वह क्या करे? सूर्य को जैसे पाप नहीं लगता; क्योंकि वह प्रकट होता है और अन्धकार का वध हो जाता है, उसमें सूर्य का क्या दोष है? वैसे ही ब्रह्म के संकल्प से सृष्टियाँ प्रकट होती रहती हैं। उसके उपरान्त जीव की सृष्टि के मूल में अर्थात् उसके हृदय में छिपी हुई, जो पूर्व मन्वन्तर की वासनाएँ हैं, वे सारी की सारी प्रकट हो जाती हैं, जो मनुष्य, पशु–पक्षी आदि कहे जाते हैं। इसप्रकार उनके पाप और पुण्यरूप कर्मों से ब्रह्म को कुछ लेना–देना नहीं है।

(मयाध्यक्षेण प्रकृतिः.....) ब्रह्म की संकल्पस्वरूपा आदिशक्ति ब्रह्म की प्रेरणा से ही सृष्टि का संकल्प करती है। जिसमें योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथि और नक्षत्र आदि की गणना होने लगती है, देवी–देवताओं की कल्पना प्रारम्भ हो जाती है; पर इस सृष्टि से ब्रह्म को कुछ लेना–देना नहीं है और न उसकी संकल्पशक्ति को कुछ लेना–देना है। इसप्रकार यह सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

सिद्ध–योगी भी इसी दिव्य शक्ति की उपासना करके संकल्पशक्ति को प्राप्तकर सृजन, संहार और पालन करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कैसे? क्योंकि वे कायाकल्प कर लेते हैं, मनकल्प, बुद्धिकल्प, चित्तकल्प और अहंकार का कल्प कर लेते हैं अर्थात् वे सब तत्त्वों को बदल देते हैं, तब उनका मन ब्रह्म का हो जाता है, बुद्धि और चित्त भी ब्रह्म के हो जाते हैं और व्यष्टि अहंकार, समष्टि अहंकार बन जाता है।

भगवान ने सोचा– इसे बताना चाहिए था कि मेरे को और मेरे रहस्य को मूढ़ पुरुष नहीं जानते इसलिए कहते हैं–

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

भगवान ने अब भलीभाँति देख लिया कि अर्जुन को यह स्पष्ट बोध हो गया कि मैं वासुदेव ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म हूँ, इसलिए अपने स्वरूप की भलीभाँति स्थापना अर्जुन के मन में स्वयं कर देना चाहते हैं। जैसे माँ अपने शिशु के मन में अपने और अपने पति के नाम–रूपों की

स्थापना स्वयं से कर देती है वैसे ही प्रभु कह रहे हैं– हे पार्थ! ये सारे के सारे मूढ़ मेरे रहस्यात्मक स्वरूप को तथा सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर स्वरूप को नहीं जानते हैं, इसीलिए तो ये मुझे मनुष्य समझ रहे हैं। इनमें से बहुत से मूर्खों ने एक शक्तिमान तांत्रिक और बहुतों ने महान शक्तिमान मांत्रिक तथा कुछ ने महायोगी ही समझ रखा है, इसलिए ये सब वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले मूढ़मना राक्षसी, आसुरी और मोहिनी स्वभाव को ही धारण किये रहते हैं।

साक्षात् नारायण अब अधिकारी भक्त के पास बार–बार अपने निर्गुण और सगुणरूप की प्रस्तावना स्वयं कर रहे हैं। जरासंध, कालयवन आदि असुरों के युद्ध के मैदान से भाग जानेवाले, गाँव के गँवार कहे जानेवाले, असुरों के द्वारा भगोड़ा सिद्ध किये जानेवाले प्रभु अब अर्जुन से कह रहे हैं कि 'मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म तुम्हारे तथा संतों–भक्तों के उद्धार के लिए ही सगुणरूप में प्रकट हुआ हूँ।' अभी कुछ समय पूर्व (चौथे अध्याय में) जो कहा था, वही यहाँ कह रहे हैं, किन्तु महात्मा अर्जुन उस समय विशेष शोक से संतापित होने के कारण से प्रभु के द्वारा स्वयं ब्रह्म की घोषणा करने पर भी कोई विशेष महत्त्व नहीं दे पाये थे। अब वे पूर्व के अर्जुन नहीं हैं। अब तो महत् मुमुक्षुपद को प्राप्त हुए भगवान के पहले वरद पुत्र अर्थात् शिष्य हैं और अन्तिम शिष्य हैं, जिनके सामने प्रभु सम्पूर्णता से प्रकट हो गये हैं।

उपरोक्त मंत्रों द्वारा– ब्रह्मज्ञानी ही सम्पूर्ण भूतों का महेश्वर होता है, वही सगुण–साकार ब्रह्म के रूप में आराध्य होता है, भगवान इसप्रकार का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उत्तम अधिकारी शिष्यों के द्वारा अपने–आप को ही सम्पूर्णता से समर्पित करने में थोड़ी भी भूल न हो जाये, इस बात का ध्यान रख रहे हैं। दो प्रकार की सगुण उपासना है– १. निर्गुण–निराकार उपासक का सगुण ब्रह्म– जो सद्गुरु ही होता है। वह समझता है कि ये ही साक्षात् सगुण ब्रह्म हैं और मेरे लिए पिघलकर निर्गुण–निराकार बन जायेंगे। २. सगुण उपासक का सगुण ब्रह्म– जो निर्गुण–निराकार से प्रकट होनेवाला विश्वरूप ही है। गुरु के माध्यम से वह उसी को चाहता है। एक तीसरा भी पुरुष है जो केवल अपने को चाहता है, न सगुण ब्रह्म को चाहता है, न विश्वरूप को चाहता है, बल्कि स्वयं को जानने के लिए सद्गुरु की उपासना करता है; किन्तु जो मूर्ख हैं, वे तो इसी लोक में ज्ञानी कहलाने के लिए ही शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न भौतिक गुरु की ही उपासना करते हैं। सबने सुना ही है कि असुरों ने शुक्राचार्य जैसे तांत्रिक–मांत्रिक को ही गुरु बनाया था; इसलिए कि वे अपने तंत्र–मंत्र के बल से उन्हें स्वर्गाधिपति बनाते रहेंगे। प्रभु ने यहाँ पर थोथे ज्ञान रखनेवालों की भरपूर अवहेलना की है तथा जो समाज में वाक्पटु कहे जाते हैं, उनके कर्मों की भी हँसी उड़ाई है। वे कहते हैं कि उनकी आशा व्यर्थ है क्योंकि उन्हें वह स्वयं मिथ्या बनाती रहती है। वे कभी राक्षसी स्वभाव को धारण करते हैं, तो कभी तामसी प्रकृति में सोते और राजसी प्रकृति में जागते रहते हैं। वे असुरों की दृष्टि से देखते हैं, असुरों का ही भोजन करते हैं और असुरों का सा जीवन जीते हैं। अतः यदि सामर्थ्य हो तो उनके विलासी जीवन को छिन्न–भिन्न कर देना चाहिए।

भगवान यहाँ मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! जिसे तुम बड़ी महत् दृष्टि से देख रहे हो, ब्रह्मचर्यपद में प्रतिष्ठित और परम ज्ञानी समझ रहे हो, उन पितामह जैसा यहाँ कोई मूढ़ भी नहीं है। ये मूढ़ों की आत्मा हैं। मूर्खों का सेनापति, मूर्खों की आत्मा ही तो होता है; जबकि मैं तुम्हारे जैसे भक्तों की आत्मा हूँ।

हे पार्थ ! जब ये नराधम कल्याणी द्रौपदी का चीरहरण नहीं कर पाये तो इनकी मण्डली बैठी इस पहेली को बूझने के लिए कि आखिर द्रौपदी की साड़ी बढ़ानेवाला कौन है? दुर्योधन ने सर्वप्रथम रहस्यों के बुझक्कड़ पितामह (भीष्म) से पूछा। पितामह ने कहा– यह जिस भगवान को मानती–जानती है उसी भगवान ने इसपर कृपाकर साड़ी बढ़ाकर लाज बचायी है। द्रोणाचार्य ने पितामह का समर्थन कर दिया कृपाचार्य ने भी लगभग उनका अनुमोदन यह कहकर किया कि हाँ, यह यज्ञकुण्ड से प्रकट हुई है, इसलिए यज्ञ भगवान ने साड़ी बढ़ा दी। कर्ण से पूछने पर उसने कहा– मित्र मैं तो यह मानता हूँ कि इसने कोई मंत्र सिद्ध किया है उस मंत्र देवता ने ही साड़ी बढ़ायी है। दुर्योधन को तो भी सन्तोष नहीं हुआ तब उसने महापण्डित मामा शकुनि की तरफ देखा। उन्होंने कहा– क्या देख रहे हो मूर्ख! लोगों के चक्कर में क्यों आ रहे हो? यह कौन सी बड़ी बात हो गयी है। ऐसा चमत्कार तो आये दिन जादूगर दिखाते रहते हैं। वैसा ही चमत्कार इस बड़बोली द्रौपदी ने दिखाया है। यह जादूगरों की तरह ही तो तन्त्र जानती है, उसी का प्रयोग कर दिया और तुमलोग व्यर्थ में डर गये। दुर्योधन सहित सभी कौरवों ने ताली बजाकर रहस्यों के ज्ञाता मामा शकुनि को बधाई देकर कहा– मामाजी के जैसा रहस्यों का बुझक्कड़ (समझनेवाला) कौन है! हे पार्थ! ये सब वही रहस्य बुझक्कड़ हैं जो रहस्य को बूझते–बूझते यहाँ तक पहुँचे हैं। उन्हें क्या पता कि कल्याणी द्रौपदी का वस्त्र स्वयं मैं ही बन गया था।

भगवान की बात सुनकर संजय खिलखिलाकर हँस पड़े। धृतराष्ट्र ने पूछा– क्यों हँस रहे हो संजय?

कहने योग्य बात नहीं है– राजन्!

अरे! बताओ तो सही! अब तो जो मार पड़नी थी पड़ ही रही है। माधव को तो मैं भला–बुरा कहने से रहा।

तो सुनें राजन्! भगवान कह रहे हैं कि मूर्खों की मण्डली नियमबद्ध पंक्ति में खड़ी है, जो दो–चार रहस्य बूझक्कड़ों के पीछे चल रही है।

कहीं पितामहभीष्म और द्रोणाचार्य आदि के लिए तो ऐसा मधुसूदन नहीं कह रहे हैं? धृतराष्ट्र ने पूछा।

अच्छा हुआ आपने समझ लिया राजन्! बहुत भरोसा था सबको कि पितामह आत्मज्ञानी हैं, परन्तु इनके ज्ञान की प्रभु ने धज्जी–धज्जी उड़ा दी है।

भारी मन से धृतराष्ट्र ने गहरी श्वास लेते हुए कहा– चलो, आगे बढ़ो।

अर्जुन ने मन में सोचा क्या महात्माजन भी इन माधव को ही सगुण ब्रह्म समझते होंगे? प्रभु ने मन की बात जानकर कहा–

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

हाँ, हाँ क्यों नहीं, पार्थ! वे सन्तजन ही तो मुझे पहचानते हैं। विदुर, व्यास, पराशर, परशुराम, गर्ग, दुर्वासा आदि सभी तो मुझ निर्गुण–निराकार की इस कृष्णरूप से भी उपासना करते हैं। वे सबके सब मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को सम्पूर्ण भूतोंसहित अपना भी आदिकारण समझकर अनन्यभाव से मेरी उपासना में लगे रहते हैं। उनकी दृष्टि में इस समय मेरे सिवा यहाँ कोई ब्रह्म नहीं है। इसलिए सदा मेरे ही नामगुणों का संकीर्तन करते हुए वे दृढ़व्रती मेरी ही उपासना में लगे रहते हैं।

प्रभु का संकेत है कि 'जो मेरे अन्तरंग भक्त हैं, वे दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर मेरा भजन करते हैं।' तो यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि वह दैवी प्रकृति है क्या? हाँ, ब्रह्मप्रकृति ही दैवी प्रकृति है। सद्गुरु ने जो नाम जपने के लिए दिया, वही ब्रह्मप्रकृति है; जो स्वाध्याय करने को ग्रन्थ दिया वही ब्रह्मप्रकृति है; जो व्रत, तप, योग करने को दिया वही ब्रह्मप्रकृति है और सबमें ब्रह्म व्याप्त है, सब ब्रह्म के सगुणरूप ही हैं, यह परम भाव ही तो ब्रह्मप्रकृति है। इसी ब्रह्मप्रकृति का आश्रय लेकर वे सन्त, भक्त, साधकगण सदा–सर्वदा प्रभु प्राप्ति के यत्न में लगे रहते हैं। प्रभु राजयोग के अन्तर्गत 'मया ततमिदं' का ही इन मंत्रों द्वारा विस्तार कर रहे हैं। इस योग में क्रिया नहीं दिखाई पड़ती। तो क्या दिखाई पड़ता है? हाँ, त्याग फिर दर्शन। अर्थात् जो गृहस्थाश्रमी राजयोगी हैं, वे मन से बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों को सगुण ब्रह्म का अंश समझते हुए, बाहर से अपने पद के अनुरूप व्यवहार करते हुए गुरु आदेशानुसार गृहस्थाश्रम में ही आत्मरूप होने का प्रयास करें तथा जिन्होंने संन्यास ले लिया वे सदा–सर्वदा के लिए घर, गाँव, क्षेत्र में न जाने का व्रत लेकर मन और तन से बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों को त्यागकर इस जगतरूपी ब्रह्मनगरी में तबतक अज्ञात होकर सगुण आत्माओं का दर्शन करते हुए भ्रमण करें, जबतक भलीभाँति अपने स्वरूप में स्थिति नहीं हो जाती। वह परिव्राजक होकर न किसी प्राणी को, न किसी पदार्थ को साथ रखता है बल्कि सबकुछ परिपूर्ण चेतन ब्रह्म है, ऐसा सोचकर दर्शन करते हुए, आज यहाँ कल वहाँ घूमता रहता है। चाहे कोई आदर दे या अनादर करे, चाहे ब्रह्म भूखा रखे या पेट भरे, इसकी चिन्ता नहीं करता। भ्रमणकाल में स्त्री–पुरुष नामक ब्रह्म दिखाई पड़ते हैं, बालक–बालिका नामक ब्रह्म दिखाई पड़ते हैं, पशु–पक्षी नामक ब्रह्म दिखाई पड़ते हैं, पेड़–पौधे नामक ब्रह्म दिखाई पड़ते हैं, नदी, नाले, सरोवर नामक ब्रह्म दिखाई पड़ते हैं। इसप्रकार सारी आकृतियों के

द्वारा होते हुए कर्म को वह ब्रह्मक्रीड़ा समझकर आनन्दित होता रहता है। दर्शनकाल में कभी उसके नैनों से प्रेमाश्रु की धारा बहती है तो कभी लीला–विनोद को देखकर उसके हृदय से राग–रागिनीमय दिव्य मंत्र एवं छन्द आते हैं, जिनके द्वारा वह वन्दना करता है। कहीं मन से साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए चलता है, कभी अपने ब्रह्म से मधुकरी माँग लेता है और कभी भूख लगने पर भूख से ही कहता है– 'तुम भूख बनकर आ गये? कभी भूख बनकर आते हो तो कभी रोटी बनकर। तो जाओ! तुम्हारे से आज रोटी माँगूँगा ही नहीं, इसप्रकार वह दोनों में जीता है। कभी गृहस्थ नामक ब्रह्म के दरवाजे पर जाकर श्वानवृत्ति से मौनी होकर बैठ जाता है। पूछने पर कि भूखे हो? किन्तु वह तो बोलता ही नहीं बल्कि दर्शन ही करता रह जाता है। जब वह ब्रह्म लाकर हाथों पर दो रोटी दे देता है तो अहा! अहा!! अहा!!! ऐसा आनन्द में भरकर प्रभु प्रसाद लेकर खा लेता है। उसकी यह अविनाशी साधना ऐसी है, जिसमें घी–दूध, फल–फूल, साग–सब्जी की आवश्यकता नहीं होती; ध्यान–समाधि की आवश्यकता नहीं होती। उसके द्वारा यह ब्रह्म–दर्शन ही साधन–साध्य दोनों है। वह मन में अपने भगवान को किसी जाति और वर्ग से नहीं देखता बल्कि सबके नाम के आगे भगवत् उपाधि को जोड़ देता है। वह स्पष्ट देखता है– स्त्री भगवान, पुरुष भगवान, बालक भगवान, बालिका भगवान, अन्न भगवान, फल–फूल भगवान, गाय भगवान, भैंस, घोड़ा, हाथी भगवान; बकरा, बकरी, सूअर, भगवान, पक्षी, कीट–पतिंगे भगवान अर्थात् सब भगवान ही भगवान हैं। वह कभी चौराहे पर सोता है तो कभी पेड़ के नीचे, कभी गलियों में सोता है तो कभी मन्दिरों एवं खण्डहरों में। उसका सर्वव्यापक भगवान कभी उसको भूखा रखता है तो कभी मलाई खिलाता है, कभी वस्त्रों से आच्छादित कर देता है तो कभी कौपीन को भी ले लेता है। महाराज के परम पूज्य गुरुदेव वन में बेल के पेड़ के नीचे से पके हुए बेलफल को उठाकर एक पत्थर पर रखकर शौच होने लगे, तो उनके बन्दर भगवान आये और बेलफल लेकर चलते बने। गुरुदेव इस मधुर लीला को देखकर हँसते हुए से बोले– तुम्हीं पेड़ बनकर देते हो और बन्दररूप में लेते हो। अच्छा, अच्छा, अच्छा! तुम कह रहे हो कि अभी बेल मत खाओ, तपस्या करो तथा तुम यह भी कह रहे हो कि तुम पेड़ों के नीचे का फल भी मत उठाना, जब मैं आकर खिलाऊँ तभी खाना तो ठीक है आज से मैं ऐसा ही करूँगा। इसप्रकार वे दृढ़व्रती संत भगवान के नाम, गुणों एवं लीलाओं का सतत् कीर्तन करते हुए मगन रहते हैं। वे कहते हैं कि जबतक मेरा इष्ट मुझे मिल नहीं जायेगा तबतक मैं व्यवहार में आऊँगा ही नहीं; जगत से बोलूँगा ही नहीं, जगत की तरफ देखूँगा ही नहीं।

उन अहर्निश भजन करनेवालों में कोई भेद भी है क्या? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

हाँ पार्थ! उन मेरे परम प्रिय भक्तों में से कोई तो मेरी उपासना ज्ञानयोग के द्वारा करते हैं, कोई एकत्वभाव से करते हैं और कोई–कोई विश्वरूप के द्वारा तथा अन्य भक्त स्वामी एवं सेवकभाव द्वारा उपासनाकर मुझे प्राप्त कर जाते हैं।

सर्वप्रथम हमसब भगवान के संकेतानुसार ज्ञानयोग के विषय में चिन्तन करें, इसके विषय में स्वयं भगवान ने अभी कुछ समय पूर्व ज्ञानयोग की प्रस्तावना की है, 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः' (गीता अध्याय ४, मंत्र सं० २८)। जिस निर्गुण–निराकार ब्रह्म की उपासना में, सद्गुरु के सान्निध्य में रहकर तप के साथ स्वाध्याय और सत्संग की आवश्यकता होती है, उसी ब्रह्म की ज्ञानयोग के द्वारा कुछ भक्त उपासना करते हैं। शास्त्रों में ज्ञानयोग की सात भूमिकायें दी गई हैं–

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत्।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः।।

विचारणाद्वितीया स्यातृतीयाऽसश्चभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका।।

शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति।।

स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकनघाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः।।

तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम्।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्।।

(संक्षिप्त योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण पू०, पृष्ठ सं० ५००)

सद्गुरु के मुख से सत्संग के द्वारा भलीभाँति आध्यात्मिक शास्त्रों का 'श्रवण' करना यह पहली भूमिका है, जिसका नाम है– श्रवण। सुनकर उसपर चिन्तन–मनन करना, विचारणा नाम की दूसरी भूमिका है। संसार के संग से रहित होकर सदा अपने स्वरूप में स्थित रहने का अभ्यास करना 'निदिध्यासन' नाम की तीसरी भूमिका है। अपने स्वरूप में स्थित होकर वासनाओं का अत्यन्ताभाव होना 'विलापनी' नाम की चौथी भूमिका है। संसार स्वप्नवत् प्रतीत होना विशुद्ध चिन्मय 'आनन्दस्वरूपा' नाम की पाँचवीं भूमिका है। किसी क्षण संसार स्वप्नवत् भी दिखाई नहीं पड़ता बल्कि सर्वत्र भीतर–बाहर व्याप्त अपने–आप को ही देखना विज्ञानानन्दघन 'परमात्मदर्शनरूपा' नाम की छठी भूमिका है, इसी को 'तुर्यगा' नाम से भी जाना जाता है। तथा 'विदेहमुक्तता' नाम की सातवीं भूमिका है, जो शरीर छोड़ने के उपरान्त प्राप्त होती है, जिसकी अनुभूति शरीर के रहते ही हो जाती है।

(एकत्वेन पृथक्त्वेन.....) प्रभु ने पहले सिद्धान्त दिया था और अब वे इन मंत्रों के द्वारा प्रयोग की विधि बता रहे हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि का प्रयोग आप देख रहे हैं। उपासकों में से कोई दूसरा एकत्वभाव से उपासना करता है, जिसे राजयोग कहते हैं अथवा ब्रह्मयोग कहते हैं। वह कहता है–

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

(अर्थात् अभिन्नभाव से उपासना करनेवाले को ही ब्रह्मयोगी कहते हैं। वह संन्यास लेकर परिव्राजक संन्यासी अजगरवृत्ति, आकाशवृत्ति, भिक्षावृत्ति, श्वानवृत्ति अथवा खगवृत्ति आदि के अनुसार जगत में भ्रमण करता हुआ, चिन्तन करता हुआ चलता है) मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्रुवा हूँ, मैं ही हवि, अग्नि, मंत्र आदि सबकुछ हूँ। इतना ही नहीं, जगत का माता–पिता और पितामह भी मैं ही हूँ, वेदों में ॐकार तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि भी मैं ही हूँ। मैं ही सबकी मति, गति, प्रभु, साक्षी तथा शरण लेने योग्य एवं सुहृद हूँ, मैं ही उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति का आधार, निधान एवं अव्यय कारण भी हूँ। मैं कहाँ तक कहूँ, मैं ही सूर्य होकर तपता हूँ तथा अमृत एवं मृत्यु तथा सत्–असत् भी हूँ।

वह समझता है कि मेरे संकल्प नामक कुण्ड में से नानाप्रकार के प्राणिपदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं, जो संकल्परूप ही हैं। वे ही अग्नि की लपटें हैं। उन्हीं नानाप्रकार की अग्नि की लपटों में अज्ञानरूप कर्ता के द्वारा भावरूपी हवि की आहुति दी जाती है। इसके पूर्व के मंत्रों में बताया गया है कि स्वप्न में चित्त के अलावा कुछ है ही नहीं। जिसप्रकार स्वप्न–जगत द्रष्टारूप आत्मा का ही स्वरूप है, उसीप्रकार यह जाग्रत् नामक स्वप्नमयब्रह्म मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म का ही रूप है। वह जप, तप, योग, ध्यान तथा स्वाध्याय से रहित हुआ; स्वयं का साक्षी होकर ही तन, मन, वचन और हृदय का भी द्रष्टा बन जाता है। पूर्व में 'मया ततमिदं' की जो व्याख्या हुई है, वह चिन्तन इस ब्रह्मयोगी का ही चिन्तन है। वह तबतक ऐसी स्थिति में रहता है जबतक दर्शन, चिन्तनसहित यह सम्पूर्ण दृश्यवर्ग उसके चित्त से ओझल नहीं हो जाता। तो फिर वह बिना चित्त के कैसे रहता है? हाँ, वह ब्रह्मचित्तवाला होकर रहता है। वैसी अवस्था में ही आन्तरिक सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, जिन्हें अष्टसिद्धि एवं नवनिधि कहा गया है। जब वह ब्रह्मयोगी उन सिद्धियों को भी अपने सात्त्विक मन का संकल्प ही समझ लेता है, तब वह निश्चितरूप से ब्रह्मजगत में पहुँच जाता है। उस अवस्था में पूर्व के मनन, चिन्तन और निदिध्यासन किये हुए को माया समझते हुए ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इसप्रकार वह दिव्य योगी कभी चौबीस घण्टे में एक बार सात्त्विक हल्का आहार प्राप्त करता हुआ, कभी दो दिन पर, कभी तीन दिन पर, कभी चार दिन

पर, कभी पाँच दिन पर, कभी आठ या दस दिन पर प्राप्त हुए सात्त्विक हल्के आहाररूप प्रसाद को पाता हुआ तमोगुण को रजोगुण में विलीन कर देता है अर्थात् वह तपोनिष्ठ ब्रह्मचिन्तन करता हुआ तमोगुण को रजोगुण में लीन कर देता है तथा सतोगुण की अवस्था आने पर ज्योतिर्मय ध्यान तथा नादमय ध्यान को त्यागता हुआ सत्त्व में ही स्थित रहता है अर्थात् द्रष्टामय ही बना रहता है। उस अवस्था में सतोगुण इस शरीर को निष्क्रिय करता जाता है। जैसे–जैसे शरीर निष्क्रिय होता जाता है वैसे–वैसे स्मृति फैलती जाती है; जैसे–जैसे स्मृति फैलती जाती है वैसे–वैसे शरीर सुन्न होता जाता है और संसार ओझल होता जाता है। एक दिन ऐसा चमत्कार होता है कि न वहाँ संसार रहता है न शरीर, केवल वहाँ द्रष्टा होता है। न वहाँ आकाश ही होता है, न वायु, न अग्नि, न जल और न पृथ्वी, न वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और न अन्धकार और प्रकाश ही होता है; बल्कि वहाँ एकमात्र परम चेतन ही होता है अर्थात् वही रहता है, वही रहता है, वही रहता है जो स्वतः से आनन्दमय, शान्तिमय कहा जाता है अथवा जिसको जो अच्छा लगे उसी नाम से पुकारे। वैसी अवस्था में ब्रह्मपद पर होकर अपने अन्तरंग उपासकों से कहता है (जैसा कि भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं) कि मैं ही जगत का माता–पिता तथा धारण करनेवाला पितामह हूँ अर्थात् मैं ही मूलप्रकृति तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता हूँ। मैं ही परम पावन करनेवालों में जानने योग्य ॐकार तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद भी हूँ। 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः.....' मैं मन का पिता हूँ, बुद्धि का पिता हूँ, चित्त का पिता हूँ तथा सम्पूर्ण देवी–देवताओं का पिता–पितामह अर्थात् सबकुछ मैं ही हूँ।

'मैं आत्मा हूँ' मानकर आत्मरूप होना भी कम कठिन नहीं है। कोई अपने को आत्मा माने और दूसरे को पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे, मनुष्य तथा देवी–देवता आदि माने तो ऐसा नहीं हो सकता। भगवान को भगवान और अपने को जीव मानेंगे तो भी एकत्वयोग अर्थात् ब्रह्मयोग नहीं होगा। इतना ही नहीं, यह तो भक्तियोग भी नहीं कहा जायेगा, क्योंकि भक्त अपने को जीव नहीं मानता बल्कि भगवान का अंश मानता है या भक्त मानता है। जब वह कहता है कि सब कुछ मैं ही हूँ तो स्पष्ट है कि वह सृजन, संहार और पालनरूप ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न रहता है। उसके पूर्व यदि ऐसा कह रहा है तो वह उसका अभ्यास माना जायेगा। वह पुनः कहता है–

(गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी.....) आत्मज्ञानी जहाँ रहता है वहीं परम धाम माना जाता है और इतना ही नहीं अपने भक्त को जहाँ रहने को कह देता है तो उसकी आज्ञा होने के कारण वह भक्त जहाँ रहता है वहाँ भी परम धाम हो जाता है। उस परम धाम को प्राप्तकर लेने के उपरान्त स्वयं का स्वरूप अर्थात् धाम प्राप्त करना होगा। इसलिए कहता है कि शरण लेने योग्य मैं ही हूँ। मानो वह आवाहन कर रहा हो– हे जिज्ञासुओं! मेरे यहाँ आओ! वन में या गुफा में क्या बैठे हो या घर–गाँव में क्या बैठे हो? तुम्हारा भरण–पोषण, तुम्हारा जप, तप, योग नहीं करेगा बल्कि मेरे द्वारा प्राप्त ज्ञान ही करेगा। उसपर किसी का शासन न होने से तथा सब पर उसका शासन होने से वह कहता है कि मैं ही प्रभु हूँ, मैं ही शुभाशुभ को दिखानेवाला और देखनेवाला हूँ। हे साधक! तुम अपनी बुद्धि के द्वारा शास्त्र से शुभाशुभ का विभाग नहीं कर सकते। यद्यपि

मैं साक्षी हूँ, किन्तु तुम्हारे लिए मेरे से बढ़कर कोई वासस्थान नहीं हो सकता। तुम अज्ञानियों की शरण में क्यों हो? तुम मेरी शरण में क्यों नहीं आते; क्योंकि मैं बिना उपकार चाहे ही उपकार किया करता हूँ, इसलिए सुहृद कहलाता हूँ। मेरे से ही सम्पूर्ण राजयोग के दिव्य भाव प्रकट होते हैं तथा विषादयोग का प्रलय होता है। अतः दिव्य स्थानों (जहाँ अपने स्वरूप की स्थिति बनती है) एवं सम्पूर्ण प्राणियों का निधान मैं ही हूँ अर्थात् हे साधक! तुम्हारे सारे के सारे स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि भावरूप विचार मेरे पास अपने–आप तिरोहित हो जायेंगे क्योंकि मैं ही तुम्हारा अविनाशी कारणरूप बीज भी हूँ। वह कहता है– (तपाम्यहमहं वर्षं.....) मैं सूर्य होकर तपता हूँ तथा जल को आकर्षित कर वर्षामय बन जाता हूँ। इतना ही नहीं, मैं ही विष–अमृत एवं जीवन तथा सत्–असत् भी हूँ।

यह सृष्टि ब्रह्म के विचार की एक धारा है, उसीप्रकार बहुत सी सृष्टियाँ उसकी विचाररूपी तरंगें हैं। जैसे समुद्र में एक लहर के बाद दूसरी लहर प्रकट होती रहती है, किन्तु जब साक्षात् समुद्रदेवता प्रकट होगा और चाहेगा कि लहरें न हों तो लहरें उत्पन्न नहीं होंगी। जैसे श्रीराम प्रभु से समुद्र ने कहा था– हे प्रभु! मैं सम शान्त हो जाता हूँ, बिना लहरों का जलरूप ही हो जाता हूँ और आप इसपर सेतु बनाकर पार कर लें, उसीप्रकार वह विचाररूप तरंगों को स्तम्भित भी कर सकता है। इस बात में आश्चर्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि विश्वामित्र ने मंत्र के द्वारा ज्ञानावस्था में नहीं बल्कि मंत्र की सिद्धावस्था में नई सृष्टि की रचना कर दी थी। जब अज्ञानावस्था में मंत्र की इतनी सामर्थ्य है तो आत्मज्ञानी के पास कितनी सामर्थ्य हो सकती है, इसकी तुलना नहीं की जा सकती। अमृत भी उसके शासन में रहता है। प्रभु श्रीराम ने इन्द्र से कहा था कि आप अमृत की बरसात कर दो ताकि सारी वानरी सेना जीवित हो जाय। इन्द्र ने कहा कि हे प्रभु! इस रणभूमि में तो असुर भी मरे पड़े हैं! वे भी जीवित हो जायेंगे? प्रभु ने कहा– अमृत मेरे शासन में है देवराज! वह बिना मेरी इच्छा के असुरों को जीवित नहीं कर सकता। उसीप्रकार विष भी आत्मज्ञानी के लिए अमृत बन ही जाता है। भगवती 'मीरा' आधुनिक युग में इसकी प्रमाण हैं। अतः उसी के शासन में सत्य की भी सत्ता है और असत्य की भी सत्ता है। युधिष्ठिर ने भगवान के कहने पर असत्य बोला लेकिन उन्हें पाप ने स्पर्श नहीं किया। कहने का तात्पर्य है कि आप जीवन–मृत्यु, सत्य–असत्य की तरफ न देखें! यदि आपने एक अंश भी देखा, तो जीव की श्रेणी में चले जायेंगे।

इसप्रकार ब्रह्मयोगी साधक को जबतक ऐसी शक्ति–सामर्थ्य न आ जाय अथवा स्वयं की सिद्धि न आ जाय, तबतक अखण्ड राजयोग में ही विश्राम करते रहना चाहिये। जो खण्डित साधना करता है, वह खण्डित ही हो जाता है। गृहस्थ भी अपने बाल–बच्चों के लिए अखण्ड ही जी रहा है, तभी तो उसे चौबीस घण्टे में एक मिनट का भी समय नहीं है ताकि वह प्रभु का नाम–स्मरण भी कर ले, तीर्थ में जाकर सद्गुरु के आश्रम में सत्संग कर ले! वह बाल–बच्चों के लिए अखण्ड जीकर सदा–सदा के लिए खण्डित हो गया है। अतः भक्तों को सदा–सर्वदा अपनी साधना को अखण्ड करके अखण्डित हो जाना चाहिये।

(.....पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्) ब्रह्म का भजन करनेवालों में कोई स्वामी–सेवक भाव से ही उपासना करते हैं, जैसे– हनुमान, उद्धव, विदुर आदि। स्वामी–सेवक भाव इतना प्रगाढ़ होता है कि बाली ने प्रभु श्रीरामजी से परमपद स्वीकार ही नहीं किया। उसने कहा कि अपने कर्मों के वशीभूत होकर मैं जहाँ–जहाँ जन्म लूँ, वहाँ–वहाँ आपका दास बनूँ।

महाराज के परम पूज्य गुरुदेव के पास उनके एक गृहस्थाश्रमी भक्त को लाया गया; जिसे साँप ने काट खाया था। गुरुदेव ने यहाँ तक पूछा कि क्या तुम जीवित होना चाहते हो? उसने कहा– नहीं। फिर उन्होंने कहा– क्या चाहते हो? तो उसने कहा– मैं शरीर छोड़ने के बाद आपके दास के रूप में ही जन्म लेना चाहता हूँ। जिस–जिस योनि में मैं अपने कर्म के वशीभूत हो जन्म लूँ, वहाँ–वहाँ मैं आपके चरणों का ही अनुरागी बना रहूँ। तो ठीक है ऐसा ही होगा ऐसा गुरुदेव से वरदान पाकर उनकी छवि को हृदय में धारणकर शरीर छोड़ दिया।

(बहुधा विश्वतोमुखम्.....) माँ मन्दोदरी के द्वारा विश्वरूप की उपासना की गई है; क्योंकि रावण की हठधर्मिता पर उसने उसके सामने अपने इष्ट–विश्वरूप का ही सांगोपांग वर्णन किया है, जो लंकाकाण्ड में दोहा सं०–१४ से लेकर १५ तक वर्णित है। वह कहती है कि जो विश्वरूप भगवान हैं, वे ही भक्तों एवं संतों का उद्धार करने के लिए राजा दशरथ के घर में मनुष्यरूप में अवतरित हुए हैं, वही आपका महाकाल बनकर यहाँ आये हुए हैं। हाँ, यह बात अलग है कि यदि आप भक्त बनकर शरणागत हो जाते हैं, तो वे आपके लिए अमृत बन जायेंगे। विश्वरूप का सांगोपांग वर्णन एकादश अध्याय में किया गया है। (बहुत से साधकों, संतों को विश्वरूप की उपासना सुगम लगती है। कुछ भक्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना करते हैं। यदि वे भी निष्काम उपासना कर रहे हैं, तो प्रभु की कृपा से निश्चितरूप से कभी न कभी राजयोगी बन जायेंगे) महात्मा अर्जुन ने मन ही मन प्रश्न किया– जो इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य आदि देवताओं की उपासना करते हैं, तो फिर उनकी गति क्या होती है? इसपर प्रभु ने कहा–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

उनके लिए तो यही अर्थ होता है पार्थ! कि वे यजुर्वेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद इन तीनों वेदों में जो वर्णित साधनायें हैं, उन देवमंत्रों की साधनाओं को स्वर्ग की कामना से करते हैं और उतने

अनुपात में कर लेते हैं कि शरीर छोड़ देने के उपरान्त देवलोक मिल जाये तो वहाँ जाकर पुण्यफलरूप, अपने सुख और ऐश्वर्यों को भोगकर पुनः पापरूप फल को भोगने के लिए पृथ्वीलोक पर चले आते हैं। इस मृत्युलोक में राजपद, इन्द्रपद की छाया ही है जिसे भोगकर पुनः नरकादि लोकों को चले जाते हैं।

स्वर्ग की कामना अर्थात् सुख भोगने की कामना संन्यासाश्रमी साधकों के मन तक प्रवेश कर गई है। आजकल विरले साधक पाये जा रहे हैं जो संन्यासधर्म का सांगोपांग पालन कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो इसके पीछे स्वर्गीय सुख की कामना ही तो है। भगवद्भक्त यदि स्वाध्यायी है और दिनभर स्वाध्याय नहीं कर पा रहा हो, जापक प्रभु नाम का जप अखण्ड दिनभर नहीं कर पा रहा हो, ध्यानी रातभर ध्यान नहीं कर पा रहा हो तो जानना चाहिए कि कहीं न कहीं उसे सुख भोगने की कामना है। आपका पुण्य भी स्वर्ग ही चाहता है, क्योंकि जैसे ही आप भगवान के लिए घर छोड़ते हैं, वैसे ही वे माता–पिता, भाई–बान्धव कहते हैं कि अभी खाने–पीने एवं सुख भोगने का अवसर है, बुढ़ापे में चले जाना भगवान के लिए! वे रोते हैं, गाते हैं, विकल होते हैं। वहाँ पर कौन बोल रहा है? आपका पुण्य ही तो है। आप नहीं देखते– जैसे ही आप भगवान के लिए संन्यास लेते हैं, वैसे ही जगत के लोग आपकी आरती उतारते हैं। वह कौन कर रहा है? आपका पुण्य ही तो है। इसपर आप विचार करें।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जो श्रम स्वर्ग प्राप्ति की साधना करने में लगता है, वही श्रम तो भगवान को प्राप्त करने की साधना में लगता है। हाँ, इतना सत्य है कि स्वर्ग की प्राप्ति शीघ्र होती है और ब्रह्म की प्राप्ति देर से होती है; किन्तु कैसी मूर्खता है? इस बात पर कोई विरले ही ध्यान देते हैं कि भगवत्प्राप्ति की साधना को छोड़कर लोग स्वर्गप्राप्ति की साधना को ही स्वीकार करते हैं!

महाराज तो यह देख रहा है कि आकाशवृत्तिवाले संत के शरणागत भक्त भी उसके प्रसाद को पाकर मेरे–तेरे करने में लगे रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सद्गुरु के पास भी स्वर्गीय सुख भोगने में ही लगे रहते हैं। उसके पास तो दिव्य स्वर्ग रहेगा ही रहेगा, किन्तु साधक का कर्तव्य है कि उस वैकुण्ठलोक में सिद्धलोक का वासी होकर रहे। त्यागी के पास रागी बनकर रहनेवाले को तो महापाप ही लगता है। यदि संत मिल गया तो संत के जीवन से कठोर जीवन उसके निकटस्थ साधकों का हो जाता है। प्रभु श्रीराम को चित्रकूट का मार्ग दिखाने के लिये भरद्वाज ने अपने शिष्यों को पुकारा– पचासों आ गये। उन सबने कहा कि मैं अच्छीप्रकार से रास्ता जानता हूँ, मैं अच्छीप्रकार से रास्ता जानता हूँ; किन्तु उन बहुत से शिष्यों में से उन तीन–चार साधकों को ही प्रभु श्रीराम के साथ भेजा, जो कुछ जन्मों से ब्रह्म की निष्काम सेवा करते चले आ रहे थे। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न ने प्रभु श्रीराम की त्यागवृत्ति को बहुत निकट से पहचाना, यही कारण था कि वे तीनों ही जीवनपर्यन्त त्यागवृत्ति से ही रह गये। हनुमानजी की त्यागवृत्ति तो देखते ही बनती है। कितने साधक कहते हैं कि अब गुरुदेव मिल गये तो भी साधना ही करनी पड़ेगी क्या? जप, तप, योग ही करना पड़ेगा क्या? हमारे लिए तो गुरुदेव ही

सबकुछ कर लेंगे। बात तो सही है; किन्तु आप आरुणि, उपमन्यु, सत्यकाम आदि हैं तब तो! अथवा राजा जनक, मदालसा, मंदोदरी हैं तब तो! यदि सद्गुरु को पाकर एक अंश मात्र भी राग–द्वेष आ रहा है तो आपको अभी भीतर से सद्गुरु नहीं मिला अर्थात् आपने अपने हृदय में सद्गुरु को नहीं उतारा। यदि आपके भीतर–बाहर, दायें–बायें, सद्गुरु विराजमान हो गया तब तो भगवान कह ही रहे हैं–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

जो भक्त अनन्यभक्तियोग के द्वारा मेरी उपासना करते हैं, उनका 'योग' और 'क्षेम' स्वयं मैं ही बन जाता हूँ।

महात्मा अर्जुन को भगवान भवसागर से पार करना चाह रहे हैं। यह एक अद्भुत पहेली है कि भगवान स्वयं उनके 'योग' और 'क्षेम' बन गये हैं, किन्तु वे अबतक सम्पूर्णता से समझ नहीं पाये, इसलिए दूसरे अध्याय में जो भगवान ने कहा था कि तुम योग और क्षेम को मत चाहो– (निर्योगक्षेम आत्मवान्), वही भगवान नवें अध्याय में भी 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' कहकर उसी बात की पुनरावृत्ति कर रहे हैं। वे संकेत कर रहे हैं कि जब मैं तुम्हारा 'योगक्षेम' बन ही गया हूँ, तो फिर तुम शोक–संताप क्यों कर रहे हो? इस समय तुम्हें जो चाहिए वही तो मैं दे रहा हूँ!

महात्मा अर्जुन के सामने मोहरूपी नदी दीख रही है, जिसमें पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और कर्ण आदि भयंकर ग्राह हैं तथा अन्यान्य महारथी हिंसक जलजन्तु के समान हैं। ये चारों तरफ से उन हिंसक ग्राहों से, जल–जन्तुओं से घिर गये हैं और उनके पुकारने पर प्रभु उनके लिए नाव–पतवार दोनों बन गये हैं, तो भी माया की मार ऐसी है कि वे समझ नहीं पा रहे हैं कि मैं मोहरूपी नदी में ग्राहों के बीच फँस गया हूँ और भगवान इन ग्राहों को मारकर मुझे बचाने आ गये हैं। एक बार भगवान, गज के पुकारने पर भी ग्राह को सुदर्शनचक्र से मार चुके हैं, वही दृश्य यहाँ भी बना हुआ है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ एक ग्राह था और यहाँ बहुत ग्राह हैं। यद्यपि महात्मा अर्जुन बहुत प्रबुद्ध हो गये हैं, अब अध्यात्म की लगभग सफलता की पराकाष्ठा को चूम रहे हैं, तो भी जैसे कभी–कभी नाव नदी के किनारेवाले भँवर में जाकर डगमगाने लगती है, जिससे यात्री सब डर जाते हैं लेकिन मल्लाह नहीं डरता, उसी झाँकी को स्मरण करना है। प्रभु मानो कह रहे हैं कि मैं ही जगधाता हूँ, मैं ही जगनियन्ता हूँ, तो भी तुम्हारा 'योगक्षेम' वहन करने के लिए तुम्हारा सारथि बना हुआ हूँ, साधन और साध्य बनने का प्रमाण इससे बड़ा और क्या होगा?

संजय ने कहा– राजन्! प्रभु ने यहाँ पर अर्जुन के लिए अभयता प्रदान करनेवाली बात कह दी और आपको डराने की।

वह क्या है संजय– धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– भगवान मधुसूदन ने इन सम्पूर्ण सेनापतियों को मोहरूपी नदी का ग्राह

बना दिया है। राजा, प्रजा का पिता होता है, इससे सिद्ध होता है कि आप उन ग्राहों के ग्राह हैं अर्थात् उन ग्राहों के पिता हैं।

ऐसी चोट न करो संजय।

मैं अपनी बात नहीं कर रहा हूँ राजन्! मैं भगवान की बात कर रहा हूँ आप कहें तो न बताऊँ।

अच्छा, चलो बोलो– धृतराष्ट्र ने कहा।

राजन्! वे ग्राहों की बात इसलिए कर रहे हैं; क्योंकि बहुत बार उन्हें ग्राहों को मारने का, चीरने का काम पड़ा है। उनके लिये यह सब खेल है। जब ये बालक थे तो इनका वध करने के लिए कंस ने एक राक्षस को भेजा। उसने अजगर बनकर अपने मुख को इतना फैला लिया कि गायों सहित ग्वाल–बाल सभी उसमें समा गये। जब त्राहि–त्राहि मच गई तो भगवान ने स्वयं उसके मुख में जाकर, विनोद करना चाहा। प्रभु ने वैसा ही किया, वे उसके मुख में प्रवेशकर गये। फिर तो क्या उसने झट से अपने दोनों जबड़ों को एक में सटाना चाहा, तबतक प्रभु ने उसके उदर को ही चीर डाला और दोनों जबड़ों को पकड़कर शरीर का दो भाग कर दिया। उसीप्रकार ये पाण्डव भी इन अजगरों के घेरे से सहजता से बाहर निकल आयेंगे; क्योंकि भगवान इनको निकालना जानते हैं। थोड़े ही समय में ये महात्मा अर्जुन गाण्डीव उठायेंगे राजन्! और अपने दिव्यास्त्रों से संतों तथा भक्तों का मनोरथ पूरा करेंगे।

संजय भी धृतराष्ट्र का पीछा नहीं छोड़ रहे हैं; क्योंकि भगवान की ऐसी ही आज्ञा है कि तुम धृतराष्ट्र को जगाते रहना, कभी प्रबुद्ध हो जायें तो अच्छा ही है।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'– भगवान की यहाँ दो बातें मंत्र में स्पष्ट लिखी गयी हैं तथा तीसरी बात जो छिपी हुई है, वह अपने–आप प्रकट हो रही है– पहली बात भगवान कह रहे हैं कि जो अपने जीवन को दाव पर लगाकर अहर्निश मेरी प्राप्ति के लिए जप, तप, ध्यान में लगा हुआ है, उसको साधनाकाल में जो चाहिए वह लाकर देता हूँ तथा साधनोपयोगी साधन जो पहले से उसके पास है, उसकी रक्षा करता हूँ। जो तीसरी बात छिपी हुई है, वह यह है कि जो वस्तु उसके पास साधनाकाल में नहीं रहनी चाहिए, किन्तु वह उसके पास आ गयी है, तो मैं उसे छीन लेता हूँ। बहुत बार कहा गया है कि मानव सम्पत्ति, देव सम्पत्ति, असुर सम्पत्ति भूत–प्रेत सम्पत्ति अर्थात् बहुत सी सम्पत्तियाँ अपने पास अनजाने में आयी हुई रहती हैं, जिसे भक्त नहीं जान पाता; किन्तु भगवान तो जानता ही है। अतः वह देव सम्पत्ति और मानव सम्पत्ति को ब्रह्म सम्पत्ति बना देता है किन्तु असुर सम्पत्ति छीन लेता है।

प्रभु श्रीराम ने तो प्राप्त हुई मानव सम्पत्ति को भी स्वयं से छिना दिया था। राजा दशरथ के सिंहासन के अधिकारी तो सचमुच में महात्मा भरत ही थे; क्योंकि कैकेयराज ने अपनी कन्या कैकेयी को देते समय राजा दशरथ से वचन भी लिया था कि इसके गर्भ से जो बालक होगा वही आपके सिंहासन का उत्तराधिकारी बनेगा। इस बात को महाराज दशरथ जानते थे, तभी

तो महात्मा भरत को ननिहाल में रहते देखकर ही श्रीरामजी का राज्याभिषेक कर रहे थे! वाल्मीकि रामायण में उनके द्वारा किये गये छल को स्पष्ट उजागर भी किया गया है। श्रीराम प्रभु ने इस सम्पत्ति पर भरत का अधिकार समझकर, स्वयं कैकेयी के मन में महाराज दशरथ से वरदान माँगने की कामना कर दी। ब्रह्म तो ब्रह्म सम्पत्ति ही लेता है। चित्रकूट में महात्मा भरत ने, ऋषि–महर्षियों ने, राजा जनक ने तथा स्वयं कैकेयी ने भी जब स्पष्ट कह दिया– हे राम! इस राज्यसिंहासन के धर्मतः उत्तराधिकारी तो आप ही हैं तथा महात्मा भरत ने जब अनशन कर दिया और कह दिया कि जबतक आप अपने राज्य को स्वीकार नहीं करेंगे तबतक मैं जीवन नहीं जी सकता, तब प्रभु ने उस सम्पत्ति को स्वयं की सम्पत्ति मान ली और उसी बहाने वे स्वयं वनवासी भक्तों, संतों एवं साधकों का 'योगक्षेम' वहन करने के लिए ही वन में चले गये थे। भक्तों का साधन और साध्य बनने के लिए ही तो वन के दुःसह दुःख को स्वीकार किया और भगवती सीता जैसी साध्वी को महादुःखरूपी अग्नि में झोंक दिया था। भक्तों का 'योग–क्षेम' पूरा करने के लिए भगवान क्या–क्या नहीं करता? 'एक बार जिसे मैंने अपना बना लिया, उसे तो मैं उसके अनुसार चलने ही नहीं दूँगा' ऐसी भगवान की प्रतिज्ञा है।

प्रभु ने देवर्षि नारद के माँगने पर भी विश्वमोहिनी नामक दिव्य सुन्दरी कन्या को नहीं दिया था, देना तो दूर रहा बल्कि जगत में उनकी हँसी भी करा दी, उनकी महत् प्रतिष्ठा भी ले ली ताकि आगे वे काम को माँगने का दुःसाहस न कर सकें। अनन्य भक्त यदि एक बार भी भगवान से काम माँगता है तो भगवान उसे विशेष कुरूप ही बना देता है, भले भगवान को उसके लिए कोई भी कीमत चुकानी पड़े। हुआ भी ऐसा ही –भक्त नारद ने प्रभु को शाप तक दे डाला और प्रभु ने उसे स्वीकार भी कर लिया किन्तु उनका 'योगक्षेम' पूरा करके ही माने।

(.....योगक्षेमं वहाम्यहम्) इस मंत्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि साधक के पास किसी साधन का अभाव है तो, या तो उसकी अनन्य भक्ति में कमी है या वह अभाव भगवान की इच्छा से है। जिसको यह पूरा विश्वास है कि भगवान के अतिरिक्त मैं किसी को नहीं चाहता तथा भगवान की आज्ञा का ही अनुसरण कर रहा हूँ, तब भी उसकी पराजय कभी होती है तो उसके जय के लिए ही होती है, उसकी हानि भी बड़े लाभ के लिए होती है। उसके जीवन का वह पहलू जो विषादग्रस्त होता है, वह भगवत् प्रसाद के लिए ही होता है। जैसे अर्जुन का विषाद, ब्रह्मविद्यारूप प्रसाद को देनेवाला ही तो था। अर्जुन भी भगवान के अनन्यभक्त ही थे, किन्तु उनको अपनी अनन्यता का पता ही नहीं था। कभी–कभार भक्त को अपनी अनन्य भक्ति का पता ही नहीं चलता। होना भी यही चाहिये; क्योंकि कहीं उसे अहंकार न हो जाय। शुकदेवजी को तो बताने से पता चला कि आप ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं। आपका व्यवहार ब्रह्म के व्यवहार से अंशमात्र भी भिन्न नहीं है। भक्त की अनन्यता को प्रकट न होने देने में भी भगवान का कुछ हेतु ही रहता है। यदि अर्जुन को अपनी अनन्य भक्ति का पता चल गया होता तो भगवान जगत के लिए इतने सार्थक नहीं होते; क्योंकि तब न अर्जुन को विषाद हुआ होता और न भक्तों को ब्रह्मविद्यारूप प्रसाद मिलता। अर्जुन को भगवान चाहते हैं और अर्जुन भी तो

भगवान को ही चाह रहे हैं; किन्तु सम्पूर्णता से चाहने में अभिमन्यु, पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, आदि उनके मन में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं; क्योंकि इनमें द्रोणाचार्य मानव सम्पत्ति हैं; पितामहभीष्म देव सम्पत्ति हैं तथा अभिमन्यु असुर सम्पत्ति है। इन सम्पत्तियों को सर्वप्रथम भगवान ने तो इसी से छीन लिया कि अर्जुन का मन सम्पूर्णता से भगवान में लगे। उसके उपरान्त तो पाँचों पाण्डवों द्वारा उनकी अन्यान्य पत्नियों से, अन्यान्य पुत्र भी थे, जो युद्ध में मारे गये तथा भगवती द्रौपदी से भी पाँचों पाण्डवों के द्वारा एक–एक पुत्र थे, जिन्हें अश्वत्थामा ने सोये हुए में मार डाला, तो भी अर्जुन के मन में विषाद नहीं हुआ। साधकगण विचार करें कि अर्जुन को सर्वस्व देने के लिए भगवान ने उनका सर्वस्व छीन लिया, तो फिर आपके पास किसी अन्य सम्पत्ति को क्यों रहने देंगे?

(योगक्षेमं वहाम्यहम्.....) महाराज से एक गृहस्थाश्रमी साधक कहता था कि संन्यास लेने की बहुत कामना है, किन्तु तीन लाख रुपया जमा कर लूँगा तब संन्यास लूँगा; क्योंकि अब चालीस–पैंतालीस वर्ष की उम्र हो गयी, अतः पैसा रहेगा तभी बुढ़ापे में कोई सेवा करेगा। घर में तो कम से कम बाल–बच्चे हैं, यहाँ तो पैसा रहे या न रहे, प्रेम से या द्वेष से सेवा करनी ही करनी है; किन्तु बूढ़े साधु की सेवा बिना पैसा के कौन करने आयेगा? उसके उपरान्त पाँच, छः साल में ऐसी घटना घटी कि तीन लाख रुपये जमा करना तो दूर, जो घर में था वह भी चला गया और बाल–बच्चों, भाइयों का वनवास भी हो गया। ऐसा सोचनेवाले भक्तों के लिए आया हुआ साधन भी चला जाता है।

यदि साधक कल की चिन्ता करता है तो भगवान चोर बनकर आता है और चार डंडे भी देता है तथा आटा, चावल, दाल आदि लेकर भाग भी जाता है। रावण के काल में भी साधन–साध्य की चिन्ता करनेवाले साधकों का ही वध हुआ है। आजकल साधक अपने नाम से पैसा जमा कर रहे हैं, ब्याज से आजीविका चला रहे हैं, जबकि यह तो गृहस्थ का धर्म है। गृहस्थ धर्म स्वीकार करते ही, संन्यासाश्रमी साधक का पतन होते–होते सम्पूर्णता से पतन हो जाता है। साधक पैसा जमा करता है, जबकि शास्त्र में ऐसा करने को ही मना नहीं किया गया बल्कि भिक्षाटन में भी विधि और निषेध है। साधक सबके घर मधुकरी नहीं कर सकता। चोर, जुआरी, वेश्यागामी, 'गौ तथा ब्राह्मण–भक्त की सम्पत्ति का हरण करनेवाले' अथवा इनसे द्रोह करनेवाले, भूत–प्रेत पूजक इत्यादि के घरों में भिक्षा नहीं माँग सकता। भगवद्भक्त प्रत्येक गाँव–नगर में पाये जाते हैं, जिनकी कमाई विशुद्ध होती है, उन्हीं के घरों में भिक्षाटन करता है।

एक नगर में एक माँ ने महाराज को दो–दो किलोवाले हल्दी के चार पैकेट दिये और कहा– महाराज! ये दो पैकेट तो आश्रम के लिए दे रही हूँ और ये दो पैकेट किसी को दान दे देना। महाराज ने कहा– ऐसा क्यों? तब उस माँ ने बताया कि दो पैकेट की हल्दी तो असली है और यह दो पैकेट नकली है। महाराज ने मन में सोचा– हल्दी नकली, मिर्च–मसाले नकली, घी–दूध नकली; अतः साधक गृहस्थ के घर का खाकर साधना कैसे करेगा? अब तो घरों में चार दिन मासिक रहनेवाली मातायें भी भोजन बना रही हैं, जबकि ऐसा भोजन तो प्रेत भोजन हो

जाता है। चोरी की कमाई असुर की सम्पत्ति मानी जाती है। इन सम्पत्तियों को खाकर तन, मन, वचन और हृदय भगवान का कैसे हो सकता है। साधक घर से संन्यास लेकर आते हैं, वे सोचकर आते हैं कि चौबीस घण्टे घोर जप, तप, ध्यान करेंगे; किन्तु तीन घण्टे सवेरे और दो घण्टे शाम भी अखण्ड साधना नहीं हो पाती। वे पूछते हैं कि ऐसा क्यों हो रहा है? यदि मन भजन में लगता भी है तो कुछ दिनों में रात्रि में बिना स्वप्न के वीर्य स्खलित हो जाता है, तो मन और भी खिन्न हो जाता है। महाराज कहता है– लगता है तुम घर से असुर सम्पत्ति खाते हुए आये हो, प्रेत सम्पत्ति खाते हुए आये हो, गन्धर्व सम्पत्ति खाते हुए आये हो और यदि ऐसी बात है तो जबतक उसका प्रायश्चित नहीं हो जायेगा तबतक अहर्निश जप, तप, योग में मन कैसे लगेगा? यदि आपके पिता ने चोरी–चकारी, ठगेबाजी करके खिलाया है तो भगवान उसे निकालेगा तभी तो भजन में मन लगेगा। उसके लिए शरीर को तप से तपाना पड़ेगा; मन से भगवान के नाम को जपना पड़ेगा, बुद्धि की पवित्रता के लिए स्वाध्याय करना पड़ेगा। अखण्ड जप और ध्यान नहीं हो रहा है, तो अभ्यासयोग के द्वारा आगे बढ़ें। यदि भगवान स्वप्न नामक देवता के द्वारा आपके शरीर में संचित आसुरवीर्य, प्रेतवीर्य नहीं निकालेगा, तो वह वीर्य कहीं मेनका के पास न लेकर चला जाये। आपको अपने इष्ट को धन्यवाद देना चाहिए कि स्वप्नदोष के माध्यम से आपका अशुभ वीर्य स्खलित कर दिया और आपका मन व्यभिचारी बनने से बच गया। योगक्षेम और है क्या! चाहे जिस उपाय से प्रभु आपके मन को व्यभिचारी न बनने दे, झूठा न बनने दे, चोर न बनने दे, हिंसक न बनने दे, परिग्रही न बनने दे। जिस साधक का प्रभु सबकुछ छीन ले रहा है; किन्तु मन को विषयों से वैरागी बना रहा है, तो जानिये कि उसका योगक्षेम पूरा कर रहा है। प्रभु कहते हैं साधक अपने व्यावहारिक नियम की चिन्ता करे, शुद्ध आचार, विचार, व्यवहार एवं आहार की चिन्ता करे, उसके उपरान्त की सारी चिन्ता मेरी है।

महाराज ने भी ऐसी सैकड़ों घटनायें देखी हैं कि सम्पूर्ण समर्पित साधक, संत एवं भक्त के लिए भगवान स्वयं योग और क्षेम बन जाता है। प्रभु के योगक्षेम बनने के कारण से ही धर्मात्मा राजाओं ने राजमहल को त्यागकर झोपड़ी का आश्रय लिया, गुफा का, खण्डहर का तथा वन का आश्रय लिया और कल के लिये बचाकर कुछ भी नहीं रखा। उन्होंने देव सम्पत्ति का त्याग कर दिया। माता–पिता ही देवता हैं, उन्हें भी यह राज्य विरासत में ही प्राप्त हुआ था और हमें भी यह सम्पत्ति विरासत में ही प्राप्त हुई थी। देव सम्पत्ति से देवयज्ञ होता है और ब्रह्म सम्पत्ति से ब्रह्मयज्ञ होता है– ऐसा सोचकर वे ब्रह्मजिज्ञासु वनप्रदेश को चले जाते थे और याचकवृत्ति या अयाचकवृत्ति से रहते हुए, अपने–आप आये हुए ब्रह्मप्रसाद को पाकर प्रभु प्राप्ति के निमित्त योग, जप, तप करते थे। लोग कहते हैं, फिर राजा जनक को राजमहल में ज्ञान कैसे हो गया? हाँ, ऐसा कहनेवाले यह नहीं जानते कि सम्पूर्ण राज्यसहित अपने को राजा जनक ने अपने सद्गुरु अष्टावक्र को दान कर दिया था।

राजा जनक कहते हैं कि हे गुरुदेव! आपकी कृपा द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ मैं आप जैसे सद्गुरुदेव के चरणों में विदेहदेश अर्थात् अपना सारा राज्य देता हूँ तथा विदेहदेश के साथ–साथ आपकी दासता (सेवा करने के लिए) को स्वीकार कर अपने–आपको भी समर्पित

करता हूँ। (बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय–४, भाग–४, मंत्र–२३)

(योगक्षेमं वहाम्यहम्.....) एक संत ने अपनी जीवनी का एक अंश बताया कि जब मैं वन में पहुँचा, तो लगभग एक महीना भगवान ने मेरे पास खाने को कुछ भेजा ही नहीं। मैं इसी मंत्र को याद कर लेता था तथा अहर्निश जप और ध्यान में लगा रहता था। इक्कीसवें दिन दूसरे के मन की बात जानने की सामर्थ्य मेरे में आ गई अर्थात् सिद्धि मिल गयी। तब मेरे मन में आया कि ओ! इसी से भगवान कुछ खाने को नहीं भेज रहे थे अतः तप में असंख्यगुना उत्साह बढ़ गया।

साधक जब सम्पूर्णता से भगवान का होकर रहता है तो प्रभु पहले आध्यात्मिक शक्तियों को देता है, जिससे साधक अपने संस्कारों को जान ले; संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों को जान ले, जिससे उसे साधना में आनेवाले व्यवधानों का पता चले और वह व्यवधानों को दूर करने का उपाय सोच ले।

महाराज ने एक ऐसे किसान को देखा जो स्वयं हल चलाता था। सवेरे संध्या करके बैलों को खिलाता–पिलाता था, फिर स्वयं खा–पीकर नौ बजे हल–बैल लेकर खेत पर पहुँच जाता था। शाम को ठीक चार बजे बैलों को चरने के लिए छोड़कर और हाथ–पैर धोकर वहीं खेत के मेड़ पर जप एवं ध्यान में बैठ जाता था। हल चलाते समय भी प्रभुनाम जपता रहता था। उस अवस्था में भी भगवत्कृपा का रसास्वादन करके कभी हँसता तथा कभी रोता था। एक दिन उसके चार बैलों को चोर चुरा ले गये। जब वह महाराज के पास आया तो हँसते हुए कहा– जानते हैं महाराजजी! आज रात्रि में मेरे चारों बैलों को चोर चुरा ले गये। लोगों ने कहा– केस कर दो। तो मैंने कहा– मेरा भगवान तो उन चोरों में भी है। वह जब उनको खाना–दाना देता रहता तो वे चोरी क्यों करते? लीला तो ये सब भगवान की ही है। जिस समय उनलोगों में मेरे बैलों को चुराने की कामना हुई थी, उसी समय उनलोगों में सत्यप्रेरणा क्यों नहीं कर दिया? रोटी–पानी भी उनलोगों को नहीं दे रहा है तथा सत्यप्रेरणा भी नहीं दे रहा है। अरे! पड़ोसी गाँव के चोरों ने ही तो चुराया होगा, दो–चार सौ लेंगे और पहुँचा देंगे। वही बात हुई। उन लोगों ने दो–चार सौ रुपये लेकर बैलों को पहुँचा दिया। इसप्रकार चोर को भी जो भगवान के रूप में देखता है, उसका योगक्षेम भगवान स्वयं बन जाता है।

आपको भी साधना में व्यवधान होने से चिन्ता होती है। भगवान का कहना है कि साधना की चिन्ता मैं कर लूँगा, आप तो अपने व्यवहार को देखें, अपने भाव को देखें। यदि भगवत् व्यवहार है, भगवद्भाव है आपके पास, तो आपकी साधना मैं स्वयं बन जाऊँगा।

(योगक्षेमं वहाम्यहम्.....) अब युद्ध के मैदान की तरफ रुख करते हैं जहाँ अपने भक्त अर्जुन के योगक्षेम बने हुए भगवान उन्हें युद्ध के लिए ललकार रहे हैं कि हे पार्थ! ये द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदि सभी आश्चर्यचकित हैं कि मैं तुम्हारा सारथि बना हुआ हूँ। यह निकृष्ट कर्म है, किन्तु तुमने इन गुरुओं की सेवा सद्गुरु की सेवा की तरह ही की है। तुम्हारे लिए ये लोग तो

सद्गुरु नहीं बन पाये; इसीलिए आज मैं तुम्हारा सद्गुरु भी बन गया हूँ। अपने लिए तुम अपना योगक्षेम तो देखो! समय एक है लेकिन रूप मेरे तीन हैं– मैं इसी समय में तुम्हारा सारथि भी हूँ, सद्गुरु भी हूँ और भगवान भी हूँ। सारथिरूप से साधन हूँ और सद्गुरु तथा भगवानरूप से साध्य हूँ। यह सबकुछ मेरी प्रेरणा से ही हो रहा है। इन सारे लोगों ने अन्य देवी–देवताओं की उपासना की है इसलिए यहाँ मेरे होने मात्र से ही, इन लोगों के देवी–देवता इन लोगों की सुरक्षा करने नहीं आयेंगे। भगवान सूर्य अपने भक्त कर्ण के बचाव में नहीं आयेंगे; जबकि वे सारंगधनुष धारण करनेवाले हैं और इस ब्रह्माण्ड में इनके जैसा कोई सामर्थ्यवान योद्धा भी नहीं है। जिस माँ गंगा ने भीष्मपितामह के पास समय–समय पर आकर बहुत सी गोपनीय बातों को बताया है; वे भी उनकी सुरक्षा कवच नहीं बनेंगी। उस भगवती गंगा ने उन्हें सबकुछ बताया; किन्तु यह बताना उचित नहीं समझा कि वे पाण्डवों के पक्ष में हो जाएँ, क्योंकि ये अनन्य चिन्तनवाले, अनन्य व्यवहारवाले नहीं हैं। धृतराष्ट्र ने जहाँ अपने पूरे जीवन को दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए दाव पर लगा दिया है वहीं इन्होंने अपने पिता की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन दाव पर लगा दिया है। इसीलिए मैं इनका योगक्षेम न बनकर तुम्हारा योगक्षेम बन गया हूँ। तो क्या अन्य देवी–देवताओं की उपासना करना धर्म नहीं है? इसपर भगवान कहते हैं–

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥२४॥

हे पार्थ! यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुए पुरुष भले ही अन्य देवताओं की उपासना करें लेकिन उन देवताओं के रूप में मैं ही हूँ इसलिए अज्ञानता में वे मेरी ही उपासना करते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ। परन्तु वे मुझे तत्त्वतः नहीं जान पाते इसलिए बारम्बार जन्म–मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं।

हे पार्थ! मैं उन देवी–देवताओं की पूजा करने को मना नहीं करता; क्योंकि उन देवताओं के रूप में भी तो मैं ही हूँ। मेरा तो कहना है कि वे मुझे छोड़कर, सम्पूर्ण श्रद्धा एवं भाव से उन देवी–देवताओं की ही उपासना करना प्रारम्भ कर देते हैं, चलो इसमें भी कोई बात नहीं है, लेकिन वे देवभक्त उनकी उपासना किसी न किसी कामना से करते हैं। मेरा कहना है कि गृहस्थाश्रम में होने के नाते समयानुसार तथा पर्वों पर तो विशेष उनकी पूजा–पाठ करें और करावें, किन्तु उनके पास सकामी न होवें। देवी–देवता तो शुद्ध आसन, अशन और वसन (वस्त्र) तथा शुद्ध मंत्र के योग से प्रसन्न होते हैं, अतः उनको हृदय देने की आवश्यकता नहीं है बल्कि पूजा–पाठ सबकी करें और हृदय में मुझे स्थान दें; क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ, इन्द्रादि देवता नहीं तथा यज्ञों का अधिष्ठाता भी मैं ही हूँ, किन्तु देवपूजक इस रहस्य को नहीं जानते इसी से वे देवपूजक होकर मेरी पूजा छोड़ देते हैं और पतन को प्राप्त हो जाते हैं।

जब भगवान ऐसा कह रहे हैं तो यह अकारण नहीं है बल्कि उन्होंने प्रयोग करके दिखाया भी है, जिसे अर्जुन भलीभाँति जानते हैं। सारे गोकुल और ब्रजवासी आदि साल में एक बार गोवर्धन पर्वत पर आकर नानाप्रकार के व्यंजनों और मिष्ठानों से इन्द्रदेवता की पूजा किया करते थे। जब सबने नानाप्रकार के पकवान बना लिये, तब भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने कहा– गोवर्धन पर्वत तो सम्पूर्ण गायों के लिए चारा देता है, सम्पूर्ण गायों को आश्रय देता है, इसलिए आज इस पर्वत की और मेरी पूजा करो। गोप एवं गोपियों ने तथा सारे गोकुल एवं ब्रजवासियों ने वैसा ही किया और गोवर्धन के साथ–साथ भगवान की पूजा होने लगी। नानाप्रकार के व्यंजनों का इन्द्र की जगह भगवान भोग लगाने लगे। यह देखकर इन्द्र अति कुपित हो गये। उन्होंने संकल्प कर लिया कि घोर वृष्टि कर सम्पूर्ण ब्रजवासियों एवं गोकुलवासियों को डुबो दूँगा। उन्होंने घोर वृष्टि शुरू कर दी। भगवान ने सम्पूर्ण ब्रजवासियों और गोकुलवासियों का गोवर्धन के नीचे आने के लिए आवाहन किया तथा गोवर्धन को छाते की तरह उठाकर सबको बचा लिया। इन्द्र किसी को भी डुबो न सके। परिणामतः सात दिन के उपरान्त इन्द्र ने प्रभु के शरणागत होकर, उनकी वन्दनाकर, क्षमा–याचना करते हुए उन्हें प्रसन्न किया।

इस मंत्र के द्वारा भगवान मानो अर्जुन को उसी घटना की याद दिला रहे हैं। मानो वे कह रहे हैं कि मैं जब आ गया तो अन्य देवी–देवताओं की उपासना करने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। अर्जुन के लिए ही नहीं बल्कि भगवान तो साधकों से भी कह रहे हैं कि जब सद्गुरु प्राप्त हो गया तो फिर किसी अन्य तंत्र–मंत्र और योग की आवश्यकता नहीं है फिर तो वह जितना कहे, जैसा कहे, उतना ही और वैसे ही करें। क्योंकि–

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥

यह नियम है कि जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं को प्राप्त होते हैं; जो पितरों की पूजा करते हैं, वे पितरों को; जो भूत–प्रेतों की पूजा करते हैं, वे भूत–प्रेतों को तथा जो भक्त मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे को प्राप्त हो जाते हैं। हे पार्थ! यह शाश्वत नियम है, ऐसा सबने कहा है; इसलिए तुम एकमात्र मेरी ही उपासना करो।

अब दूसरे अर्थों में देखें– जो देवताओं की उपासना करनेवाले हैं, वे देवलोक से आये हुए रहते हैं, इसलिए देवपूजक बन जाते हैं। अतः इस मृत्युलोक में देवपूजक ही देवता हैं, जो पितरलोक से आये हुए हैं और पितरों की उपासना कर रहे हैं, निश्चितरूप से वे ही पितर हैं और जो मनुष्यरूप में आकर भूत–प्रेतों की उपासना करते हैं, वे निश्चितरूप से भूत–प्रेतलोक से ही आये हुए हैं, अतः स्वयं ही भूत–प्रेत हैं। यदि उनकी जन्मकुण्डली उठाकर कोई देखे, तो उन सबका गर्भाधान प्रेतकाल में ही हुआ है, ऐसा ही पाया जायेगा। प्रेतकाल, संध्या का काल भी है और बारह बजे रात्रि से लेकर दो बजे रात्रि तक का भी। (संध्या का काल जाड़े में शाम को चार बजे से लेकर छः बजे तक तथा गर्मी में पाँच बजे से लेकर साढ़े सात बजे तक कहा जाता

है।) ठीक इसके विपरीत जो ब्रह्म की निष्काम पूजा करनेवाले हैं, वे निश्चित ही वैकुण्ठ लोक से आये हुए हैं। इसलिए वे आप्तकामी संत ही इस जगत के लिए भगवान हैं और वे ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म की आत्मा हैं। सकामियों के लिए वे आप्तकामी संत ही भगवान हैं।

(यान्ति देवव्रता देवान्.....) इस मंत्र के और भी मूल में प्रवेश करें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि जो सकामी भक्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, सूर्य तथा दुर्गा, सरस्वती, काली आदि देवी–देवताओं की उपासना करते हैं, उनके लिए निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही उपरोक्त देवी–देवता का आकार–प्रकार अर्थात् वही रूप धारण कर लेता है। आखिर देवी–देवता आयेंगे कहाँ से; क्योंकि ब्रह्म के सिवा तो यहाँ कोई है ही नहीं न! जैसे सूर्य में अन्धकार है ही नहीं। वैसे भी आपलोगों ने देखा होगा कि जिस घर में विशुद्ध वैष्णवता होगी, उस घर में आज तक भूत–प्रेत का पूजक जन्म लिया ही नहीं होगा और उस घर में भूत–प्रेतों की कभी पूजा हुई ही नहीं होगी। अतः भगवान कह रहे हैं कि देवपूजकों के लिए मैं देवता और पितरपूजकों के लिए पितर बन जाता हूँ तथा भूत की उपासना करनेवालों के लिए जो स्वयं भूत ही हैं मैं भूत ही बन जाता हूँ और निष्कामी भक्त के लिए मैं सद्गुरु बनकर उसे ज्ञान की गंगा बहाकर कृतार्थ कर देता हूँ। यह नियम भी है कि निष्कामी भक्त के पास या तो सद्गुरु आ जाता है या तो भगवत्कृपा द्वारा वही सद्गुरु के पास पहुँचा दिया जाता है।

ऐसा कहकर भगवान मानो कह रहे हैं कि हे पार्थ! इस युद्ध में घटोत्कच जैसा तंत्र से उत्पन्न होनेवाला भीम का पुत्र (प्रेत) भी आया हुआ है। इसमें अज्ञातरूप से देवी–देवता भी आये हुए हैं; यह सब मेरी व्यवस्था है। जब हिडिम्बा के पास भीम को उसके पति के रूप में भेजा था तो वहाँ उसमें मेरी ही प्रेरणा थी। इस नराधम कर्ण को पराजित करने के लिए तथा भयभीत करने के लिए ही मैंने इस घटोत्कच नामक प्रेत को उत्पन्न किया है। इतना ही नहीं, यह प्रेत कर्ण के जीवन की एक मुख्य बाधा बन जायेगा। यह तुम्हारे योगक्षेम को वहन ही तो किया है मैंने? तुम्हारे लिए सारी की सारी व्यवस्था व्यवस्थित है; सारे के सारे साधन तुम्हारे लिए साध्य हैं। इन लोगों को तो मोर्चा बनाना पड़ेगा और मैंने तो पहले से ही सारे के सारे मोर्चे तुम्हारे लिये बना रखे हैं।

महात्मा अर्जुन मन ही मन सोच रहे हैं कि पूजा तो इनकी की जाय लेकिन अभी कुछ देर पहले कहा था कि मेरी सिद्धि देर से होती है और देवताओं की सिद्धि जल्दी होती है, तो फिर इनकी पूजा कौन करेगा? भगवान ने मन की बात जानकर कहा– पार्थ! पूर्व में कहे हुए का अन्यथा अर्थ मत लो, मेरी पूजा में सरलता और सुगमता भी है क्योंकि–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय यत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

यदि मेरा अनन्यभक्त जिसके पास बहुत सारे दिव्य व्यंजन नहीं हैं, वह यदि घर में जो भी साग–पात, फल–फूल है, प्रेमपूर्वक मुझे समर्पित करता है, तो उसके भाव और श्रद्धा के कारण से उसी को प्रेमपूर्वक खाता हूँ। इसलिए हे कौन्तेय! जो भी तुम कर रहे हो, खा रहे हो, यज्ञ कर रहे हो, दान दे रहे हो, उसे मेरे को ही अर्पण कर दिया करो। तुम्हारे द्वारा नहीं चाहने पर भी शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म हो जाते हैं, अतः समर्पणयोग से युक्त हुए कर्मबन्धन से मुक्त होकर तुम मेरे को ही प्राप्त हो जाओगे। हे पार्थ! देवता मेरे स्वभाववाले नहीं हैं। उन्हें तो तुम्हें शुभ ही अर्पण करना होगा तथा वे तुम्हें कर्मबन्धन से मुक्त भी नहीं कर सकते। हाँ, वे शुभ कर्म, शुभ यज्ञ, शुभ दान, शुभ तप के अनुपात में ही शुभ फल दे देंगे, जो कालान्तर में फल भोगने के उपरान्त दुःख का ही हेतु बन जायेगा।

इस मंत्र को कहने में भगवान का बहुत विशेष प्रयोजन है। उन्होंने अर्जुन को याद दिलाया है कि एक बार दुर्वासा ऋषि से रक्षा करने के लिए मैंने तुमलोगों का जूठन खा लिया था। कल्याणी द्रौपदी से अक्षयपात्र लेकर (जिसे उसने अच्छीप्रकार से धो दिया था), उसमें से पके हुए एक दाने को खा लिया था, जिसके कारण उस ऋषि का गले तक पेट भर गया था और वे शिष्यों सहित डकार भरते हुए भाग गये थे।

(यत्करोषि.....) अतः जो कुछ भी तुम करते हो उसे अर्पण करो, शोक–सन्ताप न करो। (भगवान को अर्जुन ने सारथि बना लिया था। स्वयं से भगवान ने सारथि बनने का प्रस्ताव किया होता तो अलग बात थी; किन्तु अर्जुन ने स्वयं सारथि बनने का निवेदन किया था। अब चूँकि उन्होंने भगवान को पहचान लिया है, इसलिए पश्चात्ताप होने की सम्भावना निश्चित बनेगी। इसीलिए प्रभु उन्हें सावधान कर रहे हैं।)

'यज्जुहोषि'– मानो भगवान कह रहे हैं कि इस समय तुम्हें नरमेध यज्ञ (जिसमें मनुष्यों की बलि दी जाती है) करना है तथा उसे भी मुझे ही समर्पित करना होगा।

'ददासि यत्'– मानो भगवान यह भी कह रहे हैं कि हे पार्थ! मोरध्वज नामक राजा से मैंने उनके पुत्र को आरे से चीरकर माँगा था और उन्होंने सहर्ष दे दिया था। उसीप्रकार तुम्हें इस महासंग्राम में मेरी प्रीति के लिए अभिमन्यु अथवा अन्यान्य पुत्रों के मरने पर शोक–संताप नहीं करना होगा।

'यत्तपस्यसि'– हे भारत! युद्धोपरान्त तुम्हें संन्यास लेना पड़ेगा। अतः उस अवस्था में तप–त्याग स्वाभाविक ही होगा; जिसे मुझे समर्पित कर देना, अपना मत मान लेना।

'यदश्नासि'– युद्ध के समय कभी समय पर, कभी असमय में खाने को मिलेगा, सम्भव है कि अपवित्र भूमि में भी जल्दी में जूते पहने हुए ही खाना पड़े, तो उस समय मेरा आवाहन करके, याद करके खाना। मैं भी तुम्हारे साथ हूँ, अतः खिलाके खाना, कहीं सुदामा की तरह चोरी मत

कर लेना। सारथि को पहले खिलाया जाता है तथा सद्गुरु को तो खिलाके ही खाया जाता है, भगवान को स्मरण करके ही खाया जाता है, इसका ध्यान रखना। इसप्रकार करने से शुभ–अशुभ कर्म या प्रसाद का दोष नहीं लगता।

यह तो सत्य ही है कि जीवन में शुभ के साथ–साथ कभी–कभी अशुभ करने, खाने–पीने का भी अवसर आ ही जाता है। 'यत्करोषि यदश्नासि'– जैसे महर्षि अगस्त्य को एक बार अशुभ खाना पड़ गया था, भगवती काली की तरह। इल्वल और वातापि इन दो असुरों ने घोर अत्याचार कर दिया था। बारी–बारी से बहुत से साधकों को अपना आहार बना लिया था। वे दोनों एक ऐसा तंत्र सिद्ध कर बैठे थे, जिससे एक बकरा बन जाता था और दूसरा उस बकरे को काटकर तथा पकाकर बहुत से साधकों को आमंत्रित कर उन्हें खिला देता था। जब साधक खा लेते थे, तब इल्वल कहता– आ वातापि आ! निकल आ! निकल आ! वातापि साधकों के पेट में बकरा बन जाता था और पेट के फटने से बाहर आ जाता था। उसीप्रकार इल्वल जब बकरा बनकर चावल सदृश किसी का भोजन बनकर पेट के भीतर जाता था तो वातापि कहता था– आ इल्वल आ! निकल आ! निकल आ! निकल आ! और इल्वल बकरा बन पेट फाड़कर बाहर निकल आता था। (ये न भूलें कि वे दोनों भाई बकरे के मांस को तंत्रबल से चावल की आकृति का कर देते थे जिससे साधक समझते थे कि वे चावल खा रहे हैं) इसप्रकार इन दोनों असुरों ने बहुत से साधकों को मार डाला। उसके उपरान्त उन दोनों ने अगस्त्य ऋषि को ही मारने के लिए आमंत्रित किया। महर्षि अगस्त्य ने उनके कुकृत्यों को दिव्य दृष्टि से जान लिया। उन्होंने जब वातापि को चावल के रूप में अपने योगबल से खा लिया तब पूर्व की भाँति इल्वल ने कहा– वातापि निकल आ! निकल आ! निकल आ! मुनि अगस्त्य ने पेट पर हाथ फेरते हुए कहा– आ वातापि आ! पच जा, पच जा, पच जा। वातापि पच गया। उसके पच जाने के उपरान्त इल्वल ने उनपर आक्रमण कर दिया, तब उस ऋषि ने उसे हुंकार भरकर मार डाला।

इसी से भगवान मानो अर्जुन से कह रहे हैं कि हे पार्थ! उसीप्रकार तुम्हारे जीवन में ऐसे–ऐसे अवसर आयेंगे, जिसमें नहीं चाहते हुए भी समाज की दृष्टि में देखने पर अशुभ कर्म हो जायेंगे, लेकिन यदि मेरे निमित्त किया गया है तो अशुभ कर्म भी शुभ हो जाता है, जिसे तुम समर्पित कर दिया करो। समर्पित करते ही तुम्हें तत्काल ही शान्ति और संतोष प्राप्त हो जायेगा।

(यत्करोषि यदश्नासि.....) भगवान ने अपनी सोची समझी रणनीति के तहत ही अर्जुन के साथ–साथ सम्पूर्ण साधकों एवं भक्तों के लिए यह मंत्र दिया है। भक्त एवं साधक भी एक आध्यात्मिक रणनीति के तहत अपने प्रारब्ध से युद्ध करते रहते हैं। आध्यात्मिक रणभूमि में तो बहुत विशेष छल और कपट का आश्रय लेना पड़ता है। साधनाकाल में कोई न पहचानने पाये; अतः उसको भिखारी का वेश बनाकर बासी भोजन भी खाना पड़ता है। एक संत ने कहा था कि जब मैं बद्रीनाथ में रहता था तो तप्तकुण्ड के पास कपड़े रखने के लिए जो आले बने हुए हैं, उसमें कुछ यात्री बहुत पूड़ी छोड़कर चले गये थे। मैं उन्हीं पूड़ियों में से हररोज दो–चार पूड़ी खा लिया करता था। ऐसे नौ–दस दिन खाता रहा। साधक उसे बासी कहेंगे, अशुद्ध कहेंगे; किन्तु उस संत

को अज्ञात होकर रहना था, इसलिए वह प्रसाद उस संत के लिए परम शुद्ध था। इसीप्रकार एक जगह एक संत ने देखा कि यहाँ की श्रद्धा को देखते हुए मुझे पूड़ी, खीर, मलाई खाना ही पड़ेगा, तो उन्होंने झूठ बोल दिया कि आज पचास दस्त हो गये हैं, और भी पता नहीं कितने दस्त होंगे। तब उन्हें श्रद्धापूर्वक लाकर फल–फूल दे दिया गया। एक साधक के पास तीन–चार दिन से भोर में ही आरती उतारने मातायें आ जाती थीं, तो भजन में व्यवधान होते देख, वह जैसे ही उनलोगों की आहट सुनता, लेट जाता और नाक ऐसे बजाता मानो खर्राटे की नींद ले रहा हो। मातायें परस्पर में कहतीं– अरे! मत जगाओ, मत जगाओ, सोने दो। ऐसा तीन–चार दिन करने के उपरान्त माताओं ने उस समय स्वतः आना बन्द कर दिया। यदि साधक अनन्य भक्तिवाला है तो भगवान उसे विवेकरूप शक्ति देता है जिससे कि लोगों के देखने में जो अशुभ कर्म है, वह भी इस भक्त के लिए शुभ हो जाता है, वही भगवान के लिए शुभ है। भगवान के लिए करने में वह हिचकता नहीं। जो पिता और सद्गुरु दोनों थे, उनकी प्रसन्नता के लिए परशुरामजी ने माँ का वध कर डाला तथा विलासी क्षत्रियों का वधकर उनका राज्य ब्राह्मणों को दे डाला, फिर भी उनकी भगवत्ता में कमी नहीं आयी। इतिहास इन्हीं कर्मों से भरा पड़ा है, जहाँ अज्ञानियों को भ्रम होता रहता है।

(यदश्नासि.....) भगवती काली को भी रक्तबीज नामक राक्षसों का वधकर, उनका रक्त इसलिए पीना पड़ा था, क्योंकि उन्हें वरदान था कि उनके रक्त की जितनी बूँद गिरेंगी उतने ही राक्षस पैदा हो जायेंगे। अतः जगत–हितार्थ भगवती ने देखने में अशुभ कर्म (वध करना) किया और अशुभ खाना (रक्त पीना) खाया। उसीप्रकार इस रणभूमि में भी देखने में अशुभ कर्म (स्वजन वध) करना ही पड़ेगा और अशुभ भोजन खाना (प्रतिज्ञानुसार दुःशासन की छाती का रक्त पीना) ही पड़ेगा; किन्तु यह सब भगवान की आज्ञा से होने के कारण कर्म बन्धन से मुक्ति का ही हेतु बनेगा।

(यत्तपस्यसि.....) सभी जानते हैं कि भगवान शंकर ने असुरों की प्रार्थना पर तामस तप यानी अघोर तप किया। उन खप्परधारी शिव, श्मशानी शिव ने शाबर तंत्ररूप अशुभ देवताओं को प्रकटकर, उनके लिए तामस आहार–व्यवहार को निश्चित कर दिया। तंत्रविज्ञान में ही तो बलिप्रथा का प्रचलन है। देखा ही जाता है कि अघोरमार्गी तांत्रिक जीवों की बलि देकर उन्हें खाता भी है तथा शराब और रक्त पीता भी है, तो भी उसका तंत्र सिद्ध होता ही है; क्योंकि तामस देवी–देवताओं का आहार ही वही है। भगवान शंकर ने देवताओं और असुरों का हित करने के लिए समुद्र मंथन से प्रकट हुआ हलाहल विष ही पी लिया तो भी उन्हें दोष नहीं लगा। उसे गले में ही पचा लेने के कारण, गला नीला हो जाने से, वे सदाशिव नीलकंठ भगवान कहलाये।

(यदश्नासि.....) वैसे ही साधनाकाल में साधक को राजस प्रकृति से प्रकट हुए काम, क्रोध, लोभ तथा राग–द्वेष आदि विचाररूप अशुभ भोजन को खाना ही पड़ता है लेकिन वह उन विचारों को खाकर पचा लेता है, तो उसे दोष नहीं लगता तथा कालान्तर में संकल्प सिद्ध होने

पर इन काम–क्रोधादि शत्रुओं को संकल्प द्वारा हुंकार भरते हुए मार डालता है तो इस अशुभ कर्म का उसे दोष नहीं लगता। भगवान के लिए जो नींद का त्याग करता है, तो वह पागल न होकर गुडाकेश अर्थात् निद्राविजयी कहलाता है। वैसे ही भगवान के लिए मातृधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म आदि का त्याग करना महा शुभ हो जाता है; जबकि सामान्य के लिए पुराणों में इनका त्याग करना महा अशुभ कहा गया है, किन्तु विशेष के लिए उसी पुराण में कहा गया है कि भगवान के लिए इनका त्याग कर देना महा कल्याणकारक होता है। तो फिर उसी पुराण में एक अवस्था में मातृधर्म, पितृधर्म का त्याग अधर्म क्यों कहा? हाँ, इसलिए कि यदि कोई अपने स्वार्थ, सुख–सुविधा के लिए त्याग करता है, तो वह महा अधर्म कहा जाता है।

(यत्करोषि यदश्नासि.....) जिस साधक को, भक्त को उसके प्रारब्धानुसार जो कर्म मिल जाये, उसी को यदि निष्ठा से प्रभु की सेवा मानकर करे, तो प्रभु उसे शीघ्रातिशीघ्र श्रेष्ठ सेवा दे देता है। अपने प्रारब्धानुसार जो रूखा–सूखा प्रसाद खाने को मिल जा रहा है, उसीको पहले भगवान को खिलाकर खाता है तो कुछ ही समय में छप्पनों प्रकार का भोग लगाने के लिए अपने भक्त को समृद्ध बना देता है, और कभी भी न खाली होनेवाला भंडार भर देता है। डाक्टरजी (डा० कंचन, दुबई) कहते हैं कि जब मैं बम्बई में रहता था तो महीने में जितनी कमाई हो जाती थी, उसमें से पैसा मिलते ही मैं १० प्रतिशत दान कर दिया करता था। परिणाम होता था कि महीना पूरा होने के पाँच–छः दिन पहले ही राशन–पानी समाप्त हो जाता था। मेरी धर्मपत्नी कहती रहती कि जब प्रभु देंगे तब आप बहुत दान करना, यह कैसा दान कि प्रत्येक महीने में पाँच–छः दिन परेशानी का सामना करना पड़ जाता है; किन्तु मैंने उसकी एक नहीं मानी और १० प्रतिशत दान उसी तरह से देता रहा। कुछ ही समय में प्रभु की ऐसी कृपा हुई कि मैं दोनों खुले हाथों से दानरूप प्रभु की सेवा करने लगा। यह आश्रम (श्रीभागीरथी धाम) कैसे बन गया, मैं जान नहीं पाया। मैं तो यही समझता हूँ कि भगवान जिससे जो कराना चाहता है, वह करा ही लेता है। रेखा माई (उनकी धर्मपत्नी) भी कहती है कि इस स्थान और यहाँ के तपस्वी साधकों को देखकर अब बहुत संतुष्टि होती है कि दान उचित जगह आ रहा है। महाराज ने कहा– ऐसा मत कहो, इनका दान कभी भी अनुचित जगह गया ही नहीं है। इन्होंने सामान्य साधकों एवं आश्रमों तथा धार्मिक कार्यक्रमों में दान दिया है अथवा दान देते आये हैं; तभी अब विशेष स्थान और पात्र, सेवा के लिए प्राप्त हो रहे हैं और यही कारण भी तो है कि तुम्हारी दोनों संतानें (बेटा–बेटी) व्रती, स्वाध्यायी, तपस्वी, बुद्धिमान एवं दानी हैं। जिन्होंने संतों को अपने घर का सदस्य समझ लिया है ऐसे पुरुष विरले पाये जाते हैं।

इन्दौर जिला के अम्बाचन्दन गाँव के लोगों ने अपने गाँव की साध्वी (कंचन बाई)– जो इसी गाँव की बहू थी, उसकी भी भगवान जैसी पूजा की। इसी से उस गाँव में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ संत आते गये। आज भी पूरा गाँव संतों के शासन में है।

(यत्तपस्यसि कौन्तेय.....) इसप्रकार जो गृहस्थाश्रम के व्रतों को भी (जैसे एकादशी, दोनों नवरात्रि, कार्तिक का महीना, माघ का महीना) निष्काम ही करता है तो उसका सम्पूर्ण जीवन

ही निष्काम हो जाता है। अतः शुभ–अशुभ दोनों ही कर्मों को, तप को, यज्ञ को, दान को और भोजन को भगवान ने समर्पित करने को कहा है। समर्पित करने का तात्पर्य सद्गुरु से आज्ञा लेकर करने से है।

एक जगह दक्षिण भारत के किसी आश्रम में बने हुए दाल और सब्जी में लहसुन–प्याज का प्रयोग किया गया था। महाराज को खाने का मन नहीं था; किन्तु आश्रम के संत से कहा नहीं गया था कि हमलोग लहसुन–प्याज नहीं खाते, इसलिए महाराज के गुरुदेव ने उस संत की श्रद्धा को देखकर महाराज सहित सारे गुरु–भाइयों को उसी प्रसाद को पाने की आज्ञा दे दी और सबने फिर सहर्ष खाया। यहाँ तक आप सब ने जान लिया होगा कि समर्पण का तात्पर्य होता है सद्गुरु की आज्ञा से ही यज्ञ, दान और तप करना। यदि किसी के पास सद्गुरु नहीं है, तो सद्गुरु को स्मरण करके करना और सोते समय कह देना कि हे प्रभु! जो अशुभ हो गया हो, अशुभ खा लिया गया हो, अशुभ यज्ञ हो गया हो अर्थात् जिस यज्ञ में त्रुटि हो गयी हो, कुपात्र को दान दे दिया गया हो और सुपात्र को रूखा–सूखा और बासी दे दिया गया हो तथा व्रत और तप में चाहे कुछ त्रुटि हो गयी हो, मैं उन सबको, आपको ही समर्पित करता हूँ।

(शुभाशुभफलैरेवं.....) भगवान ने शुभ और अशुभ फल को समर्पित करने को कहा है। वे शुभ और अशुभ फल क्या हैं, किस रूपवाले हैं? पहले इसको जान लें। हाँ! यदि शराबी, जुआरी, वेश्यागामी तथा नास्तिक अपना पिता है, तो उसे अपना अशुभ कर्मफल मान लेना और उसके उत्पात को भगवान का स्मरण करके सहन करना। इसीप्रकार यदि अपना पुत्र इसप्रकार के दुर्गुणोंवाला हो तो उसके द्वारा होते हुए उत्पात को अपना अशुभ कर्मफल समझकर प्रभु का स्मरण करते हुए सहन करना। अपने धर्मात्मा, सदाचारी तथा शीलवान एवं विनम्र बाल–बच्चे अपने पुण्य कर्म के फल हैं, कहीं उनमें विशेष आसक्त होकर भगवद्भजन न छोड़ देना। उस शुभ कर्मफल को भी भगवान का ही समझ लेना, यही समर्पण है। प्रिय माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र, अपने शुभ कर्मों के फल हैं, अतः इनमें राग होने की सम्भावना विशेष होगी। इनसे आसक्ति न हो जाये इसीलिए इन सबको भगवान का ही समझ लेना, अपना नहीं मान लेना, यही शुभ समर्पण है। बुरे माता–पिता, भाई–बान्धव और हित–मित्र अपने अशुभ कर्मों के फल हैं, अतः इनसे द्वेष होने की सम्भावना हो सकती है, इसलिए इन्हें भी भगवान का ही समझ लेना, यही अशुभ कर्मफल का समर्पण है तथा जो साधक (भक्त) संन्यास लेना चाहता है उसके माता–पिता, बाल–बच्चे भले हों या बुरे हों, गरीब हों या अमीर हों, रोगी हों या स्वस्थ हों वह आधी रात को अपने अन्तर्यामी भगवान से कहते हुए कि हे प्रभु! मैं अपने शुभ और अशुभ कर्मफलरूप माता–पिता, बाल–बच्चों को आपके ही आश्रित छोड़कर अहर्निश आपका भजन–ध्यान करने के लिए संन्यास ले रहा हूँ, इन्हें आप स्वीकार करना, ऐसा कहकर संन्यास ले ले। यही शुभाशुभ कर्मफल का समर्पण है, जिस समर्पण से भगवद्भक्त भगवान को प्राप्त हो जाता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

हे पार्थ! सम्पूर्ण भूतप्राणियों में सम शान्तरूप से मैं ही विद्यमान हूँ। मेरे लिए कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है लेकिन जो भक्त मेरी ही उपासना करते हैं, मैं उनमें और वे मेरे में हैं।

सर्वप्रथम युद्ध के मैदान में रहकर यह देख लें कि प्रभु इस मंत्र से भक्त अर्जुन के लिए क्या कहना चाहते हैं– भगवान ने जैसे ही कहा कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों में सम भाववाला हूँ, तो अर्जुन के मन में आया कि यदि ऐसा होता तो इस समय ये विषम व्यवहारवाले क्यों होते? इस समय मुझे युद्ध के लिए क्यों ललकारते? भगवान ने मानो उनके मन की बात जानकर कहा– कभी तुम मेरी जगह आओगे, तब तुमको पता चलेगा। अरे! यदि मेरे में विषमता होती तो अपनी नारायणी सेना दुर्योधन को क्यों देता! यदि मेरे में विषमता होती, उनलोगों के प्रति द्वेष होता, तो सम्पूर्ण अपनी नारायणी सेना के सहित तुमलोगों की तरफ से होकर उनलोगों से युद्ध करता। अतः मेरा तो न कोई द्वेषी है, न कोई प्रेमी बल्कि जो भक्त जितना समर्पित होता है, उसके प्रेम और द्वेष को उतने ही अनुपात में व्यवस्थित कर देता हूँ। इस समय दोनों पक्षों में ही लम्बे काल से द्वेष की धारा बह रही है और अभी तो कुछ समय के लिए ही सही लेकिन तुम्हारे हृदय से भी मोह की धारा बह रही है। इसलिए तुम्हारे मोह की व्यवस्था कर रहा हूँ। उनमें तो केवल तुमलोगों के प्रति द्वेष है; किन्तु तुमलोगों में उनके प्रति द्वेष और मोह दोनों है। इसीलिए मैं तुम्हारे जीवनरथ पर बैठ गया हूँ। यदि तुम मुझे माँगने नहीं आये होते तो तुम्हारे रथ का सारथि क्यों बनता? दो बार तुमलोगों ने द्यूत क्रीड़ा की और उस समय दर्शक बनने को नहीं बुलाया, तो मैं कहाँ आया? इसलिए यह जान लो कि जो मेरा अन्तरंग भक्त है, मैं उसमें और वह मेरे में है ही। अतः वह अपनी श्रद्धा और विश्वास से मेरा कुछ विशेष अनुग्रह प्राप्त कर लेता है; इतने मात्र से ही बहुतों को मेरा व्यवहार विषम सा प्रतीत होने लगता है।

एक दिन एक साधक ने कहा कि अमुक साधक चौबीस घण्टे साधन–भजन में लगा रहता है; भगवान की उसपर विशेष कृपा हो गयी है तभी तो? महाराज ने कहा– हाँ, हाँ! बात तो सही है। तो उसने कहा– मैंने भी तो भगवान के लिए घर–बार से संन्यास ले लिया है, फिर वह मेरेपर कृपा क्यों नहीं करता? महाराज ने कहा– कोई घर से ही यहाँ साँवला आया है, तो थोड़ा सा संयम बरतने पर उसमें गोरापन प्रकट हो जाता है; लेकिन जो घर से ही विशेष साँवलापन लेकर आया है, वह कुछ विशेष समय के बाद ही तो गोरापना से प्रशस्त होगा? आप नहीं देख रहे हैं कि वह स्वभाव से ही विनम्र, शीलवान, संकोची एवं सहनशीलता आदि गुणों से सम्पन्न है। आप थोड़ी सी प्रतिकूलता में उबल जाते हैं लेकिन वही कष्ट उसपर आ रहा है, तो वह सम एवं शान्त बना रहता है। उसने घर छोड़ते समय घर का विकार राग–द्वेष, मोह–ममता, छल–कपट आदि भी घर पर ही छोड़ दिया; तब यहाँ आया और आप घर को छोड़कर आये, राग–द्वेष, क्रोध–लोभ आदि विकारों को छोड़कर नहीं आये। इसलिए पहले जो आप रोग लेकर आये हैं, उनकी चिकित्सा करनी होगी न! कोई साधक साथ में बाँह में फोड़ा (घाव) लेकर आया है, तो पहले उसके फोड़े को पकाया जायेगा, फिर चीरा जायेगा, तब सुखाया जायेगा तभी तो उसका साधन–भजन में मन लगेगा? इसलिए इन कारणों से भगवान और सद्गुरु को विषम

स्वभाववाला नहीं मान लेना चाहिए।

सब तो जानते ही हैं कि किसी पिता के चार पुत्र हैं, किन्तु उन चारों में से जो पुत्र विशेष पिता की आज्ञा में रहता है, उसे पिता का विशेष प्यार स्वाभाविक मिलता है और जो दुराचारी है, उससे उदासीनता भी स्वाभाविक प्रकट होती है। कंस तो उग्रसेन का इकलौता पुत्र था; किन्तु वे उसे राजसिंहासन पर नहीं बैठा रहे थे। इसलिए वह असुर–स्वभाववाला दुरात्मा जरासंध के सहयोग से अपने पिता को बंदी बना लिया, तो भी उन्होंने उसे राजा के रूप में नहीं स्वीकार किया। जो जैसे–जैसे आत्मतत्त्व को प्राप्त होता जायेगा, वह वैसे–वैसे ही ब्रह्म की तरह सम और शान्त होता जायेगा; किन्तु उसका व्यवहार समर्पित भक्त के प्रति प्रिय दीखेगा और द्वेषी के प्रति अप्रिय।

(समोऽहं सर्वभूतेषु.....) इस मंत्र द्वारा भक्त अर्जुन से मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम्हारे मन में मैं विषम व्यवहारवाला दिखाई पड़ रहा हूँ, जबकि ऐसी बात नहीं है। मैंने पहले ही कह दिया है कि जो मुझे जिस रूप में भजता है, उसे मैं उसी रूप में भजता हूँ। इस समय तुम सबलोगों ने मुझसे युद्ध माँगा था, तो मैंने तुमलोगों की युद्ध पिपासा को बुझाने का अवसर प्रदान किया है। मेरी तो युद्ध की इच्छा निश्चित ही नहीं थी, न है, न आगे रहेगी। यदि तुम यह कहते हो कि ये बहुत बड़े अपराधी हैं, तो ऐसी बात भी नहीं है। इनसे बड़े–बड़े ब्रह्महत्यारे अपराधी मेरी शरण में आ चुके हैं, जिनकी शरणागति को मैंने स्वीकार किया है और उनके सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा भी किया है। अतः इनकी चिन्ता छोड़कर तुम स्वयं सम्पूर्णता से मेरी शरण में आ जाओ। यदि तुम स्वयं को बड़ा अपराधी मानकर मेरी शरण में अपने को आने योग्य नहीं मानते हो, तो ऐसा मत सोचो–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥

यदि कोई पापात्माओं का भी सिरताज है और वह अनन्य भक्ति के साथ ऐसा निश्चय करके आता है कि 'भगवान के सिवा यहाँ पर कोई है ही नहीं; भगवान ही सब रूपों में है, इसलिए आज से अहिंसा आदि व्रतों के साथ भगवान की ही शरण में रहूँगा। आज मैं सम्पूर्ण संसारभाव को त्यागता हूँ', तो इसप्रकार के शरणागत को मैं शीघ्र ही संत बना देता हूँ, जिससे वह सदा रहनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है। हे कौन्तेय! तुम यह सत्य जानो कि पुनः वैसे भक्त का कभी पतन नहीं होता अर्थात् जीवभाव को वह प्राप्त नहीं करता।

सर्वविदित है कि रत्नाकर जैसे ब्रह्महत्यारे, चोर–डकैत भगवान के शरणागत होकर घोर तपस्वी बन जाते हैं, फिर वे ब्रह्मर्षि वाल्मीकि कहे जाते हैं, क्योंकि तपस्या करते–करते इतने समय के लिए समाधिस्थ हो गये कि दीमकों ने उनके शरीर पर ही बाँबी बना लिया। दीमक

किसी भी पदार्थ को खाते–खाते छोटे से टीले के आकार का मिट्टी का ढेर लगा देती हैं, उसी को बाँबी कहते हैं। परम ज्ञान होने पर उस बाँबी से निकलने के कारण से उन्हें वाल्मीकि कहा गया। आगे चलकर वे ही ब्रह्मर्षि, भगवान आदि उपाधियों से विभूषित हुए।

उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।
(श्रीरामचरितमानस–बालकाण्ड)

मानो भगवान ने दीमक बनकर उनका पूर्व का शरीर ही खा लिया और नूतन शरीर का सृजन कर दिया। मानस में फिर कहा–

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।
(श्रीरामचरितमानस–उत्तरकाण्ड)

भक्ति का बल इतना है कि वहाँ तपोबल, योगबल, ध्यानबल, समाधिबल अपने–आप प्रकट हो जाता है और कालान्तर में वही बल ब्रह्मबल बन जाता है। पूर्वोक्त मंत्र में कहा गया है कि शुभ–अशुभ को समर्पित कर दो अर्थात् प्रभु के पास (सद्गुरु के पास) अपना पाप–पुण्य लेकर जाओ, क्योंकि छोटा बालक माँ के पास मैले से लिपटा हुआ ही तो आता है? माँ को बेटे के मल में दुर्गन्ध नहीं आती बल्कि वह प्यार से सफाई कर उसका शृंगार कर देती है, तब वह बालक सबके गोद में जाने योग्य हो जाता है। उसीप्रकार भगवान भी भक्त के पाप–पुण्यरूप मैले को उसी भाँति धोकर उसे अपने सहित जगत के योग्य बना देता है। सब जानते हैं कि गाय शाकाहारी है; किन्तु साल में एक बार अपने शिशु के प्रेम में भरकर मांसाहारी बन जाती है। उसका बछड़ा चमड़े की पतली झिल्ली में लिपटा रहता है जिसे जेर कहते हैं उस जेर को वह चाट जाती है (खा जाती है); इतना ही नहीं बछड़े के जन्म लेने के उपरान्त गाय के पेट से डेढ़–दो किलो का मांस का लोंदा निकलता है उसको भी जेर कहते हैं। यदि सावधानी न बरती जाय तो वह उसे भी खा जाती है। वह उसे इसलिए खा जाती है कि यह जेर पुनः मेरे बछड़े को ढक न ले। भगवान भी ऐसा ही कहते हैं कि शरणागत भक्त का पाप भी मैं गाय जैसा ही खा जाता हूँ और उसे साधु स्वभाववाला बना देता हूँ ताकि फिर वह जीव–स्वभाववाला न बने।

यदि भगवान किसी साधक तथा भक्त के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर रहा है, तो उसे जानना चाहिए कि कहीं न कहीं मेरी शरणागति में अवश्य कमी है। एक और भी बात स्पष्ट हो रही है कि आप दृढ़ निश्चयी होकर भगवान के शरणागत हो गये हैं, तो आपका मन जप, तप, योग, ध्यान में ही लगेगा, व्यर्थ के गप–शप में नहीं लगेगा।

(न मे भक्तः प्रणश्यति.....) प्रभु ने तो स्पष्ट कह दिया है कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। इस न्याय से साधक का यदि नाश होता है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से, अस्त्र–शस्त्र से, काम–क्रोध, लोभ–मोह, ममता, छल–कपट, दम्भ–पाखण्ड से तो यह उसके लिए विचारणीय विषय है। क्योंकि पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों की भी आत्मा तो भगवान ही हैं, काम–क्रोधादि विकारों की भी आत्मा भगवान ही हैं, चाहे ये भीतर से प्रकट हों

या बाहर से, परन्तु भगवान तो भीतर–बाहर सर्वत्र हैं, अतः ये सब भगवान की आत्मा को भलीभाँति पहचानते हैं। यदि ये साधक (भक्त) को परेशान कर रहे हैं, तो जानना चाहिए कि कहीं न कहीं उसकी शरणागति में कमी है। जिसप्रकार रोटी पकाने के सम्पूर्ण अंगों में से एक अंग की भी कमी है तो रोटी नहीं पकेगी– आटा है, जल है, लकड़ी है, बर्तन है, लेकिन अग्नि है ही नहीं तो रोटी नहीं पकेगी अथवा जल ही नहीं है या लकड़ी नहीं है तो रोटी नहीं बनेगी। उसीप्रकार शरणागति के सम्पूर्ण अंगों में से एक अंग की भी कमी है तो शरणागति पूरी नहीं मानी जायेगी। आप अपने दोष को, पाप को न देखें, आप देखें कि मैं भगवान को ही माता–पिता, हित–मित्र, भाई–बान्धव आदि मान रहा हूँ कि नहीं मान रहा हूँ। भगवान श्रीराम ने सम्पूर्ण शरणागति के अंगों को अथवा सम्पूर्ण शरणागति के स्वरूप को विभीषण के पास कैसे कहा है, इसको देखें–

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।।
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।।
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें।।
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें।।

दो०– सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम।।४८।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

प्रभु ने स्पष्ट कहा कि माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि नातों को तथा तन, धन, घर, मित्र और परिवार के प्रति आसक्ति को अर्थात् इन सबकी आसक्ति को इकट्ठा करके एक दिव्य डोरी बना ले और उसी दिव्य डोरी से अपने मन को मेरे चरणों से बाँध दे; फिर तो वह भक्त मेरे हृदय में ही वास करता है अर्थात् मैं अपने हृदय में उसे वैसे ही बसाता हूँ, जैसे लोभी अपने हृदय में धन को बसाता है (यहाँ दोहे में द्विज शब्द से सद्गुरु समझना चाहिए)। हे प्रिय! जो सगुण उपासक हैं, सबकी भलाई चाहते हैं तथा सद्गुरु के प्रति जिनका ब्रह्मभाव ही है, वे भक्त मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं।

भगवान ने तो यहाँ पर सबकुछ कह दिया। साधक (भक्त) भगवान को अपने हृदय में बसाना चाहते हैं; किन्तु वे शीघ्रातिशीघ्र बसा नहीं पाते; परन्तु यदि उनमें सम्पूर्ण शरणागति है, तो भगवान तत्काल ही अपने हृदय में उन्हें बैठा लेता है। भगवान को हृदय में कोई क्या बैठायेगा! किसी के सीमित हृदय में वह व्यापक ब्रह्म कैसे समायेगा! हाँ, आप उसके व्यापक हृदय में सहज ही बैठ पाते हैं, यदि शरणागत हैं तो!

(अनन्याश्चिन्तयन्तो मां..... 'एवं' अपि चेत्सुदुराचारो.....) ये दोनों मंत्र भक्तों में अति प्रसिद्धि को प्राप्त हैं, अतः इनके गूढ़ात्मक तत्त्व को पुनः देख लें– मरे हुए को क्या मारना, जगत तो मरा हुआ है। मायावाद की सत्ता नहीं होती, मायावाद की सत्ता मायावादियों के पास होती है, कर्मवादियों एवं भाग्यवादियों के पास होती है, जो भगवानवादी हैं उनके पास मायावाद की शक्ति–सामर्थ्य की बात नहीं की जाती है।

जैसे एक भक्त ने कहा था कि मैं कर्म की प्रशंसा करता हूँ। महाराज कहता है कि नहीं, न ही महाराज ने और न ही किसी संत ने कर्मवाद या भाग्यवाद की प्रशंसा की है। नदी के दो किनारे हैं कर्मवाद और भाग्यवाद, एक तीसरा ऐसा केन्द्रबिन्दु है जहाँ से संत आवाहन करते हैं साधकों–भक्तों सिद्धों को कि कर्ममार्ग का भी त्याग कर दें और भाग्यवाद का अर्थात् अकर्मण्यता का भी त्याग कर दें, वह केन्द्रबिन्दु है जल जिसमें वे नौका लिए खड़े हैं। वे कहते हैं– आओ इसमें बैठ जाओ, किनारे पर चलने की या बैठे रहने की बात मत करो।

इसी को रामचरितमानस के अन्तर्गत प्रभु श्रीराम ने राज्याभिषेक के उपरान्त अपनी प्रजा के बीच कहा था कि जहाँ एक मत कहता है कि 'शरीर प्रारब्ध से बना है, जो पुण्य एवं पाप का भोक्ता है,' यह बात तो उन अज्ञानियों से कही जाती है जिन्हें भगवान का अता–पता तो दूर लेकिन 'भगवान हैं'– इस बातपर भी विश्वास नहीं है, लेकिन वहीं दूसरा मत कहता है कि जिन्हें भगवान की शक्ति–सामर्थ्य और उसकी सर्वज्ञता पर, व्यापकता पर विश्वास है उनसे तो कर्मवाद एवं भाग्यवाद की बात नहीं की जायेगी।

वे कहते हैं अपनी प्रजा से कि मैं नहीं समझता कि आप सब मेरी बात का विरोध करेंगे। मैं तो समझता हूँ कि जो मैं कहूँगा उसपर आप सब विश्वास करेंगे। अतः आज मैं कहता हूँ कि जो आप सब समझ रहे हैं कि पुण्य और पाप कर्मों का भोक्ता यह शरीर अपने कर्मों से ही जन्म लिया है तो यह बात नहीं है बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि प्रभु ने ही कृपा कर दी, जिससे कि आपलोगों को यह मानव शरीर मिला। यह कृपा साध्य है, कर्म साध्य नहीं, जबकि मानव योनि के पूर्व की अन्य योनियाँ चाहे वे देवता हों, गन्धर्व हों, भूत–प्रेत, राक्षस आदि हों चाहे पशु–पक्षी ही क्यों न हों– ये सारे के सारे कर्म साध्य हैं, वे ही भाग्यवादी हो के रह जाते हैं। कर्म से उत्पन्न होनेवाला, भाग्य के आश्रित रहनेवाला यह शरीर तो कुछ कर ही नहीं सकता इसलिए पुण्य एवं पाप का भोक्ता उन्हीं शरीरों को कहा जाता है। मानव शरीर भगवान का भोक्ता होता है न कि पाप एवं पुण्य का। यह भगवत् कृपा से प्राप्त होनेवाला दिव्य शक्ति से सम्पन्न, अपने भीतर–बाहर रमण करनेवाला अर्थात् व्याप्त ब्रह्म को प्रकट करनेवाला कर्म विपाक से निर्मित कैसे हो सकता है; क्योंकि कर्म से तो कर्म की व्युत्पत्ति होती देखी जाती है। यदि कर्म से कर्म की व्युत्पत्ति होती है और कर्म प्रधान यह शरीर है तो फिर भाग्य उसके साथ–साथ चलता है। दायीं भुजा–बायीं भुजा, पेट एवं पीठ ये कर्म एवं भाग्य के द्योतक होते हैं लेकिन यहाँ ऐसा नहीं देखा जाता। यहाँ देखा जाता है कि सन्तों ने, ऋषि–महर्षियों ने कर्म एवं भाग्य को किनारे कर एक ऐसे दिव्य भाव की संरचना की है जिस भाव में उनका भगवान प्रतिष्ठित हो

जाता है। कुछ ऐसी माताओं ने घोर जप–तप करके निर्गुण–निराकार ब्रह्म को आवाहन करके अवतार लेने के लिए विवश कर दिया है। कुछ ऋषि–महर्षियों ने अपनी दिव्य प्रज्ञा में, मन में, बुद्धि में, चित्त में और इन्द्रियों में तथा तन में और उन सारे अंग–उपांगों के भीतर–बाहर में उस अन्तर्यामी नारायण को अपने लिये सार्थक कर लिया है, प्रकट कर लिया है, इससे सिद्ध होता है कि यह शरीर कर्मप्रधान और भाग्यप्रधान नहीं है। 'क' का तात्पर्य कौआ नहीं होता है, 'ख' का तात्पर्य खरगोश नहीं होता, 'ग' का तात्पर्य गधा नहीं होता। यद्यपि यह चित्र उसके आगे चित्रांकित भी किया जाता है; क्योंकि बालक उस चित्र को देखकर 'क' को पकड़ने का प्रयत्न करे। एक कौतूहल प्रकट किया जाता है किन्तु आगे बढ़ने पर जब 'कृ' धातु का उसे पता चल जाता है तब वह 'कृ' धातु से 'आकर्षण करता है' ऐसा अर्थ लगाता है। अतः एक समय में जो आचार्य 'क' का तात्पर्य कौआ बतलाता था, वह दूसरी अवस्था में जब बालक की बुद्धि समझने की योग्यता रखती है तब, 'कृ' धातु से 'आकर्षण करनेवाला' ऐसा यह पद है, ऐसा ज्ञान देता है। इससे सिद्ध होता है कि लोकमत, शास्त्रमत और संतमत इन तीन मतों में संतमत ग्राह्य है। साधनावस्था में गृहस्थाश्रमी साधकों के लिये शास्त्रमत ग्राह्य है, लोकमत कभी–कभार ग्राह्य है, सदा ग्राह्य नहीं है। अतः भगवान नारायण ने कहा– 'अपि चेत्सुदुराचारो.....सम्यग्व्यवसितो हि सः'। यदि आप मानते हैं कि कर्म प्रधान ही शरीर है तो कोई बात नहीं। यद्यपि ऐसा है नहीं लेकिन आपके सिद्धान्त को प्रभु ने स्वीकार किया। किन्तु इतना जान लें कि गाय मांसाहारी नहीं होने पर भी बछड़े को जन्म देते समय जेर को खाकर मांसाहारी सा व्यवहार करती है उसी तरह भगवान भी भक्तों का सम्पूर्ण पाप खाकर कर्म एवं भाग्य के अस्तित्व को नकारते हैं।

इस मंत्र के द्वारा यह संकेत है कि यही बात प्रभु के साथ भी है। यदि कोई समझता है कि मैंने पाप से भी बड़ा महापाप कर दिया है, ब्रह्महत्या का पाप या गुरुद्रोह कर दिया है, कन्याओं का, बाल–बच्चों का वध कर दिया है, स्त्री का वध कर दिया है, गोशाला में आग लगा दी है, गायों का वध कर दिया है इत्यादि इत्यादि, जिनका समाधान कुछ शास्त्रों ने प्रायश्चितस्वरूप मर जाना ही कहा है या पश्चात्ताप के साथ बड़ी घोर तपस्या का विधान किया गया है, तो ऐसी बात नहीं है। जैसा कि सभी जानते हैं कि राजा पाण्डु के द्वारा ऐसा ही अपराध बन चुका था जिसका समाधान महात्मा विदुर ने यह कहकर किया कि आप अभी इसी क्षण हस्तिनापुर का त्याग कर बन में जाकर घोर तप करें, फिर–फिर आप हस्तिनापुर नहीं लौटेंगे। आपके द्वारा जो अपराध हुआ है उसका दण्डविधान यही किया जाता है कि या तो आप मृत्यु को स्वीकार करें या तो सदा–सर्वदा के लिये वनप्रदेश में वानप्रस्थी जीवन को स्वीकार करें। महात्मा पाण्डु ने वनप्रदेश में रहना स्वीकार कर लिया। वहीं पर शरणागत भक्त के लिये इस शास्त्रोचित दण्ड को भगवान स्वीकार नहीं करते। भगवान के अनुसार तो यदि पाण्डु जैसा अथवा कोई उनसे भी बढ़कर महापापी है तो भी जिस दिन शरणागत होता है, उसके पापों को वह निगल जाता है। भगवान अपने भक्तों का पाप खाता है और उनके पुण्य को उनके पास रहने देता है। यदि उनके पुण्य के प्रताप के बल पर सिद्धियाँ आती हैं और वे उसे अस्वीकार कर देते हैं तो कालान्तर में वह पाप तो खाये ही रहता है और पुण्य को भी ब्रह्मविद्या बना देता है। इसी

से तो प्रभु कहते हैं कि (मां हि पार्थ.....) कहाँ तो वैदिकमत कहता है कि शूद्र, कोल–भील, चाण्डाल एवं म्लेच्छ आदि यज्ञ–कुण्ड में नहीं जा सकते, यज्ञशाला में नहीं प्रवेश कर सकते, वहीं पर प्रभु की यज्ञशाला में तो वे सहर्ष प्रवेश कर सकते हैं अर्थात् भगवान के शरणागत होने के वे सभी अधिकारी हैं– चाहे वे वेश्या या शूद्र ही क्यों न हों, चाण्डाल ही क्यों न हों, किन्तु प्रभु की दृष्टि में तो सभी उन्हीं की सन्तान हैं। अतः उन सन्तानों में से कोई भी सन्तान उनके शरणागत होती है तो वे उसी समय अपनी आत्मा बना लेते हैं, जबकि जगत की दृष्टि में वे कुछ काल तक महापापी कहे जायेंगे। महाराज ने एक विलक्षण बात देखी है। एक साधक ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ता था। उसके गाँव में यदुवंशीय भक्त को बुखार हो गया तो उसने अपने बेटे को भेजा कि जाओ उन्हें बुला लाओ। साधक तो उस समय विद्यार्थी था लेकिन चूँकि संयम के साथ रहता था तो लोग समझते थे कि ये साधु ही हो गये हैं। साधक के पास कोई विशेष शक्ति (सिद्धि) नहीं थी लेकिन बहुत बाध्य करने पर वह वहाँ पहुँचा जहाँ उनके सिंहद्वार पर बहुत लोग चारपाई पर बैठे थे। वे सब एक साथ खड़े हो गये तो साधक ने कहा उस बुखार से पीड़ित भक्त से कि आप लेटे रहें, लेटे रहें, लेटे रहें लेकिन वह पचहत्तर वर्षीय वृद्ध, जिसे अति पीड़ा थी, बुखार से काँप रहा था, कहा कि ना! ना! ना! हम आपके सामने चारपाई पर नहीं बैठेंगे। साधक ने कहा कि 'आपत्तिकाले धर्मो नास्ति' आपत्ति काल में विशेष धर्म नहीं रहता न! तो भक्त ने कहा कि ना! ना! ना! संतुष्टि नहीं हो रही है। यदि आपकी जगह आपके पिताजी होते तो आज सचमुच में मैं लेटा रहता लेकिन आपके सामने नहीं लेट सकता– यह छोटा सा एक उदाहरण है। जब आप भगवान के शरणागत होते हैं तो भगवान की बात तो दूर, जगत के लोग ही ऐसा व्यवहार करते हैं कि वह देखते बनता है। केवल भगवान के नाम पर भारतवर्ष में पूजा होती है। गेरू वस्त्र पर, दाढ़ी पर, बाल पर, त्रिपुण्ड पर, ऐसी पूजा होती है, ऐसी पूजा होती है कि देखते बनता है। यदि कोई शरणागत होकर पुनः संसार का हो गया तो भी–

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।।
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

प्रभु ने कहा– जो बाली ने अपराध किया वही सुग्रीव ने किया, जो रावण ने किया लगभग वही विभीषण के द्वारा भी हो गया। कुछ ऐसा संदर्भ है जो कि बताया नहीं जायेगा लेकिन कुछ ऐसा तत्त्व विभीषण के द्वारा भी हुआ जो नैतिक नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्रभु श्रीराम ने कभी उन दोषों की तरफ देखा ही नहीं बल्कि जीवनपर्यन्त उन महापुरुषों को आदर, मान, सम्मान देते रहे और उनकी बड़ाई करते रहे। वे कहते हैं कि मेरे परम प्रिय भरत से भी कहीं ये विशेष हैं। यही बात इस अध्याय में भगवान कहते हैं कि 'महापापी से भी पापी यदि कोई शरणागत हो जाता है तो मैं महाकाल बनकर उसके पाप को निगल जाता हूँ।' यहाँ पर चिन्तन करने का विषय है। उसीप्रकार के भक्त के लिए कहते हैं– 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां.....योगक्षेमं वहाम्यहम्'।

महाराज ने बंगाल के एक परिवार में प्रत्येक सदस्यों से कहा कि इस मंत्र को दीवार पर लिख लें या कागज पर लिख लें ताकि जब–जब प्रवेश करें तब–तब दिखाई पड़े। इसका भाव है कि जो सच में मेरा भक्त हो गया है उसके पास जो वस्तु है मैं उसकी रक्षा करता हूँ, जो नहीं है उसे लाकर देता हूँ। उनका प्रश्न था कि हम गरीब क्यों हो गये हैं? हमारे पास पाँच–छः फैक्टरियाँ थीं लेकिन आज बहुत दीनता आ गयी है, बड़ी समस्या हो गयी है, चौराहे पर आने की स्थिति हो गई है तो ऐसा कौन सा अपराध हो गया है? तो महाराज ने कहा कि पहले इसके द्वारा चिन्तन करें कि आप भगवान के हैं? वे सब सदस्य कहते थे कि हाँ हम भगवान के हैं। महाराज ने कहा– खुले स्वर में कह रहे हैं? उनलोगों ने कहा– हाँ! खुले स्वर में कह रहे हैं। महाराज ने कहा– तो ठीक है, भगवान से आप कहना कि आप कहते हैं– जो है उसकी रक्षा करता हूँ, जो नहीं है लाकर देता हूँ, किन्तु हम सबके लिये तो आपका कहा हुआ सत्य नहीं हो पा रहा है? हे प्रभु! क्या बात है? इतना महाराज बताए देता है कि आप सब भगवान के भक्त नहीं हैं, आप सब चोर हैं, महाछली हैं, कपटी हैं। अपना छल–कपट, अपनी चोरी सहसा भक्त को दिखाई नहीं पड़ती। भाई भाई से , पिता पुत्र से चोरी करता है; पत्नी पति से, पति पत्नी से चोरी करता है; मित्र मित्र से चोरी करता है, तो ये चोरी गुरु से चोरी करने के बराबर ही मानी जाती है और आप सब जानते ही हैं कि मित्र, गुरु तथा माता–पिता से चोरी करनेवाला ही सुदामा की तरह गरीब हो जाता है। महाराज ने इकट्ठा किया उनलोगों को एक दिन और उनमें से एक माँ से कहा कि हाँ, तो सत्य सत्य बता दो कितना चुराया है तूने इस परिवार में अपने पति के जेब में से, कितना निकाला है? उसने कहा– दस लाख रुपया। दूसरे से पूछा– कितना चुराया तूने? उसने कहा– सात लाख। किसी ने कहा पाँच लाख, इसीप्रकार सबने अपनी चोरी की कहानी कह दी। प्रत्येक माताओं के पास लाखों के गहने हैं, एक दिन घर की नववधू ने अपनी छोटी ननद (कुँवारी) को गले की एक जंजीर दे दी, इसलिए कि उसकी जंजीर कहीं खो गयी थी तो बहू की सास ने कहा कि उसको तूने जंजीर क्यों दी? वह उसकी देवरानी की बच्ची थी। बहू ने डर से कहा– माँजी! अपराध हो गया, उनके गले की जंजीर खो गयी थी तो मैंने दे दी। सास ने कहा कि उससे माँग लो जंजीर! महाराज को पता चला तो महाराज ने पूछा बहू के पति से कि पूछो अपनी माँ से कि वह जंजीर उसने अपनी बहू को पहनने के लिए दी थी या दो–चार, दस–पन्द्रह दिन दिखाने के लिए? तो उसने पूछा। उसकी माँ ने कहा– मैंने तो जीवनपर्यन्त पहनने के लिए दी थी। महाराज ने कहा कि तब तो उस गहने पर बहू का अधिकार हो गया, उसे वह चाहे तो दान कर दे या चाहे तो पहने! कन्या के गले से जंजीर उतार लेना– इसी को तो चोरी कहते हैं। दुर्योधन ने यही तो पूछा था अर्जुन से कि 'अर्जुन तुम बताओ कि तुमने बाण किस पर चलाये, अपने बड़े भाई कर्ण पर या सूतपुत्र कर्ण पर? बाण किस पर चलाये तूने, मेरे मित्र कर्ण पर अथवा अपने बड़े भाई कर्ण पर? जो तुम आग देना चाहते हो, इस शव पर तो मेरा अधिकार है! तूने तो आज जाना कि ये तुम्हारे बड़े भाई हैं।' तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने कहा कि अर्जुन! ये ठीक कह रहे हैं और जो अग्नि देने के लिए तैयार थे महात्मा युधिष्ठिर, उनसे कहा कि भैया आप दे दें, आग दुर्योधन को दे दें, शव पर इनका ही अधिकार है। यही

बात उस बहू की सास से कही कि ब्रह्महत्या का पाप लग गया तुम्हारे को, सोने की चोरी ब्रह्महत्या के पाप में आती है। यदि तुम कहती हो कि इतने साल हो गये गरीबी को झेलते हुए जबकि हम भगवान के हैं, लेकिन अभी तक कोई चमत्कार नहीं हुआ तो हररोज तो तुम चोरी कर रही हो और कहती हो कि कृपा क्यों नहीं हो रही है!

भगवान कहते हैं कि पापी हैं आप लेकिन जिस दिन कहते हैं कि आज से मैं पाप नहीं करूँगा, ऐसा दृढ़निश्चय कर लेते हैं जो कि आपके अधिकार में है तो उसी दिन से प्रभु आपका रक्षक हो जाता है। वेश्या के पास न जाना अपने अधिकार में नहीं है लेकिन जूआ न खेलना अपने अधिकार में है, शराब न पीना अपने अधिकार में है। किसी बहन–बेटी को न पकड़ना अपने अधिकार में नहीं है, पकड़ना न पकड़ना दोनों अपने अधिकार में नहीं है क्योंकि एक ही है वह काम जिसका समाधान राम करता है, काम के प्रकट होने पर एकमात्र प्रभु की शरणागति ही काम आती है। महाराज ने खोज की है कि एक ही जगह पुरुष विवश है वह है काम, वहाँ पर उसका पौरुष काम नहीं आता, भगवान काम आता है। अतः भगवान ने स्पष्ट कहा है कि 'काम एष क्रोध एष.....विद्ध्येनमिह वैरिणम्।'

इसका समाधान तो एकमात्र हुंकार करने से होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'सर्वाहमस्मि' ये दो मंत्र उसके लिए हैं। अज्ञात होकर, जगत से मौनी होकर या तो वह आत्मजिज्ञासु 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा करके सदा ध्यान में रहता है या काकभुशुंडि के आदर्श को ले लेता है–

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।
(उत्तरकाण्ड)

वे कहते हैं कि जितने नर हैं वे भगवान के रूप हैं और जो मादा हैं वे भगवती सीता के रूप हैं। मैं तो प्रभु श्रीराम एवं भगवती सीता को देखता फिरता हूँ, अतः मैं किससे विरोध करूँ । अब एकमात्र प्रेम ही रह गया द्वेष की कोई जगह न रही। किन्तु अन्य जगहों में आप चाहें तो सत्य बोल सकते हैं, चाहें तो आप अहिंसा का पालन कर सकते हैं, चाहें तो आप अस्तेय का पालन कर सकते हैं, चाहें तो आप अपरिग्रह का पालन कर सकते हैं। आप एक का पालन नहीं कर सकते वह है ब्रह्मचर्य। उस ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए एकमात्र सद्गुरु आश्रम में उसकी सम्यक् अध्यक्षता की आवश्यकता होती है। अन्य जो चार तत्त्व हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इनका आप गृहस्थाश्रम में भी पालन कर सकते हैं लेकिन ब्रह्मचर्य का सद्गुरु की अध्यक्षता में होकर ही पालन हो सकता है। यदि आप घर में ही हैं तो सद्गुरु की अध्यक्षता में राजा जनक की तरह रहते हैं या रघुवंशियों की तरह रहते हैं? रघुवंशियों की आत्मा गुरु वसिष्ठ होते हैं, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ होते हैं, राजा जनक की आत्मा अष्टावक्र होते हैं, वैसे ही घर में भी उन्हीं जैसे आत्मज्ञानी गुरु का आप पर शासन है तो आप वहाँ पर ब्रह्मचारी हो सकते हैं या वन में शुकदेव हो सकते हैं, जो अपने पिता को गुरु भी मानते हैं पिता भी मानते हैं, उनकी अध्यक्षता में रहते हैं। इसप्रकार एक ही जगह आप असमर्थ हैं, वहाँ पर आवाहन किया जाता है सद्गुरु का। भगवान कहते हैं– जो है मैं उसकी रक्षा करता हूँ। किसकी? जिसने

संकल्प ले लिया है कि आज से मैं किसी की चोरी नहीं करूँगा, किसी को नहीं सताऊँगा, किसी से झूठ नहीं बोलूँगा (यदि संन्यास ले लिया है) अपने पास कल के लिए बचाकर कुछ भी नहीं रखूँगा इत्यादि इत्यादि। उसके लिए ही यह मंत्र सार्थक होता है कि जो उसके पास वस्तु नहीं है लाकर देता हूँ, जो है उसकी रक्षा करता हूँ, उस अहिंसक की सुरक्षा करता हूँ– जो अपने मित्र की हिंसा नहीं करता, अपनी माँ की हिंसा नहीं करता, अपने पिता की हिंसा नहीं करता, अपने भाई की हिंसा नहीं करता, अपने गुरु की हिंसा नहीं करता। मैं उसकी सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेता हूँ, उसके पास जो नहीं है लाकर देता हूँ, जो है उसकी रक्षा करता हूँ, मैं उस सत्यवादी की सुरक्षा करता हूँ, उस सत्यवादी के पास जो नहीं है लाकर देता हूँ और जो है उसके पास उसकी रक्षा करता हूँ। जो कभी भी अपने पिता के पास झूठ नहीं बोलता, जो अपनी माँ के पास झूठ नहीं बोलता, जो गुरु के पास झूठ नहीं बोलता, जो अपने भाई के पास झूठ नहीं बोलता, जो अपने मित्र के पास झूठ नहीं बोलता, जो अतिथि के पास झूठ नहीं बोलता, उसके पास जो नहीं है मैं लाकर देता हूँ, जो है उसके पास उसकी सुरक्षा करता हूँ, जो कल की चिन्ता नहीं करता लेकिन कल उसे कुछ चाहिए तो मैं उसको लाकर देता हूँ। इस मंत्र का प्रयोग करके दिखाता है महाराज– चाहे घर में हों चाहे बाहर हों, यदि अतिथि आ गया सर्वस्व लेनेवाला तो सर्वस्व दे दिया राजा रघु की तरह, तो कल की चिन्ता करता है भगवान उसकी। राजा रघु से कौत्स नामक ब्रह्मचारी ने माँग की थी और उस दिन उन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया था। ऐसी बहुत सी आख्यायिकाएँ हैं, जो गृहस्थाश्रमी को भी अपरिग्रही बनाती हैं, कल की चिन्ता न करने के लिए बाध्य कर देती हैं। जो देश, काल, अवसर से प्राप्त हुए पात्र के सामने यह नहीं कहता कि कल के लिए मैं बचा के रखूँ, उसके कल की चिन्ता भगवान करता है।

(अनन्याश्चिन्तयन्तो मां.....) धर्म और भगवान– गृहस्थाश्रम में धर्म भगवान है, संन्यासाश्रम में त्याग भगवान है। आये दिन ब्रह्मचारियों से कहता रहता है महाराज– भगवान, भगवान, भगवान, भगवान; भगवान तो नरसिंह बनकर आता है, भगवान मछली बनकर आता है, भगवान साड़ी बनकर आता है, किन्तु आपके पास भगवान किस रूप में आयेगा क्या आप जानते हैं? आपके पापों का दमन करने के लिए आपके पास किस रूप में आयेगा क्या जानते हैं? यदि नहीं जानते तो जिस रूप में आया है उसका आप स्वागत करें तो फिर जिस रूप में आना चाहिए कालान्तर में आपको संतुष्ट करने के लिए, आपको वरदान देने के लिए, सुख–शान्ति देने के लिए, परम शान्ति देने के लिए वह उस रूप में भी आयेगा। तो किस रूप में आया है? हाँ, वह है गृहस्थाश्रम का धर्म (भगवान का रूप), जो कि अभी कहा महाराज ने कि कम से कम पाँच के पास तो आप निर्विकार हो जाएँ, पाँच के पास तो आप अचोर हो जाएँ, अहिंसक हो जाएँ, ये सब गुरु की प्रतिमूर्ति माने जाते हैं। गुरु के साथ द्रोह, गुरु को भला–बुरा कहना, गुरु की अवहेलना करना या पिता के साथ द्रोह, पिता को भला–बुरा कहना या पिता की अवहेलना करना बात तो बराबर है, शास्त्र ऐसा कहता है। महात्मा प्रह्लाद ने पिता के द्वारा सताये जाने पर कभी भी घृणित प्रतिवाद नहीं किया। सत्य तो कहा लेकिन अनादर नहीं किया, यह देखा गया है। आज्ञा तो नहीं मानी लेकिन अपमान भी नहीं किया, जो नहीं माननी चाहिए आज्ञा उसे

नहीं माना लेकिन पूज्य भाव का त्याग नहीं किया। अपने भगवान को पाकर जिन्होंने अपने गुरु के पुत्र को जीवित कर दिया था, वैसे सिद्धि से सम्पन्न महात्मा प्रह्लाद अपने पिता को शाप भी दे सकते थे, लेकिन आख्यायिका आप देखें, संदर्भ को पढ़ें। श्रीमद्भागवत महापुराण में वे पिता से कहते हैं कि आप मेरे लिए प्रभु हो सकते हैं लेकिन आप अपने प्रभु को भूलकर मेरे प्रभु हो सकते हैं, ऐसा नहीं हो सकता। आपका प्रभु तो प्रभु है ही, हाँ आप मेरे लिए प्रभु हो सकते हैं, लेकिन मेरी आत्मा के लिए आप भगवान नहीं हो सकते, प्रभु नहीं बन सकते। शरीर के लिए प्रभु हो सकते हैं, क्योंकि यह मेरा आदर्श व्यवहार है। यह धर्म है, मैं धर्म का उल्लंघन नहीं करता, लेकिन परम धर्म का त्याग भी नहीं करता। शरीर पर आपका अधिकार है, माँ का अधिकार है, आपकी प्रजा का अधिकार है, आप उसे मारें, पीटें, जलायें, कुछ भी करें इसमें मैं कुछ नहीं कहूँगा लेकिन जो यथार्थ है उस विषय में कहे बिना रहूँगा भी नहीं। मैं तो इतना कहूँगा कि जिसके शरणागत मैं हूँ उसी के शरणागत होने से आपका भी कल्याण होगा। पिता कहता है कि अरे मूर्ख! मैं त्रिलोकपति हूँ, क्या तेरा भगवान त्रिलोकपति है? तूने अपने भगवान को देखा है? प्रह्लाद ने कहा कि आप त्रिलोकपति हैं लेकिन मैं नहीं समझता कि तीन ही लोक हैं। असंख्य लोक हैं और ये असंख्य लोक होकर के एक अणु हैं, जैसे आपके रक्त में अणुओं की भरमार है, उसमें से एक अणु निकाला जाय वैसे ही आपके तीन लोक नहीं बल्कि असंख्य लोक हैं। ये असंख्य लोक एक लोक में निहित हैं, यह लोक एक अणु है। मेरा भगवान किसी लोक का पति हो ये शोभा नहीं देता। महात्मा प्रह्लाद ने कहा था– सपने के पति तो आप हैं नहीं, तो त्रिलोकपति कैसे हो सकते हैं आप? सपना आपके अधिकार के बाहर है, वह भी एक लोक है। जिसकी शक्ति–सामर्थ्य सपने में निष्क्रिय हो जाती है, शून्य हो जाती है, वह कहता है– मैं त्रिलोकपति हूँ! तर्क–वितर्क होते–होते क्या परिणाम हुआ, आप सभी जानते हैं। उसने कहा– तेरा भगवान इस खम्भे में है क्या? यदि लोक की बात नहीं करते हो तो बताओ इस खम्भे में है? प्रह्लाद ने कहा कि हाँ खम्भे में भी है, आपकी तलवार में है, आपकी गदा में है, आपके हर अंग–उपांग में है, मेरे भी अंग–उपांग में है। महात्मा प्रह्लाद ने दिखा के ही माना, जैसा कहा उस आत्मज्ञानी ने वैसा दिखाया लेकिन पुत्रधर्म का त्याग नहीं किया, यह धर्म है। 'वैसे भक्त के पास जो है उसकी रक्षा करता हूँ, जो नहीं है लाकर देता हूँ।' भगवान के इस मंत्र को पाकर तो किसी बात की चिन्ता का विषय नहीं रहता, कल की चिन्ता नहीं रहती। देखना ये होता है कि क्या धर्म का सांगोपांग पहलू हमारे पास है? यदि नहीं है तो कोई बात नहीं। कौन–कौन सा पहलू है आपके पास, धर्म के बहुत से पहलू हैं, उन पहलुओं में से यदि एक पहलू भी पकड़ में आ गया तो धीरे–धीरे सारे के सारे पहलू अपने सामने आ जायेंगे।

माण्डवी (दुबई) कहती है कि पिता का व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगता, तो उससे महाराज ने कल एक बात कही, एक उदाहरण दिया उसको– अमुक बच्चा बड़ा तेजस्वी है, वह माँ को देवी मानता था और पिता को राक्षस। पिता का अपमान पर अपमान, अपमान पर अपमान, अपमान पर अपमान करता जाता था। वह कहता था कि महाराजजी! पिता का व्यवहार हमलोगों को अच्छा ही नहीं लगता। तो महाराज कहता था कि कोई बात नहीं यदि पिता का

व्यवहार अच्छा नहीं लगता तो अपने व्यवहार को यानी पुत्र के व्यवहार को तुम अच्छा कर लो! पिता अपनी जगह रहेंगे और तुम अपनी जगह रहोगे। लेकिन बात वह समझते हुए भी नहीं समझ रहा था, जानने के उपरांत भी अनजाना बन जाता था। कालांतर में (कुछ सालों के बाद) माँ ने शरीर छोड़ दिया, उसके शरीर छोड़ देने के बाद जो बच्चा कहता था कि पिता अव्यावहारिक हैं, अनैतिक हैं, राक्षस हैं, मूर्ख हैं, तो पिता तो मूर्ख नहीं हुए लेकिन जो बच्चा कहता था वह मूर्ख हो गया। माँ के जाने के बाद बस, शराब–मांस, दिनभर शराब–मांस पीता–खाता रहता है। इतना तेजस्वी बालक महाराज ने गिनती का देखा लेकिन एकमात्र पिता में दोष देखने का परिणाम हुआ कि उसकी बुद्धि रावण की हो गयी, कंस की हो गयी। ऐसा नहीं कि रावण, कंस आदि बुद्धिमान नहीं थे लेकिन इनकी बुद्धिमत्ता बहिर्मुख थी, मायावादी थी, भौतिकवादी थी। अतः पिता तो ज्यों का त्यों बना रहा, पिता तो वेश्यागामी हुआ नहीं, पिता तो जुआरी हुआ नहीं, पिता तो शराबी हुआ नहीं उस माँ के जाने के उपरांत भी लेकिन वह पुत्र तो जो नहीं होना चाहिए वह हो गया। पिता ने आकर कहा– महाराजजी! यह क्या रहस्य है? महाराज ने कहा– आपने क्षमा कर दिया है इसको लेकिन भगवान ने इसको क्षमा नहीं किया, यह दण्डविधान है, प्रकृति में क्षोभ होता है। जब यह आपका अपमान करता था तो आप उतना प्रतिकार नहीं कर पाते थे, दण्ड नहीं दे पाते थे, जिसका परिणाम हुआ कि पाप इकट्ठा होता रहा, इकट्ठा होता रहा और एकसाथ उस पाप ने आक्रमण कर दिया। ब्रह्महत्या का पाप लग गया उसको। सौ पाप यदि शिशुपाल के द्वारा होता है तो भगवान का चक्र चल पड़ता है, वैसे ही पापों का कुछ अनुपात है। यद्यपि वहाँ तो शाप था, लेकिन ऐसा नहीं की शिशुपाल के लिए ही पापों का अनुपात है, बल्कि सबके लिए पाप का अनुपात है। यदि पुत्र एवं पुत्री अनुपात से विशेष पिता अथवा माता का अपमान कर देते हैं तो भगवान का सुदर्शनचक्र चल पड़ता है, गदा चल पड़ती है।

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा।।

यह श्रुतिमार्ग है। भगवान शंकर ने कहा था, इसीलिये महाराज ने माण्डवी से कहा कि क्या लेना–देना है तुम्हारे को इनके व्यवहार से? अब तो ये महाराज के शरणागत हैं, अतः इनके गुण–दोषों को देखने का अधिकार एकमात्र महाराज को है तुम्हारे को नहीं है। परिणाम क्या होगा तुमलोग देखते रहोगे इनके व्यवहार को तो? कल भी ये अपनी जगह ही रहेंगे, बुरे तो होंगे नहीं भले तुम्हारे लिए बुरे हैं लेकिन तुमलोग बुरे हो जाओगे और रही बात कुछ दुर्व्यवहार की तो आकाश से तो कोई सन्त बनके आता नहीं बल्कि धीरे, धीरे, धीरे, सन्त के शरणागत होकर वह सन्त का व्यवहार लेता है। तुमलोग अपने को देखो, सारे के सारे सत्पुत्रों ने अपने को देखा है। महाराज ने महात्मा प्रह्लाद को भी सद्गुरु बनाया था क्योंकि उनका आदर्श व्यवहार चाहिए था महाराज को। आपका आदर्श जगत में कौन है? आप किसके आदर्श को लेकर चलते हैं? किसके सद्व्यवहार को लेकर चलते हैं? या आप पितामहभीष्म जैसे सद्व्यवहारवाले ही हो गये? उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से अपना समाधान नहीं कराना चाहा तो क्या अपने व्यवहार पर आप भी सम्पूर्ण सन्तुष्ट हैं? इसीलिए महाराज कहता है कि गृहस्थाश्रम का भगवान

धर्म है और संन्यासाश्रम का भगवान त्याग है। गृहस्थाश्रम का धर्म क्या है? माता, पिता, गुरु, अतिथि, दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षी आदि की सेवा–शुश्रूषा करना ही धर्म का पहला अंग है, दूसरा– आप छोटे भाई हैं तो भरत ने जो व्यवहार किया वह धर्म है आपके लिए, बड़े भाई हैं तो प्रभु श्रीराम ने जो व्यवहार किया आपका वह धर्म है इत्यादि। कौसल्या, सुमित्रा का भी व्यवहार आप देख रहे हैं, शूर्पणखा का भी व्यवहार आप देख रहे हैं, जिसमें से एक व्यवहार (शूर्पणखा का) सर्वनाश का कारण बनता है, दूसरा व्यवहार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर आधिपत्य करने का कारण बन जाता है। 'ब्रह्माण्ड का मैं उथल–पुथल कर सकता हूँ'– ऐसा महात्मा लक्ष्मण का व्यवहार देखने को मिलता है। राजा जनक के पास कहा था कि गेंद की तरह इस पृथ्वी को मैं अपनी हथेली पर लेकर छिन्न–भिन्न कर सकता हूँ। ऐसा महापुरुष जो ब्रह्माण्ड विजेता था, वह अपने बड़े भाई को पहचानता है कि ये भगवान हैं अतः पहरेदारी करता है। यह आदर्श व्यवहार है, ऐसे महापुरुष के लिए यह मंत्र अति सार्थक है।

(अनन्याश्चिन्तयन्तो मां.....) जो अनन्य चिंतन करता है.....। अनन्य चिंतन का तात्पर्य क्या है? अनन्य चिंतन का तात्पर्य यह नहीं कि सदा भगवान, भगवान कर रहे हैं, बल्कि अनन्य चिंतन का तात्पर्य है कि भगवान की आज्ञा से आप कर रहे हैं, सद्गुरु की आज्ञा से चल रहे हैं, यह अनन्य चिंतन है। सद्गुरु की आज्ञा से चलते–चलते भगवान का स्मरण होगा। जप और स्मरण में आकाश–पाताल का अंतर है, कालांतर में जब प्रेम प्रकट होगा तो फिर जप स्मरण बनकर रह जायेगा। स्मरण प्रकट होता है जैसे नींद प्रकट होती है। भगवान से प्रेम प्रकट होता है वैसे ही जैसे नींद प्रकट होती है, भूख प्रकट होती है, प्यास प्रकट होती है, वैसे ही भगवान को आप पकड़कर ला नहीं सकते वह प्रकट होता है। एक ऐसी भूमि है जिसे धर्म कहा जाता है, उस धर्म की भूमि में वह प्रकट होता है। एक ऐसी भूमि है जिस भूमि में बैठकर आप जप, तप, योग भी कर सकते हैं वह है धर्म, वह है सद्व्यवहार। पुत्र का सद्व्यवहार अलग होता है, पिता का अलग होता है, माँ का अलग होता है, सेवक का अलग होता है, भाई का अलग होता है, मित्र का अलग होता है। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' (अ० १८)– आप अपने धर्म में रहें। भगवान ने स्पष्ट कहा कि दूसरे के धर्म को देखने का अधिकार आप क्या रखते हैं? पिता कैसा है? माँ कैसी है? माँ यदि वेश्या है तो क्या हुआ अपने लिए तो माँ है? जब वेश्या हो ही गयी तो आप उसे माँ नहीं बना सकते, पिता जब राक्षस हो ही गया तो उसे आप पिता नहीं बना सकते। हाँ, यदि पिता के पद पर उसे आसीन करना चाहेंगे तो आप राक्षस हो जायेंगे, इसे कहते हैं प्रत्यवाय दोष।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'– यदि आप अपने ही धर्म को देखते हैं, अपने ही कर्तव्य कर्म को देखते हैं तो फिर आप भगवान की जगह कभी न कभी बैठते ही हैं। जिस दिन आप प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से मैं अपने धर्म में रहूँगा उसी दिन आप भगवान के हो जाते हैं। अतः वह भगवान भी आपके सामने सर्वप्रथम प्रतिज्ञा के माध्यम से धर्म के रूप में प्रकट होता है, फिर सद्गुरु के रूप में प्रकट होता है। सद्गुरु का मिल जाना ही बड़ी बात है क्योंकि वह मिला तो सर्वस्व मिला ऐसा देखा जाता है।

(अनन्याश्चिन्तयन्तो मां.....अपि चेत्सुदुराचारो.....) ऐसा नहीं है कि धर्म–अधर्म एक तरफ है पाप–पुण्य एक तरफ और दूसरी तरफ भगवान हैं, बल्कि ऐसा है कि जितना भगवान धर्म–अधर्म के परे, पाप–पुण्य के परे शक्ति से सम्पन्न हैं, उतना ही धर्म–अधर्म के अन्तर्गत, पाप–पुण्य के अन्तर्गत भी शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके होने से धर्म, धर्म कहलाता है; अधर्म, अधर्म कहलाता है; उनके होने से ही पाप, पाप कहलाता है; पुण्य, पुण्य कहलाता है और उनके होने से ही कभी–कभार अधर्म, धर्म कहलाता है तथा धर्म, अधर्म कहलाता है; उनके होने से ही कभी–कभार पाप, पुण्य कहलाता है और पुण्य, पाप कहलाता है तथा उनके होने से ही कभी दोनों एक हो जाते हैं।

एक तरफ सगुण है तो दूसरी तरफ निर्गुण है, लेकिन निर्गुण जितना है उतना ही सगुण है, सगुण जितना है उतना ही निर्गुण है, उसमें किसीप्रकार का कोई भेद नहीं देखा जा सकता। लेकिन जब महात्मा शुकदेव अपनी शक्ति बल से, संकल्पबल से शरीर को अंतरिक्ष में ले जाकर शरीर के तत्त्वों को पृथक्–पृथक् करके उनके मूल तत्त्वों में आहुति दे देते हैं तो फिर भगवान का शरीर बहेलिये के द्वारा मारा जायेगा यह कौन स्वीकार करता है? तथाकथित विद्वान कहते हैं कि जो मूर्ख होते हैं वे ही यह स्वीकार करते हैं। अरे! असुरों को मोहित करनेवाला भगवान बहुत कुछ कर सकता है ताकि उनका मोह ज्यों का त्यों सुरक्षित रहे। असुर चाहते हैं कि हमारा मोह न जाये इसीलिए प्रभु भी नानाप्रकार के यत्नों से उनके मोह की सुरक्षा करने के लिए प्रयत्न करता ही है। योगबल से भगवती शबरी ने भी भगवान श्रीराम के सामने अपने शरीर को अपने कारण में विलीन कर दिया था। लोग कहते हैं कि योग में भस्म कर दिया था; यह तो एकमात्र भाषा है, जबकि ऐसा नहीं था वहाँ पर बल्कि आपके लिए अन्तर्ध्यान कर दिया उसने उन सम्पूर्ण तत्त्वों को, जैसे पृथ्वी तत्त्व को पृथ्वी में, जल को जल में, अग्नि को अग्नि में, वायु को वायु में, आकाश को आकाश में, सत्त्व को सत्त्व में विलीन कर दिया। शेष कुछ न बचा और अपनी आत्मा को मिला दिया। किसमें? अर्थात् जो मिला हुआ था उसे क्या मिलाना? कहने के लिए बहुत कुछ कहा जाता है।

यही बात यहाँ है– एक तरफ पक्ष–विपक्ष अर्थात् धर्म–अधर्म की सेना है तो दूसरी तरफ भगवान नारायण हैं, दोनों का कल्याण चाहते हैं वे। दोनों ही उनकी आत्मा हैं– एक पक्ष शकुन का संकेत कर रहा है और एक अपशकुन का, बिना इनके शरीर का निर्माण हो ही नहीं सकता। बिना दो धाराओं के आज तक इस सृष्टि में कुछ हुआ ही नहीं, इसीलिये भगवान के द्वारा यह मधुर क्रीड़ा खड़ी कर दी गयी है, जो खेलना चाहे खेले जो न खेलना चाहे न खेले, भगवान तो अपने ढंग से खेल ही लेंगे। भगवान का आशय यही है– चाहे कोई घर में हो चाहे कोई बाहर में हो परन्तु दो तो सदा रहेंगे। एक तरफ धर्म–अधर्म होंगे तो दूसरी तरफ भगवान होगा। हाँ, भगवान की जगह खड़ा हो जाता है साधक तो धर्म–अधर्म से परे हो जाता है फिर जगत के लिए वह अंधा हो जाता है, जगत के लिए वह मूर्ख बन जाता है, जगत के लिए पागल बन जाता है और फिर कभी–कभार उसके अन्तर्गत यदि माया नृत्य करती है तो कोई बात नहीं।

उस अवस्था में भगवान ही मूर्ख होता देखा जाता है। सारा जगत भगवान के पीछे भागता है, भगवान अर्जुन के पीछे भाग रहे हैं। महात्मा अर्जुन ने दौड़ लगा दी है संन्यास की तरफ, संन्यासी बड़ा बल लगाने पर पकड़ा जाता है। भगवान ने जान लिया कि यह पकड़ में नहीं आयेगा, बहुत दूर भाग रहा है, बहुत दूर भाग रहा है, लेकिन मैं भी पीछा छोड़नेवाला नहीं हूँ। इसका योगक्षेम तो वहन करके ही मानूँगा, क्योंकि इसने निश्चय कर लिया है कि (सम्यग्व्यवसितो हि सः) भगवान के सिवा कोई रक्षक नहीं है।

जगत भागता है भगवान की तरफ, भगवान भागते हैं अर्जुन की तरफ, ऐसा देखकर संजय खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। क्या हुआ संजय ऐसा कहने पर धृतराष्ट्र से कहते हैं– हे राजन्! मैंने तो सुना था कि भगवान के पीछे भक्त भागता है लेकिन यहाँ तो मैं देख रहा हूँ कि भगवान ही भक्त की तरफ भाग रहे हैं। भक्त कुशल चालाक है भागने में तो भगवान यहाँ पर मूर्खों जैसा दौड़ लगा बैठे हैं। वे दिखा रहे हैं कि देखो भक्त इतना कुशल होता है भागने में इसलिए मुझे हँसी आ रही है। धृतराष्ट्र का कहना है– ये तो मैं भी देख रहा हूँ कि मैंने भी दौड़ लगा दी थी लेकिन दौड़ नहीं पाया, माधव ने मुझे ही पकड़ लिया। संजय इसी से तो इस दिव्य क्रीड़ा को देखूँ न भले लेकिन तुम्हारी वाणी से सुनूँगा तो सही। मैं जानता हूँ जो परिणाम होगा लेकिन परिणाम को जानकर भी इस खेल को तो सुनता रहूँगा। ये माधव मुझे भी पकड़कर बैठे हैं, पता नहीं इनका क्या प्रयोजन है?

इसप्रकार कदाचित् भक्त कभी भागता भी है तो भगवान उसके पीछे दौड़ लगा देता है। जो जीवन–जीवन भगवान के लिए दौड़ा है तो अंतिम जीवन में भगवान उसके लिए दौड़ने लगता है। देखना है कि सचमुच में आप भगवान के हैं या नहीं। बहुत खोज करनी है, बहुत खोज करनी है, बहुत खोज करनी है इस एक बात की कि हम भगवान के हैं या नहीं। खोज ये नहीं करनी है कि हमारी साधना कब होगी, कैसे होगी, साधना के सूत्र क्या हैं; बल्कि खोज ये करनी है कि हम भगवान के हैं कि नहीं। दूसरे चरण में खोज ये करनी है कि भगवान हमारा है या नहीं, हमें अपना मानता है या नहीं। भगवान के लिए न पाप है, न पुण्य है– इसका तात्पर्य ये नहीं है कि हम पाप भी करें, पुण्य भी करें तो वह देखता रह जायेगा, बल्कि जो हमारे द्वारा होगा उसी की प्रेरणा से होगा। आज भी भगवान घर से लेकर वन तक किसी न किसी भक्त, सन्त तथा साध्वी माँ के आश्रय से अपना कर्म कर ही रहा है। यह भारतभूमि है, क्या पता किसी को आकर भगवान पकड़ ले और कहे– 'यहाँ आकर छिप गये हो! क्यों बैठे हो यहाँ पर? आओ!' वैसे ही आप क्या जानते हैं कि कल के दिन आपका भगवान आपको घसीटकर ले जायेगा, जैसे आपका पाप यदि पीछा कर रहा है तो वह घसीटता हुआ ले जाकर आपको नरक में डाल देगा। देखना ये है कि हम तंत्र के हैं, मंत्र के हैं या किसके हैं? देवताओं के हैं या काल के हैं, किसके हैं? क्या भगवान के हैं? यही देखना है। भगवान के पास धर्म–अधर्म से, पाप–पुण्य से साधक की साधना प्रारम्भ नहीं होती बल्कि धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य का त्याग करने से उसकी साधना प्रारम्भ होती है। गृहस्थाश्रम में धर्म को धारण करके भगवान की तरफ गमन किया जाता है तो संन्यासाश्रम में धर्म का परित्याग करके भगवान की तरफ गमन किया जाता है– दो बातें हैं।

ये तो सिद्ध हो ही गया कि अधर्म का त्याग करने से नहीं बल्कि धर्म का भी परित्याग कर देने से संन्यासी का भगवान पकड़ा जा सकता है। व्यावहारिक धर्म को धारण करने से तो दौड़ लग जायेगी। महात्मा अर्जुन ने युद्ध के मैदान में जैसे ही व्यावहारिक धर्म को धारण किया वैसे ही दौड़ लग गयी व्यावहारिक संन्यास की तरफ। एक आध्यात्मिक संन्यास होता है जो सद्गुरु के कहने से होता है, एक व्यावहारिक संन्यास होता है जो मन के द्वारा होता है। अतः व्यावहारिक धर्म को धारण करने से कभी वन में तो कभी गाँव में छिपने का मन करता है तो कभी सरोवर में डूब जाने का मन करता है। ये कैसा धर्म है? कभी रोने का मन करता है तो कभी हँसने का मन करता है, कभी शोक–सन्ताप से हृदय भर जाता है तो कभी सम शान्त हो जाता है। घड़ी के दोलक की तरह मन डोलता रहता है, उसमें आंदोलन होता रहता है, कभी भी विश्राम को प्राप्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि हमारे हृदय में भगवान नहीं बैठा है। दौड़ हमने लगाई है उस व्यावहारिक धर्म को पकड़ने के लिए जिसको पकड़ने में शान्ति है ही नहीं। बड़ा कौतूहल हो जाता है लोगों को भीष्मपितामह के ब्रह्मचर्य की तरफ देखकर जबकि वह ब्रह्मचर्य साधकों को नहीं चाहिये जो पितामहभीष्म के पास है, बल्कि वह ब्रह्मचर्य चाहिये जो सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु के पास है तथा गृहस्थाश्रम के साधकों को वह ब्रह्मचर्य चाहिये जो महात्मा अर्जुन तथा महाराज जनक के पास है। वानप्रस्थी साधकों को वह ब्रह्मचर्य चाहिये जो ब्रह्मचर्य मनु एवं शतरूपा के पास है। पितामहभीष्म का ब्रह्मचर्य तो उनके लिए जैसे घातक हुआ वैसे ही साधकों के लिये घातक हो जायेगा।

एक साधक ने कहा कि मैं तो विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ नहीं करूँगा। कहा– क्यों? इसलिये कि एक ऐसे ब्रह्मचारी के द्वारा यह स्तवन किया गया है जिसके ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में उसके माता–पिता की प्रतिष्ठा हो गयी थी, जिसके ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में हस्तिनापुर की प्रतिष्ठा हो गयी थी। कालांतर में जिसके ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा में अच्छीप्रकार से दुर्योधन की प्रतिष्ठा हो गयी थी।

अरे! यह कैसा ब्रह्मचर्य? जिस ब्रह्मचर्य ने दुर्योधन का दास बनाकर रखा, दुर्योधन का सेनापति बनाकर रखा और वे (पितामह भीष्म) बड़े खुश, बड़े खुश, बड़े खुश, बड़े खुश हो गये थे कि मेरा बड़ा मान–आदर कर रहा है ये। ऐसा ब्रह्मचर्य नहीं चाहिये जो भगवान के पास जाने से मना कर दे, विमुख कर दे, विपक्षी बना दे। ऐसा ब्रह्मचर्य तो महाराज ने एक सूरदास के भी पास देखा बिहार प्रदेश में। इस समय उसकी उम्र होगी पैंसठ वर्ष की लेकिन भगवान उसमें नहीं हैं।

अज्ञान में भी ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होती है– पागल के पास भी ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाती है, बालक के पास भी ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होती है लेकिन उस ब्रह्मचर्य का क्या औचित्य? इसीलिये शुभ्रवर्ण धारण करनेवाले पितामहभीष्म को देखकर साधक मोहित न हो जायें, वे जैसी प्रतिज्ञा करते हैं वैसी प्रतिज्ञा न करें।

एक सद्गुरु के शिष्य ने सन् १९८३ में कहा सद्गुरु से कि क्या मैं ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा

के लिये व्रत कर लूँ नौ दिन का? सद्गुरु ने कहा कि ना, ना, ना! ऐसा मत करना, इसके लिए प्रतिज्ञा मत करना; तुम तो जो मैं कहता हूँ वह करते चलो, आरुणि जैसा, उपमन्यु जैसा। उन्होंने ब्रह्मचर्य की माँग नहीं की। यदि तुम माँग करते हो तो सकामी बन जाओगे और वह गोसेवक तभी से आज तक गोसेवा कर रहा है। कभी न कभी तो निश्चितरूप से इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में गोसेवा करते–करते उसी सेवा के माध्यम से ही ब्रह्मचर्यरूप में उसका सद्गुरु वास कर जायेगा, यही नियम है।

यही बात सत्य की भी है। ऐसा सत्य कैसा? युधिष्ठिर का सत्य नहीं चाहिए जो सत्य भगवान से विमुख कर देता है, जो सत्य भगवान को झूठा बना देता है, जो सत्य भगवान के प्रति कहता है कि आप! और झूठ बोलना सिखा रहे हैं? एक भाई कहता है कि आप! और स्वजनों से युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं? ओह! आपमें शोभा नहीं देता कृष्ण! ये शोभा नहीं देता आपमें। वैसे ही दूसरा भाई कहता है, जो सत्यव्रती कहलाता है, जिसके सत्य के सामने किसी की बोलने की सामर्थ्य नहीं है, कर्ण भी जिसके सत्य से मोहित है, शकुनि भी जिसके सत्य से मोहित है, दुर्योधन भी जिसके सत्य से मोहित है, सब विश्वास करते हैं जिसके ऊपर उस तथाकथित सत्यवादी ने कह दिया भगवान से कि ओह! हे मधुसूदन! आप भी मुझे असत्य बोलने को कह रहे हैं? साधकों को ऐसे सत्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसे सत्य का पालन नहीं करना चाहिए, यह तो भगवान बुद्ध का सत्य है। भगवान बुद्ध की अहिंसा पितामहभीष्म के पास थी, भगवान बुद्ध का सत्य युधिष्ठिर के पास था। शून्यवादियों का सत्य, शून्यवादियों की अहिंसा, शून्यवादियों का ब्रह्मचर्य ऐसा ही होता है। शून्यवादियों की अहिंसा में असुर प्रवेश कर जायेंगे, वाममार्गी प्रवेश कर जायेंगे। उनके पौरुष में, उनकी शक्ति में जब वे दुर्योधन, शकुनि, कर्ण प्रवेश कर जायेंगे तब पूरी की पूरी जो पुण्यभूमि है, धर्मक्षेत्र है वह भगवान के द्वारा उनसे छीन लिया जायेगा।

विचार करना है कि क्या हमारे पास भगवान बुद्ध की अहिंसा है, सत्य है, ब्रह्मचर्य है? या महात्माओं का सत्य है, रघु का, दिलीप का सत्य है, राजा जनक का सत्य है? यदि हम गृहस्थाश्रम में हैं तो क्या उन महात्माओं का अणुव्रत है? अथवा संन्यासाश्रम में हैं तो क्या सद्गुरु का सत्य है? सद्गुरु का ब्रह्मचर्य है हमारे पास? उनकी अस्तेय सिद्धि है क्या? उनका अपरिग्रह है क्या हमारे पास? यदि हाँ तो फिर किसी चिन्ता की बात नहीं है, नवधा भक्ति के अंग आपको वरण करेंगे। यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के, संन्यासी ब्रह्मचारियों के यम–नियम आदि अणुव्रत हैं अपने पास तो फिर क्या चिन्ता? रक्षा ने पूछा था कि आपका कभी धैर्य टूटा कि नहीं? तो महाराज ने कहा कि भगवान का धैर्य टूट सकता था महाराज के लिए लेकिन महाराज का धैर्य क्यों टूटेगा? महाराज ने कभी हार नहीं मानी बल्कि भगवान को कभी बोलने भी नहीं दिया और यहाँ तक कह दिया–

श्यामसुंदर रूठे, रूठे मोसे।।
(भजनावली)

जगत से कहा कि वह रूठ गया लेकिन रूठे। दो अर्थ हैं– एक अर्थ है कि रूठ गया और एक अर्थ है कि वह रूठ जाए रूठ गया तो! धैर्य खो बैठा रूठ गया तो! उसका धैर्य टूट गया लेकिन महाराज का धैर्य नहीं टूटा और कहा–

प्रथम गुहार तुम्हारी तरफ से।

मैंने तो तुम्हें बुलाया नहीं था, तुम्हीं ने मुझे बुलाया है। जगत के लोग यदि तुम्हारी तरफ जाते हैं तो तुम सबको प्रिय हो, असुरों को प्रिय हो, पशु–पक्षियों को प्रिय हो, नागों को प्रिय हो, देवताओं को प्रिय हो ,यानी सबको प्रिय हो, इसलिए सभी तुम्हारी तरफ आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि तुमने किसी को नहीं बुलाया, लेकिन महाराज कहता है कि मुझे तो पहले तूने बुलाया–

प्रथम गुहार तुम्हारी तरफ से, महाराज होसे।।
श्यामसुंदर रूठे.....

श्यामसुंदर रूठ गया लेकिन रूठने दो, उसने बुलाया और अब बुलाकर धैर्य खो बैठा है। पता नहीं क्या उलाहना देता है? क्या कहता है? यदि तू कहता है कि तुम प्रमादी हो रहे हो तो फिर प्रमादी क्यों बना दिया तूने? यदि तू कहता है कि तू आलसी हो गया है तो आलसी क्यों बनाया तूने? बुलाकर फिर आलसी क्यों बना दिया तूने? जब छः दिन के बालक प्रद्युम्न को बारह साल का बना सकते हो तो फिर तुम शरण में लेकर अपनी आत्मा क्यों नहीं बना सकते? इत्यादि इत्यादि।

जो भगवान के नहीं होते उनका धैर्य टूट जाता है लेकिन जो भगवान के हैं यदि उनके मन का धैर्य टूटता सा प्रतीत होता है तो वे जान लेते हैं कि लगता है हम भगवान के नहीं हैं और जब जान लेते हैं कि हम भगवान के पूरे नहीं हैं तब आमरण अनशन कर देते हैं। वे सोचते हैं कि जब हम भगवान के पूरे नहीं हैं तब जगत में खाने का क्या अधिकार है, जगत को देखने का क्या अधिकार है, जगत की सुनने का क्या अधिकार है, जगत के बीच जाने का क्या अधिकार है? या तो भगवान के होकर रहेंगे या तो भगवान के लिए मर जायेंगे। उस जन्म में तो सर्वथा भगवान के हो जायेंगे! दृढ़व्रता होते हैं वे। आपका बिखरा हुआ संकल्प है जिसमें विकल्प होता रहता है, संकल्प के बाद विकल्प, संकल्प के बाद विकल्प। ये नहीं देख पाते कि आप धर्म–अधर्म दोनों को छोड़कर आये हैं भगवान के पास। मन तो आंदोलित होता है धर्म–अधर्म में, भगवान में तो आंदोलित होता ही नहीं।

धैर्य क्यों टूटेगा 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' भगवान के जबतक हैं! अनेक जन्मों में महात्मा अर्जुन भगवान के थे, अंतिम चरण में धैर्य टूटता सा प्रतीत हुआ तो भगवान ने पकड़ लिया।

महात्मा बुद्ध के मन का धैर्य टूटता सा प्रतीत हुआ तो उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं न खाऊँगा, न पीऊँगा, न सोऊँगा। बैठ गये। भगवान ने आकर खिलाया तब खाया। इक्कीसवें दिन खिलाया, जल भी नहीं पिया था। वह भोजन नहीं था, प्रसाद था। महाराज इसी से अज्ञात

में रहनेवाले साधकों से कुछ लेकर चलने को नहीं कहता है। आत्मानन्द को कहा था कि तुम्हारे को महाराज दिखायेगा अज्ञात में रहस्यमय विषय। वैसे ही साधकों से कहता है कि कुछ लेकर चलेंगे आप तो आप अपने कर्म–धर्म को लेकर चलेंगे, अतः प्रभु के रहस्य को नहीं जान पायेंगे।

जगत में चल पड़े संन्यास लेकर तो भगवान अपने हाथ से खिलाता है या भोजन लाकर देता है। तो उसका खिलाना या लाकर देना बड़े महत्त्व का होता है। इसी से तो कहा है सातवें अध्याय में कि 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः'– कि चलते हैं आप भगवान के लिए लेकिन देता है अध्यात्म। खीर के माध्यम से ही तो भगवान को प्रकट किया जायेगा, राजा दशरथ के वीर्य से नहीं, दिव्य खीर से। उसीप्रकार भगवान प्रसाद देता है संन्यासी को, जो छिपकर चलता है जगत में, वनप्रदेशों में, तीर्थों में, नदी के किनारों में, जो छिपकर रहता है गुफाओं में, खण्डहरों में, भगवान उसे लाकर अपने हाथों से देता है या खिलाता है। उसी की सारी भुजायें हैं और जब पहली बार खिलाता है तो अध्यात्म दे देता है, दूसरी बार खिलाता है तो अधिभूत शक्ति दे देता है, तीसरी बार खिलाता है तो अधिदैव शक्ति दे देता है, चौथी बार खिलाता है तो अधियज्ञ दे देता है और पाँचवीं बार खिलाता है तो फिर वह अपने को ही दे देता है। इतनी सी ही तो बात है। अब बात समझ गये होंगे आप सब 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की। इसलिए संन्यास तत्त्व एक ऐसा दिव्य तत्त्व है जो सन्तों की अहिंसा में प्रतिष्ठित है, सन्तों के सत्य में, सन्तों के ही सत्त्व में प्रतिष्ठित है। पितामहभीष्म के, द्रोणाचार्य के पौरुष में उसका हुंकार नहीं छिपा हुआ है, अश्वत्थामा के सामर्थ्य में उसकी सामर्थ्य नहीं छिपी हुई है। उसकी शक्ति–सामर्थ्य तो भगवान के लिए जीने में छिपी हुई है, सम्यक् समर्पण में छिपी हुई है, सम्यक् योगक्षेम में विश्वास करनेवाले में छिपी हुई है।

ऐसे–ऐसे तत्त्व भगवान ने गीताजी में दिये हैं कि साधक यदि विश्वास करे तो फिर उसे कुछ करना शेष नहीं है। 'मैं भगवान के लिए जीता हूँ आज से'– महाराज परीक्षित ने कहा और भगवान आ गये, बड़ा दिव्य योग बना। जबतक उनका समाधान नहीं हो पाया तबतक उस महापुरुष ने अन्न–जल ग्रहण नहीं किया। चूँकि सात ही दिन बाकी थे, इसलिए भगवान खिलायें भी तो क्यों खिलायें? उनको अधिभूत क्यों दें, अधिदैव क्यों दें? बल्कि एक साथ प्रभु ने अपने–आपको ही दे दिया, क्योंकि जगत में उन्हें रखना नहीं था। जगत में आपको रखना है, इसीलिये सर्वप्रथम आपको अध्यात्म देगा अर्थात् मन के तत्त्व को बता देगा, बुद्धि के तत्त्व को बता देगा, इन्द्रियों के तत्त्व को बता देगा, अपनी शक्ति–सामर्थ्य को बता देगा। मात्र इतना ही नहीं करेगा बल्कि सम्पूर्ण अध्यात्म दे देगा। बुद्धि पर, मन पर आपका अधिकार हो जायेगा, प्रज्ञा पर आपका अधिकार हो जायेगा अर्थात् अधिभूत दे देगा। जगत की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो आपकी दृष्टिपथ से छिपी रह जायेगी, उसपर आपका अधिकार होगा। अधिदैव देगा– बाहर की शक्तियों पर भी आपका अधिकार हो जायेगा, सर्वज्ञता आपमें आ जायेगी। अधियज्ञ देगा– आपके तन, मन, वचन हृदय से जो भी कुछ कर्म होगा वह ब्रह्म ही बन जायेगा। दीमक जो कुछ भी खाती है मिट्टी बन जाता है, मैला नहीं बनता। जिस चारे को पशु खायेगा तो गोबर बन जायेगा किन्तु उसी चारे को दीमक खायेगी तो मिट्टी बन जायेगा। वैसे ही वह अधियज्ञ देता

है अर्थात् जो कुछ भी देखते हैं उस दृश्य में ब्रह्म दिखायी पड़ जाता है, जिधर चलते हैं उस पाँव में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो जाती है, हाथ से जो करते हैं वह ब्रह्मकर्म हो जाता है, जो प्रसाद पाते हैं वह ब्रह्म बन जाता है। ऐसा क्या है जो ब्रह्म नहीं बन जाता? यही तो योगक्षेम पूरा करना कहा जाता है। इसीलिये देखना ये है कि हम भगवान के लिए जी रहे हैं या नहीं। यदि नहीं जी रहे हैं तो उन तत्त्वों की खोजकर लें जिन तत्त्वों से जीया जाता है; फिर देखें कि शीघ्रातिशीघ्र धर्मात्मा बनते हैं या नहीं।

अब पुनः युद्ध की तरफ देखते हैं– इस मंत्र में भगवान ने अर्जुन को पुनः कौन्तेय कहकर पुकारा। मानो भगवान कह रहे हैं कि तुम्हारी माँ कुन्ती धर्मात्मा है अर्थात् साध्वी है और उस साध्वी के तुम साधुपुत्र हो, साधु से साधुपुत्र प्रकट होता है, असाधु व्यवहार कैसे आ गया तुम्हारे में? विषम से विषम अवसर आने पर भी तुमने कभी असाधुता का व्यवहार नहीं किया है। अतः तुम वैसी माँ के लिए कलंक न बनो। हे कौन्तेय! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इस रणभूमि में तुम्हारे से कभी भी कोई दोष होगा ही नहीं। यदि तुम समझते हो कि द्रोणाचार्य, कृपाचार्य एवं पितामह भीष्म आदि का वध होने से तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लग जायेगा, तो ऐसी भी बात नहीं है। यदि तुम ऐसा कहते हो कि ब्रह्महत्या का पाप लगेगा ही लगेगा, तो कोई बात नहीं; उसका प्रायश्चित मैं कर लूँगा। यद्यपि ब्रह्महत्या मेरे तथा मेरे प्रिय भक्तों के पास आने में बहुत डरती है। मैं सच कहता हूँ कि युद्धोपरान्त सब तुम्हें भक्त व संत ही कहेंगे और तुम्हारी तथा मेरी गाथा को गाकर भक्तगण भवसागर को पार कर जायेंगे। हे प्रिय! महावीरों की गणना में तुम्हारी गणना होगी। अतः हे महारथी! तुम उठो! और इस दिव्य गाण्डीव के द्वारा मेरा स्मरण करते हुए इन पापात्माओं को देवलोक पहुँचा दो। वैसे तो तुम कभी पापी हो ही नहीं, जबकि मैं पापात्मा का भी उद्धार करता हूँ। तुम ही नहीं, बल्कि ये द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, पितामहभीष्म तथा कर्ण आदि भी इतने बड़े महापापी नहीं थे, तभी तो मैं इन्हें समझाने के लिए दूत बनकर गया था ताकि ये सब नराधम दुरात्मा दुर्योधन, दुःशासन एवं शकुनि आदि का साथ छोड़ दें। इनके छोड़ते ही भयभीत हुआ दुर्योधन भी तो शरण में आ ही जाता और माँ गान्धारी के कारण से मैं उस पापात्मा का सारा का सारा पाप निगल जाता। कल्याणी द्रौपदी से भी क्षमा दान दिलाता; क्योंकि जैसा मैं क्षमावान हूँ, वैसी द्रौपदी भी है। यह जब द्रौपदी के शरणागत होता और कहता कि भाभी! मेरा अपराध क्षमा तभी होगा, जब तुम मेरा वध कर दो। ये लो तलवार और इसी से मेरा वध कर दो। बस, इतना सुनते ही कल्याणी द्रौपदी इसे गले लगाकर कहती कि ऐसा क्यों कह रहे हो? तुम तो देवर हो, छोटे बेटे के बराबर हो, छोटा बेटा कभी माँ की साड़ी खींच लेता है और वह नग्न हो जाती है। तुम वही बेटे हो, जो अज्ञानता में वैसा कर बैठे। जाओ सुखी रहो मैं क्षमा करती हूँ।

भगवान नारायण ने, जिन–जिन कारणों से महात्मा अर्जुन के मन में मोह आ गया है, उन–उन कारणों को खड़ा करके खण्डन किया है। सद्गुरु भी शिष्य को जिन–जिन कारणों से जहाँ–जहाँ, जिस–जिस समय मोह होता है, वह उन–उन कारणों को उस–उस समय

बताता रहता है ताकि शिष्य कहीं ऐसा न समझ ले कि मैं आरुणि, उपमन्यु, सत्यकाम आदि शिष्यों जैसा नहीं बन सकता।

यदि तुम समझते हो कि ब्रह्महत्या आदि दोषों से दूषित पुरुष का पाप ये कैसे दूर कर सकते हैं; क्योंकि वह तो भोगना ही पड़ता है तो ऐसी बात नहीं है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

हे पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्र एवं पापयोनिवाले– चाण्डालादि भक्त भी मेरी शरण में आकर परमगति को प्राप्त हो जाते हैं (हो भी गये हैं)। अतः तुम्हारे जैसे राजर्षि भक्त और ब्राह्मण भक्तों का तो कहना ही क्या है कि मेरे शरणागत होकर तत्काल मुक्त न हो जायें; अतः तुम्हें तो इस अनित्य, सुखरहित, शरीररूप संसार को पाकर सदा मुझ ब्रह्म का ही भजन करना चाहिए।

यहाँ भगवान ने पूर्व में भक्तों के प्रति अपना किया हुआ उपकार अर्जुन को याद दिलाया है। वैदिक यज्ञशाला में स्त्री को, शूद्र को एवं चाण्डाल आदि को ब्राह्मण प्रवेश नहीं देते। जबकि कहीं न कहीं उनका भी उस यज्ञशाला में भाग होता है लेकिन वे चाहे अपनी यज्ञशाला में जगह दें या नहीं दें, भगवान की यज्ञशाला में तो उनके लिए पहले जगह है। भगवती शबरी कोल–भील ही नहीं, वह तो शूद्रा भी थी? (स्त्री को तो लोग शूद्र कहते ही हैं; किन्तु उसे अधम जाति में उत्पन्न होने के कारण से शूद्रा कहा गया है।) उसे मतंग ऋषि ने अपने चरणों में शरण दी तथा प्रभु श्रीराम ने सद्गति दी। यही नहीं बल्कि जिसकी छाया को देखकर दूर से ही ब्राह्मणगण जिसके अभिवादन को स्वीकार कर लेते हैं, उसी निषाद को ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने गले लगा लिया था; क्योंकि वह भगवद्भक्त हो गया था। मिथिलापुरी में भगवान नारायण ने जाकर सर्वप्रथम गणिका नामक वेश्या का उद्धार किया था जो वेश्यावृत्ति को त्यागकर प्रभु नाम और प्रभु चरणों में ही मन लगा बैठी थी। सदन नामक भक्त कसाई का काम करते थे। भगवान ने उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर अपना परम धाम दे दिया। भक्त रैदास ने तो गीत गाते हुए कहा है– मेरा भगवान मेरे पास मेरे हाथों से जूती पहनने के लिए हर रोज ग्राहक बनकर आता है।

(मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य.....) इसीप्रकार सद्गुरु के पास भी जाति की बात नहीं की जाती, उसके पास किसी भी वर्ग, जाति का भक्त आता है उसे सहर्ष स्वीकार किया जाता है। जबकि गृहस्थाश्रम में आजकल ढोंग फैल गया है। वर्णव्यवस्था स्वाभाविक साधना की एक व्यवस्था है। जैसे शिष्य सद्गुरु के आसन पर नहीं बैठते हैं; इतना ही नहीं, वह ऊपर बैठता है और वे नीचे बैठते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सब शूद्र हो गये हैं। सद्गुरु उनका जूठा नहीं खाता है; किन्तु शिष्य जूठन को सहर्ष खाते हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे पशु–पक्षी की श्रेणी में आ गये। मातायें अपने पति को जूठा नहीं खाने देतीं और स्वयं पति का जूठन खाती

हैं। इतना ही नहीं वह पति को खिलाकर ही खाती हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अछूत हैं बल्कि यह व्यवहार तो धर्म की वह आत्मा है जो भविष्य में आध्यात्मिक श्रद्धा और विश्वास प्रकट करता है।

(किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या.....) यहाँ इस मंत्र के द्वारा ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग को भक्ति, ज्ञान, ध्यान और विज्ञान में विशेष महत्त्व दिया भगवान ने, उनके मत में ब्राह्मण, क्षत्रिय को जन्म लेकर एकमात्र भगवान के लिए ही जीना चाहिए। क्षत्रियों को तो भगवान की प्रसन्नता के लिए धर्मयुद्ध करते–करते प्राण छोड़ देना चाहिए। अपने बाहुबल से संत, भक्त और गो की रक्षा करनी चाहिए या बचपन से संन्यास ले लेना चाहिए तथा ब्राह्मणों को तो बचपन से ही वेदाध्ययन के बाद संन्यास लेकर ही जीने का अधिकार है। उस समय जो ब्राह्मण कर्म करता था अर्थात् कर्म करके खाता था, वह ब्रह्मराक्षस कहा जाता था। उसका एक ही कर्म था वेदाध्ययन करना और कराना या जगत्–हितार्थ संन्यास लेकर घोर तप करना। इन दोनों ही वर्णों को विशेष महत्त्व इसलिए दिया कि ये यदि सांगोपांग बारह साल अपने धर्म का विधिवत् पालन करते हैं तो बारह साल में ब्रह्मपद को प्राप्त कर जाते हैं। अन्य वर्ग के लिए कुछ अन्य व्यवस्था है। चाण्डाल यदि सांगोपांग अपने धर्म का पालन करता है, तो वह कुछ ही साल में चाण्डाल से शूद्र बन जाएगा, शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण और ब्राह्मण के पद पर जैसे ही आएगा वैसे ही संन्यास लेकर सद्गुरु आश्रम में चला जायेगा। वर्तमान में भी जो म्लेच्छ, चाण्डाल, शूद्र, कोल–भील आदि वर्णों से साधक सद्गुरु आश्रम में पहुँचे हुए हैं, वे उसी जाति–वर्ण के नहीं रहते बल्कि ब्रह्मजाति के हो गए होते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों ने संतों का गाँव, क्षेत्र, जाति, नाम आदि पूछना मना कर दिया है।

किसी ने कहा– शूद्रों को संन्यास लेने का अधिकार क्यों नहीं है? महाराज ने कहा– जो ऐसा कहता है, वह संन्यासी नहीं है। उसे वर्णव्यवस्था और शास्त्र का थोड़ा भी अनुभव नहीं है। अरे! वह संन्यास तभी लिया, जब ब्राह्मण के पद पर आ गया। उसका धर्म इतना विशेष बढ़–चढ़ गया कि सीधे गृहस्थाश्रम में अपनी जाति (वर्ण) से विशिष्ट जाति (वर्णभाव) को प्राप्त करता हुआ, ब्राह्मणवर्ण के पद को प्राप्तकर संन्यास लेकर सद्गुरु के पास चला आया और ब्रह्मवर्ण का हो गया।

प्रभु ने इन मंत्रों के पूर्व के मंत्रों के द्वारा (मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य.....) पाखण्डवाद का खण्डनकर यथार्थवाद की स्थापना की है, जिसपर साधकों और भक्तों को विशेष चिन्तन करना चाहिए। एक पिता ने अपने बेटे से कहा– तुम मनमाना जप, तप, व्रत कर रहे हो, अपने कुलगुरु को ही गुरु क्यों नहीं बना लेते हो? बालक ने कहा– आप ब्राह्मण कुलगुरु की बात कर रहे हैं, सद्गुरु की बात नहीं कर रहे हैं! यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है कि कोई कुलगुरु काम–क्रोध, लोभ आदि विकारों से रहित होगा और यदि विकारों से रहित नहीं है तो सद्गुरु की तो बात ही नहीं है, वह न कुलगुरु है, न ब्राह्मण है; क्योंकि काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार जिसमें होते हैं, वह ब्राह्मण जाति में जन्म लेकर भी भगवान के लिए ब्राह्मण नहीं

है। उस बालक ने कहा– आप कुलगुरु को गुरु बनाने की बात कर रहे हैं, मैं तो अब आपको ही ब्राह्मण नहीं समझता, इस कारण से आपसे ही संन्यास लेनेवाला हूँ। मैं तो संन्यास लेकर सद्गुरु को गुरु बनाऊँगा जो मात्र एक ब्रह्मजाति का होता है।

(अनित्यमसुखं लोकं.....) 'हे पार्थ! इस क्षणभंगुर सुखरहित शरीररूपी लोक को प्राप्त होकर तुम सदा मेरा ही भजन करो।' मेरा भजन करने का तात्पर्य– मेरी आज्ञा का पालन करना। तुम राजा भी हो, राजर्षि भी हो, इसीलिए हे राजर्षि! तुम मेरी आज्ञानुसार इस धर्मयुद्धरूपी व्यापार से ही मुझ ब्रह्म को प्राप्त करो।

यहाँ तक आते–आते भगवान का चित्त भक्तों के प्रति अति दयार्द्र हो उठा। भक्तों के क्षणभंगुर जीवन को देखते हुए उनके हृदय से एक वेदना भी प्रकट सी होती दीख रही है। वे चाह रहे हैं कि जैसे नानाप्रकार की योनियों में पाये जानेवाले प्राणियों का शरीर नश्वर है, क्षणभंगुर है वैसे ही मानव शरीर भी क्षणभंगुर ही है। प्रकृति की जो व्यवस्था उन क्षुद्र जीवों के लिए है लगभग वही व्यवस्था मानव शरीर के लिए भी है। यदि मानव भी उन्हीं जीवों की तरह प्रारब्ध के वशीभूत होकर रह जाता है तो फिर उनमें और इसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। जबकि इसके पास एक महति कृपा की गई है कि यह मेधाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण से अपने मौलिक स्वरूप की खोज भी कर सकता है। चलें, यदि सारे मानव ऐसा नहीं कर रहे हैं तो कोई बात नहीं, जो पुण्यात्माओं के घर में जन्म लिए हुए हैं, योगियों, तपस्वियों के घर में जन्म लिए हुए हैं तथा जिन्हें सद्गुरु प्राप्त हो गया है उन्हें तो जगत का सारा व्यवहार त्यागकर एकमात्र सद्गुरु का व्यवहार धारण कर भगवद्भजन करने में ही मन लगाने का अधिकार है अथवा एकमात्र मोक्ष का साधन कर उसे ही प्राप्त करने का अधिकार है। कोई भी भक्त यह नहीं जानता कि कल उसका शरीर रहेगा कि नहीं रहेगा और यदि रहेगा ही तो किस अवस्था में रहेगा। काल पीछा कर रहा है, अतः कल के दिन नानाप्रकार के रोगों के आक्रमण होने से घोर दुःख आ पड़ता है। उस दुःख–दर्द को भक्त सहन करने में समय बितायेगा या भजन करेगा। बहुत से लोग वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करते हैं कि बाल–बच्चों की व्यवस्था कर उस समय साधन–भजन में मन लगायेंगे, जबकि ऐसा होते देखा नहीं जाता है; क्योंकि वृद्धावस्था तो अपने–आपमें एक महारोग है। अतः वैसी अवस्था में तो कोई विरला ही भजन कर पाया है; फिर जो अवस्था अपने अधिकार में नहीं है उसकी प्रतीक्षा करना ही तो प्रमाद है। कल का दिन आयेगा या नहीं आयेगा, फिर भी उसकी प्रतीक्षा करना ही तो प्रमाद है। सद्गुरु प्राप्त करके मोक्ष का साधन नहीं करना ही तो प्रमाद है। जो बात प्रभु श्रीराम ने राज्याभिषेक होने के उपरान्त रामराज्य की स्थापना के समय अयोध्यावासियों से कही है कि यह मनुष्य तन अति दुर्लभ है इसे पाकर भी जो भगवद्भजन नहीं करता वह मेरे राज्य में रहने का अधिकारी नहीं है।

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ।।४३।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

वही बात यहाँ पर भक्तों से भगवान कर रहे हैं कि 'अनित्यमसुखं.....'– इस नश्वर शरीर को प्राप्तकर आप सब अनश्वर तत्त्व, अविनाशी तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, इस दुःखरूप शरीर से परम सुखमय शरीर को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए अपने मन को सद्गुरु के चरणों में देकर, उसी के भक्त होकर, उसी के शरण में रहते हुए वह जो मोक्ष का साधन बतावे उसका सम्पादन करते हुए आप अपने स्वरूप को प्राप्त कर जायेंगे।

अब अर्जुन बोल नहीं पाये। उनके पास कुछ प्रश्न करने को रह नहीं गया, तब उस प्रसन्नवदन महात्मा अर्जुन के चुप ही रहने पर भगवान ने कहा–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥

हे पार्थ! मुझे मन देकर मेरे भक्त हो जाओ, मेरी शरण में आकर ब्रह्मभाव से नमस्कार करो। इसप्रकार से मेरे आश्रित हुए तुम मेरे को ही प्राप्त हो जाओगे।

भगवान ने अर्जुन की प्रसन्नता को देखकर मानो अपना शरणागत बनाकर युद्ध की आज्ञा देकर यहीं पर ब्रह्मविद्यारूप ब्रह्मज्ञान को विराम देना चाहा है, क्योंकि १८ वें अध्याय में इसी मंत्र के द्वारा इस ब्रह्मज्ञानरूप प्रवचन को विराम दिया है। वे कह रहे हैं कि अबतक तुमने श्रेष्ठ शक्तिमान समझकर, भाई समझकर तथा सद्गुरु समझकर प्रणाम किया है। अबतक तुम स्वजनों की शरण में थे, अपने भाइयों की शरण में थे, शोक–मोह की शरण में थे, अज्ञानियों की तथा अज्ञान की शरण में थे, इन्हीं लोगों को तुमने अपना मन दे रखा था, अब मेरी शरण में आकर अपनी मनरूप आत्मा को मुझे देकर, मुझे निर्गुण और सगुण ब्रह्म समझकर प्रणाम करो और मेरी आज्ञा का पालन भी करो। इसप्रकार मेरे शरणागत होकर मन को मुझे देकर मेरी आज्ञा पालनरूपी युद्ध करते हो तो मैं निश्चित ही अपने को तुम्हें दे दूँगा और तुम्हारे को अपना बना लूँगा।

महात्मा अर्जुन अति प्रसन्न होकर पुनः भगवान की ओर देखने लगे, मानो प्रभुरूप में देखकर उनके मन को तृप्ति नहीं हुई हो और वे दर्शन के द्वारा प्रभु की रूपमाधुरी को पी रहे हों।

किसी भी साधक से सद्गुरु भी यही चाहता है जो भगवान ने चाहा है। साधकों के हृदय में सद्गुरु के प्रति औपचारिक व्यवहार रहता है और परिवारवालों के प्रति यथार्थ व्यवहार होता है। जबतक ऐसी स्थिति रहती है तबतक सम्पूर्णता से सद्गुरु की निकटता नहीं हो पाती, जितनी निकटता माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र से होती है, उतनी निकटता सद्गुरु से नहीं हो पाती। दोनों के मन की परस्पर में निकटता ही नहीं हुई तो शिष्य के अन्दर परम प्रेम

की धारा कैसे बहेगी? महात्मा अर्जुन की तरह ही कोई साधक सम्पूर्ण वैराग्य में, कोई अर्द्ध वैराग्य में, कोई श्मशानी वैराग्य में भी संन्यास लेकर सद्गुरु के पास चला आता है; लेकिन सद्गुरु यह नहीं देखता कि आपका वैराग्य कौन सा है, कैसा है? सद्गुरु तो मात्र इतना ही देखता है कि आप सौभाग्यशाली तो हैं ही कि भगवान को चाहते हुए यहाँ तक आ गए हैं। भगवान को चाहकर आप संन्यास लेने की कामनावाले हो गये, अतः आप ब्राह्मण के पद पर होकर ही ब्रह्म को चाह रहे हैं, या चाहे आप किसी भी वर्ण से आये हों सद्गुरु को आपकी जाति से कुछ भी लेना–देना नहीं है बल्कि अब तो आप थोड़ी सी छलांग लगाने का प्रयास करें तो ब्रह्मजाति के हो जायेंगे। भगवान ने अपनी दिव्य कुशलता के माध्यम से अर्जुन से पहले मन माँगा। प्रभु ने पहले यह नहीं कहा– हे पार्थ! तुम मेरी शरण में आ जाओ और तब अपने मन को दो। ऐसे कहते तो अर्जुन माँ और भाइयों की तरफ से शील और संकोच में पड़ जाते और मन लेना बहुत महँगा पड़ जाता। भगवान ने सोचा कि सर्वप्रथम मुझे ये भगवान तो समझे, उसके उपरान्त तन अपने–आप आ जायेगा क्योंकि जहाँ मन जाता है, वहाँ तन जाता ही जाता है रुक नहीं पाता। उसीप्रकार सद्गुरु भी आपकी चाहना को देखता है कि आप प्रभु को कितना चाहते हैं; भले ही आप घर में ही क्यों न हों। मात्र सुबह और शाम दोनों संध्याओं में ही दृढ़व्रती होकर २०–२५ मिनट जप और ध्यान करें, तो हो सकता है इतने में ही परिवारवालों पर आफत आ जाये। यदि चार आना संध्या आपके पकड़ में आ गयी, तो सोलह आना संध्या तो पकड़ में आयेगी ही आयेगी। फिर तो भगवान का काम हो जाता है कि वह आपको संन्यासी बनाकर अपने हृदय में बैठाये या योगिराज जनक बनाकर।

महाराज ने इस अध्याय को साररूप में पद के माध्यम से गाया है, जिसे गाकर आप इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त कर सकते हैं–

(राग–मालकोष, त्रिताल)

पार्थ तोरी भावत निर्मल बोलिया।।
निर्मल दृष्टि सृष्टि तोरी निर्मल, निर्मल मन की झोलिया।
निर्मल राजयोग हृदय महँ, दूँ धर खोले पोलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

व्याप्त सकल जग मम निर्गुण सों, मम हिय सबकी टोलिया।
पर सबके हियँ मम स्वरूप नहिं, जानत हौं सब छलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

नभ सो उपजत बसत नभ भीतर, वायु की किलकेरिया।
नभ नहिं रहत वायु संग कबहुँ, तिमि मम रहनि रे भोलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

प्रकटत स्वप्न पुरुष चित्त भीतर, चित्त भीतर फिर घोलिया।

प्रकटत विनशत तिमि जग मम मन, तौलत तौलत तोलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

जड़ चेतन शुभ अशुभ रूप सब, मेरो मन रे मनोलिया।
योगक्षेम फिर वहन करौं तेरो, बूझ अबूझ पहेलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

पतित उद्धारन नाम मम अर्जुन, भक्तन्ह मोलत मोलिया।
महाराज सम्वाद भक्त प्रभु, खोलत खोलत खोलिया।।
पार्थ तोरी भावत.....

इस राजयोग नामक दिव्य आख्यायिका को आप सबके इष्ट को ही समर्पित किया जाता है। वे आप सबको कृतार्थ करने के लिए इसे स्वीकार करें।

ॐ मासपारायण, सत्रहवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ दशमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रभु ने अर्जुन की आन्तरिक स्थिति को देखकर कहा– तुम्हारे चेहरे की मुद्रा को देखकर तो लग रहा है कि तुम्हारे सम्पूर्ण संशय निवृत्त हो चुके हैं; लेकिन तुम प्रणाम के साथ–साथ वाणी से कुछ स्तवन भी नहीं कर रहे हो, जबकि एक मित्र को बहुत दिनों के उपरान्त आया हुआ देखकर, दूसरा मित्र, "आओ! आओ मित्र!! आओ! बहुत दिनों के बाद तुमने याद किया, क्या मेरे से कोई अपराध हो गया था? या तुम अपने परिवार में बहुत व्यस्त हो चुके हो? आओ नमस्कार! नमस्कार!! नमस्कार!!!"– ऐसा कहते हुए गले लगा लेता है। फिर पूछता है– बताओ क्या हाल–चाल है? मेरे से कोई और भी विशेष परम मित्र मिल गया क्या? इसप्रकार उसमें अति प्रसन्नता व्यक्त होते देखी जाती है लेकिन मुझे प्रणाम करने के अतिरिक्त, दर्शन करने के अतिरिक्त, तुम यह नहीं कह पा रहे हो कि हे माधव! मैं कृतार्थ हो गया और न ही तुमने अबतक अपने प्रिय गाण्डीव को ही हाथ में उठाया। लगता है, राजयोग की परिभाषा पूरी तरह से परिभाषित नहीं हुई है, तुम उसे और भी विस्तार से सुनना चाहते हो, तो लो पुनः सुनो–

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

हे महाबाहो! तुम मेरे अतिशय प्रिय हो, इसलिए मैं उपरोक्त राजयोग को तुम्हारे समझने के लिए पुनः कहूँगा; क्योंकि जबतक तुम अच्छीप्रकार से गूढ़ात्मक विषय को भलीभाँति नहीं समझ लेते हो, तबतक तुम्हारा कल्याण होनेवाला नहीं है। अतः इतना तुम जान लो कि पिता जैसे प्रिय पुत्र का पीछा नहीं छोड़ता, पति जैसे प्रिय पत्नी का पीछा नहीं छोड़ता; मित्र प्रिय मित्र का पीछा नहीं छोड़ता, उसीप्रकार तुम्हारे जैसे परम प्रिय का पीछा, जबतक तुम्हारा कल्याण न हो जाय तबतक मैं छोड़नेवाला नहीं हूँ।

'मैं योग और क्षेम वहन करता हूँ', ऐसा कहकर भगवान ने ज्ञानयोग एवं कर्मयोग दोनों का मानो खण्डन कर दिया; क्योंकि साधनाकाल में दोनों का प्रारब्ध साथ–साथ रहता है। प्रारब्ध के कारण से दोनों को अपनी साधना से बहुत जूझना भी पड़ता है। ये अपने पाप–पुण्य को भोगते हुए ही आगे बढ़ते हैं, परन्तु राजयोगी के प्रारब्ध को कौन भोगे, इसकी व्यवस्था भगवान के पास है। भगवान चाहें तो उसे भोगें या ब्रह्म बना दें– मानसकार ने कहा है–

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

लगता है भगवान इस रहस्य को खोलना नहीं चाहते थे; किन्तु महात्मा अर्जुन के अद्भुत समर्पण और उत्कट जिज्ञासा को देखकर खोलने के लिए विवश हो गये हैं। वह क्या है? (न मे विदुः.....) मुझे और मेरे आदि, अन्त एवं मध्य को देवता तथा महर्षिजन भी अपने से नहीं जानते, चाहे जितना घोर जप, तप, योग क्यों न कर लें। पूर्व में भी जो देवता–महर्षिजन हो चुके हैं, (भृगु, वसिष्ठ आदि) उन्होंने भी अपने से मुझे नहीं जाना बल्कि जब मैंने जना दिया तभी जाना।

भगवान जनाये भी तो क्यों? क्योंकि जिसे जनायेगा, वह उसी का रूप हो जाएगा; इसलिए अपने को जनाने के पहले सर्वप्रथम साधक के तन, मन, वचन एवं हृदय को जानने के योग्य बनाता है। भगवान भी तो अर्जुन की जैसे–जैसे आध्यात्मिक श्रद्धा को देखते जा रहे हैं, वैसे–वैसे गूढ़ात्मक रहस्य को प्रकाशित करते जा रहे हैं। गोस्वामीजी ने ब्रह्माजी और वसिष्ठजी के संवाद की एक झाँकी दी है। वसिष्ठजी को मृत्युलोक में रघुवंशियों का कुलगुरु और पुरोहित भी बनना है, इसलिए ब्रह्माजी उन्हें जगत में भेज रहे हैं। वसिष्ठजी ने मना कर दिया कि वेद–पुराण से निन्दित यह कर्म मैं नहीं करूँगा। तब ब्रह्माजी ने कहा कि तुम जाओ तो सही, यदि तुमने रघुवंशियों से रोटी, कपड़ा और झोंपड़ी के अलावा कुछ विशेष दक्षिणा नहीं ली तो त्रेतायुग में ब्रह्म के अवतार, श्रीरामजी ही तुम्हारी दक्षिणा बन जायेंगे और दक्षिणा स्वरूप वे तुम्हारे को और अपने को यानी दोनों को जना देंगे।

भगवान के अनुसार सम्पूर्ण साधना गौण हो जाती है, इसी से भगवती मीरा ने कहा है–

सखि रे मैं झिरमिट खेलन जाती।
तेहि झिरमिट मँह मिलत साँवरो, खोल मिली मैं गाती।।
तन करि थाल हृदय करि दियना, मनसा की कर बाती।।
गुरु मिला तो संशय भागा, गावे मीरा दासी।।

यहाँ पर ब्रह्म का स्तवन करते–करते उन्होंने अन्त में सद्गुरु का स्तवन प्रारम्भ कर दिया है। वे ब्रह्म और सद्गुरु में भेद नहीं मानतीं, क्योंकि सद्गुरु के भीतर कोई जीव, साधक या संत तो रहता नहीं, वहाँ तो केवल ब्रह्म ही प्रकट हो गया रहता है। इसलिए भगवान ने कहा–

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझे सम्पूर्ण भूतों का आदिकारण और सम्पूर्ण लोकरूप ईश्वर का महेश्वर तथा अजन्मा जानते हैं, वे इस मृत्युलोक में ही सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् निर्विकार हो जाते हैं।

जैसे आकाश में बिजली चमकती है वैसे ही महात्मा अर्जुन के मन में विचार चमक गया कि फिर ये सद्गुरु की बात क्यों करते हैं? इसका उत्तर है कि भगवान ने तो कभी आप्तकाम पुरुष में और ब्रह्म में किसीप्रकार का भेद माना ही नहीं है; क्योंकि संत नामक शरीर में जब वह प्रकट होता है, तो वह अजन्मा ही तो रहता है। जगत में वह संत ही कहलाता है, किन्तु भीतर में भगवान ही रहता है। इसप्रकार जो सद्गुरु को सात्त्विक, राजस, तामस आदि लोकों का भी आदिकारण जानता है तथा शरीर के भीतर अजन्मा ब्रह्म ही है, ऐसा स्वीकार करता है, उसके द्वारा इस भाव से दर्श, स्पर्श करने से उसके सारे के सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं। सद्गुरु को जब शरीर के माध्यम से कोई साधक देखता है तो उसका उत्थान उतना नहीं होता जितना होना चाहिए। सद्गुरु को ब्रह्मरूप में देखनेवाले साधक के लिए कहा गया है कि वह सद्गुरु से कहता है– 'तव दर्शनात् मुक्तिः' अर्थात् आपके दर्शन से मुक्ति होती है। कुछ साधक ब्रह्महत्या आदि दोषों को ब्रह्म से भी बड़ा मानते हैं, इसलिए सद्गुरु से उसके प्रायश्चित के निमित्त मंत्र या व्रत माँगते हैं; किन्तु जो प्रारब्धवादी नहीं है तथा सद्गुरु के प्रति संतवादी नहीं है, ब्रह्मदर्शी और ब्रह्मवादी ही है; वह सद्गुरु के पास जाकर किसी भी पाप के प्रायश्चित की बात नहीं करेगा। वह तो सद्गुरु को पाया और सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो गया। वह जानता है कि ब्रह्महत्या का पाप लगा था, तभी मैं गृहस्थाश्रम में था अथवा ब्रह्महत्या का पाप लगा था तभी पहले मेरे हृदय के भीतर माता–पिता, भाई–बान्धव और स्वजन थे; किन्तु अब मेरे हृदय के भीतर भगवान हो गया और बाहर में वे स्वजन हो गये; फिर मेरे लिए कैसा पाप–महापाप? सद्गुरु को अजन्मा, अविनाशी और पुरातन मानते ही अपने में भी अजन्मापना, पुरातनता, सनातनता तथा अविनाशिता का भाव प्रकट हो ही जाता है। क्योंकि,

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

आध्यात्मिक बुद्धि, ब्रह्मजिज्ञासा, असंमूढ़ता, क्षमा, सत्य, दम–शम, सुख–दुःख, उत्पत्ति–प्रलय, भय–अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान एवं यश–अपयश आदि मेरी कृपा से ही तो होते हैं।

यहाँ पर इन मंत्रों के द्वारा आपने बुद्धि, ज्ञान, शम, दम आदि के पूर्व आध्यात्मिक शब्द जोड़ दिया है, इसका क्या प्रयोजन है?

हाँ, महाराज ने नहीं जोड़ा, इसे तो भगवान ने ही जोड़ दिया है। भगवान से राजस, तामस और सात्त्विक बुद्धि एवं ज्ञान, क्षमा आदि प्रकट हों, यह कहते शोभा नहीं देता; क्योंकि बुद्धि एवं

क्षमा आदि गुण तो सामान्य से सामान्य पुरुष में भी पाये जाते हैं। अतः उनके पास प्रकट होनेवाले गुण का कर्ता प्रारब्ध है, किन्तु साधक–भक्त के भीतर ब्रह्म के प्रति प्रयोग किये जानेवाले उपरोक्त सद्गुण भगवान के द्वारा ही प्रकट होते हैं। इसीलिए भगवान ने यहाँ पर आध्यात्मिक गुणों को ही अपने से प्रकट हुआ माना है। जिस बुद्धि से बन्धन और मोक्ष, जीव एवं ब्रह्म तथा सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का निर्णय किया जाता है एवं असत्य का परिहारकर, क्षमा, सत्य एवं दम–शम आदि सद्गुणों के द्वारा उनका निग्रह किया जाता है अर्थात् शमन किया जाता है, उस बुद्धि और ज्ञान को ब्रह्म प्रदत्त मानना चाहिए। सुख को त्यागने की और दुःख को सहन करने की जो तितिक्षा नामक शक्ति प्रकट होती है, उसे प्रभुकृपा प्रसाद से ही प्राप्त हुआ मानना चाहिए। सम्पूर्ण भूतप्राणियों को अभयदान देने की सामर्थ्य और सद्गुरु से आध्यात्मिक आचार–व्यवहार करते समय कोई त्रुटि न हो जाय, कोई गलती न हो जाय ऐसा भय मैं ही देता हूँ, ऐसा भगवान कहते हैं। महात्मा प्रह्लाद की अभयता और अपने को सतानेवाले को भी अभयदान देने की सामर्थ्य प्रभुप्रसाद ही था।

(सत्यं दमः शमः.....) ब्रह्म के लिए अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रहरूप व्रत को धारण करना प्रभुप्रसाद ही समझना चाहिए। जो प्रभु श्रीराम जगत से अभय हैं, वे सदाचार एवं व्यवहार को देखते हुए मिथिलापुरी में विश्वामित्र जैसे सद्गुरु से डरते हैं। वे कहते हैं– लक्ष्मण! बहुत देर हो गई, गुरुदेव पता नहीं क्या कहेंगे? जल्दी चलो!

(.....तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः.....) महात्मा विदुर का परम संतोष तथा साधकों, भक्तों एवं तपस्वियों का तप (जो भगवान के निमित्त किया जाता है) युधिष्ठिर जैसे का सत्य, वसुदेव जैसे का सत्य और तप, मोरध्वज नामक राजा जैसों का दान, राजर्षि हरिश्चन्द्र जैसों का सत्य तथा दान, मुझ वासुदेव जैसे की कीर्ति और संतों के द्वारा ब्रह्म के लिए छिपे रहने के कारण स्वयं से कराई जानेवाली अपकीर्ति, ऋषियों और संतों की जैसी अहिंसा तथा उन्हीं में पायी जानेवाली समता, मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा का प्रसाद ही तो है। ऐसा जानकर के ही सदा–सर्वदा के लिए भक्त एवं संतजन मेरे ही हो जाते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

सृष्टि के पूर्व में सात–महर्षिजन एवं चौदह मनु मेरे ही संकल्प से प्रकट हुए हैं, जिनकी ये सारी प्रजा है। इसप्रकार मेरी दिव्य विभूति को और आध्यात्मिक योगरूप शक्ति को जो यथार्थ रूप से जानता है, वह अनन्यभक्त सदा–सर्वदा के लिए मेरा ही हो जाता है तथा यह जगत मेरा

ही संकल्प है और मुझसे ही व्यवहार कर पाता है, ऐसा जानकर ही जो बुद्धिमान भक्त हैं, आध्यात्मिक श्रद्धा और भक्ति से मेरा ही भजन किया करते हैं।

(महर्षयः सप्त पूर्वे.....) आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये ही आदि सप्तर्षि हैं तथा इन सप्तर्षियों से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, देवता, साधक आदि में दस बाह्य इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार अन्तः इन्द्रियाँ ही चौदह मनु (मन) हैं जिनकी ये दीखनेवाली सारी की सारी प्रजा है। इसप्रकार का ब्रह्म विभूतिवाला कहा जाता है। कोई उसकी अपरिमित शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकता है कि विभूतियाँ उसके भीतर से कैसे प्रकट होती हैं।

(अहं सर्वस्य प्रभवो.....) संत एवं भक्तों ने भी भलीभाँति यह जान लिया कि ब्रह्म से ही सब प्रकट हो रहे हैं और ब्रह्म से ही सबका व्यवहार संचालित होता है, इसलिए इस जगत में किससे राग करें, किससे द्वेष करें। अतः सम्पूर्णता से भगवान के ही हो जाते हैं, फिर वे चाहे घर में रहें या बाहर, भगवान का भजन किस भाँति करते हैं, इसका स्वरूप बता रहे हैं–

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

हे पार्थ! वे मन, बुद्धि, चित्त ही नहीं बल्कि अपना प्राण भी मुझे ही दे देते हैं और सदा परस्पर में मेरी कथा कहते और सुनते हुए ही तुष्ट, पुष्ट एवं संतुष्ट होते हैं।

जिन्होंने अपने चित्त को लम्बे काल से अपने स्वजनों को दे रखा है, उनका मन, बुद्धि, चित्त निश्चितरूप से उन्हीं के द्वारा अपहरण कर लिया गया है, ऐसा जानकर जिस ढंग से उन्हें दिया है, उसी ढंग से भगवान को दे तो इन सब पर भगवान का शासन हो जाता है। आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि ही प्राण हैं। इन प्राणों को देकर कैसे भजन किया जाता है, इसपर विचार किया जाता है। वे जहाँ भी रहते हैं, वाणी से प्रभुनाम और गुणों का कीर्तन करते रहते हैं, कान से प्रभु की ही कथा सुनते रहते हैं, उनकी आँखें सदा संत और सद्गुरु के दर्शन की प्यासी रहती हैं, नाक से प्रभु विग्रह पर चढ़े हुए फूलों की ही सुगन्ध लेते रहते हैं, हाथों से संतों–सद्गुरुओं की सेवा करते रहते हैं, जिह्वा से उन्हीं का जूठनरूपी प्रसाद पाते रहते हैं, मन से सदा ध्यान तथा बुद्धि से आध्यात्मिक चिन्तन ही उनके जीवन का मुख्य अंग बना रहता है। जिसप्रकार कामी जहाँ बैठता है वहाँ दिन–रात काम की ही चर्चा करता रहता है, लोभी सदा–सर्वदा धन की ही बात करता रहता है, उसीप्रकार भक्त प्रभु की ही जीवन–लीला परस्पर में गाते हुए जीवनयापन करते रहते हैं। इसप्रकार मन, बुद्धि, चित्त तथा सम्पूर्ण अंगो से प्रभु में ही रमण करनेवाले भक्तों को क्या देते हैं भगवान, इसे सुनें–

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

हे पार्थ! मैं उन्हें बुद्धियोग देता हूँ, अर्थात् अपनी ही बुद्धि दे देता हूँ, अपना ही मन और चित्त दे देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे ही प्राप्त कर जाते हैं। इतना ही नहीं, उनपर अनुग्रह करने के लिए उनके हृदयरूपी घर में ज्ञानरूपी दीपक जला देता हूँ, जिससे अज्ञानरूपी सारा संशय सदा–सर्वदा के लिए चला जाता है अर्थात् ज्ञान में ही विलीन हो जाता है।

बुद्धियोग शब्द गीता अध्याय–२ में भी आया है। वहाँ पर इसका अर्थ कर्मयोग से है; किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ मेधाशक्ति से है, विवेक शक्ति से है। जिसप्रकार हंस के पास दूध रखने पर वह उसका रस पीकर जल छोड़ देता है, उसीप्रकार प्रभु ने एक ऐसी बुद्धि देने की बात की है, जिससे सदा–सर्वदा ब्रह्म का ही दर्शन होता रहेगा। जगत का प्रीतिपूर्वक कोई भजन नहीं कर सकता। कोई पति, पत्नी के पास अखण्ड एक महीने रह जाए, तो वह पागल होने की स्थिति में आ जाएगी; क्योंकि उसे गप–शप करने के लिए, अपने दोष–दर्शन को बताने के लिए सहेली चाहिए। उसीप्रकार यदि पति के पास पत्नी ही एक महीना रह जाए, तो वह उसका वैरी बन जायेगा।

इन्दौर जिले के एक गाँव में एक पुरुष पहली पत्नी के मर जाने के उपरान्त दूसरी पत्नी लाया। किसी शंका के कारण से कभी वह उसे अकेला नहीं छोड़ता था। यहाँ तक कि वह शौचालय के बाहर भी खड़ा रहता था। पत्नी परेशान–परेशान हो गई। उसने हो–हल्ला मचाया और कहा– यदि आप ऐसा करेंगे तो छोड़कर भाग जाऊँगी। इसीप्रकार पिता–पुत्र तथा कोई भी जीव परस्पर में एकसाथ अहर्निश नहीं रह सकते; क्योंकि सबका परस्पर में सम्बन्ध स्वार्थपूर्ण है, केवल ब्रह्म ही निःस्वार्थ है। अतः अनन्य भक्त निःस्वार्थ होने के कारण से उसकी प्रीतिपूर्वक उपासना करता है। यहाँ भगवान के लिए प्रीतिपूर्वक भजन करने की बात कही गई है; क्योंकि सजातीय–सजातीय से ही परस्पर में सौहार्द्र का वातावरण बना रहता है। यदि सचमुच में सद्गुरु है तो उसे शिष्य से कुछ लेना–देना नहीं है और यदि सचमुच में शिष्य है तो उसे भी सद्गुरु से कोई स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है। सद्गुरु को शिष्य से एकमात्र आध्यात्मिक श्रद्धा तथा विश्वास चाहिए और शिष्य को सद्गुरु से भगवान चाहिए। वहाँ पर परमार्थ ही परमार्थ है, अतः वे एक–दूसरे के निकट से अति निकट होते जाते हैं। एक (गुरु) चाहता है यह भगवान ही माँगे और दूसरा (शिष्य) चाहता है, ये मुझे भगवान ही दें। इसप्रकार के सम्बन्ध के बीच प्रभु स्वयं बुद्धि बन जाते हैं जिस बुद्धि से, ब्रह्म किस स्वरूपवाला है? कैसा है? कहाँ रहता है? किस सामर्थ्यवाला है? यह सब कुछ जानकर वह ब्रह्म के स्वरूप में ही अपने स्वरूप को समर्पित कर देता है। इतना ही नहीं–

(तेषामेवानुकम्पार्थं.....) प्रभु ने यहाँ पुनः कर्मवाद और भाग्यवाद दोनों को छिन्न–भिन्न कर दिया है। प्रभु जब देता ही है अर्थात् हृदय में ज्ञानरूपी दीपक जलाता ही है तो एकमात्र भगवान का हो जाना ही तो शेष बचा! आप नहीं देखते कि माँ शिशु को मारती–पीटती है तो

भी वह उसी की गोद में दौड़ता है; वह माँ के प्राण में बैठा है तभी तो। उसीप्रकार शिशु की तरह अपने–आप को समर्पित कर देनेवाले भक्त के हृदय में भगवान ज्ञानरूपी दीपक जला देता है अर्थात् वह उसका ब्रह्मचिन्तन बन जाता है।

साधक कहते हैं– ब्रह्म का चिन्तन करने नहीं आ रहा है। महाराज कहता है– कोई चिन्ता की बात नहीं। जब आप ब्रह्म के लिए पागल हो जायेंगे, तो वह ब्रह्म स्वयं आपका चिन्तन बन जाएगा। आप तो ये विचार करें कि आप उसके लिए कितना जी रहे हैं। जितना आप उसके लिए जी रहे हैं, उसके अनुपात में ही वह आपके लिए साधन बनेगा। सपने में आप कामी क्यों होते हैं? इसलिए कि आपका जाग्रत् का भगवान आपके सपने में नहीं पहुँचा है। ब्रह्मचिन्तन यदि नहीं हो रहा है अथवा समझ में नहीं आ रहा है, तो भगवान के नाम का अखण्ड जप ही होवे; अखण्ड स्वाध्याय ही होवे! ब्रह्मचिन्तन तो जप, तप, योग का फल है! पहले आप पत्ते और फूल की चिन्ता करें। जब आप कहते हैं कि ब्रह्मचिन्तन नहीं होता, तो कुचिन्तन तो होता ही होगा? वह कुचिन्तन जहाँ–जहाँ से हो रहा है, वहीं वहीं से ब्रह्मचिन्तन करें। आप हर विचार के तह में जाने का प्रयास करें उसके उपरान्त आध्यात्मिक चिन्तन स्वतः प्रारम्भ हो जाएगा।

आपने देखा होगा कि कोई पागल जड़ की तरह रहता है, न बोलेगा, न हँसेगा बल्कि बस, बालक की तरह देखता रहेगा, क्यों? इसलिए कि उसके चित्त का एक ऐसा स्तर खुला हुआ है, जहाँ से विचार प्रकट होते ही नहीं; इसलिए उसकी बाह्यस्मृति खो गई। वह ऐसी जगह से देख रहा है, जहाँ से अपने–पराये का बोध हो ही नहीं सकता। एक ऐसे व्यक्ति को महाराज ने देखा है जो सोये हुए में जाग जाता है। सबलोग उसके सामने रहते हैं, परस्पर में उसके प्रति बात करते हैं, किन्तु वह देखता रहता है। बहुत झकझोरने पर वह बाह्यजगत में आता है। कुछ पागल ऐसे होते हैं जो अपने–आप से ही बात करते रहते हैं; क्योंकि उनका राजस चित्त खुला रह जाता है, इसलिए वे बाह्यजगत में न रहकर अन्य लोको के विचारों में खोये रहते हैं, अतः बाह्यस्मृति से उनका सम्पर्क कट गया होता है। ठीक इन्हीं दोनों पागलों की तरह एक तीसरा संत भी पागल होता है, जिसके भीतर ब्रह्मचित्त प्रकाशित हो गया रहता है, जिससे आध्यात्मिक चिन्तन की धारा प्रवाहित होती रहती है। वेद–पुराण एवं शास्त्र आदि उन्हीं पागल संतों की आध्यात्मिक चिन्तन–धारा हैं। आम आदमी के लिए संत भी एक आश्चर्य की तरह दिखाई पड़ता है क्योंकि वह अपने आपकी मस्ती में मस्त रहता है। यदि आपके तन, मन, वचन एवं बुद्धि में अभी आध्यात्मिक योग्यता नहीं है तभी यदि आपके लिए ब्रह्म, चिन्तन बन गया, तो आप भी पागल हो जायेंगे। वह आपके हृदय में ज्ञानरूपी दीपक इसीलिए नहीं जलाता कि कहीं आप खतरे में न आ जायँ। इसीलिए तो पहले भगवान ने मन, बुद्धि, चित्त तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से अहर्निश अपने लिए जीने की बात की है। ऐसा करने से, आपमें जब वह शक्ति प्राप्त हो जाएगी, तब प्रभु ज्ञान एवं चिन्तन बन जाएगा।

महाराज ने एक सद्गुरु के शिष्य को देखा– वह सोचने लगा कि इतना समय हो गया भगवान का चमत्कार तो कुछ हो ही नहीं रहा है। तबतक उसका इष्ट ही सब ओर दिखाई पड़ने

लगा और उसके शरीर में इतना शक्तिपात हो गया कि उसकी बाह्यस्मृति भ्रमित होने लगी। उसने उसी अवस्था में भयभीत होकर कहा– कहीं मैं पागल तो नहीं हो रहा हूँ? तब उसके सद्गुरु ने कहा– बैठो, बैठो! पद्मासन में बैठो और आँख बंदकर ध्यान करो। उसने वैसा ही किया और कुछ देर के बाद सद्गुरु ने अपनी माया समेट ली।

इस शरीररूपी लोक में दो प्रकार के शरीर हैं– एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक। जीवनपर्यन्त आपका भौतिक शरीर ही काम करता रह जाता है, जबतक कि आध्यात्मिक शरीर का योग नहीं हो जाता। भोजन से सम्बन्ध होनेपर नींद की धारा बहने लगती है, उसीप्रकार आध्यात्मिक सद्गुरु के अति निकट होने पर ब्रह्मचिन्तन की धारा बह चलती है। शरीर के भीतर तीन प्रकार की धारायें हैं जिनसे प्रायः सभी परिचित हैं। राजस धारा में राजस विचार, सात्त्विक धारा में सात्त्विक विचार तथा तामस धारा में नींद का बहना होता है अर्थात् नींदरूप धारा बहती है; किन्तु इस शरीर के परे विलक्षण शरीर है, जो उच्चकोटि के साधकों के दृष्टिपथ में आता है। जब वह प्रकट होता है, तब केवल आध्यात्मिक चिन्तन की धारा प्रवाहित होती रहती है। सजल नदी के किनारे अलग से जगह–जगह धारायें फूटी रहती हैं, जिसे भूर भी कहते हैं, उसे पाताल गंगा भी कह सकते हैं। उसीप्रकार लंबेकाल तक जप–स्वाध्याय और सत्संग चलने पर उस निष्क्रिय से रहनेवाले चौथे शरीर से आध्यात्मिक धारा अर्थात् ब्रह्मचिन्तन प्रवाहित होने लगता है। स्पष्ट ही है कि शरीर में ब्रह्म है, तो ब्रह्म का चिन्तन भी है, ब्रह्म का ज्ञान भी है, ब्रह्म की शक्ति भी है। आप कहते हैं– भगवान शंकर सदा समाधि में रहते हैं और ब्रह्मा तथा विष्णु भी सम शान्त हैं। यदि ऐसा है तो आपके ध्यान में उनका ध्यान और उनकी सम शान्तता भी तो प्रकट होगी! मूल में आध्यात्मिक शरीर है और ऊपर–ऊपर भौतिक शरीर है। आध्यात्मिक समर्पण ही एक योग है, वही ब्रह्म से मिलन का योग है। इस योग के प्रकट होते ही आध्यात्मिक चिन्तनरूपी दीपक प्रकाशित होने लगेगा। जैसे शिशु के द्वारा माँ के स्तन को पकड़ते ही माँ के स्तनों में दूध आ ही जाएगा; क्योंकि वह भी एक योग है। प्रभुकृपा द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानरूप दीपक जब जल जाता है, तब शोक–संतापरूप अंधकार के विलीन हो जाने से मायावाद, कर्मवाद सब समूल नष्ट हो जाते हैं। आप कहते हैं– कर्मवाद समूल नष्ट हो जाएगा, किन्तु शास्त्र–पुराण तो कहते हैं कि ब्रह्महत्या का पाप तो भोगना ही पड़ेगा, फिर आप ऐसा किस अर्थ में कह रहे हैं? नहीं, नहीं! ऐसा नहीं है। शास्त्र तो बहुत कुछ कहता है लेकिन सबके लिए सबकुछ नहीं कहता। वह तो पात्र की अवस्था को देखकर उसके चित्त की व्यवस्था के लिए कुछ कहता है। भक्तिपक्ष के साधक के पास जैसा कहता है वैसा ही ज्ञानपक्ष के साधक के पास नहीं कहता। यहाँ पर अनन्यभक्तियोग की बात की जा रही है, जो अहर्निश सद्गुरु की अध्यक्षता में है तथा सर्वत्र आत्मदर्शन का अभ्यास कर रहा है, यह बात उसके लिए कही गयी है। ब्रह्महत्यारा सद्गुरु को प्राप्त नहीं कर सकता और यदि उसे सद्गुरु प्राप्त हो गया है तो वह ब्रह्महत्यारा रहा ही नहीं। शास्त्र ने ही तो कहा है–

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ।।
(श्रीरामचरितमानस– सुन्दरकाण्ड)

मूल में ब्रह्महत्या का कोई पाप नहीं लगता अर्थात् आत्मा को ब्रह्महत्या का पाप कभी स्पर्श किया ही नहीं। ब्रह्म के शरणागत होकर अव्यभिचारिणी भक्तियोग का सेवन करनेवाले भक्तों के हृदय में भगवान स्वयं दीपक, घी और आग भी बन जाते हैं।

मानो भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि साधन और साध्य दोनों मैं ही बन जाता हूँ। हे पार्थ! विचार कर लो कि तुम प्रारब्ध में जीना चाहते हो या ब्रह्म में। प्रारब्ध तुम्हारे मन, बुद्धि, चित्त में है; किन्तु निर्गुण–निराकार ब्रह्म सगुण–साकार बनकर सद्गुरुरूप में तुम्हारे सामने खड़ा है।

महात्मा अर्जुन ने अति आनन्दित होकर भगवान के चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया और पुनः रथ से नीचे उतरकर, हाथ जोड़कर रथ की परिक्रमा करते हुए दिव्य स्तवन के द्वारा वन्दना करना प्रारम्भ कर दिया, जो भगवान को अति अभीष्ट था।

अरे! ये क्या? देखें राजन्! देखें! हे राजन्! देखें– संजय ने कहा।

धृतराष्ट्र ने कहा– बोलो संजय! बोलो! ऐसा क्या चमत्कार देख रहे हो?

एक विलक्षण झाँकी प्रकट हो गई है, अन्नदाता! भक्त अर्जुन हाथ जोड़कर रथ की परिक्रमा करते हुए, प्रभु का स्तवन कर रहे हैं–

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

वे कह रहे हैं– हे प्रभु! अब मैं जान गया कि आपकी शरणागति के अतिरिक्त अन्य की शरणागति परम आश्रय नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्रादि देवताओं के भी देवता (ब्रह्म) होने से आप ही परब्रह्म परमात्मा हैं। इसलिए आप ही परम धाम भी हैं। हे प्रभु! यहाँ इसरूप के साथ–साथ इस जीव–जगत में जहाँ–जहाँ आत्मज्ञानी के रूप में आप विराजमान हैं, वह भी आपका परम धाम ही है। अतः आप परम धामवाले हैं। हे परम पावन संकल्पवाले! हे पतितपावन! आप ही सनातन दिव्य पुरुष हैं। हे जगत्पते! आपने इस विग्रह की स्वयं से रचना की है। प्रकृति ने प्रारब्ध के माध्यम से इस विग्रह की रचना नहीं की है। अतः हे दिव्य पुरुष! हे अजन्मा! हे दिव्य तेजवाले! आप स्वयं से ही स्वयं को जानते हैं। हे प्रभु! सम्पूर्ण ऋषि, जैसे देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि तथा स्वयं आप भी अपने विषय में जो कुछ कह रहे हैं, मैं वह सब सत्य मान रहा हूँ; किन्तु, हे सनातन! हे पुरातन! हे अव्यय! मैं चौबीस घण्टे जिधर देखूँ, आप ही दिखाई दें, सदा–सर्वदा आपका ही स्मरण हो, इसके लिए आप अपनी दिव्य विभूतियों को विस्तार से बताएँ– जिन विभूतियों से सम्पूर्ण जगत को आपने धारण कर रखा है। कहीं, किसी भी काल में आप को न पहचानने के कारण से अपराध न हो जाय; जैसा कि आपको नहीं पहचानने के कारण आपको मैंने सारथि ही समझ लिया था। यद्यपि सारे प्राणिपदार्थों के भीतर–बाहर आप व्याप्त हैं, आप ही इन कौरवों और पाण्डवों में भी हैं लेकिन मेरे जीवनरथ पर विशेष बैठे हैं। इतना ही नहीं, किन–किन भावों से किन–किन दिव्य मंत्रों, स्तोत्रों से आपकी आराधना एवं साधना करूँ जिससे कि आप प्रसन्न होते हैं– यह भी बता दें, तथा उन–उन दिव्य विभूतियों के रूप में आप क्या चाहते हैं? आपकी पूजा कैसे की जाती है? यह भी बताएँ। हे योगेश्वर! हे सच्चिदानन्द! यह युद्ध प्रारम्भ होने का समय है, इसलिए इनलोगों की तरफ देखकर कहीं थोड़े में ही मत बता देना जिससे मैं आपके उन नाम एवं रूपों से वंचित रह जाऊँ। आपकी इस अमृतमयी वाणी को सुनने से तृप्ति नहीं होती। हे जनार्दन! इस दिव्य वाणी से आप मेरे हृदय को तृप्त करें, क्योंकि आपने अपने से ही गूढ़ात्मक रहस्य एवं नाम और रूपों को बताने की प्रतिज्ञा की है।

महात्मा अर्जुन के मन की बात पुनः विस्तार से कही जा रही है; क्योंकि उनके द्वारा किये गये दिव्य स्तोत्रों से उनके हृदय का तत्कालीन भाव प्रकट हो रहा है। वे कहना चाहते हैं कि मन तो करता है केशव! कि गाण्डीव उठा लूँ; किन्तु एक मन कहता है कि यह दिव्य अवसर है, कहीं यह हाथ से चला न जाय। पता नहीं, पुनः ऐसा अवसर आये या नहीं आये। जीवन में बहुत बार साथ रहने का अवसर मिला है; किन्तु कभी भी आपने इन गोपनीय रहस्यों को मेरे सामने नहीं खोला है। आप नाराज न हों कि यह देर क्यों कर रहा है? मैं गाण्डीव उठाऊँ तो उठाऊँ कैसे? पहले मेरा भूखा मन आपकी अमृतमयी वाणी से संतुष्ट तो हो जाय! हे प्रभु! अब पहले जैसा मोह नहीं रहा। मैंने मोह के वशीभूत होकर अभी–अभी आपको, महाराज युधिष्ठिर

को तथा इन आकाश में आये हुए इस लीला को देखनेवाले ऋषि–महर्षियों को क्षुब्ध कर दिया था। हे अप्रमेय स्वरूप! मैं अपने अपराधों के लिए आपसे क्षमा माँगता हूँ और आपकी दिव्य विभूतियों के नाम, स्वरूप और आराधना का साधन चाहता हूँ।

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

जबतक कोई भगवान को जानता नहीं, तबतक उनके चरणों में उसे प्रीति नहीं होती। आप भी भगवान से ऐसा ही कहें, जैसा महात्मा अर्जुन ने कहा है। प्रार्थना इसी ढंग से करनी चाहिए। अब भी अपनी कमी को देखते हुए आप प्रभु से क्षमा माँगें; प्रभु किसी न किसी रूप में किसी न किसी दिन आपके सामने होगा। महाराज ने अपने जीवन में देखा है कि यदि किसी ने अपने तन, मन, वचन को भगवान को दे दिया तो उसे जीवन में कभी भी उच्चाटन नहीं होगा। ऐसा नहीं होगा कि भगवान में उसका मन न लगे। यदि आपका मन नहीं लगता तो कहीं आपने भगवान से कोई वस्तु छिपा तो नहीं रखी है, घर की वस्तु या प्राण छिपा तो नहीं रखा है! यह तो आप ही विचार करेंगे। अब प्रभु अपने दिव्य विभूतियों का नाम लेकर बता रहे हैं, जिसे आप भी ध्यान से सुनें–

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

प्रभु ने अर्जुन को निराश नहीं किया। हाँ! इतना अवश्य कहा– मेरी विभूतियाँ तो अनन्त हैं, कहाँ तक सुनोगे; इसलिए प्रधान–प्रधान विभूतियों को सुन लो। यदि इन विभूतियों का ही स्मरण कर लिया जाय तो जीवन विघ्न–बाधाओं से रहित हो जाएगा।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

हे गुडाकेश! मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियों में रहनेवाला आत्मा हूँ और उनका आदि, अन्त और

मध्य भी मैं ही हूँ। मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं ही उनचास वायुदेवताओं में मरीचि नामक वायुदेवता और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ। वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों में उनकी चेतना हूँ, एकादश रूद्रों में शंकर, यक्ष तथा राक्षसों में कुबेर और आठ वसुओं में अग्नि तथा शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु पर्वत मैं ही हूँ।

प्रभु ने अहं (मैं) रूप पद को जो सम्पूर्ण भूतप्राणियों में साक्षी है, चेतन है तथा जिसे आत्मा कहा जाता है, इसे मुख्यविभूति के रूप में स्मरण किया है। निश्चितरूप से यह साक्षी है, परन्तु चेतन भी है। जो इस 'अहं' को ही आत्मरूप मान लेता है, वह कभी न कभी आत्मरूप हो ही जाता है। इस साक्षी चेतन आत्मा की अभिव्यक्ति इस अध्याय में पहले हुई ही हुई है, अन्य अध्यायों में भी हुई है। महाराज के गुरुदेव ने जगत्–हितार्थ इस आत्मा की सत्ता और सामर्थ्य को इस भाँति अभिव्यक्त किया है–

श्री आत्माराम पूरणकाम सब जीवों में वास करें।
जो जन ध्यावें शरण में आवें उनके संकट नाश करें।।

अर्थात् जो साक्षी चेतन आत्मा है, वह अहं (मैं) रूप से स्फुरित हो रहा है। यदि कोई उसकी शरण में हो जाय, तो वह परमपद तक का अनुभव करा देता है। गुरुदेव ने यह भाव भक्तिपक्ष से दिया है।

यदि राजयोग के द्वारा मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूँ, शरीरसहित सारे भूतप्राणी मेरे में हैं और मैं इनके बाहर–भीतर व्याप्त हूँ, इसप्रकार का चिन्तन किया जाय, तो यह इस आत्मा की ही उपासना हुई। चींटी से लेकर हाथी तक, पशु से लेकर पक्षी तक, नदी, नाले, वन, पर्वत एवं ग्रह–नक्षत्रों तक तथा अन्न, फल एवं फूलों तक में यह 'मैं' (अहं) स्फुरित हो रहा है अर्थात् स्पष्ट दृष्टिगोचर हो ही रहा है। 'मैं शरीर हूँ' ऐसा आप कहते हैं तो शरीर की उपासना हो गई। उसी जगह यदि आप कह देते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही आत्मा हूँ, मैं ही सनातन पुरातन अविनाशी ब्रह्म हूँ तो यह आत्मा की उपासना हो गई। 'मैं शरीर हूँ' इस भाव में सृजन, संहार और पालनरूप सम्पूर्ण शक्ति का ह्रास सा दिखाई पड़ता है। 'मैं शरीर हूँ' इसमें आत्म–विस्मृति हो ही जाती है तथा 'मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ,' इसमें शरीर की विस्मृति हो जाती है और आत्मा की स्मृति होते ही सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता तथा सृजन, संहार और पालनरूप शक्ति पुनः प्रकट हो ही जाती है। यह वैसी ही स्थिति है, जैसे कोई कामीपुरुष माँ और वेश्या के बीच में खड़ा है। वह माँ की तरफ देखता है, तो निर्विकारी बन जाता है अर्थात् अकामी ही रहता है और वेश्या की तरफ देखता है तो कामी अर्थात् सविकारी बन जाता है। कर्ण ने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से जैसे ही सुना कि वह कुन्ती का पुत्र एवं पाँचो पाण्डवों का भाई है, तो उसे अपार सन्तोष का अनुभव हुआ और उसी समय अर्जुन के प्रति उसके मन में जो महावैर तथा क्षोभ था, वह सदा–सर्वदा के लिए चला गया। प्रभु के कहने पर कि अर्जुन और आपका युद्धभूमि में सामना हो ही गया, तो आप क्या करेंगे? उसने कहा– महादेव उसकी रक्षा करें।

एक बार जिसको विश्वास हो जाय कि मैं शरीर नहीं बल्कि शरीरसहित सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ हूँ तथा ब्रह्माण्डों की आत्मा हूँ, चेतन और साक्षी हूँ, तो उसी समय अपार सन्तोष की अनुभूति होगी और मृत्यु का भय, रोग, शोक, संताप का भय एक साथ झटके से पता नहीं कहाँ चला जाएगा। यदि ऐसा है तो आप भी या तो इसे सब जीवों में मानकर इसकी उपासना करें या अपने–आपको ही आत्मा मानकर उपासना करें– निश्चितरूप से आप परम विश्राम को पायेंगे।

इस मंत्र में प्रभु ने भक्तअर्जुन को गुडाकेश कहकर पुकारा है। जो भौतिक रात्रि में भी अपने संकल्प से ही सोता है, अर्थात् जो निद्राविजयी है, वही गुडाकेश कहा जाता है। अब जब मोहरूपी रात्रि में भी अर्जुन जाग गये हैं, तो उन्हें गुडाकेश कहकर उत्साहित करना स्वाभाविक ही है। यहाँ पर सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त आत्मा ही है, ऐसा कहने से तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस, तामस एवं सात्त्विक वृत्तियों का भी आदि, अन्त और मध्य आत्मा ही है, पुण्य और पापमय प्रारब्ध का भी आदि, अन्त, मध्य आत्मा ही है। शरीर के भीतर के भी सम्पूर्ण देवी–देवता यानी संस्कार इस आत्मा की ही स्मृति से स्मृतिवान हो रहे हैं, जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश से ही आपकी आँखें प्रकाशित होती हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों पर आपके संस्काररूपी देवता बैठे हुए हैं तथा वे ही शुभ और अशुभ संस्कार जाग्रत् से स्वप्न में विकसित होते हैं। वे सगुण और निर्गुण की तरह हैं। जैसे माँ अपने बेटे से कहती है– भागो! वहाँ साँप आ रहा है। वैसे ही आपका पुण्य नामक देवता इसी आत्मा की स्मृति से स्मृतिवान होकर आपके दायें अंगों को फड़काकर मानो टेलीफोन की घंटी सा बजाकर कहता है– सावधान हो जाओ; पन्द्रह–बीस मिनट के अन्दर तुम्हारा कोई हितैषी आ रहा है तथा यही संस्कार नामक देवता बायें अंगों को फड़काकर अशुभ की सूचना दे देता है। सपने में साधक एवं संतो से अद्‌भुत सत्संग होता है, जिसे दिव्य सम्भाषण कहते हैं। साधक जगकर कहता है– आज तो प्रभु ने सपने में संत देकर कृतार्थ कर दिया, जबकि वहाँ और कोई नहीं होता बल्कि माने हुए शरीर के द्वारा जो जप, तप, योग हो गया है, वे ही संस्कार, वहाँ मूर्तिमान संत बन गये हैं तथा आपको वहाँ भी सात्त्विक सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति हो गई है, जो उस संत के साथ दिव्य सत्संग का लाभ ले रहा है। अतः वहाँ और कोई नहीं था, वहाँ संस्कार तथा साक्षी दोनों रूप से आप ही थे, तभी तो जगने के बाद आप कहते हैं कि मैंने वहाँ केवल सपना देखा। वह सपना क्या था? संस्कारों का खेल था। आप तो जो जाग्रत् में थे, वही स्वप्न में थे और वही सुषुप्ति में होते हैं। आपके साक्षीत्व में ही यह स्थूल शरीर भी संचालित हो रहा है, यदि ऐसा आप मान लेते हैं, फिर तो आप कृतार्थ ही हो जाते हैं। इस शरीर के भीतर तामस, राजस और सात्त्विक माया के हजारों स्तर हैं। तामस स्तर बाहर है तो भीतर भी है। भीतर में जो नींद है वही बाहर में कीट–पतिंगे, पशु–पक्षी इत्यादि हैं। राजस स्तर बाहर भी है, तो भीतर भी है। भीतर के राजस विचार ही देवता हैं और बाहर के राजस विचार माता–पिता, भाई–बान्धव तथा स्वजनरूप देवता हैं। जो बाहर में संत एवं साधक हैं, वही भीतर भी हैं। ज्ञान, ध्यान, विज्ञानमय विचार भीतर भी हैं, वहीं बाहर में संत, साधक तथा भक्त हैं। भीतर में भी सद्‌गुरु है और बाहर में भी सद्‌गुरु है। भीतर की दिव्य अनुभूतियों की अनुभूति करानेवाला विचार भीतर का सद्‌गुरु है और बाहर का सद्‌गुरु तो व्यापक होता ही

है। इसीप्रकार जो अहंस्मृति भीतर है, वही बाहर है और वही शरीर के अभाव में भी है। शरीर रहते जितना जीवन है, उतना ही शरीर के अभाव में भी है। अतः ऐसा चेतन आत्मा आपका उपास्य बने, ऐसा आप प्रयत्न करें।

(आदित्यानामहं विष्णुः..... मेरुः शिखरिणामहम्.....) द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र तथा इन्द्र और प्रजापति ये तैंतीस देवता हुए। तैंतीस करोड़ देवताओं के यही अधिष्ठाता हैं। शरीर के अंतर्गत मानो तैंतीस करोड़ रोमों का संकेत है, जिसे देवता कहते हैं; प्रत्येक रोम में एक–एक ब्रह्माण्ड का अधिपति देवता है। ये तैंतीस देवता प्रत्येक रोमों में वास करते हैं। इसीकारण से तैंतीस करोड़ देवता की गणना की जाती है। दस बाह्य इद्रियाँ तथा एक अन्तः इन्द्रिय मन, ये ही सम्पूर्ण प्राणियों को रुलाते रहने के कारण से आध्यात्मिक शास्त्रों में एकादश रुद्र माने जाते हैं। चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ आदि को ही बारह सूर्य कहा जाता है; क्योंकि इन्हीं बारह महीनों से ज्योतिष की गणना सम्पन्न होती है। बारह महीनों में ही योग, लग्न, ग्रह, वार तथा नक्षत्र सब समाये हुए हैं। पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, देवलोक, सूर्य–चन्द्रमा एवं नक्षत्र, ये ही आठ वसु हैं, जिसमें सभी वास करते हैं। जल का नाम यहाँ इसलिए नहीं लिया गया क्योंकि जल और पृथ्वी मिलकर एक होते हैं। प्रजापति और इन्द्र अर्थात् वीर्य को ही यहाँ प्रजापति कहा जाता है अथवा यह जो शरीर में प्राण है, वही सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति कहा जाता है। इन्द्र कहते हैं– बल, सामर्थ्य एवं शक्ति को। नानाप्रकार के सौ अश्वमेधादि यज्ञों से प्राप्त होनेवाला बल जो इन्द्र का पद दिलानेवाला है और इन्द्र का पद न ले तो ब्रह्म का ही पद देनेवाला है, उसी बल को यहाँ पर इन्द्र कहा गया है। अब आप सबने तैंतीस करोड़ देवताओं को जान लिया। इन द्वादश आदित्यों के नाम और प्रतिष्ठा भी सुन लें। यहाँ सूर्यनारायण की बारह मूर्तियों का ही वर्णन है। अदिति का तात्पर्य है अव्यक्त प्रकृति और उसी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण से ये द्वादश मूर्तियाँ आदित्य नाम से विख्यात हैं; जिनके नाम हैं– १. इन्द्र २. धाता ३. पर्जन्य ४. पूषा ५. त्वष्टा ६. अर्यमा ७. भग ८. विवस्वान ६. अंशु १०. विष्णु ११. वरुण १२. मित्र।

१. इन्द्र – यह मूर्ति (शक्ति) देवराज में स्थित है जो सभी दैत्यों और दानवों का संहार करती है।

२. धाता – यह मूर्ति प्रजापति में स्थित होकर सृष्टि की रचना करती है।

३. पर्जन्य – यह मूर्ति किरणों में स्थित होकर अमृतवर्षा करती है।

४. पूषा – यह मूर्ति मंत्रों में अवस्थित होकर प्रजा–पोषण का कार्य करती है।

५. त्वष्टा – यह मूर्ति वनस्पतियों और औषधियों में स्थित है।

६. अर्यमा – यह प्रजा की रक्षा करने के लिए पुरों में स्थित है।

७. भग – यह पृथ्वी और पर्वतों में विद्यमान है।

८. विवस्वान– यह अग्नि में स्थित है और प्राणियों के द्वारा भक्षण किये हुए अन्न को पचाती है।

९. अंशु – यह चन्द्रमा में अवस्थित है जो जगत को अपने तेज से और सोमरस की वर्षा से संतुष्ट करती है।

१०. विष्णु – यह मूर्ति दैत्यों का नाश करने के लिए सदैव अपने रूप की रचना करती रहती है।

११. वरुण – यह समस्त जगत की जीवनदायिनी शक्ति है। समुद्र में इनका निवास होने से इसे वरुणालय कहा जाता है।

१२. मित्र – यह शक्ति जगत का कल्याण करने के लिए चन्द्रभागा नदी के तट पर विराजमान है।

अब पुनः चैत्रादि बारह महीनों में कौन देवता किस महीने का अधिष्ठाता है; इसे देखें–

१. चैत्र – इसमें विष्णु उदित रहते हैं, इसलिए चैत्र को विष्णु भी कहा जाता है।

२. बैशाख – इसमें अर्यमा उदित रहते हैं, इसलिए बैशाख को अर्यमा भी कहा जाता है।

३. ज्येष्ठ – इसमें विवस्वान् का प्रताप है, इसलिए ज्येष्ठ को विवस्वान् भी कहा जाता है।

४. आषाढ़ – इसमें अंशुमान का प्रताप है, इसलिए आषाढ़ को अंशुमान भी कहा जाता है।

५. श्रावण – इसमें पर्जन्य का प्रताप है, इसलिए श्रावण को पर्जन्य भी कहा जाता है।

६. भाद्रपद – इसमें वरुण प्रकट रहते हैं, इसलिए भाद्रपद को वरुण भी कहा जाता है।

७. आश्विन – इसमें इन्द्र प्रकट रहते हैं, इसलिए आश्विन को इन्द्र भी कहा जाता है।

८. कार्तिक – इसमें धातारूप से प्रकट रहते हैं, इसलिए कार्तिक को धाता भी कहा जाता है।

९. मार्गशीर्ष (अगहन)– इसमें मित्ररूप से प्रकट रहते हैं, इसलिए मार्गशीर्ष को मित्र भी कहा जाता है।

१०. पौष – इसमें पूषारूप से प्रकट होते हैं, इसलिए पौष को पूषा भी कहा जाता है।

११. माघ – इसमें भगरूप से उदित रहते हैं, इसलिए माघ को भग भी कहा जाता है।

१२. फाल्गुन– इसमें त्वष्टारूप से रहते हैं, इसलिए फाल्गुन को त्वष्टा भी कहा जाता है।

भगवान जब कह रहे हैं कि मैं विष्णु, सूर्य, मरीचि आदि विभूतियाँ हूँ, तो उनका विशेष प्रयोजन है। भगवान विष्णु निष्काम हैं; सूर्य, वायु देवता, सामवेद इत्यादि निष्कामी होने से आत्मा

ही हैं। यहाँ भगवान ने वैष्णवमत का प्रतिपादन किया है। इनमें कुछ ऐसी मूर्तियाँ हैं जो उपास्य हैं– कुछ गुण से, कुछ रूप से तथा कुछ चरित्र से उपास्य हैं। आत्मा जहाँ 'अहं' पद से उपास्य है, वहीं 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से विष्णु उपास्य हैं। विष्णु के उपासक को सूर्य, सामवेद, इन्द्र आदि देवताओं को भी नमस्कार करना चाहिए। वैष्णव मतावलम्बी जप, तप, स्वाध्याय तथा यज्ञादि देवकर्म, सूर्य के उदयकाल से ही प्रारम्भ कर शाम तक समाप्त करें– इन मंत्रो के द्वारा यह भी संकेत है। साधक इस जगत में सूर्य की तरह ही साक्षी होकर नियमानुसार ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूप प्रकाश को बिखेरते रहें, भगवान विष्णु की तरह सम शान्त रहें, सामवेद की तरह सदा ब्रह्म का स्तवन करते रहें। रुद्रों में शिव की तरह काम को संकल्प से मारकर सदा ध्यानस्थ रहें, मन के द्रष्टा बने रहें। यदि मन को भगवान का रूप मानकर भृकुटि में उसका द्रष्टा बन जाय, तो वह स्वतः ही शान्त हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणियों में जो चेतनता है, उसको यदि भगवान का ही रूप समझकर नमस्कार किया जाय तो अपनी चेतनता लुप्त नहीं होती।

(वेदानां सामवेदोऽस्मि.....) प्रभु ने वेदानां सामवेदोऽस्मि..... कहकर यह सिद्ध कर दिया है कि आप जब कोई पद या भजन भगवान के लिए गाते हैं तो वह सामवेद कहलाता है। सामवेद ब्रह्मस्तवन करता रहता है, उसके मंत्रों के द्वारा ऋषिगण प्रभुस्तवन करते रहते हैं। अतः प्रभु के लिए गाया हुआ भजन प्रभु का रूप होने के कारण से प्रभु को ही देनेवाला होता है। यह शरीर एक दिव्य बाँसुरी है, यह एक दिव्य बाजा है, जिसके स्वर से भाव और दैवी रागिनियों के माध्यम से भगवान को प्रकट किया जाता है। सामवेद के सारे छन्द अनाहद नाद को प्रकट करनेवाले, तत्काल अन्तर्मुख कर देनेवाले होते हैं। यह ऐसा वेद है कि चाहे आप का गला जैसा हो लेकिन जब आप अपने गले से गाते हैं तो आपको बड़ा अच्छा लगता है, चाहे कोई भी हो। कोई–कोई तो ऐसे होते हैं जिन्हें अपना गाना स्वयं को अच्छा लगता है लेकिन वे जानते हैं कि मेरा गाया जाना भगवान एवं संत के सिवा किसी को अच्छा नहीं लगेगा। कमरऊ का सुशीलानन्द है। वह कहता है कि महाराजजी! मैं क्या गाऊँ? मैं गाऊँगा तो लगेगा कि भैंसा गा रहा है। माना इस बात को लेकिन सच–सच बताओ– तुम्हें अपनी राग एवं गाये हुए गीत भैंसे की तरह तो नहीं लगते? भैंसे की राग तो तुम्हें अपनी जैसी नहीं लगती? तो उसने कहा– नहीं, नहीं! मुझे क्यों लगेगी। मुझे तो अपनी राग जैसी किसी की राग मधुर लगती ही नहीं। यह आप सभी की बात है। यह ऐसा वेद है कि आपको भी इसमें प्रीति हो जाये तो इसके द्वारा प्रभु के नाम एवं गुणों का संकीर्तन करते हुए आपका भी चित्त प्रभु को अपने में धारण कर सकता है। आप गायेंगे अन्तर में, दूसरे झूमेंगे बाहर में। दोनों के हृदय में विचार स्पंदित नहीं होंगे अर्थात् विचार नहीं आयेंगे, न गानेवाले को न सुननेवाले को। ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई योग नहीं है, ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है। हाँ, एक राजयोग है, किन्तु राजयोग में उत्तमात्युत्तम साधक की आवश्यकता होती है। जन्म–जन्मान्तर की साधना होती है, तब इस जन्म में सबको ब्रह्मरूप देखता है, अतः विचार रहित होता है। उसे छोड़कर और कोई ऐसा नहीं है कि सबको ब्रह्मरूप में देख सके, अतः विचार रहित होने का प्रसंग ही नहीं है। वह गाये जा रहा है राजयोग नामक राग को, लेकिन वही गाता है, वही अपने गाने को सुनता है और वही झूमता है। कुछ एक

साधक ही होते हैं जो उसकी राग को ब्रह्मराग समझ पाते हैं; लेकिन इस राग को चाहे अनपढ़ हो या गँवार हो, चाहे मूर्ख हो या बुद्धिमान हो, वे सभी आत्मसात् करते जाते हैं, सभी स्वीकार करते हैं। भगवद्भक्त सूरदास, भगवती मीरा, कबीर इत्यादि ने तो अनाहदमय होकर जो ब्रह्मनाद फूँका है, उससे कोई यह नहीं कह सकता कि वे वेदों के ज्ञाता नहीं थे। आप सब जो गाते हैं वे ऋषि–महर्षियों के भीतर से प्रकट हुए छन्द हैं। उसको यदि साधना के लिए गाते हैं तो धीरे–धीरे कभी न कभी निश्चितरूप से यह संकीर्तनयोग साधना का अंग बन जायेगा।

महाराज ने देखा है एक साधक को। जब–जब मन इधर–उधर जाता था जप, तप, ध्यान में तब–तब उसने भजन गाया। एक भजन गाने के बाद फिर उसके शरीर में वही चेतना आ जाती थी। एक बार सन् १९७४ में देहरादून– सहारनपुर रोड जहाँ दोनों तरफ ऊँचे पर्वत हैं, वहाँ बहुत ऊँचे पर्वत पर चला गया। उसने सोचा– राग भी सुन्दर है, प्रभु का नाम एवं गुण भी सुन्दर है, गाते समय विचार आते ही नहीं हैं, तो चलो अब हिमालय में, जहाँ पर कोई नहीं होगा वहीं पर भगवान का नाम नानाप्रकार की राग–रागिनियों से गायेंगे और चढ़ता गया पर्वत पर, चढ़ता गया, घोर वन में चला गया। वहाँ भगवान के नाम को गाना प्रारम्भ किया भैरवी से। यदि आप प्रभु के लिए गाते हैं तो रागमय हो जाते हैं। उस समय बहिमुर्खता समाप्त होते–होते अन्तर्मुखता आ जाती है तो दिव्य शक्ति प्रकट होती है, थकान नहीं होती है। जबतक बाहर की थकान होती है तबतक तो वह जप अन्तर में वैसे ही चलने लगेगा। वैखरी बन्द हो जायेगी और मध्यमा प्रारम्भ हो जायेगी, उसी राग से। मध्यमा के बाद पश्यन्ती से अर्थात् उसी भाव से, उसी राग से प्रभुनाम होता हुआ दिखाई पड़ेगा। जैसे किसी को आपने बड़े वेग से गहरी चोट मारते हुए गाली दी तो उसी क्रम से गाली गूँजती रहेगी। मस्तिष्क में जिस ढंग से गाली का प्रयोग किया आपने, वह क्रम बना रहेगा लम्बे काल तक। जब–जब वह गाली याद आयेगी तबतब वही आपको स्वरूप और वही आपको क्रम याद आता रहेगा। कुछ ही घण्टे हुए होंगे नामसंकीर्तन करते हुए कि एक आवाज आई, मानो किसी ने आवाज दी कि माँ से आज्ञा ले लो, वह तपस्विनी एवं साध्वी माँ है न! बस, ध्यान टूट गया और माँ को प्रसन्न करने चल दिया। चार महीने लग गये माँ को प्रसन्न करने में। उसने संन्यास की आज्ञा दे दी।

जिसके माध्यम से नाद प्रकट होते देर नहीं होती, यह ऐसा सामवेद है। आपने स्टेशन पर ट्रेन के इंजन को देखा है। ड्राइवर जब इंजन चालू करके छोड़ देता है तो उसमें से असंख्य ध्वनियाँ प्रकट होती हैं, शब्द होते हैं। उसीप्रकार साधक जब नामसंकीर्तन से अन्तर्मुख होता है तो चक्र सक्रिय होते हैं और भीतर में असंख्य नाद, नानाप्रकार की ध्वनियाँ प्रकट होती हैं। उन्हीं ध्वनियों के माध्यम से सामवेदीय छन्द प्रकट हुए हैं। एक साधक को देखा– जब वह साधना में प्रवृत्त हुआ और अन्तर्मुख होने लगा तो कभी–कभी चौबीस घण्टे में एकाध पद, छन्द आते थे। वे राग लेकर आते थे तो वह अपने साधकों से कहता था कि उन पदों को लिख दिया करो, लेकिन वह राग नोट कहाँ करे, कैसे करे? उस समय टेप तो था ही नहीं। अतः उस समय जो राग आती थी, पुनः वह साधक उसे उसी राग में नहीं गा पाता था। उसके उपरान्त उसने जाना कि बाहर में जो भी राग–रागिनियाँ बिखरी हुई हैं, वे सब अन्दर से आयी हुई हैं। उसी समय

अनुभव किया कि यह ऐसा सामवेद है, ऐसी दिव्य राग है जो अपने को भी अन्तर्मुख करती है, श्रोताओं को भी अन्तर्मुख कर देती है। आप जप करते हैं तो आप ही अन्तर्मुख होते हैं दूसरा कोई अन्तर्मुख नहीं होता। आप खाते हैं तो दूसरे को आनन्द नहीं आता। अतः संकीर्तन के सिवा ऐसी कोई कला नहीं है जो आपके साथ–साथ दूसरे को भी अन्तर्मुख कर दे। भगवती द्रौपदी के आर्तनाद को, भक्त गजराज की पुकार को, उनका जो भाव है उस आर्तनाद एवं पुकार को आप ले लें। इसीलिए भक्तों ने, संतों ने प्रभुनाम संकीर्तन का प्रचार–प्रसार किया। आपके पास आर्तनाद का अभाव हो गया, आर्तनाद कैसा होता है आपको पता ही नहीं। किसी माँ का जवान बालक सहसा मर जाए और जो उसके भीतर से अन्तर्वेदना प्रकट होती है और उस अवस्था में जो वह रुदन कर प्रभु को जो उलाहना देती है, वही आर्तनाद कहलाता है। आप अपने बेटे के लिए आर्तनाद बिना सिखाये करते हैं वह आर्तनाद प्रकट होता है क्योंकि बेटे से अन्तर सम्बन्ध है, निकट का सम्बन्ध है; अतः बिना सिखाये आर्तनाद प्रकट होता है। बिहार, उत्तरप्रदेश तथा आधा बंगाल का कुछ क्षेत्र है उसमें जब विदाई होती है बच्चियों की तो वे राग से रोती हैं। पिता के चरणों को पकड़कर के, भाई के चरणों को पकड़ करके रुदन करती हैं लेकिन वह रुदन रागमय होता है और उनका रुदन ऐसा होता है कि बाराती भी रो पड़ते हैं, ऐसा महाराज ने अपनी आँखों से देखा है। भगवद्भक्त सूरदास, भगवती मीरा, गोस्वामी तुलसीदास आदि ने जो पद दिया उन पदों, छन्दों एवं रागों से इस भाव को, आर्तनाद को छन्द में बाँधकर दे दिया है। गाना आपका सहज स्वभाव है अतः आप राग के माध्यम से आर्तनाद करें। नहीं देखा आपने कि एक ऐसी राग है कि यदि आप केवल बाजा बजायें तो छिपा हुआ सर्प आ जायेगा। नाग, किन्नर, गन्धर्व इत्यादि जो देवयोनियाँ हैं इनका सामवेदीय राग से निकट का सम्बन्ध है। इसी से महात्मा अर्जुन के लिए चित्ररथ नामक गन्धर्व ने यह सामवेदीय गायन तथा उसकी कला दी थी जो अज्ञातवास में काम आयी। जिन्हें आप नाग कहते हैं, सर्प कहते हैं, उन्हें यह राग बहुत प्रिय है क्योंकि उनमें अनाहद नाद सहज ही सक्रिय रहता है। उन्हें आपके अर्थ से कोई लेना–देना नहीं होता। आप क्या गा रहे हैं, क्यों गा रहे हैं, इससे उनको कुछ भी लेना–देना नहीं होता, बस राग से लेना–देना होता है। जो अनाहद नाद का ऊपर का भाग है वह उसे स्पर्श करता है और मस्ती उतर जाती है। कलियुग में तो प्रथम में ब्रह्म वहीं बसता है, जहाँ संकीर्तन होता है ,जिसके माध्यम से संकीर्तन होता है, जिस पद के माध्यम से संकीर्तन होता है, जिन ताल–मात्राओं के माध्यम से संकीर्तन होता है। सात दिन होते हैं अर्थात् सात ही वार हैं, स, र, ग, म, प, ध, न– ये सात ही मंत्र हैं अर्थात् बीज हैं जो सात चक्रों मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहद, विशुद्ध, आज्ञा एवं सहस्त्रार से सम्बन्ध रखते हैं। यही कारण है कि संस्कृत का विद्वान और गानेवाला– ये दोनों क्रोधी नहीं होते। कभी आप इन्हें क्रोधित होते नहीं देखेंगे अर्थात् उनका क्रोधित होना और बालक का क्रोधित होना बराबर है। अनाहद नाद इनके भीतर में इतना प्रकट हुआ रहता है कि उसे ये ही नहीं जान पाते। यद्यपि वे साधना के लिए उपयोग नहीं किये रहते हैं, इसीलिए चित्तशुद्धि का वह हेतु नहीं होता। उससे उनका चित्त शुद्ध नहीं होता ,क्योंकि भगवान के लिए उन्होंने न पढ़ा, न गाया।

बहुत से भक्तों, साधकों एवं संतों ने भी अपनी साधना का अंग सामवेद को बनाया है, उसी से अन्तर्मुख होने का प्रयत्न किया है। चित्तशुद्धि का जितना सुसंस्कृत साधन ये है उतना अन्यान्य साधन कोई नहीं है। जो माता–पिता भजन गाना चाहते हैं, यदि थोड़ा–मोड़ा भी जानते हैं, ताल–मात्रा का ज्ञान नहीं है तो भी पाँच मिनट एक भजन को गायें भगवान के पास। विरह वेदना का कोई पद है चाहे मीरा का हो, चाहे सूर का या चाहे जिसका हो, कुछ दिन के बाद उनका हृदय गद्‌गद हो जायेगा, लगेगा कि हम ही गा रहे हैं, मीरा या सूर अथवा कोई संत नहीं गा रहा है। 'बसो मेरे नैनन में नन्दलाल'– यह मीरा का पद है, 'चरण कमल बन्दौं हरिराई'– यह भगवद्भक्त सूरदास का पद है अर्थात् उन्होंने वन्दना की है। जब आप इसे गाते हैं भगवान के चित्र के सामने तो कुछ महीने के बाद प्रेम में हृदय गद्‌गद हो जायेगा, लगेगा कि हम ही गा रहे हैं। पहले लगेगा कि सूरदास–मीरा का पद गा रहे हैं लेकिन कुछ काल के बाद लगेगा कि हम ही गा रहे हैं। वहाँ सूरदास एवं मीरा गुप्त हो जायेंगे, छिप जायेंगे। वह राग आपकी हो जायेगी, भाव आपका हो जायेगा। कलियुग में यह प्रधान साधना का अंग है, तो आप इस सामवेद को स्वीकार कर अपने को कृतार्थ करें।

एकादश रुद्रों में मैं शिव हूँ, ऐसा कहकर भगवान नारायण ने 'शैवमत' का प्रतिपादन किया है। शैव उपासक स्मार्त कहे जाते हैं। वे अस्ततिथि अर्थात् सूर्यास्त से अपनी साधना प्रारम्भ करते हैं। भगवान शिव जैसा संन्यासी कोई नहीं हुआ। उनके संन्यासतत्व का एक अंश पालन करनेवाला संन्यासी जगतपूज्य हो जाता है।

आठ वसुओं में से अग्नि नामक एक वसु है, जो भगवान की ही विभूति है। इस अग्नि से सम्पूर्ण यज्ञादि कर्म सम्पन्न होते हैं। गृहस्थाश्रम की तो यह आत्मा ही है। जिस घर में आग कभी बुझती ही नहीं, उस घर में धन–धान्य का अभाव कभी होता ही नहीं। अग्नि ईंधन के गुण–दोषों को नहीं देखता, भस्म कर देता है। उसीप्रकार साधक भले और बुरे दोनों विचारों को संकल्प से त्याग देता है। यहाँ कुबेर नामक देवता का स्मरण किया गया है, इसलिए कि उनका खजाना भगवद्भक्तों का खजाना भरने के लिए है। सुमेरु नामक पर्वत सिद्धों का वासस्थल माना जाता है। वहाँ सदा सत्ययुग का ही वास रहता है, इसलिए उसको स्मरण करने से जहाँ साधक रहता है, वहाँ सुमेरु पर्वत पर रहने जैसा ही फल मिल जाता है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥

हे पार्थ! पुरोहितों में बृहस्पति, सेनापतियों में स्वामी कार्त्तिकेय, जलाशयों में सागर, महर्षियों में भृगु, अक्षरों में एक अक्षर अर्थात् ॐकार, यज्ञों में जपयज्ञ, स्थिर रहनेवालों में हिमालय, वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिलमुनि, अश्वों (घोड़ों) में अमृत के साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा, गजराजों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, आयुधों में वज्र, गायों में कामधेनु, शास्त्रीय कामों में कामदेव तथा सर्पों में वासुकि नामक सर्प हूँ।

(पुरोधसां च मुख्यं मां.....) इस मंत्र का आवाहन करने से साधक की बुद्धि बृहस्पतिजी की तरह दिव्य एवं महत् हो जाती है तथा स्वामी कार्त्तिकेय का भी स्मरण है इसमें– इसलिए कि किसी भौतिक तथा आध्यात्मिक युद्ध में इनके स्मरण मात्र से योद्धा की पराजय नहीं होती। सागर का स्मरण होने से उसी के अनुरूप साधक में गुण एवं सामर्थ्य का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा जिसप्रकार नानाप्रकार की नदियाँ अपने नाम एवं रूपों को खोकर समुद्र को बिना विचलित किये उसमें समा जाती हैं, उसीप्रकार साधनाकाल में साधक के मन में नानाप्रकार की सिद्धियाँ समा जाती हैं और वह विचलित नहीं होता। महर्षि भृगु का स्मरण करने से उनका तेज साधक में समा जाता है तथा एक अक्षर ॐकार का स्मरण करने से, ॐकार रूप ही हो जाता है। जपयोग को धारण करने से साधक यज्ञरूप ही हो जाता है अर्थात् उसी की अध्यक्षता में सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होते हैं। यही नहीं सम्पूर्ण यज्ञों में, सम्पूर्ण साधनाओं में, बहुत सी विधि–निषेध की बात की गई हैं, बहुत से नियमों की बात की गई है; किन्तु भगवान के नाम के जप में किसी भी विधि–निषेध अर्थात् नियमों की बात नहीं की गई है। जपयोग भक्तों का राजयोग है, अतः इस जपयोग को प्रभु ने आत्मा ही बता दिया। भगवान के नाम को भगवान समझकर ही धारण करना जपयोग कहा जाता है; जिसका अनुष्ठान करने से भक्तयोगी हिमालय जैसा ही स्थिर एवं अचल हो जाता है। इसलिए हमलोग थोड़ा जपयोग पर विचार करके तब आगे बढ़ें–

(यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि.....) यहाँ पर प्रभु ने कहा– यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ तथा चौथे अध्याय में कहा– मैं यज्ञों में ज्ञानयज्ञ हूँ (श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञा.....) तथा (न हि ज्ञानेन सदृशं.....) श्लोक सं० ३३ और ३८। एक ही अवसर पर कभी कहना कि यज्ञों में ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है और कभी कहना कि यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ है, यह विरोधी बात लगती है। दशम अध्याय भक्तिभावना से सम्पुट अध्याय है और चौथा अध्याय ज्ञान–कर्म से सम्पुट है। चौथा अध्याय ज्ञान की तरफ अभिमुख किया हुआ है। अतः यह नहीं भूलना चाहिए कि ज्ञानयोगी के लिए ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है और भक्तिपथ के पथिक के लिए जपयज्ञ ही श्रेष्ठ है। दस हजार साधकों में से नौ हजार नौ सौ निन्यानबे साधक भक्तिपथ से गमन करते हैं; उनमें से एकही होता है जो ज्ञानपथ से चलता है।

आप सब देखते ही हैं कि ज्ञान का साधन अति कठिन होने से ज्ञानयोगी विरले पाये जाते हैं; क्योंकि उनके लिए मानस में भी कह दिया गया है।

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।।

दो०– कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।।११८(ख)।।

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

इसलिए भक्तिपथ का विशेष उपदेश दिया गया है। भक्तिपथ के अन्तर्गत अहर्निश प्रभुनाम और प्रभुभाव का योग ही जपयोग है। जप शब्द रूढ़ हो गया है इसलिए प्रभु के नाम–स्मरण को भी शास्त्रों में जप की संज्ञा दे दी गई, जबकि देव और देवी–मंत्रों को आनुपातिक संख्या में धारण करना जप कहलाता है। जैसे महामृत्युंजय, गायत्री, नवार्णमंत्र आदि तो मंत्र हैं, देवताओं के नाम भी मंत्र हैं तथा अन्यान्य वैदिक मंत्र भी जो देवताओं के आवाहन के लिए होते हैं, वे सब मन्त्र ही होते हैं; किन्तु ॐ, राम, कृष्ण, आदि भगवान के नाम मंत्र नहीं हैं ये साक्षात् सगुण ब्रह्म हैं। जैसे बेटा अपनी माँ का नाम नहीं लेता। वह माँ! माँ!! पुकारता है; अतः 'माँ' शब्द आवाहन है, माँ शब्द स्मरण है। वह माँ कहकर पुकारेगा और जब माँ आ जाएगी तो माँ शब्द को छोड़ देगा। उसीप्रकार राम स्मरण है मंत्र नहीं, ॐ स्मरण है मंत्र नहीं, कृष्ण स्मरण है मंत्र नहीं। अतः माँ को पुकारने की तरह ॐ या राम तथा कृष्ण को पुकारने से ब्रह्म प्रकट हो जाएगा और नाम उसके रूप में विलीन हो जाएगा। किसी भी देव और देवी–मंत्र में ऐसी व्यवस्था नहीं है; क्योंकि कोई भी मंत्र सीमित शक्ति देता है, असीमित शक्तिमान को नहीं देता। हाँ, यह बात अलग है कि यदि मंत्रों का अनुष्ठान निष्काम किया जाय और उनसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियों का प्रयोग न किया जाय तो उस मंत्र के देवता उस जापक को सद्गुरु के पास भेज देंगे और सद्गुरु ब्रह्म की अनुभूति करा देगा, अर्थात् सद्गुरु के द्वारा प्राप्त प्रभुनाम आपके लिए प्रभु ही बन जाएगा। चार प्रकार की वाणी होती है– परा, पश्यंती, मध्यमा एवं वैखरी। इसमें वैखरी और मध्यमा के द्वारा प्रभुनाम स्मरण करने की सामर्थ्य आपमें है तथा पश्यंती और परा से प्रभुनाम स्मरण कराने की नाम में ही सामर्थ्य है। होठ से लेकर जिह्वा के मूल तक वैखरीवाणी का स्थान है, कंठ में मध्यमा है, हृदय में पश्यन्ती तथा नाभि में परा का वासस्थान है। यदि होठ एवं जिह्वा के द्वारा भाव एवं श्रद्धा से दस–पन्द्रह मिनट प्रभु के नाम का धीरे–धीरे उच्चारण किया जाय, जिसमें आवाज नहीं आ रही हो, तो होठ अपने–आप बंद हो जाएगा और प्रभुनाम जिह्वा के मूल में प्रवेश कर जाएगा। उस अवस्था मे जिह्वा से ही नाम जप होगा। जिह्वा में जप के समय हल्की हलचल होगी। इसप्रकार दस–पन्द्रह मिनट के बाद जिह्वा भी सम शान्त हो जाएगी तथा प्रभुनाम हृदय अर्थात् मन में उतर जाएगा। वहाँ जैसे विचार अपने आप चलता है, वैसे ही प्रभुनाम का धीरे–धीरे स्मरण होता रहेगा। वह भी दस–पन्द्रह मिनट के बाद में होना बंद हो जाएगा। अब वह नाम नाभि अर्थात् परावाणी में उतर जाएगा। अब आप सावधानी से देखें तो श्वासों के

द्वारा नामस्मरण हो रहा है। यदि राम–नाम जप रहे हैं, तो 'रा' श्वासों के माध्यम से भीतर जाता दीखेगा और 'म' बाहर आता हुआ। ॐ का स्मरण कर रहे हैं, तो 'ओ' भीतर जाएगा 'म' बाहर आएगा। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' कर रहे हैं तो 'ॐ नमो भगवते' भीतर जाएगा और 'वासुदेवाय' बाहर आएगा। ॐ नमः शिवाय में 'ॐ' भीतर जाएगा और 'नमः शिवाय' बाहर आयेगा। भगवती का स्मरणनाम ॐ आनन्दमयी ॐ शान्तिमयी में, 'ॐ आनन्दमयी' भीतर जाएगा और 'ॐ शान्तिमयी' बाहर आयेगा इत्यादि इत्यादि।

प्रभुनाम को आप वैखरी और मध्यमा के द्वारा शरीररूपी महल में जाने दें। इन दोनों वाणियों के द्वारा तो आप द्रष्टा एवं कर्ता दोनों होते हैं, किन्तु जब वह पश्यंती में पहुँच जाता है तो प्रभुनाम कर्ता और आप द्रष्टा हो जाते हैं। यदि आपने श्रद्धा और प्रेम से हृदयरूपी दरवाजे को खोल दिया है तो वह नामरूप ब्रह्म अपने–आप भीतर में जहाँ–जहाँ, जैसे–जैसे जाना होगा वहाँ–वहाँ, वैसे–वैसे गमन करता जाएगा और लगेगा कि चिदाकाश में वह मन्थन कर रहा है, हुंकार भर रहा है। जैसे आपने किसी को बड़े जोरों से गाली दे दी है तो वह गाली लम्बे काल तक आपके मन में गूँजती रहती है। यदि आपके हृदय में प्रभुनाम गूँजने लगा और गूँजते–गूँजते श्वासों में उतर गया तो श्वासों में एकमात्र 'ओ' और 'म' रहेगा या 'रा' और 'म' रहेगा या 'कृ' और 'ष्ण' रहेगा। (यदि कोई प्रेम से राम–राम कहता है तो उसमें हे राम! सम्बोधन छिपा ही रहता है।) श्वास में उतरनेवाले नाम को ही 'उपांशु' जप कहते हैं। यदि आपके मन के द्वारा उदार बुद्धि में नामरूप ब्रह्म उतर गया, तो वह नाभि से लेकर मूलाधार को स्पर्श करता हुआ, तालु को भी स्पर्श करते हुए सहस्त्रार और मूलाधार पर टक्कर देता रहता है। जिसप्रकार कोई महारथी युद्ध के हर मुहाने पर दृष्टि रखता है और अपने रथ को अति वेग से सब ओर घुमाता हुआ सम्पूर्ण विपक्षी योद्धाओं को अपने घेरे में ले लेता है, वैसे ही वह नामरूपी ब्रह्म आपके प्रारब्धों अर्थात् विचारों को चीरता हुआ, छिन्न–भिन्न करता हुआ (जो ऊपर ही ऊपर है, जैसे लहरें ऊपर ही होती हैं) भीतर प्रवेश करता–करता मूलाधार चक्र तक जाता है और फिर रीढ़ की हड्डी से सम्पूर्ण शक्ति को जागृत करते हुए इङ्गला और पिङ्गला नाड़ी का भी भेदन करता हुआ, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है। जैसे कोई धौंकनी से फूँककर आग जला देता है, उसीप्रकार वह नामरूप ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति पर चोट करता हुआ जब उसे जगाता है, तो नेत्रों के सामने तथा चिदाकाश में दिव्य ज्योति प्रकट हो जाती है। जब वह दिव्य शक्ति कुछ महीने होते–होते देर तक टिकने लगती है, तब ब्रह्मनाद हुंकार भरता हुआ प्रकट हो जाता है; जिसे अनाहद नाद कहते हैं। वह नामब्रह्म ही नादब्रह्म और ज्योतिर्ब्रह्म बन जाता है। उस अवस्था में नाम स्मरण की भी आवश्यकता नहीं होती बल्कि ब्रह्मज्योति का दर्शन करने की आवश्यकता होती है और नादब्रह्म को सुनने की। जैसे–जैसे ब्रह्मज्योति भीतर–बाहर फैलने लगती है, वैसे–वैसे शरीर शून्यावस्था को प्राप्त होता जाता है। उसके उपरान्त ध्यानावस्था प्रकट होती है और ध्यान के बाद समाधि। जैसे पत्ते के बाद फूल और फूल के उपरान्त फल स्वतः ही प्रकट होता है, वही बात यहाँ भी समझनी चाहिए।

आपने आसन से बैठकर उसका साधन किया जितना समय है उतना। अब बैठने का समय

नहीं है, रोटी पकाने का, झाड़ू लगाने का, लोगों की सेवा करने का समय है तो बाहर की इन्द्रियों से बाहर का कर्म करें और भीतर की इन्द्रियों से अर्थात् मनरूपी वाणी से भगवान के नाम का स्मरण करते रहें तो वह स्मरण ही हृदय में भरता रहेगा, भरता रहेगा। फिर शाम को थोड़ा सा बैठकर ही प्रभुनाम का स्मरण करें तो वह प्रभुनाम शीघ्रातिशीघ्र चित्त के गहरे तल में उतर जायेगा। यह बहुत बड़ी बात होती है, इसे महातप भी कहा जा सकता है। जैसे जब स्टेशन पर आप होते हैं और जब गाड़ी चलने को होती है तथा नलके के पास आप जल पी रहे होते हैं तो उस समय गाड़ी को देखते रहते हैं कि कहीं वह चल न दे और जल पीते रहते हैं। इसी को तो अति सजगता कहते हैं। वैसे ही झाड़ू लग रहा है, रोटी पक रही है और आपकी वाणी, आपका मन, आपका हृदय भगवान के नाम का जप कर रहे हैं तब वह अति प्रभावकारी होता है।

यही तो कारण है कि महाराज के गुरुदेव ने आत्मानन्द से कहा था कि तुम्हें विशेष ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें वरदान देते समय कहा कि विशेष ध्यान नहीं करना, तुम केवल पाँच मिनट, दस मिनट बैठ जाना संध्याओं में अथवा चाहे जब थोड़े समय के लिए बैठ जाना। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जब कर्म में प्रतिष्ठित होता है, सद्गुरु की सेवा में प्रतिष्ठित हो जाता है और उसकी सेवा जब सिद्ध हो जाती है तब सद्गुरु प्रसन्न हो जाता है। उस अवस्था में उसको विशेष साधना करने की आवश्यकता नहीं होती। तो वैसी ही बात यहाँ सबके लिए समझनी चाहिए।

बहुधा ऐसे लोग पाये जाते हैं जो जप को पकड़े रहते हैं जबकि नामब्रह्म भीतर प्रवेश करता है तो जाने दें, आप जल्दबाजी न करें। अब उसको करने दें भीतर जो कुछ करता है। वह क्या करता है? पहले तो भीतर प्रवेश करेगा तो विचार तथा नींद नामक चोर भागेंगे। दो–तीन साल में नींद खत्म हो जायेगी अर्थात् संकल्पवत् हो जायेगी जब चाहेंगे आप तभी आयेगी। बैठेंगे भगवान के लिए, नामब्रह्म भीतर जाता रहेगा और विचार आते रहेंगे लेकिन परेशानी नहीं होगी। जब विचार आ रहे हैं और परेशानी नहीं हो रही है तो इससे समझ जाना चाहिए कि जो हमारा भगवान है भीतर में वह कवच का काम कर रहा है जिससे हमारे अन्तर्मन में विचार चोट नहीं कर पा रहे हैं, यही तो कारण है कि व्यथा नहीं हो रही है। विचारों की मार बड़ी गहरी मार होती है। आप सभी में से साधकों को छोड़कर अगर महाराज तीन घण्टे किसी को कमरे में बन्द कर दे और कह दे कि कुछ सोचना मत, कुछ पढ़ना मत, कुछ गाना मत, नाचना मत, खेलना मत, बस चुपचाप बैठे रहना, तो तीन घण्टे आपके लिए तीन युग के बराबर हो जायेगा। आप कहेंगे– दरवाजा जल्दी खोलो, जल्दी खोलो! लेकिन यदि आप विचारों की मार को सहन कर रहे हैं तो इससे सिद्ध होता है कि नाम भगवान भीतर प्रवेश कर गया है, अतः सहन करने की शक्ति वही दे रहा है। बाहर की मार को कोई भी सहन कर लेता है– भाले की, बर्छे की और गोली की मार को सहन करते भी देखे जाते हैं, लेकिन वाणी की मार को, गाली की मार को कोई कहाँ सहन कर पाता है? तो नाम जब भीतर प्रवेश करता है तो विचारों का उत्पात प्रारम्भ हो जाता है। आप चाहते हैं कि विचार न आवें लेकिन वे तो आपकी पिटाई करते हुए ही जायेंगे। विभीषण जब लंका से जायेंगे तो निश्चितरूप से आदर–सम्मान

देते हुए। प्रभु के पास जब साधक (भक्त) जाता है तो सभी उसको धक्का देते हैं लेकिन वह सभी को प्यार करता रहता है, लेकिन जब लंका से रावण बाहर जाता है तो पहले सबको मारकर जाता है फिर अपने बाहर जाकर मर जाता है। वैसे ही वे जो शत्रु हैं भीतर छिपे हुए काम, क्रोध, लोभादि तो जब ब्रह्म भीतर जाता है तो पिटाई करते जाते हैं। आपका हृदय अभी तक मधुबन है। मधु नाम का एक राक्षस था जो वृन्दावन में रहता था। इसलिए उसका नाम मधुबन पड़ा जिसका वध भगवान नारायण ने किया और उस दिव्य–मधुबन को अपनी रासलीला का मुख्य केन्द्र बनाया। वैसे ही जबतक इस हृदयरूपी मधुबन में मधु नामक अहंकार है तबतक यह मधुबन है जिसे कालान्तर में नामब्रह्म मारकर अपने ब्रह्मरूप को प्रकट कर देगा, वैसे ही तबतक यह हृदय ही लंका है इस लंका में आपका भगवान प्रवेश करता है इसलिए कि आप ही विभीषण हैं। अहंकाररूपी रावण से व्यथित होकर आप हृदयरूपी लंका से बाहर आ गये हैं अर्थात् सद्गुरु के पास आ गये हैं। अब यदि सद्गुरु नाम के माध्यम से हृदय के भीतर प्रवेश कर रहा है आपके साथ, आपकी स्मृति के साथ तो निश्चितरूप से उस रावण के सदस्य ही पहले बाहर आयेंगे। रावण के सदस्य हैं– क्रोध, राग, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड आदि। इसके बाद कुम्भकर्ण अर्थात् नींद आयेगी। इसके उपरान्त अंतिम चरण में रावण अर्थात् अज्ञान (काम) आयेगा जिसका भगवान भेदन कर देंगे लेकिन उसके पहले क्रोध, राग, द्वेष, लोभ आदि के उत्पातों को आपको झेलना पड़ेगा, इनकी मार को सहन करना पड़ेगा।

नवधाभक्ति के अंगों में से कुछ भी अंग आपके पास हैं तो यह पाँचवाँ अंग जपयोग आपका सम्पूर्ण अंग बन जायेगा। जप करते समय आप कहते हैं कि नींद आती है, कुछ कहते हैं उच्चाटन होता है, यदि ऐसा है तो आप विचार करें कि क्या जप के पूर्व संत आपके जीवन की आधारशिला बन चुका है? क्योंकि भक्तिपथ में कहा गया है कि 'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा'– अतः क्या माता–पिता से बढ़कर भी कोई संत आपको प्रिय लग गया है, यह पहली भक्ति है। क्या संत की प्रत्येक बात पर विश्वास हो रहा है? ये दूसरी भक्ति हुई। तीसरी भक्ति– क्या उसके चरणों की सेवा करने में आपको प्रीति हो रही है? क्या जो वह बताता है भगवान की कथा को, आध्यात्मिक विषयों को उसे आप अपने मित्रों में प्रेमपूर्वक कहते हैं? यदि हाँ, ये चारों चरण आपके पास हैं तो जो प्रभुनाम है वह आपको वरण करेगा, आपको स्वीकार करेगा। आप समझते हैं कि मैं स्वीकार करता हूँ– नहीं, नहीं यदि ये चार चरण आपके साथ हैं तो बड़े वेग से आपके भीतर प्रभुनाम प्रवेश कर जायेगा। 'मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा' ऐसा कहा है अर्थात् दृढ़ विश्वास के साथ जप करते हैं तो।

संध्या में देखना– आप बैठे–बैठे जप कर रहे हैं तो जब श्वास में जप उतर जायेगा एक दो साल में, तो बैठे–बैठे श्वास भी धीमी हो जायेगी। अति धीमी होती जायेगी, अति धीमी होती जायेगी, अति धीमी होती जायेगी और धीमी होते, होते इतनी सूक्ष्म हो जायेगी कि आप समझ नहीं पायेंगे कि श्वास भी चल रही है। उस अवस्था में ब्रह्मज्योति प्रकट होगी चाहे भले ही आप अंधेरे में क्यों न हों लेकिन वहाँ पर अंधेरा नहीं दिखाई देगा। पहले सफेद प्रकाश, शुभ्र वर्ण का प्रकाश, वर्तुलाकार प्रकट होगा जिसे आभा भी कहते हैं। उस अवस्था में वह ब्रह्मज्योति ब्रह्म की

ही छाया है मानो ब्रह्म के आने की आहट है। जैसे आपने माँ को आवाज दी दरवाजा खोलने को वह आयी अथवा नहीं लेकिन यदि दीपक जला दिया घर में आपके लिए तो झरोखों से निकलनेवाली प्रकाश की किरणों से ही आप जान लेते हैं कि माँ ने प्रकाश को प्रकाशित कर दिया है अतः अब आ रही है। तब तो आप वहाँ पर वाणी का प्रयोग नहीं करते हैं, मौन हो जाते हैं। वैसे ही प्रभुनाम का जप करते–करते जब प्रकाश प्रकट होता है जिसे ब्रह्मज्योति कहा गया है, जब वह आँखों के बाहर भी वर्तुलाकार उतरने लगे, आरोहित और अवरोहित होने लगे अर्थात् आने और जाने लगे तो जान लेना कि वह ब्रह्म अब आ रहा है यह संकेत है। उस अवस्था में श्वासों से भी जप करने की आवश्यकता नहीं रहती बल्कि एकमात्र ब्रह्म की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता होती है। जब वह तिरोहित हो जाये अर्थात् ब्रह्मज्योति अन्तर्ध्यान हो जाये तब फिर श्वासों से नाम स्मरण प्रारम्भ हो जाता है। कुछ काल के बाद में, दो, तीन, चार साल के बाद में जिसकी जैसी श्रद्धा और जिसका भगवान के प्रति जैसा अनुराग होता है वैसी ही वह कृपा करता है। एक बात और भी जान लें ब्रह्मज्योति के बाद जापक के पास ब्रह्मनाद भी होता है। जैसे–जैसे प्रकाश भीतर–बाहर प्रकाशित होने लगता है वैसे–वैसे शरीर शून्यावस्था को प्राप्त होने लगता है उसी को ध्यान लगना कहते हैं। जप के बाद ध्यान उतरता है। जैसे पत्ते के बाद फूल का प्रकट होना, फूल के बाद फल का प्रकट होना, फल प्रकट होने के उपरान्त उसके हर आवरण का अपने यौवन अवस्था को प्राप्त होना फिर वृद्धावस्था पर पक जाना जो हमारे लिए उपयोगी होता है, यही क्रम होता है। वैसे ही जप प्रकाश बन जाता है उसके उपरान्त वह शब्द के रूप में प्रकट हो जाता है और शब्द के उपरान्त निःशब्दता उतर जाती है जिसे समाधि कहा जाता है। जैसे एक साधारण सा उदाहरण देखें– ग्राम और नगर के लोग जान जाते हैं कि बाहर में बरात आ गयी इसलिए कि डंके की चोट से वहाँ पर बाजे–नगाड़े बजने लगते हैं, लोग बड़ी बत्ती जला लेते हैं। ठीक उसीप्रकार यहाँ पर प्रकाश और शब्द जब प्रकट होने लगता है तो साधक को अति संतुष्टि होने लगती है फिर उस प्रकाश और शब्द के माध्यम से ब्रह्म की प्रतीक्षा करने लगता है। जिन साधकों के पास शब्द और प्रकाश प्रकट हो गया है वे इस बात को भलीभाँति जानते हैं। एक बात जान लें कि यह शब्द और प्रकाश आप सबके पास है। यह बात अलग है कि जब आप जप करते हैं तो किसी के पास छः महीने में, किसी के पास साल भर में, किसी के पास दो–तीन साल में प्रकट होता है। जो जितना समय देता है, जितना जिसके पास भाव है उसके सामने उतना ही शीघ्र प्रभु प्रकट होता है। ब्रह्म की बात तो छोड़ें एक बात आप ध्यान रखें यदि प्रकाश प्रकट हो जाये तो वह उसे पचा नहीं पाता उसे लगता है कि वह कहीं विक्षिप्त न हो जाये। जैसे कलकत्ता में एक माँ के पास प्रकाश प्रकट हो गया था। वह घबरा गयी थी। लोग पकड़कर लाये थे महाराज के पास। महाराज ने कहा– अरे पागल! इस ब्रह्मज्योति का दर्शन करने के लिए साधक लालायित रहते हैं, यह तो साक्षात् शक्ति ही है। तुम तो प्रभु को धन्यवाद दो और ब्रह्मज्योति से कहो कि हे प्रभु! अब आप अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप में प्रकट होवें। उसके घबराने से यह सिद्ध होता है कि उससे इस जन्म में तपस्या हुई नहीं थी और पूर्वजन्म की साधना के कारण से शक्ति जग गयी तथा पच नहीं पा रही थी।

सासाराम (बिहार) में एक अधिवक्ता के बालक को संस्कारवश प्रभुनाम ने पकड़ लिया। पहले संत का संसर्ग तो था नहीं और न सेवा–शुश्रूषारूपी तप ही था, अतः वह चार–पाँच दिन तक खड़े–खड़े प्रभु का नाम जपता ही रह गया। राँची पागलखाने में लोग ले ही जा रहे थे कि एक संत आ गये, उन्होंने अपने शक्तिबल से बालक और उसके प्रभुनाम का योग कर दिया। अतः वह जपयोग हो गया। नाम जप बारह दिन तक चला लेकिन बच्चा स्वस्थ रहा। इसलिए भगवान ने कहा– जप को तप के माध्यम से, त्याग के माध्यम से, सत्संग के माध्यम से, संत के माध्यम से, सेवा के माध्यम से और हरि चर्चा के माध्यम से स्वीकार करना चाहिए। यदि ये चार पहलू नहीं हैं तो सम्भव है भगवान आपके पास आयें और वे भी न पचें। महात्मा अर्जुन के पास भगवान प्रकट हो गये लेकिन सचमुच उन्हें नहीं पच पाये। उन्होंने कहा कि अब नहीं, हे नाथ! अब आप जायें, अब आप जायें अब वही पहला रूप दिखायें। इसप्रकार वे अति भयभीत, अति भयभीत हो गये। पहले तो कहा कि हे प्रभु! यदि मैं योग्य हूँ तो आप अपने दिव्य स्वरूप को दिखलायें जिस दिव्य स्वरूप की आप इतने समय से व्याख्या कर रहे हैं। अब तो मेरी लालसा हो गयी कि वह रूप कैसा है? यदि सचमुच में मैं देख सकता हूँ तो आप दिखावें। भगवान ने कहा– देख तो नहीं सकते हो लेकिन मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगा, लो देखने का प्रयत्न करो। घोर तप किया था महात्मा अर्जुन ने किंतु पूर्व का जो तप था वह स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला ही था, भौतिक संपत्ति को प्राप्त करानेवाला ही था, विजय प्राप्त करानेवाला ही था। अर्जुन द्वारा अग्नि देवता को प्रसन्न करना, इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न करना, ॐ नमः शिवाय के साथ घोर तप करके भगवान शंकर को प्रसन्न करना और उसके बदले में कुछ माँग लेना यह सर्वविदित है। इसी कारण से उनका चित्त आध्यात्मिक नहीं हो पाया था, ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो पायी थी। अतः प्रभु दर्शन से ही तन, मन, वचन, हृदय सब काँप उठे। वैसे ही किसी के पास भगवान अचानक प्रकट हो जायँ और आध्यात्मिक चित्त नहीं है, आध्यात्मिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, आध्यात्मिक शरीर नहीं है, आध्यात्मिक मन और बुद्धि नहीं है तो हृदय काँप जायेगा। यही तो कारण है कि भयभीत होकर कितने साधक साधना छोड़ बैठते हैं। जब समाधि प्रकट होने को होती है तो अति भयभीत हो जाते हैं। इसलिए उनके लिए पहले तप का विधान किया जाता है, सत्संग का विधान किया जाता है।

भगवान नामक बीज कैसा है, किस प्रभाववाला है, इसपर भी आप विचार करें। वनप्रदेश में कँटीली झाड़ियों में कौए ने खाये हुए वटवृक्ष के बीजों का विष्ठा कर दिया और वह अंकुरित होने लगा जबकि वहाँ पर घास–फूस भी बहुत विशेष है, निराई करनेवाला भी कोई नहीं है, कोई उसका रक्षक भी नहीं है तो भी वह विशाल वृक्ष बन जाता है; क्योंकि वह देववृक्ष है। यही नहीं, घास–फूस के बढ़ने की और बढ़कर सूखने की एक सीमा है, अतः उसकी चिन्ता उस वटवृक्ष को है ही नहीं। वह तो अपनी गति में बढ़ता रहता है और बढ़ते–बढ़ते एक विशाल वृक्ष हो जाता है और उसके नीचे (छाया में) अब बहुत दूर तक घास भी नहीं होती। प्रभुनाम भी वैसा ही है। वह इतना प्रभावशाली है– इतना सामर्थ्यशाली है कि आपके विचारों की चिन्ता भी नहीं करता और एक दिन रोम–रोम में व्यापक हो जाता है। फिर आप क्यों आलस्य, प्रमाद और नींद

की चिन्ता करते हैं, संशय, शोक, संताप की चिन्ता करते हैं? गोस्वामीजी ने कहा है–

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।।
(बालकाण्ड)

अर्थात् जिसे ब्रह्म के गूढ़ात्मक रहस्य को जानना है, वह विशेष इधर–उधर क्यों भटक रहा है? अपनी जिह्वा से प्रभुनाम का जप करे, वह नाम नामी बनकर अपने गूढ़ात्मक रहस्य को बता ही देगा।

जप कैसे किया जाता है एक बार पुनः देखें– एक तरफ अयोध्या में महात्मा भरत के द्वारा जप हो रहा है दूसरी तरफ भगवती सीता के द्वारा लंका में (अशोक वाटिका में) अशोक वृक्ष के नीचे प्रभुनाम का जप हो रहा है। आप जप की विधि तो देखें– कुशा का आसन है, मृगछाला है, ऊन के वस्त्र हैं उस पर, महात्मा भरत का तपस्वी वेश ही नहीं है बल्कि तपस्वी का आहार भी है, तपस्वी का व्यवहार भी है। उन्होंने अयोध्या में रहते हुए ही अयोध्या का त्याग कर दिया है। जपयज्ञ यदि ब्रह्म के लिए होता है तो जपयोग कहलाता है। वे महात्मा अयोध्या का परित्याग कर नन्दीग्राम (जो छावनी होती है) चले गये हैं और सवेरे से शाम तक जपयोग अर्थात् जपयज्ञ कर रहे हैं। आठ बजे रात्रि में मंत्री आता है दिनभर के लेखे–जोखे को लेकर, उस हिसाब–किताब को गुरुजी की कुटिया में जाकर उनके चरणों में रख देते हैं। उसके उपरान्त गुरुजी की आज्ञा लेकर उस हिसाब–किताब को श्रीराम प्रभु की चरणपादुका के पास रख देते हैं, उसके उपरान्त पुनः वहाँ से नन्दीग्राम में लौटकर समयानुसार जपयोग के अनुष्ठान में लग जाते हैं, प्रभुनाम के स्मरण में लग जाते हैं। उनकी स्थिति को हनुमानजी ने देखा है। प्रभु श्रीराम अब लौटने की स्थिति में हैं, अयोध्या में प्रवेश करने की स्थिति में हैं, किन्तु इसके पहले संदेश देना चाहते हैं भरतजी को। वैसे समय में बहुत कुछ प्रयोजन होता है संदेश देने का। भगवान कहते हैं– जाओ! हनुमान जाओ! संदेश दे दो भरत को। कह दो कि राम आ गया तबतक हम महर्षि भरद्वाज के पास रह रहे हैं तुम समाचार सुनाकर लौट आओ। जब वहाँ पर जाकर देखते हैं हनुमान तो क्या देखा–

दो०– बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।।१ (ख)।।
(उत्तरकाण्ड)

अर्थात् उनका हृदय, वाणी और मन एक दिशा में हैं। वे आह्लाद के साथ उमगते हुए राम!..... राम!..... राम!..... का स्मरण(जप) कर रहे हैं। संध्या का समय है, अब चौदह वर्ष पूरा हो गया है। अंतिम चरण है, उस अवस्था में केवल प्रतीक्षा रह गयी है। हृदय के भीतर अब मानसिक जप नहीं है, उपांशु जप नहीं है। बस राम भीतर–बाहर फैल गया है। उनका भीतर का राम उमगता हुआ बाहर आ रहा है वह चित्त को इतना आन्दोलित कर रहा है कि नैनों से आसुओं की धारा बह रही है। हृदय बार–बार उमग रहा है, वाणी बार–बार अन्तर्मुख हो जाती है।

कभी हर्ष, कभी विषाद अर्थात् आज प्रभु मिलन होगा ऐसा सोचकर हर्ष और आज आयेंगे या वे नहीं आयेंगे, ऐसा सोचकर विषाद हो जाता है।

(राग – दरबारी कान्हड़ा)

प्रेम में यों मगन हाँ भरत हो रहे, आज के दिन हमारे प्रभु आयेंगे।
सोचते सोचते वे विरह में पड़े, आज आयेंगे या वे नहीं आयेंगे।।
प्रेम में यों मगन.....
मुझ अभागे के कारण तपस्वी बने, ठोकरें खाते बन–बन भटकने लगे।
हाय रे कैकयी तूने ये क्या किया, आने में तो नहीं अब वे शरमायेंगे।।
प्रेम में यों मगन.....
पर हृदय की मेरी सब वही जानते, अन्यथा तो नहीं मन में वे लायेंगे।
आ रहे होंगे जल्दी से जल्दी यहाँ, कहिं सचमुच में वे तो न भरमायेंगे।।
प्रेम में यों मगन.....
आज आते नहीं तो सपथ सत्य है, आने पर मेरी हड्डी प्रभु पायेंगे।
जब न पायेंगे अपने भरत को यहाँ, जन्म लूँगा जहाँ वे वहीं आयेंगे।।
प्रेम में यों मगन.....
हड्डी पूछेगी मेरी प्रभु राम से, क्या भरत ही था पापी पुरे विश्व में।
आँसुओं से ये पूछे महाराज अब, आह भरके प्रभु मेरे रह जायेंगे।।

हनुमानजी ने इसी स्थिति को प्रभु श्रीराम के पास जाकर प्रकट किया है। विभीषण के पास प्रभु श्रीराम ने इसी स्थिति को बताया है। वे कहते हैं– हे मित्र! अब मैं एक पल भी तुम्हारे पास नहीं रह सकता। भरत पल–पल, क्षण–क्षण याद आ रहे हैं। जैसे सँपेरा गारुड़ी मंत्र से सर्प को अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है। जब वह मंत्र का आवाहन कर लेता है तो मानो मंत्र वहाँ तक अपनी भुजा को फैला देता है और साँप को मानो खींचता हुआ सँपेरे के पास ला देता है। उसीप्रकार भरत का रामनाम जो स्मरण है प्रभु श्रीराम को कहीं भी रूकने नहीं दे रहा है। दूसरी तरफ भगवती सीता को भी आप देखें जब–जब प्रभु श्रीराम के पास महात्मा हनुमान ने प्रस्तावना की है उनके स्वरूप की तो देखते बनता है।

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी।।

दो०– निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।। ८।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

जब लङ्का से हनुमानजी प्रभु श्रीराम के पास लौटते हैं तो प्रभु श्रीराम ने पूछा– हे हनुमान! पहले आप ये बताओ कि जनक नन्दिनी सीता वहाँ किस भाँति रहती हैं, उनका पूरा समय कैसे बीतता है? हनुमानजी ने कहा–

दो०– नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट।।३०।।
(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड)

इसप्रकार भगवती सीता एवं भरत ये दोनों जापक नाम का अनुष्ठान नहीं कर रहे हैं बल्कि स्मरण कर रहे हैं। ये इतने प्रेम में भरकर धीरे–धीरे नाम का आवाहन कर रहे हैं कि; कभी रोमांच हो जाता है तो कभी हृदय आनन्द से भर जाता है और कभी विरह वेदना में आँसुओं की धारा बह चलती है।

भक्तियोग का जप और ज्ञानयोग का जप– ये दो प्रकार के जप हैं। ब्रह्मर्षि वाल्मीकि ज्ञानयोगी जापक हैं और सुतीक्ष्ण, सरभंग आदि सगुण जापक हैं। ॐ, राम आदि नामों से जो निर्गुण–निराकार की उपासना करते हैं, उनके पास वह ब्रह्म सम शान्त, शुद्ध, साक्षी, चेतनरूप में प्रकट होता है और जो भक्तियोग के जापक हैं, उनका 'नाम' उनके अभीष्ट ब्रह्म को लाकर देता है। जिन्हें जप करना है पाँच मिनट से लेकर दस मिनट तक, दस मिनट से लेकर आधे घण्टे, एक घण्टे, तीन घण्टे, छः घण्टे, नौ घण्टे, बारह घण्टे तक तो वे उमगते हुए महात्माओं जैसा, भक्तों जैसा प्रभु स्मरण के साथ जप करें। अब आप उस जप के प्रताप को देखें– जब वह ऊपर–ऊपर से भीतर–भीतर व्यापक हो जाता है तो भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे; बस, वही आपका भगवान रहता है और कोई नहीं रहता अर्थात् आपका भगवान रहता है और आपकी चेतना (स्मृति) रहती है। कालान्तर में वह स्मृति भी ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाती है। उस समय एक ऐसी अवस्था आती है कि जब न आप रहते हैं, न आपका शरीर रहता है। बस, आपका भगवान रहता है, उसी को सगुण समाधि कहते हैं। जो सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं उनके पास उनका ब्रह्म सगुण रूप में आता है। जो निर्गुण–निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं उनके पास वह ब्रह्म निर्गुण–निराकाररूप में अर्थात् ज्ञानरूप में आता है। भक्तियोग का जप, ज्ञानयोग का जप ये दो प्रकार का जप है। आध्यात्मिक अनुभूति जिसे चाहिए होती है, जो चाहता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा उसके लिए ज्ञानयोग का जप है तथा जो अपने भगवान को देखना चाहता है अर्थात् श्रीराम, भगवान शिव, भगवान विष्णु, भगवान श्रीकृष्ण और देवी आदि को देखना चाहता है तो उसके जप से भगवान उसी रूप में उसके सामने आने को आतुर रहता है। महात्मा प्रह्लाद को जप करते–करते समाधि लग गयी। भगवान प्रकट होकर सामने खड़े हो गए। भगवान ने कहा– माँगो क्या चाहते हो? तो प्रह्लादजी ने कहा कि हे प्रभु! अब तो मैं ब्रह्मज्ञान चाहता हूँ। तो प्रभु ने कहा– ठीक है अब आप आध्यात्मिक चिन्तन करो। मैं ब्रह्मज्ञान बनकर आ जाऊँगा और ऐसा ही हुआ। वही ब्रह्म जो सगुण रूप में आया था, निर्गुण–निराकार बनकर आ गया (यह सन्दर्भ योगवासिष्ठ में स्पष्ट देखा जाता है)।

'ॐ' निर्गुण–निराकर ब्रह्म है, कबीर का 'राम' नाम निर्गुण–निराकार ब्रह्म है, वाल्मीकि का 'राम' नाम भी निर्गुण–निराकर ब्रह्म है; क्योंकि राम के अवतार के पहले भी रामनाम था। रकार और मकार अर्थात् र और म तो वैदिक मंत्र भी हैं। ये बीज मंत्र भी हैं। आपने देखा होगा

यज्ञकुण्ड में आहुति देने के पूर्व गोबर से लीप पोतकर उसमें 'र' और 'म' ही लिखा जाता है। निराकार का तात्पर्य यह नहीं कि इन नामों से शून्यता का बोध होता है बल्कि सम्पूर्ण गुण और सम्पूर्ण आकारों से जो सघन है तथा जिसमें से सब प्रकट होते हैं तथा जिस अनाम से सम्पूर्ण नाम प्रकट होते हैं, वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। यही कारण है कि सम्पूर्ण देवी–देवताओं के नाम के पूर्व 'ॐ' का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि वही सबकी आत्मा है। राम नाम, कृष्ण नाम स्वतंत्र भी है और कोई 'ॐ श्रीकृष्णाय नमः' या कोई 'ॐ श्रीरामाय नमः' जपे तो दोनों बात एक ही है किन्तु नमः शिवाय, नमो भगवते वासुदेवाय तथा गायत्री, महामृत्युंजय आदि 'ॐ' के बिना अधूरे हैं। सम्पूर्ण युगों में 'ॐ' ही अवतार लेता है। अबतक सम्पूर्ण मन्वंतरों में बहुत से इसके अवतार हो चुके हैं; किन्तु इनमें से चौबीस अवतारों का वर्णन ही प्रमुख है। इसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश सम शान्त सच्चिदानन्द की शक्तियाँ है तथा ॐ ही राम नाम है तथा राम नाम ही ॐ है। इसीप्रकार श्रीकृष्णनाम ही ॐ है और ॐ ही श्रीकृष्णनाम है। वह 'ॐ' ही नरसिंह है और नरसिंह ही 'ॐ' है। वह 'ॐ' ही वराह है और वराह ही 'ॐ' है। आप तो देखते ही हैं कि काली, दुर्गा, सरस्वती के नाम के पूर्व में भी ॐ ऐं, ॐ ह्रीं, ॐ श्रीं, ॐ चामुण्डायै, ॐ विच्चे, ॐ स्वाहा हवन आदि में प्रयोग किया जाता है। इसप्रकार अब आप सब ने ब्रह्म नाम और देवशक्ति नाम को भी जान लिया तथा ये भी जान लिया कि प्रभुनाम के लिए श्रद्धा–विश्वास और भावरूपी भूमि चाहिए तथा देव शक्तिमंत्रों के लिए शरीर, वाणी, उच्चारण, वस्त्र और भोजन एवं माला यह सब पवित्र होनी चाहिए। इसप्रकार श्रद्धा गर्भ है, विश्वास वीर्य है और भाव ही रज है। अतः जब श्रद्धारूप गर्भ में प्रभुनाम जाता है तो वह ब्रह्म ही हो जाता है। आपके प्रश्न का उत्तर भी दिया जा रहा है कि नींद क्यों आती है? उच्चाटन क्यों होता है? इसलिए कि आपने प्रभु के नाम को भी मात्र मंत्र ही समझ लिया है और उसे संख्या में बाँधने लगे हैं, जबकि सम्पूर्ण मंत्रों की आत्मा होने के चलते यह महामंत्र कहलाता है। यद्यपि प्रभुनाम को उल्टा जपें, सीधा जपें, संख्या से जपें, बिना संख्या के जपें, इससे कुछ बिगड़ता नहीं है; क्योंकि उसे तो केवल श्रद्धा, विश्वास एवं भाव चाहिए। जिसप्रकार उच्चकोटि के श्रद्धावान शिष्य के मन में सद्गुरु का नामस्मरण होते ही, उसमें द्रष्टापना एवं मौनपना उतर जाता है, उसीप्रकार भक्त के द्वारा प्रेमपूर्वक नामस्मरण में भी ऐसी ही स्थिति होती है। सर्वसाधारण भी प्रभु के नाम का जप कर सकते हैं; किन्तु देव और शक्ति मंत्रों का तो सब जप नहीं कर सकते; क्योंकि उसकी विधि में दोष आने पर लाभ की जगह हानि ही हो जाती है। इसलिए तो प्रभु ने कलियुग में सम्पूर्ण यज्ञों में से प्रभुनाम के द्वारा किया जानेवाला जपयज्ञ श्रेष्ठ बताया है। लहसुन, प्याज, मांस, आदि खाकर के आप देव मंत्रों का जप नहीं कर सकते; किन्तु 'ॐ नाम' 'राम नाम' 'कृष्ण नाम' आदि का जप करते समय चाहे जो भी खायें–पीयें, चाहे जैसे रहें लाभ ही लाभ होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन अशुद्ध पदार्थों को छोड़ना नहीं है। छोड़ना तो है ही, अखाद्य को छोड़ना है, अपेय को छोड़ना है, अश्रव्य को छोड़ना है और कुदृष्टि को भी छोड़ना है; किन्तु आप विवश हैं और यह सब छूट ही नहीं रहा है तो यह प्रभुनाम जैसे–जैसे आपके तन, मन, वचन एवं हृदय में भरता जाएगा, वैसे–वैसे दूषित पदार्थों एवं अशुभ विषयों से आपका मन हटता जाएगा।

जपयोग हो चाहे कोई भी योग हो उसके साथ आपका व्यवहार भी होना चाहिए। जैसे आप अपने पुत्र की प्रतिष्ठा भी चाहते हैं, उसका व्यवहार पवित्र हो ऐसा भी चाहते हैं, उसकी सभी बड़ाई करें ऐसा भी चाहते हैं। वैसे ही ब्रह्म भी आपका भगवत् व्यवहार हो ऐसा भी चाहता है। यदि आपका भगवत् व्यवहार है तो उस व्यवहार में पहले भगवान समा जाता है, साधना बाद में होती है।

अभी–अभी एक सम्प्रदाय में जानेवाले भक्त ने घर में उत्पात मचा दिया। रोज सत्संग में जाना, रोज सत्संग में जाना; लेकिन घर में रावण बन जाना, यह कैसा सत्संग है? उसने अपने बड़े भाई से युद्ध कर दिया तो महाराज ने कहा– ऐसा कैसा सत्संग है आपका? हररोज कथा में जाते हैं आप और सदाचारी भाई के साथ युद्ध कर रहे हैं। अरे! राम का आदर्श तो देखें। क्या आपके गुरुदेव यही सिखा रहे हैं? तो इससे सिद्ध होता है कि वहाँ पर ढोंग ही है सदाचार नहीं है, सद्व्यवहार नहीं है। राम के उपासक के पास राम के आने के पहले राम का व्यवहार प्रकट होता है, राम का रामत्व प्रकट होता है यदि राम का रामत्व नहीं आता तो यह सिद्ध होता है कि आप देखा–देखी कर रहे हैं। वही तो ढोंग कहा जाता है। जिसका नाम जपा जाता है उस ब्रह्म का गुण एवं उसका व्यवहार भी आपमें आता है। आपने देखा होगा कि तांत्रिक क्रोधी होते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि वे तामसी शक्तियों की उपासना करते हैं। अतः तामसी गुण उनमें आता है। देवी (काली) के भी जो भक्त हैं अति क्रोधी होते देखे गये हैं। देवी में भी सरस्वती और दुर्गा की उपासना करनेवाले पाये जाते हैं जो सम शान्त होते हैं, लेकिन जो काली के उपासक हैं अति अशान्त, अति क्रोधी पाये जाते हैं; क्योंकि तामस साधना से तामस गुण की उत्पत्ति होती है, भूत–प्रेत चाण्डाल की उत्पत्ति होती है। यदि आप मानते हैं मात्र राम को तो आपमें रामत्व आ जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो आप राम को नहीं मानते।

महाराज ने श्रीरामचरितमानस में देखा सन् १९७२ में– 'प्रात काल उठि के रघुनाथा। मातपिता गुरु नावहिं माथा।।' बस, बन्द कर दिया रामायण। मन में कहा– चलो कल से यहीं से साधना प्रारम्भ की जायेगी। अरे! मूर्खता की भी हद होती है। यदि मैं सवेरे उठकर माता–पिता, बड़े–बूढ़ों को प्रणाम नहीं कर रहा हूँ तो या तो मैं राम का भी राम हूँ या पागल और मूर्ख हूँ। उसी शाम माँ के पास जाकर कहा– मैं कल से तुमको सवेरे–सवेरे प्रणाम करूँगा। माँ ने हँसी की। कबसे? कहा– सवेरे–सवेरे, इसके उपरान्त तो कोई व्यवहार करूँगा। माँ से ऐसा विनोद में ही कहा था, लज्जा लग रही थी। सोचा कि कल तो लज्जा लगेगी प्रणाम करने में क्योंकि प्रणाम तो तब किया जाता है जब कहीं से आया जाता है या कहीं जाया जाता है। तो लज्जा न लगे इसलिए पहले ही कह दूँ। तो बड़ी हँसी की माँ ने। कहा घर के सदस्यों से– अरे! सुनो! सुनो! सुनो! यह कह रहा है कि कल से प्रणाम करूँगा मैं। माँ ने फिर हँसते हुए कहा– अरे! कल से प्रणाम कर ही लेते तो क्या हो जाता? तो कहा कि लज्जा लगती न! लोग सोचते कि यह क्या कर रहा है, पगला तो नहीं गया! माँ ने कहा– आखिर क्यों करोगे कल से प्रणाम? तब उसे सन्दर्भ बताया कि मैं राम का भी राम हूँ या पागल हूँ, तभी तो माता–पिता या बड़े–बूढ़ों

के आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं है, सेवा की आवश्यकता नहीं है? राम को आशीर्वाद की आवश्यकता है और मुझे आवश्यकता ही नहीं है, यह कैसी मूर्खता है। हाँ तो एक बात तुम जान लो– तुम तपस्या में रहती हो तो आज से तुम्हारा सेवक यह पुत्र ही होता है। आज से तुम्हारा जल भरना, तुम्हारे मन्दिर को साफ करना, तुम्हारे लिए फूल–पत्ती लाना आदि अब यही सेवक करेगा। तो स्नान कराने ले गया सवेरे–सवेरे माँ को ब्रह्ममुहूर्त में, जब स्नान के लिए जल भरा तो उसने कहा कि एक प्रतिज्ञा करो। महाराज ने कहा– बोलो! उसने कहा– तुम मेरी साड़ी नहीं धोओगे। तो कहा– ठीक है नहीं धोऊँगा। उस दिन के बाद देखा कि राम का चरित्र अपने में कैसे आता है और उसी दिन से यह निर्णय कर लिया कि इस जगत में किसी को अच्छा और बुरा मैं नहीं कहूँगा।

आये दिन आत्मानन्द कहते हैं कि यह बहुत अच्छा है, यह व्यक्ति बहुत अच्छा है। महाराज कहता है कि तुम्हारे लिए तो सारे लोग अच्छे हैं, पशु–पक्षी भी अच्छे हैं लेकिन उनका व्यवहार तो देखो कि माता–पिता के साथ, भाई–बान्धव के साथ कैसा हो रहा है? कितनी सहनशीलता है उनमें? क्या कीमत चुका रहे हैं माँ के लिए, पिता के लिए, भाई–बान्धव के लिए। प्रभु श्रीराम अपने भाइयों को जिता देते हैं खेल में और भी ऐसे बहुत से कारण हैं कि जिनके कारण से वे अपने भाइयों की आत्मा बने हुए हैं, माता–पिता की आत्मा बने हुए हैं। कैकेयी जैसी माँ की प्रताड़ना को भी, निष्कासनरूप दण्ड को भी उन्होंने वरदान मान लिया। छीना–झपटी नहीं किया राज्य के लिए और आप कहते हैं कि हम राम को मानते हैं तथा दो ही भाई हैं आप, छीना–झपटी करके अलग हो जाते हैं तो राम को कहाँ मानते हैं? माता–पिता से अलग हो जाते हैं तो राम को कहाँ मानते हैं? राम नाम जप ही नहीं पाते इसलिए कि आप में रामत्व नहीं है! राम का व्यवहार जिसके पास है वही राम नाम जप सकता है। उसी को राम स्वीकार करता है। महाराज कभी–कभी मस्ती से गाता है–

(राग – अड़ाना)

योगिया कहे जो राम।
राम कहे जग शान्ति न पावे, तब योगिया के राम को ध्यावे,
जग का राम कल्पना जग की, आत्माराम है योगिया का राम।।
योगिया कहे जो राम.....

श्याम कहे जग भटकन आवे, तब योगिया के श्याम बुलावे,
योगिया का श्याम हरे मन पीड़ा, दे दे परम विश्राम।।
योगिया कहे जो राम.....

शिव शिव कह जग चिल्लावे, तोऊ नहिं शिव मन में आवे,
योगिया के शिव सुमिरन लागे, तबहीं होत अकाम।।
योगिया कहे जो राम.....

दुर्गा देवी जग के मन में, घून लगे पर तन मन धन में,
योगिया जब दुर्गा को दे दे, भागे पाप तमाम।।
योगिया कहे जो राम.....

सत्गुरु सत्गुरु जग चिल्लावे, तोऊ नहिं सुख शान्ति पावे,
महाराज जो सद्गुरु दे दे, तब मन हो अभिराम।।
योगिया कहे जो राम.....

अर्थात् आपका राम और योगी का राम ये दो राम हैं। योगी का राम नाम राम को देता है, राम का रामत्व देता है लेकिन आपका राम नाम आपको मूर्खता देता है, सिर में दर्द देता है, पीड़ा देता है, मस्तिष्क में मवाद हो जाता है, चित्त बिखर जाता है, टूट–फूट जाता है, यह आपका राम कैसा है? युद्ध करते–करते माँ का त्याग कर दिया, पिता का त्याग कर दिया, भाई का त्याग कर दिया आपने। उसके उपरान्त धर्मपत्नी के साथ भी नहीं रह पाये, उसको भी त्याग दिया आपने फिर तो घर से बाहर नहीं जा पाते, मन आपके मस्तिष्क को पकड़ लेता है और नानाप्रकार के उत्पात मचा देता है, नींद नहीं आती है, गोली खाकर सोना पड़ता है, रक्तचाप हो जाता है इत्यादि इत्यादि। आप कैसे मानते हैं कि आप भगवान के हैं? इनको जब छोड़ना ही था तो भगवान के लिए छोड़ते, अपने स्वार्थ के लिए क्यों छोड़ दिया? मन नहीं लगता है भजन में, जप में, इससे सिद्ध होता ही है कि पत्थरमय हृदय हो जाने से प्रभुनाम वहाँ से टकराकर लौट आता है। यदि हठ करके आपने प्रभु के नाम का जप किया भी और रामत्व आया नहीं, तो रावण भी बनने की सम्भावना रहती है।

यदि आप भगवान के हैं तो मन तो उसकी तरफ रहना चाहिए। साँप को देखते हैं आप और भय आ जाता है, भूत को देखते ही भूत भर जाता है, प्रेमिका को याद करते ही काम आ जाता है, मित्र को याद करते ही प्रेम बरसने लगता है लेकिन राम नाम कहते हैं तो रामत्व नहीं आता? ॐ..... ॐ..... कहते हैं तो ब्रह्मत्व नहीं आता, उसका गुण नहीं आता, उसका व्यवहार नहीं आता? इससे सिद्ध होता है कि आपके पास भक्त का व्यवहार नहीं है। अतः आप भक्त होने का ढोंग करते हैं। यदि आप भक्त हैं तो एक बार राम का उच्चारण करते हैं तो अन्तर्मुखता आ जाती है लेकिन हृदय पत्थर का हो गया है इसीसे तो राम कहने में भी रामत्व नहीं आता। अतः जल्दी, जल्दी कहने लगते हैं। कहते हैं हम राम का जप करते हैं, ॐ का जप करते हैं? अरे! संख्या के द्वारा जपने से तो देवता आते हैं। चन्द्रग्रहण में आपने गारुड़ी मंत्र का तीन घण्टे जप कर दिया तो समयानुसार जप करते ही, आपके आवाहन करते ही साँप आ जायेगा। वह आनुपातिक संख्या में भी जप करने से आकर्षित कर लिया जाता है। उसी संख्या में आप भगवान को बाँधना चाहते हैं जबकि ऐसा नहीं हो पायेगा। जितने जपयोगी हो चुके हैं, जिनके चरित्र को महाराज कहने में असमर्थ है, उनका चरित्र इतना व्यापक है, इतना व्यापक है, इतना दिव्य है कि महाराज उनके सम्पूर्ण चरित्र का गायन भी नहीं कर सकता। लेकिन आपका चरित्र इतना घिनौना है, इतना घिनौना है कि आप स्वयं से ही अपने चरित्र को किसी से स्पष्टतः नहीं कह पाते। बस

खाना–पीना, सोना, बस खाना..... खाना..... खाना..... ही जीवन हो गया है। इतना बड़ा पेट है कि छीना–झपटी करते–करते, खाते–खाते आपका पेट नहीं भरता। अन्ततोगत्वा वृद्धावस्था आती है और पेट भरते–भरते पेट में ही समा जाते हैं आप, दूसरे जन्मों में घुन बन जाते हैं, कीड़े–मकोड़े बन जाते हैं।

जबतक आपका मर्यादित व्यवहार नहीं होता तबतक राम नाम अर्थात् भगवान नाम आपको स्वीकार नहीं करता, आप लाख स्वीकार करें। यदि स्वीकार कर लिया उसने तो पहले आपमें रामत्व ही आयेगा, राम का व्यवहार ही आयेगा तब साधना प्रारम्भ होगी। ऐसा नहीं है कि ध्यान लग जायेगा, आपको सिद्धि मिल जायेगी। रामत्व आये बिना सिद्धि मिल गयी तो आप रावण बन जायेंगे। सिद्धियाँ तो राक्षसों के पास भी हैं लेकिन वे राम तो नहीं हुए। आप उनकी उपासना तो नहीं करते! रामजी की सिद्धि के प्रदर्शन से रावण ज्यादा प्रदर्शन दिखा रहा है लेकिन आप उस सिद्ध पुरुष रावण की उपासना तो नहीं करते! रावण नाम अपने बेटे का तो नहीं रखते। वह रामजी से अपने को ज्यादा सिद्ध दिखा रहा है। मेघनाद भी अपने को लक्ष्मण से ज्यादा सिद्ध दिखा रहा है, लेकिन उपासना तो नहीं करते आप उसकी। भूल जाते हैं आप सिद्धांत को, कोई सिद्ध दरवाजे पर आ गया, आप नहीं जानते कि यह तांत्रिक है, मांत्रिक है या योगी है, ज्ञानी है या भक्त है। बस, ठगे के ठगे से रह जाते हैं, सब कुछ लुटा देते हैं उसको और वह लेकर चलता बनता है। मानो आपने बहुत कुछ पा लिया। ऐसी विडम्बना हो गयी है आपकी, आपका जीवन ही विडम्बनामय हो गया है। आप न भगवान को मान रहे हैं, न अपने कुल–परिवार को मान रहे हैं और न अपने–आप को मान रहे हैं। दिशाहीन हो गए हैं वैसे ही जैसे कोई माँ चौराहे पर खड़ी है पति से युद्ध करके। निकल गयी है आधी रात को चौराहे पर खड़ी होकर सोच रही है कि इधर जाऊँ या उधर जाऊँ, माता–पिता के पास जाऊँ या किसी रिश्तेदार के पास जाऊँ, जहर खाऊँ या गंगाजी में डूबकर मर जाऊँ। क्या वही दशा आपकी नहीं हो गयी है? यदि वही हो गयी है तो आप भगवान के भक्त नहीं हैं। कुछ भी नहीं है भगवान के भक्त के पास पर यदि नवधा भक्ति में से एक भक्ति भी है तो भगवान ने कहा है कि वह मुझे अतिशय प्रिय है। इसका तात्पर्य है कि यदि एक भी भक्ति आपमें आ गयी तो अन्य सारी भक्तियाँ अपने–आप आ जायेंगी और उसके पास अशान्ति नहीं रहेगी। गरीबी तो आती है जाती है, दुःख आता है जाता है लेकिन उसके मन में अशान्ति डेरा नहीं डालेगी। वह भक्त गरीबी को प्रभु का प्रसाद मानकर सुदामा जैसा जीवन बितायेगा लेकिन अशान्त नहीं होगा। कोई कहता है कि मेरी दीन–दशा कैसी है, क्यों है, गरीबी क्यों हो गयी है? एक ही उत्तर है उसका कि आपने चोरी की है इसलिए आप गरीब हैं। माता से चोरी की है, पिता से चोरी की है, गुरु से चोरी की है, भाई से चोरी की है, मित्र से चोरी की है, अपने पूज्यों से चोरी की है। अतः आपके पास गरीबी है। सुदामा ने चोरी ही तो की थी अपने मित्र से। माता–पिता, गुरु–अतिथि, गो और दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षी ये सब देवताओं की श्रेणी में आते हैं इनसे यदि आप चोरी करते हैं तो गरीबी मिलती है। वैसे तो चोरों को भी अमीरी मिल जाती है, पापियों को भी अमीरी मिल जाती है लेकिन शान्ति नहीं होती उनके पास। शान्ति एक अलग धन है। एक आध्यात्मिक सम्पत्ति

होती है, एक भौतिक सम्पत्ति। शान्ति पहले चाहिए, धन बाद में चाहिए लेकिन आप धन पहले माँगते हैं और फिर शान्ति माँगने लगते हैं। नहीं, नहीं जब भगवान की भगवत्ता आती है, भगवान का गुण जब आता है तो शान्ति आती है। भगवान को जब आप स्वीकार करते हैं तो शान्ति आती है। इसप्रकार जबतक आपमें सद्व्यवहार नहीं आता तबतक आप सफल नहीं होते। यदि जप आपको प्राप्त हो जाता है तो फिर वही क्रम आयेगा कि जप आपको संत के पास ही ले जायेगा, वह उसकी आज्ञा का पालन ही करायेगा, वह सद्गुरु के चरणों में प्रीति ही करायेगा, हरि चर्चा में रमण ही करायेगा, फिर इन्द्रियों का दमन करेगा, मन को अन्तर्मुख करेगा उसके उपरान्त आत्मसंतोष दिलायेगा। जप के माध्यम से आप किसी भी प्राणिपदार्थ में दोष नहीं देख सकेंगे। सबके प्रति विनम्रता का भाव हो जायेगा, सबमें प्रभु की सत्ता ही दृष्टिगोचर होगी, प्रभुनाम जप नवधा भक्ति का पाँचवाँ अंग है, पाँचवें चरण में इसको स्थान मिला है, भक्तिपथ के दसवें अध्याय में प्रभु ने इस जपयज्ञ को अपनी विभूतियों के बीच लाकर खड़ा कर दिया अर्थात् अपनी ही विभूति बताया है। इसलिए कि भगवान के नामजप में द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। एक ज्ञानयज्ञ में द्रव्य की आवश्यकता नहीं है और प्रभु के नाम में भी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। अन्य मंत्रों में द्रव्य की, आसन–प्रशासन की, संख्या पर अनुशासन की तथा शुद्धि–अशुद्धि की आवश्यकता पड़ जाती है, इसलिए जब इस मंत्र का आप पाठ करना तो जप का व्यापक अर्थ समझना। व्यापक अर्थ तो भगवन्नाम जप से ही है।

स्वर आपका चाहे जैसा है, उसमें यदि प्रभुनाम स्मरण हो रहा है तो वह ब्रह्म ही कहा जाता है। महाराज ने एक और बिन्दु लाकर खड़ा कर दिया जपयोग को विराम देते–देते कि यदि आप कहते हैं कि जप में मन लगता नहीं है तो कहीं न कहीं आप अनैतिक हैं। यदि अनैतिक नहीं हैं तो जप आपको स्वीकार करेगा अर्थात् प्रभु आपको स्वीकार करेगा। अनैतिकता का तात्पर्य है कि आप अपने पद से, अपनी जगह से हट गये हैं। पिता का पद होता है, पुत्र का पद होता है, पत्नी का पद होता है, भाई का पद होता है और आप इन पदों पर रह करके इन पदों के अनुरूप काम नहीं कर रहे हैं, इसलिए आप अमर्यादित हैं। अमर्यादित होने से प्रभु ने आपको स्वीकार नहीं किया। आप धर्मग्रन्थों के पन्नों में देखेंगे तो वरदान दो अवसर पर प्राप्त हुआ है, शाप भी दो अवसर पर प्राप्त हुआ है। मर्यादा की पराकाष्ठा में जब आप प्रवेश करते हैं तो संत प्रेम में भर करके आपको आशीर्वाद दे देता है, वरदान दे देता है लेकिन यदि अति उच्छृंखल हो जाते हैं, उद्दण्ड हो जाते हैं तो फिर संत शाप भी दे देता है।

काकभुशुण्डिजी ने अपनी कथा कही है गरूड़ से। गरूड़ उनके पास जिज्ञासु हैं। उन्होंने कहा कि एक बार मैं लोमश ऋषि के पास पहुँच गया, किन्तु वहाँ पर मेरा जो व्यवहार रहा, जैसा एक जिज्ञासु का होना चाहिए, जो एक जिज्ञासु के बैठने की, बोलने की, देखने की संत के पास जो परम्परा रही है, वैसा नहीं था। बड़ा अहंकारी था। अपने सिद्धान्त में आग्रह था। अतः वे संत जो देना चाहते थे, मैं उस बात को समझ नहीं पा रहा था। भक्ति की कामना थी, यह तो ठीक है लेकिन उनके सिद्धान्त का मैं खण्डन शुरू कर दिया। जब उनके सिद्धान्त का खंडन शुरू कर दिया तो धीरे–धीरे संत कुपित होते गये। मन में कुपित होते–होते, जैसे चन्दन

को भी रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही क्रोध उत्पन्न होता गया और शाप दे दिया उन्होंने। तो कहते हैं– वैसे ही संत के हृदय में आत्मीयता भी होती है, जैसे पिता पुत्र को डाँटता है, फटकारता है, दंड देता है, वैसे इतने अनुपात में अशिष्टता हो गयी मेरी कि वहाँ पर शाप के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। अतः वज्र की तरह उन्होंने शापदण्ड छोड़ दिया– अरे! तू ज्ञानी तो बनता है पर सबसे डरता भी रहता है, ज्ञानी भी बनता है, जानता तो कुछ है नहीं, तू कौए की तरह सबसे डरता भी है। तू अति चंचल दीख रहा है, सभ्यता के नाम पर तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। अतः सबसे निन्दित कौए की दशा को ही तुम प्राप्त हो जाओ, कौए के स्वरूप को प्राप्त हो जाओ। जाओ कौआ ही बन जाओ! हे गरुड़! मैं कौआ बन गया। जब कौआ बन गया तब चेतना जाग गयी। लंकिनी को हनुमानजी ने एक घूसा जड़ दिया तो ज्ञानी बन गयी, ब्रह्माजी की बात याद आ गयी, उसके पहले उसको याद नहीं आयी! उसीप्रकार मैंने मन में सोचा– ओह! संत दुःखी हो गये। चलो अपराध का दण्ड तो मिल ही गया, मिलना ही चाहिए, यह कोई बात नहीं है, अब तो ये कुपित हो गये हैं, अपराध हो ही गया है मेरे से। अतः परिक्रमा करके प्रणाम किया और चल दिया। तब उन संत को दया आ गयी।

एक ही अवसर में दो व्यवहार एक व्यवहार में शाप दूसरे व्यवहार में वरदान प्राप्त हो गया। एक ही संत के द्वारा शाप दिया जाता है और उसी संत से दूसरे क्षण में वरदान प्राप्त हो जाता है। काकभुशुण्डि को जब पश्चात्ताप हो गया कि अरे! अपराध हो गया। यहाँ मैं हठी हो गया था दुराग्रही बन गया था। चलो दुराग्रही बन गया था तो इनके सिद्धान्त का खंडन तो नहीं करता, ज्ञानयोग का खंडन तो नहीं करता, अपनी वस्तु माँगता। अपनी वस्तु माँगने के कई ढंग होते हैं। सेवा–शुश्रूषा करता फिर प्रसन्नमना होते वे और अपनी प्रिय वस्तु माँगता, यह ढंग था माँगने का। पहलेवाले व्यवहार में शाप, दूसरेवाले व्यवहार में वरदान मिल जाता है। ठीक यही बात किसी भी साधना के अंतर्गत है। जब आप ध्यान कर रहे होते हैं, जप कर रहे होते हैं, तप कर रहे होते हैं, तो निश्चितरूप से किसी न किसी का शाप आपके साथ है जो कि बाधा बन रहा है तथा सफलता मिल रही है तो किसी न किसी का आशीर्वाद आपके साथ है। आपकी असफलता के पीछे किसी न किसी की अप्रसन्नता ही कारण है। अप्रसन्नता में ही आह फूटती है और उसी में शाप रहता है, ऐसी महाराज ने खोज की है। बहुत से लोगों के मन में तो दिखाई पड़ जाता है लेकिन शीलता के कारण, संकोच के कारण आगे नहीं बढ़ पाते। दिखाई पड़ जाता है कि कहाँ गलती हो रही है मेरे से लेकिन प्रारब्ध भी पीछा करता है, किसी भी साधना की बात कह रहा है, इस जप की ही बात नहीं कह रहा है महाराज। पूजा–पाठ में मन क्यों लगेगा? आप कौन होते हैं कि मन लगे? भगवती सीता का मन लगता है तो उनके जीवन चरित्र को आप देखें। एक संदर्भ देखें आप, भगवती माँ कौसल्या से कहा उन्होंने कि हे माँ! सेवा का समय है लेकिन देखो ना! दैव ने, विधाता ने अवसर छीन लिया कि वन में जाना मेरा कर्तव्य हो गया है। विनम्रता देखें जिन्होंने हनुमानजी को भी वरदान दिया है– अष्टसिद्धि नौ निधियों का। उनको सिद्धियाँ वरण क्यों करती हैं? अहिंसात्मक जीवन में सब ओर से वरदान प्राप्त होता है, सब ओर से प्रसन्नता प्राप्त होती है। 'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला'– महाराज दशरथ ने कहा

कैकेयी से कि अरे! मेरे राम की तो मेरे बैरी भी बड़ाई करते हैं, ये तुम्हें अप्रिय कैसे लग गये? इससे सिद्ध होता है कि राम का आदर्श केवल राम में है वहाँ पर। महाराज ये कहना चाहता है कि सद्व्यवहार में आपकी थोड़ी सी साधना अपार शक्ति को देनेवाली होती है, लेकिन आपके पास सद्व्यवहार नहीं है तो बहुत सारी ढेर साधना भी कहीं न कहीं शाप का कारण बनती है। आप कोई भी धर्मग्रंथ उठाकर देखें और कुछ संतों की जीवनी को आप देखें। जितने भी दृष्टिपथ में संत हैं जो आपको प्रिय लगते हैं उनकी जीवनी को आप देखें फिर देखें कि घर में उनकी कैसी साधुता है। उनके साथ सभी असाधु का व्यवहार करते हैं, सभी सताते हैं लेकिन वे किसी को नहीं सताते। भगवती मीरा को ही देखें, तर्क करना अलग बात है, आज्ञा न मानना अलग बात है लेकिन निरादर करना अलग बात है। राणा, उनकी धर्मपत्नी और उनके पुत्र इत्यादि सभी एक साथ उन पर कुपित होते हैं। पति कुछ विनम्र भी है लेकिन माता–पिता के कारण से वह विवश भी है तो भी उतने सताए जाने के बाद भी कभी ऐसा व्यवहार नहीं देखा गया कि उस भगवती ने सास–ससुर का अपमान किया हो, कभी उसने अवहेलना की हो, ऐसा उनके किसी पद में देखने को नहीं मिलता। पद ही उनकी जीवनी है। सब स्वीकार किया राणा के द्वारा जितनी भी कठोर यातना दी गयी सब स्वीकार किया लेकिन जबतक घर में रहती हैं एक बहू के पद पर होकर ही रहती हैं। अन्ततोगत्वा एक दिन उनके मन में सहसा प्रभु की प्रेरणा हुई, गुरु की आज्ञा हुई और वे घर छोड़कर वृन्दावन आ गयीं।

घरों में आजकल देखता है महाराज– पिता से आप युद्ध करते हैं अपने मान–सम्मान एवं पद प्रतिष्ठा के लिए, सुविधा के लिए, स्वतंत्रता के लिए, माँ से भी वही दशा है, बड़े–बूढ़ों से भी वही दशा है, अतः उनकी आत्मा कराह उठती है। एक घटना है, आये दिन सबके जीवन में घटित होती है, इसे सुन लें। जिससे आपको शाप कहाँ–कहाँ लगता है आप जान जाएँगे और यह भी जान जाएँगे कि आप जीवन में असफल क्यों हो रहे हैं।

एक घर में महाराज जाता था– उस घर में दूसरी मंजिल पर उसके बेटे रहते थे बड़े धनवान लोग थे। उनलोगों की माँ निचले मंजिल में सीढ़ी के पास अपने कमरे में रहती थी। बच्चे आते थे आठ बजे, नौ बजे, दस बजे रात्रि को अपनी फैक्टरियों से और अपनी–अपनी धर्मपत्नी के कक्ष में चले जाते थे। वह माँ प्रतीक्षा करती रहती थी कि बेटे अभी आये नहीं। वह बेटा नहीं आया, वह बेटा नहीं आया। तो महाराज ने एक दिन पूछा कि आपको तो सारी सुविधा है कोई चिन्ता या दुःख तो नहीं है? तो कराह उठी उसकी अंतरात्मा, आह फूट पड़ी, आँसुओं ने सारी बात कह दी। उसने कहा– नहीं बाबा नहीं! कोई दुःख नहीं है। तो आप रो क्यों रही हो? महाराज ने पूछा। तो रोते–रोते उसने बताया कि जब बेटे जाते हैं, तो जाते समय कम से कम मेरे पास आते, प्रणाम करके जाते या कहकर जाते कि माँ हम जा रहे हैं, तो जाते समय भी मेरे पास नहीं आना और आते समय यदि दरवाजे पर बैठी रह गयी, मैं देख ली तो ठीक, नहीं तो आये और सीधे सीढ़ियाँ चढ़कर चले गये अपने कमरे में। देखने के लिए तो तरस जाती हूँ मैं। ऐसा कहकर रो पड़ी। कुछ साल के बाद वे बेटे गरीब हो गये। उसके बेटे महाराज से पूछते थे– गरीबी आयी क्यों? तो महाराज कहता कि ये बताओ आप सब भी जब इस अवस्था में हो जाएँगे और आपके

बेटे ऐसा करेंगे तो क्या करेंगे?

जप में मन नहीं लगता, ध्यान में मन नहीं लगता, प्रभु में मन नहीं लगता आपका। आप संत को अपना मानते हैं लेकिन संत इतना सस्ता नहीं है– अरे जब आप माँ का दर्शन नहीं कर सकते तो संत का आप दर्शन कैसे कर सकते हैं? जब अपने कुलगुरु, पुरोहित का मान नहीं कर सकते, बड़े–बूढ़ों का मान नहीं कर सकते तो संत का आप मान कैसे कर सकते हैं? आप निकट होकर देखें तो पता चल जायेगा कि संत के साथ रहना कितना कठिन है। दूर–दूर आपको प्रिय लग रहा है संत, ये तो साधक ही जानते होंगे कि संत के साथ रहना किसे कहते हैं। जो साधक घर से आये हैं, माता–पिता की सेवा करते हुए आते हैं संत के पास, उनके लिए तो कोई भार नहीं होता उसके साथ रहना लेकिन जो उच्छृंखल थे, घर में मनमाना व्यवहार करते हुए चले आये हैं उनसे पूछो, वे भागते फिरते हैं, भागते फिरते हैं संत के पास से। तो जितना आप संत को समझ रहे हैं उससे कहीं ज्यादा आपके लिए वह प्रभावकारी सिद्ध होता है लेकिन तब जब आप उसका दर्शन, दर्शन के बाद स्पर्श, स्पर्श के बाद मज्जन, मज्जन के बाद पान करते हैं अर्थात् दर्शन किया, उसकी सेवा की, इसके उपरान्त आज्ञा को धारण किया, उसकी आज्ञा में स्नान किया और तब आपको फल मिलेगा। देवता अनुष्ठान से प्रसन्न हो जाएँगे। वे तो मंत्र से ही आकर्षित होते हैं, धर्मात्मा माता–पिता प्रणाम से प्रसन्न होते हैं। एक ही प्राणी हैं वे, वे दो आत्मा मिल करके एक हैं, जबकि भगवान इतने से प्रसन्न नहीं होगा। भगवान तो प्रसन्न होगा जब सबको भीतर से त्याग देंगे, जब उसी को आप अपनी आत्मा बना लेंगे। जिस भगवान को आप दयालु कहते हैं उसकी दयालुता के पहले शरणागति के क्या–क्या लक्षण हैं आप जानें। उसीप्रकार जिस को आप दयालु संत कहते हैं वह संत तो उससे भी महँगा है। वह तो, यदि उसकी आज्ञा का पालन करते हैं आप तब प्रसन्न होता है। चाहे जितनी पूजा कर दें उसकी लेकिन वह प्रसन्न नहीं होगा, जबतक कि आप उसकी आज्ञा का सांगोपांग पालन नहीं करते। इसलिए आप खोज करें, दैव को जो आप दुहाई देते हैं, अपने प्रारब्ध को दुहाई देते हैं, पाप को दुहाई देते हैं, उसके पहले आप अपने दुर्व्यवहार की दुहाई दें। महाराज ने खोज की है कि तीन साल यदि राम जैसा पुत्र आप बनने का प्रयत्न करें तथा उन्हीं जैसा ही माता–पिता के साथ व्यवहार कर दें तो तीन साल में सफलता आपके चरणों को चूमेगी। तीन साल में संकल्प पूरा होता है, महाराज ने इसे देखा है। यदि साधनाकाल में नैतिकता नहीं है तो फिर आसुरी प्रकृति के लोग बलवान हो जाते हैं। यदि आप नैतिक हैं, मर्यादित हैं तो प्रकृति हर तरफ से आपकी सुरक्षा करती है। एक घटना बताता है महाराज– फिर से सुनें।

मेरठ में हिन्दू–मुस्लिम दंगा हुआ था लगभग अट्ठासी–नवासी में। पुष्करजी (राजस्थान में जहाँ एकमात्र ब्रह्माजी का प्राचीन मंदिर है) जा रहे थे आत्मानन्द के साथ। आगेवाली बस में पाँच लोग मार दिये गए। काँवरिये जा रहे थे, एक मुसलमान ड्राइवर ने एक–दो काँवरियों को कुचल दिया तो सारे मुसलमानों को पकड़कर लोग मारने लगे। उसी बीच अपनी बस पहुँच गई निकट में, तो ड्राइवर को सूचना मिली कि लौटा दो बस को। तबतक आगे से हजारों की संख्या में धावा बोल दिया बस पर लोगों ने, तो ड्राइवर बहुत भयभीत हो हदस गया भीतर से।

उसके मोड़ने पर बस मुड़ न सकी। तबतक कंडक्टर ने कहा– सब भाग जाओ। इतना सुनते ही सब भागे तो महाराज ने कहा आत्मानन्द से कि भागो! आत्मानन्द ने कहा कि फिर आप? कहा कि महाराज भागना नहीं जानता न! तो उन्होंने कहा कि फिर मैं भी नहीं भागूँगा। इस कथन को सुना एक दम्पती ने जो सीट के पीछे बैठे थे राजस्थान के। वे बड़े निर्भीक हो गये। पति ने कहा पत्नी से घबराओ मत जब महाराजजी हैं तो क्या घबराना। इतने में देखा गया कि पत्थर बरसने लगे। मर्यादा किसे कहते हैं? आत्मानन्द ने उठकर के महाराज को अपने शरीर से ढक लिया। तो महाराज ने कहा कि अरे! ये क्या कर रहे हो! ये क्या कर रहे हो! लेकिन वे तो हटे ही नहीं ताकि पत्थर आये तो महाराज पर न गिरे। ऐसा चमत्कार हुआ कि जो पाँच–छः बूढ़े रह गये थे, भाग नहीं पाये थे– दोनों ओर की सीटों के बीच में जहाँ कन्डक्टर टिकट काटने के लिए चलता है, उसी में खड़े हो गये। तो जब पत्थर आते थे उन्हीं पर लग गये और इधर एक महाराज की खिड़की और एक उन दम्पती की खिड़की नहीं टूटी अन्य सारी की सारी खिड़कियों के शीशे चकनाचूर हो गये। आगे से प्रवेश किया उनलोगों ने तो देखा कि संत बैठे हैं उसमें तो इतने जोश में थे कि बोले– बोलो भोले–भोले, बम–बम! कौन है मुसलमान इसमें? गर्जना किया उन लोगों ने। उसमें से तो मुसलमान भाग गये थे, एक बूढ़ा मुसलमान था, वह भी बोला– भोले–भोले बम–बम।

मर्यादा की बात कर रहा है महाराज, धर्म की बात कर रहा है महाराज। महाराज का धर्म क्या था? तुम भाग जाओ। इनका धर्म था– महाराज को उन पत्थरों से बचाना। तो महाराज को बचाने में इनके ऊपर एक भी पत्थर नहीं पड़ा। शीशे चूर–चूर होकर आते थे। उन लोगों ने तो ड्राइवर को अपनी जानकारी में मार ही दिया था। चलो बाद में बच गया वह। कन्डक्टर ने आकर गाड़ी चलाई चश्मा पहन करके। सारी बसें बन्द हो गयीं केवल एक महाराज की बस जा रही थी। एक ही संदर्भ उसमें देना था– क्या देना था– पलायन नहीं कर सकता महाराज, महाराज भाग नहीं सकता और तुमको रोक नहीं सकता। वे कहते हैं कि आप नहीं जाएँगे तो मैं नहीं जाऊँगा तो महाराज का वे बचाव करते हैं और उनका? उनकी श्रद्धा में उनका भगवान बचाव कर देता है– एक कंकड़ भी नहीं लगता। आपके जीवन में जो मार पड़ रही है चारों तरफ से, तो क्या सोचा आपने कि क्यों मार पड़ रही है? जिसकी आप सुरक्षा करना चाहते हैं उसकी सुरक्षा करना पहले धर्म नहीं है, शास्त्र जिसकी सुरक्षा करना चाहता है पहले उसकी सुरक्षा करना धर्म है। क्या आप माता–पिता, बड़े–बूढ़ों की सुरक्षा करते हैं? क्या धर्म की सुरक्षा करते हैं? क्योंकि तभी आपकी सुरक्षा होगी, ऐसे सुरक्षा नहीं होगी। 'देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः.....' बताया था महाराज ने कि सूक्ष्म कर्मयोग की बात भी प्रारम्भ करेगा। जपयोग की बात समाप्त होने के उपरांत ध्यानयोग का संकेत करेगा, स्वाध्याय यज्ञ भी बताएगा लेकिन उससे पहले आप पूर्व की भूमिका को अच्छीप्रकार से जान लेंगे तो सुगमता होगी। आप भाग रहे हैं मर्यादित व्यवहार से, तो भागकर कहाँ जाएँगे? माता–पिता आदि ही देवता हैं, जबतक आप उनका ऋण पूरा नहीं करेंगे तबतक आप मुक्त नहीं हो सकते। कोई न कोई ऋण है तभी उनके गर्भ से आप आये हैं। अब ऋण को पूरा करें– सेवा–शुश्रूषा से या तो संन्यास लेकर। सारे ऋण

से मुक्त होना है तब आप संन्यास लें। आज ही संन्यास लें फिर न माँ का शाप लगेगा न पिता का शाप लगेगा, न भाई–बान्धव का शाप लगेगा, किसी का शाप नहीं लगेगा। हाँ, लेकिन ऐसा देखने में नहीं आया कि जो संन्यास ले लिया वह नैतिक नहीं था और संन्यास में सफल हो गया हो। लेकिन चलें, तो भी संत कहते हैं कि वहाँ ब्रह्महत्या का पाप भी छूट जाता है– तो आज ही से लें आप संन्यास और ऐसी सामर्थ्य नहीं है तो अपने से बड़ों का अपने से पूज्यों की सेवा भी करें और प्रभु भक्ति भी। आपके ऊपर ऋण है उनका। उस ऋण के कारण से आदर–मान के साथ तन से, मन से, धन से, वचन से, हृदय से, सेवा करनी ही पड़ेगी और तब आपका हृदय पवित्र होगा, तब आप संत की सेवा कर पाएँगे और संत की सेवा जब पकड़ में आ जायेगी तब आप उनके ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

अबतक आप सबने जपयज्ञ की आधारशिला के साथ–साथ जपयज्ञ की विधि विधिवत् समझ ली है। जपयज्ञ का दो भाग किया गया है– एक स्मरण और दूसरा साधारण बुद्धिवाले के लिए अनुष्ठान। यहाँ तक महाराज ने सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया है तथा प्रयोग को सीमित कर दिया है। प्रयोग में तो मात्र इतना ही बताया जाता है कि एक आसन पर शरीर को व्यवस्थित बिठाकर प्रेमपूर्वक आप प्रभु का स्मरण करें लेकिन नामजप के समय होनेवाले व्यवधान तथा उससे प्राप्त होनेवाली भगवत् सिद्धि को विस्तार से बताया जाता है। एक बार पुनः सिद्धान्त को अच्छीप्रकार देख लें जिससे कि किसीप्रकार की शंका न रहे।

यदि आप रामनाम को, ॐ नाम को नाम ही मानते हैं तो मानें, माला जपते हैं तो जपें, लेकिन ब्रह्म जीव नहीं हो सकता। यदि कोई संत आपके दरवाजे पर गया और उसे आपने भिखारी समझ लिया है तो वह भिखारी नहीं हो जायेगा। भगवान सूर्य को कोई सूर्य न समझे, पुत्र पिता को पिता न समझे तो वे कोई सामान्य पुरुष नहीं हो जायेंगे, कोई पुत्र माँ को माँ न समझे तो भी तो वह माँ ही रहेगी। उसीप्रकार आप रामनाम को ब्रह्म नहीं मानते हैं तो ऐसा नहीं कि वह जीव हो जायेगा। गुरुजी ने जो नाम दिया वही आपके लिए भगवान है। यदि उसको केवल मंत्ररूप में मानते हैं तो भी वह ब्रह्मरूप ही रहेगा। उसकी ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों ही रहेगी। अतः एक आसन पर बैठ जायें। सुखासन हो, सिद्धासन हो या पद्मासन हो। आसन से बैठने के लिए कम्बल विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। गद्दे पर नहीं, चारपाई पर नहीं, पलंग पर नहीं, तखत पर नहीं, कम्बल को नीचे धरती पर लगावें। यदि कम्बल नहीं है, गरीबी है तो चाहे कुछ भी बिछा लें। भले ही तिनके का ढेर करें, तिनके को गद्देदार बनायें जैसे साधक बनाते हैं और उस गद्देदार आसन पर बैठें। आपको कुर्सी पर बैठना है, खड़े होकर प्रसाद बनाना है, इसलिए पद्मासन नहीं लगता, सिद्धासन नहीं लगता अतः जिसका पद्मासन लग सकता है वह पद्मासन लगाये तथा अन्य आप सभी के लिए स्वस्तिकासन ही उपयुक्त होगा अथवा आपको जैसे सुविधा पड़े वैसे शरीर को बिठा दें या ध्रुवजी की तरह खड़े रहें। उसके अनुसार प्रथम चरण में आप शरीर की दिशा को बदलें अर्थात् धीरे से शरीर को थोड़ा सा संकल्प से सीधा करें। फिर हाथों की एक मुद्रा बनावें जिसे ज्ञानमुद्रा कहते हैं, गोमुखी मुद्रा कहते हैं। अर्द्धगोमुखी मुद्रा भी होती है, जिसमें आप सम्पूर्ण उँगलियों को छल्लेदार करके एक–दूसरे में आरोपित करते हैं।

इसप्रकार स्वस्तिक मुद्रा भी है, ज्ञानमुद्रा भी है जैसे भी आपको सुविधा पड़े वैसे। इसप्रकार शरीर, हाथ, होंठ की मुद्रा को मुद्रित करके प्रभुनाम स्मरण करें।

(पुरोधसां च मुख्यं मां.....सर्पाणामस्मि वासुकिः) प्रभु ने अपने द्वारा उपजाये हुए, जन्माये हुए सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के प्रधान–प्रधान विभूतियों को याद किया इसलिए कि सम्पूर्णरूप तो वही हैं, किन्तु अर्जुन भी कहीं कम नहीं हैं, वे जानते हैं कि असंख्यरूपों की वन्दना तथा स्मरण किसी के वश की बात नहीं है, इसलिए विभूतियों के नाम पूछे हैं। जैसे सम्पूर्ण सरोवरों के बदले सागर को नमस्कार कर लेने से सम्पूर्ण सरोवरों को नमस्कार हो जाता है, सम्पूर्ण महर्षियों के बदले एकमात्र भृगुजी की वन्दना करने से सबकी वन्दना हो जाती है, एक ॐकार की वन्दना करने से सम्पूर्ण स्वर एवं व्यंजनों की उपासना का फल मिल जाता है। देवयज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, नरमेध यज्ञ इत्यादि बहुत से यज्ञ हैं, किसी भी भक्त के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का सम्पादन इस जन्म में असम्भव है। अतः जपयज्ञ का अनुष्ठान करने से सम्पूर्ण यज्ञों का फल मिल जाता है। हिमालय पर्वत को प्रणाम कर लेने से सम्पूर्ण पर्वतों को प्रणाम हो जाता है। पीपल वृक्ष की पूजा करने से सम्पूर्ण वृक्षों की पूजा का फल मिल जाता है। देवर्षि नारद को प्रणाम करने से सिद्धलोक में जितने भी ऋषि हैं, उनलोगों को प्रणाम करने का फल मिल जाता है। उच्चैःश्रवा नामक घोड़े को, ऐरावत नामक हाथी को तथा मनुष्यों में राजा को प्रणाम कर लेने से इनकी सम्पूर्ण प्रजातियों को प्रणाम पहुँच जाता है। वज्र को स्मरण करने से सभी अस्त्र–शस्त्रों का और कामधेनु का नाम लेने से उसकी सम्पूर्ण सन्तानों का एवं कामदेव का स्मरण करने से उनकी सम्पूर्ण शक्तियों का तथा वासुकि नामक सर्प का स्मरण करने से सम्पूर्ण सर्प जाति का स्मरण हो जाता है। पीपल वृक्ष सम्पूर्ण वृक्षों का स्वामी होने से भगवान का ही स्वरूप है, सम्पूर्ण शक्तियों का इसमें वास भी है, असंख्य औषधियों का प्रदाता है। सारे वृक्ष दिन में ऑक्सीजन और रात में कार्बनडाईऑक्साइड छोड़ते हैं; किन्तु यह दिन–रात कार्बनडाइऑक्साइड लेता है और ऑक्सीजन छोड़ता रहता है। आजतक जितने भी आत्मज्ञानी हुए हैं, उसमें से अपवाद को छोड़कर लगभग सभी को इस भगवत् वृक्ष के नीचे बैठकर जप, तप, योग, ध्यान आदि करने से ही आत्मबोध हुआ है। देवर्षि नारद और गन्धर्वों में चित्ररथ, भगवान की आत्मा ही कहे गये हैं, अतः इनका स्मरण करने से इनकी भक्ति अपने को प्राप्त होती है। भगवान कपिल को याद करने से उनका तप और त्याग अपने को प्राप्त होता है। उच्चैःश्रवा नामक घोड़े को स्मरण करने से दिव्य शक्ति अपने को प्राप्त हो जाती है। घोड़ा ही एक ऐसा प्राणी है जो अहर्निश खड़ा ही रहता है, चौबीस घण्टे में दस–पाँच सेकेण्ड के लिए लोट–पोट कर लेता है। वैसे ही कोई साधक भगवद्प्राप्ति के पहले साधनाकाल में यदि पाँच–दस मिनट शवासन के अलावा पीठ को धरती पर न टेके तो कुछ वर्षों में ब्रह्माण्ड को हिला देने की शक्ति–सामर्थ्य आ जाती है। भगवती कामधेनु अर्थात् एकमात्र देशी गाय ही रँभाते समय अर्थात् हुंकार भरते समय 'ॐ' और 'अम्बा' इन दो नामों का उच्चारण करती है। उसीप्रकार भक्त और साधक को जीवनपर्यन्त ब्रह्म और शक्ति का ही प्रचार–प्रसार करते रहना चाहिए और देशी गाय के ही दूध का सेवन करना चाहिए क्योंकि उसी के दूध में ब्रह्म और ब्राह्मी शक्ति का वास है।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने गोमाता की उपासना कर उसका खूब मान किया है। मानो वे संकेत कर रहे हैं कि किसी भी भगवद्भक्त सद्गृहस्थ को देशी गाय की सेवा अवश्य करनी चाहिए, तभी परिवार एवं समाज में सामंजस्य भी रह सकता है। वह जिसके यहाँ रहती है यदि वह उसकी सेवा से संतुष्ट हो जाय तो सम्पूर्ण भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न कर देती है। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि जो देवताओं, ऋषि–महर्षियों के द्वारा वन्दित तथा भगवान एवं राजर्षियों के द्वारा सेवित है आज सद्गृहस्थों के द्वारा भी परित्यक्ता हो गई है,अब सड़कों पर अथवा गलियों में घूमकर, सड़े–गले खाद्य–पदार्थों को खाकर घूमने के लिए विवश हो गई है। जिसके पंचगव्य का सेवन सम्पूर्ण ब्रह्महत्याओं से मुक्त कर देता है तथा वात, पित्त, कफ को भी सम शान्त कर देता है, वैसी ब्रह्मस्वरूपिणी अब बहुत से गृहस्थों के द्वारा निरादर की पात्र हो गई है। अब मात्र दूध के माध्यम से ही इसकी पहचान रह गई है। यदि दूध दिया तो ठीक, नहीं तो घर से निष्कासित कर दी जाती है। अब इसके आशीर्वाद की आवश्यकता सद्गृहस्थों को नहीं रह गई है, बल्कि जर्सी गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध की आवश्यकता रह गई है। ऐसा हो भी तो क्यों नहीं? क्योंकि बच्चे–बच्चियाँ जबतक जर्सी का दूध नहीं पीयेंगे, तबतक माता–पिता को धक्के देकर निकालेंगे कैसे? आपने नहीं देखा कि अपने बछड़े के मर जाने के बाद भी जर्सी गाय सुखपूर्वक खाती रहती है। इससे सिद्ध होता है कि जर्सी गाय वात्सल्यभाव से हीन, पत्थर हृदयवाली तथा उस नागिन के समान है, जो जन्माकर अपने बच्चे को ही खा जाती है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसके रक्त में, मांस में, वीर्य में और सम्पूर्ण अंगों में होता है। इसी न्याय से उसका स्वभाव उसके दूध में बसता है। आप नहीं देखते कि पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर्गत दाम्पत्य जीवन की आधारशिला तलाक है, जो जर्सी गाय के कारण से भारत में भी अपना पाँव रख रहा है। अतः सद्गृहस्थ भक्त इसपर गम्भीरता से विचार करें।

महाभारत के अन्तर्गत जगह–जगह इसकी विशेष महिमा लिखी गई है। बहुत से पुराणों में भी इसके चरित्र की विशेष महिमा का उल्लेख किया गया है। परम पूज्य मस्तराम बाबा ने गोमाता की महिमा का बखान करते हुए एक ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम 'गोविमर्षणम्' है। भक्तों को उस ग्रन्थ का पठन–पाठन तथा मनन–चिन्तन करके तद्नुरूप व्यवहार करना चाहिए।

(आयुधानामहं वज्रं.....) इस मंत्र में वासुकि नामक सर्प (फन निकालनेवाला काला सर्प) का स्मरण किया गया है। अतः इस मंत्र के द्वारा हररोज स्मरण करने से कोई भी सर्प काट नहीं सकते तथा किसी भी अस्त्र–शस्त्र का प्रहार अपने पर नहीं हो सकता।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

वैसे ही नागों में शेषनाग, जलचरों का अधिपति वरुणदेवता, पितरों में अर्यमा नामक पितर तथा शासन करनेवालों में यमराज, दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों का समय, वनपशुओं में शेर, पक्षियों में गरुड़, पवित्र करनेवालों में वायु, शस्त्रधारियों में श्रीराम, मछलियों में मगरमच्छ, नदियों में गंगा, सृष्टियों का आदि और अन्त तथा मध्य, विद्याओं में ब्रह्मविद्या, तत्त्वनिर्णय के लिए किया जानेवाला शास्त्रार्थ, अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व समास, काल का भी काल महाकाल तथा सब ओर से मुखवाला विराटस्वरूप एवं धाता (सबका धारण–पोषण करनेवाला) आदि भी मेरी ही विभूतियाँ होने से ये सब मैं ही हूँ।

उपरोक्त मंत्रों का पाठ करने से इनमें वर्णित विभूतियों के गुण तथा शक्ति–सामर्थ्य भी साधक एवं भक्तों को प्राप्त होते हैं। जैसे प्रह्लाद की अभयता एवं अनन्य भक्ति तथा क्षमा करने की सामर्थ्य, शेर का तेज, गरुड़ की सामर्थ्य, वायु की निर्लेपता, राम का रामत्व, मगरमच्छ की शक्ति एवं भगवती गंगा की पवित्रता, ये सब साधक के अन्दर प्रकट हो जाते हैं। वैसे ही उपरोक्त मंत्रों में वर्णित अन्य विभूतियों को भी जानना चाहिए।

(रामः शस्त्रभृतामहम्.....) शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ– ऐसा कहकर प्रभु ने अपने रामरूप की महत् महत्ता बढ़ायी है। मंत्र कहता है कि श्रीराम प्रभु का प्रत्येक व्यवहार मानव मात्र के लिए दिव्यास्त्र है। यही नहीं, जैसे फूल अपने–आप से सूत्र में आने के लिए तत्पर रहते हैं, गजरे बन जाते हैं, माला बन जाते हैं, देवता–देवी, संत आदि के शृंगार बन जाते हैं, वैसे ही इनका हर चरित्र एक दिव्य–फूल है, जो आपकी श्वासों में गूथे हुए हैं। आपके हर पग राम से चलते हैं, सोते राम से हैं, खाते राम से हैं, पीते राम से हैं, जागते राम से हैं, आप राम की दुहाई बेटे को देते हैं। पिता कहता है– बेटे! तुम राम की आत्मा हो, राम के जीवन से तो सीखो। धर्मपत्नी कहती है– राम के आदर्श को तो देखो। माँ से कोई कहता है– राम के आदर्श को तो देखो। सब राम की दुहाई देते हैं अर्थात् राम कौसल्या हैं, राम सुमित्रा हैं, राम हनुमान हैं, राम लक्ष्मण हैं, राम भरत हैं, राम शत्रुघ्न हैं। ये सब राम की छवियाँ हैं। बेटे को चाँटा मार देती है तब पति कहता है पत्नी से– एक माँ कौसल्या थीं, एक तुम माँ हो। कोई माँ जब आज्ञा नहीं देती संन्यास के लिए तो बेटा कहता है– एक वह माँ थी, एक तुम माँ हो। सुमित्रा माँ को तो देखो! उसने अपने पुत्र लक्ष्मण को यह कहते हुए विदा किया था कि जाओ! जाओ! जाओ बेटे! जाओ! अरे! आज तू राम का हो गया यह सच है बेटे! यदि सच है तो आज मैं माँ बन गयी। तू राम का

बना और मैं माँ बन गयी। इसके पहले मैं बाँझ थी। जिसका पुत्र राम का आदर्श नहीं है, वह माँ पुत्रवती होते हुए भी बाँझ की संज्ञा से विभूषित की जाती है अर्थात् बाँझ मानी जाती है। वैसे ही बड़ा भाई लक्ष्मण की दुहाई देता है, कहता है– एक लक्ष्मण थे, एक तुम हो लेकिन वह कहता है कि एक राम थे एक आप हैं। एक–दूसरे पर छीटा–कसी करते हैं, यह राम की झाँकी है। राम जन–जन में समाये हुए हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द भीतर की क्रीड़ास्थली में विहार कर बैठे हैं, मानो आपके भीतर मधुबन है और वे नृत्य करते हैं और श्रीराम आपके बाहर हैं, वे मर्यादित रखते हैं आपको। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द महायोगी हैं। वे कहते हैं कि आँख बन्द करके बैठ जाना भीतर की स्थापना मैं करूँगा, भीतर की मर्यादा को स्थापित रखूँगा और श्रीराम कहते हैं कि आँखों को खोल देना तो बाहर की मर्यादा को मैं रखूँगा। बाहर की आँखों को खोल देने का तात्पर्य है मर्यादित देखना। श्रीराम प्रभु पहले पुरुष हैं– वे आदिपुरुष हैं, अन्तपुरुष हैं और मध्यपुरुष हैं, जिसने राजतंत्र के उन नियमों का उल्लंघन किया था, निरादर किया था, जिसका निरादर करने की सामर्थ्य किसी में नहीं थी। वे पहले राजा हैं और अंतिम राजा हैं जिनके विषय में कहा गया है–

एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन क्रम बच पति हितकारी।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

सर्वप्रथम अपनी धर्मपत्नी की उपासना करें आप। गृहस्थाश्रम में उपासना प्रारम्भ होती है माता–पिता, गुरु के बाद धर्मपत्नी से, फिर उपास्य तक पहुँचते हैं। वे पहले राजा हैं और अंतिम राजा हैं जिन्होंने प्रजा से कहा था कि मैं लगान नहीं माँगता, मैं कर नहीं माँगता; मैं माँगता हूँ अपनी झोली में आपके द्वारा की गयी भगवत् साधना, भगवत् कर्म, भगवत् धर्म, भगवत् ज्ञान, ध्यान, विज्ञान एवं भगवत्मय जीवन। उन्होंने अपनी प्रजा के सारे के सारे सदस्यों से कहा था– बच्चों से, जवानों से, बूढ़ों से, माताओं से, बेटियों से कि आप सब हमारे हैं और मैं आप सबका हूँ। अतः खाना, कपड़ा और मकान देना मेरा काम है लेकिन मुक्ति के लिए साधना करना आपका काम है, गुरु देना मेरा काम है लेकिन गुरु की आज्ञापालन करना आपका काम है। यह पहला अवतार है और अंतिम अवतार है। फिर वह अवतार नहीं होगा जो ऐसा कह दिया हो कि कुछ मत करो। जब वे राजगद्दी पर बैठते हैं तो उनकी शक्ति से, उनकी सत्ता से, उनकी सामर्थ्य से लोग जब चाहते हैं तो पेड़ों में फल लग जाते हैं, जब चाहते हैं लोग तो गायें दूध देती हैं, माँगते हैं समुद्र से तो रत्न दे देता है, सारी नदियाँ अपनी मर्यादा में रहती हैं, धान एक बार रोपते हैं तो इक्कीस बार काटते हैं। आत्मानन्द के गाँव के लोग गन्ने को एक बार बोते थे आज से बीस साल पहले और दस, ग्यारह बार काटते थे। आज भी जिनके घर में रामराज्य की स्थापना है, वैसे घरों में गायें वैसे ही माँगने से दूध देती हैं, शृंगार के साधन अपने–आप आते हैं। वे पहले राजा हैं जो आपके रोम–रोम में समाये हुए हैं। दुहाई देते नहीं थकते लोग, जिसका नाम भी ब्रह्म कहा जाता है। एक तरफ ॐ और दूसरी तरफ राम है। रकार मात्रा और मकार मात्रा में यज्ञ सम्पादित किये जाते हैं। जब यज्ञकुण्ड बनता है तो ब्राह्मण उसमें 'र' की आकृति और 'म' की आकृति दिव्य हविष्य से बनाते हैं अर्थात् रकार और मकार लिख देते हैं तब उसमें समिधा

अर्थात् लकड़ी डाली जाती है तथा उसमें अग्नि की स्थापना की जाती है फिर हवन होता है। इसप्रकार एक तरफ ॐ दूसरी तरफ राम है, इसप्रकार सृष्टि एक–दूसरे से सम्पुट है। मानो मकार कलियुग है, रकार सत्ययुग है, दोनों एक–दूसरे के सम्पुट बन जाते हैं। वे ही राम माताओं को धन्य करने के लिए भगवती कौसल्या के गर्भ से प्रकट होते हैं, तपस्विनी माँ के गर्भ से प्रकट होते हैं लेकिन पिता के सामान्य आदर्श को अस्वीकार कर देते हैं। महाराज दशरथ की तीन रानियाँ हैं अर्थात् पिता की तीन रानियाँ और पुत्र के पास एक साध्वी धर्मपत्नी। धर्मपत्नी को वनवास दे देने के बाद वे पहले राम हैं और अंतिम राम हैं, जिन्होंने धर्मपत्नी की सोने की मूर्ति बनवायी, उसे भोग लगाकर वहीं उसकी मूर्ति के सामने खाया। शक्ति के उपासक हैं। वे पहले राम हैं, अंतिम राम हैं, जिन्होंने धर्मपत्नी को वासना की प्रतिमूर्ति नहीं समझा। उन्होंने कहा कि साक्षात् ये आद्य शक्ति हैं। आदिपुरुष जो जन–जन के राम हैं, जो आत्माराम हैं, वे पहले राम हैं और अंतिम राम हैं, जिन्होंने अयोध्या के सारे प्राणियों को अपने साथ सरयू में ले जाकर कहा– जिसे चलना है वैकुण्ठ लोक वह चले मेरे साथ। पुरातन काल से अबतक सृष्टि में कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ जिसने ऐसी घोषणा की हो। सारे के सारे प्राणी चल देते हैं। अयोध्या वीरान हो जाती है, कोई उसमें शेष नहीं बचता। सरयू के किनारे सारे के सारे अयोध्या के प्राणी, यहाँ तक कि कुत्ते, बिल्ली, चूहे तक भी प्रभु श्रीराम की तरफ देख रहे हैं। भगवती अयोध्या देवी जो नगर देवी कही जाती हैं, हाथ जोड़े खड़ी हो गयीं। माँगो! माँगो! माँगो! क्या माँगती हो? राम ने कहा था। जहाँ संत बारह साल तपस्या करता है वह भूमि भी सिद्ध हो जाती है। प्रभु श्रीराम की वह भूमि (अयोध्या) सिद्ध है। कहा उन्होंने कि माँगो क्या माँगती हो? अयोध्या देवी जिसे नगर देवी कहते हैं, कुलदेवी कहते हैं (कुल के देवता भी होते हैं, नगर के देवता भी होते हैं, नगर की देवी भी होती है।) वह कुछ बोल नहीं पाती। लव–कुश को भी यहाँ से हटा दिया गया है। प्रभु श्रीराम ने जाना कि अयोध्या देवी स्वीकार नहीं करेगी लव–कुश को। माँगो, क्या माँगती हो? सिर झुका लिया अयोध्यादेवी ने कहा– मैं जिसे माँगती हूँ, उसे आप दे न सकेंगे राम! कहा– क्यों? कहा– वे आपकी आज्ञापालन नहीं करेंगे। कहा– कौन है जो मेरी आज्ञापालन नहीं करेगा? कहा– वे हनुमान हैं, ये आपके हनुमान हैं, ये राजा नहीं बनेंगे। मैं आपके इस सिंहासन पर हनुमान को चाहती हूँ। यदि दे सकते हैं तो आप दें! घबराये हुए हनुमान चरणों में गिर गए, भयभीत हो गए, कहीं राजा न बना दें मुझे भगवान। प्रभु ने कहा कि नहीं, ऐसा डरो मत। मैं देता हूँ हनुमान को। वे ही आज से इस अयोध्या के राजा रहेंगे लेकिन जो भगवद्भक्त नहीं हैं, वे इन्हें आँखों से नहीं देख पायेंगे। जाओ मैंने दिया। जबतक ये धरा रहेगी, जबतक यह लोक रहेगा, तबतक ये हनुमान चिरंजीवी रहेंगे। ये किम्पुरुषप्रदेश की अयोध्या में रहते हुए भी सबको कृतार्थ करते रहेंगे। (जिस अयोध्या की बात महाराज कह रहा है वह किम्पुरुषप्रदेश कहलाता है वह यहीं पर है।) किम्पुरुषप्रदेश में सिंहासनपर ये विराजमान होंगे, संत दर्शन करेंगे, देवता दर्शन करेंगे, भक्त दर्शन करेंगे और यहीं से जो–जो भी याद करेंगे, जगत के लोग उनके पास अनेकों शरीरों से उसी समय प्रकट हो जायेंगे। जो मुझे चाहेंगे, ये हनुमानजी उनका सहयोग करेंगे, ये मेरे पास पहुँचायेंगे। कलियुग की दुर्दशा को देखा भगवान श्रीराम ने। द्वापर में भगवान आ जायेंगे, द्वापर में हनुमानजी की आवश्यकता नहीं है। द्वापर में

हनुमानजी की आवश्यकता है अर्जुन के रथ पर। कलियुग में हनुमानजी की आवश्यकता है घर–घर में; क्योंकि सेवकाई समाप्त हो जायेगी। अतः ये सेवकाई का धर्म फिर स्थापित करेंगे। हाँ, तो सबने एक साथ सरयू में डुबकी लगाई। वहाँ अयोध्या के ऊपर खचाखच दिव्य विमानों से सारा का सारा आकाश प्रान्त भर गया। वे सारी की सारी आत्माएँ, प्रकट हुए शरीर को छोड़कर, दिव्य विमानों में बैठीं और साकेत धाम को चली गईं, उस ब्रह्म के साथ ही। उसमें वह धोबी भी था, धोबी के मित्र भी जिन्होंने उस महात्मा का, उन महापुरुष का घोर अपमान किया था। ऐसे महापुरुष हैं वे, जिन्होंने ब्रह्मरूप होकर भी कैकेयी जैसी माँ को भगवती की संज्ञा दी है, कौसल्या माँ से विशेष आदर दिया है। जिनके चरणों की धूलि से अपने पति से छल करनेवाली अहिल्या जैसी माँ का उद्धार हो जाता है, जिनके दर्शनमात्र से भगवती शबरी जैसी साध्वी की मुक्ति हो जाती है। वे पहले पुरुष हैं, अंतिम और मध्य पुरुष हैं जिनसे ऋषि एकान्त में ले जाकर कहते हैं– हे राम! आप सनातन परम पुरुष हैं, राजा के रूप में आप अवतरित हैं, अपने को प्रकाशित करना नहीं चाहते आप, तो ठीक है, हमें तो कृतार्थ करें।

महाराज आपसे माँगता है, यदि आप दे सकें तो रामायण पढ़ें, यह झोली फैलाता है महाराज। कैकेयी जैसी माँ है यदि आपकी तो वहाँ पर आप राम बन जायें। दशरथ जैसा पिता है यदि धर्म का पालन नहीं कर पा रहा है, मोह में आसक्त हो गया है तो उसकी तरफ न देखें आप, राम जैसा वन को चले जायें।

पहले राम और अंतिम राम। ध्यानयोग में जब आयेंगे तो श्रीकृष्ण का आवाहन करना होगा, जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे तो राम का आवाहन करना पड़ेगा। ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं, वन के और घर के। वनप्रदेश और ग्राम प्रदेश ये दो प्रदेश हैं। एक वन में नाचता है, विहार करता है; एक घर में नाचता है, विहार करता है। एक आपको योग से सम्पन्न करता है, एक मर्यादा से सम्पन्न करता है। मर्यादा में योग और योग में मर्यादा, दोनों एक दूसरे में समाये हुए हैं, सम्पुट हैं। दोनों ही आराध्य हैं आपके लिए, लेकिन एक का चरित्र जिसे आप श्रीकृष्ण कहते हैं, दर्शनीय है, अनुकरणीय नहीं है। कुछ उनके चरित्र हैं जो अनुकरणीय हैं, किन्तु बहुत से ऐसे चरित्र हैं जो दर्शनीय हैं। किन्तु श्रीराम प्रभु का कोई ऐसा चरित्र नहीं है जो केवल दर्शनीय हो, सभी अनुकरणीय अर्थात् पालन करने योग्य हैं। वे राम आपके हृदय में वास करें, आपके नेत्रों में वास करें, वे राम आपके कानों में वास करें, वे राम आपकी वाणी में, भुजाओं में, पैरों में, चित्त में, अहंकार में वास करें; जिससे कि आप संत को, सद्गुरु को, अपने को समर्पित करें। ऐसी महाराज की भी इच्छा है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

वैसे ही मृत्यु, सबके उत्पत्ति का बीज, दिव्य शक्तियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा; स्तवन करने योग्य श्रुतियों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में बसन्त, छल करनेवालों में जूआ, तेजस्वी पुरुषों का तेज, जीतनेवालों की विजय, निश्चय करनेवालों का निश्चय, सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विकभाव, वृष्णिवंशियों में कृष्ण, पाण्डवों में तुम धनञ्जय, मुनियों में वेदव्यास, कवियों में शुक्राचार्य, दमन करनेवालों का दण्ड अर्थात् दमन करने की शक्ति, जीतने की इच्छावालों की नीति, गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक और ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान भी मेरी विभूति होने से मैं ही हूँ।

इन मंत्रों के द्वारा भगवान ने जूआ को अपनी विभूति क्यों कह दिया? इसलिए कि अज्ञानी इस क्रीड़ा में अपने सम्पूर्ण वैभव को एवं जीवन को भी दाव पर लगा देते हैं। यही नहीं, माता–पिता, भाई–बान्धव और हित–मित्रों ने भवसागर में ही पड़े रहने के लिए अपना पूरा जीवन आपके लिए दाव पर लगा दिया है। उनके द्वारा आपका प्रारब्ध ही ऐसा छल कर रहा है। इसलिए आप भ्रम में मत रहना, भोला मत हो जाना। ऐसा मत सोच लेना कि इन लोगों ने हमारी सुख–सुविधा के लिए अपना जीवन बिता दिया तो क्यों न हम भी इनके लिए जीवन जीकर इनके ऋण को पूरा कर दें। इस सोच से तो किसी जीवन में भी किसी का ऋण पूरा किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि जब–जब मनुष्यरूप में जन्म होगा तब–तब वहाँ के माता–पिता, भाई–बान्धवों का ऋण चढ़ता ही रहेगा। इसलिए जैसे पीपल वृक्ष की पूजा करने से सम्पूर्ण वृक्षों की पूजा हो जाती है, राजा की पूजा कर देने से सम्पूर्ण प्रजा की पूजा हो जाती है, उसीप्रकार एक सद्गुरु की सेवा कर देने मात्र से सबकी सेवा का फल मिल जाता है अर्थात् सबके ऋण से उऋण हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। आपका प्रारब्ध आपके साथ छल कर रहा है तो आप भी भगवान बुद्ध की तरह भगवान के लिए आधी रात को वनप्रदेश में भागकर अपने प्रारब्ध को धोखा दे सकते हैं। जगाकर इस शत्रु को तो आप मार नहीं सकते; क्योंकि वह भीतर से आक्रमण करता है। वह आपको देखता है और आप उसे देखते ही नहीं हैं। खूब खोजने पर दिखाई पड़ गया तो तबतक बहुत देर हो गई होती है। फिर आप कहते हैं– सारा जीवन व्यर्थ चला गया। इसलिए सबसे बड़ा जुआरी भगवान है, अतः आप उसी से जूआ खेलें। यदि आप हार गये तो उसके हो गये और जीत गये तो वह आपका हो गया। दोनों तरफ से आपकी ही विजय है।

(कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां.....) इस मंत्र के द्वारा भगवान ने शाक्तमत की स्थापना की है। सर्वप्रथम वैष्णवमत की, फिर शैवमत की और अब शाक्तमत की। मानो वे कहना चाहते हैं कि तीनों मतों की मैं ही आत्मा हूँ। इस मंत्र में सात शक्तियों–(कीर्ति, श्री, वाक् आदि) का नाम दिया गया है। इससे सात ही शक्तियों को नहीं समझना चाहिए बल्कि दो शक्तियों के साथ नव शक्तियों का स्मरण समझना चाहिए; क्योंकि इस मंत्र में आदि शब्द छिपा हुआ है। इस मंत्र का आवाहन करने से सम्पूर्ण शक्तियों को नमस्कार पहुँच जाता है तथा कालान्तर में ये शक्तियाँ आपको वरण कर लेती हैं। जो गायत्री मंत्र की उपासना करनेवाले हैं, उन्हें इसे भगवान की विभूति समझकर धारण करना चाहिए, तब यह मंत्र आपके लिए बड़ा प्रभावकारी हो जाएगा। इस मंत्र के द्वारा भगवान से स्वयं के साथ–साथ जगत के कल्याण की कामना की भी माँग ब्रह्म से की गई है– ऐसी भावना से जप करने से उस साधक में अहिंसा अपने–आप प्रकट हो जाती है, साधक की व्यष्टि चेतना, समष्टि चेतनारूप होने लगती है। अन्ततोगत्वा चित्त शुद्ध होकर ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

(जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि.....) मैं ही विजय की कामना करनेवालों की विजय और प्रतिज्ञा करनेवालों की प्रतिज्ञा हूँ, ऐसा प्रभु ने बहुत सोच–समझकर कहा है; क्योंकि अर्जुन के सामने यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि तुम घबराओ मत, मैं पितामह और कर्ण की न प्रतिज्ञा ही हूँ और न उनकी विजय की कामना ही। कर्ण ने दुर्योधन के सामने प्रतिज्ञा की है कि अर्जुन का वधकर मैं तुम्हें निष्कण्टक राजा बना दूँगा, किन्तु तुमने भी प्रतिज्ञा की है कि इस सूतपुत्र के मस्तक के हजार टुकड़े कर दूँगा। उसने सूर्य भगवान के सामने प्रतिज्ञा की है और तुमने अन्तर्यामी ब्रह्म के सामने प्रतिज्ञा की है जो इस समय तुम्हारा सारथि बन बैठा है। पितामहभीष्म ने अपने पिता के सामने परशुरामजी का स्मरण करके प्रतिज्ञा की है कि मैं हस्तिनापुर की सुरक्षा करता रहूँगा। मैं उनकी ऐसी प्रतिज्ञा नहीं हूँ अर्थात् ऐसी प्रतिज्ञा मेरी विभूति नहीं है; क्योंकि इसमें राजस और तामस अहंकार की बदबू आती है। हस्तिनापुर की रक्षा तो ब्रह्म करनेवाला होता है न। वैसे भी इनकी प्रतिज्ञा खण्डित हो गई; क्योंकि हस्तिनापुर के दो भाग हो ही गये। वे माने चाहे न मानें इन्द्रप्रस्थ उसी का भाग है। तुम यह भी जान लो कि सबकी प्रतिज्ञाओं के बीच मेरी भी प्रतिज्ञा है कि जब–जब संत और भक्त सताये जायेंगे तब–तब मैं अवतरित होकर दुष्टों का और दुष्टों का साथ देनेवालों का संहार कर दूँगा। धर्मगत प्रतिज्ञा ही मेरी विभूति है अर्थात् मेरा स्वरूप है। यही कारण है कि शुद्ध संकल्प पूरा होता है और अशुद्ध संकल्प पूरा नहीं होता।

मानो भगवान कहना चाहते हैं कि कोई यह प्रतिज्ञा करके देखे कि आज से मैं ब्रह्म के लिए जीऊँगा और मरूँगा, तो दो–चार सालों में ही उसके सामने के सारे अवरोधक तत्त्व समाप्त हो जायेंगे।

(वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि.....) प्रभु ने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि इस समय इस भूमण्डल में मैं ही एक विभूति हूँ और तुम आदर्श महारथियों में, महावीरों में एवं आदर्श ब्रह्मचारियों में एक

विभूति हो, पाण्डवों में तो विभूति हो ही। इतना ही नहीं, अब तो तुम भक्तों में भी विभूति हो गये हो। मैं तुम्हारे में विशेष हूँ, इसलिए भी तुम विभूति हो। तुम्हारे माध्यम से जगत–हितार्थ ब्रह्मविद्या प्रकाशित हो रही है, अतः इस ब्रह्मविद्या के मूल में मेरे साथ तुम भी स्मरण किये जाओगे। प्रभु ने अपने–आपको जगत की आत्मा कह दिया। वे ही आदि, अन्त, मध्य हैं– जिसमें बल, वीर्य, उदारता, मधुरता, गम्भीरता आदि गुण होते हैं तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने की शक्ति जिसमें है, वही सगुण ब्रह्म कहलाता है। भगवान श्रीकृष्ण एवं प्रभु श्रीराम में ये गुण पाये जाते हैं, इसलिए सगुणरूप में भी इनकी उपासना स्वीकार्य है। प्रभु ने व्यासजी को भी स्मरण किया है जो संत के वेश में जगत–हितार्थ ही प्रकट हुए हैं। वे उसी समय प्रभु के द्वारा प्रकाशित हुई ब्रह्मविद्या को मंत्ररूप दे रहे हैं। प्रभु के चरित्र को प्रकाशित करने के लिए ही उन्होंने महाभारत नामक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में प्रभुलीला की हजारों झाँकियाँ दी हैं, जिसका स्वाध्याय करने से वह भक्तों के चित्त को शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध कर देती है। आज भी भक्त और संत ऐसे–ऐसे हैं, जो प्रभु के द्वापरयुग के रूप को उनका आवाहन कर, उनके नाम का जप कर, प्रकट कर लेते हैं। उसीप्रकार प्रभु श्रीराम के रूप को और उनका नाम जपकर हजारों भक्त उनका दर्शन कर रहे हैं।

महाराज का कहना है कि यदि साधक इस गीता को श्रद्धा और भाव के साथ हृदयंगम कर लेते हैं तथा तदनुरूप व्यवहार कर रहे हैं, तो वे अपने कुल की विभूति हैं; क्योंकि उनके कुल–परिवार के लोग उनका स्मरण करने मात्र से ही दिव्य लोकों को प्राप्त कर जाते हैं फिर वे देश–देश की विभूति होते हैं और जगत की भी।

(दण्डो दमयतामस्मि.....) यह मंत्र संन्यासी वर्ग के लिए है। संन्यासियों का त्याग ही उनका दण्ड है, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण का त्याग ही उनका दण्ड है, व्यावहारिक पक्ष में उनका न बोलना ही उनका दण्ड है। नीतिवानों की नीति को भी भगवान अपनी विभूति बता रहे हैं।

महाभारत में एक कथा है। एक पुत्र ने पिता से कहा– मैं संन्यास ले रहा हूँ। पिता ने कहा– पहले पितृऋण से मुक्त हो जाओ। उसने कहा– आप भगवद्भक्त नहीं हैं। भगवद्भक्तों का ऋण होता है, जो विषयी होते हैं उनका ऋण नहीं होता है। तर्क होते–होते पुत्र ने कहा– आप ऋण की बात करते हैं, तो आप ही संन्यास ले लें। या तो आप संन्यास लेकर मेरा उद्धार करें या तो मैं संन्यास लेकर आपका उद्धार करूँगा। ऋण से मुक्त होने का यही धर्म है। दाल–रोटी खिला देने और माता–पिता की सेवा कर देने से कोई ऋणमुक्त नहीं हो जाता। तब पिता ने कहा– संन्यास लेने की मेरे में सामर्थ्य नहीं है; यदि ऐसी बात है तो तुम्ही संन्यास ले लो।

(मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्.....) विभूतियों के अन्त में प्रभु ने स्पष्ट कह दिया कि ज्ञानियों के पास जो ब्रह्मज्ञान है, वह तो मेरा ही रूप है। वहाँ मैं ब्रह्मज्ञान होकर प्रकट हूँ।

ज्ञानियों में मैं ब्रह्मज्ञान हूँ तथा उसके उपरान्त मौनावस्था भी मैं हूँ, ऐसा प्रभु औपचारिकता

मात्र के लिए कह रहे हैं। ज्ञानी में ब्रह्मज्ञान रहेगा तो वहाँ द्वैत की सिद्धि हो जाएगी। ब्रह्मज्ञान तो स्वयं ब्रह्म ही है, अतः वहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म है, ज्ञानी नहीं। अब प्रभु विभूतियों का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदुर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

प्रभु कहते हैं– सम्पूर्ण भूतप्राणियों का बीज (कारण) तो मैं ही हूँ, अतः यह तो मैंने थोड़े में ही तुम्हारी संतुष्टि के लिए कह दिया है। इसलिए किसी भी प्राणिपदार्थ में तथा विषय में विशेष ऐश्वर्य, तेज, शक्ति दिखाई पड़े तो तुम उसे मेरे ही तेज एवं ऐश्वर्य का अंश समझो। इससे भी अच्छी बात तो तब होगी, जब सम्पूर्ण जगत को तुम मेरे ही स्वरूप का एक अंश मान लोगे।

ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसमें ब्रह्म का कोई गुण ही न हो; इसलिए साधकों को तो सभी प्राणिपदार्थों को ब्रह्मरूप समझकर उनसे कुछ सीख लेना चाहिए। जिसप्रकार सो जानेपर मनुष्य की स्मृति हिता नाड़ी में प्रवेश करती है तो उसका स्वप्न–जगत उसी में दिखाई पड़ता है। वह स्वप्न पूरे शरीर में नहीं रहता; पूरे शरीर के रोम–रोम में तो ब्रह्माण्ड रहते हैं। आपका ब्रह्माण्ड तो स्वप्नलोक है, जो आपके संकल्प से प्रकट हुआ है; किन्तु भगवान के चिदाकाश के एक अंश में अर्थात् एक संकल्प में ही मानो हिता नाड़ी है जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड प्रकट हैं। अतः सृष्टि का कोई भी अंग नहीं है जिसमें ब्रह्म की संकल्प–शक्ति का वास नहीं हो।

यदि हररोज दशम अध्याय का कोई पाठ कर लेता है तो सम्पूर्ण विभूतियों का इन मंत्रों के द्वारा स्मरण होने से उनमें जो ऐश्वर्य है, तेज एवं कान्ति है, वह तो प्राप्त होता ही होता है और पूरे विश्वरूप की वन्दना भी हो जाती है। साधनाकाल में सारी विभूतियाँ अपना सहयोग भी करती हैं। श्लोक सं २० से ४२ तक विभूतियों की वन्दना करने में मात्र दो–ढाई मिनट लगते हैं और इतने ही मात्र से अकाल मृत्युयोग आदि समाप्त हो जाते हैं। इसलिए साधकों एवं भक्तों को साधना के पूर्व इन मंत्रों के द्वारा सम्पूर्ण विभूतियों का भी आवाहन कर लेना चाहिए। जिसप्रकार यज्ञशाला में सम्पूर्ण पौराणिक एवं वैदिक देवी–देवताओं का आवाहन किया जाता है, उसीप्रकार आध्यात्मिक यज्ञशाला में अर्थात् साधना में इन भगवत् विभूतियों का आवाहन किया जाता है। ये मंत्र आपके लिए कवच एवं कीलक का काम करेंगे। जो शक्तियाँ बाहर हैं, वे ही

भीतर भी हैं। अतः ये भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे सब ओर से सुरक्षा करेंगी। इन मंत्रों में गंगा, गायत्री, गो (गाय) और गुरु की स्थापना प्रभु ने खुले मन से की है। मानो ये ब्रह्म के चार चरण (पाद) हैं तथा भगवान ने अठारहवें अध्याय के अन्त में इस ब्रह्मविद्यारूप गीताजी की महिमा स्वयं गा दी। इसप्रकार साधक के यही पाँच प्राण हैं जिसमें ब्रह्मविद्यारूप गीता मुख्य प्राण है, सद्गुरु अपान है, गो माता समान है, गंगा उदान है तथा गायत्री व्यान नामक प्राण है। इन्हीं पाँचों प्राणों से साधक शरीर के पाँचों प्राणों एवं दसो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर जाता है। भगवान नारायण इतना सबकुछ कहकर महात्मा अर्जुन के द्वारा गाण्डीव उठाकर हुंकार भरने की प्रतीक्षा करने लगे और अर्जुन अपने आन्तरिक प्रभु की निर्गुण–निराकारता, साक्षी–चेतन आत्मरूपता का दर्शन करने की कामना से अब प्रभु से प्रार्थना करने की चाहना करने लगे।

संजय बहुत सावधानी से इस घटनाक्रम को देख रहे हैं। वे दिव्य दृष्टि होने के कारण से भगवान और अर्जुन दोनों के हृदय से उठनेवाले संकल्पों एवं भावों को जान जाते हैं। उनकी मौनावस्था को देखकर धृतराष्ट्र से रहा नहीं जाता। अतः वे पूछ बैठते हैं– महामना संजय! तुम मौन क्यों हो?

संजय ने कहा– हाँ पृथ्वीनाथ! लगता है, कुछ और चमत्कार होनेवाला है।

कैसे पहचान रहे हो? धृतराष्ट्र ने पूछा।

हे राजन्! प्रभु के अतिशय प्रिय अर्जुन ने इतना सबकुछ सुन एवं जान लेने के उपरान्त भी गाण्डीव की तरफ नहीं देखा। वे दोनों हाथों को जोड़कर प्रणाम की मुद्रा में होकर, स्तवन करते हुए कुछ माँगने की स्थिति में हैं।

वे अब क्या माँगने की स्थिति में हैं? स्वयं महाराज के द्वारा गाये हुए पद से देखें– यदि सम्भव हो तो आप भी अर्जुन की जगह खड़े हो जायें और अपने भगवान से इसी भाँति माँगे–

(राग – खमाज)

अब तू मौन क्यों नटराज।
खोल खोल अब चुप्पी खोल, खोल दे सब राज।।
अक्षर परम देखूँ बाग बाग होऊँ मैं, ले अपनी साजबाज।।
मानी सभी मैंने जैसा कहा तूने, तूही सभी में बिराज।।
बतायी स्वयं को बढ़ी लालसा देखूँ, निर्गुण निराकार आज।।
महाराज अधिकारी माधव जो मानो, दिखा दो सुनो ब्रजराज।।
अब तू मौन .....

इस दशम् अध्याय को महाराज ने पद के रूप में गाया है, जिसे आप गानेमात्र से इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त कर लेंगे–

(राग – भैरवी)

मोहें जाने ना रे अर्जुन मोरे बिना।
चाहे लाख यतन करे कोई अपना।।

देव महर्षिहुँ को हौं आदि, देखत वे सब सपना।
जेहि जपाऊँ जेहि बताऊँ, सो जानत रूप अपना।।
मोहें जाने ना रे अर्जुन.....

जप तप करत प्राण मन अर्पन, बुद्धिहुँ तजे कलपना।
ज्ञान दीप उनके हिय बारूँ, छूटत सबरे जलपना।।
मोहें जाने ना रे अर्जुन.....

सब कहुँ आदि मध्य अन्त हौं, सर्वभूत महँ आत्मा।
रवि शशि इन्द्र बृहस्पति भृगु सब, सामवेद अरु जपना।।
मोहें जाने ना रे अर्जुन.....

तु अरु मैं सुनु दण्ड यतिन्ह को, जहँ तहँ भूति प्रकटना।
ब्रह्म तेज को एक अंश सो, सबै विभूति दिखना।।
मोहें जाने ना रे अर्जुन.....

एक अंश सों धारुँ यह जग, और बहुत क्या कहना।
महाराज सुनु कह प्रभु अर्जुन, अर्पण कर सब अपना।।
मोहें जाने ना रे अर्जुन.....

ॐ मासपारायण, अठारहवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, नवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथैकादशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अतिशय प्रेम में भरकर प्रभु ने अपनी दिव्य विभूतियों का दिग्दर्शन महात्मा अर्जुन को करा दिया। भक्त अर्जुन को सम्पूर्णता से विश्वास हो गया कि ये ही निर्गुण–निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। ब्रह्म को पहचान लेने के उपरान्त उनकी सेवा–शुश्रूषा और वन्दना के अतिरिक्त वहाँ कोई अन्य साधना शेष नहीं रहती; क्योंकि वहाँ विश्वास हो जाता है कि कभी न कभी ये अपना सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य रूप तो दिखा ही देंगे अर्थात् सगुण से निर्गुणरूप हो ही जायेंगे। माँ के पास कामविजेता बनने की साधना नहीं की जाती, सद्गुरु के पास क्रोधविजेता बनने की साधना नहीं की जाती और पति के पास निर्लोभ बनने की साधना नहीं की जाती, उसीप्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने लिए सगुण–साकाररूप में प्रकट हो जाये तो उसके पास उसकी निर्गुण–निराकारता को जानने के लिए अलग से साधना नहीं करनी पड़ती। महात्मा लक्ष्मण ने प्रभु श्रीराम को अति निकट से ब्रह्मरूप में पहचान लिया था; इसलिए उन्होंने जपयोग, अष्टांगयोग एवं ध्यानयोग की साधना कभी नहीं की, मात्र ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहकर प्रभु की सेवा–शुश्रूषा की। वनप्रदेश में प्रभु को स्नान कराकर स्नान किया, खिलाकर निराहारी रहे और सुलाकर पहरेदारी की। तेरह साल के उपरान्त प्रसन्नवदन प्रभु श्रीराम से उनके सम शान्त सच्चिदानन्दघन, निर्गुण–निराकाररूप को माँग लिया। यह सगुण–साकार ब्रह्म उपासना की पराकाष्ठा का फल है। उसीप्रकार महात्मा अर्जुन ने भी प्रभु से विनम्र निवेदन किया कि–

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभु! मेरे पर महति कृपा करने के लिए आपके द्वारा जो गोपनीय से भी गोपनीय रहस्य कहा गया, उससे मेरा महामोह समाप्त हो गया है। हे कमलनेत्र! मैनें आपके अव्यय, अविनाशी रूप की महिमा के साथ–साथ आपसे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति भी विस्तार से सुनी है। हे प्रभु! आप अपने को जैसा कहते हैं ठीक वैसा ही है, परन्तु हे पुरुषोत्तम! आपके दिव्य ऐश्वर्यमय रूप को मैं देखना चाहता हूँ। यदि मेरे द्वारा वह रूप देखा जा सकता है, आप ऐसा मानते हैं तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी रूप का दर्शन करावें।

अर्जुन के द्वारा आत्मविभोरावस्था में वन्दना और निवेदन दोनों चल पड़े। वे कहते हैं– हे प्रभु! जैसा आप अपने को कहते हैं ठीक उसी रूपवाले हैं, ऐसा मैंने मान लिया, अब किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। आपने महति कृपा की प्रभु कि मेरे जैसे मूर्ख को आपने विभूतियों सहित दिव्य नाम, गुण एवं रूपों का वाणी के द्वारा दिग्दर्शन करा दिया। मैं तो निश्चित ही कुपात्र था। हे विश्वेश्वर! हे जगन्नाथ! हे नारायण! मुझ अधम के पास तो आपको गोपनीय रहस्य को खोलना ही नहीं चाहिए था। पता नहीं क्यों आपने परम अनुग्रह करके दिव्यतम आध्यात्मिक वचनों को सुनाकर सारा का सारा मोह दूर कर दिया। हे जगत्पते! अब सारा का सारा शोक–संताप और प्रमाद जाता रहा। हे सच्चिदानन्द! हे कमलपत्राक्ष! मैंने जान लिया कि सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त तथा आधार, आधेय एवं सम्पूर्ण भूतों की शक्ति–सामर्थ्य आप ही हैं। किन्तु हे प्रभु! अब जब आपने दिव्य चिन्मयरूप की अभिव्यक्ति कर ही दी, विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मरूप का बखान कर ही दिया तो मुझ मूर्ख को उस दिव्य रूप को देखने की उत्कट लालसा हो ही गई है। हे जगत्पते! आप ऐसा न जान लेना कि मैं आपकी परीक्षा लेकर ही आपकी बात पर विश्वास करूँगा बल्कि मैं आपसे कुछ छिपाता नहीं, अपने भीतर की इच्छा को आपके सामने प्रकट कर रहा हूँ। मेरा दुराग्रह नहीं है कि आप अपने अव्यय, अविनाशी, अजन्मा एवं परम ऐश्वर्यमय रूप को दिखायें ही दिखायें। इसलिए मेरी बात का बुरा न मान लेना। यदि मैं आपके तेजोमय दिव्य रूप को देख सकूँ तब तो आप दिखाना अन्यथा मत दिखाना। हाँ, यदि मेरी माँग सही है और यदि आप प्रसन्न हैं तथा मैं देख सकता हूँ, तो अब दिखाने की कृपा करें।

यहाँ महात्मा अर्जुन के भयभीत हुए से स्वर दिखाई पड़ रहे हैं। उन्होंने सुन रखा है कि प्रभु ने कौरवों की सभा में जब अपना दिव्य रूप दिखाया तो महात्मा विदुर और पितामहभीष्म को छोड़कर सबकी आँखें चौंधियाँ गईं, बुद्धि भ्रमित हो गई और सबका हृदय काँप उठा। वे सोच रहे हैं कि कहीं वही दशा मेरी भी न हो जाये।

महात्मा अर्जुन ने भगवान को कमलपत्राक्ष और महायोगेश्वर कहकर महत् आदर दिया है। अबतक सैकड़ों बार प्रभु का उनके द्वारा निरादर हो चुका है। यही नहीं, अबतक तो नवम् अध्याय तक प्रभु ने ही अर्जुन को महत् उपाधियों के द्वारा आदर–मान दिया है। अब उन सबकी कीमत इन वाक्यों के द्वारा चुकाना चाहते हैं– कमल की तरह नेत्र हों जिसके उसे कमलपत्राक्ष कहते हैं अर्थात् कमल जैसे जल को स्पर्श नहीं करता तथा जल कमल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही आपकी दृष्टि गुण–दोषों को स्पर्श नहीं करती। आप अपनी दिव्य दृष्टि से सर्वत्र सर्वरूपों

में अपने–आपको ही देखते रहते हैं।

महायोगेश्वर विशेषण देकर महात्मा अर्जुन ने भगवान की खूब बड़ाई की है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो योगियों के ईश्वर हैं (अपने–अपने भक्तों के ईश्वर हैं); किन्तु प्रभु इन तीनों के भी ईश्वर हैं, इसलिए महायोगेश्वर कहे जाते हैं। प्रभु ने प्रार्थना सुन ली और सान्त्वना देते हुए कहा–

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

नहीं, नहीं पार्थ! तुम डरो मत बल्कि मेरे इसी शरीर में, एक ही जगह में, सम्पूर्ण चराचर जगत को देखो; सहस्त्रों, और नानाप्रकार के दिव्य रूपों और आकृतियों को भी देखो। हे भरतवंशी! दिव्य वसुओं को, रुद्रों को, अश्विनीकुमारों को तथा उनचास वायुदेवताओं को भी देखो। इतना ही नहीं, हे गुडाकेश! और भी बहुत न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को भी देखो। हाँ यह बात सही है कि तुम मेरे दिव्य रूप को देखने की सामर्थ्य रखते हो, क्योंकि तुम मेरे ही रूप हो, किन्तु भौतिक शरीर और भौतिक आँखों के माध्यम से सचमुच में नहीं देख सकते। यद्यपि तुम अपने तन, मन, वचन एवं हृदय से मेरी प्राप्ति के निमित्त इस जन्म में योग, यज्ञ, तप नहीं किये हो, परन्तु पूर्व के जन्मों में ही तुमने सम्पूर्ण योग, यज्ञ, तप करके मुझे माँग लिया है। इसलिए इस जन्म में तुम्हारे नहीं चाहने पर भी मैं तुम्हारे सामने प्रकट हो गया हूँ और दिव्य तेजोमय निर्गुण–निराकाररूप होते हुए भी विश्वरूप में तुम्हें दर्शन देने जा रहा हूँ। इस जन्म में तुमने भगवान शंकर को अपने योग, यज्ञ, तप से प्रसन्नकर पाशुपतास्त्र माँग लिया है। अग्नि, वरुण तथा अन्य बहुत से देवी–देवताओं को प्रसन्न करके, जप, तप, ध्यान करके उनसे आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र तथा अन्य दिव्यास्त्र माँग लिये हैं, पर अब उस जप, तप, योग का कोई महत्त्व नहीं रहा, इसलिए तुम्हारा तन, मन, वचन मेरे दिव्य रूप के तेज को सहन नहीं कर पायेगा, पचा नहीं पायेगा। तुम्हारी बुद्धि भ्रमित हो सकती है, अतः लो तुम्हारी साधुता को देखकर मैं तुम्हें अपने रूप को देखने के लिए दिव्य दृष्टि देता हूँ, उससे मेरे ऐश्वर्यमय रूप को देखो।

यह स्पष्ट हो गया कि चाहे कोई भी युग हो जप, तप, योग से शरीर, मन, बुद्धि को

तपाकर ही आध्यात्मिक शक्ति को पचाने की क्षमता लायी जा सकती है। साधक घर छोड़कर आते हैं, बड़े आतुर दीखते हैं भगवान की झाँकी देखने के लिए, जबकि नवधाभक्ति में नौ अंग, अष्टांगयोग में आठ अंग तथा ज्ञानयोग में छः अंग हैं– तन, मन, वचन एवं हृदय शुद्धि के लिए। इसलिए पातञ्जलयोगदर्शन के साधन पाद में पहला सूत्र है– तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, फिर है यम और नियम, तब है आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इतने बहिरंग–साधन हैं, इसके उपरान्त धारणा, ध्यान तथा समाधि अन्तरंग–साधन में आते ही हैं।

(दिव्यं ददामि ते चक्षुः.....) मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ जिससे मेरे अलौकिक रूप को देखो, ऐसा कहकर भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन की चेतना को समष्टि चेतनारूप, उनकी स्मृति को ब्रह्मस्मृतिरूप तथा उनके व्यष्टिअहम् को समष्टिरूप अर्थात् आत्मरूप कर दिया। उन्होंने स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा को परमात्मरूप होकर अपने चिदाकाश के किसी एक अंश में अनेकानेक दिव्य ब्रह्माण्डसहित इस लोक से भी सूक्ष्म एवं तेजोमयरूप को देखा। संजय अत्यंत सौभाग्यशाली हैं, जिन्होंने स्वयं प्रभु की उस दिव्य झाँकी को देखकर धृतराष्ट्र से कहा–

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त मनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥१४॥

हे राजन्! दिव्य वार्तालाप के बाद परम प्रिय अर्जुन के द्वारा प्रभु के दिव्य रूप को माँगने पर प्रभु ने अपने अलौकिक दिव्य रूप की झाँकी दिखानी प्रारम्भ कर दी। प्रभु ने अपने अद्भुत अनेक रूपों को जो अनेक अद्भुत नेत्रों से युक्त थे तथा दिव्य आभूषणों से अलंकृत, दिव्य वस्त्रों एवं दिव्य मालाओं से सुसज्जित हाथों में अस्त्र–शस्त्रों को उठाये हुए, दिव्यगन्धों का अनुलेपन किये हुए थे– ऐसे विराटस्वरूप को दिखाया। वह ऐसा तेजोमय स्वरूप है कि हजारों–हजार

सूर्य एकसाथ उदित होकर भी उस प्रकाश के सामने किसी महत्त्व के नहीं होंगे। पाण्डुपुत्र अर्जुन ने प्रभु के विराटस्वरूप में ही पृथक्–पृथक् विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत को देखा। उसके उपरान्त अति आश्चर्यचकित होकर अति आनन्दमय होकर धनंजय ने उस विश्वरूप परमात्मा को चरणों में अतिशय श्रद्धा–भक्ति के साथ सिर झुकाकर प्रणाम किया तथा पुनः हाथ जोड़कर प्रभु की वन्दना प्रारम्भ कर दी।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

(पश्यामि देवांस्तव देव देहे.....) अहो आश्चर्य है! आश्चर्य है! आश्चर्य है! हे प्रभु! आश्चर्य है! आश्चर्य है! जिसे मैं जगत समझ रहा था, वह तो पता नहीं कहाँ चला गया! यहाँ तो केवल आप ही आप दीख रहे हैं। हे ज्योतिर्मय सिरवाले, पातालरूपी पैरोंवाले, आदि अन्त और मध्यरूप, शुद्ध सच्चिदानन्दघनमय, चिन्मय रूपवाले! आपमें एक ऐसे ब्रह्म को देख रहा हूँ, जिसमें निर्लेप और साक्षीभाव से एक दिव्य आकृति दीख रही है, जिसे ब्रह्म कहा जा सकता है। जो महदाकाश, भूताकाश, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व हैं; इन्हीं चारों तत्त्वों को पुराणों में ब्रह्मा कहा गया है। हे सनातन पुरुष! जिसे पुराणों में विष्णु कहा गया है, वही यहाँ मुझे द्युलोक और सूर्यलोक के रूप में दीख रहा है तथा जिसे लोगों के द्वारा भगवान शंकर की आकृति सुन रखा

था, जिन्हें मैंने भी 'ॐ नमः शिवाय' के द्वारा प्रकट किया था, वे तो यहाँ दीख ही नहीं रहे हैं बल्कि जल और पृथ्वी का संघातरूप शरीर ही मुझे यहाँ भगवान शंकर के रूप में दीख रहा है। अरे! ये क्या? जो यहाँ पर आत्मज्ञानी संत हैं, वे ही मुझे सिद्धलोकों के रूप में दीख रहे हैं तथा जो उनके आश्रित नानाप्रकार के संशयों से ग्रसित दिव्य सर्प अर्थात् देवजातीय सर्प हैं, जो अपने उद्धार के लिए आये हुए हैं, उन्हें भी मैं देख रहा हूँ। हे जगत्पते! जो इस दिव्य शिवलोक के प्राणी हैं, वे ही आपकी दिव्य भुजायें हैं तथा ब्रह्मलोक के प्राणी सकामी मनुष्यादि ही आपके दिव्य पेट हैं एवं विष्णुलोक की दिव्य आत्मायें ऋषि–महर्षि ही आपके दिव्य नेत्र हैं तथा उनके द्वारा प्रकट होते हुए वेदों के दिव्य मंत्र और छन्द ही आपकी दिव्य वाणी हैं। हे चिन्मय स्वरूपवाले! हे सब ओर से साक्षी और चेतन स्वरूपवाले! मैं न आपका आदि, न मध्य और न अन्त को ही देख रहा हूँ।

(अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं.....) अपने स्वजन ही किसप्रकार अपनी भुजा, मुख, आँख, कान आदि हैं, एक बार पुनः देखें– बाल्यावस्था में अपने स्वजन ही अपनी भुजा हैं; क्योंकि वे सब ही अपने शरीर की सुरक्षा करते हैं। वे ही अपना पेट हैं क्योंकि अपने लिए वे ही धन का उपार्जन करते हैं। वे ही उस समय अपने नेत्र हैं; क्योंकि उन्हीं के दिखाने से देखा जाता है। जिस तरह वे देखने को कहते हैं उसी तरह देखना पड़ता है। वे स्वजन ही अपनी बुद्धि हैं क्योंकि जैसा वे चिन्तन करने को कहते हैं वैसा ही चिन्तन करना पड़ता है, मनन करना पड़ता है। वे ही अपने कान हैं; क्योंकि जो सुनाते हैं वही सुनना पड़ता है। वे सब ही अपने पाँव हैं क्योंकि जहाँ ले जाते हैं वहाँ जाना पड़ता है या अपने लिए ही वे सब इधर–उधर आते जाते हैं। इसप्रकार उत्पत्ति के भाव से वे ही ब्रह्मा हैं, पालन के भाव से विष्णु हैं तथा दण्डविधान से रास्ते पर चलने के लिए बाध्य करने पर शिव हैं।

युवावस्था में अपने स्वजन ही कभी तो ब्रह्मा हो जाते हैं, कभी विष्णु और कभी शिव तथा यही नहीं, कभी वे ही अपना काल बन जाते हैं। विवाह–शादी कराने के कारण वे ही ब्रह्मा होते हैं, पुत्र एवं पुत्रवधू की सुरक्षा करने के कारण विष्णु हो जाते हैं तथा अशिष्ट व्यवहार करनेपर दण्ड देने के कारण वे ही शिव बन जाते हैं। किसी भयंकर रोग के समय सभी एक साथ सुरक्षा करते हैं, इसलिए सभी अपनी भुजाएँ बन जाते हैं, सभी एक साथ चिकित्सालय में ले जाते हैं, इसलिए पाँव बन जाते हैं, रोग के निदान के लिए देवी–देवताओं से प्रार्थना करते हैं, इसलिए सिद्ध, महर्षि एवं देवता बन जाते हैं।

युवा एवं वयस्क अवस्था में वे स्वजन ही अपने आश्रित होकर अपने से अपनी सुरक्षा चाहते हैं, इसलिए उस समय वह पुत्र ही उनकी भुजा, पाँव एवं पेट आदि बन जाता है लेकिन जब वही बालक, युवा या वयस्क अथवा वृद्ध जब भक्तिपथ का पथिक बनता है और स्वजनों से उदासीन होने लगता है तो वे ही स्वजन उसके काल बन जाते हैं, उसके पाप बन जाते हैं, उसके वैरी बन जाते हैं। वे उसके लिए राक्षस बन जाते हैं, वे उसके लिए चोर एवं अपहरणकर्ता बन जाते हैं। उनकी आँखें विभीषण जैसे भक्त के लिए रावण की आँखें बन जाती हैं, उनकी भुजाएँ रावण

की भुजाएँ बन जाती हैं, उनके पाँव रावण के पाँव बन जाते हैं, उनका अहंकार रावण का अहंकार बन जाता है। जब भक्त कुछ विशेष भक्तिभाव में उतरता है, साधन–भजन में कुछ विशेष समय देता है, साधु–संगति विशेष करने लगता है तो वे स्वजन रावण की तरह ही कहते हैं कि हमारे कुल में तुम घमोई रोग (हरे बाँस की जड़ में लगनेवाला रोग) कहाँ से पैदा हो गये। अरे! खिलाए–पिलाए हम, पाले–पोसे हम और आज तेरा सब कुछ भगवान हो गया? फिर सभी स्वजन जो एक समय अपनी भुजा, पाँव एवं पेट आदि बने हुए थे, वे ही अब अपने लिए पापरूप कंस के चलाये बाण हो जाते हैं, पापरूप रावण के पाँव हो जाते हैं, पापरूप हिरण्यकशिपु की गदा हो जाते हैं, पापरूप शिशुपाल की वाणी हो जाते हैं, पापरूप राणा के विष एवं पिटारे में भेजा हुआ विषैला साँप हो जाते हैं, पापरूप असुरों के सिर (अहंकार) हो जाते हैं, पापरूप धुंधुकारी के कुकर्म बन जाते हैं और सब ओर से घेरकर त्रास पर त्रास यानी दुःख पर दुःख देने लगते हैं। कहाँ तक कहा जाय, एक ही व्यक्ति अपने लिए ब्रह्मा है, विष्णु है, शिव है, इन्द्र है, प्रजापति है, सूर्य है, चन्द्रमा है, वही कभी अपने लिए नभास्त्र है, वायव्यास्त्र है, आग्नेयास्त्र है, वरुणास्त्र है, पृथ्व्यास्त्र है, सर्पास्त्र है तथा वही कभी अपने लिए देवता है, राक्षस है, गन्धर्व है, किन्नर है, मनुष्य है, मित्र है एवं वैरी है अर्थात् एक ही व्यक्ति अनुकूलता में अपना मित्र है तो प्रतिकूलता में अपना वैरी है। यदि कोई अपने पाप एवं पुण्यरूपी दोनों शत्रुओं की चाल को, गति को देखे तो एक ही व्यक्ति अनेक रूपोंवाला दिखाई पड़ेगा और उस अवस्था में संसार से निर्मल वैराग्य होते देर नहीं लगेगी। रही बात उन स्वजनों के भगवान की भुजा, नेत्र एवं पाँव आदि बनने की, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि सारे शरीरों के भीतर–बाहर सर्वत्र भगवान विद्यमान है। जबतक जीव उसके शरणागत नहीं हो जाता है तबतक उन्हीं स्वजनों से अथवा पशु–पक्षियों, देवी–देवताओं द्वारा उसे त्रास देता है, दुःख पर दुःख देता रहता है और जब जीव शरणागत हो जाता है तो उन्हीं स्वजनों एवं अन्यान्य प्राणियों से हर प्रकार का सुख एवं सहयोग प्रदान करता है।

महात्मा अर्जुन ने आत्मरूप होकर इस विराटरूप को भी मानो तीन अवस्थाओं– जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूप में देखा। उपरोक्त दो मंत्रों के द्वारा जाग्रदवस्था का वर्णन हो गया।

(किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च.....) अहो! पुनः आपका एक आश्चर्यमयरूप दीखने लगा है जिस रूप में सर्वज्ञतारूप मुकुट चमक रहा है। अहर्निश ॐकार की ध्वनि जो सृष्टि की परम्परा से अबतक प्रतिध्वनित हो ही रही है, उसी को मैं दिव्य शंख समझता हूँ तथा सतोगुणी शक्ति (वैष्णवी शक्ति) को चक्र एवं ब्राह्मी शक्ति को पद्म के रूप में और माहेश्वरी शक्ति को ही गदा के रूप में देख रहा हूँ। इतना ही नहीं, मैं तो ऐसे दिव्य ज्योतिस्वरूप को देख रहा हूँ, जिसमें अपार अग्नि और सूर्य का प्रकाश समा जाय। इस ज्योतिर्मय पुञ्ज को देखना सचमुच में कठिन हो रहा है। आपके इस रूप की उपमा किससे दूँ, यह समझ में नहीं आ रहा है। आप अप्रमेयस्वरूप हैं, जानने योग्य आप ही परम अक्षर हैं, अतः अब मैं जान गया कि एकमात्र आप (ब्रह्म) में ही सारा विश्वरूप निवास कर रहा है। यही नहीं, आप ही सम्पूर्ण गोपनीय धर्म हैं, आप ही सनातन अव्ययरूप हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

(अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं.....किरीटिनं गदिनं.....) महात्मा अर्जुन ने वेदों के तामस तंत्रों को तामस भुजाओं के रूप में, राजस मंत्रों को राजस भुजाओं के रूप में तथा सात्त्विक मंत्रों को सात्त्विक भुजाओं के रूप में भी देखा है; क्योंकि तंत्र–मंत्र एवम् योग से भी सृजन, संहार एवं पालन होते देखा जाता है। मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि साबर तंत्रों के द्वारा बहुत लोगों का अनिष्ट होते आप देखते ही हैं तथा साबर तंत्रों में ही रोग–व्याधि आदि दुःखों का निवारण करने की शक्ति को भी सबने देखा है। राजस पुरुष ही भगवान के अनेकानेक पेट हैं जो सकामी पुरुषों को धन–धान्य से सम्पन्न कर देते हैं। इस पेट के कारण से ही सकामी पुरुष भगवान के ग्रास बनते देखे जाते हैं। तामस भुजाओं के द्वारा भी राजस पुरुषों को ग्रास बनाते देखा जाता है तथा राजस मंत्रों के द्वारा भी तामस पुरुषों का ग्रसन् करते देखा जाता है। वैसे ही सात्त्विक मंत्रों के द्वारा दोनों को ही ग्रास बनाते देखा जाता है। बहुत क्या कहा जाये? एक ही वैदिक मंत्र से किसी को मारकर किसी की रक्षा की जाती है। अतः किसी के लिए वह कालरूप भुजा हो गया तो किसी के लिए पेट हो गया।

दूसरे अर्थ में– अर्जुन ने यह भी देखा है कि जितने क्षत्रियवर्ग हैं, वे भगवान की भुजायें हैं; जो ब्राह्मणवर्ग हैं वे भगवान के सिर हैं; जो वैश्यवर्ग हैं, वे भगवान के पेट हैं; तथा जो सेवकवर्ग (शूद्र) हैं, वे भगवान के अनेक चरण हैं। इसप्रकार जो संतवर्ग हैं, वे भगवान की बुद्धि हैं तथा जो साधकवर्ग हैं, वे भगवान के मन हैं।

काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि भी भगवान के दिव्य तामस मुख और पेट हैं, जो कभी तृप्त ही नहीं होते। वे थोड़ी सी असावधानी में सम्पूर्ण जप, तप, योग को खा जाते हैं। इसीप्रकार तामस एवं राजस माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे भी भगवान के दिव्य पेट एवं मुख ही हैं जो घर में आये हुए किसी भी आत्मा को लगभग ग्रास ही कर जाते हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा इत्यादि भी भगवान के दिव्य पेट हैं जो विषयों से कभी तृप्त होते ही नहीं। दिव्य शब्द इसलिए जोड़ दिया गया है कि देखने में तो आँख है लेकिन विषयों को अपने–आप में संचित करती रहती है इसलिए पेट है। देखने में जो कान है, वह शब्द को जीवनपर्यन्त सुनकर संचित करता रहता है फिर भी भूखा का भूखा रहता है। उसीप्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों को भी समझना चाहिये। दिव्य शब्द इसलिए भी आया है कि इन्हीं आँखों से संतदर्शन करके, कानों से भगवत्कथा सुनकर, वाणी से नाम जपकर, हाथ–पैरों से संतों और सद्गुरुओं की सेवा करके भगवान को भी प्रकट किया जा सकता है। जगत में जितने भी संत हैं वे ही साधक एवं भक्तों के लिए दिव्य वाणी हैं तथा दिव्य मुख हैं। भूत–भविष्य, वर्तमान ही भगवान की दिव्य आँखें हैं, अनेक शास्त्र, पुराण और दिव्य स्मृतियाँ तथा वेद ही भगवान के नेत्र हैं। उपरोक्त जितने नाम लिए गये वे सब के सब भगवान के दिव्यास्त्र भी हैं; क्योंकि भगवान किसी को रोग से मारता है, किसी को विष से मारता है, किसी को भूकम्प से मारता है, किसी को जल से मारता है। किसी को अग्नि से मारता है, किसी को साँप से मारता है, किसी को शेर से मारता है। उसीप्रकार किसी को तंत्र, मंत्र और योग से मारता है। कभी–कभार पिता–माता को मारने के लिए उसका पुत्र ही भगवान का अस्त्र बन जाता है तो कभी–कभी माता–पिता ही पुत्र–पुत्रियों

के काल बन जाते हैं। वैसे ही कभी पति ही पत्नी को मार डालता है तो कभी पत्नी ही पति को मारने के लिए भगवान का अस्त्र बन जाती है जैसा कि आप सब हररोज समाचार पत्रों में पढ़ते ही हैं।

इसप्रकार एक ही व्यक्ति किसी के लिए वाणी है तो किसी के लिए मुख, किसी के लिए भुजा है तो किसी के लिए पेट, किसी के लिए अमृत है तो किसी के लिए विष। जिसप्रकार अपनी माँ अपने लिए माँ है, तो पिता के लिए पत्नी, अपने पिता के लिए पुत्री, सेविका के लिए मालकिन, गुरु के लिए शिष्या, सहेली के लिए सहेली, भिखारी के लिए दात्री आदि बहुत से रूपोंवाली हो जाती है, उसीप्रकार महात्मा अर्जुन ने एक ही ब्रह्म को सम्पूर्ण रूपों में देखा।

(किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च.....) साधक जब समाधि में प्रवेश करने लगता है तो स्थूल शरीर को छोड़कर जब सूक्ष्म शरीर दिव्य लोक को जाने के लिए उद्यत होता है, उस अवस्था में हृदयाकाश से हुंकार भरता हुआ एक नाद प्रकट होता है। जैसे हवाई जहाज पृथ्वी को छोड़कर आकाश में गमन करते समय हुंकार भरता है, उस हुंकार से असंख्य गुना विशेष शब्द गूँजता है, उसी को यहाँ शंख कहा गया है। जब कारण शरीर स्थूल और सूक्ष्म दोनों को ही छोड़ता है उस अवस्था में दिव्य गेरूवर्ण का प्रकाश इतना व्यापक रूप से प्रकाशित हो जाता है कि साधक का रोम–रोम काँप जाता है; किन्तु बहुत बार समाधि लगाने के उपरान्त वह तेजोमय प्रकाश पच जाता है। उसी तेज का इस स्तवन में वर्णन है–

अब महात्मा अर्जुन द्वारा पुनः विराटस्वरूप के स्वप्नमय स्वरूप का स्तवन किया जाता है–

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य–
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं–
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं–
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिःपुष्कलाभिः॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या–

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

हे प्रभु! मैं आपके इसी विश्वरूप में एक दिव्य स्वप्नजगत को देख रहा हूँ, जिसका न आदि, न मध्य और न अन्त ही दीख रहा है। इच्छाशक्तिरूपा दिव्य वासना ही इसमें आपका दिव्य मुख है तथा सूर्य एवम् चन्द्रमा यहाँ पर आपके दो नेत्र हैं। संकल्परूप भुजा के द्वारा तथा दिव्य वासनारूप तेज से मानो सम्पूर्ण जगत को संतप्त कर रहे हैं। हे महात्मन्! जाग्रदवस्था के पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक के बीच का ही यह भाग है, जहाँ आपके नाना रंग–रूप, आकार–प्रकार के सिवा कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है। आपके चिद्विलासरूप भयंकर स्वरूप को देखकर सारे लोग व्यथित हो रहे हैं। सामान्य लोगों की तो बात ही क्या करूँ? जो सात्त्विक पुरुष हैं (देवता), वे भी आपके वासनारूप मुख के ग्रास बने जा रहे हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़कर खड़े हैं कि अब हमारी बारी भी आनेवाली है। हाँ! जो निष्कामी संत हैं वे निर्भीक होकर आपकी मायाशक्ति की क्रीड़ा का दर्शन करते हुए आनन्द में भरकर आपका स्तवन कर रहे हैं। और भी एक आश्चर्य देख रहा हूँ कि जो ग्यारह इन्द्रियों के देवता हैं, जिन्हें पुराणों में रुद्र कहा जाता है तथा बारह महीनों के अधिष्ठाता देवता, आठ वसुओं के अधिष्ठाता देवता आदि और सूक्ष्मजगत के पितरों के समुदाय तथा सूक्ष्मजगत के ही गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय आपको आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं। हे महाबाहो! आपके सब ओर से चेतनरूपी मुख को, सर्वज्ञतारूपी दृष्टि को, संकल्परूपी हाथ को, पृथ्वीरूपी जाँघ को, पातालरूपी पैरों को सब ओर से स्मृतिरूप तथा उत्तरायण एवं दक्षिणायनरूपी दाढ़ों को और आपके विकराल महान चेतनरूप को देखकर सभी के साथ मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। हे प्रभु! यह आपका जगतस्वरूप (विराटस्वरूप) भी अति तेजोमय अनेक वर्णों से युक्त है तथा वासनारूपी फैलाये हुए मुख तथा सत्, रज एवं तम, भूत, भविष्य और वर्तमान, चित्त, अहंकार और बुद्धि, अकार, उकार और मकार तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदरूपी ज्योतिर्मय विशाल नेत्रोंवाला आपको देखकर न मुझे धैर्य हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है।

महात्मा अर्जुन के द्वारा अब विराटस्वरूप के सुषुप्तिस्वरूप का स्तवन सुनें, क्योंकि सुषुप्ति में सम्पूर्ण वासनाओं का प्रलय हो जाता है, वही प्रलयकालीन दृश्य मानो वे देख रहे हैं–

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा–
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा–
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका–
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता–
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं–
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो–
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

अहो आश्चर्य है! हे प्रभु! मैं देख रहा हूँ कि आप काल के रूप में सबका पीछा कर रहे हैं। आपने मानो आकाश से पाताल तक अपने मृत्युरूपी मुख को फैला दिया है। मैं देखता हूँ कि वह फैला हुआ मुख पूरब–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण, ऊपर–नीचे सब ओर दिखाई पड़ रहा है। जैसे फैलाये हुए मुख से अजगर अपनी श्वासों द्वारा अपना आहार खींच लेता है, उसीप्रकार मानो आप भी सम्पूर्ण श्वासरूपी मुखों से सबको अपनी तरफ खींच रहे हैं। हे सनातन परम पुरुष! जब सब आपके ही मुख में जा रहे हैं तो कहीं मैं भी आपका ग्रास न बन जाऊँ, ऐसा सोचकर मेरे हृदय में भी अति भय भर गया है। मन में अति व्यथा भी हो रही है। अहो! आश्चर्य है! आश्चर्य है! कि दिन–रातरूपी दो विशाल जबड़ों में सत्ताइस नक्षत्र तथा योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथिरूपी बत्तीस दाँत जड़े हुए हैं, जिनकी चार–चार पहररूपी विकराल दाढ़ें हैं। इनसे युक्त आपका मुख अति डरावना लग रहा है। एक–एक पलरूपी जिह्वा अपने शरीर के उम्र को चाटे जा रही है। ओह! अबतक तो मैंने इन आपके विकराल दाढ़ोंवाले एवं पलरूपी जिह्वावाले मुखपर विचार ही नहीं किया था। हे प्रभु! अब आप इस कालरूपी मुख से मुझे बचा लें। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से जीवनपर्यन्त आपका ही होकर रहूँगा। मैं आपके एक दिव्य चमत्कार को देख रहा हूँ कि आपके लिए जीवन जीनेवाले भक्तों एवं संतों के पीछे आपका विकराल फैलाया हुआ मुख है ही नहीं। इसलिए वे सहजभाव से प्रसन्न एवं आनन्दित होते हुए आपकी दिव्य क्रीड़ा को देख रहे हैं। अब मुझे विशेष भयभीत न करें नाथ! धैर्य एवं शान्ति दें।

(राग– मल्लार, ताल– रूपक)

दीजिये प्रभु शान्ति धीरज दीजिए।।
नभ स्पर्श किये ज्योतिर्मय, नाना वर्ण समेटिये।।
दीजिये प्रभु शान्ति धीरज.....

मुख फैले विकराल नेत्र से, हे प्रभु हमें न देखिये।।
दीजिये प्रभु शान्ति धीरज.....

भयप्रद विकट कराल दाढ़ यह, अन्तर में अब खींचिए।।
दीजिये प्रभु शान्ति धीरज.....

प्रलयाग्नि सम मुख अग्निमय, परमशान्तिमय कीजिए।।
दीजिये प्रभु शान्ति धीरज.....

हे देवेश प्रबल करुणामय, अब प्रसन्न मन कीजिए।।
दीजिये प्रभु शान्ति धीरज.....

(अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः.....) अरे! ये क्या? ये तो सारे कौरवपुत्र अति भयाक्रान्त होते हुए, बचाओ! बचाओ! बचाओ! ऐसे चिल्लाते एवं रुदन करते हुए आपके इस

विकराल मुख में प्रवेश कर रहे हैं। ओह! यह क्या? ये इच्छामृत्युवाले पितामहभीष्म भी उसी भाँति आपके मुख में जा रहे हैं जैसे द्रोणाचार्य, अहंकारी सूतपुत्र कर्ण तथा दोनों पक्षों के रथी–महारथी, महावीर योद्धा। अब तो देखने में बहुत कठिन हो रहा है; क्योंकि इनमें से कौरवों सहित सभी भूपालों को आप अपने जबड़ों के द्वारा चबा रहे हैं। अब विशेष मत दिखाएँ प्रभु! हाय! अब तो पितामह तथा गुरुदेवसहित कर्ण को एवं मेरे पक्ष के योद्धाओं को भी आप चबा रहे हैं (खाये जा रहे हैं) और इतना ही नहीं, ये जो स्वर्ग की कामना से अश्वमेधादि यज्ञों को किये हुए सतोगुणरूपी उत्तम अंगोंवाले हैं; वे भी इसी कालरूपी गाल के दाँतों में अटके हुए दिखाई पड़ रहे हैं। हे प्रभु! इस समय आपके मुखों में सारे के सारे ये रथी–महारथी वीर बड़े वेग से प्रवेश किये जा रहे हैं; जैसे बहुत सी नदियों का जल अति वेग से दौड़ता हुआ समुद्र में प्रवेश कर जाता है। अथवा जलती हुई अग्नि में पतिंगे अपने–आप दौड़कर जल जाते हैं, वैसे ही ये सारे के सारे लोग अपने नाश के लिए आपके कालाग्निरूपी मुख में प्रवेश किये जा रहे हैं और आप जो हैं अपनी क्षण एवं पलरूप बहुत बड़ी लपलपाती जिह्वा से इनके रक्त को चटनी की तरह वैसे ही चाट रहे हैं जैसे प्रह्लादपति भगवान नरसिंह ने हिरण्यकशिपु का रक्त चाटा था। हे तेजोमय! आपका तेजरूप दाँत सम्पूर्ण दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से सबको तपा रहा है। अब तो आपके प्रथम रूप को देखने के उपरान्त यह जानने की इच्छा हो रही है कि आप इस रूप में कौन हैं? इस रूप में आपका नाम क्या है? मैं तो कुछ का कुछ कह रहा हूँ; किन्तु आप क्या कहते हैं? मैं तो समझता था कि जब आप सगुण रूप में मन को अति मधुर लगते हैं, अति दिव्य शान्ति मिलती है तो फिर निर्गुण–निराकाररूप तो आपका अतिशय आनन्द एवं शान्ति प्रदान करनेवाला होगा। नहीं! नहीं! नहीं! मैंने जो यह कहा उसके लिए आप क्षमा करें क्योंकि संतों एवं भक्तों को तो इस रूप से अति आनन्द एवं शान्ति की प्राप्ति हो ही रही है। यदि इसरूप में आपका दर्शन कर मेरा रोम–रोम काँप रहा है, तो यह सत्य है कि मेरे तन, मन, वचन, में कमी है। हे देवों के देव! मैं तो अब आपकी प्रसन्नता के लिए नमस्कार कर रहा हूँ, अतः प्रसन्न होवें और इस दिव्य और विकराल रूप को बताकर मेरे शोक–संताप को दूर करें।

महात्मा अर्जुन को, उत्तम अंगोंवाले भी भगवान के दाँतों में लटके हुए दीख रहे हैं, इसका तात्पर्य स्वर्ग की कामना से योग, यज्ञ, जप, तप, करनेवाले लोगों से है। जो देवपूजक हैं वे ही जगत में उत्तम अंगवाले माने जाते हैं। जो माता–पिता, बड़े–बूढ़े हैं, उन्हीं को देवता समझकर उनकी पूजा करनेवाले पुत्रों को भी उत्तम अंगवाला माना जाता है। भगवान अधम और उत्तम इन दोनों अंगोंवालों को ही अपना ग्रास बनाता है। श्रवणकुमार उत्तम अंगवाले थे, किन्तु काल ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। अधम और उत्तम अंगवालों से परे एक ब्रह्म अंगवाले भी हैं, जिनका काल के रूप में भगवान पीछा नहीं करता। जबतक आपके हृदय में भय है, चाहे वह मृत्यु का भय हो, चाहे वह किसी भी प्रकार का भय हो, मात्र उस भय के कारण से ही आप उस भगवान के अंगवाले नहीं हैं, इसलिए काल के ही घेरे में हैं।

उधर भक्त संजय इस दिव्य विश्वरूप को देखने में मस्त हैं और धृतराष्ट्र इस अवसर का लाभ न ले पाने के कारण से अति व्यथित हैं। वे बार–बार संजय से इस दिव्य रूप का बखान

करने की माँग कर रहे हैं। वे अनुमान ज्ञान से ही हाथ जोड़कर विश्वरूप भगवान को प्रणाम कर रहे हैं; क्योंकि प्रभु ने उनकी सभा में एक बार विश्वरूप दिखाया था। उस समय इन्होंने देख तो नहीं पाया था; किन्तु हुंकार भरते हुए भगवान नारायण की बात सुनी थी। वही अनुमान यहाँ भी लगा रहे हैं अथवा पूछ रहे हैं कि इस समय जो इनकी वाणी श्रवण कर रहे हों, वह कहाँ से प्रकट हो रही है तथा वे इस समय किस भाँति शोभा पा रहे हैं?

संजय ने कहा– राजन्! आप ये पूछें कि वे कहाँ से नहीं बोल रहे हैं? वे कहाँ से नहीं देख रहे हैं? वे कहाँ से नहीं सुन रहे हैं? उनका आदि, अन्त, मध्य, तो दिखाई ही नहीं दे रहा है। हे राजन्! बस, वे ही वे, दिखाई पड़ रहे हैं। धृतराष्ट्र ने कहा– तो चलो अब ये अर्जुन के प्रश्न का उत्तर क्या दे रहे हैं? ये सुनो–

अर्जुन को अति भयभीत हुआ देखकर प्रभु ने देर नहीं की और अपने नाम–गुण तथा शक्ति–सामर्थ्य को बताना प्रारम्भ कर दिया–

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

(महात्मा अर्जुन के हृदयाकाश से ब्रह्मवाणी हुंकार भरते हुए प्रकट हुई) काल हूँ, काल! मैं काल का भी काल, महाकाल हूँ। हे प्रिय! मैं इन सब लोकों का नाश करनेवाला महाकाल हूँ, पर तुम्हारा काल नहीं हूँ, इसलिए तुम क्यों भयभीत होते हो? इन सबके लिए इस समय मैं ही महाप्रलयरूप स्थिति बन गया हूँ। ये सब मेरे विकराल मुखरूपी महासमुद्र में डूबते–उतराते नाश को प्राप्त हो जायेंगे। तुम ऐसा मत सोचो कि तुम्हारे युद्ध किये बिना ये बचे रह जायेंगे। तुम्हें तो मैंने केवल जगत में प्रतिष्ठा देने के लिए निमित्त बनाया है, किन्तु यदि तुम निमित्त नहीं बनते

हो तो भी इन सभी आये हुए वीरों का अपने कालरूपी मुख के द्वारा ग्रसन कर जाऊँगा। ऐसा जानकर पहले से ही मेरे द्वारा मारे गये और मरे हुये, इन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ तथा कर्णादि महायोद्धाओं को युद्ध में मारकर विजयरूप यश को प्राप्त करो। निश्चित ही तुम इन वैरियों को जीतोगे। इसलिए अब जल्दी करो, गाण्डीव उठाओ और मेरे बहुत भूखे हुए महाकाल, विकराल मुख का इन्हें ग्रास बनाकर मुझे तृप्त कर दो। तुम मात्र धनुष–बाण उठाओ। जगत देखेगा कि तुम युद्ध कर रहे हो, किन्तु भक्त एवं संत स्पष्ट ही देखेंगे कि मैं ही युद्ध कर रहा हूँ; क्योंकि अर्जुन नाम का शरीर मैं हूँ, धनुष मैं हूँ, तरकश मैं हूँ और बाण भी मैं ही हूँ; यह तुमने अच्छी प्रकार से देख लिया है। अतः हे महावीर! उठो और मेरी आज्ञा का पालन करो।

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्' – 'निश्चित ही तुम इस महासंग्राम में विजयी होओगे, अतः उठो, हुंकार भरते हुए युद्ध करो!' भगवान द्वारा इतनी देर के बाद विजयी होने का आशीर्वाद देना अथवा 'विजयी होओगे' ऐसा कहना यह स्पष्ट कर रहा है कि प्रभु ऐसा कहना नहीं चाहते थे किन्तु उन्होंने अर्जुन की इस दुर्बलता की तरफ दृष्टिपात किया कि इन्हें पराजय की शंका भी खाये जा रही है। सच है, जिसने कभी पराजय का स्वाद ही नहीं चखा हो तथा जो देख रहा हो कि उसके सामने भगवान परशुराम से भी लोहा लेनेवाला भीष्मपितामह जैसा महाकाल खड़ा है तो पराजय भी हो सकती है, ऐसी संभावना उसे क्यों न हो। ठीक है, ऐसी संभावना तो निश्चित रूप से बन सकती है किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो विजय की कामना को लेकर उतरना अति दीनता को भी देनेवाला हो सकता है, अधैर्यता को भी देनेवाला हो सकता है, विजय में देर होने पर हतोत्साहित भी कर सकता है। भगवान ने तो सैकड़ों बार कहा है कि आप यदि निर्विषयी के साथ हैं तो निर्विषयी हो ही जायेंगे, अकामी के साथ हैं तो अकामी हो ही जायेंगे, अक्रोधी के साथ हैं तो अक्रोधी हो ही जायेंगे। वैसे ही यदि आप अलोभी, अरागी, अद्वेषी के साथ हैं तो निश्चित ही एक दिन वैसे ही हो जायेंगे। ये सारे के सारे विशेषण तो एकमात्र सद्गुरु के लिए ही हैं, अतः यदि आपको सद्गुरु मिल गया है और आप तन, मन, वचन, हृदय से सम्पूर्ण शरणागत हो गये हैं तो निश्चित ही विजयश्री कभी न कभी आपके चरणों को चूमेगी; फिर आप विजय की कामना करते ही क्यों हैं? दूसरी बात कि जय–पराजय प्रकृतिगत हैं न कि आत्मगत, फिर आप किस विजय की बात करते हैं? आत्मा को तो जय–पराजय स्पर्श भी नहीं कर सकते क्योंकि भगवान ने ही स्वयं दूसरे अध्याय में कह दिया है–

सुखदुःखे समे कृत्वा.....नैवं पापमवाप्स्यसि।

अर्थात् 'सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय को समान समझकर युद्ध करोगे तो पाप लगेगा ही नहीं अर्थात् युद्ध बन्धनकारक होगा ही नहीं।' फिर शोक–सन्ताप की जगह ही कहाँ बचती है? जिस साधक से सद्गुरु ने स्पष्ट कह दिया कि तुम शुद्ध, साक्षी एवं चेतन आत्मा हो तो उसे स्वयं को शरीर मानने का अधिकार ही कहाँ है? इतना होने पर भी क्या आप अपने को शरीर या जीव ही मानते रहेंगे? यदि हाँ, तो सद्गुरु को आप कभी भा नहीं सकते। यदि आप कहते हैं कि अर्जुन के ऐसा होने पर भी वे भगवान को क्यों भा गये तो इसका उत्तर है कि

भगवान को वे भाये (अच्छे लगे) तो किन्तु सूर्यवंशियों की तरह नहीं भाये। क्यों? इसका क्या प्रमाण है कि सूर्यवंशी भगवान को विशेष प्रिय लगे? हाँ, यही कि जिस ब्रह्मज्ञान को भगवान ने अर्जुन को दिया। उसी ब्रह्मज्ञान को सूर्यवंशियों को भी दिया, किन्तु अर्जुन को ब्रह्मज्ञान देकर उनका भौतिक ऐश्वर्य, जो पुत्र होते हैं छीन लिया, वहीं सूर्यवंशियों के पास आत्मजिज्ञासु पुत्रों को ही दिया। एक समय ऐसा आया था कि राजर्षि हरिश्चन्द्र का भी भगवान ने सबकुछ छीन लिया था। धर्मपत्नी को किसी की दासी और पुत्र को किसी का दास बना दिया था तथा उन्हें भी चाण्डाल का सेवक बना दिया था, किन्तु हरिश्चन्द्र का सर्वस्व छीनना उन्हें ब्रह्मज्ञान देकर सर्वस्व देने के लिये था। सभी जानते हैं कि भगवान द्वारा वैसा करना उनकी परीक्षा के लिये था। ब्रह्मज्ञान देकर भगवान ने उनके बाल–बच्चों तथा राज्य को आदर एवं मानसहित लौटा दिया था। राजा मोरध्वज के बच्चे को उन्हीं के द्वारा आरे से चिरवाकर छीन लिया, किन्तु उन्हें ब्रह्मज्ञान देकर उस आत्मजिज्ञासु पुत्र को लौटा भी दिया। स्वयं प्रभु राम ने वानरी सेना के मृत सैनिकों को जीवित कर दिया था किन्तु भगवान के द्वारा अर्जुन के प्रति ऐसा व्यवहार करते देखा नहीं गया। उन्होंने अभिमन्यु सहित अन्यान्य पाण्डुपुत्रों को जीवित तो किया नहीं बल्कि पाण्डव पक्ष के समस्त वीरों, महावीरों को भी धराशायी करा दिया।

यद्यपि भागवतकार महर्षि व्यास अपने पुराणों में लिखते हैं कि 'भगवान जिसे बहुत प्यार करता है उसका वह सर्वस्व छीन लेता है', तो इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि वे अर्जुन जैसे साधकों के लिए कह रहे हैं न कि सम्पूर्ण साधकों के लिए। सूर्यवंशियों की ही बात क्यों करें बल्कि प्रभु ने तो महाराज जनक को भी कुछ भी छीने बिना ब्रह्मज्ञानी बना दिया था। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन जैसी विजय की कामना को लेकर सद्गुरु के शरणागत होनेवाले भक्तों एवं साधकों के साथ ही ब्रह्मज्ञान देने के पूर्व सर्वस्व छीन लेनेवाली बात सिद्ध होती है। भले ही महात्मा अर्जुन पराजय का स्वाद न चखना चाहते हों लेकिन प्रभु ने एक दिन युद्ध के मैदान में कर्ण द्वारा उन्हें पराजित कराकर उस स्वाद को चखने के लिए विवश कर दिया। महाराज को तो इन संदर्भों से अर्जुन के माध्यम से उन्हीं के स्वभाववाले साधक दिखायी दे रहे हैं, जिनसे सद्गुरु कभी–कभार कहता रहता है कि तुम निराश मत होओ अपनी साधना में तुम अवश्य सफल होओगे। छिः! धिक्कार है वैसे साधकों को जो सद्गुरु की प्राप्ति को अपनी सम्पूर्ण विजय नहीं मान पाते। यह तो वैसी ही स्थिति है जैसी सुग्रीव की थी। वह भी भगवान श्रीराम को पाकर बाली से अपनी विजय होने में संदेह कर बैठा था। यही तो कारण है कि महात्मा विभीषण जैसे वह भगवान की आत्मा न बन सका। उसी जगह विभीषण भी तो हैं जिन्होंने भगवान की शरणागति प्राप्त करते ही अपने जीवन को धन्य–धन्य समझ लिया था। खेद है कि सद्गुरु के द्वारा किसी साधक से यह घोषणा कर देने के उपरान्त भी कि तुम अजर, अमर, शाश्वत, सनातन और पुरातन हो तो भी वह अपने परम गुरु के पास अपने जय–पराजय की बात करता ही रहता है, अपनी सिद्धि–असिद्धि की बात करता ही रहता है। वैसे साधकों से ही भगवान ने छठे अध्याय के अंतिम चरण में उनके पुनर्जन्म होने की बात की है अन्यथा सद्गुरु प्राप्ति के उपरान्त तो जन्म–मृत्यु की कहानी ही समाप्त हो जाती है। यह

बात अलग है कि सद्गुरु में परम वात्सल्य होता है जिसके कारण अपने शरणागत शिष्य को येन–केन प्रकारेण वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कुछ भी प्रयत्न करता है।

महाराज तो यह कहना चाहता है कि जिन साधकों को अपने सद्गुरु में सम्पूर्ण भगवत्ता न दिखाई देती हो उन्हें सर्वप्रथम उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए उसकी सेवा–शुश्रूषा या जप, तप, योगादि करना चाहिए। महर्षि वाल्मीकि ने तो यहाँतक कह दिया है कि *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी'* अर्थात् हे राम! जो आपसे भी विशेष अपने सद्गुरु को समझते हैं, आप उनके हृदय में वास करें (भक्तिपक्ष से)। अतः ऐसी सिद्धि के लिए प्राण–पण प्रयास करना चाहिए। यदि सद्गुरु ने यह आश्वासन दिया कि तुम अपने साधनपथ में अवश्य सफल हो जाओगे तो फिर आपका वहाँ महत्व क्या है? भगवान ने शरणागत विभीषण को 'आओ लंकेश! आओ!' कहकर उनकी शरणागति स्वीकार की थी, वैसे ही जो सद्गुरु आपको 'आओ! हे आत्मन्! अविनाशी!' कहकर आपकी शरणागति स्वीकार करता है वैसे सद्गुरु के पास भी आप दीन–हीन बन जाते हैं, यह आपमें शोभा नहीं देता। अतः आप अर्जुन को ही नहीं बल्कि राजा जनक, सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु आदि को अपना आदर्श बनावें।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं–
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

हे राजन्! भगवान केशव से युद्ध करने की आज्ञा पाकर महात्मा अर्जुन को अति विस्मय हुआ। हे पृथ्वीनाथ! आकाशवाणी के द्वारा भगवान नारायण ने भविष्यवाणी भी कर दी कि पाण्डवों की ही विजय होगी; तो भी अतिशय श्रद्धा एवं भक्ति से सम्पन्न दिव्य मुकुट को धारण करनेवाले अर्जुन काँपते हुए दोनों हाथों को जोड़कर, भयभीत हुए बारम्बार प्रणाम करके अब स्तवन करनेवाले ही हैं।

महात्मा अर्जुन ने अपनी आत्मा को पहचान लिया है और अपनी भूल को भी उन्होंने देख लिया है। इसलिए अपनी मूर्खता के कारण से तन, मन, वचन काँप रहा है तथा भगवान की अहैतुकी कृपा का स्मरणकर उनका हृदय गद्गद हो रहा है। बहुत युगों के उपरान्त भक्त अर्जुन ने अपने बिछड़े हुए स्वामी को पा लिया है। अतः अपने हृदय के आह्लाद को, भक्तिभाव से उमड़े हुए आँखों के आँसुओं को वे रोक नहीं पा रहे हैं। प्रभु को पहचान लेने के उपरान्त उन्हें वर्तमान जन्म की कुछ विगत बातें याद आ रही हैं जो उन्होंने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द के साथ की हैं। उन्हीं दुर्व्यवहारों का पश्चाताप करते हुए पुनः दिव्य स्तोत्रों के द्वारा दिव्य स्तवन प्रारम्भ कर दिया है–

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥४६॥

हे हृषीकेश! हे अन्तर्यामिन्! जो कुछ भी देखना था वह देख लिया। अब कुछ देखना शेष नहीं रहा। अब मन को बड़ा यह भा रहा है (अच्छा लग रहा है) कि जगत के लोग आपके नाम, गुण और प्रभाव का जप तथा कीर्तन करते हुए अति आनन्दित हो रहे हैं। आपको एवं आपकी महिमा को जाननेवालों को तो इसप्रकार का व्यवहार शोभा देता है, परन्तु मैं देख रहा हूँ कि अभी भी राक्षसगण भयभीत हुए इधर–उधर भाग रहे हैं; किन्तु जिधर जा रहे हैं उधर आपका ही कालरूप मुख दिखाई पड़ रहा है। अतः वे भागकर बच नहीं सकते तथा यह भी देख रहा हूँ कि सब ओर से सिद्ध संतों के समुदाय आपकी वन्दना करते थक नहीं रहे हैं। ऐसा हो भी क्यों न? क्योंकि आप तो ब्रह्मा के भी ब्रह्मा, विष्णु के भी विष्णु और शिव के भी शिव अर्थात् इन सबकी आत्मा ही हैं। निश्चितरूप से आप सत्, असत् और इन दोनों से परे परम अक्षर परमात्मा ही हैं। मैं यह भी देख रहा हूँ कि आप ही जानने में आनेवाले तथा जाननेयोग्य जगत के परम आश्रय और परम धाम, अनादि, सनातन तथा परम पुरुष हैं। सारा जगत तो आप से ही व्याप्त है। हे आदिदेव! पहले मैंने वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा आदि देवताओं और उनकी शक्तियों को ही आपके स्थान में बैठा रखा था, इन्हीं को परम ब्रह्म परमात्मा मान बैठा था; किन्तु अब तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि चींटी से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश

तक की जो भी कुछ शक्ति है वह आपकी ही है। आपके होने से ही इन सबकी सत्ता एवं सामर्थ्य है। आपको मैंने कभी इस श्रद्धा एवं भाव से प्रणाम भी नहीं किया था तो भी आपने मुझे नहीं भुलाया। भुलाना तो दूर, मुझे आपने अपना अन्तरंग अंग बना के रखा। अतः आज से पूर्व के दिनों में हुई भूल के कारण से ही मैं हजारों–हजारों बार प्रणाम–प्रणाम कर रहा हूँ। हे अनन्त सामर्थ्यशाली! यद्यपि इस समय मैं आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं देख पा रहा हूँ। इसलिए जिस नाम एवं रूप से आप मेरे रथ पर विराजमान हैं, उसी रूप को आगे से, पीछे से, दायें से, बायें से, भीतर से, बाहर से, सब ओर से प्रणाम ही प्रणाम कर रहा हूँ। हे सर्वरूप! यद्यपि आपने कभी मेरे दोष को देखा ही नहीं, अतः क्षमा माँगनेपर आप कहेंगे कि मैं क्यों क्षमा करूँ। अबतक तुम्हारा कोई अपराध मुझे दिखाई ही नहीं पड़ा, किन्तु ऐसा कहने से आपका पीछा मैं नहीं छोड़ूँगा, क्षमा करा के ही मानूँगा। हे प्रभु! आज के पूर्व– 'आओ मित्र आओ, बहुत दिन के बाद याद किया'– ऐसा कहकर भी अपमान किया है। इतना ही नहीं, बचपन में खेल के मैदान में जब आप हमलोगों पर दया और कृपा करने आते थे, तो प्रेमपूर्ण वातावरण के समय 'ऐ यादव! तुम विशेष मत बोलो, विशेष बढ–चढ़कर बोलने से तुम बड़े पूज्य नहीं बन जाओगे।' ऐसा कहकर सैंकड़ों बार प्रमादवश मेरे द्वारा आपका घोर अपमान हुआ है; किन्तु तो भी आपने मेरी मूर्खता पर ध्यान नहीं दिया है। 'ऐ कृष्ण! आओ हम खेल के मैदान में चलते हैं'– ऐसा मैंने हजारों बार पुकारा है। आप चाहे जो कुछ भी कहें, आपकी महान महिमा और स्वरूप को न जानते हुए, प्रमाद या मोहवश, चाहे जैसे पुकारा गया है, वह है तो महा अपराध ही। तो भी आप पूर्व के जन्मों के तुच्छ समर्पण के कारण से उसे विनोद में लेते गये। अरे! इतना ही क्यों! क्रीड़ा–विहार के समय प्रेम और सौहार्द्र के कारण से जब आप मेरी तरफ से खेल खेलना चाहते थे, तो मैं जोर देकर कहता– भैया भीम! इस ग्वाले को अपने साथ रखो और भइया युधिष्ठिर को मेरे साथ आने दो। मुझे हारना स्वीकार है; किन्तु इस छली और कपटी के साथ रहकर विजय स्वीकार नहीं है। पर तो भी मुझ अभागे की जिह्वा को उसी समय आपने नहीं काटा। मैं अधम जब माँ सोने के लिए बिस्तर एक पलंग पर साथ लगाती, तो बहुत बार धक्के देकर आपको बिस्तर से हटाते हुए माँ से कहता– 'माँ! ऐसा न किया करो! इस यदुवंशी के साथ मेरा बिस्तर न लगाया करो', तो भी सुदर्शनचक्र से पता नहीं मेरे मस्तक के टुकड़े–टुकड़े आपने क्यों नहीं कर दिये। इतना ही नहीं, मैं भोजन के समय अकेले में या सखाओं के बीच भी कहता कि माँ, मुझे इस कृष्ण के साथ थाली में भोजन न दिया करो। इसके साथ जूठा खाकर मेरे में भी झूठ, कपट, छल करने का मन करने लगेगा, तो भी आप प्रसन्न होकर ही यह कहते हुए कि लो भैया लो– मैं तुम्हारी शय्या पर नहीं सोऊँगा, दूसरी शय्या पर सो जाते थे। भोजन के समय भी आप कहते कि बूआ! जब ये मेरे साथ खाना नहीं चाहते तो इनके साथ खाना क्यों दे रही हो? और वहीं अलग थाली में आप भोजन करने लगते। ओह! हे प्रभु! माँ तो आपका जूठन खिलाकर ही हमारी बुद्धि को ठीक करना चाहती थी; क्योंकि वह आपको पहचानती थी; पर हे जगत्पते! हे अप्रमेय स्वरूप! अब पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित करने का समय नहीं है, इसलिए मैं उन सम्पूर्ण अपराधों को भी आप से क्षमा कराता हूँ। हे जगत्पते! आप गुरु के भी गुरु तथा पूज्यों

के भी पूजनीय हैं। सम्पूर्ण लोकों में आप जैसा प्रभाववाला तो कोई है ही नहीं, फिर विशेष आपसे कोई कैसे हो सकता है? इसलिए आपके चरणों में दण्डवत्–प्रणाम करते हुए आपके प्रसन्न होने के लिए ही आपका स्तवन कर रहा हूँ। हे प्रभु! पिता जैसे प्रिय पुत्र के, मित्र जैसे प्रिय मित्र के तथा पति जैसे प्रिय धर्मपत्नी के अपराध को सहन करते हुए क्षमा कर देते हैं, वैसे ही आप (प्रभु) अपना भक्त जानकर मेरे सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा करें। पहले तो इस विकरालरूप की कल्पना भी मैंने नहीं की थी। यदि जानता कि मैं मूर्ख इतना कुपात्र हूँ, तो इस रूप का दर्शन करने के पहले, आपसे आपके दिव्य रूप को देखने की शक्ति–सामर्थ्य माँगता। अतः मन से अति भयभीत मुझ व्याकुल हुए को, मूढ़ एवं विक्षिप्त हुए को अपना पूर्वरूप ही दिखायें, जो शिशुपाल, बाणासुर, जरासंध, कालयवन एवं कंस आदि का मान–मर्दन करनेवाला है। हे अदृश्यरूप से गदा, चक्र, वज्र आदि हजारों दिव्यास्त्रों को (जो आपकी भुजायें हैं) धारण किये हुए सहस्त्रबाहो! हे जगतरूप! आप पुनः पूर्व के रूप में ही प्रकट होवें; जिससे मैं धैर्य और शान्ति को प्राप्त होऊँ।

आयें! ब्रह्मरूप हुए अर्जुन के द्वारा देखे गये ब्रह्म की विराटरूप की झाँकी को हमलोग भी चित्राँकित करके देखें, जो साधक–संत भी ज्ञानसमाधि के अन्तर्गत देखते रहते हैं–

समष्टि चेतनाकाशरूपता ही	–	*ब्रह्म का स्वरूप है।*
दिव्य (गेरूवर्ण) ज्योतिरूपता ही	–	*मूल प्रकृति (संकल्पशक्ति) है।*
दिव्य शुभ्रवर्णा ज्योतिरूपता ही	–	*बुद्धि (वैष्णवी शक्ति) है।*
दिव्य लालवर्णा ज्योतिरूपता ही	–	*मन (ब्राह्मी शक्ति) है।*
दिव्य श्यामवर्णा (काला) ज्योतिरूपता ही	–	*व्यष्टि अहंकार अर्थात् शरीरगत मैं (माहेश्वरी शक्ति) है।*
समष्टि दिव्य स्मृति ही	–	*दिव्य सिर है।*
सर्वज्ञता ही	–	*दिव्य मुकुट है।*
भूत, भविष्य, वर्तमान, ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद अ, उ, म्, (प्रणव के तीन अक्षर)	–	*अनेक दिव्य नेत्र एवं वाणी है।*
सब शास्त्र, पुराण, स्मृतियाँ एवं दिव्य ऋषि–महर्षि ही	–	*दिव्य कान एवं दिव्य नेत्र भी हैं।*
आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि ही	–	*अनेक दिव्य मुख हैं।*
सत्ताईस नक्षत्र, योग, लग्न, तिथि ग्रह और वार	–	*ये बत्तीस दाँत हैं।*

चार दिन के पहर एवं चार रात्रि के पहर	–	ये आठ विकराल दाढ़ें हैं।
क्षण तथा पल	–	विकराल जिह्वा है।
दिन और रात	–	उसके दो होठ हैं।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तंत्र, मंत्र, योग, ज्ञान, व्रत, तप और यज्ञ तथा चक्र, गदा, पद्म, वज्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, वायव्यास्त्र, वरुणास्त्र, पृथ्व्यास्त्र आदि तथा नानाप्रकार के रोग ही	–	अनेक दिव्य भुजाएँ हैं।
तामस, राजस, सात्त्विक–इच्छाएँ तथा उत्पत्ति (सृजन), पालन, संहाररूप नानाप्रकार की इच्छाएँ	–	नानाप्रकार के उदर हैं।
सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग	–	दिव्य पाद (पैर) हैं।
प्रकृति के सातवर्ण (प्रकाश) ही	–	अनेक दिव्य वर्ण हैं (ज्योति)।
सूर्यलोक, चन्द्रलोक, उपग्रह, गन्धर्वलोक, किन्नरलोक, यक्षलोक, राक्षसलोक, नागलोक, मुनष्यलोक, पशुलोक, पक्षीलोक, कीट–पतिंगालोक रूप कमलों के समूह की माला जो वायुरूप तागे में पिरोयी हुई है यही	–	गले में मुक्ताहार जैसी दिव्य माला है।
मूलाधार से प्रकट होनेवाली दिव्य सुगन्धि ही	–	उसके शरीर की दिव्य गन्ध है।
सकामी पुरुष ही	–	देवता हैं।
निष्कामी पुरुष ही	–	सिद्ध महर्षि हैं।
एकादश इन्द्रियाँ ही	–	एकादश रुद्र हैं।
मूल प्रकृति से उत्पन्न हुए बारह		

महीनों के बारह अधिष्ठाता देवता ही — अदिति के बारह पुत्र हैं।

पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, द्युलोक
सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र ही — आठ वसु हैं।

यज्ञादि कर्मों से प्राप्त होनेवाला बल और वायु ही
अथवा
वीर्य और वायु ही — इन्द्र तथा प्रजापति हैं।

उसीप्रकार श्लोक १६ से २४ तक विश्वरूप का एक अलग ढंग से वर्णन भी देख लें जिसका वर्णन पुराणों में भी ऐसा ही पाया जाता है। इसी विश्वरूप को श्रीरामचरितमानस में माँ मंदोदरी ने रावण के पास भी उद्धृत किया है। उस विश्वरूप भगवान का–

स्वर्ग ही	—	सिर है
पृथ्वी ही	—	पाँव है
सूर्य एवं चन्द्रमा ही	—	दो नेत्र हैं
दश दिशाएँ ही	—	कान हैं
अग्नि ही	—	मुख है
दोनों अश्विनी कुमार ही	—	दो नाक हैं
वेद ही	—	वाणी है
आकाश ही	—	चिदाकाश है
वायु ही	—	श्वास है
देवता, मनुष्य, पशु–पक्षी तथा तिर्यकयोनियाँ ही	—	तीन प्रकार के लोक हैं
निष्काम राजर्षिगण (भूपाल) ही	—	अनेक भुजाएँ हैं
लोभ	—	होठ हैं
यमराज ही	—	भयानक दाँत हैं
माया	—	हँसी है
उत्पत्ति, पालन, संहार ही	—	क्रिया है
वनस्पतियाँ	—	रोमावली हैं
नदियाँ ही	—	नसें (नाड़ियाँ) हैं

समुद्र ही	—	पेट है
नरक ही	—	नीचे की इन्द्रियाँ हैं
शिव ही	—	अहंकार है
ब्रह्मा ही	—	बुद्धि है
विष्णु ही	—	चित्त है

विश्वरूप के तामस रूप की एक और भी झाँकी को देखें जो श्लोक २२ से २८ तक में संकेत किया गया है–

काम, क्रोध, लोभ, राग–द्वेष आदि ही	—	विकराल प्रज्वलित मुख हैं (जो आकाश तक फैला हुआ है)
सर्वज्ञता एवं दि्व्य–दृष्टि ही	—	विशाल नेत्र हैं
राजस, तामस एवं सात्त्विक प्रकृति ही	—	लपलपाती जिह्वा है
एकादश इन्द्रियाँ ही	—	एकादश रुद्र हैं
बारह महीने ही	—	बारह सूर्य हैं
सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा द्यूलोक सहित चार भूत ही	—	आठ वसु हैं
उनचास प्रकार के तत्त्व (वायु) ही	—	श्वास हैं
सकामी मनुष्य एवं गन्धर्व, यक्ष, राक्षस ही	—	मनुष्य लोक के राजस एवं तामस पुरुष हैं
निष्कामी ही	—	सिद्धों का समुदाय है

तथा अन्य अंगोपांग पूर्व के विश्वरूप का ही अंगोपांग समझना चाहिए।

यही ब्रह्म का ज्ञानमय शरीर आत्मज्ञान के समय दिखाई पड़ता है। आत्मज्ञान के पूर्व इसप्रकार की दृष्टि से देखना तो राजयोगरूप साधन है तथा तदनुरूप हो जाना आत्मज्ञान है। साधकगण अपने अनुसार भी भक्तिपक्ष से इस विश्वरूप की कल्पना कर सकते हैं। रामचरितमानस में मंदोदरी के द्वारा रावण के पास विश्वरूप की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस अध्याय में भी श्लोक सं०– १६ से २४ तक भक्तिपक्ष से विश्वरूप की झाँकी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। यहाँ स्तवन का दो भाग है– श्लोक सं०– १५ से ३१ तक विश्वरूप भगवान का स्तवन किया गया है तथा श्लोक सं०– ३६ से ४६ तक भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द की ही वन्दना की गई है। अतः जो साधक जिस रूप में स्तवन करना चाहें, वे स्वतंत्र हैं। विश्वरूप की उपासना करने से सगुणरूप का स्तवन हो ही जाता है और सगुणरूप की (३६ से ४६) वन्दना करने पर विश्वरूप की वन्दना भी स्वाभाविक ही हो जाती है। इस अध्याय के मंत्रों के द्वारा वन्दना करने पर, अशुद्धि होने पर भी दोष नहीं लगता। चाहे आप स्नान किये हों या न किये हों, चाहे आपने कुछ

भी खाया–पीया हो, तो भी चाहे जहाँ जिस अवस्था में वन्दना करें तो प्रभु का प्रसन्नतारूप प्रसाद आपको मिलेगा ही मिलेगा। संकट आदि के अवसर पर मन ही मन इन मंत्रों के द्वारा प्रार्थना करने पर तत्काल संकट समाप्त हो जाता है।

महात्मा अर्जुन की तरह आपके जीवन में भी विश्वरूप भगवान के अंगोपांग के प्रति हजारो बार प्रतिकूल व्यवहार हुआ होगा। जब आप–अपने बचपन से लेकर अबतक मनुष्य, पशु–पक्षी आदि के प्रति किये हुए व्यवहार को स्मरण करेंगे, तो कब–कब आपके द्वारा अपराध हो गया है, आपको दिखाई पड़ जायेगा। माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र, बाल–बच्चे तथा गुरुजन एवं पशु–पक्षी, सबके सब तो भगवान के ही अंगोपांग हैं। उनके द्वारा प्रतिकूल व्यवहार होना स्वाभाविक हो सकता है, किन्तु आप क्यों बदला लेंगे। यदि आपको भक्ति एवं ज्ञानपथ में प्रवेश करना है, तो सबको मन ही मन भगवान का रूप समझकर उनके द्वारा होते हुए दुर्व्यवहार एवं सद्व्यवहार को सहन करते हुए ही आगे बढ़ना होगा।

अवधेशानन्द कह रहे हैं– फिर अर्जुन से भगवान कौरवों को क्यों मरवाना चाहते हैं? वे भी तो भगवान के ही अंग हुए? इसके उत्तर में महाराज कहता है कि अर्जुन के सामने साक्षात् भगवान हैं और वे कह रहे हैं कि कौरवरूपी मेरी बायीं भुजा में रोग लग गया है, अतः इसकी शल्य–चिकित्सा (ऑपरेशन) कर दो। वैसे ही यदि आपके सामने भी आपका सद्गुरुरूपी ब्रह्म किसी अवसर पर ऐसा करने को कहे तो आप चूकना मत।

अबतक के उपरोक्त मंत्रों का थोड़े में संकेत और भी समझ लें– महात्मा अर्जुन ने भगवान से उनके दिव्य रूप की माँग वैसे ही की, जैसे कि भगवती पार्वती ने भगवान शंकर से भगवान श्रीराम के यथार्थ रूप की माँग की थी। वे कहती हैं– हे प्रभु! राम कौन हैं? दशरथजी के घर में जन्म लिए हुए राम ही क्या नारायण हैं? या निर्गुण–निराकार राम ही ब्रह्म हैं, जिनकी उपासना संतजन रामनाम से किया करते हैं अथवा जो घट–घट में रमण कर रहा है वही राम है? प्रश्न को सुनकर भगवान शंकर हँस पड़े। तब भगवती पार्वती ने कहा कि हे प्रभु! अब पूर्व जन्म की तरह मेरे में संशय नहीं है। मुझे तो श्रीराम का चरित्र सुनने की अति उत्कण्ठा हो गयी है, इसी कारण से मैंने पूछा है। राम यदि निर्गुण हैं तो सगुण कैसे हुए? और सगुण से पुनः निर्गुण कैसे हो जाते हैं? एवं मनुष्यरूप में दिव्य लीला का क्या प्रयोजन था, इसे मैं आपके मुख से सुनना चाहती हूँ। ठीक उसीप्रकार भगवान के सामने अर्जुन का भी प्रश्न है। आध्यात्मिक प्रश्न की परम्परा भी यही है। साधक सद्गुरु के पास ब्रह्मचर्य के नियमानुसार सेवा–शुश्रूषा करता रहे, और जब कुछ माँगना हो तो वह कहे कि गुरुदेव! मुझे यह जानने की कामना है, यदि आप मुझे अधिकारी जानते हैं, तो बताने की कृपा करें। लोग पूछते हैं कि अर्जुन का कैसा आत्मज्ञान है? वे आत्मरूप होकर पुनः जीवरूप हो गये? पहली बात कि उन्होंने तो प्रभु से ब्रह्मज्ञान माँगा नहीं था? और न ही ब्रह्मज्ञान की कामना ही की थी? वे तो कुछ और ही कल्पना कर बैठे थे। वे यह नहीं जानते थे कि मैं आत्मरूप होकर के ही सम शान्त परमानन्द परम पुरुष को देख सकता हूँ। वे जानते थे कि मैं शेष बचा रहूँगा और भगवान के दिव्य रूप को भी देख लूँगा।

जिसप्रकार किसी के तन, मन, हृदय में प्रेतात्मा प्रवेश कर जाता है और वह उस तन, मन, हृदय को अपने अधिकार में करके वर्तमान तथा बीते हुए काल को बताने लगता है (एक मंत्र सिद्ध करके भी मांत्रिक वर्तमान तथा भूतकाल को बताने लगता है, लेकिन भविष्य नहीं बता सकता) और जब वह उस शरीर से निकल जाता है, तब उसकी स्मृति मात्र पुरुष के मन में रह जाती है। उसीप्रकार अर्जुन को नैमित्तिक आत्मज्ञान कराया गया है। प्रभु ने संकल्प कर दिया था और वे आत्मरूप हो गये थे; किन्तु पूर्व की वासना के कारण आत्मरूप होकर नहीं रहना चाहते थे। इसलिए वे भयभीत हो गये कि इसी रूप में मुझे रहना न पड़ जाय; क्योंकि सगुण उपासकों एवं भक्तों को ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिये। वे भक्तरूप में ही अपने भगवान की दिव्य लीला को देखना चाहते हैं। इसलिए अर्जुन के पास से प्रभु निर्गुण–निराकाररूप से मानो हट गये अर्थात् उन्होंने अपना संकल्प हटा लिया। जैसे प्रेतग्रसित की स्मृति बनी रहती है उसीप्रकार आत्मज्ञान की स्मृति अर्जुन को बनी रह गयी। जिसप्रकार स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न को संकल्प से देखता है, उसीप्रकार अर्जुन के मन में विश्वरूपता अब संकल्प से दिखाई दे रही थी।

कोई पूछ सकता है कि क्षत्रिय भगवान की भुजा कैसे हो सकते हैं तथा वैश्य पेट, शूद्र पाँव और ब्राह्मण मुख कैसे हो सकते हैं? इसलिए कि राजतंत्र में प्रजापालनरूप सेवा क्षत्रिय को दी गई है, अतः वे भगवान की भुजा भी हैं। यद्यपि महाराज ने निर्गुण–निराकार की जो झाँकी प्रस्तुत की है उसमें ब्रह्म की अनेक दिव्य भुजायें कोई और हैं; किन्तु भक्तिपक्ष में इन्हें ऐसा भी स्वीकार किया गया है। उसीप्रकार खेती करना, पशुपालन करना वैश्य के लिए सेवा दी गई है, इसीलिए उन्हें ब्रह्म का पेट भी कहा गया है। महाराज के द्वारा पेट का वर्णन किसी और ढंग से किया गया है। शूद्र को अर्थात् सामान्य बुद्धिवाले पुरुष को स्थूल कर्म दिया गया है, जिसे भगवान स्थूल कर्म नहीं मानता। जिसप्रकार प्रभु श्रीराम के हनुमान एवं अंगद पाँव हैं, क्योंकि ब्रह्म इन्हीं पावों से गमन करता है। जब रावण के दरबार में अंगद ने पाँव टेक दिया, तो अन्ततोगत्वा रावण उनके पाँव को हटाने आया और अंगद ने वहाँ से पाँव हटा लिया। एक बात जानना चाहिए कि पाँव अंगद ने नहीं हटाया, भगवान की वहाँ प्रेरणा हुई और उन्होंने पाँव हटा लिया। प्रभु श्रीराम अपने पैरों में ब्राह्मण को कभी हाथ नहीं लगाने देंगे। इसीलिए तो अंगद ने कहा था कि जाओ श्रीराम को प्रणाम करो।

अभयानन्द कह रहे हैं कि मेघनाद ब्राह्मण नहीं था क्या? हाँ; यह बात भी ठीक है– 'नराणां च नराधिपम्' (मनुष्यों में मैं राजा हूँ, गीता अध्याय–१०) के अनुसार राजा में साक्षात् ब्रह्म का अंश होता है। चूँकि रावण ब्राह्मण भी है और राजा भी है इसलिए उसके साथ भगवान श्रीराम पूज्य का ही व्यवहार करेंगे। रही बात मेघनाद की तो वहाँ पर वह केवल एक प्रजा का अंग है। उसने क्षत्रियों के सम्पूर्ण गुणों को धारण कर लिया है, इसलिए भी भगवान वहाँ विशेषाधिकार का प्रयोग कर रहे हैं। कहीं–कहीं विशेष चुनौती के लिए विशेष धर्म को भी धारण करना पड़ता है। प्रभु श्रीराम ने सोचा यदि मेघनाद यहाँ पैर को नहीं हिला सकता तो सभासदों में यह स्पष्ट हो जायेगा कि रावण भी टस से मस नहीं कर सकता है; क्योंकि रावण देवराज इन्द्र से पराजित हो चुका था और बंदी भी बना लिया गया था, जिसे मेघनाद ने इन्द्र को बन्दी

बनाकर छुड़ा लिया था तथा पुलस्त्य ऋषि के कहने से उसने इन्द्र को छोड़ा था। हनुमानजी भी भगवान श्रीराम के पाँव हैं। सभी जानते हैं कि वे प्रभु श्रीराम के वाहन भी हैं। यज्ञशाला के स्थूलकर्म, जैसे यज्ञशाला का मण्डप बनाना, यज्ञशाला का कुण्ड खोदना, यज्ञशाला की वेदी का निर्माण करना– ये सब शूद्र (सेवक) ही तो करते हैं। इसीप्रकार ब्राह्मणों को जप–तप, यज्ञादि के द्वारा, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की रक्षा करने की सेवा दी गई है। इसलिए वह ब्रह्म का मुख (वाणी) कहा गया है। ये चारों भगवान के चार मुख्य अंग हैं, जो भक्तिपक्ष के विश्वरूप की कल्पना के अन्तर्गत आयेंगे। महाराज के द्वारा वर्णित इन चारों अंगों का आंशिक संकेत दिया गया है; क्योंकि एकादश अध्याय का विश्वरूप ज्ञानमयरूप है। चूँकि यह अध्यात्मशास्त्र है। महाराज अब वर्णव्यवस्था को महत्त्व नहीं देता; क्योंकि सैद्धान्तिक संकरता सभी वर्गों में आ गयी है, सभी सबके कर्म को करने लग गये हैं; जबकि एक कर्म इन चारों के लिए था, वह है भगवान की उपासना, अन्य कर्मों में विभाजन था।

भगवान मानो कह रहे हैं कि यहाँ पर ये सब महावीर योद्धा मेरी ही भुजायें हैं; किन्तु इन भुजाओं में ऐसा रोग हो गया है कि इन भुजाओं को काटने के सिवा और कोई चारा नहीं रह गया है; क्योंकि ये घोर अत्याचारी एवं विलासी हो गये हैं। यह सत्य ही है कि भगवान का यहाँ कहा हुआ अन्यथा नहीं है, क्योंकि सहस्त्रार्जुन के समय उसके सहित बहुत से क्षत्रिय विलासी हो गये थे, जिनका भगवान परशुरामजी ने वध कर दिया था। रावण, बाली आदि भी उसी दशा को प्राप्त हुए। महाराज के अन्दर एक पहेली आ रही है कि अर्जुन के मन में यह भी हो रहा है कि पितामहभीष्म जैसा धर्म का सूक्ष्मज्ञाता, द्रोणाचार्य जैसा धनुर्वेदाचार्य, जो इस धरा की विभूति हैं, वध के योग्य नहीं हैं; किन्तु उन्हें यह भी जानना चाहिए कि जब रावण की बीस भुजा कटती थी तो पुनः बीस उस जगह नयी प्रकट हो जाती थी। इस न्याय से भीष्म जैसी भगवान की भुजा कटेगी तो उस भीष्म जैसे अनेकों भीष्म प्रकट हो जायेंगे। वैसे ही एक द्रोणाचार्य का वध होगा तो उनके जैसे असंख्य द्रोणाचार्य प्रकट हो जायेंगे। वैसे भी वे सब के सब परस्पर में अपने बदले की भावना से युद्ध के मैदान में आये हुए हैं। द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, जयद्रथ, शकुनि, कर्ण आदि योद्धा भी अपने वैरभाव का बदला चुकाने के लिए इस युद्धभूमि में आये हुए हैं। इसप्रकार वैसे लोगों के लिए तो यह धर्मयुद्ध है ही नहीं।

साधक हो या भक्त जबतक वे भगवान के घेरे में नहीं आ जाते तबतक उन्हें बहुत सावधानी से रास्ते पर चलना चाहिए। सत्संग के द्वारा भक्तिपक्ष एवं ज्ञानपक्ष के स्वरूप को भलीभाँति सद्गुरु के द्वारा निर्णय करा लेना चाहिये; अन्यथा महात्मा अर्जुन की दशा हो जायेगी; भगवान कभी कृपा करेगा और साधक डर जायेगा। अनन्य भक्ति का अभाव होने से भक्ति और ज्ञान को धारण करने में भार प्रतीत होता है। अर्जुन तो दिव्य झाँकी देखकर वैसे ही डर गये, जैसे तामसी प्रकृति का छोटा सा बालक संत को देखकर रोते–चिल्लाते भाग खड़ा होता है।

जंगल में एक साधक विश्राम कर रहा था, आधी रात थी। भगवान संत के वेष में कृपा करने आ रहे थे। आहट सुनकर उन्हें चोर समझते हुए साधक भाग खड़ा हुआ और किसी झाड़ी

में जाकर छिप गया। दूसरी रात्रि में डरकर गाँव के मठ में चला गया। भगवान ने रात्रि में स्वप्न दिया कि, हे भक्त! तुमने तो मुझे रात्रि में चोर ही समझ लिया था। तुम रोते–कलपते प्रार्थना करके सोये थे कि प्रभु मेरे कब आओगे? इसलिए मैं आया था। अब पुनः तुम मेरे आने की भरपूर तैयारी करो। तीन साल के उपरान्त मन्दिर में भगवान साँप बनकर फुफकारते हुए आ गये। भक्त पुनः भाग खड़ा हुआ और सोचने लगा–डण्डा उठाकर इसे मारना चाहिये। भगवान पुनः चले गये। सपने में प्रभु ने कहा– हे भक्त! कृपा करने की मैं तो भूमिका बना ही रहा था कि तुम मुझे साँप ही समझ बैठे तथा मारने की योजना ही बनाने लगे, फिर तुम्हें अपनी अहिंसा याद आई और मरवाने के लिए दूसरे को बुलाने लगे। अतः तुम सबको पहले भगवान के रूप में देखो। इसप्रकार तुम फिर मेरे दिव्य रूप को पाओगे।

विश्वरूप से भयभीत हुए महात्मा अर्जुन की प्रार्थना सुनकर भगवान नारायण ने अर्जुन को संतोष एवं धीरज बँधाते हुए कहा–

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं–
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं–
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै–
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो–
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं–
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

अर्जुन के हृदयाकाश में ब्रह्मवाणी गूँज उठी कि हे पार्थ! मैंने अतिशय प्रसन्न होकर अपनी महत् योगशक्ति के द्वारा तुम्हें अपने दिव्य तेजोमय विराटस्वरूप को दिखाया है, जिसे (इस रणभूमि में आये हुए) किसी भी योद्धा ने नहीं देखा है; क्योंकि न विशेष वेदों के स्वाध्याय से, बहुत से अश्वमेधादि यज्ञ करने से, बहुत दान देने से, बहुत सी क्रियाओं के करने से और न ही घोर तप करने से ही, तुम्हारी तरह किसी अन्य के द्वारा मैं देखा जा सकता हूँ। अतः तुम्हें मूर्खतावश भयभीत नहीं होना चाहिए। मैंने तो सोचा कि तुम्हें मैं अपने जैसा ही बना लूँ; किन्तु अभी तुम राजी नहीं हो, जबकि कभी भविष्य में तुम्हें इसी रूप की कामना करनी पड़ेगी। अतः

अभी लो! मेरे पूर्व के रूप को ही अपना बना लो।

संजय ऐसा देखकर आश्चर्यचकित हो गये। भगवान की कृपालुता, दयालुता एवं क्षमाशीलता का अनुभव करके वे आश्चर्यचकित होकर अति आनन्दित हो गये हैं (तभी तो धृतराष्ट्र के साथ युद्धोपरान्त उन्होंने भी संन्यास ले लिया है) और बोले–

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

हे राजन्! वासुदेव भगवान ने अर्जुन से ऐसा कहकर अपने पूर्व के सम शान्तरूप का दर्शन कराया और अर्जुन को धीरज बँधाया। उसके उपरान्त अर्जुन ने कहा–

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

हे प्रभु! आपके सम शान्त स्वरूप को देखकर मैं स्वस्थ चित्त हो गया हूँ। यद्यपि मुझे डरना नहीं चाहिए था; किन्तु क्या करूँ? कल्पना तो किसी और सौम्य एवं शान्तरूप की थी, पर देखने को कोई और ही रूप मिल गया। प्रभु ने हँसी की कि क्या तुम ऐसे रूप को चाहते थे, जो तुम्हे संन्यास की आज्ञा दे दे? वन में इसप्रकार कहकर जाने दे कि हे पार्थ! जाओ! जाओ तुम संन्यासी बनो और अपने सम्पूर्ण कुल–परिवार का उद्धार करो!

अर्जुन ने कहा– नहीं! नहीं! नहीं! हे प्रभु। आप ऐसा कहकर लज्जित न करें। अब तो मैं आपका हो गया हूँ। अब आप ही मेरे लिए घर हैं, वन हैं, योग हैं, जप हैं और तप हैं।

प्रभु ने कहा– यदि ऐसा है तो सुनो–

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

जिस दिव्य रूप को तुम नहीं देख पाये, उसे देखने के लिए साधक एवं संत सदा लालायित रहते हैं और उनकी अनन्य भक्ति को देखकर ही उन्हें मैं यह रूप दिखाते आया हूँ। वर्तमान और भविष्य में भी अनन्य भक्तों को ही इस रूप का दर्शन कराऊँगा। हे पार्थ! जिन्हें अपने योग, यज्ञ, तप और पाण्डित्य का अभिमान होगा, उनके लिए तो यह दिव्य रूप अति दुर्लभ है। इसलिए आज से सारे जगत से अनासक्त होकर तथा सम्पूर्ण भूतों से वैरभाव छोड़कर, मेरे आश्रय होकर, मेरी प्रसन्नता के लिए ही, मेरी आज्ञानुसार कर्म करो। इसप्रकार निश्चितरूप से पुनः आत्मरूप होकर मेरे इस दिव्य तेजोमय विश्वरूप का दर्शनकर, इसी में प्रवेश कर जाओगे; क्योंकि यह मेरा दिव्य रूप ही जानने योग्य है तथा दर्शन करने योग्य है और आत्मरूप होकर विश्वरूप होने योग्य है।

साधकों एवं भक्तों को प्रभु का यह दिव्य संदेश और उपदेश है कि जगत में यह शाश्वत परम्परा है कि सभी प्राणी अपने प्रिय को अपने अनुसार चलाकर ही प्रसन्न होते हैं। पिता–माता चाहते हैं कि पुत्र–पुत्री मेरे अनुसार चलें, पति चाहता है कि पत्नी मेरे अनुसार चले, धर्मपत्नी चाहती है कि पति मेरे अनुसार चले; हित, मित्र आदि सभी परस्पर में ऐसा ही चाहते हैं। पशु–पक्षियों में भी यह व्यवहार देखा जाता है। भगवान ने सोचा कि इसप्रकार का झंझट तो सबमें बना ही रहेगा, क्योंकि जीव कभी भी किसी जीव का पूरा का पूरा अनुसरण नहीं कर सकता और न ही आज्ञा में चल सकता है। इसलिए भगवान ने अपना हो जाने की बात की है। जब सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों से निर्वैर होने की बात करते हैं, तो इसलिए कि कोई भी प्राणी सुख और दुःख का दाता नहीं है; बल्कि जब जिस प्राणी से प्रतिकूल व्यवहार होता है तो वहाँ पूर्व का अपना ही कर्म एवं भाव रहता है, व्यक्ति मात्र निमित्त रहता है। अर्जुन के लिए राग–द्वेष से रहित होकर युद्ध करना कठिन जान पड़ रहा है, इसलिए अब वे पुनः भगवान की प्रसन्नता के लिए सुगम साधन की बात पूछने की स्थिति में हैं।

संजय के द्वारा भगवान की दिव्य वाणी सुनकर धृतराष्ट्र को भी बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने संजय से कहा– निर्वैरी होकर संसार में जीना गृहस्थाश्रमी साधक एवं भक्तों के लिए अति कठिन है। इस विषय में संजय तुम क्या कहते हो?

हाँ पृथ्वीनाथ! यह बात मेरे पल्ले भी नहीं पड़ रही थी, किन्तु विश्वरूप दर्शन के उपरान्त बात बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है। यहाँ तो अपने स्वरूप से प्रेम करना है और अपने स्वरूप से युद्ध करना है। अपने ही शरीर का वध करना है और अपने ही शरीर का सृजन करना है। अतः निर्वैर होना, भगवत्कृपा हो जाये तो कठिन नहीं भी है। दूसरी बात कि कोई शाम की संध्या में नींद ले रहा है और सपने में अपने मित्र को गधे पर बैठकर दक्षिण दिशा की तरफ जाते देख

रहा है, तो वह सूक्ष्मबुद्धि से जान जाता है कि मेरा मित्र साल भर होते–होते मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मजगत में घटना पहले घट गई रहती है और स्थूलजगत में बाद में घटती है। यही दृश्य यहाँ पर पाण्डव पुत्र अर्जुन ने देखा है। अतः अब अपने स्वजनों से उत्पन्न हुआ अर्जुन के मन का क्षोभ लगभग जा चुका है इसलिए वे राग–द्वेषरहित होकर युद्ध करेंगे। अच्छा तो हे राजन्! आप थोड़ा ठहरें, क्योंकि महात्मा अर्जुन भगवान से इसी विषय में कुछ पूछ भी रहे हैं–

महाराज ने इस एकादश अध्याय के विश्वरूप के स्वरूप को पद के रूप में गाया है, जिसे गाकर आप इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त कर सकते हैं।

(राग–यमन)

अहह धन्य सचराचरमय प्रभु, सकलरूप तेरो दिव्य सो भावत।
ब्रह्मा विष्णु शिव तेरे हिय, दिव्य–दिव्य सो जग उपजावत।।
अहह धन्य सचराचरमय.....

किन्नर नाग सब ऋषि महर्षि, दीखत मन कहुँ सुख न समावत।
गावत इन्द्रादिक स्तुति तव, असुर समूह को भय बहु आवत।।
अहह धन्य सचराचरमय.....

सकलवीर ये तव मुख प्रविशत, काल मुखन्ह सों सबरे खावत।
देखत हौं सब ओर से व्यापक, आदि अन्त कहुँ थाह न पावत।।
अहह धन्य सचराचरमय.....

शरणागत हौं तव चरणन्ह महँ, क्षमा करो यह भय उपजवात।
हो प्रसन्न प्रभु तब अर्जुन कहँ, पूर्व रूप हो धैर्य बँधावत।।
अहह धन्य सचराचरमय.....

निर्वैरी हो मम शरणागत, हे अर्जुन एहि रूप को ध्यावत।
महाराज प्रभु भक्त मिलन सुख, गाइ गाइ अद्‌भुत सुख पावत।।
अहह धन्य सचराचरमय.....

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ द्वादशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

भक्त अर्जुन ने प्रार्थना की कि हे प्रभु! जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार से निरंतर आपके भजन–ध्यान में लगे रहकर आपके विश्वरूप (सगुण–साकार) की उपासना करते हैं और दूसरे जो केवल अविनाशी, निर्गुण–निराकार ब्रह्म की ही परम श्रद्धा से उपासना करते हैं; उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम उपासक (योगवेत्ता) कौन है?

महात्मा अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के उपरान्त यह समझते देर न लगी कि जिसे मैं एक महान शक्तिशाली योगपुरुष मानता था, वे तो महर्षि व्यास, शुकदेव, विदुर, उद्धव तथा भगवती स्वरूपा गोपियों एवं गणिका, अजामिल, गिद्ध आदि के परमाराध्य साक्षात् भगवान नारायण हैं। उन्होंने यह भी जान लिया कि जैसे जल ही बर्फ बनकर पुनः जलरूप हो जाता है, उसीप्रकार ये ही निर्गुण–निराकाररूप से ही विश्वरूप तथा विश्वरूप से वासुदेवरूप हो गये हैं जो अपने परम प्रिय भक्तों एवं संतों का उद्धारकर पुनः निर्गुण–निराकाररूप हो जायेंगे। अतः जैसे शिवोपासक उनकी सगुण मूर्ति का ध्यान करते हैं, विष्णु भगवान के उपासक उनकी मूर्ति का तथा देवी के उपासक देवी की मूर्ति का ध्यान करते हैं, श्रीरामजी के उपासक श्रीरामजी के सगुणरूप का ध्यान करते हैं तथा वे सब अपने–अपने इष्ट की आज्ञानुसार ही चलते हैं, उसीप्रकार इनको भगवान मानने या जाननेवाले इन्हीं के रूप का ध्यान करते हैं तथा इन्हीं के नाम–गुणों का कीर्तन करते हैं। अतः मुझे भी आज्ञा तो इन्हीं की पालन करनी है, किन्तु ध्यान और पूजा इनके सगुण–साकार तेजोमय विराट स्वरूप का करूँ या निर्गुण–निराकार ब्रह्म का, यह इन्हीं से निर्णय कराऊँगा– यह सोचकर ही उन्होंने ऐसा प्रश्न किया है।

अबतक महात्मा अर्जुन ने सगुण–साकाररूप में मात्र भगवान विष्णु, शिव तथा देवी आदि की ही उपासना करने के विषय में शास्त्रों में पढ़ा था तथा सुन भी रखा था। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने पुराणों एवं शास्त्रों में विश्वरूप को भी पढ़ा था लेकिन निश्चितरूप से विश्वरूप पर ध्यान नहीं दिया था। विश्वरूप का वर्णन तो सभी पढ़ते भी हैं परन्तु उसकी उपासना कोई विरले ही करते हैं; क्योंकि जगत में विष्णु, शिव, देवी आदि की मूर्ति का ध्यान एवं निर्गुण निराकार

का ध्यान, ये दो ध्यान ही विख्यात हैं। तीसरा जो विश्वरूप का ध्यान है उसपर व्याख्यान देनेवाले भी प्रकाश नहीं डालते; क्योंकि यह विराटरूप का ध्यान सर्वसाधारण के लिए है ही नहीं। अर्जुन जैसा अधिकारी भक्त ही इस विश्वरूप की उपासना के योग्य होता है। आमव्यक्ति संसार को एक दिव्य पुरुष समझेगा भी कैसे? उसके पास कहा जाय कि आकाश उसका सिर है तो कहेगा कि उसमें हड्डी (खोपड़ी) तो है ही नहीं, उससे कहा जाये कि पृथ्वी पाँव है तो कहेगा कि उँगलियाँ, घुटना और चमड़ा, मांस तो दीख नहीं रहा है; उससे कहा जाय कि सूर्य–चन्द्रमा उसके नेत्र हैं तो कहेगा कि अच्छा–अच्छा तो गर्म प्रकाश और ठंडा प्रकाश उसके नेत्र हैं लेकिन कभी किसी को तो वह दीखता ही नहीं है; उन दोनों से तो गर्म–ठंडा प्रकाश ही दिखाई पड़ता है। उससे कहा जाय कि समुद्र उसका पेट है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है तो कहेगा– बस, बस रहने तो दें, हो गयी आपकी बात मैंने सुन ली– समुद्र यदि पेट है तो क्या पचाता है, क्या खाता है, कहाँ मैला फेंकता है, उसमें आँतें कहाँ हैं? इत्यादि–इत्यादि। इसीलिए उन सर्वसाधारण को नामजप और प्रभु श्रीराम, कृष्ण, दुर्गा, सरस्वती, भगवान विष्णु एवं शंकर आदि की प्रतिमा की आराधना, साधना, ध्यान, भजन करने को कहा जाता है क्योंकि पिण्ड का ध्यान करते–करते कालान्तर में ब्रह्माण्ड का ध्यान स्वतः होने लगता है। जैसा कि महात्मा अर्जुन ने भी इसप्रकार का ध्यान भगवान शंकर आदि की उपासना के समय किया भी है, किन्तु प्रभुकृपा से अब इन्होंने आत्मरूप होकर इस दिव्य विश्वरूप को देख लिया है और 'मया ततमिदं सर्वं.....' के द्वारा अहं ब्रह्मास्मि, सर्वाहमस्मिरूप भाव से निर्गुण–निराकाररूप की उपासना के विषय में भी अच्छीप्रकार से सुन लिया है; जिसकी साधना– "नैव किञ्चित्करोमीति" के अनुसार पाँचवें अध्याय में, "न जायते म्रियते वा कदाचिन्" के अनुसार दूसरे अध्याय में, "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" के अनुसार छठे अध्याय में, "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय" के अनुसार सातवें अध्याय में, "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" के अनुसार आठवें अध्याय में दी गयी है। अतः उनको दोनों रूप ही प्रिय लग रहे हैं। इसलिए इन दोनों साधनाओं में किसका त्याग करें, किसको ग्रहण करें, यह ऊहापोह की कल्पना स्वाभाविक ही उठ रही है। अतः प्रश्न करना भी स्वाभाविक है। इसी का उत्तर अब भगवान ने भी उनके साथ–साथ जगत–हितार्थ देना प्रारम्भ किया।

महात्मा अर्जुन के मन में भगवान की एक–एक बात पर आन्दोलन हो जाता है और प्रश्न खड़ा कर बैठते हैं अर्थात् उनके मन में प्रश्न खड़ा हो जाता है जिसका समाधान प्रभु उनके बिना पूछे ही करना प्रारंभ कर देते हैं। भगवान भी जान रहे हैं कि इसे निर्गुण–निराकाररूप में प्रीति हो गयी है तभी तो संन्यास लेने की कामना बार–बार उठ जा रही है लेकिन भगवान सब ओर से पुनः–पुनः घेरकर उन्हें कर्मयोगी बनाकर अपना काम सिद्ध कराने की सोच रहे हैं जो जगत–हितार्थ होते हुए भक्त अर्जुन के हित में भी है। भगवान ने भी दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ संतों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। इतना ही नहीं पाँचवें अध्याय में तो इतना तक कह दिया कि वे ज्ञानयोगी तत्त्ववेत्ता नौ दरवाजोंवाले शरीर में सुखपूर्वक रहते हुए न कुछ करते हैं, न किसी से कुछ करवाते हैं। अतः ऐसा सुनकर अर्जुन मन में क्यों न सोचें कि फिर कौन सी साधना श्रेष्ठ

है– सगुण या निर्गुण? महात्मा अर्जुन ये भी सोच सकते हैं कि इन्हें अपना काम सिद्ध कराना है इसलिए भी तो विश्वरूप की उपासना (सगुण साधना) श्रेष्ठ बता रहे हैं। अतः मन में प्रश्न खड़ा हो ही गया कि पहले तो आप निर्गुण–निराकार का ही गीत गा रहे थे और अब आपने सगुण उपासना श्रेष्ठ क्यों कहा?

पुष्करानन्द का कहना है कि इतना विस्तार क्यों किया गया है? महाराज ने कहा– क्यों न किया जाय? किसी भी सन्दर्भ को घेरा जाता है– आक्षेप के बाद आक्षेप, आक्षेप के बाद फिर विक्षेप लाया जाता है। यहाँ पर अध्यात्म में ऐसा नहीं है जैसा कि आपका साहित्य है। थोड़े में तो कभी समझ में आयेगा ही नहीं। जैसा आप चाहते हैं कि थोड़े में ही समझ लें तो ऐसा कभी हुआ ही नहीं। योगवासिष्ठ को देखें विस्तार कितना है। आपके पास न आध्यात्मिक वाणी है, न मुख है, न आँख है, न कान है कि जिसके द्वारा आप प्रवेश करें उस अध्यात्म में। विस्तारित मायावाद को विस्तारित ज्ञानवाद से ही खंडित किया जाता है, छिन्न–भिन्न किया जाता है। कामी का उपन्यास पढ़ने से मन नहीं ऊबता है, क्योंकि काम को घेर–घेरकर ला देता है वह। हर वाक्य में उसका प्रयत्न रहता है कि काम को लाकर स्थापित कर दे। प्रत्येक झाँकी में कामिनी होगी और उस कामिनी को चाहनेवाला कामरूप पुरुष होगा, उसकी ऐसी योजना है। वैसे ही ब्रह्म की योजना होती है कि वह घेरकर ब्रह्मविद्या की स्थापना करे। बुद्धिमानों के लिए तो कोई ग्रंथ होता नहीं, ग्रंथ होता है भक्तों के लिए, भगवान होता है भक्तों के लिए और भक्त कभी ऊबता नहीं है, आखिर थोड़े में पढ़ लेंगे तो करेंगे क्या आप। एक संत ने एक साधक को कहा कि ये झाड़ी काटो आप। जगह–जगह पर दस जगहों में झाड़ियाँ थीं। वह उठा चार घण्टे में बहुत झाड़ी काट दिया, तो संत ने कहा कि 'यदि आप चार ही दिन में सारी झाड़ी काट देंगे तो फिर पाँचवें दिन क्या करेंगे? आपके लिए सेवा कहाँ से लायी जायेगी? यहाँ तो अन्य कोई सेवा है नहीं, चार घण्टे की आवश्यकता क्या है। जितना कहा जाय उतना ही करें। कहा गया था कि बीस–पच्चीस मिनट ही झाड़ी काटना किन्तु आपने तो सब काट दिया! ये झाड़ी काटने के लिए नहीं है आपकी सेवा के लिए है। वे पत्थरों में लगाए रखते थे साधकों को, जो निर्गुण–निराकार की साधना करता था उसको नहीं, जो साधना नहीं कर पाता था उसको। कहते थे– पत्थर को यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ लाओ, खाली बैठना मत, खाली मन शैतान का। आत्मानन्द बैठे नहीं रहेंगे जीवन में, समय नहीं है उनके पास। उसीप्रकार विस्तार से बताया जाता है किसी संदर्भ को; क्योंकि माया विस्तार से प्रवेश कर गई है आपमें।

(.....ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्– गीता अ० सात) निर्गुण–निराकारोपासक अर्थात् ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही हैं, ऐसा प्रभु ने यहाँ अब सर्वसाधारण भक्तों एवं साधकों को दृष्टिपथ में रखकर कहा है। ज्ञानयोगी साधक तो अपवाद में पाये जाते हैं, जो संन्यास लेकर अपने स्वरूप में निरंतर रहने का प्रयोग प्रारम्भ कर देते हैं। ज्ञानयोग में क्रिया नहीं बल्कि दर्शन ही शेष रहता है। अतः क्रियापरक भक्त एवं साधक सहसा दर्शन में उतर नहीं सकते– क्यों नहीं उतर सकते? इसका उत्तर अब भगवान के द्वारा सुनें। (विश्वरूप की उपासना के साथ–साथ यहाँ सगुण–साकाररूप में भगवान श्रीकृष्ण, प्रभु श्रीराम आदि तथा सद्गुरु के सगुण स्वरूप की उपासना के विषय में

भी जानना चाहिये; क्योंकि निर्गुण–निराकार उपासक अपने सद्गुरु को ही सगुण–साकाररूप ब्रह्म समझते हैं।)

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

हे पार्थ! (यह तो सर्वविदित है ही कि शुद्ध चेतन साक्षी एवं तेजोमय निर्गुण–निराकार की साधना श्रेष्ठ है; किन्तु उसके पात्र गिनती के पाये जाते हैं) जो भक्त अहर्निश अतिशय श्रद्धा भक्ति से युक्त हुए मेरे नाम एवं गुणों का कीर्तन करते हुए मेरे विश्वरूप (सगुणरूप) की उपासना करते हैं अर्थात् मेरी आज्ञानुसार चलते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।

अभी जो विश्वरूप का दर्शन कराया भगवान ने वह उत्तमात्युत्तम सगुणरूप है, जिसे आप जगत मानते हैं उसे भगवान का विश्वरूप मानने में क्या कठिनाई है बल्कि जगत मानने में तो कठिनाई है क्योंकि इसका ओर–छोर तो दिखाई नहीं पड़ता जबकि विश्वरूप की कल्पना सुगमता से हो जाती है। जिसका आकाश सिर है, पृथ्वी पाँव है, समुद्र पेट है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, सूर्य–चन्द्रमा ये दो आँखें हैं इत्यादि–इत्यादि। ऐसा मान लेना– यह कितनी सुगम साधना है। जिसकी उपासना माँ मंदोदरी ने करके भगवान श्रीराम को पहचान लिया था, तारा की भी यही सगुण उपासनारूप साधना है जिससे उसने भी श्रीराम प्रभु को पहचान लिया था। यही सगुण उपासना हनुमानजी की है जिसके द्वारा वे आज जन–जन की आत्मा बने हुए हैं। इस सगुणोपासना को सद्गुरु के माध्यम से धर्म के द्वारा पकड़ा जाता है। इसी सगुणोपासना को महाराज जनक, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, बलि आदि राजर्षियों ने किया था, जिसका परिणाम हुआ कि अपने–आप इनलोगों को आत्मज्ञान हो गया। काकभुशुण्डिजी ने भी इसी उपासना को स्वीकार किया–

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

इन राजर्षियों एवं भक्तों के व्यवहार से पता चलता है कि इनलोगों ने अपना कुछ नहीं माना है, सबको विश्वरूप सगुण ब्रह्म का अंग ही माना है। पुत्र मानकर राजा मोरध्वज ने अपने पुत्र को आरे से चीरा नहीं होता। वे देख रहे हैं कि यह भगवान का ही एक अंग है और भगवान ही इसे ब्राह्मण के वेश में माँगने आये हैं, अतः इसे चीरकर देने में क्या आपत्ति है। राजा हरिश्चन्द्र ने पुत्र और पत्नी मानकर अपने पुत्र एवं पत्नी को नहीं बेचा था बल्कि भगवान का अंग मानकर ही संत की संतुष्टि के लिए बेच दिया था। सबको रुलानेवाले रावण के पास माँ मंदोदरी अभय होकर रहती है। वह जानती है कि रावण नाम की एक भगवान की भुजा है जिसमें एक ऐसा रोग लग गया है जिसके कारण भुजा को काटकर फेंकना ही पड़ेगा। अतः ऐसी भुजा के पीछे क्या पड़ना, जिस भुजा के पीछे भगवान की भुजा पड़ गयी है। एकादश अध्याय के अनुसार धर्मात्मा क्षत्रियों को भगवान की दिव्य भुजा मान लेना, धर्मात्मा वैश्यों को भगवान का पेट मान

लेना, धर्मात्मा शूद्रों को भगवान का पाँव मान लेना तथा ब्रह्म के लिए ही जीनेवाले ब्राह्मणों को उनका मस्तिष्क मान लेना, आत्मजिज्ञासुओं को उनका मन मान लेना, सिद्धों को उनकी बुद्धि मान लेना तथा आत्मज्ञानियों को उनका प्राण अर्थात् आत्मा मान लेना– यह कितनी सुगम साधना है। पशु–पक्षियों को ब्रह्म का तामस विचार मान लेना, आसुरी प्रवृत्ति के लोगों को उसकी नींद मान लेना तथा सकामी मनुष्यों को उसका राजस विचार मान लेना– यह कितनी सुगम साधना है। इसीप्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि राजस वृत्तियों को ब्रह्म का कालरूप मुख मान लेना– यह कितनी सुगम साधना है। उसीप्रकार अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि को ब्रह्म का अमृतमय दिव्य मुख मान लेना– यह कितनी सुगम साधना है।

सगुण उपासना का क्रम पूर्व के अध्यायों में दिया गया है। महात्मा अर्जुन के मन में प्रश्न खड़ा हो गया कि निर्गुण उपासना सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी कठिनता से सिद्ध क्यों होती है? भगवान ने उनके मन की बात जानकर कहा–

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भलीप्रकार वश में करके मन–बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले नित्य अचल निराकार अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत एवं सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

निर्गुण निराकार ब्रह्म अव्यक्त है, इसलिए उसे व्यक्त पुरुष नहीं देख सकता; क्योंकि यह नियम है कि अव्यक्त को अव्यक्त ही पहचानेगा, निर्गुण–निराकार को निर्गुण–निराकार ही पहचानेगा। उसीप्रकार सर्वज्ञ को सर्वज्ञ, अचिन्त्य को अचिन्त्य तथा अक्षर को अक्षर ही पहचानेगा; क्योंकि जिसप्रकार ब्रह्म सबके भरण–पोषण के लिए तत्पर रहता है, उसीप्रकार वह सबको आत्मरूप जानकर ही सबकी सेवा–शुश्रूषा में लगा रहेगा। किन्तु जिसने अपने को शरीर ही मान एवं जान लिया है तथा यह मेरा है, यह तेरा है– ऐसा मानने एवं करने में लगा है, उसके लिए निर्गुण–निराकार की साधना अति कठिन हो जायेगी।

ब्रह्म तो अव्यक्त है, किन्तु आप तो अपने को व्यक्त मानते हैं तो अव्यक्त ब्रह्म को कैसे देखेंगे,

अव्यक्त को तो व्यक्त नहीं देख सकता, जैसे जल के अन्तर्गत मछली को मछली ही देख सकती है; क्योंकि मछली के लिए जल आकाशवत् है जबकि आपके लिए जल एक तरल पदार्थ है। अतः आप चाहें कि जल में मछली को देख लूँ तो ऐसा नहीं हो सकता, उसके लिए आपको यंत्र का आश्रय लेना पड़ेगा। उसीप्रकार धरती के कीड़े को धरती का कीड़ा ही देख सकता है; क्योंकि धरती के कीड़े को पृथ्वी आकाशवत् दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म देवताओं को सूक्ष्म देवता ही देख पाते हैं; उसीप्रकार परम अव्यक्त को अव्यक्त ही देख सकता है, परम सर्वज्ञ ब्रह्म को सर्वज्ञ साधक ही देख सकता है अल्पज्ञ नहीं। जो परम अज्ञात है सबके हृदय में छिपा हुआ है, उसे जगत से अज्ञात होकर ही देखा जा सकता है अर्थात् उसी को सबसे छिपा हुआ अज्ञात ब्रह्म अपना दर्शन करायेगा। भगवान ने कहा है– 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'– सबके भीतर मैं छिपा हुआ हूँ, अतः सबके लिए अज्ञात हूँ लेकिन अपने भक्तों के लिए ज्ञात हो जाता हूँ; क्योंकि वे भी संन्यास लेकर सबके लिए अज्ञात हो जाते हैं। निर्गुण–निराकार ब्रह्म दिव्यकर्मा है, अतः दिव्यकर्मा संन्यासी ही उसे प्राप्त कर सकता है। जिसने कर्म और कर्मफल दोनों का त्याग कर दिया है वही दिव्यकर्मा संन्यासी है, उसके द्वारा शरीर, मन, बुद्धि, चित्तसहित सबको त्याग देना ही दिव्य कर्म है। जो ब्रह्म सबको त्यागकर सबके हृदय में अज्ञातरूप से बैठा हुआ है, वह माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे, हित–मित्र को त्यागकर आनेवाले साधक द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। एक ही कर्म एवं गुण होने के कारण से दोनों ही अज्ञातियों (ब्रह्म और आत्मा) का मिलन हो जाता है, जैसे भिखारी का सम्बन्ध भिखारी से हो जाता है। भिखारी, भिखारियों के समूह में रहते हैं, हिजड़े मिलकर एक साथ रहते हैं, हिजड़ों का भी समूह होता है, मूर्खों का भी समूह होता है, सबका समूह होता है, उसीप्रकार अव्यक्त ब्रह्म अव्यक्त संतों के साथ रहता है। जिसने अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मान रखा है तो उसे भगवान नहीं, जाति दिखाई पड़ेगी। इन्द्रदेवता देवजाति के हैं, अतः वे व्यक्त पुरुषों के द्वारा व्यक्त हुए देखे जाते हैं। श्रीरामचरितमानस में कहा है– 'समुझइ खग खगही कै भाषा' पक्षी की भाषा पक्षी ही जानता है, पशु की भाषा पशु, सर्प की भाषा सर्प तथा चींटी की भाषा चींटी ही जानती है। सजातीय–सजातीय परस्पर की भाषा को जानते हैं, उसीप्रकार ब्रह्म की भाषा को ब्रह्म ही जानता है। वह निर्दोष संत ही 'सर्वभूतहितेरताः' हो सकता है। जो स्वपुत्रहितेरताः है अर्थात् अपने बाल–बच्चों के हित में ही रत है अथवा जो परिवार–समाज के हित में ही रत है अथवा जो क्षेत्र–प्रदेश के हित में ही रत है और जो अपने देश के हित में ही रत है, वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म को, जो सबके हित में रत है, वैसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को कैसे पहचान सकता है? रामायण में लिखा है– 'प्रीति विरोध समान सम, करिअ नीति असि आहि' अर्थात् वैर और प्रीति समान के साथ ही हो सकती है।

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते.....' सर्वज्ञ को सर्वज्ञ जानता है, एक पहेली सी बात भगवान नारायण ने यहाँ पर की है। सर्वज्ञ को अल्पज्ञ नहीं जानेगा। प्रभु ने अन्यान्य अध्यायों में सर्वज्ञता प्राप्त करने का साधन बताया है– छठे अध्याय की साधना करने से प्रथम में वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है तो दिव्यस्पर्श प्राप्त होता है, उसके उपरान्त सिद्धियों का स्पर्श होता है वह

दिव्यतर दिव्यस्पर्श है। फिर तो क्या! दिव्यतम दिव्यस्पर्श अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है, वह साधक भूत, भविष्य, वर्तमान जानकर इस जीव–जगत में सर्वज्ञ हो जाता है। यदि वह सर्वज्ञता का इस जगत में प्रयोग नहीं करता, चमत्कार नहीं दिखाता तो वह सर्वज्ञ, परम सर्वज्ञ को जान लेता है। जो कूटस्थ है वही कूटस्थ को जानेगा, जो अपने स्वरूप में स्थित है वही कूटस्थ कहलाता है। कूट दिया है माया को जिसने, वह माया में स्थित रहनेवाला कमल के पत्ते की तरह कूटस्थ है, वह निर्विकारी ही परम निर्विकार को जानता है, प्राप्त करता है, वह अक्षर ही अक्षर को जानता है। वह निष्कामी ही अक्षर है जिसे पंद्रहवें अध्याय में बताया जायेगा। उस निष्कामी का नाश नहीं होता। छठे अध्याय में भगवान ने कहा है कि साधना की यदि सिद्धि नहीं हुई तो अगले जन्म में जाकर पूरी हो जायेगी। अक्षर ही परम अक्षर को जानता है, अव्यक्त ही परम अव्यक्त को जानता है। जगत से जो अव्यक्त हो गया है वह परम अव्यक्त को जान जायेगा। कितने साधक हैं जो माता–पिता तथा अपने बाल–बच्चों से अव्यक्त हो गये हैं, अपने प्रदेश से अव्यक्त हो गये हैं, कितने लोग हैं जो अपने घर–द्वार का समाचार सुनना नहीं चाहते, अपने प्रदेश का समाचार नहीं सुनना चाहते, यदि समाचार कोई सुना रहा हो तो मानो वह काट रहा हो उनको। जो इस जीव–जगत से अव्यक्त हो चुके हैं वे परम अव्यक्त को जानेंगे, 'सर्वत्रगमचिन्त्यं च' जो घट–घट व्यापक हो गये हैं, सबके मन की बात जान जाते हैं वे ही उस सर्वव्यापक ब्रह्म को जानेंगे। इसे कहते हैं धारणा से सर्वव्यापक हो जाना। इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह सिद्धि प्राप्त कैसे होगी। महात्मा तुकाराम को सारी सिद्धियाँ घर में प्राप्त थीं, भक्त रैदास को ये सारी सिद्धियाँ घर में प्राप्त थीं, भक्त रैदास कहते हैं– 'अब कैसे छूटे राम धुन लागी, प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी।' फिर कहते हैं– 'प्रभुजी तुम दीपक हम बाती।' इतना निकट का सम्बन्ध है, गृहस्थ आश्रम में हैं वे। यहाँ जोड़नेवाला भाव है भगवान से कि मैं आत्मा हूँ, आप परमात्मा हैं, मैं दीपक हूँ और आप मेरी लौ हैं। इसप्रकार ज्ञान की बाती जल रही है। इतना निकट का संबंध कि भूत, भविष्य, वर्तमान को जाननेवाला अष्ट सिद्धि, नौ निधि प्राप्त है जिसको, उसप्रकार के एक संत ने कहा कि हे प्रभु! मैं दीपक हूँ और उसकी लौ हैं आप।

इस गरीबी में क्यों जीते हो, लो यह जो माँगोगे दे देगा? ऐसा कहकर संत चलते बने। साल भर बाद लौटकर आये तो कहा संत रैदास से कि अरे मूर्ख! तुमने कुछ माँगा ही नहीं इससे! कहाँ है वह? उन्होंने निकालकर झोपड़ी में से दे दिया और कहा– महाराज यह लें आपका लाल है, जो मेरे किसी काम का नहीं। यह ले लें जो आपकी धरोहर थी। महाराज! मेरे पास परम लाल है वह है भगवान। महाराज! भगवद्भक्तों की गरीबी में वास करता है वह, वह कहेगा तभी अमीरी स्वीकार करूँगा। अभी उसने अमीरी स्वीकार करने की बात मुझसे नहीं कही है।

भगवान नारायण ने देखा कि उनकी वाणी को सुनने से अर्जुन को तृप्ति नहीं हो रही है। बहुत से प्रश्न खड़े हो गये हैं। प्रश्न एक बहाना है। आज के पहले इन्होंने प्रभु की वाणी को अपने भाई की वाणी समझकर सुना है, एक शक्तिमान राजा की वाणी समझकर सुना है, सारथि की वाणी समझकर सुना है, गुरु की वाणी समझकर सुना है, किन्तु अब भगवत् वाणी समझकर सुन रहे हैं। वाणी वही है लेकिन अब श्रद्धा तथा भाव प्रकट हो गया है, दिव्य भाव हो गया है,

उनमें अति प्रीति हो गयी है, विश्वास के उपरांत श्रद्धा प्रकट हो गयी है। श्रद्धा उत्पन्न होने के उपरांत श्रद्धेय के हर अंग–उपांग का दर्शन करने का मन करता है, वाणी को श्रवण करने का मन करता है, उसके चरणों की पूजा करने का मन करता है, आरती उतारने का मन करता है, उसके स्वरूप का ध्यान करने का मन करता है। वहाँ साधना करने का मन नहीं करता, कर्म करने का मन नहीं करता, वहाँ खाने–पीने, सोने–जागने का मन नहीं करता। श्रद्धेय यदि सामने है और आध्यात्मिक श्रद्धा है तो बस नैनों में वह रमता रहे, कानों में उसके स्वर गूँजते रहें, यही कामना रहती है– महाराज ने कभी एक पद गाया है–

वंदना करूँ ना करूँ स्वर गीला हो रहा।
क्रन्दना करूँ ना करूँ मन ढीला हो रहा।।

'वंदना करूँ ना करूँ'– श्रद्धेय जब सामने होता है तो वाणी मौन हो जाती है, लेकिन स्वर गद्‌गद रहता है, हृदय गद्‌गद रहता है, नेत्र गीले रहते हैं, मन ढीला रहता है। अतः वहाँ मात्र दर्शन उतर जाता है।

श्रीराम एवं जटायु की मैत्री हो गयी है। जटायु ने श्रीरामजी को पुत्रभाव से ही स्वीकार किया पहले। पुत्रभाव कैसे? महाराज दशरथ से जटायु की मित्रता थी, उस नाते। श्रीराम को सर्वप्रथम उन्होंने पुत्र के रूप में देखा फिर मित्रता स्थापित कर ली। वानप्रस्थी राम पुत्र नहीं हो सकते, अतः जटायु ने मित्र बना लिया। अपने प्रियतम राम के लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी। जैसे ही रावण के द्वारा उनका वध होता है, वैसे ही श्रीराम साक्षात् ब्रह्म के रूप में दिखाई पड़ते हैं। श्रीराम प्रभु के प्रकट होने के उपरांत जटायु उनके (भगवान के) हाथों का स्पर्श पाकर, ब्रह्मस्पर्श पाकर पुनः जीव–जगत में लौट आते हैं जो मूर्च्छित हो गये थे। बस वे देखते रह जाते हैं श्रद्धेय सामने है। अब वे राम पुत्र राम नहीं हैं, मित्र राम नहीं हैं, भगवान राम हैं। बड़े आश्चर्य से देखा था जटायु ने। अरे! जिसे मैं अपने प्रिय मित्र महाराज दशरथ का पुत्र समझा था, वह राम तो ब्रह्म राम है, जिसे मैंने मित्र बनाया था वह राम तो ब्रह्म राम है। जिस भगवती सीता को जनकपुत्री समझा था, राम की प्रिया समझा था, वह तो साक्षात् आद्यशक्ति है। जब कोई अपने से बलवान यानी हर तरह से संपन्न पुरुष से भी धर्मरक्षा के लिए अपने स्वधर्म को देखते हुए युद्ध करता है और उस युद्ध में उसका प्राणान्त होता है तो वहाँ पर परम आध्यात्मिक चेतना जाग जाती है, वहाँ कुछ करना नहीं होता। श्रीराम प्रभु ने इच्छा व्यक्त की कि कुछ समय के लिए आप यहाँ रहें, मैं आपको जीवित कर देता हूँ। जटायु ने कहा कि नहीं, नहीं, नहीं– 'दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना।' आँखों से देखना होता है किसे? प्राणिपदार्थ को कुभावना से ताकना होता है अर्थात् दोषदर्शन से देखना होता है लेकिन ज्ञान से सद्‌भावना प्रकट होती है जिसके द्वारा दर्शन करना होता है, उसके उपरांत चित्त से मात्र दर्शन की क्रिया नहीं होती, वहाँ पर बस दरश रह जाता है। वहाँ एक तरफ साक्षात् नारायण रहता है और दूसरी तरफ भक्त सम्पूर्ण द्रष्टा होता है। कहा कि नहीं, नहीं, नहीं, मैं अब जीना नहीं चाहता। हे राम! अब मैं जीना नहीं चाहता और न मैं आपसे सद्‌गति ही चाहता हूँ। मैंने तो केवल आपके दरश

की लालसा से ही प्राणों को रोक रखा था, अब मैं चलना चाहता हूँ, यदि जिलाना चाहते हैं तो जीवित कर दें सदा के लिए, मेरे में इसी भक्ति का संचार कर दें सदा के लिए, यह भक्ति देवी मेरा वरण करें। श्रीराम प्रभु ने वरदान दे दिया। इसप्रकार श्रद्धेय जब सामने होता है तो फिर दरश उतर जाता है, तृप्ति नहीं होती। भगवान नारायण ने देखा अर्जुन में वही दरश उतर गया है, दिव्य रूप का, दिव्य वाणी का स्पर्श कर रहा है उसका चित्त। तब भगवान ने कहा– मैं और मेरे करनेवाले के लिए विनोदपूर्वक भगवान भी मैं और मेरा करते हुए गृहस्थाश्रम में चला आता है, इसलिए सद्गृहस्थ भक्तों को मैं–मेरे, तू–तेरे करनेवाले भगवान की उपासना श्रेष्ठ है। भगवान भी अपने भक्तों के दुःख को देखकर प्रतिज्ञा कर ही बैठता है कि मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। इसलिए उस भक्त का कर्तव्य है कि भगवान के सगुण–साकार ब्रह्मरूप की ही उपासना करे। अतः–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

जो मुझ सगुण ब्रह्म के आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मों को मेरी आज्ञानुसार करते हुए अनन्य भक्तियोग से मेरी ही उपासना करते हैं, मैं उनका अतिशीघ्र मृत्युरूप संसारसागर से उद्धार कर देता हूँ। इसलिए हे पार्थ! तुम अपने मन, बुद्धि, चित्त को मेरे सगुणरूप में ही लगा दो। इसप्रकार तुम मेरे में ही वास करोगे, अपने परिवार, समाज एवं भाई–बान्धवों में वास नहीं करोगे।

यहाँ भगवान मानो कह रहे हैं कि जैसे दिनोंरात कामी पुरुष कामिनी का चिंतन करता रहता है, उसी के नामगुणों का बखान करता रहता है, उसीप्रकार भक्त विश्वरूप की उपासना में मन लगावे। उसके लिए तो सद्गुरु जैसा कहता जाय वही करता जाय, यदि सद्गुरु झाड़ू लगाने को कह दे तो झाड़ू लगावे, प्रसाद बनाने को कहे तो प्रसाद बनावे, असुरों का वध करने को कहे तो वध करे। यह ब्रह्म की पूजा है, अति सरल है, कुछ करना ही नहीं है। माता–पिता की उचित आज्ञा माननी है और अनुचित में निवेदनपूर्वक मना कर देना है। आदर तो देना है किन्तु अनुचित आज्ञा का उल्लंघन कर देना है, पाप लगेगा ही नहीं। सद्गुरु को अपनी आत्मा बना लेना है, अन्य लोगों को अनात्मा के रूप में नहीं बल्कि भगवान के अंग के रूप में देखना है। सद्गुरु जिस अंग की उपासना करने को कहे उस अंग की उपासना करे, जिस अंग की उपासना करने को न कहे उस अंग की उपासना न करे। 'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम'– मीरा जैसी साध्वी को संत कहेगा कि सास, ससुर की सेवा करना अधर्म है, तुम वृंदावन चली जाओ। वे वृंदावन चली आयेंगी। उनके लिए यह सगुण उपासना अति

सुखदायक है। कालान्तर में परम निर्वाण को देनेवाली है वह तथा जब सगुण ब्रह्म आ जाय तब उससे निर्वाण ब्रह्म को माँग लें या उसी को कह दें कि मेरे हृदय में सदा–सदा के लिए बस जाएँ। साधन सुगम होने से ये सर्वश्रेष्ठ है लेकिन किसी का आचार्य विश्वरूप की उपासना करने की बात कह देता है तो विश्वरूप की ही उपासना करे।

एक लाल बाबा हो चुके हैं, गंगोत्री से गोमुख के मार्ग में। गोमुख से कुछ पहले रहते थे, जो भी यात्री जाते थे उनकी सेवा देखते बनती थी। जीवनपर्यन्त साधन–भजन मन में करते थे, सबको ब्रह्मरूप देखते थे, यही उनकी साधना थी क्योंकि उनके गुरुजी ने कह दिया था कि सबको ब्रह्म समझना अतः वे प्रमाद नहीं करते थे कभी। वहाँ पर तो यात्री आते रहते थे, अतः भगवान का भण्डार वहाँ खुल गया था, चाहे जैसा पुरुष भी जायेगा, आदर, मान, सम्मान के साथ प्रसाद पायेगा, कम्बल लेगा और विश्राम करेगा, न जाति पूछना है, न घर पूछना, न गाँव पूछना, विश्वरूप के उपासक थे वे। गुरुजी ने कह दिया और उनके लिए वही साधना बन गयी थी। अब उनका शरीर नहीं रहा लेकिन आज भी सेवा हो रही है वहाँ पर। ऐसे और भी संतों को महाराज ने देखा है सभी तीर्थों में। जिन–जिन आश्रमों में अन्नक्षेत्र चल रहा है उन–उन आश्रमों में विश्वरूप भगवान की ही तो उपासना हो रही है; यह अति सुगम उपाय है, सुगम साधना है। महाराष्ट्र में एक आश्रम है, गुरुजी चले गये किन्तु वह मुख्य शिष्य आज भी अपने मन से कुछ भी नहीं करता, भरत के आदर्श को स्वीकार कर लिया है। आश्रम में क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह निर्माण करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, अमुक को रखना चाहिए या नहीं रखना चाहिए– गुरुजी की मूर्ति के सामने ध्यान लगाके पूछ लेता है, हाँ और ना का प्रश्न करता है; 'हाँ' आ गया तो रख लेगा, 'ना' आ गया तो नहीं। इतना विश्वास, इतना विश्वास हो तो यह सगुण साधना बड़ी सरल है, अति सरल है, अति सरल है। बड़े विश्वास की बात है कि मेरा सद्गुरु हृदय से भी बोलता है।

यह सगुण साधना अति सुगम है तब जब अपने इष्ट की आज्ञा से ही हम कहीं जा रहे हैं, आ रहे हैं, कुछ प्रसाद पा रहे हैं, किसी को साथी बना रहे हैं। श्रीराम प्रभु भी पूछते हैं कि मैं स्वीकार करूँ कि नहीं विभीषण को। ब्रह्म भी पूछता है– वहाँ श्रीराम प्रभु के सद्गुरु वसिष्ठजी नहीं हैं, जामवंत, हनुमान आदि सेवक भी हैं, मन्त्री भी हैं तो उन्हीं मुखों से पूछते हैं। एक मुख ने कह दिया कि हे प्रभु! शरणागत रक्षक हैं आप शरणागति स्वीकार कर लें! वह ब्रह्म होकर भी पूछता है, अतः ऐसा व्यवहार कर वह दिखाता है कि मनमाना मत करना। इसलिए उसके लिए सगुण साधना करना सुगम है जो निर्णय करना जानता है। जिस ब्रह्म का अन्यथा निर्णय नहीं होगा वह भी भक्तों को बड़ाई देता है; फिर आप तो अनजाने हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान को नहीं जानते हैं सद्गुरु को बड़ाई नहीं देना है बल्कि उससे पूछना ही है, क्योंकि वह भीतर भी है बाहर भी है, सर्वत्र है, त्रिकाल में है इसलिये कि सद्गुरु मरता नहीं है।

महाराज के गुरुदेव ने शरीर छोड़ा, अन्तिम दिन था पुण्यतिथि का। सारे लोग रोने लगे, जो आते थे प्रवचन करते थे, रोते–रोते करते थे। अन्त में महाराज ने कहा कि सात आश्चर्य

देखे, सुने, एक आठवाँ आश्चर्य देखा ये! 'मेरा लक्ष्य' में गुरुदेव ने कहा कि 'गुरु मरा तो चेला रोया' ये बात हो गई सही। प्रश्न किया महाराज ने– जिसके लिए रो रहे हैं आप सब वह संत था कि गुरु था या ब्रह्म था। सबने कहा– ब्रह्म था, ब्रह्म का ही अवतार था वह। महाराज ने कहा कि यही ब्रह्म ध्रुव के पास लगभग पंद्रह–बीस मिनट के लिए आया था और वह सबकुछ देकर अंतर्ध्यान हो गया, ध्रुव ने तो रोना नहीं रोया। प्रह्लाद के पास वह ब्रह्म लगभग आधे घण्टे के लिए आया और अन्तर्ध्यान हो गया, प्रह्लाद ने तो रोना नहीं रोया। जबकि आप लोगों के पास चालीस वर्ष वह ब्रह्म (सद्गुरु) रह गया तो भी रोना ही शेष है, हँसना शेष न रहा? वह सबकुछ लिखित दे गया है– गीता सुबोध, गीता तत्त्वबोध, मेरा लक्ष्य आदि पच्चीस–तीस ग्रन्थ दे गया है, वह क्या पढ़ने के लिए या मात्र गाने के लिए दिया गया है या आपकी साधना एवं व्यवहार के लिए दिया गया है? 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन' आश्चर्य जैसा दिखाई नहीं पड़ रहा है! आश्चर्य जैसा उसकी वाणी को सुना नहीं! आश्चर्य जैसा उसको देखा ही नहीं! आश्चर्य जैसा उसके विषय में कहा ही नहीं! अच्छा, अच्छा! अतः कोई–कोई सुनकर, देखकर के भी सुन और देख नहीं पाते, यही बात सिद्ध होती है।

सुगम साधन है यह सोचना, जानना, मानना कि सद्गुरु मेरा मरता ही नहीं, यह सुगम भाव है, वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही सगुणरूप में प्रकट है, यह भावना सुगम है। निर्गुण निराकार का हाथ–पाँव मुझे दिखाई नहीं पड़ रहा है, यानी ऐसा देखने की यदि निर्मल एवं सूक्ष्म बुद्धि नहीं है तो यह मानना कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म सद्गुरु ही है, अति सुगम है। उसकी आज्ञा पालन करना सुगम, उसकी सेवा सुगम, उसकी रहनी–सहनी सुगम, इतना ही तो करना है। 'जाके प्रिय न राम बैदेही.....' इतना ही तो कहा कि चाहे माता–पिता ही क्यों न हों यदि वे निष्कामी नहीं हैं सकामी हैं तो उनकी उचित बात मानना अनुचित मत मानना, भगवान का अंग मानकर सेवा करना लेकिन बात तो निष्कामी, आप्तकामी सद्गुरु की ही मानना। ऐसा करने से विरोध होगा तो होने देना। प्रह्लाद के पिता भी दुःखी हो गये तो क्या हो गया! अति सुगम, अति सुगम सगुण–साकार की उपासना अति सुगम है क्योंकि यदि मूर्ति की उपासना नहीं भी हो रही है, ध्यान, जपयोग नहीं भी हो रहा है तो केवल विश्वरूप की सेवा तो हो रही है! सद्गुरु ने जो सेवा दे दी है घर में या बाहर में वह कर रहे हैं अतः विश्वरूप की उपासना सरल है, अथवा जप कर रहे हैं चौबीस घण्टे सद्गुरु के कहने से तो उस नाम में नामी आ जायेगा; कल्पना भी नहीं करनी है किसी रूप की। यदि कोई कहता है कि ये तस्वीरें तो काल्पनिक हैं मत करो इनकी उपासना! अरे! नाम तो काल्पनिक नहीं है ब्रह्म का! नाम जपना, कीर्तन करना तो अति सुगम है, इसके लिए शुद्धि–अशुद्धि की बात नहीं की गयी है, गलत हो चाहे सही हो कोई बात ही नहीं की गयी है। बाल–बच्चों के साथ हैं, चाहे सद्गुरु के साथ हैं, सद्गुरु ने चाहे जहाँ भी कह दिया रहने को, रह रहे हैं तो भी कोई बात ही नहीं है। वह नाम कहता ही नहीं कि यहाँ मत रहें, ऐसा साधन अति सुगम है, वह भक्त स्वीकार करता है। सगुण साधना सुगम होने से सगुण ब्रह्म को प्राप्त करने में अति सुगमता है। अतः वह सगुण ब्रह्म जब आ जाता है तो उसी से उसका निर्गुण–निराकाररूप कैसे माँग लें? जैसे महात्मा अर्जुन ने भगवान

श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द का कहना माना और उन्होंने उनका उद्धार कर दिया। वैसे ही यदि ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल गया तो वही सगुण ब्रह्म है। उसकी आज्ञा में रहना, चाहे घर में चाहे बाहर, चाहे जहाँ भी रखे वहाँ रहना। एक साधक ने कहा सालभर पहले कि लगता है आप मुझे यहाँ से हटाएँगे, अतः मैं डर गया। तो कृपा करें जबतक मुझे अपने–आप पर विश्वास न हो जाय तबतक यहाँ से मुझे न भगाएँ। महाराज ने कहा– ठीक है। अब इस साल कह रहा है कि मैं तैयार हूँ चाहे जगत में जहाँ भेज देंगे मैं चला जाऊँगा। यह बात इसे उसी समय कहनी चाहिए थी कि अब जान लिया कि गुरु की आज्ञा में शक्ति होती है, साधना में शक्ति नहीं होती। सालभर पहले ही कहना चाहिए था कि सुना है मुझे आप यहाँ नहीं रहने देना चाहते हैं, मेरे घर के लोग आ रहे हैं, वे मेरे लिए बाधा बन रहे हैं, अतः कहीं अन्यत्र भेजना चाहते हैं तो फिर वह आज्ञा मुझे स्वीकार है। यदि आप मानते हैं कि मैं अधिकारी हूँ वहाँ पर रह सकता हूँ, जहाँ आप भेजेंगे, तो मैं यह स्वीकार करता हूँ। मुझे तो विश्वास नहीं है अपने–आप पर लेकिन चूँकि आप भूत, भविष्य, वर्तमान को जानते हैं ऐसा मेरा विश्वास है अतः उस आज्ञा को मैं स्वीकार करता हूँ। ऐसा जब विश्वास हो जाता है तब फिर साधक की भाषा ऐसी ही होती है, दुराग्रह वहाँ नहीं रहता।

ये तु सर्वाणि कर्माणि.....अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

धौलपुर में एक गृहस्थ को देखा उसको हररोज संत चाहिए। एक चमत्कार अपनी आँखों से देखा महाराज ने– एक बार वह मूर्च्छित हो गया था, शैय्या पर पड़ा हुआ था, चम्मच से रस दिया जा रहा था नारंगी का। महाराज के पास खबर आयी कि वह बेहोश पड़ा हुआ है। महाराज आया तो देखा कि एक बेटी वहाँ कुर्सी पर बैठकर के चम्मच से रस दे रही है। महाराज ने कहा– कह दो महाराज आये हुए हैं, तो उसने कहा कि अब बोलते नहीं हैं। कहो तो! बोलो तो! महाराज ने कहा। उसने कहा कि पिताजी! महाराजजी आये हुए हैं। वे बोल पड़े, कहा– कौन? जो सालभर पहले यहाँ रामायण की कथा प्रारंभ करा गये थे! वृद्ध की आँखें खुल गयीं। उन्होंने अपने सामने महाराज को देखा और देखते ही उनमें अपार शक्ति आ गयी। वह भक्त उठा, उठने के बाद उसने महाराज की भुजा को पकड़कर अपनी चारपाई पर बिठा लिया और पाँव को ऊपर कर लिया तलवों में हाथ फेरकर देखा। आँखों में आँसू की बरसात थी, मानो आँसू के झरने बह रहे हों। उसने कहा– पूरा धौलपुर आपका है और आप पैदल चले आये, वहाँ से तीन किलोमीटर! रेतीली जमीन होने से तलवे गरम हो गये हैं, तप गये हैं। जल तो नहीं गये हैं! फोड़े पड़ गये होंगे! फिर कहा कि सारा धौलपुर आपका था किसी जीपवाले को, कारवाले को कहते कि मुझे वहाँ पर जाना है तो पहुँचा देता। अच्छा तो जाओ–जाओ बेटी! गाँवभर को कह दो अभी मेरी मृत्यु नहीं आयेगी, वे ठीक हो गये।

इसप्रकार साधन में सुगम होने से सगुण उपासना अति सुगम है। 'तव दर्शनात् मुक्तिः' तेरे दर्शन से मुक्ति होती है, ऐसा भक्तों का कहना है। निर्गुण–निराकारी साधक साधन से साध्य को प्राप्त हुआ मानते हैं। लम्बा काल लग जाता है 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'।

अपने को शरीर मानना और अपना शरीर मानना ये दो बाते हैं। कौन हो हनुमान तुम! तुम कौन हो! भगवती सीता का संदेश सुनकर अति प्रेम में मग्न हुए श्रीराम प्रभु ने हनुमान से पूछा– हनुमान तुम कौन हो? चरणों को पकड़ लिया हनुमान ने, कहा कि शरीरभाव से पूछते हैं प्रभु! तो मैं आपका हनुमान नाम का दास हूँ, जीवदृष्टि से मैं आपका अंश हूँ, यदि आत्मरूप से पूछते हैं आप, तो जो आप हैं सो मैं हूँ। माँगो फिर क्या माँगते हो? श्रीराम प्रभु ने वरदान माँगने को कहा। यह वरदान माँगता हूँ– 'नाथ भगति अति सुखदायनी, देहु कृपा करि अनपायनी।' मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए, मुझे आत्मज्ञान नहीं चाहिए, मुझे तो आपकी अनपायिनी भक्ति चाहिये।

जिसमें ऐसी अभिव्यक्ति है ही उसके लिए सगुण साकार की उपासना सरल है। 'मैं शरीर हूँ' कभी तो वह यह कहेगा, कभी 'मेरा शरीर है' यह कहेगा अर्थात् जब स्वामी के पास जायेगा तब शरीरभाव से जायेगा वहाँ पर कहेगा मैं खाता हूँ, मैं पीता हूँ। क्या खाकर आये? तो वह नहीं कहेगा कि मेरा शरीर रोटी खाकर आया, बल्कि गुरु के पास कहेगा कि रोटी खाकर आया। वहाँ शरीर बन जायेगा लेकिन जीवजगत में जायेगा तब आत्मा बन जायेगा। मेरा शरीर भूखा है, प्यासा है, ऐसा कहेगा। सद्गुरु के पास कहेगा कि मैं शरीर हूँ तो भी ब्रह्म उसका होगा। इसप्रकार साधन करने में अति सुगम होने से सगुण उपासना श्रेष्ठ है। नानाप्रकार की साधना से उत्पन्न होनेवाली अणिमा, लघिमा, गरिमा, उसिता, वसिता इत्यादि सिद्धियों को प्राप्त करने के उपरांत भी इन सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करता अर्थात् उदासीन हो जाता है तो वह निर्गुण–निराकारी साधक निर्गुण–निराकार में प्रवेश कर जाता है, निर्गुण–निराकार हो जाता है। क्यों, ऐसा वह क्यों करता है? भगवान ने कहा कि अतीत से सगुण उपासना ही करता आया है। कोई ऐसा नहीं कि आकाश से वह निर्गुण–निराकारी बन गया हो बल्कि प्रभु ने ही प्रेरणा कर दी, अतः वह निर्गुण–निराकार की उपासना करने लगा।

लोमश ऋषि ने कहा था काकभुशुण्डि को कि ज्ञान की आराधना करो। प्रभु की प्रेरणा वहाँ नहीं थी, लोमश ऋषि से वहाँ एक भूल हो गयी थी। माना कि ज्ञान भक्ति से श्रेष्ठ है यह सत्य है, क्योंकि भक्ति ज्ञान में जाकर विलीन हो जाती है, सगुण उपासना निर्गुण में विलीन हो जाती है। अतः काकभुशुण्डि की विनम्रता को देखकर, शीलता को देखकर, अति उदारता को देखकर, भक्तिभाव को देखकर लोमश ऋषि अति प्रसन्न हो गये। भक्ति की माँग की उन्होंने लेकिन ऋषि ने ज्ञान देना प्रारम्भ कर दिया। काकभुशुण्डि ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं पहले मुझे आप न ज्ञान दें न ज्ञान की साधना दें, न ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करें बल्कि मेरे लिये तो भगवान की भक्ति के स्वरूप का वर्णन करें, भगवान के रूप की झाँकी प्रस्तुत करें भगवान के नाम का दान करें। हे प्रभु! मैं आपके पास इस भावना से आया हूँ। ऋषि ने कहा– जिस भगवान को माँग रहे हो वह भगवान तो बाद में सगुण से निर्गुण बन ही जायेगा यह शाश्वत परंपरा है। जैसे बर्फ पिघल कर जल बन जाता है, उसीप्रकार ज्ञान के उपरांत संसार संसार नहीं रहता, जानते हो या नहीं जानते हो! काकभुशुण्डि ने कहा जानता हूँ, शास्त्रों में पढ़ा है, कुछ बुद्धि से अनुभूति भी है लेकिन हे जगत्पते! मैं नहीं चाहता उसे, मुझे तो भगवान का सगुण विग्रह प्रिय है। इसप्रकार बहुत तर्क हो गया। तर्क होते होते होते ऋषि ने कहा– मैं परम प्रिय वस्तु देना

चाहता हूँ तुम्हारे को लेकिन तुम दुराग्रही जान पड़ते हो (महाराज को हँसी आ रही है कि ऋषि भूल गये थे कि मैं भी दुराग्रही ही हूँ अपने पक्ष में)। तुम दुराग्रह के साथ मेरा सामना कर रहे हो, तुम हठी जान पड़ते हो, अरे! तुम भीरु भी हो। भीतर से डर भी रहे हो कि कहीं ये शाप न दे दें। संतों के यहाँ डरता भी रहता है और बकवास भी करता रहता है, तो तेरे जैसे डरपोक और अशिष्ट को शाप देता हूँ– तू कौआ जैसा डरता है, अतः कौआ ही हो जा। काकभुशुण्डि को, 'नहिं कुछ भय न दीनता आयी'। काकभुशुण्डि के भीतर न भय हुआ उस शाप से न हीन भावना हुई कि अरे! मैं क्या हो गया, बल्कि उस भक्त ने तो उनकी परिक्रमा की यह सोचकर कि संत दुःखी हो गये। अब विशेष इन्हें दुःखी करना ठीक नहीं है। चलो शाप स्वीकार करता हूँ मैं। स्वीकार करके कौए के रूप में उड़ चले क्योंकि वे तो कौआ हो गये थे। ऋषि के भीतर प्रेरणा हुई कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था, उसे अभी भक्ति ही देनी चाहिए थी। माना कि अधिकारी था वह ज्ञान का लेकिन अभी जब वह नहीं चाहता था, एक बार कहने से नहीं माना तो भक्ति दे देनी चाहिए थी। इसमें बिगड़ता भी क्या था! ऐसा प्रेम भी किस काम का। ऋषि ने कहा– ठहरो! तो काकभुशुण्डि ठहर गये। आओ, आओ, आओ इधर आओ! काकभुशुण्डि बैठ गये। अपने आश्रम में कुछ कालतक रखकर के वहीं सगुणरूप का बोध करा दिया। सगुण भगवान की भक्ति का वरदान दे दिया, सबकुछ दे दिया। कालान्तर से वे ही काकभुशुण्डि आज भी हैं जिनके पास भगवान शंकर अपना दर्शन और प्रभु की कथा देने गये थे, जिनके पास महात्मा गरुड़ सत्संग की भावना से गये थे। जो निर्गुण–निराकार ब्रह्म को भलीभाँति जानता–पहचानता है वह साक्षात् निर्गुण–निराकार है, जो सगुण–साकार में रहता है किसी भी रूप में प्रकट हो जाता है। इसप्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना सुगम है इन–इन उदाहरणों से। सहसा एक ही बार में कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता कि मैं आत्मा हूँ। कोई अपवाद हो जाते हैं, जन्म–जन्मान्तर की पूँजी होती है जो कि अपने को आत्मरूप में देखते हैं । वे कहते हैं– शरीर शरीर है, मैं मैं हूँ, शरीर माया है मैं मायापति हूँ, मैं माया का द्रष्टा हूँ इत्यादि इत्यादि। अतः अति क्लेश है उसकी साधना में। सगुण उपासक आपत्ति–विपत्ति में भगवान को बुला लेगा लेकिन निर्गुण–निराकारी भगवान को नहीं बुला पायेगा, वह दुःखों को भोगेगा। असह्य क्लेश, असह्य वेदनाएँ होती हैं उसकी साधना में, पता नहीं कब उसके प्रारब्ध समाप्त होंगे। निर्गुण–निराकार होकर प्रारब्ध को भोगेगा। कोई जरूरी नहीं कि सम्पूर्णता से निर्गुण–निराकारमय हो ही जायेगा। बहुत सी विघ्न बाधायें हैं बीच–बीच में, बहुत सी बाधाओं की बात कुछ अध्यायों में कर दी गयी है। आप सब के सामने अब कहने की आवश्यकता नहीं है।

'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः' (मंत्र– ६) 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' (मंत्र– ७) संपूर्ण कर्मों को सद्गुरु की आज्ञा से करने के उपरांत कहता है कि मैंने नहीं किया और उस कर्म को तथा कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल को अर्थात् सिद्धि को समर्पित कर देता है, ब्रह्म को दे देता है तो प्रभु उसका शीघ्रातिशीघ्र संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता है।

आज महात्मा अर्जुन ने यह सुनकर हर्ष–उल्लास से भगवान नारायण की पूर्ण परिक्रमा की और हे माधव! आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया! कृतार्थ कर दिया! माधव कृतार्थ कर

दिया! ऐसा कहते हुए भगवान के सामने पुनः खड़े हो गए। भगवान ने सोचा– अभी कुछ शेष है तभी तो कृतार्थ हो गए किन्तु गाण्डीव नहीं उठाया– 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' यहाँ पर आकर के भगवान नारायण प्रतीक्षा करने लगे महात्मा अर्जुन की आँखों में देखकर।

हे राजन्! अब भगवान मौन हो गए महात्मा अर्जुन की आँखों में देख रहे हैं मानो कुछ प्रतीक्षा कर रहे हैं। लगता है परिभाषा अभी परिभाषित अच्छीप्रकार से नहीं हुई है ये ऐसा मान रहे हैं। लगता है उनके प्रश्न का उत्तर अभी मिला नहीं है कुछ रह गया है। भगवान तो ऐसा समझ रहे हैं कि मैंने सबकुछ उत्तर दे दिया है, इसने जो प्रश्न किया है; लेकिन अभी कुछ शेष है, कुछ बाकी है, इसी आशा से भगवान की तरफ पुनः देख रहे हैं। अभी गाण्डीव की तरफ हाथ नहीं गया है।

हे राजन्! आपको अभी समय है विचार करें।

धृतराष्ट्र ने कहा– जबतक अपने प्रिय अर्जुन के द्वारा सारे के सारे प्रश्नों को और भगवान के द्वारा दिये उत्तर को सुन नहीं लेता तबतक मुझे मात्र सुनने दो, विचार की सामर्थ्य अभी मेरे में नहीं है। जब मेरा पुत्र अर्जुन विचार कर लेगा तभी मैं भी विचार करूँगा। वह आँखवाला है वह प्रभु की आत्मा है, यह विषम समय है, विषम परिस्थिति है। जब ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष जो गुडाकेश है (निद्रा विजयी है), ब्रह्मचारी है, अभी तक गाण्डीव नहीं उठाया तो फिर मैं मूर्खतारूप अज्ञान का त्याग कैसे कर दूँ। अतः अज्ञान ही सही, निर्णय बाद में होगा, आगे बढ़ो भगवान नारायण क्या कहते हैं।

'ये तु सर्वाणि कर्माणि.....अत ऊर्ध्वं न संशयः' (मंत्र ६ से ८)– अनन्ययोग से यहाँ पर गृहस्थाश्रम में रहनेवाले राजा जनक को ही आदर्श माननेवाले साधकों की प्रशंसा की गयी है, उनके जीवन चरित्र को दर्शाया गया है अर्थात् जिन्हें सद्गुरु मिल गया है और वह सद्गुरु ब्रह्म के रूप में दिखाई दे रहा है तो फिर उसकी आज्ञानुसार ही कर्म करे, चाहे वह शुभ हो अशुभ हो विचार न करे। सद्गुरु ने आज्ञा दे दी, तो उसकी प्रसन्नता के लिए कर्म करें। ऐसा करनेवाले के लिए ही भगवान ने कहा है– मैं उसका जीव जगत से उद्धार कर देता हूँ, परम निर्वाण पद देता हूँ अतः कहा–

(मय्येव मन आधत्स्व.....) मैं तुमसे भी वही कहता हूँ जो महाराज जनक से अष्टावक्र ने कहा था। संन्यास लेने की कामना करनेवाले राजा जनक से अष्टावक्र ने कहा था– 'मेरी आज्ञानुसार आप काम करें, मैं आपको यहीं संन्यासी बना दूँगा।' वैसे ही मेरे में मन को लगा दो अर्थात् अपने मन से मत चलो, अपने मन से कुछ मत करो, आज से मेरी आज्ञानुसार कर्म करो, अपने मन से मत सोचना, निर्णय मत कर लेना, मेरी बुद्धि से निर्णय करना आज से। 'निवसिष्यसि मय्येव' इसप्रकार मेरे मन के अनुसार चलने पर, मेरी बुद्धि के अनुसार निर्णय करके चलने पर जो भी कुछ कर्म होगा वह ब्रह्मकर्म होगा। इसप्रकार तुम मेरे में ही निवास करोगे इसमें संशय मत करो।

(अहं क्रतुरहं यज्ञः.....) राजयोग उतर जायेगा, यह रहस्यमय योग है। बाण भी ब्रह्म है, धनुष, तरकस, लक्ष्य आदि सब ब्रह्म ही हैं। पूर्व में कहा है नवम् अध्याय में, पुनः भगवान दोहराते हैं। जो दुरूह विषय है, समझने में अति कठिन है, उसे बार–बार कहना पड़ता है। कैसे? तो कहते हैं कि 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्'– ऐसे अर्थात् इसप्रकार– बाण मेरे हैं, तरकस मेरे, शरीर मेरा, तुम मात्र अब द्रष्टा हो और इस शरीर से मैं कर्ता हूँ। (आगे पंद्रह अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा यहाँ पर संकेत दिया जाता है।) बहुत विलक्षण बात है ये और सबसे कठिन काम यही है। गुरु के मन के अनुसार मनन करनेवाला, उसकी बुद्धि के अनुसार निर्णय करके चलनेवाला, कोई बिरला पाया जाता है, वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म का आदर्श ही हो सकता है। प्रभु श्रीराम भक्तों के हितार्थ प्रकट होते हैं। भक्तों ने, संतों ने, गोमाता ने, देवी–देवताओं ने, उनके प्रकट होने की कामना से घोर जप–तप किया। उनकी कामना से निर्गुण–निराकार ब्रह्म सगुण बनकर आ गया। महर्षि विश्वामित्र की कामना से उन श्रीराम ने भगवती सीता से शादी की, उन्हें कामना नहीं थी। वे तो स्वयंवर में जाने की कामना से भी नहीं आये थे। वे गुरुजी की कामना से स्वयंवर में गये, गुरुजी की कामना से धनुष तोड़ दिया, भगवती सीता को स्वीकार कर लिया। वे गुरुजी की कामना से ही सारे कर्म–धर्म का संपादन कर रहे हैं और अन्तिम चरण में, जब प्रयाण कर रहे हैं जगत से तो ऐसे नहीं जा रहे हैं। वे इस विश्व की आत्मा हैं, अतिथि भी हैं, बुलाये गये हैं। कहा तो जाता है कि आया जाता है अपने मन से और जाया जाता है जिसके यहाँ आया गया है उसके मन से लेकिन श्रीराम आये थे भक्तों के मन से, संतों के मन से, जाएँगे भी उनके मन से। अन्तिम समय में देवताओं ने काल को भेजा और कहा कि अब जाकर श्रीराम को स्मरण कराओ कि भक्तों, संतों का काम पूरा हो गया, अब चाहें तो अपने धाम को जा सकते हैं। श्रीराम प्रभु के पास काल आया और उससे देवताओं का संदेश सुनकर चलते बने। आप गये अयोध्यावासियों को ले गये। उनकी कोई भी क्रिया अपने मन से नहीं होती, अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं करते। मन में है कि मुझे ये राज्य क्यों दिया जा रहा है? हम चारों भाई साथ–साथ जन्म लिए, साथ–साथ खाये–पीये, खेले–कूदे, बड़े हुए, साथ–साथ शादी हुई फिर बड़ा भाई राजा बन जाये, छोटा भाई प्रजा बन जाये, रघुवंशियों का ये न्याय कैसा है? मन में ग्लानि होती है लेकिन गुरुजनों का निर्णय है, अतः वे मौन हो जाते हैं, कुछ बोलते ही नहीं। कोई ऐसा कर्म नहीं है जो कि उन्होंने अपने मन से किया है। वे सबके लिए आदर्श हैं, उनके जैसा ही आप कर्म करें। जब पहचान लिया लक्ष्मण ने, भरत ने और शत्रुघ्न ने उन्हें कि ये साक्षात् नारायण हैं तब उन्होंने श्रीराम की आज्ञा का ही अनुसरण किया। वैसे ही यदि आपने भी सद्गुरु को पहचान लिया तो जैसे लक्ष्मण का जीवन राम के लिए, भरत–शत्रुघ्न का जीवन राम के लिए होता है, वैसे ही आपका जीवन सद्गुरु के लिए होगा तो भगवान सच कहते हैं कि आपका उद्धार कर देंगे और आप प्रभु में वास करने लगेंगे, जीवजगत में वास नहीं करेंगे। गुरुजनों ने मना किया, माँ ने मना किया, प्रजा ने मना किया लक्ष्मण को लेकिन लक्ष्मण ने नहीं माना। उन्होंने कहा कि मैं राम नहीं हो सकता, 'राम जगत के लिए जीएँगे मैं राम के लिए जीऊँगा'। इस न्याय से जो जगत के लिए नहीं जी सकता, जो विश्वरूप की उपासना नहीं कर सकता वह अपने इष्ट की उपासना करे।

'मय्येव मन आधत्स्व'– अब भावना के द्वारा विश्वरूप भगवान की अद्वैत चिन्तन के माध्यम से एक और ध्यान की विधि देखें, जिसे महात्मा प्रह्लाद ने धारण किया था। अहो! यह कैसा आश्चर्य है कि मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म से मैं ही विश्वरूप में प्रकट हो रहा हूँ– सूर्य और चन्द्रमा मेरे दो दिव्य नेत्र हैं। सब ओर से तेजोमयी मेरी अंगकान्ति फैली हुई है। पृथ्वी मेरा दोनों पैर है, आकाश मेरा सिर है, तीनों लोक मेरा शरीर है और सम्पूर्ण दिशायें मेरी नाभि है। मेरे सामने खड़े हुए देवता और शंख, चक्र एवं गदा को धारण करनेवाला विष्णु स्वरूप 'मैं ही हूँ' असुर मेरे तेज को उसीप्रकार सहन नहीं कर पाते जैसे कमजोर दृष्टिवाले सूर्य की किरणों को सहन नहीं कर पाते। ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता अनन्त वाणी द्वारा मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा की ही स्तुति करते हैं और अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा से मैं ही सम्पन्न हूँ।

मैं ही सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का आदिकारण हूँ लेकिन मेरा कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण चराचर प्राणियों के अन्तर्गत आत्मस्वरूप से मैं ही स्थित हूँ, शंख, चक्र एवं गदा को धारण करनेवाला विष्णु स्वरूप 'मैं ही हूँ' जो जगत का पालनकर्ता कहलाता हूँ। ब्रह्मा के रूप में जगत को उत्पन्न करता हूँ और 'मैं' ही शिवरूप हुआ संहार करता हूँ। अब मुझे इस शाश्वत एवं सनातन तथा साक्षी स्वरूप को त्यागकर किसी भी विषय में शान्ति की प्रतीति नहीं हो रही है। अहो आश्चर्य है! आश्चर्य है कि मैंने अपने को क्षणभंगुर शरीर मानकर विषयरस को ही परम रस मान लिया था। अब मैं समझ गया कि जो भी विषय–वासना में फँसे हुए हैं, उनके फँसने का कारण उनकी कल्पना (संकल्प) ही है। जिन्हें मैं माता, पिता, पितामह समझता था वे क्षुद्र प्राणियों की तरह ही अभी भी विषय–सुख को ही अपनी आत्मा मान बैठे हैं। राग–द्वेष से उत्पन्न हुए सुख–दुःखादि द्वन्द्वरूपी मोह से युक्त होने के कारण वे कीट–पतिंगों की तरह ही तो हैं; किन्तु जिन्होंने सुखरूपी मृगतृष्णा का त्याग कर दिया है, वैसे ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले पुरुष सच में सौभाग्यशाली हैं।

'ॐ' ही मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है। अतः मैं समस्त विकारों से सर्वथा रहित हूँ। मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म से ही सूर्य में प्रकाश, अग्नि में उष्णता और जल में रस आदि की सत्ता है। समस्त प्राणियों के भीतर हृदयकमल में स्थित मैं अत्यन्त सुलभ हूँ; क्योंकि थोड़ी सी पुकार से प्रकट हो जाता हूँ। मैं सम्पूर्ण शरीर में उसीप्रकार व्याप्त हूँ जैसे पुष्पों में सुगन्ध, तिल में तेल; परन्तु सर्वत्र विद्यमान होने पर भी मैं चेतन विवेक–विचार के अभाव के कारण जाना नहीं जा सकता। 'विचारणा' के द्वारा ही मुझ परमेश्वर का ज्ञान होता है। अतिशय आनन्दरूप मुझ सच्चिदानन्द का दर्शन हो जाने के उपरान्त ऐसी दिव्य बुद्धि उत्पन्न होती है कि साधक का ब्रह्म से कभी वियोग नहीं होता। उसकी सांसारिक आसक्ति समाप्त हो जाती है। काम, क्रोधादि शत्रु विनष्ट हो जाते हैं और नानाप्रकार की तृष्णाएँ मन को चंचल नहीं करतीं।

अहो! अज्ञानरूप शत्रु ने मेरे विवेक का अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह मुझे उतने काल तक कष्ट देता रहा। परन्तु इस समय प्रभुकृपा से मुझे परम तत्त्व का ज्ञान

हो गया जिससे मैंने इस अज्ञान का परित्याग कर दिया है। प्रभु की कृपा से मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियों को देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है जिसके पा लेने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

मैं आनन्दमय एवं शान्तिमय परब्रह्म चिरकाल से अपने स्वरूप में स्थित हूँ, इसलिए मैं अपने–आप को ही नमस्कार कर रहा हूँ। सच में, मनुष्य अपने–आपसे अपना मित्र है और अपने–आपसे अपना शत्रु है। अतः मैं ब्रह्म स्वयं से अपना माता–पिता एवं भाई–बान्धव हूँ और मैं ही विश्वरूप से उत्पन्न हुआ हूँ। यदि दूसरा कोई परमात्मा हो तो भाग भी जाये; किन्तु मैंने किसी अन्य ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया है कि वह रूप जा भी सके। मैंने तो अपने–आप की ही अनुभूति ब्रह्मरूप में की है। मिट्टी, जल, काष्ठ और पत्थरमात्र यह सारा जगत मुझ ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है। अतः मैं ही सगुण एवं निर्गुण हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ।

(योगवासिष्ठ, उपशम–प्रकरण)

(ये तु सर्वाणि कर्माणि.....मय्येव मन आधत्स्व.....) महाराज परीक्षित को शाप मिला और उन्होंने न पुत्र से, न धर्मपत्नी से, न प्रजा से बात की बल्कि मौनी होकर सबको त्यागकर चल दिये। गृहस्थ का पुत्र सर्वस्व होता है, धन सर्वस्व होता है, उससे भी सर्वस्व उसका मुकुट (सम्मान) होता है। उन्होंने सर्वस्व का जैसे ही त्याग किया, वैसे ही सुमेरु पर्वत से सर्वत्यागी भगवान उनके पास आ गये। सर्वत्यागी के पास ही सर्वत्यागी आता है। महाराज परीक्षित ने पागलों की तरह सर्वत्याग नहीं किया बल्कि भगवान का आश्रय लेकर सर्वत्याग किया। वे तो भगवान से प्रार्थना करने लगे, गंगाजी के तट पर जाकर कि हे प्रभु! कोई संत आकर आपका बोध कराये। उसी अवस्था में भगवान शुकदेव ने आकर कहा– हे राजन्! आप निराश मत होवें, भगवान को तो मैं दूँगा!

इस जगत में भगवान को देनेवाले भी संत हैं, धन–सम्पत्ति को देनेवाले भी संत हैं, स्वास्थ्यलाभ करानेवाले भी संत हैं। च्यवन ऋषि का शरीर तप से जर्जर हो गया था। उसी समय अश्विनीकुमार नामक देवता उनके पास आये और उनके शरीर को दिव्य, तेजोमय बनाकर चले गये। जब आप सर्वस्व त्यागकर भगवान के शरण में होते हैं तो सर्वस्व भगवान आपके पास आने लगता है। उसे आप सहसा पचा नहीं पायेंगे, अतः अपने आने के पूर्व आपके तन, मन, वचन, हृदय को अपने योग्य बनाने के लिए वह सद्गुरु भेज देता है, संत भेज देता है। आश्चर्य की बात है कि परीक्षित के पास उनके मन को लेने के लिए संत आ जाता है किन्तु आपके मन को लेने के लिए संत नहीं आता, इसपर विचार करें। आपने सर्वस्व का त्याग क्या, अल्प का भी त्याग नहीं किया; क्योंकि ध्यान में बैठे हैं पाँच–पाँच मिनट में फोन आता है और आप उठाते रहते हैं। आपको क्या पता है कि आप जैसे ढोंगी की ही भगवान नाक–कान काटता रहता है।

एक पिता अपने बाल–बच्चों को दिखाते रहते थे कि हम बड़े ध्यानी एवं भक्त हैं; किन्तु जैसे ही पाँच लाख रुपये की गड्डी लेकर उनका ग्राहक आता था तो पुत्र आपस में बात करते थे उन्हें सुनाकर कि पिताजी तो अभी ध्यान में हैं, आपका सौदा अभी कैसे होगा? तो वे ध्यानी

पिताजी ॐ, ॐ, ॐ चिल्लाते हुए उठ जाते थे। यह देखकर बच्चे आपस में खूब हँसते थे कि पिताजी का ध्यान कैसा है? पैसे के नाम पर चाहे जब उठ खड़े होते हैं।

आधे घण्टे के लिए भी आप भगवान के लिए नहीं बैठ पाते, मन बाहर का बाहर घूमता रहता है, भगवान आपके मन को कैसे पकड़े। ॐ नाम, कृष्ण नाम, राम नाम तो अपनी तरफ आकर्षित करता है किन्तु आपके भगवान का नाम कैसा है कि वह आपका मन विषयों में खींच लेता है? आपसे तो बुद्धिमान कंस एवं हिरण्यकशिपु हैं; क्योंकि वे नाम के महत्त्व को जानते हैं। कंस कहता है गर्ग ऋषि से कि आपने उस बालक का नाम कृष्ण रख दिया? जबकि मेरा नाम कंस था ही। मैं सबको अपनी तरफ आकर्षित करता रहता था; अब तो कृष्ण ही अपनी तरफ आकर्षित कर लेगा, खींच लेगा, सबको अपने प्रभाव में ले लेगा। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादजी से कहा– तुम मेरे नाम का क्यों नहीं जप करते? मेरे नाम से बड़ा किसका नाम है, जिसका तुम जप करते हो? क्या तेरा वासुदेव मेरे से बड़ा है? 'ॐ', 'ॐ', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' करता रहता है! अरे! यह पागल हो गया है, इसे हटाओ यहाँ से, ऐसा कहते हुए प्रह्लाद के सामने से स्वयं भाग जाता था। परीक्षित और प्रह्लाद जैसे सर्वस्व त्यागी के लिए भगवान कह रहे हैं– (तेषामहं समुद्धर्ता.....) मैं उनका शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ। सामान्य दुःख और अशान्ति की तो बात ही क्या है? मैं तो परम धाम ही दे देता हूँ। अब किसी को एक अरब मिले और उसके पास एक पैसा न हो तो हँसी की बात हो जायेगी। उसीप्रकार आपका भगवान आपका संसार से उद्धार कर देगा और आपकी अशान्ति से आपका उद्धार कर ही नहीं रहा है, आपका दुःखद गरीबी से उद्धार कर ही नहीं रहा है, आपके मन, बुद्धि, चित्त का उद्धार कर ही नहीं रहा है तो कैसे माना जायेगा कि आप साधक हैं और भगवान के भक्त हैं? हाँ, यदि आपका तन, मन, धन धीरे–धीरे चला जा रहा है, फिर भी आपको अशान्ति नहीं है, शोक–संताप नहीं है, तब तो आप तितिक्षु ब्राह्मण जैसे भक्त अवश्य हैं।

महाभारत में एक तितिक्षु नामक ब्राह्मण की कथा आती है। उस महाकंजूस और महालोभी ने धन का खूब संग्रह किया था। गृहस्थाश्रम धर्म के अनुरूप पंचमहायज्ञादिकों को भी पूरा नहीं करता था। अतः उसके कुल देवी–देवता कुपित होकर चोरों के मन में उसके धन को अपहरण करने की प्रेरणा दे दिये; इसलिए चोर सब धन लूट ले गये। उन देवताओं ने उसके शरीर में नानाप्रकार के रोग पैदा कर दिये; बचा–खुचा धन वैद्य ले लिया। धन के अभाव में उसके भाई–बान्धवों ने उसका परित्याग कर दिया, तब उसके भीतर से उद्‌गार प्रकट हुआ और कहा– अरे! जिस धन के लिए मैं दिन–रात एक कर रहा था, किन्तु वह धन किसी न किसी कारण से चला ही गया। यह धन कैसा है जिसने मेरे जीवन को तहस–नहस कर दिया। अवश्य ही मैं ऐसा मूर्ख हूँ जो प्रभु जैसे धन को छोड़कर विषयरूपी धन में मन लगा बैठा था। अबतक मैंने न प्रभु के नाम का जप किया, न उनके लिए व्रत–तप किया और न ही उनके रूप का ध्यान किया। अतः अच्छा हुआ कि प्रभु ने सर्वस्व ले लिया। अब मैं संन्यास लेकर सम्पूर्ण दुःखों को भोगता हुआ प्रभु का ही ध्यान–भजन करूँगा, ऐसा सोचकर वह घर–बार, बाल–बच्चों से संन्यास लेकर प्रभु के ध्यान में ध्यानस्थ होने के कारण से मौनी होकर विचरने लगा। जब वह एक समय प्रसाद

पाने के लिए गाँव–नगर में मधुकरी (भिक्षाटन) करने जाता तो कोई कहता– यह लोभी तथा कंजूस धन लुट जाने पर भगवान के नाम पर ढोंग कर रहा है। ऐसा कहकर लोग उसे बहुत प्रकार से सताने लगे। कोई उसपर मैला फेंक देता था तो कोई उसपर थूँकता था, कोई कीचड़ फेंकता था तो कोई धक्के देकर गाँव के बाहर निकाल देता था; किन्तु वह मन ही मन सोचता कि मुझे दुःख देनेवाला प्रारब्ध के अलावा कोई नहीं है। मेरा दुष्कर्म ही वैरी है और सत्कर्म ही मेरा मित्र है। अतः दुष्कर्मरूप प्रारब्ध ही मुझे कहीं घर में बन्द कर देता है, कहीं बाँध देता है, बहुत शरीरों के माध्यम से मुझे घेरकर पीटता है, किन्तु न बन्धन मेरे मन को पीड़ा पहुँचा रहा है, न लोगों के द्वारा दी जानेवाली यातना। ऐसा क्यों न हो क्योंकि मैं अधम इन सब दण्डों से भी अधिक दण्ड का पात्र हूँ। इसप्रकार उसकी तितिक्षा की सिद्धि हो गयी। इस कारण प्रभु में आत्यंतिक श्रद्धा होने के कारण से उसका संन्यास फलित हुआ और उसको ब्रह्मज्ञान हो गया।

परम पूज्य गुरुदेव ने 'मेरा लक्ष्य' नामक ग्रंथ में लिखा है–

हिंसा किसी की कर नहीं जो हो सके उपकार कर।
विश्वेश को यदि चाहता तो विश्व भर को प्यार कर।।

अर्थात् भगवान को चाहने पर प्रथम अवस्था में संसार आपको नहीं चाहेगा; संसार आपको आदर नहीं देगा, बल्कि भगवान के रूप में संसार को ही आपको आदर देना होगा। संसार आपको सतायेगा किन्तु आप संसार को प्यार करेंगे, तब भगवान आपको प्यार करेगा। भगवान ने कहा– (मय्येव मन आधत्स्व.....) अर्थात् मेरे में मन को लगाएँ; कहने का तात्पर्य है कि संसारभाव का त्याग कर दें और उसका भगवान समझकर आदर करें। जब भक्ति व्यापक होती है तो सब रूपों में भगवान ही दिखाई पड़ता है। लगता है कि सब रूपों में भगवान ही बोल रहा है, सब रूपों से वही देख रहा है, सुन रहा है, कर्म कर रहा है। वही माता–पिता, भाई–बान्धव, पुत्र–पत्नी आदि सबकुछ बना हुआ है। उसके उपरान्त ऐसी अनुभूति होने से वहाँ संसार रहता ही नहीं, केवल भगवान रहता है और वैसी अवस्था में आपका मन सहज ही प्रह्लाद जैसा मग्न हो जाता है, आपका व्यवहार उनके व्यवहार जैसा हो जाता है। वहाँ मन सहज ही भगवान के नाम में लगता है, बुद्धि सहज ही भगवान का चिन्तन करती है। इसप्रकार भक्त ध्रुव जैसा आपका भी मन सहज ही भगवान में लग जाता है।

नारदजी ने कहा कि तुम्हारे मन में क्षोभ तो है किन्तु जिस भगवान की गोद में बैठने जा रहे हो, उसी भगवान ने पिता के रूप में तुम्हारा अपमान किया है। इतना ही नहीं, सारे के सारे प्राणिपदार्थों के रूप में भी वही है और भला–बुरा, सत्य–असत्य व्यवहार भी उसी का है। ध्रुव ने कहा तब तो हे गुरुदेव! मैं भगवान के असली रूप को अवश्य देखूँगा। अब असली रूप को देखकर ही नकली रूप के प्रति समर्पित होऊँगा। ऐसा भाव होते ही उनका मन सहज ही भगवान के नाम में लग गया, बुद्धि के द्वारा सहज ही प्रभु के स्वरूप का चिन्तन होने लगा।

ॐ मासपारायण, उन्नीसवाँ विश्राम ॐ

अब आप अपने को देखें कि आप परीक्षित जैसे जिज्ञासु हैं या ध्रुव, प्रह्लाद जैसे; क्योंकि ये तीनों ही उत्तम अधिकारियों में से हैं। यदि आप इन तीनों में से कोई नहीं हैं तो कोई बात नहीं। आपके लिए भगवान ने उससे सुगम रास्ते का चुनाव किया है–

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापन करने में समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासयोग के द्वारा मुझको प्राप्त होने की इच्छा कर। यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इसप्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा। यदि मेरे प्राप्तिरूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है तो मन–बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर।

(अथ चित्तं समाधातुं.....) यह अभ्यासयोग है। लक्ष्मण अभ्यासयोगी हैं, विश्वरूप के लिए नहीं जीते, जो विश्वरूप के लिए जीते हैं– श्रीराम, उनके लिए लक्ष्मण जीते हैं। अभ्यास करेंगे राम जैसा जीने के लिए लेकिन पहले राम के लिए जीएँगे तभी तो अभ्यास करेंगे! जब राम का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो जायेगा, राम की शक्ति–सामर्थ्य, राम की स्मृति प्राप्त हो जायेगी, ब्रह्म स्मृति हो जायेगी तब तो 'सर्वभूतहितेरताः' होंगे, तब तो विश्वरूप की उपासना करेंगे। विश्वरूप की उपासना करनेवाले विरले होते हैं। यद्यपि विश्वरूप की उपासना सुगम साध्य है, यह सर्वश्रेष्ठ साधन है लेकिन लक्ष्मण ने स्वीकार नहीं किया। श्रीराम को अपना स्वामी, गुरु अर्थात् सबकुछ बना लिया और उनके सिवा किसी का कहना नहीं माना। प्रजा ने कहा कि भरत भी नहीं हैं, आप दया करें। लक्ष्मण ने कहा था– 'उद्धरेदात्मनात्मानं' पहले मैं अपना उद्धार करूँगा।

एक दिन हुड्डाजी के लिए फोन आ गया, हरियाणा से। इनके बड़े भाई का देहान्त हो गया, लेकिन वे नहीं गये। गीताजी कहती है क्यों जाएँगे? मरने–जीनेवाले मरते जीते रहते हैं, कौन नहीं मरता। अरे! अब जाकर ला तो सकेंगे नहीं उनको स्वर्गलोक से या भगवान के लोक से। जो विश्वरूप के लिए नहीं जी सकता कम से कम भगवान के लिए तो जीयेगा, इतनी तो सामर्थ्य है! बारह साल महात्मा लक्ष्मण ने अभ्यासयोग से राम नाम का जप करते हुए, रामरूप का ध्यान करते हुए, पहरेदारी की है अर्थात् सेवा–शुश्रूषा की है, उनके लिए झोपड़ी बनाना, बैठने के लिए आसन बनाना, कंद, मूल, फल लाना आदि, जैसे आत्मानन्द जंगल में किया करते

थे। एक बार एक साधक रोने लगा। पाँच महीने में इनकी झोपड़ी तैयार होती थी। पाँच महीने में तीन झोपड़ी अकेले तैयार करते थे, दो–तीन भीलों को लेकर। अब जो इस घेरे में आता था दिन भर लगे रहो इनके साथ। साधक ने कहा– महाराजजी! ये तो काम कराके मार डालते हैं। अपने तो इनको थकना नहीं है और दूसरे पर दया आती नहीं है। महाराज ने कहा– लक्ष्मण नहीं थकते। जो भगवान के लिए जीता है, 'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम' उसका यह संकल्प होता है। 'सर्वकर्मफलत्यागं.....'– लक्ष्मण कभी कन्द–मूल, फल–फूल लाकर खिलाएँगे, फिर जप करते हुए पहरेदारी करना शुरू कर देंगे, यह अभ्यासयोग है। वही उनका ध्यानयोग है, कभी भी चौबीस घण्टे में मन इधर–उधर जायेगा ही नहीं, आठवें अध्याय में भी कहा– 'अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।' अभ्यासयोग से भी अचिन्त्य पुरुष की तरफ पुरुष गमन कर जाता है और कालान्तर में ब्रह्मरूप हो जाता है। तेरहवें साल में लक्ष्मण ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह बात अलग है कि ब्रह्मरूप होकर भी उन्होंने श्रीराम की सेवकाई नहीं छोड़ी। वही श्रीराम आज श्रीकृष्ण कहलाते हैं और लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की जगह महात्मा अर्जुन को खड़ा देख रहे हैं तथा कह रहे हैं विचार कर लो– 'अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्' यदि तुममें विश्वरूप को देखने की सामर्थ्य नहीं है तो कोई बात नहीं है, अभ्यास करो। अर्थात् उन पुरुषों को भगवान नारायण संकेत कर रहे हैं, जिन्हें सद्गुरु प्राप्त हो गया है तथा उसकी आज्ञा के अनुसार नहीं चल पाते, सद्गुरु की बुद्धि के अनुसार निर्णय नहीं कर पाते तो वे जो भी योग, जप, तप कर रहे हैं मन से, उसके बदले में भगवान से माँगें कि मैं सद्गुरु की आज्ञा अनुसार ही कर्म कर सकूँ। हे प्रभु! ऐसी कृपा करें कि चौबीस घण्टे मैं उनके मन के अनुसार ही चल सकूँ, उनका निर्णय ही मेरा निर्णय हो, मेरी बुद्धि का निर्णय मेरा निर्णय न हो; यहाँ तक आप सब समझ गये होंगे। सारे राजस्थान के लोग कहते हैं– 'निगुरा मरा जग जीआ' अर्थात् जिसने सद्गुरु नहीं बनाया, बिना सद्गुरु बनाए मर गया तो जगत जी गया अर्थात् उससे मुक्त हो गया, वह भार था पृथ्वी का। ठीक इसके विपरीत सद्गुरु के अनुसार किया और जग जीआ। जीवजगत जी गया अर्थात् वह मुक्त हो गया, इस धरा को एक विभूति मिल गयी। 'अभ्यासयोगयुक्तेन'– अभ्यासयोग में कभी तो वह जप कर रहा है, कभी भगवान के रूप का ध्यान कर रहा है, कभी स्वाध्याय कर रहा है, कभी यज्ञ कर रहा है, कभी माता–पिता आदि की सेवा कर रहा है लेकिन जब भगवान के सम्मुख होता है तो वह एक ही कामना रखता है कि मैं सदा–सर्वदा सद्गुरु के लिए जी सकूँ ऐसी कृपा करें।

इसप्रकार यदि अभ्यासयोग में भी असमर्थता है तो अब क्या करें? ऐसा भी नहीं कर सकते तो दस प्रतिशत दान करें। दस प्रतिशत धन का, दस प्रतिशत तन का, दस प्रतिशत मन का, दस प्रतिशत बुद्धि का, दस प्रतिशत समय का दान करें। इतना तो कर ही सकता है कोई भी, ढाई घण्टे होता है दस प्रतिशत चौबीस घण्टे का। चौबीस घण्टे में ढाई घण्टा समय भगवान को दे दें, उसमें शरीर को बिठाकर सवेरे–शाम (सवा घण्टा सवेरे, सवा घण्टा शाम) मन से भगवान के नाम का जप करें, बुद्धि से चिन्तन करें चित्त में भगवान के रूप का ध्यान करें, दस प्रतिशत हुआ ये। सौ पैसा कमाया और दस पैसा दे दिया। दस पैसे में गृहस्थाश्रम के दरवाजे पर आये

हुए भिखारी हैं, ब्राह्मण जन हैं, चन्दा–चिट्ठे माँगनेवाले लोग हैं, अन्य दीन–दुःखी हैं, गोमाता है, सन्त हैं, इत्यादि इत्यादि। जो पशु–पक्षी दरवाजे पर आ जाते हैं, उसी दस पैसे में उनकी भी सेवा करनी है। ये भगवान के मुख हैं, भगवान की आत्माएँ हैं। गृहस्थाश्रम में इन्हें भगवान की आत्मा माना जाता है अतः इन्हीं की सेवा करें। इस दस प्रतिशत अन्न दान से, अन्न पवित्र हो जायेगा; चौबीस घण्टे में ढाई घण्टे समय भगवान को दे देते हैं तो अन्य समय आपका पवित्र हो जायेगा; दस प्रतिशत शरीर से बड़े–बूढ़ों की सेवा करें, स्नान करायें, तेल लगायें तो शरीर पवित्र हो जाता है। ऐसा करने के उपरांत कालान्तर में आप प्रभु के लिए ही जीने लगेंगे। यदि इसमें भी असमर्थता है, यह भी नहीं कर सकते, तो अब क्या करें? तो कहते हैं–

(अथैतदप्यशक्तोऽसि.....) इसमें भी कोई असमर्थ है तो कोई बात नहीं, वह कर्म के फल का त्याग तो कर ही सकता है। बाल–बच्चों के साथ रहे लेकिन उन्हें अपना न माने। इसका उदाहरण महाराज महात्मा भरत से देगा; यद्यपि महात्मा भरत उत्तम अधिकारी हैं, वे श्रीराम की जगह होकर विश्व की प्रीति के लिए, विश्व की संतुष्टि के लिए विश्वरूप भगवान की उपासना कर सकते हैं लेकिन ऐसा उन्हें अवसर मिलता नहीं। अवसर नहीं मिलने के कारण से वे कर्म के फल का त्यागकर प्रभु श्रीराम को मनाने चल पड़े। क्या कर्म के फल का त्याग करके? बलात् राज्य आ गया; गुरुजी राज्य दे रहे हैं, माँ राज्य दे रही है, प्रजा राज्य दे रही है, अब सब कह रहे हैं कि सिंहासन पर बैठ जाएँ फिर मनाने जाना श्रीराम को, हम भी आपके साथ जाएँगे लेकिन नहीं लिया राज्य को, कर्म के फल का त्याग किया। कर्म के फल का त्याग करके श्रीराम के पास वह महापुरुष चला गया। श्रीराम ने कहा कि राज्य तो चौदह वर्ष करना ही पड़ेगा, तुम करो या मैं करूँ, लक्ष्मण करें या शत्रुघ्न करें। इस ब्रह्महत्या के पाप को तुम भोगो या मैं भोगूँ, लक्ष्मण भोगें, शत्रुघ्न भोगें, कोई न कोई भोगेगा। सनातन परम्परा में यह नियम है कि यदि असमर्थ है जप करने में, तप करने में तो उसके बदले ब्राह्मण आ करके दक्षिणा ले करके जप–तप करके चले जाते हैं। भगवान श्रीराम की वाणी को महात्मा भरत ने लोक लिया (स्वीकार कर लिया) अर्थात् ले लिया, कहा– बस, बस, बस, बस, तब तो बड़ा सुगम हो गया। हे प्रभु! तो फिर ऐसा करें, लक्ष्मण, शत्रुघ्न लौट जाते हैं, मैं आपके साथ चलता हूँ। यदि भोगना ही है तो लक्ष्मण, शत्रुघ्न जाकर उस राज्य को भोगें। यदि इतने में भी अनुपात नहीं बनता है तब फिर ऐसा करते हैं कि मैं और लक्ष्मण वन को चले जाते हैं, आप शत्रुघ्न को लेकर चले जाएँ या शत्रुघ्न को लेकर वन में मैं जाता हूँ चौदह वर्ष के लिए, आप लक्ष्मण को लेकर लौट जाएँ या हम तीनों भाई ही आपके बदले चौदह वर्ष के लिए वन में जाते हैं और आप लौट जाएँ। जैसे भी इस महापाप का प्रायश्चित हो, जैसे भी आपको संतुष्टि हो आप वही करें। श्रीराम खड़े के खड़े रह गये। 'इस महापाप को भोगना पड़ेगा, तुम भोगो चाहे मैं भोगूँ', ऐसा कहनेवाले भगवान सोचने लगे कि अब क्या करूँ मैं, वे हक्के–बक्के रह गये। अपने से ब्रह्म फँस गया, भगवान फँस गया, भक्त के घेरे में आ गया। वहाँ गुरुजनों की बुद्धि चकरा गयी, आश्चर्यचकित सी हो गयी। त्यागी से भगवान भी डरता है। उसी समय महाराज जनक का दूत आया कहा कि हे महाजनो! महाराज जनक आये हुए हैं, बात वहाँ समाप्त हो गयी। चार दिन तर्क चलता है राजा जनक

के आने के उपरांत, अन्ततोगत्वा प्रभु की प्रसन्नता में ही प्रसन्नता है, ऐसा कहते हुए महात्मा भरत ने आत्मसमर्पण कर दिया लेकिन उस फल को तो भी नहीं लिया बल्कि चरणपादुका लेकर सिंहासन पर बिठा दिया। छावनी होती है नंदीग्राम में, वहीं जाकर साधना में बैठकर मांडवी का त्याग कर दिया, जैसे लक्ष्मण ने उर्मिला का त्याग कर दिया था। फल त्याग करके स्वामी की सेवा की थी। काम ही है फल जीव का, अज्ञानियों का यह काम ही परम फल है। परम फल को त्यागकर महात्मा भरत ने नंदीग्राम में घोर तपस्या की। अतः यह तप कोई भी कर सकता है। स्वामी की प्रसन्नता के लिए कर्म करना लेकिन फल का त्याग करके करना। माँ की प्रसन्नता के लिए बिना शादी किए बचपन में महात्मा ध्रुव ने घोर तपस्या की। भगवान की आज्ञा से शादी की अर्थात् उन्होंने घोर तप करके भगवान विष्णु को प्राप्त किया और उनकी आज्ञा से फिर शादी की। महात्मा प्रह्लाद ने पहले फल का त्याग कर दिया, विद्याध्ययन फल की प्राप्ति करना है, वेद–वेदांगों को पढ़ना भी फल को प्राप्त करना है। माँ सुनीति ने कहा ध्रुव से कि पढ़ना–लिखना बाद में, पहले जाओ भगवान को लेकर आओ। वेद एक फल है वेद की विद्या एक फल है। पहले ब्रह्मविद्या को ले आओ, ब्रह्मविद्या फल नहीं है। प्रह्लाद ने वेद पढ़ना अस्वीकार कर दिया।

गुरुजी से तर्क हो चला। महाराज ने भी पढ़ना छोड़ दिया। विद्यालय जाता था खूब पढ़ता था और लगता था कि यह सब गलत ही लिखा हुआ है अतः परीक्षा में जाकर (नवीं कक्षा की वार्षिक परीक्षा से) एक अद्‌भुत नाटक हो जाता था। उसमें भगवान का नाम लिखकर छोड़ देता था, सारे अ ध्यापक परेशान–परेशान। ग्यारहवीं में गया तो सोचा था बोर्ड की परीक्षा तो दे दी जायेगी। बहुत अध्ययन किया था, बहुत अध्ययन किया था। वहाँ जाकर कहा कि अरे! झूठ क्या बोलना! 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के भाष्य का विरोध करना है, एक विद्वान का भाष्य था। यदि विरोध करता है तो नम्बर नहीं मिलता और वे जैसा कहते हैं वैसा लिखता है तो फिर वह सत्य नहीं होता। आर्कीमीडिज का सिद्धान्त पूरा नहीं है, न्यूटन का सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्य है नहीं, ये सब अधूरे हैं। वहाँ जाकर फिर वही बात, व्रत हो गया था झूठ नहीं बोलूँगा, अतः भगवान का एक नाम उसमें लिखा और छोड़ दिया। जगत के फेल कर देने से फेल नहीं माना जाता है, भगवान यदि फेल करे तब फेल माना जाता है। वे सारे के सारे अध्यापक फिर आश्चर्यचकित हो गये लेकिन अब विरोध करने की सामर्थ्य किसी की तो थी नहीं। उनलोगों के मन में एक पहेली थी। महात्मा प्रह्लाद के साथ सारे के सारे मित्र भी उन्हीं के रंग में रंग गये, ब्रह्मविद्या ही चाहने लगे। विरोध कर दिया गुरु से, पहले ब्रह्म तब विद्या अथवा पहले ब्रह्मविद्या फिर सामान्य विद्या है। ये आदि परम्परा है। जो ब्रह्मविद्या न पढ़ सके उसके लिए सामान्य विद्या है, कर्म का फल है सामान्य विद्या। बहुत सी विद्याएँ हैं– तंत्रविद्या, मंत्रविद्या, योगविद्या, यज्ञविद्या, ज्योतिषविद्या ये सारी की सारी विद्याएँ हैं लेकिन पहले ब्रह्मविद्या उसके उपरांत ये विद्या। समर्थ रामदास के पाणिग्रहण का समय आया। ब्राह्मण ने कहा– बोलो, प्रतिज्ञा करो, वचन दो। कहा क्या? वचन दो कि मैं कोई भी यज्ञकर्म अपनी धर्मपत्नी से परामर्श करके करूँगा, अपने यज्ञादि कर्म में इसको साथ रखूँगा। कहा– अच्छा, अच्छा, अच्छा! इस वचन को लेने में कितना समय लगेगा? कितने

वचन हैं? कहा कि बारह वचन हैं, इसको विस्तार से मैं कहूँगा तो आधा घण्टा लग जायेगा। तो कहा कि लघुशंका (पेशाब) इतनी जोर की लग गयी है, आप आज्ञा दे सकते हैं क्या? तो कहा– जाओ! पेशाब का बहाना करके आगे निकलते हैं अन्धेरा है, अन्धेरे का लाभ लेकर भागते हैं। भागते, भागते, भागते, बहुत दूर, बहुत दूर, जहाँ कोई न जा सके, वहाँ जाकर घोर तप करने लगे, फल छोड़ दिया। झूठ भी नहीं बोलना, भगवान के लिए जीना भी और पत्नी के अधिकार में होकर जीना, यह कहाँ की बात है। फल सामने था और छोड़–छाड़कर भाग गये। सरल है यह। कर्म के फल को आप त्याग करके कर्म करें। कौन सा कर्म करें? चलें अपने मन से ही करें कर्म। अपने मन से क्या? भक्त अपने मन से भी करता है तो भगवान के मन का हो जाता है, छूट दे रखी है भगवान ने। प्रथम अवस्था में साधक अपने मन से ही भगवान की आराधना–साधना करता है लेकिन सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग भरत के जैसा करना, फिर भले ही अपने मन से जप, तप, योग करना या अपने मन से अनशन करना। कर्मफल का त्याग करके अपने मन से भी जप–तप किया लोगों ने फिर उस प्रज्ञा को प्राप्त किया जिस प्रज्ञा से– 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय' पूरा होता है। यहाँ तक आप सबने अच्छीप्रकार से समझ लिया होगा। अपने जीवन की कहानी को भी लाकर यहाँ पर रखना, यह कहानी आपके लिए है। एक बच्चे ने अभी कहा कि जैसे पिताजी को आपने शरण में रखा, वैसे मेरे को शरण में ले लें। उसको ऐसा लगता है कि पिताजी साधु हो गये। उसको क्या पता है कि पिताजी के मन में अभी गुरुजी से ज्यादा मैं वास कर रहा हूँ। एक साधक हँसता है कि पेंशन बच्चों के पास देना और खाना गुरुजी के पास! यद्यपि बच्चा स्वीकार नहीं करेगा, बच्चा कहेगा कि क्यों दे रहे हैं पेंशन, हमलोग तो माँग नहीं रहे हैं। तो उससे कहा जायेगा कि बेटे तुम जानते हो कि ये संत हो गये लेकिन ये पुत्रभक्त पहले हैं, बाद में संतभक्त हैं। फल का त्याग करके भजन करना चाहिए तो कहेंगे कि 'पेंशन भी तो फल है जो मैंने त्याग दिया है, फिर आपके पास आ गया।' चलो धर्मपत्नी है उसके लिए छोड़ दिया अर्थात् जब–जब आते हैं उसको छोड़कर आते हैं तो फिर उस पैसे पर उसका अधिकार होता है, महाराज कहता है। रामानन्द नहीं कहता इस बात को, वह तो मजाक करता है, लेकिन महाराज कहता है कि नहीं उस पैसे पर इनकी धर्मपत्नी का अधिकार है। धर्मपत्नी नहीं रहेगी तो बच्चों का अधिकार नहीं है उस पैसे पर भगवान का अधिकार है।

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'– छोटी से छोटी बात पर गहन चिन्तन करना है, खगेन्द्रानन्द कह रहे हैं कि गुरुदेव ये बड़ा कठिन है, बहुत कठिन है– कर्म के फल का त्याग करना बहुत कठिन है। भगवान कहते हैं कि बहुत सरल है, बहुत सरल है। फल के बीच में रहकर कर्म के फल का त्याग कोई नहीं कर सकता– अयोध्या में रहकर मांडवी का त्याग भरत नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय वे कामविजेता नहीं हैं। उसके लिए उन्हें वनप्रदेश (नंदीग्राम) में रहना पड़ेगा, पहरेदारी कराके रहना पड़ेगा। मांडवी को वहाँ आने की आज्ञा नहीं है, फल आ ही नहीं सकता। यदि भरत जैसी ही आपको साधना करनी है तो फल से बहुत दूर, बहुत दूर चले जाएँ क्योंकि जिस फल को आप खाते आये हैं वह आपका पीछा करेगा इसलिए

कि वह आपका काल है। वह काल आपको खाना चाहता है, वह चेतन है, वह आपका कर्म है। जितना आप चेतन नहीं हैं उतना आपका कर्म और आपका कर्मफल चेतन है; अतः बहुत दूर, बहुत दूर जहाँ आपका फल न हो वहाँ चले जाना तथा प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करना। यद्यपि लक्ष्मण के अभ्यासयोग से श्रीराम का ज्ञानयोग श्रेष्ठ है लेकिन लक्ष्मण का अभ्यासयोग उनके लिए श्रेष्ठ इसलिए हो गया क्योंकि प्रकृति के मर्म को, रहस्य को वे जानते थे। अपने चित्त की शक्ति–सामर्थ्य को, अपने शरीर, मन, इन्द्रियों के रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि मैं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला नहीं हो सकता। इसलिए उनके लिए वह अभ्यासयोग सुगम हो गया अन्यथा अभ्यासयोग ही कठिन है। यद्यपि प्रथम अवस्था में भगवान नारायण ने ज्ञान से अभ्यासयोग को सरल बता दिया, कहा कि अभ्यासयोग से मेरे लिए ही कर्म करो, गृहस्थाश्रम में दस प्रतिशत मेरे लिए कर्म करो और नब्बे प्रतिशत अपने लिए करो ऐसा कर्म बता दिया, इसके बाद फिर क्रमशः नीचे आकर कहा कि कर्म के फल का त्याग करके कर्म करो, तो कहते हैं कि ज्ञान श्रेष्ठ है। किससे? अभ्यासयोग से। क्यों अभ्यासयोग से ज्ञान श्रेष्ठ है? इसलिए कि अभ्यासयोग के लिए भी सद्गुरु की अनुमति अनिवार्य है, अपनी शक्ति–सामर्थ्य को भलीभाँति जानकर ही अभ्यासयोग सरल हो सकता है। महात्मा अर्जुन ने कहा कि फिर मुझे अभ्यासयोग ही करने दें। जब आप कह ही रहे हैं कि तुम निमित्त हो, मैं मार ही डालूँगा तो मार डालें आप, अभ्यासयोगी बना दें ताकि गुरुजनों से युद्ध न करना पड़े। तो प्रभु ने कहा कि मर्म को जाने बिना यह भी तो कठिन है। सद्गुरु के मन से, उसकी बुद्धि से निर्णय करके उसी के अनुसार गृहस्थाश्रम में अहर्निश गमन करनेवाला साधक ज्ञानयोगी भी कहलाता है, यद्यपि कर्मयोगी की जगह बैठा हुआ है।

तो आप अभ्यासयोग का आश्रय लें। अभ्यासयोग के दो–चार पात्रों को भी जान लें, जिससे आपको अपने स्वरूप को पहचानने में सुगमता होगी, तभी आप अपनी मनपसन्द साधना का चुनाव कर सकते हैं। यहाँ मंत्र ८ से ११ तक चार प्रकार की साधना को दिया गया है। यहाँ जो चारों मंत्रों में यह कहा गया है कि यदि तुम इसमें भी असमर्थ हो तो अमुक साधन अपनाओ, अमुक साधन अपनाओ, इसका तात्पर्य अपनी असमर्थता से ही नहीं समझना चाहिये बल्कि मनपसन्द से भी समझना चाहिये अर्थात् इसका भाव यह भी है कि यदि यह साधना पसन्द नहीं है तो यह दूसरी साधना भी अपना सकते हैं। इन चारों साधनाओं में से–

पहली साधना है– संसार से संन्यास लेकर ध्रुव, प्रह्लाद, परीक्षित तथा वाल्मीकि आदि भक्तों एवं संतों की तरह सदा जप और ध्यान में लगे रहना।

दूसरी साधना है– भगवती शबरी, मीरा, भरद्वाज, सुतीक्ष्ण आदि भक्तों एवं संतों की तरह घर से संन्यास लेकर गुरु–आश्रम में रहकर या गुरु द्वारा बताये हुए किसी अन्य स्थान पर अभ्यासयोग द्वारा प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

तीसरी साधना है– राजा जनक, राजर्षि हरिश्चन्द्र तथा महात्मा भरत आदि की तरह गृहस्थाश्रम में रहकर सद्गुरु आज्ञानुसार प्रभु की प्रसन्नता के लिए निष्काम कर्म करना।

चौथी साधना है– संन्यास लेकर हनुमान एवं लक्ष्मण तथा सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु की तरह केवल सद्गुरु की सेवा में रत रहना, उसी की सेवा के लिए जीना और उसी के लिए मरना।

भगवती शबरी ने अभ्यासयोग के द्वारा ही प्रभु को प्राप्त कर लिया था। साधना के प्रथम चरण में गुरुजी की आज्ञानुसार आश्रम में सेवा की, दूसरे चरण में उनका सत्संग प्राप्त हुआ, तीसरे चरण में गुरुजी के ही चरणों की सेवा प्राप्त हो गयी, चौथे चरण में आश्रम में ही भगवत् कथा का आदान–प्रदान किया, पाँचवें चरण में प्रभुनाम के जप में मन लग गया, छठे चरण में तन, मन, इन्द्रियों सहित उसकी बुद्धि वश में हो गयी, सातवें चरण में अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि से सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को प्रभुमय देखना प्रारम्भ कर दिया, आठवें चरण में उसे परम सन्तोष प्राप्त हो गया, उसे स्वप्न में भी किसी में भी दोषदर्शन नहीं होता था। अतः नवें चरण का अभ्यास करना ही नहीं पड़ा, वह सारे जगत के प्रति ब्रह्मभाव के कारण से अभय होकर समर्पित हो गयी, उसका भगवान के सिवा किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं रह गया। जैसे ही उसने सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म के रूप में देखा, वैसे ही प्रभु श्रीराम ने उसकी कुटिया में आकर उसका संसारसागर से उद्धार कर दिया।

(अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि.....) यदि अभ्यासयोग भी किसी को प्रिय नहीं है, तो उसे राजा जनक, राजर्षि हरिश्चन्द्र, महात्मा भरत आदि की तरह गुरु आज्ञानुसार गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही प्रभुप्राप्ति के निमित्त निष्काम कर्मयोग करना चाहिये। राजा जनक ने तो सम्पूर्ण राज्य सहित अपने को भी गुरुदेव अष्टावक्र के चरणों में समर्पित कर दिया था। महात्मा विदुर ने आये हुए राजपद को अस्वीकार कर दिया था तथा मंत्री के पदपर रहकर कर्मयोग का पालन किया था अर्थात् सेवक के पद को स्वीकार कर लिया था। जब उन्होंने राजपद को अस्वीकार कर दिया तो अनन्यभक्तिपद प्राप्त हो गया। सभी जानते हैं कि कालान्तर में संन्यास लेकर उन्होंने परम निर्वाणपद प्राप्त कर लिया था। राजर्षि अम्बरीष एवं हरिश्चन्द्र आदि की कहानी सभी जानते हैं।

साधकों को अबतक तीन प्रकार की साधना दी गई तथा साधना के अनुरूप पात्रों का भी संकेत किया गया है। कोई जरुरी नहीं है कि सभी पात्र सबको प्रिय हों। यदि आपको तीनों साधनाओं में से कोई भी साधना प्रिय नहीं है तो अगले मंत्र के द्वारा चौथी साधना पर ध्यान दें– (अथैतदप्यशक्तोऽसि.....) जितेन्द्रिय साधक शुभ और अशुभ तथा मिश्रित सम्पूर्ण कर्मफलों को त्यागकर अपने स्वामी की सेवा–शुश्रूषा करता हुआ भगवत् सिद्धिरूप लाभ को प्राप्त करे। जिसप्रकार पतिव्रता नारी के लिए पति की सेवा के अतिरिक्त किसी अन्य सेवा का विधान नहीं किया गया है, वह तन, मन, वचन हृदय से पति को ही सगुण ब्रह्म समझकर सेवा–शुश्रूषा करते हुए परमपद को प्राप्त कर लेती है, उसीप्रकार साधक भी अपने स्वामी के चरणों की अहर्निश सेवा करता हुआ ही ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त कर जाता है। इसके बहुत से पात्रों में से महात्मा लक्ष्मण एवं भक्तप्रवर हनुमानजी का नाम अग्रगण्य है।

वन–गमन के समय प्रभु श्रीराम ने लक्ष्मण को अयोध्या में रहकर माता–पिता एवं प्रजा की सेवा–शुश्रूषा करने के लिए बहुत समझाया। बहुत से शास्त्रों–पुराणों के द्वारा उनके स्वयं के धर्म का बोध कराना चाहा; किन्तु लक्ष्मण ने यह कहकर प्रभु श्रीराम की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया कि

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं।।
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी।।
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला।।
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी।।
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई।।
(अयोध्याकाण्ड, दोहा–७२)

हे प्रभु! धर्म और नीति का उपदेश तो उसे देना चाहिए, जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य, सद्गति अथवा स्वर्ग चाहिए, मेरे तो मन, कर्म और वचन से पूजा के पात्र एकमात्र आप ही हैं। मैं तो माता, पिता, गुरु अथवा हित–मित्र या धर्मपत्नी आदि किसी नाते को मानता ही नहीं, मेरे जो कुछ भी हैं, आप हैं। ऐसा कहकर वे भगवान के साथ हो लिए। तेरह साल बीते, शूर्पणखा प्रभु श्रीराम के पास आई, प्रभु ने लक्ष्मण के पास भेज दिया। जिस लक्ष्मण ने अयोध्या में पुण्यफल उर्मिला को छोड़ दिया था, उन्होंने ही पापरूप फल शूर्पणखा को यह कहते हुए प्रभु श्रीराम के पास भेज दिया–

सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा।।
प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहि सब छाजा।।
सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी।।
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी।।
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई।।
(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

लक्ष्मण ने बड़ी गूढ़ बात कहते हुए उसके साथ गूढ़ व्यवहार भी कर दिया। वे समझ गये कि ब्रह्म जीव के कर्मफल को देगा, अब जीव के ऊपर निर्भर करता है कि वह कर्मफल को स्वीकार करे या न करे। लक्ष्मण ने ऐसा सोचकर स्वीकार करना तो दूर, उसको भला–बुरा कहकर उसकी नाक–कान काट ली, तब उन्हें प्रभु ने ब्रह्मज्ञान दे दिया। लक्ष्मण को जब प्रभु श्रीराम के साथ–साथ सबने अयोध्या में रहने को कहा तब लक्ष्मण ने कहा कि मैं राम के लिए जीऊँगा और प्रभु श्रीराम जगत के लिए जीएँगे। मैं विश्वरूप की उपासना नहीं करना चाहता और न ही योग, यज्ञ, तप करना चाहता हूँ। सर्वप्रथम मैं अपना उद्धार करूँगा, इसके उपरान्त

मैं देखूँगा कि मुझे क्या करना चाहिये? मुझे रामनाम जपने में प्रीति नहीं है और न राम के रूप के ध्यान में प्रीति है, न इनके अभाव में अयोध्या में रहकर किसी अन्य की सेवा में प्रीति है। मुझे बस श्रीराम प्रभु की सेवा चाहिये, उसके लिए भले मुझे कोई भी कीमत चुकानी पड़े।

हनुमानजी का भी जीवन एकमात्र भगवान श्रीरामजी के लिए ही है। यद्यपि वे ब्रह्मज्ञानी हैं, अपने स्वरूप में सदा स्थित रह सकते हैं, उन्हें चारों प्रकार की साधनाओं में किसीप्रकार का क्लेश नहीं हो सकता, चारों प्रकार की साधनाएँ उनको चाहती हैं; किन्तु वे चौथी साधना को ही चाहते हैं। उन्होंने तो कभी कर्मफल स्वीकार किया ही नहीं। लक्ष्मण ने तो जनकपुर में कर्मफल के रूप में उर्मिला को स्वीकार कर भी लिया था, किन्तु हनुमानजी के जीवन में किसी भी कर्मफल को स्वीकार करने की बात नहीं आती। उस अनुपम कर्मफलत्यागी का प्रताप तो देखें कि आज भारतवर्ष में रामजी से भी ज्यादा हनुमानजी के मन्दिर हैं। सम्पूर्ण जीवन में हनुमानजी ने गुप्त होकर भगवान की सेवा की, कोई जान नहीं पाया किन्तु द्वापर और कलियुग में उनके नहीं चाहने पर भी श्रीराम प्रभु ने उन्हें व्यापक बना दिया। 'गाँव–गाँव में हैं राम तो घर–घर में हैं हनुमान।' वह इसलिए कि घर के सारे सदस्यों को जगाकर रामजी के मन्दिर में वे ही तो भेजते हैं। वे रामजी के नाम एवं गुण के प्रचारक हैं। जब लोगों ने जाना कि द्वापर और कलियुग में इनकी उपासना किये बिना अर्थात् इनको प्रसन्न किये बिना श्रीराम प्रभु के पास कोई नहीं पहुँच सकता, तब अपने–अपने घरों का मुख्य देवता इन्हें मान एवं जान लिया। उन्होंने सुग्रीव को इसलिए ही अपनाया था; क्योंकि उन्हें भगवान सूर्य ने सारी बात बता दी थी कि सुग्रीव और उनकी सारी सेना प्रभु श्रीराम के बहुत काम आयेगी; इसीलिए वे सुग्रीव के मंत्री पद पर रहकर प्रभु की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभु श्रीराम के मिलन के उपरान्त वे सदा सर्वदा के लिए पुनः श्रीराम प्रभु के साथ ही हो लिए। आजतक उनके जैसा न कोई ब्रह्मचारी हुआ है, न ध्यानयोगी हुआ है, न जपयोगी हुआ है, न अभ्यासयोगी हुआ है और न ही सर्वकर्मफलत्यागी हुआ है।

कदाचित् आपके जीवन में उन चारों साधनाओं में से एक साधना भी आ जाय तो आप कृतार्थ हो जायेंगे। महाराज मानता है कि आप अपने प्रारब्ध के वशीभूत हैं किन्तु सद्गुरु मिल गया तो कैसा प्रारब्ध? यदि सद्गुरु के मिलने के उपरान्त भी भगवान से खाना, कपड़ा, मकान ही माँग रहे हैं, बाल–बच्चों की सुख–सुविधा को ही माँग रहे हैं तो आप जैसा अभागा भी कोई नहीं है। अरे! जहाँ राजा जायेगा वहाँ उसकी शक्ति भी तो जायेगी। उसीप्रकार जिसके पास सद्गुरु जायेगा, उसके पास उसका ऐश्वर्य भी तो जायेगा! यह तो ऐसी ही बात हुई कि सूरज आया और कोई उससे प्रकाश माँग रहा है। सूर्य भगवान की उपासना सबने की लेकिन आजतक किसी ने प्रकाश नहीं माँगा; उनसे धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य अथवा अन्य वरदान ही माँगे; किन्तु सद्गुरु के साथ वही न्याय नहीं किया जाता। जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश उसका तेज है, जो सर्वदा उसके साथ ही रहता है, उसीप्रकार धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य गुरु का तेज है, गुरु के साथ ही रहता है। अतः जिसे कभी न कभी छोड़ना है तथा जो भगवद्भक्तों के पास बलात् आता है,

वैसे ऐश्वर्य को न चाहते हुए बल्कि अपने पास आये हुए सुख–सम्पत्ति, ऐश्वर्य को उन्हीं का समझते हुए, उन्हीं की प्रसन्नता के लिए, उन्हीं की आज्ञानुसार कर्म करते रहना चाहिये।

(सर्वकर्मफलत्यागं.....) माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे भी अपने पाप और पुण्य के ही फल हैं, इनको भगवान का मान लेने में क्या आपत्ति है? अपने शरीर और धन को भगवान का मान लेने में क्या आपत्ति है? जो वस्तु जिसकी है उसकी समझने मात्र से वह लेता तो है नहीं बल्कि और हजारगुना बढ़ा देता है, तो फिर इसमें क्या आपत्ति है? जब बाल–बच्चे अपना कहना न मानें तो समझ ही लेना चाहिये कि अबतक ये हमारे कर्मफल थे। जब ये स्वयं हमारा साथ छोड़ रहे हैं तो इससे सिद्ध होता है कि भगवान ही हमारा कर्मफल बनना चाहता है। अतः मन में चुपके से संकल्प कर लेना चाहिये कि अब हम इनलोगों से घर में ही संन्यास लेते हैं, जो दे देंगे, जब दे देंगे तब खा लेंगे, जो वस्त्र दे देंगे वह पहन लेंगे; जो जगह देंगे रहने को उसमें रह लेंगे और हम स्वयं गुरुजी के अनुसार रहेंगे। हमारा शरीर भी तो कर्म का फल ही है, इसे भी तो कल भगवान को देना ही है तो क्यों न आज ही दे दें? सारी चिन्ता छोड़कर सदा–सर्वदा प्रभु के ही नाम का जप करें, उन्हीं का ध्यान करें, उन्हीं के लिए जीयें और मरें।

जब भगवान कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मफल को त्यागकर मेरे लिए गुरु आदेशानुसार कर्म करो, तो वे बड़ी गूढ़ बात कह रहे हैं। महाराज ने देखा है– जब साधक घर से संन्यास लेकर गुरु–आश्रम में आते हैं तो साधना की सिद्धि, भगवत् फल के पहले अष्टसिद्धि–नवनिधि चाहते हैं; जबकि उन्हें जानना चाहिए कि जब हम कर्म का फल छोड़कर घर से आये हैं तो पुनः कर्म का फल (सिद्धियाँ) क्यों चाहते हैं? क्योंकि बाहर के सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग करने के उपरान्त अन्तर्जगत की सिद्धियाँ तो आयेंगी ही आयेंगी। सर्वप्रथम साधना जब सूक्ष्म होती है, मन सहित इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होती हैं तो दूरदृष्टि नामक सिद्धि प्राप्त होती है। साधक जहाँ बैठा है वहीं से कहीं के भी लोगों को देख सकता है। वह सिद्धि तो आज घर–घर में दूरदर्शन (टेलीविजन) के द्वारा सबको प्राप्त है। दूसरी सिद्धि साधक को प्राप्त होती है– दूरश्रवण, जो दूरदृष्टि के साथ ही सम्पन्न होती है, जो आज दूरसंचार (टेलीफोन) के रूप में है। तीसरी सिद्धि है– धारणा के द्वारा दूसरों के मन की बात जान लेना, जो सिद्धि अब जासूसी एवं गुप्तचर विभाग (सी.बी.आई.) के पास यंत्ररूप में आ गयी है। यदि कोई साधक इन्हीं सिद्धियों को साधना के द्वारा चाहता है तो संसार में उसके जैसा दूसरा कोई मूर्ख नहीं है। क्या तेरह साल में लक्ष्मण को कोई सिद्धि नहीं मिली होगी? क्या सीधे कामविजेतारूप ही सिद्धि मिली? क्या अष्टसिद्धि–नवनिधियों से सम्पन्न हनुमानजी श्रीराम प्रभु से हटकर अलग से साम्राज्य स्थापित नहीं कर सकते थे? क्या अलग से अपने सिद्धान्त को स्थापित नहीं कर सकते थे? यह साधकों के लिए विचारणीय विषय है। इसलिए इस मंत्र में भगवान ने कहा है कि बाहर और भीतर के सिद्धिरूप फल को त्यागकर तब भगवत्स्वरूप सद्गुरु की सेवा में उपस्थित होना अथवा उनकी आज्ञानुसार चलना। यदि ऐसा लगे कि इस न्याय से तो मैं भक्त हूँ ही नहीं, ऐसा लगे कि न मैं सदा ध्यानयोग का अभ्यास कर सकता हूँ, न अभ्यासयोग का, न कर्मयोग का, न कर्मफल त्यागकर

लक्ष्मण और हनुमानजी की तरह सद्गुरु की सेवा में ही आ सकता हूँ, फिर अब मैं करूँ क्या? अबतक तो मुझे भ्रम ही था कि मैं भगवान का भक्त हूँ लेकिन यदि भगवान का भक्त होता तो उपरोक्त सारे भक्तों में से किसी एक का प्रतिनिधि होता। ऐसी अवस्था में भगवान से तो कह ही सकते हैं कि हे प्रभु! मैं तो आपको चाहता हूँ किन्तु आप भी मुझे चाहें! आपको चाहने की चाहत तो मेरे में है, आपका होने की चाहना तो मेरे में है किन्तु कुछ करने की सामर्थ्य मेरे में नहीं है। इसी आशय को पुष्ट करनेवाले एक भजन के द्वारा भगवान को रिझा सकें तो रिझायें। महाराज के साधनाकाल में यह भजन भगवान के सम्मुख करने में अति सार्थक सिद्ध हुआ है–

(राग – जोग)

जानिये जगदीश हमको जानिये।।
कोमल चित्त कृपालु कहाते, कहना मेरी मानिये।।१।।
अन्तर माँझ विराजो सबके, भवसागर से उधारिये।।२।।
तुम हो एक अनाथ नाथ प्रभु, मन में मैल न धारिये।।३।।
युग युग की यह प्रेम कहानी, मधुर मिलन यह मानिये।।४।।
महाराज कहत कर जोरें, अब मत ताना मारिये।।५।।
जानिये जगदीश.....

(जानिये जगदीश.....) हे प्रभु! मैं आपको जानता हूँ अर्थात् मैं आपको स्वीकार कर रहा हूँ इसलिए आप भी मुझे स्वीकार करें। हे जगत्पते! आपने मुझे स्वीकार नहीं किया है तभी मेरे मन और बुद्धि से आपके विरुद्ध कर्म हो रहे हैं। जिसको आपने अपना बना लिया है, उससे कभी आपकी आज्ञा के विरुद्ध कर्म होते नहीं देखा गया है।

(कोमल चित्त कृपालु.....) हे नाथ! मेरा हृदय वज्र से भी कठोर है और आपका हृदय फूल से भी कोमल है, तभी आपने हमारे सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा किया है। हमारे हृदय की कठोरता का प्रमाण है कि मेरे लिए आपने सबकुछ किया लेकिन मैंने आपके लिए कुछ भी नहीं किया, किन्तु एक बात है कि शरणागत की आप भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए रक्षा करते हैं, इसलिए आपकी कृपालुता एवं दयालुता सर्वत्र व्याप्त है और मैं क्रूर हृदयवाला हूँ क्योंकि जीव का हृदय क्रूर होता ही है। हे प्रभु! मैं अपनी क्रूरता को स्वीकार करता हूँ और शरणागत होना चाहता हूँ; अतः मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

(अन्तर माँझ विराजो.....) ऐसी बात नहीं है कि आप मेरी बात को सुन नहीं रहे हैं। सारे शास्त्र, पुराण एवं ग्रंथ कहते हैं कि आप सबके हृदय में भी रहते हैं, अतः शरणागति स्वीकार करके मेरा भवसागर से उद्धार करें।

(तुम हो एक अनाथ.....) मुझ विवश एवं असहाय तथा प्रारब्ध के वशीभूत हुए के एकमात्र आप ही सहारे हैं, अतः हे प्रभु! मन को मैला मत कीजिए।

(युग–युग की यह प्रेम कहानी.....) हे प्रभु! जब से मेरे तन, मन, बुद्धि आदि की सृष्टि

हुई है, जबसे मेरे भाग्य–सौभाग्य और कुभाग्य का निर्माण हुआ है तब से अपने और मेरे सम्बन्ध को आप नकार नहीं सकते। अतः मेरी शरणागति को स्वीकारकर अमृतमय मिलन को आप कृतार्थ करें।

(महाराज कहत कर जोरें.....) हे जगत्पते! अब मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि मुझसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कर्म कराके ताना मत मारें। हे प्रभु! मैं तो समझता हूँ कि समर्पण को स्वीकार नहीं करना, यही ताना मारना है इत्यादि इत्यादि।

(सर्वकर्मफलत्यागं.....) भगवान कहते हैं कि जो सम्पूर्ण कर्मफलों को त्यागकर लक्ष्मण एवं हनुमान की तरह सद्गुरु की सेवा एवं आज्ञा में रहता है, वह सहजता से मुझे प्राप्त कर जाता है। इसका अर्थ केवल त्यागने से ही नहीं मानना चाहिये, दुःख को भोगने से भी मानना चाहिये; सुख–दुःख से उदासीन होना भी त्यागना ही है। सबसे बड़ी बात है कि सुख को तो त्यागा जा सकता है लेकिन दुःख को कैसे त्यागेंगे? शरीर में फोड़ा हो गया है तो उसे त्यागा नहीं जा सकता, उसे तो भोगना ही पड़ेगा। हाँ, यह बात अलग है कि फोड़े को शीघ्र पकाने के लिए और पक जाने के उपरान्त औषधि लेप करने के लिए अनासक्त होकर तैयार रहना पड़ेगा लेकिन फोड़े के दुःख को भोगेंगे नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। अरे! आप नहीं भोगेंगे तो आपका भगवान भोगेगा! बात तो एक ही है तथा यह तो और अच्छी बात है कि भगवान से दुःख भोगवाने से अच्छा है कि हम ही दुःख भोगें तथा दुःख भोगने में जब असमर्थता हो जाये तब भगवान को दे दें।

महात्मा भरत पुण्य के फल– सुख का त्याग करनेवाले हैं और प्रभु के लिए दुःख भोगना चाहते हैं, उधर प्रभु सुख त्यागकर भक्तों के हितार्थ सहर्ष दुःख भोगनेवाले हैं। अन्ततोगत्वा हुआ यह कि भक्तों–संतों के हितार्थ दोनों ही दुःख भोगने लगे– एक वन में, दूसरा नन्दीग्राम में। दोनों अपने–अपने कर्म का फल त्यागकर अति संतुष्ट हैं। ऐसे ही आदर्श के साथ रहनेवाला भक्त कालान्तर में आत्मज्ञान को प्राप्त करता है।

महाराज की एक खोज है कि सुन्दर भोजन, वस्त्र, मकान, सभ्य माता–पिता, भाई–बान्धव तथा मान–सम्मान ये सब शुभकर्म के फल हैं। इन फलों को भगवान का मानते हुए, जबतक सद्गुरु नहीं मिला है तबतक व्यावहारिक कर्म को ही आप धर्म के साथ करें। कम से कम अपने स्वार्थ के लिए झूठ किसी से न बोलें तथा पेट के लिए चोरी तो न करें, अपने अहंकार की संतुष्टि के लिए किसी को सतायें तो नहीं! कम से कम आप इतनी प्रतिज्ञा कर लें कि चाहे जितना दुःख भोगना पड़े किन्तु आज से व्यावहारिक धर्म को मैं सांगोपांग पूरा करूँगा; तो भगवान उसे परम धर्म ही मान लेता है। महात्मा भरत तो माँ कौसल्या और गुरु वसिष्ठजी की भी आज्ञा न मानकर प्रभु श्रीराम को मनाने वन को चल दिये। लौटने पर गुरुजी से पूछा कि आपकी आज्ञा हो तो मैं नन्दीग्राम (जहाँ अयोध्या की छावनी है) में योग, यज्ञ, तप के साथ रहकर प्रभु श्रीराम के राज्य की सेवा करूँ? गुरुजी ने मन में सोचा ये तो साक्षात् संत के अवतार ही हैं, अतः कहा– हे भरत! जो तुम करोगे वही ब्रह्मकर्म कहा जायेगा, वही जगत का आर्दश बनेगा। जाओ मेरी आज्ञा है। भरत

ने जैसे जीवन जीया है, यदि वैसे कोई गृहस्थाश्रम में जीवन जीये तो उसके लिए अध्यात्म पाना कोई बड़ी बात नहीं है।

(सर्वकर्मफलत्यागं.....) भीतर से ब्रह्म तथा बाहर से जीव का प्रदर्शन करनेवाले हनुमानजी को अंगद की अध्यक्षता में भगवती सीता की खोज में भेजा गया। दक्षिण दिशा जानेवाली सैन्य टुकड़ी के सेनापति के पद पर अंगद को आसीन कर दिया गया। हनुमानजी को अब अंगद की आज्ञा में रहना पड़ेगा। हनुमानजी को भगवान का काम करना ही अभीष्ट है, आज्ञा चाहे किसी की हो; क्योंकि वे शुभ कर्मफल त्यागी हैं। सुग्रीव ने उनका खूब दोहन किया। श्रीराम की आत्मा को ही अनजाने में उसने सेवक बना रखा है। हनुमानजी को तब भी खुशी है कि चलो! यह तथा इसकी सेना कभी श्रीराम प्रभु के काम आयेगी। हनुमानजी तो अंगद के साथ जामवंतजी की भी आज्ञा में रह रहे हैं। जैसा कि वे कह रहे हैं–

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना।।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।।
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

पद–प्रतिष्ठा का त्याग करके श्रीराम प्रभु की सेवा के लिए चाहे जिस–तिस की आज्ञा में रहनेवाले हनुमान जगतपूज्य बन गये। अतः आप सभी अपनी कथनी–करनी, रहनी–सहनी पर विचार करें।

महात्मा अर्जुन ने पूछा कि इन चारों साधनाओं में जिसको जो प्रिय हो वही करे, यह आपने बताया है; किन्तु इन चारों में श्रेष्ठ साधना कौन सी है? हे प्रभु! कृपया इसे भी बतावें–

इसके उत्तर में भगवान ने कहा–

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

हे पार्थ! अपनी प्रकृति के स्वभाव को न जानकर किये हुए अभ्यास से तो स्वाध्याय, चिन्तनरूप ज्ञान श्रेष्ठ है तथा उस ज्ञान से भी अपने इष्ट के स्वरूप का चिन्तनरूप ध्यान श्रेष्ठ है और उससे भी कर्मफल का त्यागकर अपने स्वामी की तन, मन, वचन, हृदय से सेवा करना श्रेष्ठ है।

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'– उस ज्ञान से अपने स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है। जिस राजा जनक को सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्मयोग ही श्रेष्ठ था उस कर्मयोगी के लिए अपने स्वरूप में स्थित होकर कर्म करते–करते अपने स्वरूप का ध्यान भी श्रेष्ठ हो गया जिससे वे विदेह कहलाये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अर्जुन जैसा विषम समय यदि उनके पास आया होता तो वे सदा विदेहता में रहते। विदेह का तात्पर्य यह नहीं कि उसे शरीर का भान न हो। यदि ऐसा है तो महाराज जनक फिर पागल की गिनती में आ जाएँगे। शरीर का भान

तो किसी–किसी पागल को नहीं रहता है, शरीर का भान जितना योगी को रहता है, जितना ज्ञानी को रहता है, जितना ध्यानी को रहता है उतना तो किसी को रहता ही नहीं। विदेह का तात्पर्य यह नहीं कि उसे देह का पता नहीं, लोग कहते हैं तुरीयातीत साधक या संत को अपने शरीर का पता ही नहीं चलता है। पागल ही हो जाता है क्या वह! जैसे आप पागल हैं वैसे पागल हो जाता है! एक पुत्र मृत्युशय्या पर काल की गणना कर रहा था, आज नहीं कल, कल नहीं परसो प्राणान्त हो जाएगा। उसके पिता से एक संत ने कहा– पुत्र चाहते हो? कहा– चाहता हूँ। तो कहा– उसका काल तुम ले लो, उसका रोग तुम ले लो। भक्त ने कहा– ऐसा भी है क्या? संत ने कहा कि ऐसा भी है, प्रभु से जाकर माँग करो, बच्चे के पलंग के चारों तरफ घूमना और प्रभु से कहना कि हे प्रभु! आप सबकी माँग पूरी करते हैं। पुत्र पिता के लिए जीता है, पिता पुत्र के लिए जीता है, एक–दूसरे के दुःख में दुःखी, सुख में सुखी होते हैं। मेरा धर्म है कि पुत्र की अपनी शक्ति से, अपने जप से, अपने तप से चाहे जैसे रक्षा करूँ। अब मैं रक्षा करने में असमर्थ हूँ। मेरे गुरुदेव ने कहा है कि यह भोगना ही पड़ेगा तो हे प्रभु! यदि ऐसा है तो यह रोग मेरे पास चला आवे। आप इस रोग को मुझे दे दें, मैं भोगने के लिए तैयार हूँ। मैं भोगना चाहता हूँ अतः मेरे बालक को आप जीवित कर दें। हे रोग देवता! सुना है कि आप दूसरे के पास चले जाते हैं। यदि यह सत्य बात है, संत सब सत्य कहते हैं तो आओ! आओ! आओ! मैं आपका स्वागत करता हूँ। इस मेरे बालक को छोड़ दो और मुझे मार डालो। वह कहता गया, कहता गया, बालक स्वस्थ होता गया तथा पिता पलंग पर गिरता गया, गिरता गया, गिर गया।

इस जीव–जगत में ब्रह्मज्ञानी को, जो ब्रह्मज्ञानी के भक्त हैं ब्रह्म मानते हैं, हररोज अपने दुःख–दर्द को समर्पित करते हैं, वह ब्रह्मज्ञानी किसे समर्पित करे। सामर्थ्य यदि न हो तब तो समर्पित करे। उसमें सामर्थ्य है भोग सकता है। इस शरीर से विदेहता है तभी तो वह भोग रहा है, वह आप जैसा चिल्ला तो नहीं रहा है, तड़प तो नहीं रहा है कि मैं भोग रहा हूँ। क्या प्रमाण है कि वह भोग रहा है? अपने कर्मों का फल नहीं, अपने भक्तों के कर्मों का दुःखद फल भोग लेता है और सुखद फल से उनको भगवान दे देता है। विदेहता का तात्पर्य यह नहीं कि वह जड़ हो जाता है बल्कि सबसे सचेतन वही रहता है। जब जिस समय तन, मन, वचन, हृदय से जो कराना चाहिए वही कराता है, इसी को विदेहता कहते हैं। 'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते' –इस ज्ञान से जब युद्ध आदि का विषम अवसर न आया हो तब अपने स्वरूप में रहकर स्वधर्म पालन करना ही श्रेष्ठ माना जायेगा। भक्त अपने पुत्र को राज्य देकर अपने घर में ही जब राजयोगी हो जाता है, उस अवस्था में ज्ञान से उसका ध्यान श्रेष्ठ हो जाता है। अपने स्वरूप में रहना अथवा भगवान के स्वरूप में रहना बात एक ही है। यदि सगुण उपासक हैं तो भगवान के ध्यान में रहें और ज्ञानयोगी हैं तो अपने स्वरूप में रहें, सदा चिंतन करें। महात्मा प्रह्लाद एक बार गृहस्थाश्रम में ही ध्यानयोगी हो गये। अपने स्वरूप का चिंतन कर रहे थे, चिंतन करते–करते समाधि लग गयी। बहुत वर्ष बीत गये अराजकता छा गयी पूरे राज्य में, इसके बाद उन्हें आत्मस्वरूप की सिद्धि हो गयी। आत्मज्ञान की सिद्धि है कि मैं शरीर नहीं ब्रह्म ही हूँ। मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं हूँ, इतना मानने मात्र से ही आत्मज्ञान होना नहीं माना जाता। जबतक आत्मज्ञान

की सिद्धि नहीं हो जाती तबतक वह आत्मज्ञान आत्मज्ञान नहीं माना जायेगा। आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए महात्मा प्रह्लाद आत्मचिंतन करते–करते समाधिस्थ हो जाते हैं, अपने स्वरूप के ध्यान में मस्त हो जाते हैं, बहुत वर्ष बीत जाते हैं और जब समाधि टूटती है तो भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे, दायें–बायें अपने को ही देखते हैं।

'ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'– जैसे दुःख–दर्द से आहत हुए चित्तवाले भरत ने राज्य का, अयोध्या का, धर्मपत्नी का, मान–सम्मान का त्याग किया तो परम शान्ति मिल गयी थी। जो भरत अयोध्या से रोता हुआ, क्रन्दन करता हुआ, विलाप करता हुआ, अपने को धिक्कारता हुआ जा रहा है, वही भरत हँसता हुआ आ रहा है चित्रकूट से; क्योंकि फल त्याग कर दिया। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' तत्काल शान्ति मिलती है जिस समय अपने कर्म के फल को आप भगवान के लिए त्यागते हैं, शान्ति उसी समय मिल जाती है, ज्ञान मिले चाहे न मिले शान्ति मिल जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आपको अशान्ति है इसी कारण से कि कर्म के फल को भगवान को समर्पित किए बिना, दिये बिना, भोग रहे हैं, यह संकेत है। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' एक साधक को देखा– उसका घर छूटा और उसे लगा कि ब्रह्मलोक में चला आया। उसको ऐसा लगा जैसे कोई कारागार से बन्दी मुक्त होकर वैकुण्ठ लोक जैसे सुख का अनुभव करता है। फिर–फिर वह साधक घर की तरफ नहीं देखा। एक कारागार होता है, एक महाकारागार होता है। इस कारागार (जेल) से तो पंद्रह–बीस साल के बाद मुक्ति मिल जायेगी लेकिन उस महाकारागार (घर) से तो मुक्ति मिलना असम्भव है! अब कोई चमत्कार कर दे भगवान आ के महाकारागार से ले जाये तभी मुक्ति मिले। भगवान आये और कंस को मारकर वसुदेव–देवकी जैसा मुक्त करे तभी सम्भव है। जिनके भीतर प्रभु की प्रेरणा हो जाती है, वे महाकारागार से निकल जाते हैं, वे ही परम सौभाग्यशाली हैं। अहंकार नहीं करना चाहिए कि मैंने घर छोड़ा, नहीं तो जिस दिन अहंकार होगा उसी दिन घर चले जाएँगे। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' अतः जैसे ही त्यागते हैं माया को वैसे ही तत्काल शान्ति मिल जायेगी, यहाँ तक गृहस्थाश्रमी साधकों के चरित्र का चित्रण किया गया। वे कौन साधक? ज्ञानयोगी, अभ्यासयोगी, कर्मयोगी, कर्मफलत्यागयोगी, इतने पात्रों को लाकर खड़ा किया गया लेकिन यदि आप संन्यासयोगी हैं तो आपके लिए न्याय कुछ और होगा।

अभ्यासयोग के लिए सद्गुरु की शरणागति और अध्यक्षता परम अनिवार्य है अन्यथा या तो जड़भरत की कहानी आपके साथ होगी अथवा विश्वामित्र की। इन दोनों महापुरुषों के पास अभ्यासयोग का साधन है, किन्तु उस अवस्था में दोनों पर सद्गुरु का अनुशासन नहीं है। अतः एक (विश्वामित्र) काम एवं क्रोध में फँस जाता है और दूसरा (जड़भरत) दया में मारा जाता है। एक मनमाना वसिष्ठजी से वैर कर रहा है तो दूसरा अपने पर दया करने के पहले दया के वशीभूत होकर हिरण की रक्षा में प्रवृत्त होते देखा जाता है। एक को अपने घोर जप–तप पर अहंकार है, तो दूसरे को अयोध्या जैसे विशाल साम्राज्य के त्याग का अभिमान है। यही कारण है कि दोनों सद्गुरु के आश्रम में नहीं पहुँचते और दोनों ही पतन को प्राप्त होते हैं। वहीं शबरी, सुतीक्ष्ण आदि अपने मन पर, बुद्धि पर, प्रारब्ध पर विश्वास नहीं करते और सद्गुरु की अध्यक्षता

में अभ्यासयोग द्वारा ब्रह्मयोग तक पहुँच जाते हैं। सद्गुरु के अभाव में अभ्यासयोगी के लिए संयम से प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ तो बाधा बनती ही बनती हैं तथा सतोगुण के बढ़ने पर सात्त्विक गुण जैसे दया, करुणा भी उसके जीवन में बाधा बन जाते हैं किन्तु सद्गुरु के पास आपकी हर प्रकृति पर शासन होता है, उसकी दृष्टि आपके प्रत्येक पल को जानती रहती है।

एक शिष्य ने कहा– गुरुदेव! वह माई बहुत फूट–फूटकर रो रही थी, आपको दया नहीं आ रही थी? सद्गुरु ने व्यंगबाण से मारा– दया करने के लिए तो तुम हो ही। अपने पर तुमने दया कर ही ली, अपनी माँ, बहन, भाई पर दया कर ही ली, अब जगत की माँ–बहन, भाई–पिता पर दया करने चल ही पड़े हो।

'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'– स्वाध्यायरूप से सम्पन्न होनेवाले ज्ञानयोग से भी विश्वरूप भगवान के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है; विश्वरूप के ध्यान का तात्पर्य है संसार सहित समस्त प्राणिपदार्थों को सगुण ब्रह्म का स्वरूप एवं अंग–उपांग समझकर उनकी सेवा–शुश्रूषा करना, उन्हीं के हितार्थ जीवन जीना और मरना, जैसे रघुवंशी राजर्षि और राजा जनक आदि जीते हैं। आप सब तो देखते ही हैं कि कोई भी संत साधना सिद्ध होने पर अपने स्वरूप में स्थित होकर जगत हितार्थ ही अपने शरीर को धारण किये रहते हैं। वे ऐसे अवैतनिक (बिना वेतन के) आचार्य हैं जो सबसे कुछ लिये बिना ही ज्ञान, ध्यान, विज्ञान एवं सुगम साध्य धर्म, कर्म का अहर्निश दान करते रहते हैं। अनेकानेक शास्त्रों में पात्रों के अनुसार कई प्रकार की साधनाएँ दी गई हैं। एक साधक ने गीताजी को पढ़ते समय देखा कि सब प्राणिपदार्थ मेरे ही रूप हैं। उसकी बुद्धि राजसी तो थी ही अतः यह ज्ञान राजस वृत्ति की तरफ ले गया और उसने अपनी जवान बहन को एकान्त में ले जाकर उस संदर्भ को गीताजी में दिखाया और कहा कि देखो! भगवान ने कहा है कि 'सब ब्रह्म ही है'। बहन ने कहा– तब तो दोनों का शरीर भी ब्रह्म ही है। भाई ने कहा कि क्यों नहीं, इसी से तो मैंने यह सूत्र तुझे दिखाया है! तो ऐसा करें, जो अपने घर में अपना पोलियो ग्रस्त भाई है, न उसे सुनाई पड़ता है, न दिखाई पड़ता है, न बोलता है, तो क्यों न उसे जहर देकर मार डालें; क्योंकि मारने में पाप–पुण्य तो लगना ही नहीं है, चूँकि सब ब्रह्म है। बहन को बात जँची और रात में दोनों ने उसे जहर देकर मार डाला। उसके उपरान्त बहन को बात पची नहीं, उससे बात खुल भी गई और स्वयं वह पागल भी हो गई तथा भाई–बहन जेल चले गये।

महात्मा प्रह्लाद ने कहा है कि भगवान को जाने बिना वेद, शास्त्र, पुराण पढ़ना भी महाघातक हो जाता है। अतः मैं विद्या पढ़ूँगा ही नहीं। गोस्वामीजी ने भी कहा है–

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे।।
पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना।।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी।।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनिसब सुख खानी।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

वेद, पुराण एवं शास्त्रों में भी प्रभु की मनोहर कथाएँ लिखी हुई हैं, किन्तु जबतक संतजन अपने ज्ञान और वैराग्यरूपी नेत्रों से नहीं खोजते तबतक वह गूढ़ात्मक कथा अपने लिए साधन नहीं बनती। पुनः मानसकार ने कहा–

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।।

स्वयं महात्मा अर्जुन का शास्त्रीय ज्ञान भी भगवान का अपमान करनेवाला ही हो गया। शास्त्रीय एवं पौराणिक ज्ञान के द्वारा अपने सद्गुरु को अपमानित करनेवाले शिष्यों की गणना होगी तो महात्मा अर्जुन की गिनती प्रथम श्रेणी में होगी। जैसे ही भगवान ने अभ्यासयोग से ज्ञान को श्रेष्ठ बताया वैसे ही महात्मा अर्जुन के मन में ग्लानि की तरंगें उठने लगीं कि यदि ज्ञान श्रेष्ठ होता तो मेरे द्वारा आपका भारी अपमान क्यों हो जाता? न मैं शास्त्र पढ़ा होता, न आपके पास सामान्य गुरु जैसा बकवास किया होता। भगवान ने मन की बात जानी और कहा– इसी से इस ज्ञान से मेरे सगुण या निर्गुण स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है।

काकभुशुण्डिजी ने तो यहाँ तक कह दिया कि जब मैंने जाना कि 'जगत में पुरुषवर्ग मेरे भगवान के स्वरूप हैं तथा नारीवर्ग भगवती सीतास्वरूपा हैं, तब मैं मन ही मन सभी स्वरूपों को प्रणाम करते हुए चलता था, वन्दना करते हुए चलता था।' किन्तु यह ध्यानयोग भी व्रत, तप तथा नामजप की अपेक्षा रखता है। विश्वरूप के ध्यान का आधार सेवा एवं चिन्तन है और सगुण स्वरूप के ध्यान का आधार नामजप है। कितने लोग राजा जनक को ध्यानयोगी की श्रेणी में लाते हैं और कहते हैं कि उन्हें देह–गेह की सुध–बुध नहीं रहती थी, जबकि वे कर्मयोगी थे। तीसरे अध्याय में भगवान नारायण ने स्वयं उन्हें कर्मयोगी की संज्ञा से विभूषित किया है। ध्यानयोगी क्या पागल ही हो जाता है कि उसे देह–गेह की सुध–बुध नहीं रहती? कुछ ऐसे पागल होते हैं, जिन्हें अपने देह–गेह की सुध–बुध नहीं रहती; क्योंकि उनका मन स्वप्नजगत की तरह अन्य लोकों में घूमता रहता है। छेड़ने पर वे इस लोक में आते हैं। यदि राजा जनक को देह–गेह की सुध–बुध नहीं थी और इसी कारण वह ब्रह्मज्ञानी कहे गये, तब तो भगवान श्रीकृष्ण और श्रीराम प्रभु महातुच्छ हैं, वसिष्ठ, विश्वामित्र एवं वाल्मीकि जैसे ब्रह्मज्ञानी भी किसी गिनती में नहीं हैं! विदेह का तात्पर्य सुध–बुध छोड़ देना नहीं है, बल्कि देह–गेह, परिवार और सम्पूर्ण जगत से पूरी तरह अनासक्त हो जाना है। शरीर और जगत का भान जितना योगी, ध्यानी, समाधिस्थ और ब्रह्मज्ञानी को रहता है उतना तो किसी को रहता ही नहीं। योगवासिष्ठ में वर्णित ज्ञान की सात भूमिकाओं में जो तनुमानसा एवं तुरीयावस्था की व्याख्या की गई है, उन सबका तात्पर्य अनासक्ति से ही समझना चाहिये। प्रह्लाद की तरह भगवान के स्वरूप का सदा चिन्तन करना भी बहुत सी विघ्न–बाधाओं से भरा हुआ है। उनकी जैसी शक्ति–सामर्थ्यवाले के लिए तो स्वाध्याय से सम्पन्न ज्ञान से सगुणध्यान श्रेष्ठ है। यही नहीं, निर्गुण–निराकार स्वरूप का ध्यान तो और भी विघ्न–बाधाओं से भरा हुआ है, इसलिए इस ध्यान से सम्पूर्ण कर्मफलों को त्यागकर हनुमानजी और लक्ष्मणजी की तरह अपने सद्गुरुरूप ब्रह्म की सेवा–शुश्रूषा में तन, मन, वचन सहित समर्पित हो जाना ही सर्वश्रेष्ठ साधन है; क्योंकि जब सबकुछ भगवान का ही है तो क्यों न स्वयं को भगवान को ही दे दें; क्योंकि जिसकी जो वस्तु होती है, उसको दे देने

पर परम शान्ति मिल जाती है।

प्रभु, भक्त अर्जुन को लक्ष्मण एवं हनुमानजी की जगह खड़ा करना चाहते हैं। हनुमानजी तभी तक सुग्रीव के दास हैं, जबतक प्रभु श्रीराम का मिलन नहीं हुआ है। उसीप्रकार भगवान भी चाहते हैं कि अर्जुन अपने शुभ और अशुभरूप फल स्वजनों का त्याग कर दें तथा शुभ–अशुभ के भोक्ता अपने शरीर को मुझे दे दें; क्योंकि वह शुभ–अशुभ का भोक्ता शरीर भी है तो ब्रह्म का ही! ऐसा व्यवहार करते ही अर्जुन को परम शान्ति मिल जायेगी।

ठीक यही न्याय भगवान सभी साधकों एवं भक्तों से चाहते हैं। जिसने भगवान के दिये हुए फलरूप शरीर को अपना मान लिया है, वह तो महाचोर है ही, उसी के जैसा प्रभु का भक्त और साधक भी क्यों बने? सम्पूर्णता से भगवान की आज्ञा पालन करने में 'मैं और मेरा परिवार' यह भाव ही बाधा बन गया है। अर्जुन को भी यह पता नहीं कि जातिवाद, परिवारवादरूप वासना चित्त की कितनी गहराई तक है। भगवान साधकों के साधनपथ में आनेवाली सम्पूर्ण साधनाओं एवं उनके गुण–दोषों का विवेचन इसलिए कर रहे हैं कि वे कहीं धोखा न खा जायें। महाराज जब गृहस्थाश्रमी भक्तों के घर जाता है तो वहाँ भाई–भाई का, मैं और मेरापना देखकर, पति–पत्नी का मैं एवं मेरापना देखकर, जाति–जाति का मैं तथा मेरापना देखकर तत्काल वहाँ से भाग जाना चाहता है। उन सबके व्यवहार से दुर्गन्ध आती है। अशान्ति दो को होती है– एक उसको जिसका सर्वस्व लुट गया है, दूसरा उसको जिसने सर्वस्व लूट लिया है। जिसका सर्वस्व लूटा गया है, उसने भी तो किसी का सर्वस्व लूट लिया था, अन्यथा यदि भक्त होता तो अशान्ति क्यों होती? कैकेयी ने रामजी का सर्वस्व लूट लिया तो उन्हें अशान्ति कहाँ हुई? राजर्षि हरिश्चन्द्र का विश्वामित्रजी ने सबकुछ ले लिया तो भी उन्हें अशान्ति कहाँ हुई? उन्होंने विश्वामित्र से कहा था– 'हे प्रभु! आपने तो अपनी ही वस्तु माँगी है।' लेकिन गृहस्थाश्रम में अब– *"गुरु सन कपट मित्र संग चोरी। या होय निर्धन या होय कोढ़ी।।"* की कथा चरितार्थ हो रही है।

सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मफलों को त्यागकर सद्गुरु की अध्यक्षता में रहना, उसकी सेवा–शुश्रूषा करना, उसकी आज्ञा का पालन करना, जो खिलावे वही खाना, जैसे रखे वैसे ही रहना– इसके जैसी सर्वश्रेष्ठ साधना तो कोई हो ही नहीं सकती। न इसमें अपने मन से जप करने की समस्या है, न तप करने की समस्या है, न ध्यान करने की समस्या है बल्कि सम्पूर्णता से उसका होकर रह जाना है।

महाराज ने देखा– एक ब्रह्मचारी सद्गुरु के पास गोसेवा किया करता था तथा भण्डार वितरण भी कर दिया करता था। एक दिन उससे कोई भूल हो गयी तो वह अपने मन से ही प्रायश्चित स्वरूप बारह घण्टे कीर्तन करने लगा। चार–पाँच दिन के बाद सद्गुरु ने पूछा– ऐसा क्यों कर रहे हो? शिष्य ने कहा– गुरुदेव! एक गलती हो गई है। गुरुदेव ने कहा– तुम्हारी किसी भी गलती का प्रायश्चित तो गोसेवा से ही हो जायेगा। तुम्हें तो कोई योग, यज्ञ, जप, तप, कीर्तन आदि करना ही नहीं है।

अबतक प्रभु ने बहुत सी साधनाओं का वर्णन करते–करते उन सम्पूर्ण साधनाओं को चार भागों में विभक्त कर दिया, जिसमें संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ साधक तथा भक्त भी आते हैं। अब प्रभु ने संन्यासाश्रमी साधकों एवं भक्तों का दिव्य व्यवहार प्रकाशित करने के दृष्टिकोण से कुछ मंत्रों को दिया है, जिसे सांगोपांग देखें–

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख–दुःखों की प्राप्ति में सम एवं क्षमावान है अर्थात् अपराध करनेवाले को भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन–इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए और दृढ़ निश्चयवाला है– वह मुझमें अर्पण किये हुए मन–बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है– वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर–भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है, वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है– वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु–मित्र में और मान–अपमान में सम है तथा सर्दी–गर्मी एवं सुख–दुःखादि द्वन्द्वों में सम है, आसक्ति से रहित है, जो निन्दा–स्तुति को समान समझनेवाला, मननशील, जिस किसीप्रकार से

भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है तथा रहने के स्थान में ममता और आसक्ति रहित है– वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है।

जो संन्यासयोगी है, जिसके लिए प्रभु ने बताया था कि शरीरधारियों से यह साधना अति दुःखप्रद है, दुःखसाध्य है अर्थात् बड़े कष्ट से प्राप्त होती है, सम्पूर्ण त्याग के उपरांत सिद्धि प्राप्त होती है, उसकी पहली प्रतिज्ञा होती है– 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां'। सम्पूर्ण भूतप्राणियों से वह द्वेषरहित हो जाता है अर्थात् अहिंसा धर्म का पालन करता है। अहिंसा संन्यासयोगी का मौलिक व्रत है। सम्पूर्ण अहिंसा है– किसी भी काल में किसी के प्रति बुरा न सोचना, बुरा न देखना, बुरा न सुनना, बुरा न कहना और किसी को न सताना। सारे के सारे लोग उस संन्यासी के प्रति बुरा सोचते हैं, बुरा कहते हैं, सब द्वेष करते हैं, सताते हैं लेकिन वह अभयदान दे दिये रहता है। 'मैत्रः करुण एव च' भगवान ने कहा– 'मैत्रः' अर्थात् मैत्री। एक तरफ प्रभु कहते हैं कि 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' और दूसरी तरफ कहते हैं– जगत का वह मित्र बन जाता है, जगत को मित्र बना लेता है 'मैत्रः करुण एव च'। फिर कहते हैं– वह दया करता है, करुणा करता है, यह क्या बात है? अहिंसाव्रत लेकर वह अपने स्वरूप में रमण करता है, दूसरी तरफ आप कहते हैं कि मित्रता, करुणा इत्यादि धर्म को भी धारण कर लेता है, ये दोनों बातें विरोधी हैं। मानो भगवान नारायण कह रहे हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। जो संन्यास लेता है उसके पास भी कोई जिज्ञासु आता है और वह भी ब्रह्म का जिज्ञासु है अतः उससे वह मित्रवत् व्यवहार करता है, गुरुवत् व्यवहार नहीं करता; क्योंकि अभी सिद्ध नहीं हुआ। एक साधक ने कहा– आप मुझे संन्यास की दीक्षा दे दें ताकि अपने पीछे जो जमात है उसे भी मैं संन्यासी बना सकूँ; क्योंकि मेरे पीछे बहुत जमात है– मेरा बड़ा भाई, बूआ का लड़का, छोटा भाई इत्यादि। उन्होंने कहा था कि यदि तेरे को कोई संत मिलें तो हमलोगों को भी ले चलना, इसे मैत्री कहते हैं। लेकिन यहाँ तो दूसरी बात है कि संन्यासी फिर घर लौटकर के अपने मित्रों से मित्रता का व्यवहार नहीं करता। संन्यास–पथ में कोई ब्रह्म का पथिक मिलता है तब उससे मैत्री कर लेता है और यदि उससे विशेष नहीं है तो उसके प्रति दया करता है। सनक–सनन्दन आदि चार ऋषि एकसाथ रहते हैं, जैसे मित्र–मित्र के साथ घर में जीते हैं, गाँव में जीते हैं, वैसे ही वे एकसाथ तप करते हैं, एक–दूसरे पर दया करते हुए एकसाथ रहते हैं। तपस्या में भी बाधा आती है, जैसे बुखार आ गया तो दूसरा मित्र सहयोग कर दिया क्योंकि शिष्य भी मित्र होता है प्रथम अवस्था में। यदि ज्ञान नहीं हुआ और कोई जिज्ञासु आकर शिष्य बन गया तो उसे मित्र मान लेना मन में और बाहर से शिष्य मान लेना। भूल हो जायेगी यदि उसे आपने शिष्य मान लिया तो, ब्रह्म का अपमान हो जायेगा; क्योंकि आप भी ब्रह्मजिज्ञासु हैं और वह भी ब्रह्मजिज्ञासु है। आप कुछ आगे बढ़ गये हैं, भगवान की निकटता अब आनेवाली है और अभी वह भगवान के लिए चला है मात्र इतना ही अन्तर है। आपकी जिज्ञासा पूरी होनेवाली है और उसकी ब्रह्मजिज्ञासा अभी हो रही है। अतः उससे मित्रता का व्यवहार करना। उदार हृदय के साथ दया करना, शासन मत करना। सावधान रहना, कहीं मन प्रमाद न कर जाये, जिससे उसके प्रति ममता न हो जाय।

'निर्ममो निरहङ्कारः'– यह भी ध्यान देना कि ममता न हो जाय। कैसी ममता? महाराज

अपनी आपबीती ही घटना बता रहा है, जिससे इस मंत्र को समझने में सुगमता हो जायेगी। सन् १९८२ के लगभग महाराज एक जगह रहता था, वहाँ तीन–चार विद्यार्थी सेवा में आते थे। उनमें से एक विद्यार्थी जो अब जगत में नहीं है, संन्यास लेने की कामना से बड़ा आतुर था। अचानक महाराज उस जगह को खेती–बाड़ी होने से छोड़कर दूसरे प्रदेश के जंगल में जाने लगा। वह मोह में अति विकल हो गया, किसी प्रकार ट्रेन से विदाई करके वह चला गया तो महाराज का हृदय भी मोह से आच्छादित हो गया, मुँह सूख–सूख जाता था, हाथ–पाँव में झनझनाहट थी अर्थात् मोहग्रस्त एक विरहीपुरुष की जो दशा होती है वही पूरी की पूरी दशा महाराज की हो गई। लगभग १५–२० मिनट के बाद मोह का नशा उतरा तो महाराज अपने–आपके मोह पर आश्चर्यचकित हो गया कि यह मोह चित्त के किस कोने में था, जबकि महाराज ने उसे साथ चलने से स्वयं मना किया था। पन्द्रह–बीस मिनट की मोहग्रसित अवस्था में एक बार भी विचार नहीं आया कि उसको साथ क्यों नहीं लिया, लेना चाहिये था और न ही बिछुड़ने की ग्लानि थी। उसके तो हृदय में ग्लानि होनी स्वाभाविक थी, रोना–गाना उसके अनुरूप ही था किन्तु महाराज के शरीर में वैसा लक्षण होना शोभा नहीं दे रहा था। किसी को दुःख में रोना देखकर हृदय में रोना आ जाना अलग बात है, आँसू बह जाना भी अलग बात है; किन्तु मुँह सूखना, हाथ, पाँव में कम्पन होना साधक के स्वभाव के विरुद्ध है। एक तरफ शरीर में वह प्रतिक्रिया थी और दूसरी तरफ ग्लानि भी थी कि अरे! यह मोह कहाँ से आ गया? यह वासना चित्त में कब और कैसे प्रवेश कर गई? चलें खोज करते–करते यह तो पता चल गया कि वासना धीरे–धीरे मन में कैसे प्रवेश करती है और चित्त के किस कोने में कैसे रहती है, जिससे महाराज को अति सन्तोष हुआ। वह मोह बहुत कुछ देकर चला गया किन्तु उस समय ध्यान एवं समाधि की जो ऊँची अवस्था थी उसके अनुसार ऐसी मोहमय अवस्था का प्रकट होना महाराज के चित्त का महादोष माना जायेगा; क्योंकि सन् १९७२ से आध्यात्मिक पथ में आ गया था और यह घटना सन् १९८२ की है। दस साल कम नहीं होते, उतने सालों में चित्त जहाँ का तहाँ था, ध्यान लगना, समाधि लगना, अलग बात है तथा वासनाओं का संशोधन होना अलग बात है।

महाराज के गुरुदेव एक कथा कहा करते थे। कुम्भ में एक टेन्ट (तम्बू) में रहनेवाले गुरु और चेले में कुछ विवाद हो गया। चेला दुःखी होकर चला गया। चप्पल छोड़ गया था अपनी। दूसरे दिन तक नहीं आया, तीसरे दिन भी नहीं आया। अब गुरुजी हर तम्बुओं में जाकर चप्पल को लेकर घूम रहे थे कि लगभग इतना ही बड़ा उसका पाँव है, चप्पल छोड़कर आ गया है वह। किसी ने देखा है क्या? उनकी बात पर सभी हँसते थे। इसप्रकार कहीं ममता न हो जाए।

'निर्ममो निरहङ्कारः'– ममता क्यों होती है ऐसी? इसलिए कि भाव रहता है कि यह मेरा शिष्य है, इसी को अहंकार कहा जाता है। इस भाव में कोई अन्तर नहीं है कि गृहस्थ कहता है यह मेरा पुत्र है और संत कहता है यह मेरा शिष्य है। वह संत जिसे अभी आत्मज्ञान नहीं हुआ है, उसकी प्रसिद्धि को सुनकर बहुत से वहाँ पर ब्रह्मजिज्ञासु आ जाते हैं; जबकि शाप और वरदान देने की शक्ति–सामर्थ्य आ जाए तो भी नियम नहीं है कि वह उनपर कठोर शासन करे। अतः वे जब कह दें कि मेरे गुण–दोष को आप देखते रहना, संकोच मत करना, तभी उनका दोष

बताये। महाराज को एक बार ऐसा हो गया, ममता हो गयी एक शिष्य से सन् १९८३ में। वहाँ महाराज की ही गलती थी, महाराज ने कहा– छड़ी (डंडा) लाओ! वह लाया और उस छड़ी से बहुत पिटाई की उसकी। महाराज ने गुरुदेव से कहा कि गुरुदेव! आज हिंसा हो गयी, मैंने उस साधक की ऐसी पिटाई कर दी जैसे एक अध्यापक विद्यार्थी की पिटाई करता है वैसे ही मैंने पिटाई कर दी। गुरुदेव ने कहा– हाँ, अच्छी बात नहीं हुई, यद्यपि धर्म ही है, कोई अधर्म नहीं है। उसको तो लाभ ही लाभ है किन्तु चूँकि संन्यासाश्रम है इसलिए अच्छी बात नहीं है। पाप तो लगेगा नहीं लेकिन हिंसा कुछ प्रकट होगी इसमें, खेद आयेगा तुम्हारे को, ग्लानि होगी और ग्लानि आ गयी तो वह भी हिंसा ही है। इसप्रकार अहंकार होने की सम्भावना रहती है। महाराज ने गुरुदेव से कई बार कहा है कि जैसे कुत्ता भूँकता है वैसे ही मैं साथ रहनेवाले साधकों को भौं–भौं करके भूँकता हूँ कभी–कभी। गुरुदेव कहते थे कि घर का स्वभाव है न, अभी–अभी घर से आये हो न, बाद में छूट जायेगा।

'निर्ममो निरहङ्कारः'– साधक जब अहंकार रहित होता है तभी ममता रहित होता है ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि कोई पद आगे आ जाता है, कोई पीछे आ जाता है; अतः अपने ढंग से उन्हें व्यवस्थित कर लेना चाहिए।

'समदुःखसुखः क्षमी'– वह संन्यासी जब दुःख को प्राप्त होता है– किससे? आप लोगों से, जो उसे ढोंगी कहते हैं, गाली देते हैं। (परीक्षा के लिए भी ऐसा होता है) पिटाई भी कर देते हैं तो उसमें समान भाव रखे और क्षमा करे। यदि प्रतिकूलता को अपना ही संस्कार मान लिया जाय तो क्षमाशीलता आनी कोई बड़ी बात नहीं है। भगवद्भक्त तुलसीदास ने शरीर के प्रति अहं भाव होने से ही ग्लानि में भरकर एक पद गाया है– 'ममता तू न गई मेरे मन से।' संतों एवं साधकों ने सर्वप्रथम अपने चित्त की आसक्ति की खोज की है; क्योंकि जबतक अपनी आसक्ति दिखाई नहीं पड़ जाती तबतक वह समूल विनष्ट नहीं हो सकती। ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी ने जो महत् क्षमाशील थे, विश्वामित्र को तब भी क्षमा कर दिया जब उन्होंने उनके सौ पुत्रों का वध कर दिया था। इसप्रकार जो सम्पूर्ण भूतों से द्वेषरहित हो गया है, उसमें निर्ममता एवं निरहङ्कारता ऐसे विलक्षण गुण स्वभावतः पाये जाते हैं।

'समदुःखसुखः क्षमी'– अर्थात् अपने प्रति बड़े भारी अपकारी के भी अपराध को क्षमा कर देनेवाला क्षमी कहलाता है, वह सुख–दुःख में समान भाववाला होता है। बलात् सुख और दुःख आ जायेगा उसके पास किन्तु वह सुख को सुख और दुःख को दुःख नहीं समझेगा, जैसे सारे के सारे प्राणी दुःख को त्याग करते हैं लेकिन संत दुःख को स्वीकार करता है और सुख का त्याग करता है। वह कहता है कि सुख ब्रह्म का प्रसाद है तो दुःख किसका प्रसाद है, राक्षस का प्रसाद है! भक्त भी दुःख को प्रसाद मान लेते हैं लेकिन सुख में सुखी नहीं होते तथा आये हुए सुख का त्याग ही करते हैं। भगवान उन्हें ऐश्वर्य देता है किन्तु जब वे भगवान को प्राप्त कर लेते हैं तभी उस ऐश्वर्य को लेते हैं। आज तक कोई ऐसा भक्त नहीं हुआ है जिसने ऐश्वर्य को पहले ले लिया हो और भगवान को पाया हो। कितने लोग कहते हैं कि धन से धर्म होता है

लेकिन संत कहते हैं कि धर्म से धन होता है और धर्म से होनेवाले धन का जब त्याग कर देंगे तब परम धर्म होता है। जब परम धर्म का, अहिंसा का पालन करेंगे तो परम ब्रह्म आयेगा– यह क्रम है। इसके विपरीत नहीं हो सकता। लिफ्ट नहीं मिला है आपको कि आप सीधे बैठे और चले गये ऊपरी मंजिल पर। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' जब सम्पूर्ण भूतों को आप अभय दान देंगे तो शिष्य ही ऐश्वर्य बनकर आपके पास आयेंगे, भक्त ही आपके ऐश्वर्य बनकर आयेंगे। 'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी'– किन्तु जब अहंकार हो जायेगा कि यह मेरा शिष्य या भक्त है, जब ममता हो जायेगी उसमें तो जो नहीं व्यवहार होना चाहिए वह व्यवहार होगा। भगवान ने इसीलिए कहा है 'निर्ममो निरहङ्कारः.....' ममता एवं अहंकार का न होना, लेकिन पहेली ऐसी है कि संत दुःख को भोगते हैं, सुख का त्याग करते हैं और सारे लोग सुख को चाहते हैं, वे दुःख का त्याग करने का प्रयत्न करते हैं तो भी सदा–सर्वदा के लिए दुःख जाता नहीं और सुख आता नहीं; किन्तु संत के पास सदा–सर्वदा के लिए सुख आ जाता है जिसे वे किनारे कर देते हैं और दुःख भोगते हैं। शिष्यों को कहेंगे कि मलाई खाओ और अपने घोर तपस्या करेंगे। जो सद्गुरु होगा उसके द्वारा शिष्यों के लिए सहज ही जप–तप होता रहेगा वह कहेगा कि तुम आराम से खाओ, पीओ, सोओ, विशेष मत करो, धीरे–धीरे आगे बढ़ो; क्योंकि एक बार उसने अपना बना लिया है शिष्य को अतः सदा के लिए क्षमा कर दिया है उसको। अब एक बार क्षमा कर दिया तो क्रोध नहीं करेगा वह, चाहे शिष्य से जितना अपराध हो। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान दे दिया है वह, अब जिसको सताना हो उसे सताए, लेकिन यदि अभी वह आध्यात्मिक पथ में है और कोई आत्मजिज्ञासु आता है तो उसे मित्र बना लेता है। आगे जब वही ब्रह्मरूप होता है तो फिर 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' कहता है अर्थात् शिष्य से कहता है कि तेरे में हिजड़ापन कहाँ से आ गया, कायरतारूप दोष कहाँ से आ गया, ऐसी कटु भाषा बोलता है। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'– साधनाकाल में नहीं बोलता था लेकिन सिद्ध होने पर कहता है कि पंडितों की सी बातें करते हो, बकवास कर रहे हो, मोह–ममता से लिपटे हुए हो फिर भी वेद की बातें करते हो? ज्ञान तो कुछ है नहीं, संन्यास का एक अंग भी तुम्हारे पास नहीं है और संत बनने का ढोंग करते हो! उत्तम शिष्य जानते हैं कि उसकी वाणी में ही ब्रह्मविद्या वास करती है, हनुमानजी के घूँसे में ब्रह्मविद्या वास करती है, लंकिनी को घूँसा मारा उन्होंने और उसका ब्रह्म जाग गया, प्रज्ञाचक्षु खुल गये। उसीप्रकार सद्गुरु की कड़वी वाणी में ब्रह्मविद्या का वास है उसके डंडे में ब्रह्मविद्या का वास है।

यदि इतनी शक्ति–सामर्थ्य आ गयी है और कोई आत्मजिज्ञासु है तब तो आप उससे मित्रवत् व्यवहार कर सकते हैं, अन्यथा उदासीन रहना होगा। गुरु–आश्रम में यानी संन्यासाश्रम में सभी अकेले आते हैं, अकेले रहते हैं, अकेले जाते हैं, जबकि गृहस्थाश्रम में साथ भी आते हैं, साथ भी जाते हैं, साथ रहते हैं, कितने ही पितरलोक में भी साथ–साथ जाते हैं। पति मरा, पत्नी मरी साथ चले गये, ऐसा भी देखा जाता है। गौतम ऋषि गये सिद्धलोक को भगवान श्रीराम ने मुक्त किया अहल्या (अहिल्या) को, तो वह पति के धाम चली गयी। इसीप्रकार कोई साथ रहते हैं साथ जाने की कामना से, अतः साथ चले जाते हैं। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ और अरूंधति नाम

के दो साधक एवं साधिका होते हैं, एकसाथ मरते हैं और दूसरे जन्म में वे राजा पद्म और लीलावती हो जाते हैं, साथ–साथ जीते हैं क्योंकि ये गृहस्थाश्रम है; लेकिन संन्यासाश्रम में अकेला साधक आता है, अकेला साधक रहता है, अकेला जाता है। उसके पास पितरलोक, देवलोक इत्यादि की बात नहीं होती। क्या मित्र, क्या वैरी, सारे लोग एक तरफ और वह एक तरफ रहता है। जितने भी इस जीवजगत में शिष्यों ने शिष्यत्व प्राप्त किया है और गुरुता प्राप्त की है, कालान्तर में गुरु–आश्रम में उनका विरोध हुआ है लेकिन उस विरोध को उन्होंने विरोध नहीं माना, बल्कि सहन किया, परिणाम हुआ कि उन्होंने आत्मसिद्धि प्राप्त की और चलते बने।

'अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः'– निकृष्ट कर्म को ही अंगद अपने अभ्युदय का कारण मान रहे हैं। उन्होंने प्रभु श्रीराम से कहा– *'नीच टहल गृह कै सब करिहउँ.....'* जैसे यहाँ (श्रीभागीरथी आश्रम में) भी नीच टहल करनेवाले लोग हैं, भूषणानन्द को नीच टहल करने का अवसर आया है। कोई झाड़ू लगाता है, कोई भण्डार का काम करता है, लोग उसे नीच टहल कहते हैं। कर्मफल का त्याग करके आत्मानन्द नीच टहल अबतक करते चले आये हैं लेकिन आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर देने में किसी से भी कम नहीं है। सपने में भी उनको गाँव–घर याद नहीं आता। नीच टहल कर्म के फल का त्याग करके करते हैं। बरकट्ठा से लोग आये हुए थे, आत्मानन्द ने कहा कि यह भी गाड़ी जा रही है इसके साथ स्टेशन चले जाइये। सामान बहुत ज्यादा था, ये उठाकर सामान रखने लगे कि ऐसे जमाओ, ऐसे जमाओ, आज्ञा नहीं दिया बल्कि कहा– लाओ ऐसे जमाता हूँ मैं। उनके जैसे साधक को तो अहंकार ही नहीं होता। जिस घर में सद्गुरु के साथ जाता है उस घर की भी सफाई करता है। यही नहीं कि आश्रम की ही सफाई करनी है, बल्कि जिस घर में जाता है उस घर में झाड़ू लगाता है, उस घर में काम कराता है; क्योंकि वह जान लेता है कि सद्गुरु यहाँ पर आ गये तो यहाँ का सारा का सारा महल इनका हो गया, सब कर्म इनके हो गये। नीच टहल है ये, लेकिन इस नीच टहल में नीच ब्रह्म नहीं है बल्कि परम ब्रह्म छिपा हुआ है। नीच ब्रह्म जीव है, नीच ब्रह्म काम है, नीच ब्रह्म क्रोध है, राग है, द्वेष है; अतः नीच ब्रह्म उसके पास नहीं छिपा हुआ है। कर्म के फल का त्याग करके वह सद्गुरु के साथ रहता है कोई मान दे तो, कोई मान न दे तो, वह तो सोचता है कि जो हमारे को सेवा मिली है वह तो करूँगा ही करूँगा। रैदास ने जूती पहनाई भगवान समझकर, ग्राहक समझकर नहीं; वह भंडार में सेवा करता है सबको गुरुदेव की आत्मा समझकर, अतः उसका वह कर्म ब्रह्मकर्म बन जाता है। यह साधना अति सरल है, अति सरल है; इसमें न जप करना है, न तप करना है, न ध्यान करना है, बस सद्गुरु के आश्रम में नीच टहल कर रहा है तो उसे मान नहीं मिलेगा बल्कि अपमान ही मिलेगा लेकिन उसे भी प्रभु प्रसाद समझेगा। कितना विवाद होता है आश्रमों में यह देखते बनता है, नर्मदा किनारे देखा महाराज ने। एक साधक गुरु–आश्रम में शुरू–शुरू में गया, गुरुजी ने कहा कि आओ हमलोग कुछ लिखते हैं, वे बोलने लगे और वह साधक लिखने लगा। शिष्य ईर्ष्या करने लगे कि आज ही आये और ये लिखा–पढ़ी करेंगे, हमलोग नौकर हैं क्या कि रोटी बनाकर खिलायेंगे इनको? लेकिन अब उसके गुरुदेव भी वैसे ही थे, सोचा मन में कि मत खिलाओ यह भूखा रहेगा। वे लोग अपने खाते थे दूध–फल,

चावल–दाल और उस साधक को देते थे नमक–चावल। एक दिन गुरुजी ने कहा उस साधक से कि जाओ लोग जलपान कर रहे हैं, जलपान कर लो! बहुत फल आता था, बहुत दूध आता था वहाँ पर। तो साधक शील–संकोच में दरवाजे पर एक छोटे से पेड़ के नीचे जाकर कुत्ते की तरह बैठ गया। उसने देखा कि ये लोग बुला ही नहीं रहे हैं, फल खा करके दूध पी ले रहे हैं, जब पंद्रह–बीस मिनट हो गये, तब पीछे से घूम–घामकर गुरुजी के पास चला गया। गुरुजी ने पूछा– जलपान कर लिए? तो कहा उसने कि जी! उसके उपरान्त चालू हो गया लिखना। एक घण्टे के बाद एक जगह जाना था। तैयार होते हैं चलने के लिए तो दो किलो दूध आया, बड़ी भीड़ थी, गुरुजी ने उससे कहा– अरे सुनो! साधक आया। गुरुजी ने साधक से पूछा– जलपान नहीं किया तूने न! तो वह मौन हो गया और मन ही मन हँस पड़ा। उन्होंने एक बूँद दूध अपने मुँह में डाला, भोग लगाया और कहा कि लो पी जाओ। वह दो किलो दूध पी लिया। कितनी रोटी खाएँगे आप? शाम को वे लोग पूछते, तो दो रोटी खा लेंगे– वह साधक कहता और कुत्ते की तरह लाकर नमक–रोटी दे देते थे। वह साधक प्रेम से खा लेता था लेकिन कभी अपने सद्गुरु से उसने कुछ भी नहीं कहा। एक दिन उस साधक का कोई परिचयवाला बहुत धनवान घर का भक्त बालक आ गया। छोटा बालक था, तेरह–चौदह साल का। नमक–चावल शाम को परोस दिया गया उसको भी। उस साधक ने उस भक्त बालक से पूछा– अच्छा लग रहा है! वह ऐसी प्यार भरी भाषा से बोला कि बहुत मीठा लग रहा है बापू! बहुत मीठा लग रहा है! उस साधक को ऐसी हँसी आयी, ऐसी हँसी आयी कि हँसते–हँसते वह लोट–पोट हो गया। अन्य शिष्यों ने कहा– क्यों हँस रहे हैं आप? तो कहा कि ऐसे ही इसने एक बात कह दिया था न, अपने घर की बात कुछ कह दिया और हँसी आ गयी। वह कहने योग्य बात नहीं है।

(सन्तुष्टः सततं योगी.....) साधक के लिए कहा जा रहा है कि जो संन्यासी हो गया है, गृहस्थाश्रम को जिसने छोड़ दिया है, जो ज्ञानयोगी है, उसके लिए मनमाना व्रत नहीं है। गुरु ने कह दिया तो उसके लिए कठोर चान्द्रायण व्रत है– हल्के आहार और सद्व्यवहार के साथ अहिंसा व्रत पालन करते हुए अपने स्वरूप में स्थित रहने का प्रयत्न करना। इसप्रकार अपने स्वरूप के ध्यान में स्थित होनेवाला वह पुरुष संतुष्ट है तो मुझे प्रिय है। क्यों प्रिय है वह? क्योंकि अति संतुष्ट है। एक विलक्षण बात भगवान नारायण ने इस ब्रह्मयोग में, संन्यासयोग में कही है, जो संन्यासयोग कल आपको भी प्राप्त होना है। कल आपको योगी बनना है, अतः इसपर विचार करेंगे आप, चिन्तन करेंगे। सदा ही अपने स्वरूप के ध्यान में रहने के कारण से 'यतात्मा दृढनिश्चयः' जिसने अपने मन, वचन एवं शरीर पर विजय प्राप्त कर ली है और दृढ़ प्रतिज्ञावाला है कि जबतक अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो जाऊँगा तबतक पीछा नहीं छोड़ूँगा। (मय्यर्पितमनोबुद्धिः.....) ऐसा भक्त जिसने प्रभु को मन, बुद्धि और चित्त दे दिया है, वह भक्त उन्हें प्रिय है। क्यों? इसलिए कि संतुष्ट है। क्यों संतुष्ट है? क्योंकि अपने द्रष्टापन में स्थित है; बारह–बारह घण्टे ध्यान में बैठा रहता है, तो भी जल्दी उसे सिद्धि नहीं मिल रही है! इतना होने पर भी मस्ती में रहता है।

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'– घर छोड़ा आपने सद्गुरु पाया, फिर भी भटक रहे हैं, फिर भी

असंतोष है, फिर भी राग–द्वेष है, फिर भी छल है और कपट है; विश्वास नहीं होता महाराज को कि आपने घर छोड़ा है। हिंसात्मक वृत्ति आती है मन में, राग–द्वेष आदि वृत्तियाँ भी आती हैं और कहते हैं– मैंने सद्गुरु पा लिया! दुःख–सुख के झकोरों में फँस जाते हैं और कहते हैं कि मुझे सद्गुरु मिल गया! ऐसी बात जँचती नहीं। भगवान को मन दे देना, भगवान में मन को आरोपित कर देना, भगवान के अनुसार कर्म करना– यह ज्ञानयोग हुआ, यह हुआ कर्मयोग तथा यह हुआ सर्वयोग। यदि अभ्यास ऐसा न हो पाये तो थोड़ा सा जीवन भगवान के लिए जीयें– दस पैसा। यदि ऐसा भी नहीं हो पा रहा है तो कर्म का फल भगवान को दे दें कुछ समय के लिए अर्थात् कुछ समय के लिए पराशर बन जायें। वह कैसे? धर्मपत्नी से पराशर ऋषि ने कहा– हे देवि! तुम्हारे साथ रहकर मैं भगवान की आराधना–साधना नहीं कर सकता। धर्मपत्नी ने कहा कि मैं बाधा बन रही हूँ क्या? पराशर ऋषि ने कहा कि हाँ, तुम बाधा बन रही हो। धर्मपत्नी ने कहा– फिर मैं कहाँ जाऊँगी? इसप्रकार वह आज्ञा देती नहीं थी। किन्हीं–किन्हीं ने अपनी धर्मपत्नी से भी आज्ञा माँगी है, किन्हीं ने बच्चे से आज्ञा माँगी है और किन्हीं लोगों ने आज्ञा माँगने की आवश्यकता ही नहीं समझी किसी से, आधी रात को चल पड़े, उन्हें भी भगवान मिला। आज्ञा माँगते–माँगते पराशर ऋषि को बहुत समय बीत गया। जब बात नहीं बनी तो ऋषि ने कहा कि कोई बात नहीं बारह साल के लिए आज्ञा दे दो! उनकी साध्वी धर्मपत्नी ने कहा– तो ठीक है, मैं बारह साल के लिए आपको आज्ञा देती हूँ। बारह साल के लिए आप भगवान के हो जाएँ। ऋषि ने सोचा कि यदि बारह साल भगवान मुझे स्वीकार कर लेंगे तो फिर प्रभु मुझे इसको नहीं दे सकते। आज्ञा मिल गयी वे चले गये।

'दृढनिश्चयः'– एक बार जिसने मन और बुद्धि को दे दिया भगवान को, तो वे अति संतुष्ट, अति संतुष्ट हो जाते हैं। वैसा योगी भगवान को बड़ा प्रिय है; क्योंकि वह दृढ़व्रती है। प्रतिज्ञा कर ली है उसने कि अब मैं कभी जीव का नहीं होऊँगा एकमात्र भगवान का होकर जीऊँगा। इससे सिद्ध होता है कि जबतक आप प्रतिज्ञा नहीं करते तबतक आप भगवान के नहीं होते। साधना के हर अंग को प्राप्त करने के लिए प्रतिज्ञा करनी होगी। गीता अध्याय छः 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'– बड़े भारी दुःख से चलायमान नहीं होता साधक। वह बड़ा भारी दुःख क्या है? घर जाने की कामना हो जाना बड़ा भारी दुःख है; भगवान को छोड़कर पितृभक्त, मातृभक्त, धर्मपत्नीभक्त, पुत्रभक्त बनने की कामना ही बड़ा भारी दुःख है; संन्यास ले लिया लेकिन घोर जप, तप में मन नहीं लग रहा है यही बड़ा भारी दुःख है; गुरुभाई बना लेना, गुरुबहन बना लेना बड़ा भारी दुःख है। अरे! संन्यास लेने के उपरान्त कैसा भाई, कैसी बहन? न कोई गुरुभाई होता है, न कोई गुरुबहन होती है। सभी गुरु की आत्मा होते हैं और आत्मा किसी का भाई नहीं होता, किसी की बहन नहीं होता। एक बार बहन का नाता टूट गया तो टूट गया, भाई का नाता टूट गया तो टूट गया। न कोई माता होती है, न कोई पिता होता है, न कोई बेटी होती है, न कोई भाई होता है। ये सब कहने की बातें हैं, एकमात्र व्यवहार में उच्चारण के लिए होती हैं। साधक के लिए ये सब बकवास है; क्योंकि भाई–बहन का नाता बना लेने के उपरान्त, माता–पिता, मित्र बना लेने के उपरान्त कोई कर्तव्य शेष रह जायेगा। नाता जोड़ा कि कर्तव्य

आया, इसलिए भगवान ने सोची समझी रणनीति के तहत 'दृढनिश्चयः' पद की स्थापना की है।

(अद्वेष्टा सर्वभूतानां.....) अब इस मंत्र का अर्थ गृहस्थाश्रमी भगवद्भक्तों के योग्य देखें– एक तरफ भगवान ने कहा कि आप सम्पूर्ण भूतप्राणियों से द्वेषरहित हो जायेंगे तब, जब आप भगवान के लिए सम्पूर्ण कर्मफल का त्याग कर देंगें तब तथा निष्काम कर्म, जप, तप, योग आदि करेंगे किन्तु फल नहीं चाहेंगे तब। अब प्रश्न उठता है कि फल क्यों नहीं चाहेंगे? वह इसलिए कि रहने को मकान मिल गया, पति मिल गया, पुत्र मिल गया, मान–सम्मान भी मिल गया तो अब होनेवाले जप, तप, योग से भगवान को ही माँग लें! जगत में जीने के लिए सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति ही पर्याप्त मानी गई है। यदि उसके उपरान्त भी सम्पूर्ण भूतप्राणियों से अद्वेष नहीं हुए तो आप भगवान को नहीं चाहते। इस मंत्र के दो अर्थ हुए, एक तो निष्काम कर्मयोगी का चित्त सम्पूर्ण भूतप्राणियों से द्वेष रहित हो ही जाता है और दूसरा यदि ऐसा नहीं हुआ है तो वह व्यक्ति निष्काम कर्मयोगी होने के लिए अद्वेष्टा, मैत्री, करुणा, निर्ममता, निरहङ्कारता आदि गुणों को धारण करने का व्रत करे। कोई कहता है कि मैं भगवान का भक्त हूँ और भाई से द्वेष तो जाता ही नहीं, तो वह भगवान का भक्त नहीं, केवल ढोंगी है।

यहाँ तो प्रभु ने महात्मा अर्जुन से बहुत व्यापक प्रेमी कहलाने की बात कह दी है। एक तरफ कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों से द्वेष रहित हो जाओ और दूसरी तरफ कहते हैं गाण्डीव उठाओ और दुर्योधन, शकुनि, कर्ण आदि महापापियों का वध करो। इसका भाव है कि जघन्य अपराधियों का वध करना भी द्वेषरहित होना ही है। जिससे सम्पूर्ण प्राणी पीड़ित हो रहे हों उसका वध कर ही देना चाहिये; यह सम्पूर्ण भूतप्राणियों से प्रेम करने का ही लक्षण है। यदि कुएँ का जल बिल्ली के मर जाने से गन्दा हो गया हो तो कुएँ से बिल्ली को निकाल देना ही चाहिये। उसीप्रकार परिवार में एक व्यक्ति के कारण से कलह का वातावरण बन गया हो तो उस एक का परित्याग कर ही देना चाहिये, तभी उसका प्रायश्चित होकर उद्धार भी होगा। अपने से तो पापात्मा प्रायश्चित करेगा ही नहीं, पुलिस डंडे से मारकर उसका प्रायश्चित कराती है और समाज की व्यवस्था को व्यवस्थित करती है। थोड़ा सा दण्ड देना भी क्षमा ही करना है। एक पुत्र ने शराब पी तो पिता ने चार चाँटे जड़ दिये। पुलिस जहाँ चार डण्डे देकर कारागार में भेज देती, उससे तो अच्छा ही है कि पिता ने चार चाँटे लगाकर उसका प्रायश्चित पूरा करा दिया। जब सम्पूर्ण भूतप्राणियों से प्रेम होगा तो अपराधी से द्वेष हो जायेगा क्या? नहीं, नहीं, वह द्वेष नहीं प्रेम का ही तो रूप है। दुर्योधन, दुःशासन, कर्णादि ने महापाप किया है उसका परिणामरूप फल गलित कुष्ठरोग का मिलना है, जैसा कि अश्वत्थामा का हुआ; फिर ये सहज ही उस दंड को स्वीकार करेंगे। तभी तो भगवान ने इनलोगों को वीरगति दी! यह महति क्षमा और दया का ही परिणाम है। जितना ही साधक निष्काम होता जाता है उतना ही वह भयरहित होता जाता है, उसमें दोहरी क्षमता आती जाती है। माँ जैसे बेटे को पीट भी लेती है और उसके हृदय में द्वेष भी नहीं होता है, वही कहानी लगभग उस साधक में आ जाती है। सम्पूर्ण भूतों में प्रेम प्रकट करने के लिए सीमित प्रेम को व्यापक करना होगा। सर्वप्रथम अपने घर के सदस्यों से प्रेम करना होगा; यदि माता–पिता, भाई–बान्धव आदि भगवद्भक्त हैं तो इनसे प्रेम करना होगा। घर के

सेवकों से, पशु–पक्षियों से भी प्रेम करना होगा। इसके बाद अपना प्रेम पड़ोसी तक चला जायेगा, फिर क्रमशः गाँव–क्षेत्र, देश–विदेश तक फैल जायेगा, जैसे सिद्धसंतों का प्रेम सामान्य से सामान्य जीवों के प्रति भी भगवान जैसा ही होता है।

नामदेव नामक संत ने रोटी लेकर भागते हुए कुत्ते से कहा था– 'ठहरें! ठहरें! हे प्रभु! रोटी में घी लगाना अभी बाकी है।' उनके ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि जो सदा सावधान चित्तवाला है, उसके भीतर का भाव सदा दिव्यता लिए प्रकट होता है। आज हमारे घरों में परस्पर में प्रेम कहाँ रह गया? घर में नौकर के लिए भोजन अलग बनता है, अपने तथा अपने बाल–बच्चों के लिए अलग बनता है। राजा अम्बरीष का कहना है कि एकादशी का व्रत किया और दरवाजे पर भिखारी आ गया तो व्रत आपका पूरा हो गया। प्रसाद पाने के पहले भिखारी को प्रसाद खिलाकर आपने खा लिया। किसी भी व्रत को करने के बाद दूसरे दिन दरवाजे पर संत, गाय, कुत्ते, भिखारी के रूप में भगवान का आना शुभ माना जाता है। उन्हें खिलाकर खा लिया या कुछ देकर खा लिया तो व्रत का पूरा फल मिल गया, ऐसा देखा जाता है। भगवान सबमें है लेकिन जो जिस रूपवाला है उसके साथ वैसा व्यवहार करना ही भगवान की पूजा है। भिखारी के रूप में भगवान को एक मुट्ठी अन्न दान दे दिया, गाय को दो रोटी खिला दी और संत को भर पेट भोजन खिला दिया या जो माँगा वह दे दिया तो व्रत का पूरा फल मिल जाता है। ऐसा नहीं कि भिखारी को पूरा खजाना निकालकर दे दिया, गाय को पूरा भण्डार ही खिला दिया और जब कोई भगवान वामन जैसा ब्रह्मचारी दरवाजे पर आ गया तो उसे लौटा दिया बल्कि वह तो मुँहमाँगा दान पाने का पात्र है। वह जो माँगेगा, उसे देना ही होगा। जो सबकुछ देने आता है वह सबकुछ माँगता भी है। सम्पूर्ण भूतप्राणियों से प्रेम करने की बात की भगवान ने, यह बिना सबसे मित्रता स्थापित किये नहीं हो सकता। जैसे–जैसे हमारी भक्ति व्यापक होती जाती है, वैसे–वैसे भगवान के होने के नाते सबके प्रति प्रेमभाव बढ़ता जाता है; किन्तु द्रुपद जैसे अहंकारी से तो उदासीन ही रहा जाता है। प्रेम सबसे करें किन्तु पापियों एवं अहंकारियों से उदासीन ही रहें।

राजा द्रुपद ने कहा था द्रोणाचार्य से– तुम एक गरीब ब्राह्मण हो और मैं एक राजा हूँ तो हम दोनों में मित्रता कैसे हो सकती है? वहीं जब सुदामा जैसा गरीब ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण के पास जाता है तो वे सिंहासन से ही उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़ते हैं और अपने ही बराबर ऐश्वर्यवाला बना देना चाहते हैं। प्रेम जब व्यापक होता है तो सम्पूर्ण भूतप्राणियों से उसे प्रेम मिलता है और प्रेम जब सीमित होता है तो सभी के साथ–साथ अपने बाल–बच्चों से भी द्वेष ही मिलता है। संत के पास कुत्ते एवं चूहे साथ–साथ रहते हैं, शेर और कुत्ते साथ–साथ उसके झरने पर पानी पीते हैं और आप एक ही माँ के चार बेटे एकसाथ खाने को राजी नहीं हैं तो भी कहते हैं हम भगवान के भक्त हैं। अब तो पिता–पुत्र एकसाथ खाने को राजी नहीं हैं। नहीं, नहीं, नहीं! यदि ऐसा है तो आप भगवान के बड़े द्वेषी हो सकते हैं। कुछ ही समय में दुर्योधन की तरह आपका सर्वस्व छीन लिया जायेगा। मंत्र कहता है कि आपमें ममता एवं करुणा ही नहीं है तो आप अपने अहंकार के सिवा किसी से प्रेम नहीं कर सकते। एक तरफ महात्मा भरत और

राजा जनक को देखें और दूसरी तरफ अपने–आपको देखें तो भगवान के पास आपको अपनी आलोचना करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचेगा। मित्रता नहीं होती सबसे, दया नहीं आती दुःखियों पर, करुणा नहीं आती भाई–बान्धवों पर, तो समझ लेना चाहिये कि हमारा प्रेम बिखर गया है, हमारी स्मृति, चेतना तथा शक्ति बिखर गई है। पहले गृहस्थभक्त एवं साधक भी शाप और वरदान दिया करते थे, किन्तु आपके पास बेटे को देने के लिए सम्पत्ति है, वरदान नहीं तथा दुष्ट बेटे को अनुशासित करने के लिए न शाप है, न शक्ति ही। एक तरफ महात्मा और दूसरी तरफ सद्गृहस्थ (निष्काम कर्मयोगी) दोनों ही भगवान के पास समान गति से गमन किया करते हैं। इतना ही नहीं, सद्गृहस्थों में दोहरी क्षमता होती है जैसे पुरुष की अपेक्षा स्त्री में दोहरी क्षमता होती है। पुरुष घर में आते ही मैले से लिपटे बालक को देखकर चिल्ला पड़ेगा– अन्धी हो क्या! दिखाई नहीं पड़ता? बच्चे की सफाई करो मैं आता हूँ। धर्मपत्नी मन में हँसती है कि पिता तो आप भी हैं, बच्चे के मैले की सफाई तो आप भी कर सकते हैं! वह पति का भी काम करती है माँ का भी करती है, वह दोहरा जीवन जीती है। उसीप्रकार आप यदि अपने को भक्त समझते हैं तो निश्चितरूप से दोहरा जीवन जी सकते हैं। आप महात्मा अर्जुन हैं तो महात्मा अर्जुन की शक्ति तभी जगती है जब उसके सामने भगवान रहते हैं। उसीप्रकार आपके पास यदि सद्गुरु है तो आपमें भी अर्जुन का विवेक जागता है। सद्गुरु वह है जो शिष्य को सबकुछ देकर जाये, लेकर कुछ भी न जाये।

इसप्रकार गृहस्थाश्रमी भक्त एवं साधक को जब सबकुछ प्राप्त हो गया है तो अपने भगवान को चाहने के लिए, अपने भगवान का प्रिय बनने के लिए, सम्पूर्ण प्राणियों से द्वेष छोड़कर भगवान के नाते भगवान से ही उनके लिए मंगल–कामना करे। यह कहे कि हे प्रभु! जैसे हमारे पर आपने दया की, वैसे सबपर दया करें।

सम्पूर्ण प्राणियों से द्वेष रहित होने पर मैत्री, करुणा, निर्ममता, निरहङ्कारता और दुःख, सुख में समान भाव तथा क्षमाशीलता आदि सिद्धियों के प्राप्त होने पर क्या होता है? तो प्रभु ने आगे कहा– (सन्तुष्टः सततं योगी.....) वह विश्वास के साथ एवं संतोष के साथ जी रहा है कि मैं एक दिन अपने स्वरूप में निश्चित स्थित होऊँगा; इसलिए वह सदा–सर्वदा स्वयं के ध्यान में स्थित रहता है। वह दृढ़व्रती जीवन को दाव पर लगाकर प्रतीक्षा करता है। वह तन, मन, वचन एवं हृदय विजेता है क्योंकि मन और बुद्धि को अपने इष्ट को ही दे दिया है। इसलिए दृढ़निश्चय के साथ इस भावना से जीता है कि जबतक भगवान नहीं मिल जायेगा अर्थात् जबतक अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो जाऊँगा तबतक भिखारी का जीवन जीऊँगा, कुत्ते की तरह जीवन जीऊँगा, अपने को जनाऊँगा ही नहीं कि मैं भक्त हूँ। इसप्रकार का दृढ़व्रती सदा मेरी प्राप्ति के यत्न में लगा रहता है, उसको मैं बहुत प्रतीक्षा नहीं कराता, उसके लिए अपने नियम को तोड़ देता हूँ, अपनी प्रतिज्ञा भंग कर देता हूँ। समय सीमा की बात उसके लिए नहीं रहती। जब वह जगत के लिए जीने की कामना का त्याग करता है तब मैं उसी के लिए जीने आ जाता हूँ। वह घर छोड़ता है जैसे ही, वैसे ही मैं सद्गुरुरूप में मिल जाता हूँ तथा सद्गुरुरूप में जब मैं भौतिक विषय या पदार्थ को देता हूँ और वह उसे स्वीकार नहीं करता है, तब वैसे दृढ़व्रती को मैं ब्रह्मज्ञान

ही दे देता हूँ अथवा अपने–आप को दे देता हूँ। सद्गुरु के मिलने के उपरान्त किसी भौतिक पदार्थ एवं विषय की कामना होती है तो वह घर का भुक्खड़ सद्गुरु के पास अपना पेट ही भरने आया है। एक बार जिसने मन और बुद्धि को भगवान को दे दिया तो वह अति संतुष्ट योगी प्रभु को प्रिय हो ही जाता है। वह दृढ़व्रती होता है इससे सिद्ध होता है कि यदि आपको भी अपने स्वरूप की सिद्धि चाहिये या आप भी चाहते हैं कि भगवान का प्रिय बनूँ, तो ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, कबीर, नानक आदि संतों एवं भक्तों जैसा भगवान को ही मन, बुद्धि, चित्त देकर जीवन जीना होगा।

किसी को साथी नहीं बनाते हैं तो सब वैरी हो जाएँगे आपके। देखना! उसी को आप साथी बना सकते हैं, जिसका घर–बार से सम्बन्ध नहीं है। निर्विकार होना चाहते हैं तो निर्विकारी को साथी बनाना होगा, सविकारी को नहीं। निकृष्ट कोई कर्म होता नहीं सद्गुरु–आश्रम में, सभी उत्कृष्ट कर्म होते हैं। जिसको जो कर्म मिला है, वह अपने कर्म को देखता है, दूसरे के कर्म को नहीं देखता है तो वह परम प्रिय भक्त हो जाता है, वह अतिशय प्रिय हो जाता है।

महात्मा संजय ने धृतराष्ट्र को पुकारा– राजन्! कुछ मौन से लग रहे हैं। धृतराष्ट्र ने कहा– तुम मौन हो तो मैं क्या करूँ? तुम तो अपने–आप में मस्त हो जाते हो, मेरा ध्यान देते ही नहीं हो।

संजय ने कहा– तो राजन सुनें! आत्मज्ञानी अर्जुन के पास भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने स्पष्ट करके रख दिया कि यदि भरत बनते हो, लक्ष्मण बनते हो, राम बनते हो तो ये सब गुरुजनों की आज्ञा में रहते हैं तथा भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तो राम की भी आज्ञा में रहते हैं। इसप्रकार की आदर्श साधना में साधक के उद्धार की संभावना है। अवसर आ गया है राजन्! इससे लाभ ले लें। भगवान आपका उद्धार कर देंगे, साधना की आवश्यकता आपको नहीं पड़ेगी। संन्यासियों के दिव्य योग की बात हो रही है उसे आप ले लें।

धृतराष्ट्र ने कहा– तो सन्यासियों की बात मधुसूदन क्यों करने लगे, इस समय जल्दी समाधान क्यों नहीं कर रहे हैं?

तो! आप चिढ़ क्यों रहे हैं! आपको जल्दी क्या पड़ी है? संजय ने कहा। राजन्! जब हमारी सेना में और उनकी सेना में किसी को जल्दी नहीं है तो आपको जल्दी क्या है?

धृतराष्ट्र ने कहा– अच्छा, अच्छा! बात तुम ठीक कह रहे हो, तो कुछ बताना चाहते हो?

हाँ राजन्! महात्मा अर्जुन के चेहरे पर तेज चमक रहा है, शान्ति झलक रही है, संन्यासी का धर्म सुन रहे हैं लेकिन ऐसा नहीं लगता कि वे कहेंगे कि फिर मुझे संन्यासी बना दीजिए। अब सुनने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही है उनको प्रीति हो गयी है।

ऐसा संजय के कहने पर 'तो चलो प्रतीक्षा करते हैं'– धृतराष्ट्र ने कहा।

युद्ध के मैदान में बड़ी गहमा–गहमी चल रही है जिसे देखें– (प्रभु तो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां.

.....क्षमी' कहकर फिर मौन हो गये। हर पद पर मौन होना– हर पद पर मौन होना।) 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'– मानो भगवान कुछ कह रहे हों– वह भक्त मुझे बड़ा प्रिय है जो दृढ़व्रती है, अमानी है, मानद है, संतुष्ट है। तुम मानद हो, तुम अमानी हो, तुम भगवान हो। एकसाथ तूने सबके अपराध को क्षमा कर दिया। इस महाराज युधिष्ठिर ने कहा था कभी द्रौपदी से कि क्षमा करो इनको। द्रौपदी ने कहा था कि महाराज! देर क्यों कर रहे हैं? आप कौरवों पर आक्रमण करने के लिए भाइयों को आज्ञा क्यों नहीं देते? तब कहा था– क्षमा करो! क्षमा करो! इनलोगों को क्षमा करो! क्षमा ही ब्रह्म है, क्षमा ही तप है, क्षमा ही दान है, क्षमा ही आत्मा है, क्षमा ही व्रत है, क्षमा ही योग है। तुमने क्षमा कर दिया सबको पार्थ, अतः तुम मुझको अतिशय प्रिय हो गये। बोलो क्या कहते हो? अर्जुन कुछ और सुनने की कामना से भगवान के सामने हाथ जोड़कर खड़े के खड़े रह गये।

जो सगुण उपासना करनेवाले हैं तथा जो निर्गुण उपासना करनेवाले हैं, दोनों में श्रेष्ठ कौन है? इसके उत्तर में भगवान नारायण ने 'श्रेष्ठ तो निर्गुण निराकार उपासक ही हैं'– ऐसा कह दिया है; क्योंकि वह साक्षात् मेरी आत्मा है, किन्तु उसकी साधना में अति क्लेश है, इसलिए कि शरीराभिमानी के द्वारा निर्गुण–निराकार साधना दुःखसाध्य है, अति दुःखसाध्य है, अति दुःखसाध्य है। वह व्यवधानों से तथा अवरोधों से अवरोधित है, इस कारण से उसमें विशेष विक्षेपता–मूढ़ता की संभावना होती है, उच्चाटन की भी विशेष संभावना होती है। समय बहुत लग जाता है इसमें, इसलिए इसका विस्तार करना चाहिए। किन–किन कारणों से देर हो जाती है निर्गुण–निराकार उपासक के लिए? लगभग चालीस–बयालीस कारण दिये हैं। वे ही कारण साधक की साधना में अवरोधक तत्त्व हैं, उन्हीं अशुभ तत्त्वों को दूर करने के लिए भगवान ने लगभग चालीस अणुव्रत दिये हैं। वरुणास्त्र की काट, आग्नेयास्त्र हो हाथ में तब तो बात बने। विरोधी तत्त्व होना चाहिए। लगभग चालीस–बयालीस दोष सोलहवें अध्याय में दिये गये हैं, इसलिए यदि लगभग चालीस प्रकार के दोष हैं शरीर में तो उनके लिए चालीस ही निर्दोषमय व्रत होने चाहिएँ।

'यस्मान्नोद्विजते लोको'– इस न्याय से कहा कि उस संन्यासी को अर्थात् उस निर्गुण–निराकार उपासक को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे कि वह किसी के व्यवहार से उद्विग्न न हो और उसके व्यवहार से कोई उद्विग्न न हो। ऐसा भी अवसर आता है, जब आपके व्यवहार से लोग व्यथित हो जाते हैं और कभी ऐसा भी अवसर आता है कि लोग व्यथित नहीं होते आपके व्यवहार से बल्कि आप ही व्यथित हो जाते हैं। महर्षि दुर्वासा के व्यवहार से राजा अम्बरीष व्यथित नहीं हुए लेकिन दुर्वासाजी अपने ही व्यवहार से व्यथित हो गये। संत वेष में थे, साधु वेष में थे, निर्गुण–निराकार उपासक थे, शक्ति के उपासक थे किन्तु बड़े व्यथित हो गये। इतने उद्विग्न हो गये, इतने उद्विग्न हो गये, इतने उद्विग्न हो गये कि जगत में भागते फिरे। सिद्ध महर्षि हैं वे, साधनाकाल की बात बतायी जा रही है उनकी, सिद्धावस्था की बात नहीं की जायेगी। साधन–पथ में क्या स्थिति आ पड़ती है आपके जीवन में, कभी–कभार आप नहीं जान पाते, वही बताया जा रहा है। वे इस ब्रह्मांड में भागते फिरे लेकिन भगवान का दंड उनका पीछा

नहीं छोड़ा, अंततोगत्वा राजा अम्बरीष की शरण में ही आना पड़ा। कभी–कभार ऐसा होता है कि साधनपथ में आप उद्विग्न नहीं होते, किसी के दुर्व्यवहार से आपका चित्त व्यथित नहीं होता लेकिन लोग व्यथित हो जाते हैं। आपका भगवत् चित्त व्यथित नहीं होता तो कोई बात नहीं, फिर चिंता न करें किसी के व्यथित होने पर। यदि आप अपने सद्व्यवहार से प्रसन्न हैं, किसीप्रकार का दोष नहीं है फिर भी यदि किसी को उसमें दोष दिखाई पड़ता है और उसके चित्त को दुःख होता है तो दुःख होने दें, उसकी आप चिंता न करें। महात्मा अर्जुन उद्विग्न हो गये हैं अपने भाई–बान्धवों को देखकर, इस कारण से भी भगवान को कहना पड़ रहा है कि उसके व्यवहार से दूसरे उद्विग्न न हो जाएँ और दूसरे के व्यवहार से वह उद्विग्न न हो जाय। इस समय वर्तमान में देखा जा रहा है कि सारे लोग इस रणभूमि में युद्ध की कामना से आये हुए हैं और कुछेक को छोड़कर, सब प्रसन्न हैं लेकिन अर्जुन भी अप्रसन्न हों यह दोष है। स्वजनों को दुःख से दुःखी होते देखकर भी साधक के मन में दुःख आ जाता है। विवेकानन्द ने माता–पिता के आर्थिक दुःख को देखकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस अर्थात् अपने गुरुदेव से कहा– गुरुदेव! कम से कम उनपर तो कृपा कर दें! गुरुदेव यह तो कहते ही नहीं थे कि उनके दुःख से तुम दुःखी मत होओ, तपोमय जीवन जीने दो; क्योंकि उनके तपोमय जीवन जीने से ही तुम्हारे जैसा विवेकानन्द प्रकट हुआ बल्कि कहते थे– जाओ भगवती से माँग लो। विवेकानन्द जाते थे और वहाँ जाकर माँग नहीं पाते थे। वहाँ उस भगवती में स्वामी रामकृष्ण ही दिखाई पड़ जाते थे। यह तो सभी जानते हैं कि उस भगवती में श्रीरामकृष्ण को भी अपना ही रूप दिखाई पड़ने लगा था। अतः दिव्य आचार, विचार एवं व्यवहार से सम्पन्न, दिव्य आध्यात्मिक श्रद्धा से सम्पन्न, विश्वास से सम्पन्न विवेकानन्द को भी स्वामी रामकृष्ण ही दिखाई पड़ने लगे थे उस भगवती में। अतः नहीं माँग पाते थे। गुरुदेव पूछते तो वे कहते– नहीं माँगा। तो चलो, कभी मन में पुनः आये तो माँग लेना। अन्ततोगत्वा उन्होंने पूछा कि क्यों नहीं माँग पाते हो? तो विवेकानन्द ने कहा– माँग रहा हूँ जिससे वही तो भगवती बना हुआ है, तो लौट आता हूँ। स्वामी रामकृष्ण हँस पड़ते थे, (यस्मान्नोद्विजते लोको.....) कहते थे कि तुम्हारे माता–पिता तो अपने दुःख से दुःखी नहीं हैं फिर तुम उनके दुःख से दुःखी क्यों हो रहे हो? साधक के जीवनपथ में भी ऐसा समय आता है, जब वह माता, पिता एवं बच्चों के दुःख से दुःखी हो जाता है जो भगवान को प्रिय नहीं है।

भगवान मानो कह रहे हैं कि ये सारे के सारे लोग इस समय दुःखी नहीं हैं लेकिन तुम दुःखी हो, जो कि तुम्हारे योग्य नहीं है। मुझे वह प्रिय है जो दूसरे के व्यथित होने पर भी स्वयं व्यथित नहीं होता लेकिन यहाँ उलटी बात हो गयी है। 'यस्मान्नोद्विजते लोको' कभी ऐसा भी होता है– दुर्वासाजी दस हजार शिष्यों के साथ दुर्योधन के दरबार में पहुँच गये। महाराज कहता भी है कि कोई–कोई साधक सिद्धावस्था में भी अपने आध्यात्मिक साम्राज्य को स्वीकार कर लेते हैं। नानाप्रकार के आत्मजिज्ञासु साधकों का समूह आना अर्थात् एक साम्राज्य की प्राप्ति होना और उसको स्वीकार कर लेना साधनपथ में विघ्न है। .....तो लेकर पहुँच गये शिष्यों को। दुर्योधन ने प्रेम से नहीं बल्कि भय से उनका स्वागत किया। उसको दुःखी करने के लिए वे कभी

आधी रात को भोजन आकर माँगते थे, कभी कहते थे कि बनाकर रखो हमलोग स्नान करके आ रहे हैं। स्नान करके आनेपर कहा जाता कि चलें महाराज! प्रसाद पा लें! तो वे कहते कि नहीं, मन नहीं कर रहा है हमलोगों का, हमलोग नहीं खाएँगे। कभी कहते– अरे! तूने कैसा बनाया है यह? लगता है अपवित्र भोजन है इत्यादि इत्यादि कह करके किसी प्रयोजन से यह चाहते थे कि वह अपमान करे। राजा बन बैठा था वह, अतः राजा के राजधर्म को सिखाने गये थे। भयभीत दुर्योधन उनकी परीक्षा में पास हो गया। शकुनि ने सिखा रखा था कि कभी भी प्रमाद मत कर देना, तिरस्कार मत कर देना, नहीं तो अभी भस्म कर देंगे ये। प्रसन्न होकर दुर्वासाजी ने कहा कि माँगो क्या माँगते हो? दुर्योधन ने अपने मित्रों से मंत्रणा करके कहा कि हे प्रभु! आपने मेरे को तो कृतार्थ कर दिया सेवा देकर किन्तु इसी प्रदेश में मेरे भ्राता युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ रहते हैं, उनके यहाँ भी जा करके आप प्रसाद पाकर उन्हें भी कृतार्थ करें। वह जानता था कि वे तो कुछ खिला–पिला नहीं पायेंगे तथा इनका व्यवहार यदि ऐसा ही वहाँ पर भी रहा तो उनसे न चाहते हुए भी अपमान हो जायेगा। भीम से तो उस समय ईर्ष्या थी ही, वह जानता था कि भीम तो सहन नहीं कर सकेगा, अतः उसके दुर्व्यवहार से ये महर्षि उन्हें शाप दे देंगे और हमलोगों का काम ऐसे ही (सहज में) बन जायेगा। दुर्वासाजी ने जाकर पाण्डवों से कहा– प्रसाद बनाओ, स्नान करके आ रहे हैं। कुछ था ही नहीं पास में, दस हजार शिष्यों का एकसाथ आ जाना उनके लिए बड़ी बात थी। जब द्रौपदी ने ब्राह्मणों को, उसके उपरान्त अपने पतियों को खिला दिया फिर अपने खा लिया, उसी समय पहुँचे थे। एक ऐसा व्यवहार संत का जिसके व्यवहार से पाण्डवों पर घोर संकट आ गया, वे उद्विग्न से हो गये। भगवती द्रौपदी ने कहा कि सदा–सर्वदा हमलोगों की सुरक्षा भगवान मधुसूदन ने की है, द्वारिकानाथ ने की है; अतः उन्हीं को हमसब स्मरण करें! स्मरण करते हैं, भगवान आते हैं और उनके मटके का एक दाना खा लेते हैं। खाते ही उन ऋषियों का पेट भर गया गले तक। वे भाग खड़े हुए। दुर्वासाजी ने शिष्यों से कहा कि ये पाँचों पाण्डव भी लगता है ऋषि ही हैं। पता नहीं क्या कर दिया इनलोगों ने। वहाँ जाकर यदि नहीं खा पायेंगे तो कहीं उनमें रोष न हो जाय। इसलिए भागो! पहले पाण्डव उद्विग्न हो गये उनके व्यवहार से फिर वे ही घबरा उठे, भयभीत हो गये।

नहीं, नहीं– ऐसा नहीं होना चाहिए। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'– साधक को कैसा होना चाहिए? वह किसी से उद्विग्न न हो।

एक साधक के पिता ने उसकी शादी ठीक कर दी चौदह वर्ष की अवस्था में। साधक ने होनेवाले ससुर के पास पत्र लिख दिया कि मैं शादी नहीं करना चाहता। बच्ची के पिता ने गाँव में पंचायत की। साधक को बुलाया गया। उन्होंने पूछा– यह तुम्हारा पत्र है बेटा? साधक ने कहा– हाँ, मेरा पत्र है। पत्र क्यों लिखा तूने? हाँ, मैंने देखा कि पिताजी मानेंगे नहीं और आपके साथ यह घोर अन्याय हो सकता है, क्योंकि मेरा कोई ठीक नहीं है कि मैं साधु बनूँगा कि घर में रहूँगा। मैं चाहता हूँ कि कुछ पढ़ लूँ इसके बाद विचार करूँगा। उन्होंने कहा कि तुमने अच्छा किया बेटा! अच्छा किया! मेरी प्रतिष्ठा भी बच गयी और तुम्हारा भी मनोरथ पूरा हो। लेकिन साधक के पिता ने समझा कि उनकी प्रतिष्ठा चली गयी, हाँ; साधक के मन में किसीप्रकार का

विकार नहीं आया। 'यस्मान्नोद्विजते लोको' लोगों के उद्विग्न होने से, दुर्व्यवहार से भी वह उद्विग्न नहीं होता है, लोग उद्विग्न हो जाएँ तो हो जाएँ, ऐसा भी होगा। भगवत्प्राप्ति के साधन में आये दिन साधकों के स्वजन तो उद्विग्न हो ही जाते हैं। ऐसा कोई साधक नहीं है जिसके स्वजनों ने जिसके माता, पिता, भाई, बान्धवों ने उसे पागल न कहा हो, ढोंगी न कहा हो, पलायनवादी न कहा हो, लेकिन जिस साधक ने मौनवृत्ति का आश्रय लेकर उनके दुर्व्यवहार को प्रभु का प्रसाद मान लिया या देवविघ्न मान लिया अथवा भगवान की परीक्षा मान लिया तो वह फिर उद्विग्न नहीं होता।

'यस्मान्नोद्विजते लोकः'– ब्रह्मचारी के वेष में महात्मा लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति अमर्ष था, ईर्ष्या थी। श्रीराम प्रभु भरत को बड़ा प्यार करते थे। ऐसे व्यवहार को देखकर लक्ष्मण भीतर–भीतर जलते रहते थे लेकिन अवसर नहीं मिलता था उस अमर्ष को निकालने का। चित्रकूट में जैसे ही सुना लक्ष्मण ने कि भरत सेना के साथ आ रहे हैं तो वह अमर्ष बाहर आ गया। कहा कि हे प्रभु! इन्होंने (भरत ने) मेरा बहुत पीछा किया है और आपसहित मेरा भी बहुत अपकार किया है। वनवास देने में इन्हीं की योजना है, इन्होंने ही अपनी माँ को सिखा रखा है, जिसका परिणामरूप फल हमसब दुःख पा रहे हैं। (वाल्मीकि रामायण में आप सब पढ़ें, विस्तार से दिया गया है) अब आ गये अकण्टक राज्य प्राप्त करने के लिए। इतना दुःख देने से संतोष नहीं हुआ क्योंकि ये आपके पौरुष को सामर्थ्य को जानते हैं, शक्ति को जानते हैं कि चौदह वर्ष के बाद आप राज्य को ले लेंगे। वे जान गये कि ये वानप्रस्थी हो गये अब युद्ध तो करेंगे नहीं, ऐसे अवसर का लाभ उठा लिया जाय इनको मार करके और फिर स्वतंत्र राज्य करें– ऐसा सोचकर वे आ रहे हैं। आपकी आज्ञा हो तो प्रभु अकेला मैं ही उनके लिए भारी हूँ। श्रीराम प्रभु ने कहा कि तुम्हारी ईर्ष्या बोल रही है लक्ष्मण, ईर्ष्या बोल रही है। देवताओं की भी आकाशवाणी हुई थी। लक्ष्मण के व्यवहार से भगवान श्रीराम उद्विग्न नहीं हुए। गुरु के पद पर भी हैं। शिष्य के व्यवहार से गुरु उद्विग्न नहीं होता। देववर्ग वहाँ पर जो थे, ऋषि–महर्षि थे कोई उद्विग्न नहीं हुए। हाँ, सबने लक्ष्मण को ही कुछ भला–बुरा कहा। प्रभु श्रीराम ने तो यहाँ तक व्यंग्य बोल दिया– तो चलो लक्ष्मण ऐसा करते हैं, तुम चिन्ता मत करो, राज्य के तुम भूखे हो तो भरत के आने पर मैं कह देता हूँ कि ये राज्य लक्ष्मण को दे दो। लक्ष्मण को जब अपने दोष का पता चला तब वे अपने ही व्यवहार से उद्विग्न हो उठे, चरणों में गिरकर कहा कि अब रहने दें, अब रहने दें। हे प्रभु! अब रहने दें! अब क्षमा करें, क्षमा करें! मैं अपने स्वभाव के वशीभूत हो गया था। यह मेरा कैसा स्वभाव है– भले को बुरा, बुरे को भला समझ लेता हूँ कभी–कभी। आप कब कृपा करेंगे, साधु स्वभाव कब देंगे? ऐसी प्रार्थना की। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'– बड़ा सावधान साधक है वह, जो न अपने उद्विग्न होता है, न अपने सद्गुरु को उद्विग्न करता है अथवा कभी ऐसा समय आता है कि अपने उद्विग्न हुआ लेकिन सद्गुरु उद्विग्न नहीं हुए। सद्गुरु की बार–बार मार पड़ने पर साधक को उद्विग्न होते हुए देखा गया है। एक साधक उद्विग्न हो गया, जब सद्गुरु ने चारों तरफ से घेर लिया हर व्यवहार से तो साधक ने अपने अस्त्र–शस्त्र डाल दिये। कहा कि गुरुदेव मैंने बहुत अपमान कर दिया है आपका और आपके अन्य शिष्यों का, इससे मैं

सेवा छोड़ता हूँ। बड़ी चालाकी थी, बड़ी चालाकी थी उसके ऐसा कहने में। अपनी उद्विग्नता को छिपानेवाला साधक ऐसा होता है। चोर के पास छत्तीस कलाएँ होती हैं, जब–जब उसे जिस कला की आवश्यकता होती है तो वही कला उसके सामने आ जाती है। वह बच निकलना चाहता है उस कला से। महात्मा अर्जुन के पास भी इस समय कलाओं की कमी नहीं है, भगवान से ही छल करना चाहते हैं। ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का तो बहाना है लेकिन भगवान उनके छल में नहीं आये और पीछा भी नहीं छोड़ा। सद्गुरु पीछा नहीं छोड़ता। फिर तो उस छली–कपटी शिष्य को चोरी से भागना पड़ेगा वहाँ से। इसतरह तो भाग नहीं पायेगा, कहाँ भागकर जायेगा! बाद में पता चला कि उसको ईर्ष्या भी है किसी साधक से। उस ईर्ष्या के चलते अपने उद्विग्न हो गया, लेकिन गुरुदेव तो उद्विग्न नहीं हुए। कोई वह विरला साधक होता है जो कभी किसी काल में भी अपने गुरुदेव को उद्विग्न नहीं करता और न ही उनके व्यवहार से उद्विग्न होता है, वैसा साधक सत्यकाम, आरुणि, उपमन्यु आदि जैसा होता है। अशोकानन्द को ले जाकर घरवालों ने पिटाई की। महाराज के पास यह भागकर आ गया था, इन्दौर में। लोग आये तो महाराज ने कहा– जाओ भागते क्यों हो? जाने में क्या परेशानी है, जब भागकर आये हो तो जाओ! वह चला गया। लोगों ने शराब पीकर पिटाई कर दी लेकिन तो भी एक दिन आधी रात को उठा और भागकर चला आया। शराबी, कबाबी, क्रोधियों, दीन–हीनों, सकामियों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाना ही धर्म है। आधी रात को उठे और भागकर चला जाए। वे रोते–कलपते रह जायेंगे। उद्विग्न होते रहें लेकिन वह साधक उद्विग्न न हो, फिर कालान्तर में वे भी सम शान्त हो जाएँगे। आज वे ही लोग उसकी दिव्य साधना को देखकर अपने को सनाथ मान रहे हैं, भाग्यशाली मान रहे हैं।

'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः'– कभी ऐसा भी होता है कि साधक को सतानेवाले के ऊपर यदि कष्ट आता है तो उसे (साधक को) हर्ष हो जाता है, वह अपने हर्ष को छिपा नहीं पाता। उसे लगता है कि इसने मुझे सताया है उसी का दण्ड मिल रहा है। फिर तो क्या, वह अपने प्रिय जनों से कहता फिरता है। ऐसा व्यवहार भगवान को प्रिय नहीं है। ऐसा भी अवसर आता है जब वह हर्षित होता है, अपनी बड़ाई को सुनकर। यहाँ तक कि अपनी शक्ति–सामर्थ्य को गुरु से सुनकर भी हर्ष हो जाता है, तब दम्भ होने की संभावना हो जाती है। यही तो कारण है कि अपने प्रिय शिष्यों की प्रायः बड़ाई करने से सद्गुरु बचता है लेकिन चूँकि साधकों को कभी–कभी प्यार भी देना पड़ता है, कभी बड़ाई भी देनी पड़ती है। कुम्हार की दशा होती है उसकी। वह भीतर से सँभाले रहता है और ऊपर से थापी देता रहता है, मिट्टी के घड़े बनाते समय। लेकिन उसकी बड़ाई को सम्पूर्ण बड़ाई न समझ ले नहीं तो हर्ष हो जायेगा और हर्ष के उत्पन्न होने पर जिसके प्रति ईर्ष्या है, डाह है, अमर्ष है, उसके प्रति दुर्व्यवहार हो जायेगा और दुर्व्यवहार होने पर सद्गुरु खिन्न हो जायेगा। अतः वह उसका प्यारा नहीं होगा, इसप्रकार वैसे साधक को व्रत लेना पड़ेगा, सदा सजग होना होगा कि मेरे में कहीं किसी के प्रति अमर्ष तो नहीं हो रहा है।

एक साधक था जो दो–चार साधकों से ईर्ष्या करता रहता था क्योंकि वे लोग भी सेवा

करते थे गुरुजी की। उसको लगने लगा कि पक्षपात कर रहे हैं गुरुदेव, मेरे से विशेष उनलोगों को आदर–मान देते हैं या प्यार करते है। अतः चार साल के बाद उसने उनका साथ छोड़ दिया। इसके उपरान्त तीन साल के बाद क्षमा माँगी। तीन साल के बाद क्षमा माँगने पर गुरुदेव ने क्षमा कर दिया। वह कहता रहा कि यहाँ पर आप तीन माह रह जाएँ तो जानूँगा कि आपने क्षमा कर दिया। गुरु ने कहा कि यह तो नहीं होगा। हाँ, क्षमा कर दिया तुम्हारे को! मुझे बुरा भी नहीं लगा है, सुना है कि तूने बहुत गाली दी है तीन साल तक लेकिन मुझे कुछ भी बुरा नहीं लगा। अरे! बालक का क्या दोष! लेकिन प्रकृति ने उसे क्षमा नहीं किया। उसके कुछ ही महीने के बाद वह अकाल मृत्यु में चला गया। जब वह दुःखी था तो उसने सोचा कि गुरु के उलटा ही करूँगा। गुरुजी उस समय दीक्षा किसी को नहीं देते थे तो वह दीक्षा देना शुरू कर दिया, पैसा नहीं लेते थे तो पैसा लेना शुरू कर दिया, कहीं जाते नहीं थे प्रवचन करने तो वह प्रवचन करना शुरू कर दिया, उसी पड़ोस में जहाँ गुरुजी रहते थे। खूब नाम हो गया था उसका लेकिन उसे क्या पता था कि गुरु ने तो क्षमा कर दिया किन्तु जैसे जयन्त के क्षमा माँगने पर प्रभु ने उसकी एक आँख ले ली, उसीप्रकार उससे इतना अपराध हो गया है कि प्रकृति उसका जीवन ही ले लेगी। इसप्रकार संभावना रहती है साधक के मन में अमर्ष होने की। बहुत से सद्गुरुओं के पास बहुत से साधकों को देखा जाता है कि जिनको दूसरे साधकों की तपस्या को देखकर ईर्ष्या (डाह) होती रही और बारह–बारह साल सद्गुरु की सेवा एवं साधना करके भी उनसे ही ईर्ष्या करके अलग हो जाते थे तथा निन्दा करते रहते थे। अतः साधक ईर्ष्या को सहन करे, सदा सावधान रहे; क्योंकि जहाँ बैठा है वहाँ भी अमर्ष होने की पूरी की पूरी संभावना बनी रहती है यदि कोई दूसरा साधक उससे जल्दी सिद्धि प्राप्त कर लिया तो।

नर्मदा किनारे एक तंत्रसिद्ध संत के पड़ोस में एक साधक रहता था। सिद्ध संत के पास बहुत भीड़ होती थी, उससे सहन नहीं हुआ। बस ऐसा अमर्ष हुआ उसको कि बुलाकर लोगों को उन्हें गोली से मरवा डाला। अन्तोगत्वा वह जेल चला गया। गवाही कोई नहीं हुई, इसलिए पाँच–छः साल के बाद छूटकर आ गया। अतः अमर्ष हो जाता है, ईर्ष्या हो जाती है लेकिन उस अमर्ष में आप भी ईर्ष्यालु हो जायेंगे तो समस्या हो जायेगी। लगता है जो मारे गये थे सन्त, वे पूरे भगवान के नहीं थे, नहीं तो वह मार नहीं सकता था।

महात्मा अर्जुन से भगवान नारायण इन व्रतों को इसलिए कह रहे हैं कि कभी उन्हें भी संन्यास लेना पड़ेगा। उनलोगों के साथ भी संन्यास के उपरान्त ऐसे ही उत्पात प्रकृति के द्वारा होंगे। देखा ही जाता है कि एकसाथ छहों ने संन्यास लिया लेकिन छहों एक–दूसरे के व्यवहार को नहीं देखते थे। हस्तिनापुर से लेकर स्वर्गारोहण तक जाना और एक–दूसरे के व्यवहार को न देखना, यह संन्यासाश्रमी साधकों के लिए चुनौती है। साधकों से कहता है महाराज कि उनकी जीवनी को देखें। इन चालीस अणुव्रतों को उनलोगों ने धारण कर रखा है। प्रतिज्ञा कर दी थी युधिष्ठिर ने कि साथ–साथ रहेंगे लेकिन एक–दूसरे के व्यवहार को नहीं देखेंगे। आज से जिसको जैसे जीने का मन हो वह वैसे ही जीए– जप करे न करे, तप करे न करे, खाए न खाए, इससे एक–दूसरे को लेना–देना कुछ नहीं रहेगा, ऐसा उनका संन्यास था। इस मंत्र से

भगवान ने यह कहा है कि जब आप साधकों के साथ तपस्या कर रहे हैं तो उनमें अमर्ष होने की संभावना रहेगी लेकिन यदि आपके पास ये अणुव्रत होंगे तो वे आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं पायेंगे और आप हर्ष–अमर्ष से मुक्त हो जायेंगे।

(यस्मान्नोद्विजते लोको.....) साधक या संत के व्यवहार से कोई उद्विग्न न हो, ऐसा अपवाद देखने को मिलता है। हाँ, वह जगत के व्यवहार से उद्विग्न नहीं होता, यह देखा जाता है। साधनावस्था में कभी–कभी जगत के व्यवहार से साधक भी उद्विग्न होते देखे जाते हैं, लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिये। संत ज्ञानेश्वर के पिता अपने गुरुदेव की आज्ञा से संन्यासी से गृहस्थ बन गये, किन्तु उनका कुल–परिवार उनका गाँव–क्षेत्र, सब उनसे उद्विग्न हो गये; उनको अपने जाति से निकाल दिया तथा घोर अपमानित किया। वे अतिशय ग्लानि से भरकर जलसमाधि ले लिए, किन्तु उन्हीं के तीन पुत्र (निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव) एवं एक पुत्री (मुक्ताबाई) समाज के द्वारा घोर अपमानित होने पर भी मन में पीड़ित नहीं हुए, जिससे वे चारों भगवान को इतने भा गये कि उनलोगों के पिता को कोई नहीं जानता और इनलोगों को पूरा जगत जानता है। अपनी इन प्रिय आत्माओं का प्रचार–प्रसार स्वयं प्रभु ने कर दिया। कभी जीवन में ऐसा समय आयेगा कि साधक के भगवत् व्यवहार से ही अज्ञानियों में चिढ़ हो जायेगी; किन्तु यदि साधक ने सचमुच में भगवान को मन, बुद्धि, चित्त दे दिया है तो वह चिढ़ नहीं सकता। परम पूज्य मस्तराम बाबा द्वारा इस अध्याय के श्लोक १३ से लेकर १६ तक का भाष्य एक मधुर पद के द्वारा दिया गया है। उन्होंने शरणागत भक्त की आन्तरिक माँग को भगवान के पास रखा है–

हरिजी मोहि शरण रख लीजे।।

.....

इस पद में उनकी एक पंक्ति है– 'जरेना मन मेरोहू जगते चाहे खूब खिझावे' अर्थात् हे प्रभु! मेरे व्यवहार को न पचा पाने के कारण से चाहे मेरे से कोई जितनी भी ईर्ष्या करे, चाहे जितना भी कोई चिढ़ाये (खिझावे) किन्तु मेरा मन न किसी से जले, न चिढ़े और न ही किसी से उद्विग्न हो।

तपोमूर्ति देवरहा बाबा की कुटिया के निकट बहुत विशेष (कई एकड़) जमीन गोचर ही थी। उसे कुछ लोगों ने अपना बनाने के लिए उत्पात मचा दिया, खून–खराबा भी हो गया; किन्तु उस संत ने कुछ भी नहीं कहा। कहना तो दूर, जिसप्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द जरासंध के बार–बार उत्पात मचाने से द्वारिका चले गये, उसीप्रकार वे भी प्रभु के धाम वृन्दावन चले आये। कभी–कभार ऐसा हो जाता है कि साधु का भगवत् व्यवहार ही लोगों को खलने लगता है लेकिन संत को कभी किसी का व्यवहार व्यथित नहीं करता।

इस मंत्र में 'हर्षामर्षभयोद्वेगैः' पद आया है अर्थात् जब अनुकूलता में हर्ष हो जाता है साधक को तो वह अमर्ष ही है। किसी ने उसे सताया और वह अति संकट में फँस गया तो कहीं साधक को ऐसी प्रसन्नता न हो जाय कि मेरे प्रति ऐसा किया तो वह इतने घोर संकट में फँस गया। जब रावण मारा गया तो विभीषण बिलखते हुए रो पड़े; क्योंकि उसके प्रति उनके मन में ईर्ष्या (डाह) नहीं थी। भक्त प्रह्लाद पिता की मृत्यु पर न प्रसन्न हैं, न दुःखी हैं, प्रभु के द्वारा वरदान

माँगने के लिए कहने पर कहते हैं– हे प्रभु! इन्हें मुक्ति दे दें। इस न्याय से अपने को कष्ट देनेवाले को प्रभु यदि कष्ट दे और आप जैसे साधक को प्रसन्नता हो, तो यह प्रभु को प्रिय नहीं है। 'हर्षामर्षभयोद्वेगैः'– भय से वह मुक्त होता है, इसलिए कि उसका भगवान सर्वत्र है, सर्वसामर्थ्यशाली है, सर्वज्ञ है, फिर भय की बात ही क्या है। इसलिए चाहे जहाँ खा–पी लेता है, चाहे जहाँ सो लेता है, चाहे जहाँ चला जाता है। शेर की गुफा, पेड़ की छाया, खण्डहर, झोपड़ी आदि उसके वासस्थान होते हैं। वह सर्दी–गर्मी से भी इसलिए नहीं डरता; क्योंकि सर्दी–गर्मी भी तो भगवान ही है। हनुमानजी सुरसा के आने पर भयभीत नहीं होते, अन्ततोगत्वा वह वरदान देकर चली जाती है। रावण के दरबार में उनकी जो अभयता है, वह तो देखते ही बनती है। प्रह्लाद की तरह किसी–किसी साधक के साथ अस्त्र–शस्त्र, अग्नि–जल, विष आदि से प्रकृति छेड़खानी भी करती है, इसलिए प्रभु ने साधकों को सावधान किया है।

(यस्मान्नोद्विजते लोको.....) आप साधनाकाल में हर्षित न होना; क्योंकि भगवान के मिलने के पूर्व बहुत सी प्राकृतिक सिद्धियाँ मिलेंगी किन्तु भगवान तो नहीं मिला आपको। आप माँग रहे हैं भगवान को और दे रहा है सिद्धियाँ– यह तो हर्ष की बात है ही नहीं, बल्कि दुःख की बात है, लेकिन दुःखी भी नहीं होना है; हाँ, उसे स्वीकार नहीं करना है। महाराज के गुरुदेव ने आत्मानन्द को पाँच सौ रुपये सन् १९६५ में दिये। उन्होंने महाराज को दिखाया। महाराज ने कहा– यदि तुम भगवान को चाहते हो तो ये पैसे उनको लौटा दो। आत्मानन्द ने पैसे गुरुदेव के चरणों में रख दिये। गुरुदेव ने पूछा– ये क्या? तब महाराज ने कहा– गुरुदेव! जब आप आत्मानन्द पर प्रसन्न होना तो ये जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए आये हैं उस ब्रह्म को देना। गुरुदेव ने पैसे रख लिए और सन् १९९६ में ब्रह्मलीन होने के ढाई महीने पूर्व आत्मानन्द को प्रसन्नता का वरदान दे गये। प्रभु ने इतने व्रतों के उपरान्त पुनः अन्य व्रतों को देना प्रारम्भ किया। कहा–

(अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः.....) 'अनपेक्षः'– वह जगत में किसी से कुछ भी इच्छा नहीं रखता, इस कारण भीतर–बाहर उसमें पवित्रता आ जाती है, इसी कारण से वह दक्ष है अर्थात् अति चतुर है। किसी से चाहेगा तो लोग उससे चाहेंगे, अतः वह चतुर साधक किसी से कुछ चाहता ही नहीं है साधनाकाल में। यही कारण है कि सबसे उदासीन रहता है ताकि लोग उससे कुछ न चाहें। क्यों? इसलिए कि वह साधनपथ में है, किसी को कुछ दे तो सकता नहीं तो भी लोग तो उससे कुछ चाहेंगे ही चाहेंगे। वे कहेंगे– आपसे जगत का क्या कल्याण हो रहा है? आप जैसों से ही तो भारत हिजड़ों जैसा हो गया है। इसप्रकार नानाप्रकार के कटु वचनों से लोग चित्त व्यथित करेंगे। इतना ही नहीं कई कारणों से उसपर व्यथा आ सकती है लेकिन वह व्यथाओं से रहित होता है।

उतंक नामक एक साधक थे, संत थे, ध्यान कर रहे थे। एक कलिक नामक व्याध ने वहाँ आकर एक मंदिर में चोरी की। सोने, हीरे, जवाहरात से जड़ा हुआ मुकुट भगवान को पहनाया गया था। चँवर आदि भी सोने के थे, वह चुराकर ले जा रहा था। उस चोर ने सोचा कि इस साधु ने देख लिया अतः इसे मार डालो। वे ऋषि भगवद्भक्त थे। उसने उन्हें उठाकर पटक

दिया, छाती पर पाँव रख दिया और गला दबाकर, तलवार निकाली मारने के लिए। तब उस ऋषि ने कहा– मार लेना, मार लेना! किन्तु एक प्रश्न का तुम उत्तर दे दो। चोर ने कहा– बोलो! ऋषि ने कहा– मुझ निरपराधी को क्यों मार रहे हो? चोर ने कहा– तुमने देख लिया है न! तुम लोगों से बता दोगे। ऋषि ने कहा– तुम अन्तर्यामी तो हो नहीं कि तुम जान गये कि मैं लोगों को बता दूँगा। तुम्हारा धर्म तुम्हारा धर्म है, मेरा धर्म मेरा धर्म है। साधु किसी चोर की चोरी को नहीं बताता। सुना नहीं है तुमने कि वह साधु–असाधु में सम रहता है, वैरी मित्र में सम रहता है। मेरी दृष्टि में कोई ऐसा नहीं है जो चोर नहीं है लेकिन मैं किसी की चोरी को बिना कहे, भगवान से भगवान को चुराने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैं भी एक चोर हूँ, लेकिन मैं अपनी चोरी को किसी से नहीं कहता, न दूसरे की चोरी को किसी से कहता हूँ। जबतक मैं भगवान को चुरा नहीं लूँगा तबतक मुझे किसी को चोर कहने का क्या अधिकार है। जब मैं अपनी चोरी को नहीं कहता तो तुम्हारी चोरी को क्यों कहूँगा। चोर ने पूछा– आपने सबको चोर क्यों बना दिया? संत ने कहा– तुम सोने–चाँदी की चोरी कर रहे हो, लेकिन लोगों ने भगवान की संतानों को चुरा रखा है, अपना मान रखा है। भगवान के छिपे हुए एक दिव्य मंदिर को जिसमें भगवान रहता है, जिसे शरीर कहा जाता है, उस दिव्य मंदिर को अपना मान लिया है। भगवान की ही आत्माओं (बाल–बच्चों) को अपना मानकर हृदय में बिठा लिया है, इसलिए अब भगवान के लिए जगह उसमें नहीं रही, अतः भगवान उनके हृदय में कहीं छिप गया है। जैसे–जैसे हृदयरूपी मंदिर में भगवान की वस्तु को अपना मानकर भरने लगे वैसे–वैसे भगवान छिपता गया, छिपता गया, बहुत दूर छिप गया, तो भी तो मैं किसी की चोरी को कहने नहीं जाता। कलिक नामक चोर ने छोड़ दिया और सामने खड़ा हो गया। उतंक ऋषि ने कहा कि हाँ, तुम कम चोर हो। वे सारे लोग बहुत बड़े चोर हैं, जो अपने को बड़ा बुद्धिमान कहते हैं। वेदों, शास्त्रों, पुराणों के ज्ञाता होते हैं लेकिन वे भी मैं और मेरेपने से दूर नहीं हैं। अतः वे महाचोर हैं और तुम तो एकमात्र चोर ही हो कलिक! तुम्हारी चोरी को मैं क्या कहूँगा! वे तो महाचोर हैं, जानते हुए भी चोरी कर रहे हैं। इसप्रकार संत की दिव्य अमृतमयी वाणी से उसे सत्संग का लाभ हुआ और चरणों में गिरकर क्षमा माँगा तथा उनका भक्त बन गया।

व्यथा आ जायेगी लेकिन साधक साधनाकाल में यदि दक्ष है, चतुर है, तब वह भगवान को प्रिय है। कौन चतुर है? 'अनपेक्षः' अर्थात् जो भगवान की ही इच्छा से साधना कर रहा है। 'सर्वारम्भपरित्यागी'– जिसने सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर भगवान को अपना आराध्य बना रखा है, वही चतुर है। उस चतुर के ऊपर व्यथा आयेगी, दुःख आयेगा लेकिन व्यथित नहीं होगा, व्यथित नहीं होगा तो उसके हृदय में उस समय दिव्य प्रज्ञा प्रकट होगी और आये हुए दुःख को भी वह ज्ञान देगा। आया हुआ दुःख भी ज्ञान सुनने का पात्र होता है, आया हुआ सुख भी ज्ञान सुनने का पात्र होता है– दुःख भी सुनता है, सुख भी सुनता है। 'जिमि इन्द्रिय गन उपजें ग्याना'– इन्द्रियों पर संस्कार बैठे हुए हैं वे सुनते हैं, लोग जड़ कहते हैं जबकि वे संस्कार चेतन होते हैं, अतः सुनते हैं। 'उदासीनो गतव्यथः' यदि जगत से वह उदासीन है तो चतुरता उसमें आयेगी।

इन मंत्रों से यह भी संकेत मिलता है कि गुरु के आश्रम से तबतक नहीं जाना चाहिए जबतक प्रकृति का घेरा टूट न जाय। आकाशतत्त्व तक प्रकृति का घेरा होता है। जबतक पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व पर विजय प्राप्त न हो जाय, तबतक गुरु का पीछा न छोड़े। वही ब्रह्मचारी चतुर है, अन्यथा मूर्ख है, अतः मूर्खता का त्याग कर दें। 'अनपेक्षः शुचिर्दक्ष'– गुरु के पास तबतक रहे जबतक सबसे 'अनपेक्षः' न हो जाय, भीतर–बाहर से पवित्र न हो जाय। हाँ; जब गुरु कह दे कहीं अन्यत्र रहने को तो वहाँ रहे। बाहर से पवित्र है लेकिन भीतर की अपवित्रता ज्यों की त्यों है, भीतर में घुन लगा हुआ है काम का तथा बाहर से ढोंग करता है पवित्र होने का तो वह प्रभु का प्रिय नहीं है। पता नहीं कैसे आज के साधक पहन लेते हैं घड़ी, टेरीकॉट इत्यादि। घड़ी में काम रहता है, वस्त्र में भी काम रहता है, तेल–फुलेल में भी काम रहता है सबमें काम रहता है। वे अवश्य गुरु विरोधी होंगे, जिनको लज्जा लगती ही नहीं होगी। 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः'– जो दक्ष है वही उदासीन हो सकता है, जो दक्ष नहीं है वह उदासीन नहीं हो सकता। 'उदासीनो गतव्यथः'– अब व्यथा से रहित हो गया है वह। भीतर–बाहर से जो पवित्र है वही दक्ष है और वही व्यथा से रहित हो सकता है। बाहर की पवित्रता उतने महत्त्व की नहीं है जितना कि भीतर की पवित्रता का महत्त्व है। पहले माना कि बाहर से पवित्र हो जाय किन्तु उसको वह असंख्य अंशों में से पवित्रता का एक अंश माने। उसके उपरांत भीतर की अपवित्रता को दूर करने का अहर्निश प्रयास करे। काम–क्रोध, राग–द्वेष, मोह–ममता, छल–कपट, दम्भ–पाखंड इत्यादि से भीतर में अपवित्रता होती है। इस मैल को दूर करने में बड़ा समय लग जाता है। अतः वह साधक देवपूजक न बने। 'सर्वारम्भ परित्यागी'– यज्ञादि कर्मों का परित्याग कर दे। संन्यासी जो भगवान की ही कामना करनेवाला है वह अब देवसंध्या न करे। संध्या में भगवान के लिए बैठे। मृगछाला चाहिए, कुशा चाहिए, साथ में जल चाहिए आचमन करने के लिए– जल देवता रक्षा करेगा, देवता रक्षा करेंगे इत्यादि इत्यादि, ऐसा वह न करे। कर्मकाण्ड को धारण न करे। 'सर्वारम्भपरित्यागी' कर्मकाण्ड ही सर्वारम्भ है, देवपूजा ही सर्वारम्भ है। उसमें सकामता रहती है कि देवता मेरी रक्षा करें ऐसी भावना रहती है, फिर भगवान आपकी रक्षा कैसे करेगा। वह बाहर से भी भगवान को बिठाता है, भीतर भी भगवान को बिठाता है, जैसे देवी का उपासक बाहर से कवच एवं कीलक करके देवी को बिठा देता है फिर भीतर में देवी की उपासना करता है। जो शिव का उपासक है, महामृत्युंजय का उपासक है वह बाहर से मातृकाओं को जो भगवान से प्रकट हुई हैं बिठा करके फिर 'ॐ त्र्यम्बकं यजामहे.....' भीतर में भगवान शिव की आराधना करता है, उनका ध्यान करता है। जो जिसकी उपासना करता है उसी को बाहर बिठाये। कोई करते हैं भगवान की उपासना और बिठाते हैं बाहर में देवता को। यह विरोधी बात है, इसे नहीं कहते हैं 'सर्वारम्भपरित्यागी'। सम्पूर्ण आरम्भों का अर्थात् सकाम कर्मों का अर्थात् देवपूजा का वह त्याग कर देनेवाला साधक भगवान को अति प्रिय है– 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'।

(.....उदासीनो गतव्यथः) एक भगवद्भक्त राजा के पास घोर संकट आ पड़ा। रात्रि में स्वप्न में भगवान ने कहा– राजन्! कल के दिन तुम्हारे पड़ोसी राजा के द्वारा तुम्हारे पर

आक्रमण होगा, तुम शाम होते–होते बंदी बना लिए जाओगे। फिर कुछ देर के बाद कुलदेवी और कुलदेवता राजा के पास आये और बोले– हे राजन्! आपकी आज्ञा हो तो हम दूसरे राज्य के धर्मात्मा राजा के पास जायें; क्योंकि कल तो आप बंदी बना लिए जाएँगे और हम आपकी विरोधी राजा से सुरक्षा कर नहीं पायेंगे। राजा ने कहा– जहाँ आपको सुख एवं शान्ति मिले वहाँ जा सकते हैं। उनके जाने के उपरान्त लक्ष्मी देवी आयीं और राजा से आज्ञा माँगकर चली गयीं। ब्रह्ममुहूर्त में यानी भोर में राजा के धर्म देवता आये और उन्होंने भी जाने की आज्ञा माँगी। राजा ने कहा– यदि मैं आज्ञा नहीं दूँगा तो आप क्या करेंगे? धर्म देवता ने कहा– फिर तो आपके पास ही रहूँगा। किन्तु हे राजन्! आपको बंदी बनाकर दण्ड दिया जायेगा कि बाल–बच्चों सहित इसी नगर में भिक्षा माँगकर खाते रहो। उस अवस्था में मेरे से यह आपका दुःख देखा नहीं जायेगा। राजा ने कहा– तब तो मैं आपको निश्चित ही नहीं जाने दूँगा क्योंकि भिखारी का भी धर्म होता है। भिखारी यदि अपने धर्म के साथ भिक्षा माँगता है तो पुनः वह राजा ही हो जाता है। इसलिए आप यहीं रहें और भिक्षा माँगने में धर्मगत व्यवहार की प्रेरणा देते रहें। कुछ देर के बाद में गये हुए देवी–देवता भी लौट आये; क्योंकि जहाँ धर्म होगा, वहीं देवी–देवता भी होंगे। दिन में सचमुच युद्ध हुआ, लेकिन परिणाम उलटा हो गया। इस राजा के द्वारा पड़ोसी राजा को ही बन्दी बना लिया गया और बाल–बच्चोंसहित भिखारी बनाकर उसी नगर में भिक्षा माँगने के लिए छोड़ दिया गया।

इसप्रकार साधक एवं भक्त पर घोर आपत्ति–विपत्ति तो आती है; किन्तु यदि भगवान के द्वारा दिये गये व्रत उसके सामने हैं तो आपत्ति–विपत्ति बाधक न बनकर साधक बन जाती है।

(अनपेक्षः शुचिर्दक्ष.....) एक साधक की राजस एवं तामस मिश्रित बुद्धि ने इसका उलटा ही अर्थ निकाल लिया। उसने सोचा– जो किसी से कुछ चाहता ही नहीं है, वही चतुर तथा संपूर्ण व्यथाओं से मुक्त होता है और वही भगवान को प्रिय होता है। अतः मैं गुरुदेव से भी कुछ क्यों चाहूँगा? भगवान को चाहनेवाला मैं गुरु–आश्रम में क्यों रहूँगा? गुरुदेव का खाना, कपड़ा, मकान क्यों लूँगा? मेरे जैसा तो कोई मूर्ख ही नहीं है कि भगवान को चाहनेवाला कुछ भी गुरु से चाह रहा है। ऐसा सोचकर सद्गुरु–आश्रम छोड़ गाँव के एक सरोवर के पास तपस्या करने लगा। कभी–कभी रात्रि में चोर–डकैतों को शरण दे देता था। थाने में खबर गई, पुलिस पीछे पड़ गई। एक दिन रात्रि में वहाँ चोर विश्राम कर रहे थे; पुलिस ने धावा बोल दिया। गोली ब्रह्मचारी के एक हाथ में लगी, हाथ काटना पड़ा। उसके उपरान्त उसने यह सोचकर साधना छोड़ दी कि ये सारे जप, तप, योग झूठे हैं। रात्रि में उसे स्वप्न हुआ कि झूठे तो तुम हो, क्योंकि तुम अपने को चतुर समझकर सद्गुरु की अध्यक्षता छोड़ बैठे थे। जगत में आजतक कोई सद्गुरु से इच्छारहित नहीं हुआ। भगवान को सद्गुरु नहीं देगा तो कौन देगा? जबतक तुम सद्गुरु की अध्यक्षता में थे तबतक तुम्हारा कुप्रारब्ध गुरु के आश्रम के बाहर खड़ा रहता था तथा निराश होकर अब जाने ही वाला था कि तुमने गुरु का ही त्याग कर दिया। इसी कारण यह तुम्हारा कुप्रारब्ध तुम्हारे पीछे हो लिया और आज उसने अपना काम कर लिया। सद्गुरु के शरणागत

होकर रहने पर उसकी शक्ति अपनी रक्षा करती है तथा स्वतंत्र रहने पर अपना प्रारब्ध ही पालक एवं संहारक होता है। तुम्हारे जैसे महामूर्खों के कहने से योग, जप, तप आदि गलत नहीं हो जायेंगे।

(अनपेक्षः.....गतव्यथः.....स मे प्रियः) थोड़े में ही ऐसा कहा जा सकता है कि जगत से जो साधक कुछ भी नहीं चाहता वही परम पवित्र तथा चतुर है, वही उदासीन है और सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी भी है। कुछ साधक भीतर से पवित्र होते हैं किन्तु बाहर से उनका व्यवहार अपवित्र देखा जाता है। सन् १९७७ में महाराज ने एक पहाड़ की तलहटी में एक ऐसे तंत्रसिद्ध साधक को देखा जो भीतर से बड़ा सौम्य एवं शान्त था। बाहर की उसकी त्यागवृत्ति और हृदय की प्रसन्नता को देखते ही बनता था, किन्तु उसका आहार, मांस एवं मदिरा था, जो भगवान को प्रिय नहीं है। जिसका व्यवहार एवं खाना–पीना सब भगवान के योग्य है, वही पुरुष जगत में चतुर है। महात्मा शुकदेव महाचतुर हैं; क्योंकि माँ के गर्भ में ही ब्रह्मचिन्तन कर रहे थे। पिता ने योगबल से पूछा– तुम बाहर क्यों नहीं आ रहे हो? तो उन्होंने कहा ज्ञानसमाधि का अभ्यास कर रहा हूँ। जब सम्पूर्ण विषयों से निर्मल वैराग्य हो जायेगा, तभी गर्भ से बाहर आऊँगा ताकि इस गड्ढे से बाहर आकर संसाररूपी गड्ढे में न फँस जाऊँ। वैसे ही वह साधक अति चतुर माना जायेगा जो भगवान और अपने को जाने बिना जगत में अपने को जनाता नहीं।

गृहस्थाश्रमी साधक को भी दुर्योधन जैसा मूर्ख न होकर, अर्जुन जैसा चतुर होना चाहिये। दोनों ही भगवान के पास सहायता माँगने गये। दुर्योधन भगवान से नारायणी सेना माँगकर लाया तो शकुनि ने कहा था कि तुम महामूर्ख हो। अर्जुन से भगवान ने कहा– मैं तो युद्ध करुँगा नहीं, इसलिए तुम मुझे क्यों चाहोगे? अर्जुन ने कहा– वाणी से बोल तो सकते हैं आप कि मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये। अतः जिसके जीवनरूपी रथपर सद्गुरु बैठा है उसके रथ का चक्का कर्ण की तरह दलदल में नहीं फँसेगा। भगवान मानो कह रहे हैं कि महामूर्खों के बीच चतुर होकर रहना, अपवित्रों के बीच पवित्र होकर रहना। तो भगवान के अनुसार मूर्ख कौन है? हाँ, प्रभु एवं अपने को न चाहनेवाले ही जगत में मूर्ख हैं। जिसप्रकार मछली के बाजार में कहीं–कहीं सब्जी, फल, फूल बेचनेवाले भी दिखाई पड़ जाते हैं, उसीप्रकार मूर्खों के बाजार में जहाँ मूर्खता बिक रही है, वहीं कहीं–कहीं भगवद्बुद्धि बेचनेवाले संत भी निकल पड़ते हैं। अर्जुन की तरह उन्हें ही पकड़कर अपने जीवन की समस्या का समाधान कराना चाहिये, यही चतुरता है। मूर्खों के बीच में चतुर होकर रहना यह कैसे सम्भव है? ऐसे कि मूर्खों के बीच संत के साथ, संत की बुद्धि के साथ चलने से सब सम्भव है। कोई कहता है संत सदा साथ तो नहीं रहता? तो क्या हुआ, शरीर के साथ वह नहीं रहता लेकिन सिद्धान्त के साथ तो रहता है! सद्गुरु तो आपके साथ रहके भी नहीं रहता, जब आप उसके सिद्धान्त को नहीं मानते तो। जो चतुर हैं, जगत से उदासीन हैं, वे रहते जगत में हैं लेकिन मानते सद्गुरु की हैं, रहते जगत में हैं किन्तु मानते कौसल्या, सुमित्रा, मंदोदरी और तारा जैसी माताओं की हैं। तारा बुद्धि है बाली की, मंदोदरी बुद्धि है रावण की, किन्तु उन मूर्खों ने बुद्धि की ही बात नहीं मानी। श्रीराम प्रभु बुद्धि हैं विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जामवन्त की। हनुमानजी का नाम आपने नहीं लिया? हाँ,

इसलिए कि श्रीरामजी तो आत्मा ही हैं हनुमानजी की। अतः आपको अपने आगे–पीछे देखना होगा कि कौन चल रहा है। जिसने भगवान का होकर और सद्गुरु को पाकर सबका परित्याग कर दिया है, वही चतुर है और वही भक्त भगवान को अतिशय प्रिय है।

आगे मंत्र में देखें कि भगवान अब कौन सा दिव्य व्रत दे रहे हैं– 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।' उस दक्ष अर्थात् चतुर साधक को हर्ष का अवसर आयेगा लेकिन हर्षित नहीं होगा, द्वेष का अवसर आयेगा लेकिन द्वेष नहीं करेगा, शोक–सन्ताप का अवसर भी उसके पास आयेगा लेकिन शोक–सन्ताप नहीं करेगा। इसप्रकार शुभ–अशुभ का अवसर आयेगा लेकिन स्वीकार नहीं करेगा। बहुत लोग देने आयेंगे अर्थात् इच्छा पूरी होनेवाली इच्छाओं का साधन भी आयेगा, लेकिन वह उन इच्छाओं को स्वीकार नहीं करेगा। जम्मू से दो साधक आये उन्होंने बिस्कुट चढ़ा दिया। महाराज ने कहा कि यहाँ यह नहीं लिया जाता क्योंकि साधक–संत बिस्कुट नहीं खाते।

यह जूता आपको पहनना ही पड़ेगा अन्यथा हम दोनों को बड़ा दुःख लगेगा। बड़े शौक से हमलोग इसे आप ही के लिए लाये हैं– एक दम्पति ने कहा। महाराज ने कहा– क्यों पहनना पड़ेगा? महाराज तो नहीं पहनेगा फैशन का जूता! क्या पूछकर लाये महाराज से ऐसा जूता? उन्होंने कहा– पहन लेंगे तो क्या हो जायेगा? महाराज ने कहा– आप साधु बन जायेंगे तो क्या हो जायेगा? उन दोनों ने कहा– देखिये महाराजजी ऐसा मत कीजिए, हम लोगों को बड़ा दुःख लगेगा। महाराज ने कहा– यदि आपलोग कहते हैं कि आप इस जूते को नहीं पहनेंगे तो दुःख लगेगा, तो महाराज का हृदय आप सब से पहले ही दुःखी है कि आप सब साधु को घड़ी क्यों देते हैं, फैशन के जूते क्यों देते हैं, साधु को केक–बिस्कुट क्यों देते हैं? साधु के जन्मदिवस पर केक क्यों काटते हैं? इसप्रकार पहले से ही हृदय भरा हुआ है दुःख से आप सब पर। कैसा दुःख आपका! साधु के मांस को काटते हैं– केक काटना यानी मांस को काटना। उसके जन्मदिवस पर दीपक या मोमबत्ती बुझाते हैं, इसप्रकार उसी के जीवन को बुझाना चाहते हैं, लेकिन वह तो बुझता नहीं, आप ही बुझ जाते हैं, आपका जीवन ही बुझ जाता है। आप नहीं देखते कि जिस कुल–परिवार, गाँव–देश के लोग विषयी हैं उनका सारा जीवन बुझ गया है, क्योंकि सद्बुद्धि नहीं तो जीवन नहीं, जीवन में भगवान नहीं तो जीवन नहीं। विषयी का कोई जीवन जीवन नहीं होता। अरे! दुःख से भरा चित्त तो महाराज का है, आपके दुःख की तरफ देखे कि अपने दुःख की तरफ देखे। क्या हो जायेगा यदि महाराज के दुःख को आप दूर कर देंगे तो? इसी से तो महाराज कहता है कि साधु को नहीं देखना चाहिए अर्थात् साधु के व्यवहार को नहीं देखना चाहिए, बल्कि साधु जो व्यवहार बताए उस व्यवहार को स्वीकार करना चाहिए। अपने जैसा जिलाने की कामना नहीं करनी चाहिए, उसे अपने जैसा रखने की कामना नहीं करनी चाहिए। यदि गृहस्थ अपने जैसा रखना चाहते हैं संत को, तो संत ही बताएँ उनको कि वे अपने जैसा मत रखें। जब संत आ जाए तो कम से कम उन दिनों में संत जैसा रहें। 'न काङ्क्षति'– न वह उनसे कोई इच्छा करे, न उन दिनों वे उन्हें इच्छा करने के लिए बाध्य करें। भगवान की ही इच्छा करना सिखाएँ। 'यो न हृष्यति'– हर्ष का अवसर आ जायेगा, सेवा–शुश्रूषा से प्रसन्न कर लेंगे

सकामी, तो साधु कहेगा कि माँगो बेटा! वरदान माँगो। अरे! अपने को वरदान दे लिया क्या? जो महाराज दशरथ की तरह दानी बनने लगे?

'न द्वेष्टि'– जीवन में किसी प्रेमी के द्वारा द्वेषी जैसा व्यवहार होने की भी सम्भावना रहती है। एक शिष्य ने अपने सद्गृहस्थ भक्त के द्वारा एक अपराध होने के कारण उसे शाप दे दिया। उसके सद्गुरु ने सुना तो कहा– तुम्हें शाप देने का क्या अधिकार था? शाप देने की शक्ति तो तुम्हें मेरे से ही मिली है! क्या तुमने शाप देने के पहले मुझसे पूछा था? यदि मैं तुम्हारी गलतियों के कारण से तुझे शाप दूँ तो कैसा लगेगा? अपने अपराध के लिए क्षमा कराते रहते हो और दूसरे के द्वारा अपराध होनेपर शाप ही दे देते हो? यह कैसी साधुता है? अतः जिस वाणी में वरदान एवं शाप देने की शक्ति आ जाय, उस वाणी से वरदान एवं शाप न देकर भगवान का ही आवाहन किया जाय तो वह आवाहन बड़ा प्रभावकारी होता है। भगवती द्रौपदी का भगवान को पुकारना बड़ा सार्थक हो गया था, क्योंकि वह सम्पूर्ण कौरवों को शाप देकर भस्म कर सकती थी, तो भी उसने ऐसा न कर प्रभु को ही पुकारा। अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करने पर भगवान ही अपने लिए अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन कर देता है। यदि साधक साधनाकाल में वरदान या शाप न दे तो उसकी वाणी काव्यमय बन जायेगी, तेजोमय बन जायेगी। जितने भी छन्द एवं मंत्र हैं, वैसी ही वाणियों से तो प्रकाशित हैं। साधक अपने प्रेम का प्रदर्शन अपनी वाणी से नहीं करता और न ही द्वेष का प्रदर्शन वाणी से करता है। तभी तो उसकी सेवा–शुश्रूषा करनेवाले को भगवान ही वरदान देता है और उससे द्वेष करनेवालों को महादण्ड दे देता है। यह मंत्र महाराज के गुरुदेव की आत्मा है। वे कहते थे कि जैसे ही गीताजी मेरे हाथ में आयी, वैसे ही पढ़ते–पढ़ते यह मंत्र मिला। बस, इस मंत्र से जागने लगा, सोने लगा, खाने लगा, पीने लगा और व्यवहार करने लगा।

'यो न हृष्यति'– इससे सिद्ध होता है कि हर्ष का अवसर भी आयेगा और जब हर्ष का अवसर आयेगा तो असजग साधक हर्षित हो जायेगा तथा हर्षित हो जायेगा तो साधनपथ में विघ्न हो जायेगा, यह मंत्र लिखा ही इसीलिए है। 'न द्वेष्टि'– द्वेष का अवसर आयेगा और साधक प्रमाद के कारण से द्वेषी हो जायेगा, शोक–संताप का अवसर आयेगा और साधक प्रमाद के कारण से शोक–संताप में डूब जायेगा। शोक–संताप का अवसर आयेगा वह यह कि महीना दिन ध्यान ही नहीं लगेगा जबकि ध्यान तो एक बहाना है, इस रहस्य को जानता है उच्चकोटि का साधक। वह बैठता है ध्यान में, हररोज बैठने और भगवान के आने के बीच की जो दूरी है वह प्रतीक्षा की दूरी है। उस दूरी में जो प्रसाद प्राप्त होता है उसे कहते हैं ध्यान और समाधि। कोई अतिथि आया दरवाजे पर, जैसे शुकदेवजी अतिथि हो गये राजा जनक के दरवाजे पर, राजा जनक नहीं आये। शुकदेव और राजा जनक के मिलन होने के बीच में इक्कीस दिन की दूरी हो गयी। कोई–कोई कथाकार तो कहते हैं बयालीस दिन की दूरी हो गयी थी, यह भी स्वीकार है। इक्कीस दिन दरवाजे पर खड़े रह गये भूख–प्यास में। पहरेदारों ने कहा कि आप प्रतीक्षा करें, महाराज जनक ने कहा है। वे इस प्रतीक्षा में इक्कीस दिन खड़े रह गये। इक्कीस दिन के बाद राजा जनक उठे, दौड़ते हुए आये और उस महात्मा शुकदेव को कंधे पर उठा

लिया, ले आये अपने निवास में, भगवती सुनयना के कक्ष में, दिव्य पलंग पर उन्हें बैठा दिया, कहा कि इनकी सेवा–शुश्रूषा करो। दिव्यांगनाओं को सेवा में नियुक्त कर दिया, अप्सराओं को नृत्य करने के लिए भेज दिया, दिव्यरस, दिव्यगन्ध आदि की व्यवस्था कर दी। इक्कीस दिन फिर बीत गये। राजा जनक ने पूछा– क्या स्थिति है उस संत की? कहा भगवती सुनयना ने कि वे तो बस, नृत्य होता है तो आँखें बन्द कर लेते हैं, कभी खोलते हैं, लगता है कि उनकी तरफ देख ही नहीं रहे हैं। हर्ष की ध्वनि भी नहीं आती न हर्ष की मुद्रा आती है। वे सम शान्त पड़े रहते हैं। जो खाने योग्य उनके पदार्थ होते हैं उसे खा लेते हैं। अन्य बहुत से रस होते हैं जिनका वे परित्याग कर देते हैं। उन्हें इक्कीस दिन विशेष सोते नहीं देखा गया है बस साढ़े ग्यारह से दो बजे रात्रि में सो लेते हैं। पद्मासन लगाकर बैठे हैं पलंग पर– कभी टहल लेते हैं, कभी खड़े हो जाते हैं, कभी बैठ जाते हैं। ऐसा सुनकर राजा जनक दौड़ते हैं, आकर उन्हें कंधे पर उठाते हैं और अपने सिंहासन पर बिठा देते हैं। कहा– आप सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, मान–अपमान में सम हैं, अतः आप क्यों शोक–सन्ताप करते हैं? आपकी सारी परीक्षा ले ली गयी है। आपका चित्त इन सारे द्वन्द्वों में सम एवं शान्त है, अतः आपके पिताजी ने आपसे जो कुछ कहा है वह सत्य है। आप ही आत्मा हैं, आप जैसे निर्विकारी आत्मा के कारण से ही आपका तन, मन, वचन, हृदय भी निर्विकार हो गया है। अब आपको कुछ करना शेष नहीं है। इसप्रकार शुकदेव एवं राजा जनक के मिलन के बीच की दूरी में जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध अर्थात् दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वह तो एक प्रसाद है। समय बिताना है स्वयं या भगवान की प्रतीक्षा में, हो सकता है कि एक महीना ध्यान न लगे। अरे! नहीं लगा तो नहीं लगा, क्या हो जायेगा!

सन् १९७५ में महाराज को छः महीने ध्यान नहीं लगा। अरे! क्या हो गया ध्यान नहीं लगा तो? भगवान की प्रतीक्षा तो हुई? भगवान ने तो स्वयं कह दिया है कि 'नाहं वेदैर्न तपसा' (गीता अध्याय–११, मंत्र सं० ५३) अर्थात् जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं दानादि साधनों से मैं प्राप्त नहीं होता बल्कि अनन्य भक्ति से ही प्रसन्न होता हूँ। तब तो मात्र अनन्य भक्ति से प्रतीक्षा ही शेष रही! अब वह प्रतीक्षा चौराहे पर जाकर–नाचकर करनी है या वह प्रतीक्षा रोज ताश खेलकर करनी है या वह प्रतीक्षा चेला–चेली बनाकर करनी है! ऐसा प्रश्न करने पर भगवान कह रहे हैं– नहीं, नहीं, नहीं! वह प्रतीक्षा इन मंत्रों में दिये गये व्रतों को पालन करके करनी है। यहाँ वह व्यवहार ही तो दिया जा रहा है, जिसमें रहकर भगवान की प्रतीक्षा करनी है। गृहस्थाश्रमी साधक जप, तप, योग, यज्ञादि करके प्रभु की प्रतीक्षा करें, ब्रह्मचारी सद्गुरु की सेवा–शुश्रूषा अथवा आज्ञा पालन करते हुए प्रभु की प्रतीक्षा करें और संन्यासी सबकुछ त्यागकर वीतरागी संतों की तरह जगत में अज्ञात होकर प्रतीक्षा करें। राजा बलि ने यज्ञ में दान देते हुए प्रभु की प्रतीक्षा की। भगवान उनके यहाँ सर्वस्व लेकर सर्वस्व देने आ गये। राजर्षि पृथु भी यज्ञ–दान करते हुए समय बिताने लगे। सौ अश्वमेधादि यज्ञों का फल इन्द्रपद न लेकर ब्रह्म स्वरूप हो गये, जो चौबीस अवतारों में से एक हैं। राजा जनक सम्पूर्ण यज्ञ और दान के फलस्वरूप अष्टावक्र जैसा गुरु पाकर ब्रह्मरूप हो गये। इसप्रकार ब्रह्म के आने तक साधक अपने–अपने स्वकर्म और स्वधर्म से

समय बिताते हैं।

(यो न हृष्यति.....) महाराज के गुरुदेव कहते थे कि बैठा रहता था जब मन नहीं लगता था ध्यान में तो छोटी लकड़ी से खट, खट करते हुए 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति' कर लेता था, मन को एक–एक पल के लिए कुछ अन्यथा सोचने विचारने का अवसर नहीं देता था। किन्तु आपके मन में विचार चलता है तब आप धरती खोदते हैं। विचार जब चलता है तो दाँतों के तले ऊँगली लाकर काटते हैं, नख काटते हैं लेकिन गुरुदेव कहते थे कि मैं खोदता था लकड़ी से– 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति' करते हुए। लोग काम नहीं करने देते थे मेरे को और भगवान ने कह दिया है– 'युक्ताहारविहारस्य', अतः इस सूत्र के अनुसार साधना मुझे करनी होती थी अर्थात् भगवान ने कह दिया है कि न निठल्ला बैठने से, न बहुत काम करने से ही योग सिद्ध होता है। अब क्या करूँ! शुरू–शुरू में तो चौबीस घण्टे बैठ नहीं सकता और लोग काम करने नहीं देंगे; क्योंकि परिचय हो गया था। तो कहते थे कि रात्रि में फिर नदी से जल भरता था और पेड़ों को सींचता था, रजोगुण शान्त करने के लिए। पेड़ भगवान, जल भगवान करता हुआ, 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्' मंत्र के द्वारा ऐसे समय बिताता था। 'यो न हृष्यति....' को सदा मन में रखता था, जैसे कोई आ गया लेकिन मन में चल रहा है 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'। तो यह ब्रह्मविद्या चिन्तन करने से सिद्ध हो जाती है अर्थात् अपने स्वरूप को व्यक्त कर देती है। महाराज ने उनके जीवन को देखा– वे जहाँ रहते थे कुछ प्रवृत्ति करने नहीं दिये। शुरू में झोपड़ी भी नहीं रहती थी, पेड़ के नीचे मच्छर काटते थे तो कहते थे कि कँटीली झाड़ियों को अपने शरीर के चारों तरफ बाड़ लगाने जैसा कर लेता था तथा उसपर जो मिला हुआ कपड़ा रहता वही लपेट देता था एवं मच्छरदानी के अभाव में बनाई हुई उस गोलाकार झाड़ी की झोपड़ी में वैसे ही प्रवेश कर जाता था, जैसे कोई चीता एवं भालू छोटी सी गुफा में प्रवेश कर जाता है। झाड़ी को ऐसे रखता था कि डंडे बीच में लगा देनेपर मच्छर न काट सकें। कभी–कभी छोटा सा कपड़ा लेकर सिर पर रख लेता था ताकि मच्छर न काटें लेकिन मच्छरदानी मैंने कभी माँगी ही नहीं। साल दो साल के बाद किसी ने एक रात्रि मुझे उस अवस्था में देखा और मच्छरदानी लाकर दे दिया। लोगों ने वहाँ के शिष्यों के रहने के लिए एक बारह फीट लम्बा और दस फीट चौड़ा कमरा बना दिया। केस–मुकदमा हो गया वन–विभाग में। लोग केस लड़ने लगे तीन साल सासाराम में केस चला। जो केस लड़ने जाते थे उन्होंने आकर कहा एक दिन कि बाबा हमेशा आना–जाना पड़ता है, समाधान निकलता दिखाई नहीं पड़ रहा है। उन्होंने कहा कि समाधान तो मेरे पास एक मिनट का है। उन्होंने कहा– तो आप कर दें। उन्होंने कहा कि लिखो कागज पर और जाकर जज को दे दो कि जब संत नहीं रहेंगे यहाँ पर तो यह धर्मशाला वनविभाग की हो जायेगी। जज ने उस कागज को देखा और उसी समय सबको मुक्त कर दिया। कहा– ऐसा तो संत ही नहीं देखा मैंने अपने काल में। उस छोटी सी धर्मशाला के सिवा वहाँ उन्होंने कुछ बनने नहीं दिया। वनप्रदेश में गुफाएँ थीं, झोपड़ी बन जाती थी। 'शुभाशुभपरित्यागी'– उस काल में प्रिय और अप्रिय दोनों को नहीं रखा। ब्रह्मकर्म को स्वीकार कर लिया था।

इसप्रकार कीमत चुकानी पड़ती है; बिना कीमत चुकाये आप चाहें कि भगवान का प्रिय हो जाऊँ तो ऐसा नहीं हो सकता। आपका जबतक कोई जगत में प्रिय है तबतक आप जगत में भगवान के प्रिय नहीं हो सकते। यदि भगवान के प्रिय नहीं हो रहे हैं तो समझ लें कि कोई न कोई आपके हृदय में प्रिय बैठा है, कोई न कोई आपके हृदय में अप्रिय बैठा है, चाहे कर्म चाहे अकर्म, चाहे वैरी चाहे मित्र, चाहे धर्म चाहे अधर्म, इन सारी की सारी वृत्तियों में से कोई एक वृत्ति आपके हृदय में बैठी है, इसलिए शोक के अवसर पर शोक हो जाता है, हर्ष के अवसर पर हर्ष हो जाता है, चाहना हो जाती है। यदि बैठा है कोई साधक बिना तंत्र–मंत्र के भगवान के ध्यान में तो तांत्रिक उसको मार नहीं सकता, तांत्रिक मारना चाहेगा तो वह तंत्र उसी (तांत्रिक) को मार डालेगा कोई अस्त्र–शस्त्र उसे मार नहीं सकता, भले दीमक उसके मांस को चाट जायँ लेकिन ध्यानसमाधि से उठने पर उसकी क्षति–पूर्ति अपने–आप हो जायेगी। इसलिए भीतर–बाहर से शुभ–अशुभ दोनों को त्याग देना है। बाहर से शुभ है तो भीतर में भी शुभ है अर्थात् बाहर में भगवान ही शुभ है उसका वही परम शुभ है भीतर में। 'शुभाशुभपरित्यागी' देवपूजा शुभ है, आतिथ्य करना शुभ है, आतिथ्य करना भी त्याग कर दिया उसने। साधक अतिथि सेवा नहीं करता लेकिन जब गुरु के आश्रम में है, वहाँ उससे कह दिया सेवा करने को तब तो सेवा गुरु की मानी जायेगी। अब यहाँतक आप सब जान गये होंगे कि हर्ष–विषाद होता क्यों है? महात्मा अर्जुन को शोक–संताप हो गया है, अतः कहीं न कहीं उन्होंने अशुभ वृत्ति को धारण कर लिया है तभी ये शोक–संताप उनके जैसे महारथी, उनके जैसे जितेन्द्रिय वीर के पास आया है। वे प्रभु के इस समय अप्रिय हो गये थे, अतः उनके जैसे परम प्रिय भक्त को कायर, हिजड़ा कहना पड़ा, कोई दोष आ गया था उनमें।

(शुभाशुभपरित्यागी.....) प्रभु की प्रतीक्षाकाल में अर्थात् साधनाकाल में अपने साथ किसी को न रखे, द्वेषी को त्याग दिया तो मित्र को भी त्याग दे। जप, तप, योगादि साधनों को भी त्याग दिया तो नींदरूप अशुभ वृत्ति का भी त्याग करे। राजस वृत्ति–व्यवहार को भी त्याग दे और (सर्वदैकं हरिं स्मर– मस्तराम बाबा, गीतागुह्यं, मंत्र सं०– ११) सदा–सर्वदा भगवत्–स्वरूप का चिन्तनवाला या अपने स्वरूप के चिन्तनवाला हो जाय। घर और घर की प्रवृत्ति का त्याग कर दिया जो अशुभ है, तो गुरु–आश्रम तथा वहाँ की प्रवृत्ति को भी त्यागकर सदा–सर्वदा अपने स्वरूप में रमण करनेवाला साधक प्रभु को अतिशय प्रिय हो जाता है। अशुभ भोजन छोड़ दिया तो घी, दूध, पूड़ी, मिठाईरूप शुभ भोजन का भी त्याग करे तथा अपने–आप मिले हुए कन्द, मूल, फल को स्वीकार करे। अशुभ ग्रन्थ छोड़ दिया तो शुभ ग्रन्थ का भी त्याग करे। माता–पिता, भाई–बान्धव को अशुभ जानकर त्याग दिया तो देवी– देवताओं को, जो शुभ की गिनती में आते हैं, उनका भी त्याग करे। इसप्रकार का साधक प्रभु को अतिशय प्यारा हो जाता है। आपने अशुभ ग्रन्थों के साथ शुभ ग्रन्थों को त्यागने की बात क्यों कर दी? हाँ, आध्यात्मिक साधक के लिए नानाप्रकार की प्राकृतिक किताबों को पढ़ना अशुभ कहा गया है तथा पुराणों एवं छः शास्त्रों को पढ़ना शुभ कहा गया है। इन दोनों को त्यागकर गीताजी और ज्ञानकाण्डीय उपनिषदों को शास्त्र–पुराण नहीं कहा गया है, बल्कि यह तो साक्षात् ब्रह्म का सगुण विग्रह ही

कहा जाता है। इनके चिन्तन को धारण करे तथा अन्य ग्रंथों के चिन्तन को त्याग दे।

एक साधक का साधनाकाल में स्वप्नदोष के माध्यम से कभी–कभी वीर्य स्खलित होता तो वह अपने गुरुदेव से पूछता कि क्या कारण है? गुरुदेव कहते– तुमने अभी घर नहीं छोड़ा। साधक वीर्य को रोकने की कला जानता था, तो वह गुरुदेव से पूछता कि आप कहें तो उस क्रिया का प्रयोग करके वीर्य को रोक लूँ। गुरुदेव कहते कि ऐसा भूलकर भी मत करना। जिस दिन घर छूट जायेगा, उस दिन वीर्य रुक जायेगा। साधक सोचता कि घर तो मैंने छोड़ दिया फिर भी ऐसा गुरुदेव क्यों कह रहे हैं? उत्तर आता कि लगता है घर–गाँव, हित–मित्र की वासना अभी मन में है।

इससे सिद्ध होता है कि जबतक घर–बार से मन के द्वारा भी संन्यास नहीं हो जाता, तबतक आध्यात्मिक शक्ति साधक को वरण नहीं करती। छोटे से छोटे दोष साधक के जीवनपथ में बाधक बनकर खड़े रहते हैं। अपने स्वधर्म में रहकर सद्गुरु द्वारा बतायी गई थोड़ी सी साधना बहुत महत्त्व रखती है, जबकि अपने मन से चौबीस घण्टे जप, तप, व्रत करें आप, तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यदि सद्गुरु के रहते अपने मन से किसी तांत्रिक–मांत्रिक के अनुसार साधना करने लगे तो उलटा सद्गुरु से प्राप्त होनेवाला आशीर्वाद भी आपका साथ छोड़ देगा। सद्गुरु द्वारा दिया हुआ मंत्र एवं व्यवहार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देनेवाला होता है। इसप्रकार जो भगवान को चाहता है या ब्रह्मज्ञान को चाहता है, जबतक उसका मनोरथ पूरा न हो जाये तबतक अभीष्ट को पाकर हर्षित न होवे और अनिष्ट के आने पर द्वेष न करे। कोई प्रतिकूल घटना होने पर शोक–संताप न करे तथा जगत क्या, यदि प्रभु ही अपने को छोड़कर कोई अन्य वस्तु दें तो न ले। इसप्रकार शुभ और अशुभ व्यवहार को छोड़कर भगवत् व्यवहार को धारण करनेवाला भक्त ही प्रभु को अतिशय प्रिय है। ये हर्ष–शोक आदि विकार क्यों पैदा होते हैं? इसका उत्तर अगले मंत्र से देखें–

(समः शत्रौ च मित्रे च.....) विशेष साधनाकाल में घर छोड़ दिया आपने तो भी बहुत से लोग आपके शत्रु बन जाएँगे। बहुत से इस समय पंथ चल रहे हैं। वाममार्गी तो आपका विरोध करेंगे ही। कोई आकर पूछेगा कि वाममार्ग क्या है? यदि आप यथार्थ बताएँगे तो विरोध हो जायेगा। सन् १९७४ में एक गुरु के शिष्यों ने एक साधक की बाँह को पकड़ा और मारने लगे। उसने केवल उनके गुरु से प्रश्न कर दिया था कि आप कौन हैं, ब्रह्म क्या है? इसपर बड़ा अपमान समझा उनके शिष्यों ने। बाँह मरोड़ करके चाँटा जड़ना चाहते थे तबतक एक ने कहा– क्या कर रहे हो? इसप्रकार अकारण शत्रु बन जायेंगे लोग, जिनके द्वारा दुर्व्यवहार करने पर सहन कर लिया जाय तो भगवान अति प्रसन्न हो जाते हैं। 'समः शत्रौ च मित्रे च'– मित्र भी बन जायेंगे, लेकिन साधनपथ में शत्रु और मित्र मत बनाना। शत्रु से विरोध मत करना, उसकी मार को सहन कर लेना; पता नहीं भगवान की क्या योजना है कि वह पिटाई करा रहा है। मित्र को स्वीकार मत कर लेना बल्कि समझना वहाँ पर कि भगवान पहले शत्रु के रूप में आये तो मार–पीट किये फिर मित्र के रूप में आये तो प्यार किये; अतः न वैर करना न प्रेम। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां'– पहले कह दिया गया है कि अहिंसा व्रत है तभी वह शत्रु में और मित्र में सम रह

सकता है। मित्र वही है जो अपनी हर परिस्थिति में साथ रहता है। अतः कहीं उसमें आसक्त न हो जाना तथा 'मानापमानयोः' मान और अपमान तो विशेष हो जायेगा उस अवस्था में, जब आप प्रदर्शन नहीं करेंगे तो। पहले अपमान विशेष होगा और उस अपमान को सहन कर लेंगे तो सम्मान विशेष होने लगेगा। जो अपमानित करेंगे वे ही आपको सम्मानित करना प्रारम्भ कर देंगे, यह शाश्वत धर्म है; लेकिन साधक तो मानद होता है, वह सबको मान देता रहता है भले मन से देता है प्रदर्शन नहीं करता मान देने का। पहले सम हो जाता है।

(शीतोष्णसुखदुःखेषु.....) एक संत ने कहा था कि मैं माँगता ही नहीं था किसी से। एक मैली–कुचैली चादर थी पहन लिया था, फेंका हुआ कपड़ा था उसका कोपिन बना लिया था। एक दिन नदी में स्नान किया, स्नान करके निकला तो देखा वह चादर भी गायब है, तो कहा कि अरे! भगवान कह रहा है कि अभी नंगे रहकर देखो तब पता चलेगा। अभी तो एक चादर ओढ़ रहे थे, अतः कैसे माना जायेगा कि सर्दी–गर्मी में तुम समान हो, कैसे माना जायेगा कि तुम सर्दी को ब्रह्म मानते हो? 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'– जल उसको गीला नहीं कर सकता, गर्मी से उसका कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्या प्रमाण है? तो उन्होंने कहा भगवान से कि तो चलो कोई बात नहीं लेकिन तुम चाहे जो भी कुछ करो, सर्दी–गर्मी तुम ही हो।

एक साधक ने कहा कि जो आश्रम में प्रसाद बनता है इससे लाख गुना सुन्दर तो मेरे घर में बनता था। श्यामानन्द ने कहा कि अरे! क्या कह दिया तुमने, ऐसा प्रसाद! संतों के आश्रम का प्रसाद तुम्हारे घर में! कभी नहीं हो सकता। राजा के भी घर में तो मिलेगा ही नहीं ऐसा प्रसाद, तो तुम्हारे घर में ऐसा मिलता होगा मैं नहीं मान सकता! अब वह साधक अशान्त हो गया कि यह मैंने क्या कह दिया। चौबीस घण्टे उसे अशांति हो गयी नींद नहीं लगी रात में। सवेरे उसने कहा कि महाराज जी! अपराध हो गया मेरे से। महाराज ने कहा– कोई बात नहीं, प्रसंगवश तुमने कह दिया था। उसने कहा– नहीं मेरे में दोष था तभी तो हो गया! महाराज ने कहा– कोई बात नहीं, अब नहीं होना चाहिए ऐसा। श्यामानन्द ने तबतक पीछा नहीं छोड़ा जबतक कि उसने क्षमा नहीं माँग ली। कहा उसने कि यहाँ पर गुरुदेव पीछे–पीछे घूमते रहते हैं साधकों के कि साधना में लगे रहो, तुम्हारी माँ पीछे–पीछे घूमेगी इस अवस्था में? तुम्हारा बाप तुम्हारे पीछे–पीछे घूमेगा इस अवस्था में? किसका बाप घूमेगा इस अवस्था में? कहते हो इससे मैं सुन्दर खाता था! बिना कमाए यहाँ खा रहे हो और कहते हो सुन्दर खाता था! बहुत मारा, बहुत मारा श्यामानन्द ने, इतना घायल हो गया साधक, इतना घायल हो गया कि फिर–फिर जीवन में नहीं कहेगा कि मैं घर में सुन्दर खाता था। सुन्दर खाते थे घर में तो फिर वहीं पर सम्पूर्ण सुन्दर क्यों नहीं बन गये? यदि सुन्दर होता भोजन तो वहाँ पर बन्दर क्यों रहते? वहाँ पर कामिनी को देखकर कामी बन जाते हो, क्रोधी को देखकर क्रोधी बन जाते हो, लोभी को देखकर लोभी बन जाते हो तो फिर वह भोजन सुन्दर कैसे है? हाँ, पूर्वजन्म की साधना थी उस कारण से निर्मल वैराग्य हो गया यह बात अलग है, लेकिन सुन्दर यदि भोजन होता तो सब खाते थे, वे भी सुन्दर बन जाते! लेकिन तुम्हारे माता–पिता अभी भी तो जैसे के तैसे ही हैं, सुन्दर कहाँ हैं वे?

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः'– भोजन छोड़ दिया भगवान के लिए, वस्त्र छोड़ दिया भगवान के लिए; क्योंकि कहते हैं कि सब भगवान हैं, सब रूपों में भगवान हैं तो प्रयोग करके दिखायें। वह क्या? भगवान हैं तो बचाकर रखते क्यों हैं? बर्तन क्यों रखते हैं? वस्त्र क्यों रखते हैं? ठंढ लगेगी तो आकर ओढ़ा देगा वह। आद्यगुरु शंकराचार्य ने कहा है कि वह महापुरुष इस जीव–जगत में साक्षात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है जिसके महल की छत आकाश है, जिसका आसन धरती है, जिसका जल नदी का जल है, जिसका पात्र दोनों भुजाओं की अंजली है, जिसका प्रसाद कन्द–मूल है अथवा अपने–आप से आया हुआ प्रसाद सात्त्विक प्रसाद है, जो दूसरे के द्वारा खिलाये जाने पर ही खाता है, दूसरे के द्वारा बुलाये जाने पर बोलता है, अतः उसे संत मत मान लेना ब्रह्म ही मान लेना। 'शीतोष्णसुखदुःखेषु'– इतना होने पर भी उसको अपने शक्तिमान शरीर से आसक्ति नहीं होती। कौन शक्तिमान शरीर? जो शरीर सर्दी–गर्मी में समान रह जाता है, सताये जाने पर भी जिसका मन समान रह जाता है, वैसे शरीर से भी वह प्रेम नहीं करता, प्रेम करनेवाले उसके शरीर से भले प्रेम करें। 'समः सङ्गविवर्जितः'– लेकिन वह आसक्ति से रहित होता है सबसे, किसी से वह मोह–ममता नहीं करता। 'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती'– वह समझता है कि किसी न किसी कामना से तो कोई आया होगा संत के पास! जब कामना से ही आयेगा तो उससे प्रेम क्यों करना। निष्कामी से प्रेम करने की आवश्यकता ही नहीं है और सकामी से प्रेम क्यों करना। निष्कामी नहीं चाहता कि मेरे शरीर को प्रेम करें ये, वह तो उस संत से केवल भगवत्प्रसाद चाहता है, भगवान को भी प्रसाद के रूप में चाहता है, सत्संगरूपी प्रसाद को चाहता है, उनसे जप, तप, योगरूपी प्रसाद को चाहता है, वह चाहता नहीं कि मेरे शरीर से प्रेम करें ये। वह चाहेगा नहीं जो निष्कामी होगा तथा सकामी को आप चाहते हैं तो यह दोष है। सकामी चाहेगा कि आप मुझे प्रेम करें, क्योंकि वह प्रेम में ही शरीर को बिठा रखा है। पहले वह अपने शरीर को ही प्यार करता है। 'सङ्गविवर्जितः'– अतः उसके संग का ही त्याग कर देता है वह अर्थात् जो सकामी हैं उनके साथ नहीं रहता। सकामी के साथ रहता नहीं, निष्कामी उसके साथ रहकर भी उसके साथ रहता नहीं। यद्यपि शरीर उसके साथ रहता दिखाई पड़ेगा लेकिन वह भगवान के साथ रहेगा।

(शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः.....) इस मंत्र में संत के विलक्षण व्यवहार एवं स्वभाव का दर्शन कराया गया है। संत चन्दन के पेड़ की तरह होता है, जो काटनेवाले को भी सुगन्ध ही देता है। मित्रता करनेवाले और शत्रुता करनेवाले से, सुख देनेवाले और दुःख देनेवाले से संत जब उदासीन ही रहता है, तब ब्रह्म उसपर कृपा कर देता है अर्थात् ब्रह्मशक्ति प्रदान कर देता है। जब उस ब्रह्मशक्ति से भी साधक आसक्त नहीं होता तब वह भगवान का अति प्रिय हो जाता है। धर्म में आसक्त होनेवाला ही धर्म से अनासक्त भी हो सकता है; क्योंकि परम धर्म को धारणकर धर्म को त्याग देता है। जो ब्रह्म में आसक्त है, वही सबसे अनासक्त हो सकता है, जो अपने स्वरूप में आसक्त हो जाता है, वही दूसरे के स्वरूप से अनासक्त हो सकता है। किसी की माँ में विशेष आसक्ति होती है, किसी की पिता में, किसी की धर्मपत्नी में, किसी की भाई में, पुत्र में और किसी–किसी की सबमें आसक्ति होती है; किन्तु संन्यासी की अपने स्वरूप में आसक्ति

होती है तथा भक्त की भगवान में आसक्ति होती है। अतः इन दोनों को ही सबसे अनासक्त हो जाना चाहिये। यदि कोई भक्त पिता में आसक्त है तो पिता के अधर्म को देखते हुए भी शील–संकोच के कारण उसका विरोध नहीं कर सकता। जिसका परिणाम होगा कि पिता के अधर्म का भाजन वह भी होगा। इसप्रकार भक्तिपथ में यह आसक्ति बाधा बन जायेगी। यदि कोई अपने को विशेष भक्त मानता है तो उसके लिए विशेष धर्म भी है। जैसे ही गृहस्थाश्रमी संन्यासी भागवत धर्म में आसक्त होकर सामान्य धर्म का त्याग करता है तो उसी समय घर में धर्मयुद्ध होने की पूरी सम्भावना बन जायेगी। इसलिए कि उसके अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों को घर का कोई सदस्य पचा नहीं पायेगा। आप देख ही रहे हैं कि महाराज युधिष्ठिर का सत्य, शील एवं भगवत् व्यवहार कौरवों को पच नहीं पा रहा था। प्रजा में इनके प्रति इतना समर्पण था कि उनलोगों को इनसे ईर्ष्या ही हो गयी और लाक्षागृह में मार डालने तक का प्रयास कर लिया गया। जब भक्त सामान्य धर्म से अनासक्त होकर परम धर्म स्वीकार करता है तो उस अवस्था में उसे संत एवं भक्त ही पचा पाते हैं। 'सङ्गविवर्जितः' के पहले भगवान ने मान–अपमान, सुख–दुःख, सरदी–गरमी में सम रहने की बात नहीं की है, यह 'सङ्गविवर्जितः' पद तो श्लोक परम्परा के अनुसार पद की व्यवस्था के कारण से बाद में आया है, अर्थ तो इसका पहले ही किया जायेगा; क्योंकि अनासक्त होकर ही तो कोई सरदी–गरमी, मान–अपमान, सुख–दुःख में सम हो सकता है। यही नहीं, सामान्य धर्म से अनासक्त होकर, भगवत् धर्म में आसक्त होकर ही भगवान के द्वारा वर्णित इन सम्पूर्ण व्रतों का कोई पालन कर सकता है। अतः 'सङ्गविवर्जितः' पद को इन सम्पूर्ण व्रतमय व्रतों के मूल में रखना चाहिए।

महाराज ने स्वयं अपनी आँखों से देखा कि एक तेरह–चौदह वर्ष का बालक भगवद्भक्ति में आसक्त हो गया। यह सन् १९७२ की बात है। उसकी साध्वी एवं तपस्विनी माँ को छोड़कर पिता और भाई–बान्धव सभी दुःखी होकर उसे सताने लगे। यहाँ तक कि उसके साथ जो विद्यार्थी रहते थे, उनके घरवाले भी उन विद्यार्थियों को सताने लगे कि उस विद्यार्थी के साथ क्यों रहते हो? उनके माता–पिता को भी भय हो गया कि वह तेरह वर्ष का विद्यार्थी हमारे बच्चों को भी भक्त एवं साधु–संन्यासी बना देगा। बच्चे ने प्रह्लाद को सताये जानेवाली बात सुनी थी लेकिन भक्त को किसप्रकार निर्ममता एवं निर्दयतापूर्वक पिता एवं भाई–बान्धव, हित, नातेदार सताते हैं, चार साल अपनी आँखों से देखा। यहाँ तक कि जब वह भक्त बालक अपने स्वभाव से बाज नहीं आया तो उसके पिता ने सचमुच में यह कामना करनी प्रारम्भ कर दी कि यह किसी भाँति मर जाता तो अच्छा था। जब–जब वह भोजन पर बैठता तो उसके पिता बिजली की तरह गरजकर चिल्लाते कि अरे! यह कौन खा रहा है? एक कुत्ता भी खाकर भूँकता है। यह तो कुत्ते से भी गया–गुजरा है। इसको किसने भोजन दिया! बालक एक–दो ग्रास खाकर ही उठ जाता और घर से निकलकर बैठक (जहाँ पुरुषों के बैठने का स्थान होता है) में बैठकर चिन्तन करने लगता। पिता वहाँ चुपके से आता और वहाँ उसे अकेले देखकर हाथों से, लातों (पैरों) से पिटाई करनी प्रारम्भ कर देता। जैसे शेर गाय के बछड़े के गले को दबाकर कई बार इधर–उधर झकझोरकर, पुनः बछड़े को पटककर उसकी छाती पर एक पाँव रखकर, गले को तोड़कर खून

चूसता है, वैसे ही उसका पिता लात–मुक्कों से मार–मारकर, उसकी छाती पर घुटना टेककर गला दबाता। उस समय पिता का सारा व्यवहार मौन होता, जिससे कोई सुन न ले, जान न ले। वहाँ भक्त बालक अपने शरीर को उस पिता के हवाले कर देता, जिससे वह भरपेट अपनी कामना पूरी कर ले। जिसप्रकार कोई वैरी अपने परम प्रिय वैरी को एकान्त में पाकर भरपेट सताता है अथवा जैसे अपहरणकर्ता किसी व्यक्ति का अपहरण करके पीड़ित करते हैं अथवा जैसे पुलिस एकान्त में चोरों को दण्डित करती है, पिटाई करती है, जिसमें खून तो निकलता नहीं, अंग–भंग होता नहीं लेकिन शेष कुछ बचता भी नहीं; ठीक ऐसा ही व्यवहार उस बालक के साथ तेरह वर्ष की अवस्था से लेकर पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक हुआ। उसके उपरान्त एक दिन पिता आधी रात को बालक जैसा चिल्ला–चिल्लाकर रो रहा था। माँ ने उसी पुत्र को बुलाकर कहा– देखो क्यों रो रहे हैं? पूछने पर पिता ने कहा– मेरा अब किसी जीवन में उद्धार नहीं होगा, आपको मैंने जितना दुःख दिया है, सताया है उतना तो प्रह्लाद को भी हिरण्यकशिपु ने नहीं सताया होगा। मेरे अपराध को आप क्षमा कर दो। पुत्र ने कहा– नहीं, नहीं, ऐसा आप न सोचें; क्योंकि आप तो एकमात्र निमित्त थे, भगवान ही आपको निमित्त बनाकर मेरी परीक्षा ले रहा था। आप नहीं होते तो मेरी भक्ति में शक्ति नहीं आयी होती, न निर्मल वैराग्य हुआ होता। अब बालक ने देखा कि यहाँ तो सारे लोग अपने अनुकूल हो गये हैं तो सोलह वर्ष की अवस्था में उसने सदा–सर्वदा के लिए उस गृहस्थाश्रमरूपी महाकारागार से संन्यास ले लिया। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि जबतक भगवान में आसक्ति नहीं होगी तबतक ऐसी विलक्षण सहनशक्ति भी नहीं होगी। इसीलिए 'सङ्गविवर्जितः' पद को महाराज ने मूल में रखने को कहा है। यद्यपि बालक के मन में अनन्यभक्ति तो थी नहीं, तो भी यह विलक्षण दुःख सहन करने की शक्ति प्राप्त करना, उसके इष्ट की कृपा ही कही जायेगी। जब सामान्य भक्त की कहानी यह है तो अनन्यभक्तों में सुख–दुःख, सरदी–गरमी, राग–द्वेषादि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता कितनी होगी, इस घटना से कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कालान्तर में प्रभु ने उस बालक को सहज में ही ब्रह्मपद देकर कृतार्थ कर दिया।

(तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी.....) उपसंहार होने जा रहा है इन अणुव्रतों के स्वरूप का। इनकी शक्ति–सामर्थ्य और इनकी दिव्यता के विषय में भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण निष्कामी साधकों को बताया है। अतः ऐसा है तो वैसे निष्कामी को, वैसे जिज्ञासु को निन्दा में और स्तुति में सम हो जाना चाहिए इसलिए कि प्रेरणा भगवान की होती है, मान करने की, अपमान करने की। प्रेरणा भगवान की होती है भक्त के लिए; क्योंकि भक्त का अपमान करने की सामर्थ्य प्रारब्ध में नहीं है। किसी ने कहा कि हरिश्चन्द्र की परीक्षा ली गई कि सत्यवादी हैं या नहीं हैं, तो क्या भगवान भूत, भविष्य, वर्तमान को नहीं जानता था? क्यों उनकी परीक्षा लिया? परम पूज्य मस्तराम बाबा ने मस्तभाष्य में लिखा है कि 'भगवान तो जानता ही था, लेकिन लोग नहीं जानते थे और न ही मानते थे कि ये सत्यवादी हैं, अतः भगवान ने लोगों को बताने के लिए परीक्षा ली।' ढोंगी कहते थे कि बड़े दानी बनते हैं ये, जब कुछ नहीं रहेगा तब दानी बनें, तब तो पता चलेगा; तो विश्वामित्र ने सबकुछ ले लिया। उस महादानी ने, सत्यवादी

ने दे दिया सबकुछ तथा अपने को, बच्चे को और धर्मपत्नी को बेचकर दक्षिणा चुका दी। भगवान ने कहा कि लोगों को बताने के लिए भक्तों को कष्ट लाकर दे देता हूँ। कष्ट की सामर्थ्य कहाँ है, दुःख की सामर्थ्य कहाँ है कि मेरे भक्तों को दुःख दे! उसका तो तप हो जाता है और लोगों को शिक्षा–दीक्षा मिल जाती है, जीव–जगत में। इन घटनाओं से भक्तों का स्तवन ही किया जायेगा ब्रह्म के स्तवन से। राजा का स्तवन होगा तो राजकुमार का स्तवन होगा ही। ऐसा नहीं कि कोई राजा को आदर दे तो राजकुमार का निरादार करे बल्कि राजा को प्रसन्न करने के लिए राजकुमार को लोग विशेष प्यार करते हैं। वैसे ही आप भक्त हो गये तो भगवान से भी आपका विशेष मान–सम्मान होगा। यदि मान–सम्मान नहीं हो रहा है तो प्रारब्ध वहाँ नहीं मानना चाहिए, वहाँ मानना चाहिए कि भगवान मौन है। आप तो ख्याति नहीं चाहते, भगवान चाहते हैं कि आपकी ख्याति हो तब, जब आप ख्याति में नहीं फँसते हैं। अतः आप फँसेंगे नहीं क्योंकि भगवान आपकी ख्याति के लिए आपत्ति–विपत्ति लाकर खड़ी कर देगा, घोर निन्दा करायेगा, इसके उपरांत जो निन्दा करेंगे उन्हीं से दिव्य स्तोत्रों से स्तवन करायेगा। 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' आप मौन होंगे तो भगवान तो आपके लिए मौन नहीं होगा! भगवान को पाकर कोई मौनी हो जाता है तो फिर भगवान उसके लिए बोलने लगेगा, यह नियम है। अपने से अपना गुणानुवाद–गुणों का बखान तो आप करेंगे नहीं, तो फिर भगवान ही आपके गुणों का बखान करता है, भक्त भी उसके गुणों का बखान करते हैं। दो प्रकार का मौन होता है– एक वह जो साधनकाल में सभी भगवान के ही रूप हैं ऐसा जान करके बोलते हुए राजस भगवान के पास मौन, तामस भगवान के पास मौन और सात्त्विक भगवान के पास मौन हो जाता है। राजस पुरुष, तामस पुरुष, सात्त्विक पुरुष; ये तीनों भगवान के ही रूप हैं, ऐसा मानता है वह। वह प्रतीज्ञा कर लेता है कि भगवान बोलेगा मैं नहीं बोलूँगा लेकिन वह सद्गुरु के पास जाकर बोलता है। शंकराचार्य एक गाँव में पहुँचते हैं, एक साधक मौनी था लोग उसे पागल कहते थे। जिसका नाम बाद में तोटकाचार्य रखा गया। उत्तम अधिकारी के यहाँ सद्गुरु अपने–आप आता है अथवा वह अपने–आप सद्गुरु के पास ले जाया जाता है। आद्यगुरु शंकराचार्य पहुँचे। बीस वर्ष बीत गये थे साधक को उस क्षेत्र में, वहाँ के लोग पागल कहते थे, क्योंकि वह जड़ जैसा बैठा रहता था। खिला दिया लोगों ने तो खा लिया। माता–पिता ने छोड़ दिया था कि पागल ही हो गया है, किन्तु वह तो सर्वरूपों में प्रभु दर्शन ही करता रहता था, इसलिए बोलता ही नहीं था किसी से। जैसे ही सुना कि आद्यगुरु शंकराचार्य आ रहे हैं, वह दौड़ा गाँव के बाहर और लोगों को हटाता हुआ उनके पास परिक्रमा करते हुए दिव्य स्तोत्रों से स्तवन करना प्रारम्भ कर दिया, लोग देखते से रह गये, ठगे के ठगे रह गये। अरे! ये तो संत लग रहा है, हम लोगों ने जिसे पागल समझ रखा था वह तो संत है! आद्यगुरु शंकराचार्य ने कहा– 'मैं जानता हूँ कि इनलोगों के द्वारा सताए गये हैं आप लेकिन आपने ऐसा वेश बना रखा था जिसके चलते ये नहीं जान पाये; अतः प्रथम में आप इनके अपराध को क्षमा कर दें, इसके बाद मेरे साथ चलें।' उच्चकोटि के उनके साधकों में से वे ही साधक हुए पहले, जिनका नाम तोटकाचार्य रखा उन्होंने।

प्रथम अवस्था में साधक मौन को धारण कर ले, जब भगवान आये तब भक्तों में बोले।

फिर भक्तों के बीच में बोलना बोलना नहीं कहलाता, भगवान के विषय में बोलना, भगवान के लिए बोलना, बोलना नहीं कहा जाता। 'सन्तुष्टो येन केनचित्'– चाहे जैसे फिर उस अवस्था में लोग उसको रखें अथवा प्रथम अवस्था में चाहे जैसे जी ले वह जबतक भगवान न मिले तबतक। चाहे कुत्ते की तरह जी ले, सूअर की तरह जी ले, गन्दे नालों के पास बैठकर अपने को जिलाए तो वह चतुर साधक है 'सन्तुष्टो येन केनचित्'– चाहे जो कुछ मिल गया और सन्तुष्ट है तो वही भक्त भगवान को प्रिय है। घर–द्वार न बनाए, जबतक गुरुदेव आश्रम में हैं तबतक रहे, जब गुरुदेव शरीर छोड़ दें तब अज्ञात हो जाये। 'येन केनचित्' अपने लिए वह घर–द्वार न बनाए, आज यहाँ, कल वहाँ खण्डहर में वास करे अथवा कभी किसी गुफा में वास करे, किसी धर्मशाला में वास करे, वह परिव्राजक हो जाए। 'अनिकेतः' बिना घर–द्वार का 'स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः' स्थिर बुद्धिवाला, परम बुद्धिमान भक्त भगवान को अतिशय प्रिय है।

(अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्ति.....) संसार के लोगों द्वारा बनाये गये किसी भी घर–द्वार में नहीं रहता; क्योंकि वह जानता है कि ये सब घर–द्वार पूर्वजों के द्वारा बनाये हुए हैं जिसमें अज्ञानी जीव रहते हैं, ये मकान नहीं कारागार हैं। भगवान की सब वस्तुओं पर, सारे प्राणिपदार्थों पर अपना ही स्वत्व जमा बैठे हैं; इसीलिए इस मकानरूपी कारागार में प्रारब्धवश ये चोर इसमें रहते हैं, जिन्हें भगवान ने काल बनकर चारों ओर से घेर रखा है तथा सदा इन्हें त्रास देता रहता है। यह ऐसा विलक्षण कारागार है जिसमें ये सब चोर ही परस्पर में एक–दूसरे के लिए यमदूत बनते रहते हैं, कभी पिता–माता ही पुत्र–पुत्रियों के लिए यमदूत बन जाते हैं अर्थात् दुःख देने लगते हैं और कभी पुत्र भी यमदूतरूप कंस बन जाता है जो पिता–माता को धक्के देकर दूसरे कारागार में जाने के लिए विवश कर देता है, कभी शूर्पणखा जैसी चाण्डालिनी बहन ही यमदूती बनकर पूरे परिवार का सर्वनाश कराकर चाट जाती है, कभी भाई ही भाई का यमदूत बनकर इस कारागार में ही यमलोक भेज देता है एवं कभी हित–मित्र ही काल बनकर सब निगल जाते हैं। इसप्रकार विलक्षण गाँव–नगररूपी कारागार को देखकर वे संत नौ दरवाजोंवाले शरीररूपी दिव्य महल में ही रहते हैं, जिसमें भगवान छिपा हुआ है। वे इसी में रहकर भगवान की खोज किया करते हैं। अतः इस कारण से जगत में वे स्थिर बुद्धिवाले भक्त भगवान के लिए जीते हैं, जो प्रभु को अति प्रिय हैं।

(तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्.....) साधकों को सावधान रहना चाहिए क्योंकि चोर अपने गाँव–नगर में चोर को ही रहने देना चाहते हैं। हो सकता है, चोरों के द्वारा बनाये हुए देवालय में साधक मौनी होकर रह रहा हो तो वे मंदिर को अपना समझनेवाले चोर पूछें कि तुम कहाँ के चोर हो? तुम्हारा नाम, गाँव और जाति क्या है? यदि संन्यास धर्म के कारण से आप नहीं बताएँगे तो वे वहाँ से भी धक्के देकर निकाल देंगे। इसलिए बरसात के दिनों में वैसे देवालय में कभी–कभी आश्रय लेना चाहिए जो देखने में खण्डहर लगता हो, जो लावारिस पड़ा हो, जिसमें कोई आता–जाता न हो।

एक बार रुद्रप्रयाग (हिमालय) में गंगा के किनारे पीपल वृक्ष के नीचे महाराज बैठा हुआ

था। एक व्यक्ति ने आकर कहा– यहाँ तुम क्यों बैठे हो? महाराज कुछ भी नहीं बोला। उसने कहा– चलो थाने में, तुम वहीं अपना परिचय दोगे। महाराज पीछे–पीछे चल दिया। सौ कदम आगे बढ़ने पर उसने मुड़कर महाराज की तरफ देखा और पूछा संत हो क्या? महाराज ने कहा– आगे बढ़ो! दस कदम चलने के बाद फिर पूछा– तपस्या कर रहे थे क्या? महाराज ने कहा– आगे बढ़ो, आगे बढ़ो! अब थाना निकट था; जाओ–जाओ मैं भूल कर गया, तपस्या करो– ऐसा फिर उसने कहा। महाराज ने कहा– आगे बढ़ो! थाने के दरवाजे पर ही थानेदार खड़ा था। उसने थानेदार से कहा– सर! ये उधर रास्ते में बैठे थे, पता नहीं ये कौन हैं? थानेदार ने डंडा उठाया और कहा– साले मार डालूँगा जान से, तुम अंधे हो क्या? दिखाई नहीं पड़ रहा है कि संत हैं। महाराज ने बचाव करते हुए उस ग्रामीण व्यक्ति से कहा– तुम सत्य–सत्य बताओ कि हिमालय के हो कि नहीं? उसने कहा– हूँ तो यहीं का लेकिन पच्चीस साल सेना (फौज) में था। अभी रिटायर होकर आया हूँ। महाराज ने कहा– अच्छा, अच्छा, अच्छा! इसी से तुमको सब चोर दिखाई दे रहे हैं। तुम्हारे जैसे लोग ही अब हिमालय के कलंक हो जायेंगे। चोरों से भागकर हिमालय क्षेत्र ही एकमात्र संतों के छिपने की जगह थी, चाहे जैसा वेष साधू बना लेता था, जिसे हिमालय का रहनेवाला पहचान लेता था तथा अपनी रोटी में से रोटी खिला देता था; लेकिन तुम लोगों जैसे चोर, लगता है संतों की इस प्रिय जगह को भी चुरायेंगे। फिर भी चाहे जैसा वातावरण हो जाय, संत को तो अपने स्वभाव में ही रहना होगा। निन्दा–स्तुति में सम रहते हुए गुफाओं, खण्डहरों में, तीर्थों में रहनेवाले साधक ही स्थिर बुद्धिवाले कहे जाते हैं, वे ही भगवान को अतिशय प्रिय होते हैं।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआन्दकन्द ने स्वयं समयानुसार गृहस्थाश्रम में ही इन महाव्रतों का पालन करके भक्तों को सन्देशरूप उपदेश दिया है। कंस के द्वारा गोकुल एवं ब्रजवासियों को सताये जाने पर भी वे मौन रहते थे, उनके माता–पिता एवं दादा को कंस ने कारागार में ही रख रखा था तो भी मौन थे। वह बहुत से असुरों को भेजकर भगवान को निगल जाने का प्रयत्न कर रहा था, तो भी भगवान उसके द्वारा भेजे हुए असुरों को निगलकर मौन हो जाते थे। नन्द बाबा एवं यशोदा सब कहते– कुल देवता ने हमारे लाला की आज रक्षा कर ली। जब कंस ने नन्दबाबा की गायों पर, दूध–मक्खन पर आक्रमण किया, तब भगवान ने अपना मौन खोला और कंस को मार डाला। जरासंध अपने जमाई (दमाद) का बदला लेने के लिए बार–बार आक्रमण करता रहा। सोलह–सतरह बार पराजित होकर उस निर्लज्ज ने भगवान को पहचानकर मन ही मन प्रार्थना की कि हे प्रभु! एक बार मुझे विजय दे दें। भगवान ने उसकी पुकार सुनी और द्वारिका चले गये। वहाँ जगत के द्वारा निन्दा एवं स्तुति में सम रहते हुए मौनी होकर समय व्यतीत करने लगे। समय आने पर भीम के द्वारा जरासंध को मरवाकर मौन व्रत तोड़ दिये; तबतक विश्वविजेतारूप पुरस्कार से सम्मानित हुई नारायणी सेना के द्वारा उनकी प्रसिद्धि तीनों लोकों में फैल गयी थी।

उसीप्रकार साधक का कर्तव्य है कि जबतक वह आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न न हो जाये तथा भगवान के द्वारा मौन तोड़ने की आज्ञा न मिल जाय, तबतक वह पागल–भिखारी की तरह

निन्दा–स्तुति में मौनी होकर समय बिताता रहे। जो बुद्धि भगवान की शक्ति और प्रभाव को जानती है वही मति स्थिर कही जाती है; जो प्रारब्ध से भी शक्तिमान भगवान को मानता है, उसी भक्त की बुद्धि स्थिर मानी जाती है; जो ज्ञानयोगी साधक सम्पूर्ण पदार्थों के द्वारा होते हुए कर्म को प्रारब्ध का ही खिलवाड़ मानता है, वही स्थिर बुद्धिवाला है; जो चराचर जीवों के द्वारा होते हुए कर्मरूप व्यवहार को भगवान द्वारा किया गया व्यवहार मानता है, वही स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है और वही भगवान को अतिशय प्रिय होता है।

(सन्तुष्टो येन केनचित्.....) एक साधक ने कहा– मैं इतना जप, तप, योग कर रहा हूँ लेकिन मुझे सिद्धि नहीं मिल रही है। महाराज ने कहा– थोड़ा सा तंत्र–मंत्र सिद्ध हो जाने में तो बक–बक करते फिरते हो, यदि विशेष सिद्धि मिल जायेगी तो रावण नहीं बन जाओगे? कहीं ऐसा न हो जाये कि तुम सीता जैसी नारी का ही अपहरण कर लो? अरे! तुम्हें तो भगवान को धन्यवाद देना चाहिये कि तुम्हारे जैसे ढोंगी को भी वह अपनी शरण में ले रहा है। भगवान जैसे जिलाए वैसे जीना चाहिये। आजतक कोई भी पुरुष या माँ भगवान के हुए हैं तो सर्वप्रथम लोग व्यंग्य बोलते ही हैं कि ये बड़े धर्मात्मा हो गये हैं! साधु हो गये हैं! 'सब चूहे खाके बिल्ली हो गई भगतिन!' इसको लम्बे काल तक सहन कर लिया तो फिर वहीं से प्रशंसा प्रारम्भ हो जायेगी और उसे भी सहन कर लिया तो बुद्धि में एक दिव्य प्रकाश प्रकट होगा, जिससे प्रकृति के गुह्य से गुह्यतम रहस्य का पता चलता जायेगा। इतना होने पर भी सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करता है तो भगवान का अतिशय प्यारा हो जाता है। इसप्रकार ये अणुव्रत संत की सिद्धि हैं और साधक के लिए व्रत हैं। तो आयें इन व्रतों की गिनती करके देखते हैं कि कितने अणुव्रत भगवान ने दिये हैं–

१. अद्वेष्टा (अहिंसा)	२. मैत्री	३. करुणा
४. निर्ममता	५. निरहंकारता	६. सुख–दुःख में समता
७. क्षमाशीलता	८. संतोष	९. सदा स्वरूप का ध्यान
१०. मन से अनासक्त	११. दृढ़निश्चयी	१२. मन–बुद्धि का दाता (मन–बुद्धि भगवान को अर्पण करनेवाला)
१३. उद्वेगहीनता	१४. दिव्य व्यवहार	१५. हर्षहीनता
१६. अमर्षहीनता	१७. भयहीनता	१८. इच्छारहित
१९. पवित्रता	२०. दक्षता	२१. उदासीनता
२२. दुःखहीनता	२३. कर्महीनता	२४. द्वेषहीनता
२५. शोकहीनता	२६. शुभाशुभ त्यागी	२७. शत्रु–मित्र में समता
२८. मान–अपमान में समता	२९. सर्दी–गर्मी में समता	३०. आसक्तिहीनता

३१. निन्दा–स्तुति में समता ३२. मौनी ३३. प्रभु के अनुसार जीनेवाला

३४. घर–द्वार से रहित ३५. स्थिर बुद्धिवाला।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इसप्रकार हे पार्थ! सम्पूर्ण श्रद्धा से युक्त हुआ जो पुरुष मेरे शरणागत होकर उपरोक्त अमृतमय व्रतों का पालन करता है, वह भक्त मेरा अतिशय प्रिय हो जाता है।

इस अमृतमय बारहवें अध्याय को महाराज ने हमीर राग में गाया है जिसे गाने से आपको इस अध्याय के पाठ का फल मिल जायेगा।

योगी की रहनि जब भावे रे,
मोसे विमल भक्ति वर पावे।।
राग–द्वेष सम दुःख सुख जानत, ममता मोह रहित पहचानत।
मैत्री करुणा सब प्राणिन सों, अहंहीन मोहें पावे रे।।
मोसे विमल भक्ति.....

युक्त सदा सन्तुष्ट तुष्ट शुचि, दृढ़ प्रतिज्ञ मन बुद्धि समर्पित।
व्यथाहीन जग स्वयं परस्पर, दक्ष अभय रस पावे रे।।
मोसे विमल भक्ति.....

उदासीन संकल्पहीन वह, कर्म शुभाशुभ त्यागी है जब।
हर्ष विषाद अरु शोक रहित वह, त्याग राग बरसावे रे।।
मोसे विमल भक्ति.....

शत्रु मित्र सुख दुख महुँ समता, शीत उष्ण महुँ सम रस रमता।
मौन सहित घर बार रहित वह, जीवत जस तस भावे रे।।
मोसे विमल भक्ति.....

अमृतमय ये अणुव्रत पीवत, इच्छामय घट–घट महुँ जीवत।
शीघ्रं शीघ्र परम पद पावत, महाराज पद गावे रे।।
मोसे विमल भक्ति.....

लगभग ये पैंतीस–छत्तीस अमृत की बूँदें हैं। जो इनका पान (पी लेता है) कर लेता है, वह भक्त अमृतमय हो जाता है, स्वयं मोक्षमय होकर अन्य भक्तों का मोक्षदाता हो जाता है। इस अमृत को पीने में भगवान ने किसी जप–तप की बात नहीं की है। जब सद्गुरु मिल गया तो श्रद्धावान मानते हैं कि भगवान मिल गया। जो भी जप, तप, योग, व्रत आध्यात्मिक साधक करते हैं, उसका फल ही होता है सद्गुरु का मिलना। अब उसके उपरान्त उपरोक्त व्यवहार के द्वारा

उसे प्रसन्न किया जाता है। सद्गुरु यह नहीं देखता कि आप कितना जप, तप, योग ध्यान कर रहे हैं बल्कि वह यह देखता है कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के साथ आपका व्यवहार कैसा है? आप में ऊपर कहे हुए लगभग पैंतीस–छत्तीस प्रकार के आचार एवं व्यवहार हैं या नहीं? जो इन अमृत बूँदों को पीता है वह मरा हुआ है तो भी जीवित हो जाता है। जो विषयी है वही तो मरा हुआ है, जो राग, द्वेष, मोह, ममता, छल, कपट, पाखण्ड में आसक्त है, वही तो मरा हुआ है। उस मरे हुए को जीवन देनेवाला ही यह दिव्य व्यवहार है अथवा अमृतमय व्रत है।

माँ सुनयना ने माँ कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि माताओं के बीच में कहा है–

सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।।२८१।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

अर्थात् अमृत का नाम तो सुना जाता है किन्तु उसे देखा किसी ने नहीं और विष को सब देखते हैं, जैसे कौए, उल्लू, बगुले आदि देखने में तो आते हैं किन्तु हंस देखने में नहीं आता। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने इन्हीं बातों का खण्डन किया है। रामायण में देखा जाता है कि श्रीराम प्रभु की इच्छा से इन्द्र ने अमृत की वर्षा की, जिससे वानरी सेना तो जीवित हुई लेकिन राक्षसी सेना जीवित नहीं हुई; किन्तु भगवान द्वारिकाधीश कहते हैं कि मेरे अमृत बूँदों को पीने से आपका शरीर जीये चाहे न जीये लेकिन आप जी जाते हैं, अमर हो जाते हैं। शरीर तो आज नहीं कल जायेगा, देवराज इन्द्र अपने अमृत से किसी भी शरीर को कितने दिन तक जिला कर रखेंगे, एक दिन तो वह भी जायेगा ही!

युद्धोपरान्त अर्जुन भी महाराज युधिष्ठिर के साथ संन्यास लेनेवाले हैं, इस भविष्य की बात को भगवान भलीभाँति जानते हैं। इसीलिए उन्होंने साधकों एवं संतों के बहाने संन्यासधर्म का स्वरूप पहले ही बता दिया। ब्रह्म की आत्मा, ब्रह्म का काम करती है तथा काम पूरा होने के उपरान्त संन्यास लेकर वह चलते बनती है– यही शाश्वत परम्परा है।

संजय ने इस दिव्य संवाद को एवं दिव्य व्रतों को जैसा का तैसा धृतराष्ट्र को सुना दिया। धृतराष्ट्र ने कहा– यह समय तो संन्यासियों के धर्म उपदेश का नहीं है संजय! बल्कि यह समय तो एकमात्र अर्जुन को बताने का है कि वह स्वजनों से युद्ध क्यों करे?

नहीं राजन्! यह उपदेश इस संन्यासी अर्जुन के लिए ही है, क्योंकि अपने मन से तो उन्होंने संन्यास ले ही लिया है। प्रभु एक दिव्य कल्पवृक्ष हैं, एक बार उनके सामने कोई जो कुछ भी माँग देगा उसको पूरा करेंगे। अपनी प्रिय आत्मा अर्जुन के लिए उन्होंने पहले से ही संन्यास की व्यवस्था दे दी है। यही नहीं, लगता है आप भी भगवान के लक्ष्य हैं। मानो प्रभु आपसे कह रहे हैं कि हे राजन्! आप भी संन्यास की तैयारी करें। सम्पूर्ण पुत्रों का वध हो जाने के उपरान्त महल में आपको श्वास नहीं आयेगी। सम्पूर्ण पुत्रों की आत्मा आपको ही धिक्कारेगी, जिसका एकमात्र प्रायश्चित संन्यास से ही होगा। गृहस्थाश्रम में तो आप विफल हो गये, संन्यासाश्रम में

असफल न हों इसीलिए आपको भी ये अणुव्रत दिये गये हैं।

धृतराष्ट्र ने कहा– संजय तुम भविष्यवक्ता नहीं हो और न ही तुम किसी के दूत हो, इसलिए किसी पिता के पास उसके पुत्रों के मरने की बात कहकर उसे पीड़ित मत करो! थोड़ा यह भी ध्यान दो कि तुम किसके सामने बोल रहे हो!

नहीं राजन्! मैं किसी राजा के पास नहीं बोल रहा हूँ और न ही किन्हीं पुत्रों के पिता के पास बोल रहा हूँ। मैं तो महर्षि व्यासपुत्र धृतराष्ट्र के पास बोल रहा हूँ। मैं उनका दूत भी हूँ और दिव्य दृष्टि होने के चलते भविष्यवक्ता भी हूँ। यदि आपको सुनने में पीड़ा हो रही है तो मैं उसी महर्षि के पास जाता हूँ और उसकी दिव्य आँखें लौटा देता हूँ।

नहीं, नहीं, नहीं संजय! मैं पुत्रमोह में बोल गया था, ऐसा न करो, मेरी बातों पर विशेष ध्यान मत दो। संसार में इस समय मेरे जैसा घायल पिता कोई नहीं होगा, इसलिए तुम क्षमा करो और दिव्य संवाद को सुनाओ। अब देखो उन दिव्य मूर्तियों में कौन सा दिव्य संवाद होता है या अर्जुन का सम्पूर्ण समाधान ही हो गया है।

हाँ; हे नरेश! अर्जुन का समाधान हुआ हो चाहे नहीं हुआ हो लेकिन स्वयं भगवान को लगता है कि अभी संतुष्टि नहीं हुई है इसलिए अपने परम प्रिय शिष्य की उत्कण्ठा को देखकर प्रभु भी उत्कण्ठित हो गये हैं। वे आज ही अपने सम्पूर्ण अध्यात्म को दे देना चाहते हैं; क्योंकि ये अर्जुन के लिए तो पुनः गुरुपद पर आयेंगे नहीं, अतः वे उपदेष्टा नहीं बन पायेंगे, एकमात्र वरदानी ही होकर रह जायेंगे। ब्रह्म उपदेष्टा नहीं होता वरदाता होता है। यह अर्जुन के सौभाग्य की परम सीमा कही जायेगी कि साक्षात् निर्गुण–निराकार परब्रह्म परमात्मा ही उनके लिए सद्गुरु बन गया है। हाँ तो राजन्! अर्जुन उसी श्रोता की मुद्रा में हैं और भगवान कुछ बोलने लगे हैं, तो आप प्रतीक्षा करें, तबतक मैं सुनकर बताता हूँ।

ॐ मासपारायण, बीसवाँ विश्राम ॐ

ॐ अर्धमासपारायण, दसवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में
भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादरूप भक्तियोग नामक
बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वात्सल्य वात्सल्य वात्सल्य– यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसने ब्रह्म से लेकर जीव तक को अपने घेरे में ले रखा है। यह वही वात्सल्य है जो निर्गुण–निराकार के पास प्रकट होता है तो वात्सल्य में भरकर ॐकार का हुंकार भरते हुए सृष्टि का सृजन प्रारम्भ कर देता है, यह वही वात्सल्य है जो ऋषि–महर्षियों के पास प्रकट होता है तो वे समाधि से विरत होकर वेद, पुराण, शास्त्रादि की रचना करने लगते हैं, यह वही वात्सल्य है कि जब गाय बछड़े को जन्माती है तो उस समय अपने–आप से बाहर होकर उसका जेर ही खा जाती है, यह वही वात्सल्य है कि कर्ण जैसा मित्र, मित्र के लिए; लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न जैसे भाई, भाई के लिए तथा दशरथ जैसे पिता पुत्र के लिए, अपना जीवन दे बैठते हैं। यह वही वात्सल्य है कि पत्नी पति के लिए तथा माँ बेटे के लिए अपना सर्वस्व दाव पर लगा देती है। यह वही वात्सल्य है जो भगवान शंकर के हृदय में भगवती पार्वती जैसे जिज्ञासु के लिए, अष्टावक्र के हृदय में भरद्वाज एवं मैत्रेयी के लिए, काकभुशुण्डि के हृदय में गरुड़ के लिए प्रकट हुआ है। ये ऐसे ब्रह्मजिज्ञासु हैं जिनके लिए ये ब्रह्मस्वरूप ऋषि–महर्षि अपने–अपने जिज्ञासुओं के पास वात्सल्य में भरकर रामकथा कहने के लिए विवश हो जाते हैं। भगवान शंकर तो भगवती पार्वती के द्वारा रामकथा माँगने पर इतने वात्सल्य से भर जाते हैं कि बार–बार प्रभु श्रीराम के सगुणरूप में मगन होकर समाधिस्थ ही हो जाते हैं। यह वही वात्सल्य है जिसके कारण वर्षों से बिछुड़े हुए अपने परम प्रिय पुत्र भगवान श्रीकृष्ण को पाकर प्रेम में भरकर चूमने–चाटने एवं अंक में भर लेने से माँ देवकी के सूखे हुए स्तनों से दूध झरने लगता है। ठीक उसीप्रकार जन्म–जन्म से बिछुड़े हुए अपनी प्रिय आत्मा अर्जुन को प्रथम और अन्तिम शिष्य के रूप में पाकर प्रभु का दिव्य वात्सल्य ब्रह्मविद्या बनकर बाहर निकलने लगा है। प्रभु स्वयं अपने–आप को रोक नहीं पा रहे हैं। बेटा जब जेठ की दुपहरी से घायल हुआ, भूखा–प्यासा माँ के पास आता है तो माँ उसके लाल–लाल चेहरे को देखकर उसे अपने आँचल में भर लेती है। उसीप्रकार माया की मार से पीड़ित होकर उबरे हुए अपने प्रिय भक्त अर्जुन को देखकर भगवान ने उन्हें अपने आध्यात्मिक आँचल में छिपा लिया है। जिसप्रकार भगवान विष्णु ने ध्रुव के पास प्रकट होकर उस भक्त बालक का प्रेम में भरकर अपने शंख से चुम्बन लिया था, जिससे उसके मुख से वेद प्रकट होने लगा उसीप्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन की कातर आँखों में अपनी दिव्य दृष्टि डालकर आध्यात्मिक चुम्बन लेना प्रारम्भ कर दिया है। मानो प्रभु कहते हैं– मैं समझता हूँ कि तुम्हें और भी बहुत कुछ सुनने की इच्छा है, क्योंकि अबतक तृप्ति नहीं हो पायी तुम्हारे को और

जबतक तृप्ति नहीं हो जाती तबतक परिभाषा पूरी नहीं हुई– मैं तो ऐसा मानता हूँ। सगुण और निर्गुण दो प्रकार की साधनाओं का स्वरूप मैंने लगभग तुम्हें बता दिया है, किन्तु यदि तुम ये चाहते हो कि जो सगुण उपासक हैं उनके लिए कुछ और भी साधना विस्तार से कहें, तो उसकी बात मैंने कर दी कि आत्मज्ञान ही उनका साध्य है, त्याग ही उनका साधन है। यह कहकर तो मैंने अपनी बात पूरी सी कर ली थी लेकिन लगता है कि तुम ये कहना चाहते हो कि ज्ञानियों की साधना को आपने विस्तार से कहा किन्तु भगवद्भक्तों की साधना को आपने विस्तार से नहीं कहा, तो लो अब इसे विस्तार से सुनो–

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है इसप्रकार ऐसा उनके तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे पार्थ! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान तथा क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकारसहित प्रकृति और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है– ऐसा मेरा मत है। वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है एवं जिस कारण से जो हुआ है, इतना ही नहीं बल्कि वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है– वह सब संक्षेप में मुझसे सुन।

(इदं शरीरं कौन्तेय.....) इस अध्याय में भगवान नारायण ने पुनः कौन्तेय नाम पुकारकर अर्थात् आदरसूचक पद से सम्बोधित करके मानो अर्जुन को याद दिलाया है कि तुम्हारी माँ कुन्ती अपनी प्रकृति को जानती है, वह विदुषी है। 'जो मनीषी हैं वे अपने को जानते हैं और अपनी प्रकृति को भी जानते हैं'– भगवान के द्वारा ऐसा कहने से यह स्पष्ट हो रहा है कि अपने साथ–साथ अपनी प्रकृति को भी जानना चाहिये। कोई ऐसा मान लेता है कि 'मैं आत्मा हूँ' किन्तु जबतक प्रकृति पर उसका अधिकार नहीं है, तबतक 'वह आत्मा है'– ऐसा कैसे मान लिया जाय? लेकिन माँ कुन्ती जो साध्वी है उसमें यह बात नहीं है, वह तो निश्चितरूप से अपने को जानती है, दूसरा कोई नहीं जानता। भक्तिपथ का उसने अनुसरण किया है, वह अपने को जानती है तथा मुझे भी जानती है और अपनी प्रकृति को भी जानती है। उसने भक्तिपथ के माध्यम से जप और तप के द्वारा इस प्रकृति का मंथन किया था अर्थात् अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का मंथन किया था। इसप्रकार इन्द्रियों सहित शरीर का मंथन करके उसने अपने गर्भ को इतना दिव्य बना

दिया था, इतना दिव्य बना दिया था कि तुम्हारे जैसे नर नामक ऋषि (जो इस जीवजगत में मेरी विभूति है) ने उसके दिव्य गर्भ का आश्रय लिया, अतः तुम कौन्तेय हो और तुम्हारा हृदय ही गर्भ है। इस गर्भ में तुम मुझे बिठा लो क्योंकि उसने अपने गर्भ में तुम पाँचों को बिठा लिया और इसके उपरान्त तुमलोगों को बाहर करके, मुझे देकर अपने हृदय में एकमात्र मुझे बिठा रखा है, अब तुमलोगों की बारी है कि तुमलोग उसी की तरह मुझे अपने हृदय में बिठा लो। अब समय आ गया है कि तुम अपनी प्रकृति को जानो और उस प्रकृति का देवता मुझे बना लो।

'इदं शरीरं'– यहाँ 'इदं' पद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पूरे गीता शास्त्र में बहुत कुछ ऐसे विशेषण हैं, कुछ ऐसे अव्यय हैं, कुछ ऐसे प्रत्यय हैं, कुछ ऐसे पद हैं, जो अपने–आप में सम्पूर्ण अर्थ को, भाव–भंगिमाओं को समेटे हुए हैं। 'इदं शरीरं'– इस सृष्टि में बहुत से शरीर हैं– पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे, साँप–बिच्छू, देवता–गन्धर्व, किन्नर–नाग, यक्ष–राक्षस, भूत–प्रेत; ये सब के सब शरीर हैं, इन्हीं शरीरों में मनुष्य शरीर भी एक शरीर है। अतः यहाँ पर इन सम्पूर्ण शरीरों में 'इदं' पद मानव शरीर की तरफ ही संकेत कर रहा है। अतः मानव शरीर ही 'क्षेत्र' कहा जाता है, एक खेत कहा जाता है, एक मैदान कहा जाता है। यह एक ऐसा मैदान है जिसमें अन्य क्षुद्र प्राणियों की तरह वासनाओं से क्रीड़ा भी की जा सकती है और यह एक ऐसा मैदान भी है जिसमें नानाप्रकार के दिव्य कलारूपी बीजों को बोकर उससे उदरपूर्ति भी की जा सकती है तथा यह ऐसा दिव्य खेत है जिसमें यज्ञशाला बनाकर दिव्य यज्ञों के द्वारा दिव्य देवताओं की उत्पत्ति भी की जा सकती है अर्थात् देवताओं को प्रकट भी किया जा सकता है और यह एक ऐसा दिव्य एवं अलौकिक खेत है जिसमें सद्गुरु द्वारा आध्यात्मिक बीज बोआकर, डलवाकर अपने स्वरूप को ही फलरूप में प्राप्त किया जा सकता है। यह ऐसा दिव्य खेत है जिसमें बहुत सी बातों की सम्भावना है।

महात्मा अर्जुन ने मन में सोचा– क्या मानव शरीर ही भगवान से बना है, अन्य शरीर भगवान से नहीं बने हैं?

प्रभु ने मन की बात जानकर कहा– बने हैं, किन्तु ऊसर खेत में बीज तो बोया नहीं जा सकता न! वे सारे के सारे ऊसर खेत हैं। वे खेत जिनमें पथरीली चट्टानें हैं या वे खेत जो शापित हैं (शापित भूमि भी होती है, जैसे दण्डकवन), उनमें बीज बोया नहीं जा सकता। महर्षि अगस्त्य ने कहा था– 'हे राम! जाओ उस दण्डकवन को पवित्र करो! किसी ऋषि ने उसे शाप दे दिया था, अतः वहाँ कोई रहता ही नहीं। आपके पदार्पण मात्र से वह अति पवित्र हो जायेगा, उसे कृतार्थ करो!' इसप्रकार शापित भूमियाँ भी होती हैं, शापित योनियाँ भी होती हैं। मनुष्य को छोड़कर सारी की सारी योनियाँ शापित हैं अर्थात् भोगयोनियाँ हैं। उनके हृदयरूपी क्षेत्र में बीज बोया नहीं जा सकता, मात्र उनमें से फल काटा जा सकता है। उनमें सुख और दुःख दो फल लगे होते हैं, उसे वे तोड़ेंगे–खायेंगे। पशु हल चलाकर दुःख भोगेगा और हरा चारा खाकर सुख भोगेगा– वह यह दो काम ही कर सकता है, तीसरा काम नहीं कर सकता। ऐसे ही पशु–पक्षी एवं देवता आदि भी हैं। देवता सुख भोगेंगे क्योंकि उनके हृदयक्षेत्र में शुभ कर्मफल प्रकट होने

के लिये उद्यत हैं, अतः वे दुःख नहीं भोगेंगे किन्तु भगवान उनमें समा नहीं सकता। वे देवता अपने शरीर में कोई बीज बो नहीं सकते, मात्र सात्त्विक कर्मों के फल को भोग सकते हैं। प्रेतात्मा महापातकी खेत है, जो महादुःख को अर्थात् ब्रह्महत्या के पाप को भोगता रहता है। इसप्रकार प्रेतात्मा सहित अन्य योनियों एवं जीवों के हृदय में भी आध्यात्मिक बीज नहीं बोया जा सकता। ये सब ही शापित योनियाँ हैं। सारे के सारे बिच्छू–साँप, ये शापित योनियाँ हैं, इनके हृदयक्षेत्र में बीज बोया नहीं जा सकता। कैसा बीज? भगवान के नाम का बीज, भक्तिभाव का बीज, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का बीज। 'इदं शरीरं कौन्तेय'– इस न्याय से यह मानव शरीर ही एक ऐसा दिव्य शरीर है, जिसे खेत की उपमा दी गयी है। यह ऐसा दिव्य खेत है कि एक ही खेत में कई खेत हैं– कान एक खेत है, आँख एक खेत है, नाक एक खेत है, जिह्वा एक खेत है, हाथ एक खेत है, पाँव एक खेत है, शिश्न एक खेत है, गुदा एक खेत है; इसप्रकार यह शरीर दिव्य खेतों से परिपूर्ण है। दिव्य लोक ही यहाँ दिव्य खेत हैं अर्थात् सम्पूर्ण खेतों से सम्पन्न यहाँ एक ऐसा खेत है कि सम्पूर्ण खेतों को अपने–आप में समेट रखा है। कुछ ऐसे खेत हैं इनमें, जिनमें एक ऐसा कोना है जिसमें अबतक कुछ बोया नहीं गया है– वह है 'हृदय'। वह खाली का खाली ही रहता है। आध्यात्मिक हृदय है इसमें, वह खाली है। चाहे तो कोई पुरुष इसमें अध्यात्मविद्या को बो सकता है। अद्भुत बात तो यह है कि यह हृदयरूपी खेत क्या साधु क्या चोर, क्या सज्जन क्या दुर्जन, क्या मूर्ख क्या ज्ञानी, क्या बालक क्या बूढ़ा, क्या स्त्री क्या पुरुष; सबके पास है, भले इसका कोई उपयोग करे या न करे।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'– ब्रह्मविद्या का प्रकरण चल रहा है इसलिये इसका अर्थ ऐसे ही समझना चाहिए, अन्यथा नहीं लेना चाहिये। जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है, जो इसको नहीं जानता अर्थात् इसके बलाबल को, इसकी शक्ति–सामर्थ्य को, इसके प्रभाव को, इसके स्वरूप को.....। किसके? इस शरीर के स्वरूप को, इसकी शक्ति–सामर्थ्य को, जो नहीं जानता उसे क्षेत्रज्ञ नहीं कहते। जो पुर को जानता है वह पुरुष कहलाता है; यह शरीर ही पुर है। अतः इस शरीर में रहकर शरीर के सम्पूर्ण अंग–उपांगों को, कहाँ पर कौन वस्तु रखी गयी है और रखी जायेगी तथा कब किस काल में उसका उपयोग किया जायेगा, इन सब बातों को जो जानता है वही पुरुष है अर्थात् वही क्षेत्रज्ञ है। (एतद्यो वेत्ति..... इति तद्विदः) जो यह नहीं जानता वह पशु कहलाता है। कर्म के पाश में, शुभ और अशुभ के पाश में जो बँधा हुआ रहता है वह पशु कहलाता है। यदि अपने शरीररूप क्षेत्र को जानने की कामना नहीं हो रही किसी पुरुष को तो वह पुरुष नहीं पशु है। बहुतों ने इस शरीररूपी क्षेत्र से बहुत कुछ जन्माया है।

पुरातनकाल में प्राचीनबर्हि नाम के एक राजा हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी धर्मपत्नी से कह दिया कि यह तुम्हारा शरीर क्षेत्र है, इसको तपाओ! मुझे इसमें बीज बोना है। घोर तपस्या किया उनकी पत्नी ने और उन्होंने मनु–शतरूपा की तरह (मनु–शतरूपा ने इस शरीर को इतना तपाया, इस खेत को इतना तपाया, इतना तपाया कि भगवान ने अपने को बीजरूप से इसमें डाल दिया।) तपरूपी अग्नि से इतना तपा दिया, इतना तपा दिया तथा इतना मंथन किया, इतना मंथन किया कि एकसाथ ग्यारह बच्चे जन्माये और ग्यारह बच्चे गर्भ से ही ज्ञानी, ध्यानी,

विज्ञानी थे। यह ऐसा क्षेत्र है, जिस क्षेत्र से आप सगुणज्ञान भी प्रकट कर सकते हैं, निर्गुणज्ञान भी प्रकट कर सकते हैं। उन्होंने (राजर्षि ने) सगुणज्ञान प्रकट किया अपनी धर्मपत्नी के हृदयरूपी क्षेत्र से अर्थात् गर्भरूपी क्षेत्र ही हृदय है उसका। माँ का हृदय गर्भ है, वह बेटे–बेटियों के लिए जीती है, इसलिये वह भगवान को बेटे के रूप में मान लेती है। भले ही उसका बेटा संन्यासी बने लेकिन बेटे के रूप में ही देखेगी वह। उसका गर्भ ही हृदय होता है, अतः प्राचीनबर्हि की धर्मपत्नी ने उस हृदयरूपी गर्भ में ग्यारह संन्यासियों को एकसाथ धारण करके बाहर कर दिया। 'यह तो बड़ी विडम्बना है, हे ऋषिराज! अब कोई न कोई उपाय बतायें आप कि क्या करूँ?' नारदजी ने कहा कि हे राजन्! यदि सन्तान की वृद्धि आप चाहते हों तो एक ऐसी कन्या है जो संन्यास लेना चाहती है। उस एक कन्या की शादी इन ग्यारहों पुत्रों से कर दें; क्योंकि अभी इनलोगों ने संन्यास नहीं लिया है। ऐसा ही हुआ– उधर नारदजी के कहने से शादी हुई, पाणिग्रहण हुआ और इधर वही काल था उन लोगों के वैराग्य का अर्थात् संन्यास लेने का। अतः ग्यारह वे और बारहवीं वह साध्वी– ये सब वनप्रदेश को चल दिये संन्यास लेकर। 'यह तो बड़ा अनर्थ हो गया'– ऐसा सोचकर फिर घोर तपस्या की राजा ने अपनी धर्मपत्नी के साथ और फिर एकसाथ पाँच बच्चों को जन्माया। उन पाँच बच्चों ने भी पाँच वर्षों के होते–होते संन्यास ले लिया। इसप्रकार वे बच्चे जन्माते गये और बच्चे संन्यासी बनते गये। अन्ततोगत्वा वे देवर्षि नारद पर ही दुःखी हो गये कि लगता है आप ही इन बच्चों को संन्यासी बनाते हैं लेकिन जब कालान्तर में भगवान के रहस्य का पता चला तो नारदजी से क्षमा माँगी।

एक भक्त ने पूछा था कि भगवती द्रौपदी ने पाँच पतियों से विवाह क्यों किया? महाराज ने कहा उससे कि बहुत से ऐसे लोक हैं जिनमें भगवती द्रौपदी से पहले भी भगवत्प्राप्ति के निमित्त पाँच–पाँच भाइयों ने एक ही कन्या से शादी की है। जहाँ ऐसी व्यवस्था है, उनकी दृष्टि में यह अद्भुत व्यवस्था है। वहाँ की माताएँ कहती हैं कि महाराजजी! हम विधवा नहीं होतीं; क्योंकि एक पति मर गया तो दूसरा पति जीवित है, एक पति संन्यास ले लिया तो दूसरा पति साथ है। बड़ी उदार दृष्टि है, बड़ा उदार भाव है; ऐसे प्रदेशों में ऐसी व्यवस्था सन्तों की ही है। हिमाचल प्रदेश में किन्नौर एक जिला है उसमें पाँच भाइयों की, चार भाइयों की एक शादी आज भी होती है। एक भाई डी.एम. है तो एक भाई हलवाहा है। डी.एम. दिल्ली में है, हलवाहे के साथ धर्मपत्नी रहती है। वह छुट्टी में आता है तो दोनों साथ रहते हैं। उनके अपने नियम हैं। भगवती द्रौपदी के साथ वैसी घटना नहीं है। कर्ण ने कहा था कि जो पाँच पतियों की स्त्री होती है वह वेश्या होती है। वह मूर्ख उस इतिहास को नहीं जानता था, इसलिये ऐसा कह दिया। गृहस्थाश्रमी भक्त विषय को भगवान के लिए स्वीकार करते हैं न कि इन्द्रिय सुख के लिए। अतः यह शरीर एक ऐसा क्षेत्र है.....। कौन शरीर? मानवशरीर, जिस शरीर को तपाकर उसमें कुछ भी बोया जा सकता है। किसान जितना ही खेत में हल लगाता है, जितनी बार लगाता है, उतनी बार उसमें दिव्यता आती जाती है। जितनी सूर्य की रोशनी से मिट्टी तपती है, उतनी ही वह उर्वर होती है, तेजोमय होती है, शक्तिमय होती है और उसमें से फसल निर्विकार आती है, नीरोग आती है, वह बाहर के उत्पातों को सहन कर लेती है, विशेष गर्मी को, विशेष हवा

को, विशेष जल की मार को भी वह सहन कर लेती है। किसान इस बात को जानता है। उसीप्रकार मनुष्य, शरीर को तपा करके चाहे तो सुपुत्र पैदा कर सकता है, चाहे तो महावीर पैदा कर सकता है, चाहे तो वेदज्ञ पंडित पैदा कर सकता है और चाहे तो भगवान को भी पैदा कर सकता है। हृदय ही उसका ऐसा क्षेत्र है, उस हृदय में क्या बोए उसके ऊपर निर्भर करता है।

अब युद्ध की तरफ थोड़ा रुख करके भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की तरफ भी देख लें जहाँ वे युद्धभूमि को ही एक दिव्य खेत की संज्ञा देकर अपने परम प्रिय शिष्य को परम ज्ञानी बना देने में तत्पर हैं। मानो भगवान कह रहे हैं कि 'इदं शरीरं कौन्तेय'– यह एक शरीर है। कौन शरीर? युद्धभूमि नामक शरीर, जिसमें व्यूहाकार खड़ी की हुई सेना है, कौरव और पाण्डव दो पक्ष हैं जो कुवृत्ति एवं सुवृत्ति (कुबुद्धि एवं सुबुद्धि) वाली प्रकृति का संकेत करते हैं, जिस शरीर में मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ और तुम आत्मा हो। इसमें सात्त्विक बुद्धि, महाराज युधिष्ठिर हैं जो जानते हैं कि क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए और राजस बुद्धि भीष्मपितामह हैं जो अबतक ये निर्णय नहीं कर पाये कि मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये तथा दुर्योधन ही तामस बुद्धि है जिसने अधर्म को ही धर्म मान लिया है। ('अधर्मं धर्ममिति या मन्यते'– धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मान लेनेवाली बुद्धि को तामस बुद्धि कहते हैं) निश्चितरूप से प्रकृति के जो अन्य अंग–उपांग हैं, वे सारी सेना के लोग हैं, जिसमें प्राण, अपान, समान, व्यान, नाग, देवदत्त, धनञ्जय आदि में नानाप्रकार के महारथी आएँगे। इस युद्धरूपी शरीर के धृतराष्ट्र ही चित्त हैं और वह योग (जिसे दैवयोग कहते हैं) ही अहंकार है, जो इस समय अपने–आप आकर खड़ा हो गया है। ऐसे इस दिव्य शरीर में हमारा और तुम्हारा संवाद हो रहा है।

पुनः दूसरे अर्थों में देखें– 'इदं शरीरं'– यह भी एक शरीर है। कैसा शरीर? जो बुद्धिमानों के द्वारा ही सूक्ष्म की हुई बुद्धि के द्वारा देखा जाने योग्य है। जब भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन की चुप्पी को तोड़ दिया तो उन्होंने प्रथम में कहा कि 'इदं शरीरं' अर्थात् मानवशरीर फिर दूसरी बार अब कह रहे हैं– 'इदं शरीरं' अर्थात् यह भी एक शरीर है जिसमें कि बाँयीं भुजा कौरव पक्ष है तो दाँयीं भुजा पाण्डव पक्ष है और इसमें जो आत्मा है वह मैं हूँ और उप–आत्मा अर्थात् बुद्धि तुम हो, मन भी तुम हो, अनिश्चयात्मिका बुद्धि (तीन प्रकार की बुद्धि– जिन्हें सांख्यमत में दिया गया है।) ही राजा धृतराष्ट्र हैं।

तीसरी बार कहते हैं भगवान– 'इदं शरीरं'– यह तुम्हारा शरीर एक खेत है, मेरा शरीर तो खेत है ही नहीं, मेरे पास तो कोई शरीर है ही नहीं। (अतः यदि इदं पद में सम्पूर्ण इदं वाच्य पदों को लेते हैं तो फिर भगवान नारायण का भी शरीर उसमें आ जायेगा; जबकि वह शरीर, शरीर नहीं माना जायेगा) अतः 'इदं शरीरं', यह कौन्तेय का शरीर ही दिव्य क्षेत्र है। क्यों ऐसा कहा? इसलिए की तुम्हीं को जनाना है, क्यों जनाना है? इसलिए कि तुम्हीं मेरी आत्मा हो, अतः तुमको बताना है कि प्रकृति एवं पुरुष तथा प्रकृति एवं पुरुष से परे परम पुरुष का रूप क्या है, उसकी शक्ति, सत्ता, सामर्थ्य क्या है। तुम्हारा यह शरीर खेत कहा जायेगा, जिसमें मैं ही एक फल हूँ; जो फल बाहर है वह भीतर आ जायेगा। अबतक तुमने कोई अधर्मरूप बीज नहीं बोया।

धर्मरूप बीज के बहुत से फल मिले, धर्मरूप बीज के फलस्वरूप विश्वविजेता की संज्ञा प्रदान की तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य ने। एक ऐसी उपाधि मिली जिस उपाधि के नीचे महाराज युधिष्ठिर भी आ गये। इस कारण से तुम्हारा शरीर ही एक दिव्य क्षेत्र है, जिसमें तुमने धर्मोपार्जन तो किया किन्तु फल नहीं भोगा– उर्वशी आयी, फल त्याग दिया तूने, भगवती द्रौपदी आयी, फल तूने अपने चारों भाइयों में बाँट दिया। उसके उपरान्त अब चूँकि यह तुम्हारा सखा वासुदेव आया जिसे तुम अबतक सारथि समझे हुए थे अब इस दिव्य सारथिभाव को भी त्याग दिया, तब एक दिव्य फल आया कि वही तुम्हारा गुरु बन गया। अब उसी गुरु का तुम उपभोग नहीं कर पा रहे हो। पहले तूने प्रयास किया कि गुरुदेव मुझे संन्यासी बना दें लेकिन जब डाँटा–फटकारा तुमको तो तुम मान गये। अतः इसकारण से वही सामान्य से सामान्य फल विशेष बना, फिर वही विशेष फल अब परम फल बन गया है।

(क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि.....) अब साधकों की भूमि में लौट आते हैं। बहुत बार भगवान ने जीवात्मा को अपना अंश ही बताया है। यहाँ भी इस मंत्र द्वारा स्पष्ट हो रहा है कि भले ही सांख्य क्षेत्रज्ञ (बुद्धि) को पृथक् एक तत्त्व माने लेकिन भगवान इस बात से सहमत नहीं हैं। वे स्पष्ट कर रहे हैं कि सम्पूर्ण क्षेत्रों में (शरीरों में) जो जीवात्मा है वह मैं हूँ, वहाँ दूसरा है ही नहीं अर्थात् जो शक्ति–सामर्थ्य मेरे में है वही उस जीवात्मा में है, किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। इस न्याय से तो साधकों को निराश होने की आवश्यकता ही नहीं है। कम से कम यदि कोई साधक क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (शरीर को जाननेवाले) को नहीं जानता तो यह स्पष्ट हो गया कि अभी वह जीवात्मा की श्रेणी में भी नहीं है। ऐसा जानकर कम से कम उत्साहित होकर साधना तो करेगा? क्षेत्र को तथा क्षेत्रज्ञ को जानने का तात्पर्य है– क्षेत्रज्ञरूप होकर अपने तन, मन, वचन आदि पर सम्पूर्णता से अधिकार हो जाना। जिस समय साधक क्षेत्रज्ञरूप हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण भूतों के भूत, भविष्य और वर्तमान को जान लेता है, उसी को सर्वज्ञतारूप सिद्धि कहते हैं– ऐसा भगवान का मत है। प्रभु बड़ी सावधानीपूर्वक कह रहे हैं कि भले ही कोई माने या न माने लेकिन मेरे भक्तों को तो मेरे मत पर, सिद्धांत पर विश्वास कर ही लेना चाहिए।

(क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि.....) आशय है कि जो इसमें क्षेत्रज्ञ है, वह मेरी आत्मा है। अर्थात् बुद्धि ही यहाँ क्षेत्रज्ञ है, बुद्धि ही जानती है क्षेत्र को, क्षेत्र के तत्त्व को, क्षेत्र के प्रभाव को, शक्ति को, सामर्थ्य को। अतः वह बुद्धि मेरे निकट होने के कारण से क्षेत्रज्ञ है, वह क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि– सम्पूर्ण क्षेत्रों में अर्थात् मानव क्षेत्र का जो क्षेत्रज्ञ है, उसे मेरा ही रूप मान लेना।' मानव क्षेत्र का (मनुष्य शरीर का) जो क्षेत्रज्ञ है वह भगवान है, दूसरे शरीरों का जो क्षेत्रज्ञ है वह प्रारब्ध है; क्योंकि वहाँ बुद्धि निष्क्रिय होती है, मन सक्रिय रहता है। बुद्धि निष्क्रिय होती है, वहाँ विवेक नहीं रहता, वे मन से मनन नहीं कर सकते, बुद्धि से चिन्तन नहीं कर सकते। अतः वहाँ उनकी बुद्धि प्रारब्ध है, संस्कार ही उनकी बुद्धि है। संस्कार जिधर ले जाना चाहेगा उधर चल देंगे। जैसे हजार बार पशु को आप डंडे से पीटते हैं, लेकिन हरा चारा किसी के खेत में दिखायी पड़ता है तो दौड़ पड़ता है, कुत्ते की चाहे जितनी पिटाई करें उसके

स्वभाव में कोई अंतर नहीं आता; क्योंकि वहाँ बुद्धि सोयी हुई है। 'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा'– चाहे जितना आप शाकाहारी बनाना चाहें कौवे को, तो क्या वह शाकाहारी बनेगा? ऐसा हो ही नहीं सकता। क्यों? इसलिए कि वहाँ का जो क्षेत्रज्ञ, जो भगवान है, वहाँ नहीं है अर्थात् भगवान वहाँ पर है लेकिन मौन है। वहाँ पूर्व का पाप ही क्षेत्रज्ञ है, जो दुःख देने के लिए कौवा बना दिया है उस पुरुष को। 'होहिं उलूक संत निंदा रत।'– कौन? संतों की निंदा करनेवाले उल्लू होते हैं। अतः वहाँ पाप ही स्वामी होता है उस उल्लू का, जिसे सूर्य भी दिखाई नहीं पड़ते। सूर्य दिखाई पड़ जायेंगे तो कुछ शक्ति प्राप्त हो जायेगी, नारकीय पुरुष को सूर्य दिखाई पड़ेंगे तो उसमें कुछ मेधाशक्ति आ जायेगी। अतः सिद्ध है कि मानवशरीर ही प्रभावशाली है। कैसा प्रभावशाली? यही कि प्रारब्ध भी भोगेगा और प्रारब्ध को भोगते हुए भगवान का आवाहन भी करेगा, भगवान को भी आत्मसात कर लेगा; लेकिन यदि स्वतंत्र हो गया तो उत्पात मचा देगा। जैसे शूर्पणखा स्वतंत्र हो गई– 'जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं'। बरसात के दिनों में मेड़ टूट जाते हैं, जब क्यारियाँ अर्थात् खेत जल से भर जाते हैं। हर मिट्टी के कण में, उसके रोम–रोम में जल भर जाता है, दलदली मिट्टी हो जाती है वहाँ पर, अतः मेड़ टूट जाते हैं। वैसे ही स्त्री स्वतंत्र छोड़ देने से बिगड़ जाती है, शूर्पणखा बन जाती है, बहुत आदर मान देने से कैकेयी बन जाती है। कैकेयी का तात्पर्य कई–कई यानी द्वैतवाद आ जाता है उसमें। सदा–सर्वदा राम को देखनेवाली कैकेयी अपने पुत्र भरत को देखने लगेगी, नानात्व आ जायेगा उसमें, दुर्बुद्धि आ जायेगी।

इसप्रकार यह शरीररूप प्रकृति ही स्त्री है, इसमें स्त्रैणता है। यह अष्टधा प्रकृति कही जाती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति– इन आठ प्रकार के भेदोंवाली, ब्रह्म से संकल्पित अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रकट होनेवाली प्रकृति में नारीत्व विशेष है, पुरुषत्व कम है। इस कारण से यदि इसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो इस प्रकृति में नींद ही नींद प्रकट हो जायेगी, जब नींद से जगेगी तो काम प्रकट हो जायेगा, क्रोध–लोभ, राग–द्वेष प्रकट होता जायेगा और यदि परतंत्र कर दिया जाये अर्थात् संयम कर लिया जाये इस प्रकृति पर, इन्द्रियों का दमन कर दिया जाये तो फिर यही दासी बन जाती है, सेविका बन जाती है, यही पतिव्रता बन जाती है, पति की सेवा करने लगती है। इसका पति भगवान है, वह भगवान की सेवा करती है। सारी की सारी इन्द्रियाँ फिर भगवान को चाहती हैं, यह प्रकृति ही पतिव्रता बन जाती है। 'तत्क्षेत्रं यच्च'– वह क्षेत्र क्या है, कैसा है? उसका प्रभाव क्या है, शक्ति–सामर्थ्य क्या है? यही कि वह क्षेत्र भगवान को चाहने लगेगा। यदि उसका संयम किया जाये, यम–नियम आदि साधनों से तो यही शरीर अर्थात् क्षेत्र भगवान को चाहेगा।

खेत रूठ गये राजा जनक के राज में, सारे के सारे खेत रूठ गये। बीज डाला जाता था लेकिन उगता नहीं था और खेतों के दुःखी होने से इन्द्र आदि देवता कुपित हो गये। इसलिये कि उन्हीं खेतों के किसी एक भाग में भगवती सीता घोर तप कर रही थीं, इस कारण से राजा जनक के राज्य में जो भी खेत थे, वे अन्न पैदा नहीं करते थे। जब राजा जनक ने हल चलाया तो भगवती सीता वहाँ से प्रकट हो गयीं, तब घोर वृष्टि हुई और वे खेत अति प्रसन्न हो गये।

तपती हुई भगवती सीता को महाराज जनक ने प्राप्त किया। 'प्रभावश्च'– किस प्रभाववाला वह खेत है? तो कहते हैं शक्ति प्रदाता भी है, शक्ति धाता भी है। ये खेत शक्ति को धारण करनेवाले हैं– *'कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।'* इस शरीर में कहाँ कौन सा दिव्य खजाना छिपा हुआ है और इस धरती में कहाँ कौन सा खजाना छिपा हुआ है, जो गुरु के भक्त हैं, वे गुरु के चरणोदक को पीकर, उसके चरणों की धूलि को अन्जन बनाकर दिव्य दृष्टि प्राप्त करके देख लेते हैं।

(स च यो यत्प्रभावश्च.....) वह क्षेत्र किस प्रभाववाला है, उसकी शक्ति–सामर्थ्य क्या है? यही कि यदि यह क्षेत्र अर्थात् प्रकृति स्वतन्त्र हो जाये तो अनर्थों का हेतु हो जाती है; इसमें काम–क्रोध, राग–द्वेषरूपी बीज फूल–फल बनकर उत्पात मचाना शुरू कर देते हैं। यदि इसमें अपने अनुकूल बीज न बोया जाये तो पहले के बीज ही इसमें बड़े क्रूरकर्मा हो जाते हैं और क्षेत्रज्ञ पर बड़े भारी पड़ जाते हैं। परिणाम होता है कि जिस बुद्धि में भगवान आ सकता है, जिस बुद्धि से भगवान का आवाहन किया जाता है; उसी बुद्धि को ये अपने घेरे में कर लेते हैं और वही क्षेत्रज्ञ काम–क्रोधादि का आवाहन करने लगता है लेकिन परतंत्र हो जाये अर्थात् संयम से इसे वश में किया जाये तो वैष्णवीशक्ति प्रकट हो जाती है, जो रोम–रोम में सोयी सी है। उस क्षेत्रज्ञ का क्या प्रभाव है? यही कि जब क्षेत्रज्ञ संयम के साथ रहता है तो फिर जिस शक्ति से क्षेत्र को जानता है उसी शक्ति से ब्रह्म को जानता है।

अबतक क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ को बताया लेकिन तीसरा एक दोनों को जाननेवाला है, जो क्षेत्र को जानता है, क्षेत्रज्ञ को जानता है, वह परम क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अभिमुख होने के कारण से यह कहा जाता है कि बुद्धि भी ब्रह्म को जानती है, अतः आत्मा कहलाती है, जीवात्मा कहलाती है। उस क्षेत्र को, उस क्षेत्र में रहनेवाले को, विकारों को अर्थात् घास–फूसों को भी बताऊँगा और इसमें कौन–कौन से बीज डाले जा सकते हैं, इसे भी बताऊँगा। वह ब्रह्म क्या है, इसे भी बताऊँगा।

भगवान अब प्रमाण दे रहे हैं कि किन–किन लोगों ने जो मैंने कहा है वैसा ही कहा। अतः वे कहते हैं–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इस क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ की आत्मा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप तथा शक्ति–सामर्थ्य

की बात ऋषियों ने भी वैदिक मंत्रों के द्वारा बहुत प्रकार से कही है तथा महर्षि व्यास ने तो ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ में इसी का सांगोपांग विवेचन किया है। पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एवं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति इसप्रकार विकारों के सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है।

संशय से ग्रसित पुरुष बिना प्रमाण के संतुष्ट नहीं होता, इसलिए भगवान नारायण को शास्त्र का आश्रय लेना पड़ा है। महात्मा अर्जुन को यह कहना चाहिए था कि नहीं! ठहरें! हे प्रभु! ठहरें! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? ऋषियों ने वेदमंत्रों से इस क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को गाया है। महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्र के द्वारा, जो अध्यात्म शास्त्रों का प्राण है, उसमें भलीभाँति जीवात्मा–परमात्मा के स्वरूप, माया के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। हे प्रभु! ऐसा कहकर के आप अपना अपमान न करें! क्या आपकी बातों पर विश्वास नहीं कर रहा हूँ कि आप शास्त्र का प्रमाण दे रहे हैं? कहीं तेईस तत्त्वोंवाली, कहीं चौबीस तत्त्वोंवाली, कहीं अड़तालीस तत्त्वोंवाली प्रकृति कही गयी है; नानाप्रकार के शास्त्रों में अनेकानेक बातें कही गयी हैं। कहीं कुछ कहा गया है, कहीं कुछ कहा गया है, लेकिन इस विषय में आप क्या कहते हैं? आप शास्त्र का प्रमाण क्यों दे रहे हैं? किन्तु महात्मा अर्जुन ने ऐसा कुछ नहीं कहा।

महाराज के गुरुदेव ने भी सन् १९६५ में एक घटना के अन्तर्गत महाराज को महाभारत का प्रमाण दिया था। तब महाराज ने कहा था कि गुरुदेव! आप जब शास्त्र का प्रमाण देंगे तभी मैं आपकी बात पर विश्वास करूँगा! मैं तो मात्र इतना ही कह रहा हूँ कि अमुक दृष्टान्त आपके ग्रन्थ में शोभा नहीं देगा। अपवाद साधक को छोड़कर इस दृष्टान्त का अन्य साधक दुरुपयोग करेंगे। वैसे तो आपने मुझे जो बात बतायी है, ऐसा यथार्थ समाधान तो कोई विरला ही कर सकता है। ऐसी गूढ़ात्मक बात की तो कभी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

किन्तु अर्जुन के कुछ नहीं बोलने पर भगवान के मन में कुछ अन्यथा भाव नहीं आया और उन्होंने प्रमाण देना जारी रखा।

(महाभूतान्यहङ्कारो.....) पाँच तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ), पाँच इनके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), बुद्धि और मूल प्रकृति (अर्थात् रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण)– इसप्रकार चौबीस तत्त्वोंवाली ये प्रकृति कही जाती है। यदि विभाग नहीं करते हैं रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण का अर्थात् मूल प्रकृति का तो बुद्धि और अव्यक्त इसप्रकार ये बाईस तत्त्व होते हैं। कोई बाईस तत्त्वों से संतोष कर लेता है, कोई चौबीस तत्त्वों से संतोष कर लेता है। इसके उपरांत एक परा प्रकृति कही जाती है, जिसे सातवें अध्याय में आपसब ने सुन लिया है; जो इस जड़ प्रकृति को धारण करती है। सारे के सारे तत्त्वों को मिलाकर यह प्रकृति जड़ कहलाती है अर्थात् अपेक्षाकृत जड़। जड़ का तात्पर्य यह नहीं कि इसमें चेतना नहीं है– पृथ्वी से अपेक्षाकृत जल चेतन है, जल से अपेक्षाकृत अग्नि चेतन है, अग्नि से अपेक्षाकृत वायु चेतन है, वायु से अपेक्षाकृत चेतन अर्थात् उससे प्रबुद्ध आकाश

है। इसीप्रकार इन्द्रियों से अपेक्षाकृत मन विशेष चेतन है, मन से बुद्धि विशेष चेतन है तथा इन चेतन आत्माओं से परमात्मा विशेषातिविशेष चेतन है, सम्पूर्ण इन्द्रियों के लिए भी ऐसे ही समझना चाहिए। अपेक्षाकृत जड़ और चेतन की बात की जाती है।

(महाभूतान्यहङ्कारो.....) इसप्रकार ये चौबीस तत्त्वोंवाली प्रकृति जड़ है अथवा बाईस तत्त्वोंवाली प्रकृति जड़ है। जड़ प्रकृति चेतन से संचालित होती है, जैसे शरीर सोया हुआ है, चेतन जीवात्मा स्वप्नजगत में प्रवेश कर गया है, सिमट गया है तो यह प्रकृति (शरीर) सोयी रह जाती है, किसीप्रकार की इसमें हलन–चलन नहीं होती। तो कहते हैं– इस जड़ प्रकृति में पहले से क्या–क्या है? इसमें पहले से भी कुछ है– जिसप्रकार प्रायः खेत में पहले से घास–फूस, झाड़ियाँ, काँटे–फूल आदि देखे जाते हैं, उसीप्रकार पहले से ही इसमें इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख और स्थूलशरीर की स्मृति, सूक्ष्मशरीर की स्मृति, कारणशरीर की स्मृति, महाकारणशरीर की स्मृति, हंसशरीर की स्मृति, परमहंसशरीर की स्मृति, कैवल्यशरीर की स्मृति अर्थात् ब्रह्मस्मृति, पशु की स्मृति, पक्षी की स्मृति, कीट–पतिंगों की स्मृति, बहुत सी चेतन जड़ी–बूटियों की स्मृति (कोई चेतन स्मृतिवाला है, कोई जड़ स्मृतिवाला है); निष्क्रिय से सक्रिय, सक्रिय से निष्क्रिय चेतनावाली स्मृति देखी जाती है। अपेक्षाकृत चेतन की बात कही जाती है। इस शरीर में न चाहते हुए भी इच्छाएँ प्रकट होती रहती हैं, लाख प्रयत्न करें आप लेकिन इच्छाएँ प्रकट होती रहेंगी। बालक के चिदाकाश से भी इच्छाएँ प्रकट होती रहती हैं। इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने पर द्वेष प्रकट होता रहेगा, इच्छाओं की पूर्ति हो जाने पर सुख प्रकट होता रहेगा और सुख की समाप्ति के उपरांत दुःख प्रकट हो जायेगा– यह क्रम दिया है भगवान नारायण ने। एक–एक पद को क्रमानुसार भी देखना चाहिए– पहले इच्छा क्यों कहा, फिर द्वेष क्यों कहा, फिर सुख क्यों कहा, फिर दुःख क्यों कहा? इसलिए कि इच्छाएँ प्रकट होती हैं, इच्छाओं के पूरा न होने से द्वेष प्रकट होता है, अपने–आप से घृणा होती है, फिर पश्चात्ताप करने से शक्ति–सामर्थ्य प्रकट होती है और यज्ञादि कर्मों के प्रयत्न द्वारा सुख प्राप्त होता है एवं सुख की अवधि समाप्त हो जाती है तो दुःख प्रकट हो जाता है।

(सङ्घातश्चेतना धृतिः.....) स्थूलशरीर की एक स्मृति है, उस स्मृति को पाकर के ही वह सुख–दुःख प्रदान करता है, इच्छाएँ अपने मन में विक्षेप पैदा करती हैं। अतः स्मृति के कारण से संशय–भ्रम आदि शक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं। वही स्मृति निष्क्रिय होती है अर्थात् जब अन्तर्मुख होती है तो स्थूलस्मृति, सूक्ष्मस्मृति में प्रवेश कर जाती है, सूक्ष्म, कारण में; कारण, महाकारण में; महाकारण, हंस में; हंस, परमहंस में; परमहंस, कैवल्य में और उसके उपरांत संत के पास ब्रह्म की स्मृति प्राप्त हो जाती है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। स्मृति इन सबका आधार है, इस कारण से पहले इच्छा का, फिर द्वेष का, फिर सुख का, फिर दुःख का और तब स्मृति का नाम लिया गया है। किसी भी खेत का आधार होना चाहिए। यहाँ पर स्मृति उर्वरक (शक्ति) का काम कर रही है, जिससे बीज अपनी खुराक प्राप्त करते हैं और फिर आगे बढ़ते हैं। इसप्रकार सिद्ध है कि किसी भी साधक में पहले से ही इच्छा–द्वेष, काम–क्रोध आदि विकार होते हैं।

एकबात जान लेनी चाहिए कि जब किसान जान लेता है कि इस खेत में अमुक–अमुक पौधे उग रहे हैं, जैसे कुश नामक पवित्र पौधा उसके खेत में है तो उसको जड़–मूल से निकालने के लिये उसे बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है तथा ऐसी बहुत सी झाड़ियाँ भी होती हैं जिनको निकालने के लिये अथक प्रयास करना पड़ता है। इतना ही नहीं, किसान पहले अध्ययन करता है कि कौन से खेत में कब कौन सा बीज बोना चाहिए। उसमें कौन–सी घासें हैं, उन घासों के अनुसार ही वह बीज का निर्णय करेगा। जिस खेत में दूब नामक घास विशेष उत्पन्न हो रही है उस खेत की मिट्टी विशेष उर्वर मानी जाती है, उसमें वह गेहूँ एवं धान बो देगा; क्योंकि इनके लिए शक्ति की विशेष आवश्यकता पड़ती है और खरीफ की फसल ,जो तामस खेती है, जो सामान्य खेतों में भी होनेवाली है, उसे उन खेतों में बो देगा। अतः जिसप्रकार खेत में विकार पहले से हैं, उसीप्रकार साधक भी पहले अपनी प्रकृति एवं उसके विकारों को देख ले, उसके उपरांत ही जप, तप, योगादि में से मुझे किसे अपनाना चाहिए किसे नहीं, इसका निर्णय करे या सद्गुरु से करावे।

कल एक साधक ने बताया कि चालीस साल हो गये मुझे संन्यास लिये हुए और मैं एक आश्रम से केस लड़ रहा हूँ। तो महाराज ने कहा– समय तो अभी भी है त्यागने का, छोड़िये उसे! उन्होंने कहा कि इतना बन्धन हो गया है कि निकल ही नहीं सकता। उन्होंने कहानी बतायी– पिताजी कहते थे कि जाओ मुनीम के पास बहीखाता दे आओ! तो मैं जाता नहीं था, मेरा मन लगता ही नहीं था। इतना वैराग्य था चालीस साल पहले और अब वह वैराग्य पता नहीं कहाँ चला गया! आप कोई सिद्धि मुझे दे दें, जिससे कि मुझे संतुष्टि हो जाये। महाराज ने कहा कि महाराज के पास कोई सिद्धि है ही नहीं, एक ही सिद्धि है– वह यह कि बूढ़े के लिये भी साधना है महाराज के पास, रोगी के लिये भी साधना है, दीन–हीन के लिये भी साधना है, माँ, बहन, बेटियों के लिये भी साधना है। कैसी साधना? जिस साधना से भगवान प्रसन्न होता है। उन्होंने कहा कि अब यह तो होगा ही नहीं मेरे से। महाराज ने कहा कि समय तो है ही आपके पास! आज से दस साल पहले गाजियाबाद के सूरजमल के पिता ने बहत्तर वर्ष की उम्र में साधना प्रारम्भ की और आठ साल होते–होते सवेरे चार बजे भोर से लेकर ग्यारह बजे रात्रि तक ध्यान करने लगे। यद्यपि उनके सारे बच्चे ध्यान करते हैं, माताएँ भी ध्यान करती हैं, ध्यानकक्ष बना हुआ है वहाँ पर। संत वहाँ पर पहुँचते रहते हैं, वह गृहस्थाश्रम वैकुण्ठ लोक है। यहाँ पिता बैठा है ध्यान में, वहाँ पुत्र बैठे हैं, तो वहाँ पोते बैठे हैं; बड़ा अच्छा लगता है वहाँ। कोई माँ भी बैठ जाती है वहाँ ध्यान में। अपने–अपने समय से ध्यान करके चले जाते हैं। उन्होंने पूछा कैसे ध्यान करते थे उनके पिता? महाराज ने कहा– पहले सालभर तीन बजे उठते थे स्नान आदि करके चार बजे से सात बजे तक आसन बदलकर बैठना शुरू किया ध्यान में। साल भर के उपरांत बड़े वेग से साधना बढ़ने लगी। एक घण्टे के बाद फिर उठना और चाय पी लेना अथवा टहलना, पाँच मिनट बाद आकर दो घण्टे बैठना, तीन साल होते–होते सुबह चार बजे से पाँच घण्टे के बाद उठना तथा थोड़ा दूध की चाय पीकर टहलना; फिर आकर बैठना और बारह बजे उठना। दोपहर में एक रोटी खाना, मात्र सब्जी के साथ अथवा दाल से और एक घण्टा टहलना,

सोना नहीं। एक घण्टे के बाद आकर फिर बैठना; तीन बजे तक बैठना, चार बजे तक बैठना, फिर उठना चाय लेना और थोड़ा टहलकर के शौच जाना, स्नान करना, फिर आकर के ध्यान में बैठ जाना। पुनः रात को आठ बजे उठना, एक गिलास दूध लेना, थोड़ा टहलना फिर जाकर ध्यान में बैठना और ग्यारह बजे सो जाना। समय ही नहीं था उस पुरुष के पास किसी से बात करने का, किसी की सुनने का, किसी की तरफ देखने का।

महाराज प्रतिवर्ष वहाँ अपने से, बिना निमन्त्रण के जाया करता है। उनका तो सदा ही निमन्त्रण रहता है। एक दिन संध्या में उन्होंने कहा– अरे बेटे! लगता है सीने में कुछ दर्द की अनुभूति हो रही है। वहाँ बैठे हुए सूरजमल ने अपने बड़े भाई से कहा कि चलें, पिताजी को थोड़ा अस्पताल में दिखा दिया जाये। पिता ने कहा कि अरे! यों ही कह दिया विशेष दर्द नहीं है। बच्चों ने कहा कि नहीं चलेंगे तो हम उठाकर ले जायेंगे। हँसी किया, मजाक किया उनलोगों ने तो पिता ने कहा– बेटे! मुझे कोई नहीं ले जा सकता न! जब अस्पताल में मुझे जाना ही नहीं है तो संसार में ऐसा कौन है जो मुझे ले जायेगा? पुत्रों ने कहा कि हमलोग ले जायेंगे। ऐसा कहकर बच्चों ने कहा कि पकड़ो जी! ऐसा कहकर दोनों बेटों ने उठाया, जैसे उठाया वैसे ही उन्होंने प्राण छोड़ दिया। '..... कोई नहीं ले जा सकता अस्पताल में मुझे।' साल भर के बाद उनकी साध्वी धर्मपत्नी ने भी जो चौबीस घण्टे जप करती रहती थी, पचास–साठ साल तक जिसने अपनी बहुओं से जल तक नहीं माँगा, जप करते हुए ही शरीर छोड़ दिया। उसके दोनों पुत्र अभी (कुछ दिन पहले) आये थे, कह रहे थे कि हमलोगों ने अपने जीवन में माता–पिता को बात करते नहीं देखा, दोनों घोर तपस्वी थे।

महाराज ने पुनः साधक से कहा कि महाराज के पास बूढ़े के लिये भी साधना है, सबके लिए साधना है। प्रकृति को जानना चाहिये। आप तो निराश ही हो गये कि मैं बूढ़ा हो गया, तो बात अलग है; फिर जायें आप धक्के खाते रहें! शरीर को क्या देखना! शरीर तो तप से तेजोमय हो जायेगा। शरीर छूटनेवाला है और पन्द्रह दिन पहले भी आपने तप शुरू कर दिया तो भी तेजोमय हो जायेगा।

यहाँ आश्रम में एक भक्त रहता था, विशेष साधना नहीं करता था। 'हरे राम की माया! हरे राम की माया!'– कहता रहता था लोगों से। एक साधक की अनुभूति उसके विषय में कुछ और थी, उसने महाराज से कहा कि 'महाराजजी! यह ट्रक ड्राइवर था, अतः इसका शरीर अब सड़ेगा, क्योंकि ट्रक ड्राइवर बड़े पापी होते हैं!' आये हुए दो साल हो गये थे उसको, वह गुरुमंत्र माँगता था, महाराज ने दे दिया। देखा कि अब शरीर छोड़नेवाला है, गेरूवस्त्र चाहता है, घर तो जायेगा नहीं, इसलिये गेरूवस्त्र भी दे दिया। लोगों को गेरूवस्त्र दिखाकर कहता था– 'उद्धार कर दिया महाराजजी ने! उद्धार कर दिया! मुक्ति दे दी! मैं मुक्त हो गया! हरे राम की माया!' बस जो नाम दे दिया गया उसको उसने दो साल जपा होगा। बोलता था– हरे राम की माया! इसके बाद जप करता रहता था। शरीर छोड़ने के दस–बारह दिन पहले हरिओम नामक विद्यार्थी से कहा– हरिओम! गंगाजी की धार में से जल लाना, किनारे से जल मत लाना। अन्न छोड़ दिया,

फल–रस सबकुछ छोड़ दिया था, बारह दिन पहले से गंगाजल पीने लगा था। तीन दिन के बाद महाराज ने कहा अभयानन्द से– स्नान कराओ! ये लोग स्नान कराते थे। वह कभी–कभार कहता कि क्यों आप ऐसा करा रहे हैं, इन लोगों से स्नान कराकर क्यों भार दे रहे हैं? शरीर छूटने के पहले हिमाचल के चूहीरामजी एवं चतरजी आये हुए थे। महाशिवरात्रि की रात्रि की प्रतीक्षा कर रहा था वह। दस बजे रात्रि को जाकर के पूछा महाराज ने कि आश्रम के किसी सदस्य के प्रति मन में कुछ मैल तो नहीं है? उसने कहा कि राम! राम! राम! राम! राम! ये सब आपकी आत्मायें हैं, इनसे तो प्रेम ही प्रेम है। 'तो कहाँ जाना चाहते हैं आप? महाराज ने पूछा। उसने कहा गंगाजी में। 'क्यों गंगाजी में जाना चाहते हैं?' महाराज ने फिर पूछा। उसने कहा– इसलिये कि मुझे पुनः आपके पास आना है। यद्यपि मैं तो वैकुण्ठ लोक में वास कर रहा था, किसी ने मुझे कोई कष्ट नहीं पहुँचाया; किन्तु वृद्धावस्था में आया था इसलिए आपकी थोड़ी भी सेवा नहीं कर पाया, अतः संतुष्टि नहीं हुई है। अब पुनः आकर सेवा कर लूँगा तब संतुष्टि हो जायेगी, उसके उपरांत जाऊँगा तो फिर–फिर नहीं लौटूँगा। अब मुझे कैवल्य मुक्ति प्राप्त करने से कौन रोक सकता है? उसी दिन ब्रह्ममुहुर्त में (महाशिवरात्रि के दिन) 'हरे राम की माया!' कहते हुए मस्ती से शरीर छोड़ दिया। इसप्रकार बूढ़ों के लिये भी महाराज के पास साधना है। शरीर को क्यों देखते हैं आप? अपनी श्रद्धा एवं विश्वास को देखें, अपने भगवान से उसी को माँगें, फिर कभी भी आप भजन–ध्यान में अपनी असमर्थता प्रकट नहीं करेंगे।

(महाभूतान्यहङ्कारो.....) शरीर को नहीं देखना है, इसमें पहले के बीज को देखना है कि वह बीज हमारे अनुकूल है या नहीं। एक किसान के खेत में शतावर नाम की जड़ी थी। एक संत ने बताया कि इसे उखाड़ो मत बहुत महँगी बिकेगी। इसमें कुछ तुम्हें विशेष बोने की आवश्यकता नहीं है, बस इसकी सुरक्षा करो। उसने वैसा ही किया। वह उखाड़ता था शतावर जड़ी, बेचता था और धनवान हो गया। ऐसे ही कुछ साधकों का शरीर भी होता है, जिसमें बचपन से ही भक्तिभाव होता है, जप, तप, योग की कामना भीतर में पहले से रहती है, वैसे साधकों के मन में घास–फूसरूपी काम–क्रोध थोड़ा ही तो है, उनके लिये तो उसको भी क्या देखना। आशय यह है कि उन्हें विशेष देखना है जिनमें की विकारों की मात्रा विशेष है, भगवान की कामना कम और काम–क्रोध, राग–द्वेष की कामना विशेष है, धन की कामना विशेष है, पुत्र की कामना विशेष है, मान–सम्मान की कामना विशेष है। उन्हें विशेष ध्यान देना होगा। तो फिर क्या करना चाहिए? वहाँ पर एक उपाय तो है कि शतावर जड़ी की सुरक्षा करनी है अर्थात् हृदय से जब राम की इच्छा प्रकट हो रही है तो सुरक्षा करनी है उसकी, जप–तप का कामनारूपी बीज प्रकट हो रहा है तो उसकी सुरक्षा करनी है और वृद्धि करनी है। तो क्या करें? सद्गुरु के पास जायें और वहाँ–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसीप्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन–वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा–भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर–भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता और मन–इन्द्रियोंसहित शरीर का निग्रह। इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति एवं अहंकार का भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख–दोषों का बार–बार विचार करना। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय–अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना। मुझ परमेश्वर में अनन्ययोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना। अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति एवं तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना– यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है– ऐसा कहा है।

वे दोनों आचार्य की उपासना करें,.....। कौन? जिनके खेत में अर्थात् हृदयरूपी खेत में विशेष काम–क्रोध की मात्रा है लेकिन भगवान को भी चाहते हैं तथा वे भी जिनमें काम–क्रोध की मात्रा कम है, भौतिक कामनाओं की मात्रा कम है किन्तु भगवान को ही चाहते हैं। गीता अध्याय चार में भी सर्वप्रथम प्रभु ने सद्गुरु के पास जाने की आज्ञा दी। गीता अध्याय सात में भी प्रभु ने 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' अर्थात् ज्ञानी ही मेरी आत्मा है, ऐसा कहकर सद्गुरु के पास जाने को कहा एवं पन्द्रहवें अध्याय में भी 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहकर सगुण ब्रह्मरूप सद्गुरु की ही अध्यक्षता स्वीकार करने की बात की। माता–पिता, भाई–बान्धवों की उपासना करते–करते पूर्व की अशुभ वासना व्यापक हो जाती है। वासनामय जीवों की उपासना करने से जीवन वासनामय बन जाता है किन्तु निर्विषयी सगुण ब्रह्मरूप सद्गुरु की उपासना करने से वासना क्षीण होते–होते निर्बीज ही हो जाती है और भगवान ही वासना हो जाता है। सद्गुरु के शरणागत होकर आश्रम में कैसे रहना चाहिये– महाराज तो इसको स्पष्ट कर रहा है किन्तु गृहस्थाश्रमी साधक इसी व्याख्या के अनुरूप अपने लिए व्याख्या कर लें। यहाँ अमान, अदम्भ, अहिंसा आदि एक–एक पद बड़े महत्त्व के हैं। संकेत है कि घर के व्यवहार जैसा

सद्गुरु आश्रम में मत करना। पिता–माता, भाई–बान्धवों के साथ तो आप सम्मान के साथ रहते थे। परिवार के मान–सम्मान से आप और आपके मान–सम्मान से पिता–माता संतुष्ट रहते थे। जैसे कुश्ती में आप विजेता होकर आ गये, आपको दम्भ हो गया कि मैंने कुश्ती जीत ली और आपके परिवार को भी अहंकार हो गया, संतुष्टि हो गयी कि मेरे बेटे ने बहुत बड़ा काम कर दिया है; गृहस्थाश्रम में यह सब चलता है। पिता के वैरी को भी अपना वैरी समझकर वहाँ आप मारते–पीटते हैं, बदला लेते हैं। वहाँ अहिंसा के साथ ही नहीं बल्कि हिंसा के साथ भी रहते हैं। अधर्मी पिता है तो भी उसका पूरा साथ देते हैं और अशान्ति के साथ भी वहाँ रह लेते हैं। आप अशान्त होते हैं कि मैंने जीवनपर्यन्त अधर्मी माता–पिता की सेवा की, किन्तु ये तो सभी भाइयों में से किसी–किसी से प्रेम करते हैं और किसी–किसी से द्वेष करते हैं। इसप्रकार अशान्ति बहुत बढ़ जाने पर पिता–पुत्र अलग–अलग होकर जीने लगते हैं। घर में कठोर वाणी से भी रह लेते हैं। पिता आपको गाली दे लेता है और पुत्र अपनी वाणी से निवेदन करके ही आज्ञा का उल्लंघन करके अपमान कर देता है तो भी अधर्मी पिता को पुत्र पिता ही माने रहता है और अधर्मी पुत्र को पिता पुत्र ही माने रहता है। वहाँ बुद्धि में स्थिरता नहीं रहती, पिता–पुत्र, भाई–बान्धव सब चंचल प्रकृति के होते हैं, सभी अव्यवस्थित चित्तवाले होते हैं, किन्तु तो भी साथ–साथ रह लेते हैं। ये सब विषयी होते हैं और साथ–साथ रहते हैं। संन्यासी साधक को इन लोगों के बीच नहीं रहना चाहिए। अपनी प्रकृति को और प्रकृति की सामर्थ्य को तथा विकारों को पहचान कर सद्गुरु के पास चले जाना चाहिए तथा वहाँ पर (अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा... .....) मानरहित होकर रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम के ठीक विपरीत वृत्ति चाहिए, गुरु आश्रम में रहने के लिए; क्योंकि सद्गुरु के पास मान–सम्मान मिलेगा ही नहीं, इसलिए सद्गुरु में दोषदर्शन की सम्भावना पूरी हो जाती है। आपकी इच्छा को देखकर सद्गुरु मान देता है तो अधर्म हो जाता है, आपका धर्म ही चला जाता है। अतः वहाँ दम्भ छोड़कर रहना, अपनी शक्ति–सामर्थ्य पर भरोसा मत करना, हिंसा छोड़कर जाना और अहिंसा लेकर आना अर्थात् गुरु आश्रम में अहिंसा के साथ रहना। वाणी से किसी को सताना मत, मन से किसी का बुरा मत सोचना, कम से कम गुरु आश्रम के लोगों के प्रति तो ऐसा मत करना; वे तो तुम्हारे साथ वैसा करेंगे ही करेंगे; उनको अपनी वाणी से बुरा भी मत कहना। वाणी में सरलता हो, उसमें पाखण्ड एवं ढोंगरूपी बदबू न आवे। सद्गुरु की आज्ञा एवं सेवा में तत्पर रहना। महाराज नहीं चाहता कि कोई पाँव की सेवा करे; क्योंकि आसन करने का स्वभाव है, किन्तु लोग अपनी संतुष्टि के लिए सामान्य सेवा किये बिना मानते ही नहीं। सद्गुरु की असली सेवा है उसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना। सिद्धान्त ही उसका असली स्वरूप है। सद्गुरु शरीर नहीं होता वह तो सिद्धान्त होता है। स्थिरता और धैर्य के साथ ही उसके सिद्धान्त का पालन करना। मन में वहाँ पर उच्चाटन होने की पूरी सम्भावना रहती है; क्योंकि उसके दर्शन से, स्पर्श से एवं सत्संग से आपके तन, मन, वचन, हृदय में दिव्य शक्ति का संचार होता है। उस शक्ति के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम सतोगुण बढ़ता है, सतोगुण के बढ़ने पर सतोगुणी वैराग्य प्रकट होता है जो वन में जाने के लिए प्रेरित करता है। धैर्यता नहीं होने से मन में उच्चाटन हो जाता है, सद्गुरु को भी छोड़ने

की कामना हो जाती है। इसप्रकार आचार्य की उपासना नहीं हो पाती। वरदान देने की सामर्थ्य रखनेवाला सद्गुरु आपको वरदान नहीं दे पाता और जब वह वरदान नहीं देगा तो आपकी साधना, आपका जप, तप, योग वरदान नहीं दे पायेगा। यदि आपकी दृष्टि में आपका भगवान अलग है और सद्गुरु अलग है तो भी अपको वरदान देने के लिए वह आपके सद्गुरु की प्रसन्नता की तरफ देखेगा। यदि सद्गुरु प्रसन्न है तब तो वरदान देगा अन्यथा वह तबतक मौन रहेगा जबतक कि आपका गुरु आपपर प्रसन्न नहीं हो जाता। आजतक ऐसा हुआ नहीं कि भगवान ने आकर ब्रह्मविद्या का दान दिया हो। अर्जुन जैसा कोई अपवाद ही होता है जिसे भगवान ही ब्रह्मविद्या दें; किन्तु यहाँ भी तो प्रभु सद्गुरु के पद पर आसीन होकर ही ब्रह्मविद्या दे रहे हैं? वह कुबेर के माध्यम से भी धन देता है, देवताओं के माध्यम से भी शक्ति देता है; किन्तु सद्गुरु के माध्यम से ही ब्रह्मविद्या के साथ–साथ सबकुछ देता है।

(स्थैर्यमात्मविनिग्रहः.....) अर्थात् संयम के साथ सद्गुरु आश्रम में रहना, खीर, पूड़ी, मिठाई मत खाना।

एक आश्रम में रोज खीर, पूड़ी, हलवा, दाल, चावल सबका भण्डारा होता था। एक साधक वहाँ कभी भी ये सब नहीं खाता था। लोग कहते थे कि आप मीठा के चलते खीर नहीं खाते होंगे तो बिना मीठे की खीर अलग से निकाल दी जायेगी। तो साधक कहता– जिस दिन ब्रह्म खिलायेगा उसी दिन खीर खाऊँगा। होली के दिन साधक की माँ खीर–पूड़ी लायी तो उसने कहा– जिस दिन भगवान मुझे खिलायेगा उसी दिन पकवान खाऊँगा और होली भी मेरी उसी दिन मनेगी, जिस दिन भगवान आयेगा। इस भाँति शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषय गुरुदेव के आश्रम में भी पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे, किन्तु वहाँ निर्विषयी होकर रहना।

'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं'– हिमालय की चोटी पर भी आपका भगवान इन्द्रियों के विषयों को भेजता है, किन्तु जब साधक स्वीकार नहीं करता है तो प्रभु स्वयं विषय बन जाता है। 'जन्ममृत्युजराव्याधि'– जन्म और मृत्यु के ऊपर विचार करना, वहाँ वृद्धावस्था एवं व्याधियों पर विचार करके रहना। नानाप्रकार के दुःख–दोषों पर विचार करना, राग–द्वेषादि दोषों पर विचार करना। गुरु आश्रम में, उसकी अध्यक्षता में रहकर ऐसे विचार करना जैसे श्रीराम प्रभु ने विचार किया है। कितना गहन विचार किया है, चिन्तन किया है, जन्म, जरा, मृत्यु पर; इसे योगवासिष्ठ में देखें–

बचपन में ही श्रीराम प्रभु तीर्थयात्रा से लौटकर अयोध्या आये और महल में वैरागी बनके रह गये। बड़ी समस्या हो गयी, न माँ से, न भाई–बान्धवों से बोलना, पिता–माता के आने पर भी प्रणाम करके एक कोने में बैठे रहना आदि। महाराज के गुरुदेव कहते थे कि ध्यान, चिन्तन पहले घर के कोने में; वहाँ सिद्ध होने पर फिर वन में और पुनः मन में किया जाता है। मानो प्रभु श्रीराम भी यही संकेत कर रहे हों। महल के किसी भी एक कोने में छिपकली भी बैठी रहती है, चूहा भी बैठा रहता है। प्रभु कह रहे हों मानो– मैं वैसा ही क्षुद्र प्राणी हूँ, जो अपने को नहीं जानता, जिसके पास न कोई शक्ति है, न आध्यात्मिक साम्राज्य, न आँख है, न वाणी है। सारी

की सारी वाणी उधार, सारा का सारा ज्ञान उधार, सबकुछ तो उधार ही है। महाराज भी आपसब से पूछे कि आपका अपना ज्ञान क्या है, जिसे आपने कहीं पढ़ा नहीं है, सुना नहीं है, आपकी अपनी अनुभूति क्या है, तो आप झंझट में पड़ जायेंगे। प्रभु श्रीराम सोचते हैं– मेरे पास कुछ है ही नहीं तो पलंग भी मेरे लिए नहीं है, अतः कोने में ही बैठे सो जाते। शरीर सूखकर हड्डी का ढाँचा बचा। प्रभु श्रीराम की वैसी स्थिति में ही विश्वामित्र उन्हें माँगने आ गये। प्रभु ने उनसे कहा– हे मुनिनाथ! आप ताड़का, सुबाहु, मारीच को मारने की बात करते हैं, जबकि ये ताड़का, सुबाहु एवं मारीच तो माया के रूप में मेरे पीछे भी पड़े हैं। कम से कम वे इतने शक्तिमान तो हैं कि आपकी यज्ञशाला में विघ्न बनकर आ जाते हैं, परन्तु इस राम की मोह–ममतामयी ताड़का, सुबाहु का वध हो, तब तो आपकी सेवा में चले। इस समय तो मुझ राम का अपना मन ही साथ छोड़ दिया है, बुद्धि ही साथ छोड़ बैठी है। कल को मैं नहीं जानता महाराज! कि मेरा जीवन रहेगा या नहीं। मैं सामान्य जीवन और मृत्यु अब नहीं चाहता। शरीर के पीछे व्याधियाँ पड़ी हुई हैं, वृद्धावस्था पड़ी हुई है; जब ये मेरे शरीर को पकड़कर अच्छीप्रकार जकड़ लेंगे तब मैं कुछ भी नहीं कर पाऊँगा। आपकी आज्ञा से यदि मैं चला तो निश्चित ही ताड़का, सुबाहु, मारीच मारे जायेंगे किन्तु उन्हें वहाँ मारनेवाला राम नहीं, आपकी आज्ञा होगी, राम केवल निमित्त होगा। उन असुरों को मारेंगे आप, किन्तु लोग जानेंगे कि राम ने मारा; लेकिन मैं तो जानूँगा ही कि राम ने नहीं आपने मारा। इसप्रकार का मैं जीवन जीना नहीं चाहता। वे मारे जायेंगे लेकिन मेरा विकार ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जायेगा। नहीं, नहीं, नहीं! हे ऋषिवर! पहले मुझे अपनी वस्तु दे दें। विश्वामित्र की प्रार्थना पर वसिष्ठजी ने श्रीरामजी को बाईस–तेईस दिन आध्यात्मिक ज्ञानगंगा में स्नान कराकर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दोषों से सदा–सदा के लिए मुक्त कर दिया। कालान्तर में श्रीराम प्रभु का सन्देशरूप उपदेश आया कि मानवमात्र को यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही है तो सर्वप्रथम आत्मज्ञान लेकर प्रवेश करे। गृहस्थाश्रम में जन्म लेकर मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए जीना शोभा नहीं देता। महर्षि व्यास ने महत् कुशलता के साथ इस मंत्र में सर्वप्रथम जन्म, फिर मृत्यु पुनः जरा और व्याधि आदि का नाम लिया है, अर्थात् 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'– जन्म मृत्यु से घिरा हुआ है, शरीर वृद्धावस्था और व्याधि से घिरा हुआ है; इसप्रकार पूरा जीवन दुःख और दोषों से घिरा हुआ है। इसलिए क्रमपूर्वक सब पहलू पर चिन्तन करना कि यह शरीर अर्थात् मानवशरीर, जो भगवान के नामरूपी बीज को बोया जानेवाला खेत है, उस खेत को पाकर यदि मैं अपने को नहीं जानता तो भगवान को क्या जानूँगा। अतः ऐसे जन्म से तो मृत्यु श्रेयस्कर है, मर जाना ठीक है।' इसे कहा जाता है, पश्चात्ताप करना। जब ऐसा है तो फिर पहले भगवान को पायें, मृत्यु की प्रतीक्षा करके क्यों जीना। 'जन्ममृत्यु'– पता नहीं कब मृत्यु आ जायेगी; क्योंकि कल को तो जानते नहीं। इसलिए जन्म तभी सार्थक होगा जब अपने को जान लेंगे। पता नहीं बुढ़ापा कब बड़े वेग से आ जायेगी। बुढ़ापा जब आती है तो नानाप्रकार की व्याधियाँ साथ लाती है, स्मृतिदोष भी हो जाता है। बूढ़े की दशा सब जानते हैं, कोई उससे बोलना नहीं चाहता, नानाप्रकार के उत्पात उसके भीतर से प्रकट होने लगते हैं, शरीर जर्जर, इन्द्रियाँ जर्जर, किन्तु मन बड़ा बलवान हो जाता है। मन तो खाने–पीने का करता है, कोई आकर मेरे पास बैठा रहे– ऐसा चाहता है; लेकिन कोई बैठने को

राजी नहीं होता। हे प्रभु! ले जाओ! —ऐसा लोग कहने लगते हैं। ऐसे दुःख—दोषों पर साधक विचार करता है। कहाँ? सद्गुरु के आश्रम में।

परम पूज्य मस्तराम बाबा ने 'आत्मचिन्तनम्' नामक ग्रंथ में इसे इसप्रकार संकेत किया है—

ज्ञानमज्ञानपर्यन्तं जीवनं मृत्यु संवृतम्।
स्वप्नवत् सर्वमस्पष्टं आत्मा साक्षी सदक्षरः।।

अर्थात् हे आत्मा! तुम तो साक्षी, सत्य एवं अक्षर हो, ज्ञान एवं अज्ञान के चक्कर में क्यों पड़े हो? जन्म और मृत्यु की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो? क्योंकि व्यावहारिक ज्ञान, अज्ञान से ही घिरा हुआ है, कोई भी व्यावहारिक ज्ञान अज्ञान के बिना सम्पन्न नहीं होता। 'मैं शरीर हूँ' तथा आप मेरे हैं, मैं आपका हूँ, इस भाव (अज्ञान) से ही सम्पूर्ण व्यवहार संचालित होता है। यह अज्ञान सम्पूर्ण लोकों में फैला हुआ है। अतः तुम ज्ञानी बनने का प्रयास मत करो; क्योंकि ज्ञान और अज्ञान की अन्तरात्मा सत्, साक्षी और अक्षर तुम्हीं हो। हे आत्मा! तुम जीवन एवं मृत्यु के विषय में चिन्ता क्यों कर रहे हो? क्योंकि सम्पूर्ण शारीरिक जीवन के भीतर—बाहर, ऊपर—नीचे मृत्यु व्याप्त है अर्थात् मृत्यु ने घेर रखा है, जबकि जीवन और मृत्यु की अन्तरात्मा साक्षी, सत् एवं अक्षर तुम्हीं हो। हे आत्मा! तुम नहीं देखते कि सम्पूर्ण जाग्रत्, स्वप्न से घिरा हुआ है और इस स्वप्नवत् जगत में कोई कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकता। सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का रूप, गुण एवं स्वरूप प्रतिपल बदल रहा है, इसलिए यह ऐसा ही है, इसे कौन कह सकता है। हाँ, तुम अपने—आप से अपने—आप को सत्, साक्षी एवं अक्षर निश्चितरूप से कह सकते हो; क्योंकि तुम अजर हो, अमर हो, शाश्वत हो, सनातन हो, पुरातन हो, अव्यय हो, अविनाशी हो।

यहाँ तक नानाप्रकार के दोषरूपी बीजों का निराकरण किया गया है। अब आगे के मंत्रों में आध्यात्मिक चिन्तन की, विधि—निषेध की बात की जा रही है।

(असक्तिरनभिष्वङ्गः.....) जो गृहस्थाश्रमी साधक हैं, यदि उन्हें अध्यात्म चाहिए तो या तो वे राजा जनक की तरह गुरुजी को बुलाकर अपने घर में ही सत्संग के द्वारा माता—पिता, बाल—बच्चे, भाई—बान्धव, स्त्री—पुत्र, घर—परिवार से अनासक्त होने का प्रयत्न करें या भगवान शंकर एवं पार्वती माँ की तरह छः महीने में, कभी दो महीने में, कभी चार महीने में ही गुरुजी के आश्रम में जाकर सेवा—शुश्रूषा करते हुए अध्यात्मविद्या श्रवण करें। यदि सचमुच आप इस ब्रह्मविद्या को चाहते हैं तो जिन्हें पूर्व से हित—नातेदार तथा मित्र आदि बना रखे हैं, उनका साथ छोड़ दें। जिन्हें आप पापी समझते हैं, उन्हें आप पापी समझना छोड़ दें, तब जाकर समबुद्धि के द्वारा भगवान की नित्य उपासना हो सकती है।

(मयि चानन्ययोगेन.....) एक बात आप न भूलें कि भक्ति तो आप कर ही रहे हैं और चौबीस घण्टे ही कर रहे हैं; किन्तु बाल—बच्चे परिवार की कर रहे हैं। आप चौबीस घण्टे माता—पिता, भाई—बान्धव, बाल—बच्चे आदि के लिए जी रहे हैं। इसे ही जीव की भक्ति करना कहते हैं। ठीक इसके विपरीत यदि आप चौबीस घण्टे भगवान के लिए जीने लगते हैं तो उसी

को अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। यदि सद्गुरु आश्रम में आप रहते हैं तो नित्य भक्ति ही हो रही है। यदि घर में भी सबको भगवान का मान रहे हैं और सदा जप, तप, योग, सत्संग में लगे रहते हैं तो नित्यभक्तियोग ही वह कहा जाता है।

(विविक्तदेशसेवित्वं.....) यदि गुरु आश्रम में हैं तो वहाँ देखना है कि कौन सा पेड़ एकान्त में है, कौन सी जगह एकान्त है। गुरुजी का सिद्धान्त लेकर उस एकान्त में जायें और चिन्तन करें, ध्यान करें। गुरुजी के पास चिन्तन करें अथवा एकान्त में चिन्तन करें; लेकिन जो सद्गुरु के अनुसार रहते हैं उनके लिए तो गुरु ही एकान्त देश है अथवा उस परिसर में जहाँ भी आपको एकान्त लगे, वहाँ पर बैठकर चिन्तन करें। 'विविक्तदेशसेवित्वं'– यदि आप गृहस्थाश्रम में हैं तो वहाँ भी एकान्त देश मिल जायेगा– घर में हों तो एकान्त में, खेत पर या बगीचे में नित्य चिन्तन करें। 'अरतिर्जनसंसदि'– लोगों के बीच न रहें। यदि अध्यात्म चाहिए तो गृहस्थाश्रम में समय से खाने घर आ गये, फिर खेत पर चले गये, कुएँ पर चले गये, एकान्त बगीचे में चले गये और वहाँ जाकर चिन्तन किया भगवान का और जब सद्गुरु कह दें तो संन्यास ले लें। वहाँ पर क्या चिन्तन करना? हाँ यही कि अध्यात्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधियज्ञ क्या है, अधिदैव क्या है, अधिपुरुष क्या है, माया क्या है, जीव क्या है, ब्रह्म क्या है इत्यादि इत्यादि। 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' और पता चल जाय कि सर्वत्र भगवान है तो उस तत्त्व दृष्टि से सबमें भगवान देखना।

दुबई में रहनेवाली माण्डवी नामक बालिका को महाराज देखता है। उसको तेरह वर्ष की अवस्था में, उसके न चाहते हुए भी, उसके माता–पिता (रेखा माई एवं डा० कंचनजी) के प्रयास से सत्संग प्राप्त हुआ। उस बालिका ने अपने सद्गुरु से बारह दिन तक सत्संग लाभ लिया। पाश्चात्य संस्कृति का भूत उसके तन, मन, वचन, हृदय को पूरी तरह से पकड़ लिया था। वह सुबह जगने से लेकर रात दस–ग्यारह बजे तक सैकड़ों प्रश्न करती और उसके सद्गुरु उसका समाधान करते। जब उसका सिद्धान्त काटा जाता तो बहुत करुण हृदय से रोती और उसके माता–पिता भी रोने लगते। उसके सद्गुरु का भी हृदय भर आता था लेकिन तो भी उन्होंने उसका पीछा नहीं छोड़ा। सूअर–कुत्ते और गाय के साथ व्यवहार अलग–अलग होना चाहिए; यह समझाकर माना। श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् निर्गुण–निराकार परमात्मा ही हैं, ऐसा बताकर ही माना इत्यादि–इत्यादि। अति कुशाग्र बुद्धिवाली माण्डवी ब्रह्म को, भगवत् व्यवहार को, सनातन ब्रह्म को और सगुण ब्रह्म को श्रद्धा और विश्वास के साथ स्वीकार करती हुई, बारहवें दिन अपने सद्गुरु को भगवान के रूप में देखते हुए शरणागत हो गयी।

संत और सद्गुरु के द्वारा नित्य सत्संग प्राप्त होने पर नित्य भक्ति प्राप्त हो ही जाती है। एक भक्त ने महाराज के पास आकर रोते हुए कहा– आपने पूर्णानन्द को गेरूवस्त्र दे दिया, मैं तो उनसे पहले का आया हुआ हूँ। मेरे साथ ऐसा अन्याय क्यों हो रहा है? महाराज ने कहा– पूर्णानन्द का घर से सम्बन्ध नहीं है, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, चार–पाँच साल से तो यहीं अखण्ड साधना कर रहे हैं। वे कर्म से, स्वभाव से और व्यवहार से संत तो बचपन से हैं। आप तो अभी

भी घर जाते हैं न? उसने कहा– बेटे के पास जाता हूँ, धर्मपत्नी के पास नहीं। बेटा घर नहीं है क्या? महाराज ने कहा। कहाँ तो प्रदेश छोड़ना पड़ता है संन्यास के लिए और आप कहते हैं कि गेरूवस्त्र क्यों नहीं दिया? ऐसा सुनकर तो लाज को भी लाज आ जायेगी। गेरूवस्त्र पहनकर ठगी करो, पैसा कमाओ, पूजा पाओ, बस, ऐसा चाहते हो क्या?

जिसमें बारह आना संसार की कामना है और चार आना भगवान की कामना है उसको थोड़ा विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। सदा ही अध्यात्मविद्या का एकान्त में रहते हुए श्रवण, मनन, चिन्तन करना होगा। समाज से कुशलता से छिपकर चिन्तन करनेवाला भगवान को अतिशय प्रिय है। एकमात्र प्रसाद पाने के लिए घर आये और एकान्त में रहकर सदा सबको ही भगवान समझने का प्रयत्न करे। माता–पिता, भाई–बान्धव, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे आदि प्राणिपदार्थ सब तत्त्वदृष्टि से ब्रह्म ही हैं– ऐसा चिन्तन करे। एकान्त में भगवद्भाव का अभ्यास करना और लोगों के बीच में आने के अवसर पर तत्त्वदृष्टि से सबमें भगवान को देखना, (एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं. .....) यही ज्ञानरूपी बीज है। इस हृदयरूपी खेत में प्रथमावस्था में भगवान को नहीं बल्कि भगवानभावरूपी बीज को बोया जाता है और संन्यासाश्रमी साधक के द्वारा 'सर्वाहमस्मि' (सर्वत्र सर्व रूपों में मैं ही हूँ) का बीज बोया जाता है। चतुर किसान खेत में महँगी फसल बोने के लिए पहले बहुत सस्ती फसल (जो विशेष खादयुक्त है, जैसे सन) बोते हैं और उसे बड़ा करके हल से पुनः मिट्टी में दबा देते हैं, उस खेत में पानी भरकर उसे सड़ा देते हैं, उसके उपरान्त उसमें मुख्य (महँगी) फसल बो देते हैं। ठीक उसीप्रकार तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र बनाने के लिए अहिंसा, अमानता, अदम्भता, शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि बीज बोकर पवित्र बनावे, पुनः आध्यात्मिक ज्ञानरूपी बीज (अहं ब्रह्मास्मि) को बो दे। यदि बीज डालने नहीं आ रहा है तो सद्गुरु से प्रार्थना करे, वह आपके आँखों से, कानों से, मन से, बुद्धि से, बीज डाल देगा। फिर तो ऐसा हो जायेगा कि आपकी आँख ब्रह्म के सिवा कुछ देख ही नहीं पायेगी, कान ब्रह्म के सिवा कुछ सुन ही नहीं पायेगा, वाणी ब्रह्म के सिवा कुछ बोल ही नहीं पायेगी, इत्यादि इत्यादि।

सद्गुरु के पास रहकर साधक जब तन, मन, वचन, इन्द्रियों को संयमित करता है तो क्या फल मिलता है, यह भी जानना चाहिए। जब अध्यात्मज्ञान द्वारा आप अहर्निश चिन्तन करते हैं तो पृथ्वीतत्त्व नामक देवता भी चिन्तनशील हो जाता है और आध्यात्मिक बन जाता है तथा वह आपका ऋणी हो जाता है। उसीप्रकार जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि देवता भी आध्यात्मिक होकर आपके ऋणी हो जाते हैं। उसके उपरान्त जब आप आत्मज्ञानी होते हैं तो आपके कारण से ये पंचतत्त्व आत्मज्ञानरूप हो जाते हैं। आपका ब्रह्मज्ञान व्यापक हो जाता है तो उनको भी अपने अधिकार में ले लेता है। उसीप्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों और इन्द्रियों के देवताओं को भी आत्मज्ञानरूप हुआ जानना चाहिए। अब ये आत्मज्ञानरूप हुए सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होकर आपको क्या दे देते हैं? हाँ यही कि वे प्रसन्न होकर अपने–अपने दिव्यास्त्रों को, शक्ति के रूप में देते हैं। सूक्ष्मरूप में पृथ्व्यास्त्र, वरुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, नभास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि दे देते हैं। इसी कारण से ये आत्मज्ञानी के पास रहते ही हैं, जिनका भले ही वह प्रयोग न करे। ये दिव्यास्त्र तो वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य आदि ऋषियों के पास थे ही, जिन्हें उन्होंने प्रभु श्रीराम

को अवसर आने पर दे दिया था। जबतक आप इस आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक कोई भी ज्ञान, अज्ञान ही कहा जायेगा। ब्रह्मकामना ज्ञान है और क्षुद्रकामना, पाशविककामना अज्ञान है।

यहाँ तक स्पष्ट हो गया कि प्रकृति और प्रकृति के पुरुष आप ही होते हैं। आपकी शक्ति–सामर्थ्य की बात भगवान नारायण ने कह दी। अब यदि आप बीज नहीं बो सकते तो गुरुजी के पास जायें। सारे के सारे किसान सेवकों से हल चलवाकर बीज डलवाते हैं, उनकी शक्ति बीज बोने की नहीं है, बीज है उनके पास लेकिन बो नहीं सकते। उसीप्रकार पूर्वजन्म का बीज आपके पास है लेकिन बो नहीं सकते तो सद्गुरु आपके हृदय क्षेत्र में बीज बो देगा। आप केवल जाकर वहाँ जप–तप करें, वह युक्ति से अवसर पाकर बीज बोता रहेगा।

एक साधक ने कहा कि यह कौतूहल का विषय है कि घर पर विशेष भजन करता था, यहाँ तो उतना भी भजन नहीं कर पा रहा हूँ तो भी शान्ति है। महाराज ने कहा– जिसके लिए भजन किया जाता है वह साध्य ही यहाँ मिल गया है न! गीताजी के लिये भजन किया जाता है, गीताजी यहाँ मिल रही हैं, घोर जप–तप करके लोग इस गीताजी को सुनते हैं। श्रीराम प्रभु ने सर्वप्रथम घोर जप–तप करके गुरुदेव वसिष्ठ द्वारा ब्रह्मविद्या को सुना, उसी ब्रह्मविद्या का नाम पड़ा 'योगवासिष्ठ'। उस समय तो भजन करते नहीं थे, वे तो बस सुबह–शाम थोड़ी संध्या में बैठ लेते थे, जिसका वर्णन योगवासिष्ठ में मिलता है। पूरे भारतवर्ष का चाहे जितने दिन में उन्होंने भ्रमण किया हो, सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान किया हो घोर तप के साथ; लेकिन सद्गुरु के द्वारा जब ब्रह्मविद्या पा गये तो जाना कि सबकुछ पा लिया। किसके लिये आप भजन करते हैं? क्या आपका भजन भगवान को देगा क्योंकि वह तो क्रियासाध्य नहीं है, कृपासाध्य है। अतः पहले आप क्षेत्र को तो जानें, अपनी प्रकृति को तो भलीभाँति पहचानें। अनुपातिक गणित कर लें कि कितने अनुपात में काम है, कितना क्रोध है, कितना लोभ है। चौबीस घण्टे में यदि छः घण्टे आपको कामिनी याद आ रही है, वासना याद आ रही है तो उसका कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि अठारह घण्टे आपको राम याद आ रहा है। वैसी अवस्था में संन्यास ले लेना, जबकि शास्त्रकार कहते हैं कि चार आना भी यदि राम याद आने लगे तो संन्यास ले लेना। तो अपनी प्रकृति को देखें। संध्या में, ध्यान में बैठने से चित्त निर्मल हो जाता है, जब चित्त निर्मल हो जाता है तो बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है, गीताजी सुनने की योग्यता आ जाती है। योग्यता भी तो आपमें नहीं है गीताजी सुनने की! आप कहते हैं– 'महाभारत में लिखा है कि एक बार कोई इसे पढ़ेगा तो जन्म–जन्म के पाप समाप्त हो जायेंगे, लगता है उत्साहित करने के लिए व्यासजी ने लिख दिया है।' ऐसी तो आपकी बुद्धि दूषित है, मैली है। जिसको व्यास जैसे ऋषि की बात पर विश्वास नहीं हो रहा है, जिनके प्रति बहुत आदरभाव है आपके मन में; तो किसी संत की बात पर कैसे विश्वास होगा? इसलिए पहले आपको गीता सुनायी जा रही है। महाराज गीताजी की बात कर रहा है, अपनी बात तो कर नहीं रहा है। पहले व्यासजी की बात पर विश्वास हो तब तो भगवान की बात पर विश्वास होगा। संत या सद्गुरु के संसर्ग के बिना बुद्धि में भ्रम उत्पन्न

हो जाता है। अतः प्रकृति एवं पुरुष दोनों को जानना चाहिए, उनकी शक्ति को, शक्ति कैसे प्रकट होती है उसके उपाय को भी जानना चाहिए।

महात्मा अर्जुन अभी मौन हैं, वे कुछ बोल नहीं रहे हैं, कौतूहल से देख रहे हैं, आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं, गम्भीर चिंतन में होकर भगवान नारायण को देख रहे हैं। मानो वे कह रहे हों– हे माधव! यह तो आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है!!! साधक साधना करता है और उसमें रहनेवाले अग्नि देवता को ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उसके शरीर में रहनेवाले वायु, जल और पृथ्वी आदि देवताओं को ज्ञान हो जाता है, वहाँ के सूर्य–चन्द्रमा मुक्त हो जाते हैं; यह तो आश्चर्य है! बाहर में कोई बालक ब्रह्मज्ञानी होता है तो उसके माता–पिता उसी समय मुक्त हो जाते हैं, तत्काल फल मिल जाता है– यह तो बड़ा आश्चर्य है! आपने आज विलक्षण बात कह दी कि तपस्या करेगा बालक, मुक्त होंगे माता–पिता! कोई कहता है– माता का ऋण बाकी है, पिता का ऋण बाकी है....। कैसा ऋण बाकी है, जन्माये जाने के कारण से? लोग कहते हैं कि एक पुत्री तुम जन्मा दो तो माँ के ऋण से मुक्त हो जाओगे और पुत्र जन्मा दिया तो पिता के ऋण से मुक्त हो जाओगे। मूर्खराजों का एक समाज होता है, ऐसा समाज मूर्खों का है जिसमें कहते हैं कि माता–पिता को पितरलोक में भेज देनेवाला पुत्र, माता और पिता के ऋण से मुक्त हो जाता है, जलदान दे दिया बस मुक्त हो गया। कैसी विडम्बना है यह।

नाहन में महाराज ने एक ऐसी माँ को देखा, जिसने एक संत से गुरुमंत्र लिया था। आज से पाँच साल पहले उसे चाहे जहाँ भी ले जाया गया किन्तु किसी से उसे संतुष्टि नहीं हुई; उस संत को देखा और संतुष्टि हो गयी। जब उसने गुरुमंत्र लिया तो बहुत से लोग उसके पास बैठे हुए थे। उस माँ ने कहा– आओ, इधर आओ! आओ, आओ बेटे! इधर आओ! अपने बेटे को बुलाया और कहा कि प्रणाम करो! वह माँ रो रही थी और कह रही थी कि प्रणाम करो, मेरे को प्रणाम करो! बेटे ने साष्टांग दण्डवत् किया। उसने बेटे को उठाया, भरपेट अंक लगाया, माथे को सूँघा, चुम्बन लिया और कहा– जाओ! मैं अपने ऋण से तुमको मुक्त करती हूँ। आज से तेरा–मेरा रिश्ता समाप्त होता है। तूने मुझे गुरु दे दिया, पुत्र वही होता है जो माता–पिता को सद्गुरु दे दे, जाओ तुम्हारा कल्याण होगा! अभी उस माँ ने शरीर छोड़ा, चलते–फिरते मस्ती के साथ जप करते हुए। देवऋण भी है, मातृऋण भी है, पितृऋण भी है, ऋषिऋण भी है, किन्तु एक ब्रह्म को प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण ऋणों से पुरुष मुक्त हो जाता है। यहाँ तक भगवान नारायण ने बहुत कुछ कह दिया।

प्रभु मानो कह रहे हैं– हे पार्थ! तुम क्या देख रहे हो, पितरों को पुण्य का दान देना चाहते हो? ब्रह्मज्ञान जैसा तो सृष्टि में कुछ है ही नहीं। तुम्हारे पितर ब्रह्मलोक को चले जायेंगे, यदि इस दिव्य ज्ञान को तूने धारण कर लिया तो।

सुन रहे हैं राजन्!

बोलो संजय! बोलो–बोलो, बड़े आश्चर्य से बोल रहे हो!

संजय ने कहा कि ये तो आश्चर्य हो गया! हे राजन्! आपके सारे के सारे पूर्वज महात्मा अर्जुन को ब्रह्मज्ञान हो जाने के उपरांत पितरलोक से आगे बढ़ जायेंगे। पितरलोक के उपरांत देवलोक आता है, देवलोक के बाद सिद्धलोक आता है, सिद्धलोक के बाद शिवलोक आता है, शिवलोक के बाद ब्रह्मालोक आता है, ब्रह्मालोक के बाद विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ लोक आता है। यह तो आश्चर्य है राजन्!

धृतराष्ट्र ने कहा– बड़ा संतोष हुआ, बड़ा संतोष हुआ संजय! बड़ा संतोष हुआ। यदि माधव ऐसा कह रहे हैं तो आज मैं कृतकृत्य हो गया। अब मेरा मूर्ख दुर्योधन मारा जाये, दुःशासन जो उसी का अनुगमन कर रहा है मारा जाए, ये सारे लोग धराशायी हो जायें तो भी अब मुझे चिंता नहीं है। आज मैं कृतार्थ हो गया। अच्छा! देखो–देखो, मेरा मूर्खपुत्र दुर्योधन इस समय क्या कर रहा है और थोड़ा देखो लोगों की मुद्राओं को कि लोग क्या कह रहे हैं, क्या देख रहे हैं?

आश्चर्य जैसे लोग खड़े हैं, कुछ कर नहीं रहे हैं राजन्!

तो मन की बात बताओ! दिव्य दृष्टि से क्या तुम मन की बात भी जान रहे हो? धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा– जी!

तो थोड़ी अपनी दृष्टि से पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि तथा मेरे महारथी वीरों के मन में झाँक कर देखो कि वे मन में क्या कह रहे हैं? धृतराष्ट्र ने पूछा।

हाँ, कुछ आश्चर्यचकित होकर प्रसन्न हो गये हैं राजन्! और कुछ कह रहे हैं– बकवास है, यह सब बकवास है। परन्तु हे अन्नदाता! बकवास है– ऐसा जो कह रहे हैं, उनको भी ये साक्षात् नारायण मुक्ति देंगे। एक महात्मा अर्जुन के कारण से सबको मुक्ति मिल जायेगी।

इस समय अर्जुन को देखो कि उसकी स्थिति क्या है? धृतराष्ट्र ने कौतूहलपूर्ण मुद्रा में होकर पूछा।

संजय ने कहा– ठीक है राजन् थोड़ी आप प्रतीक्षा करें।

इधर भक्त अर्जुन की स्थिति देखते बन रही है। वे कह रहे हैं कि आश्चर्य है माधव! आश्चर्य है! हे माधव! आश्चर्य है! हे माधव! आपने कहा था कि प्रकृति को कहूँगा, पुरुष को कहूँगा और प्रकृति के बीज को, प्रकृति की सामर्थ्य को, पुरुष की सामर्थ्य को और उस ब्रह्म को, ब्रह्म के स्वरूप को, ब्रह्म की सत्ता–सामर्थ्य को कहूँगा; जिसे कि पहले आपने कहा है, दिखाया भी है। तो क्या आप फिर कहेंगे?

प्रभु ने कहा– कहूँगा।

भगवान नारायण ने अबके पूर्व बहुत से सिद्धांतों से (ज्ञान, ध्यान, विज्ञान, कर्म, धर्म एवं

राजयोग के सिद्धांतों से) निर्गुण–निराकार ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया है लेकिन लगता है कि उस स्वरूप को देखकर महात्मा अर्जुन को अभी संतुष्टि नहीं हुई है। भगवान ने कुछ छिपा रखा है– ऐसा उन्हें लग रहा है। वे सोच रहे हैं कि मैं सुनने का अधिकारी नहीं हूँ, तभी तो ये अभी कुछ मुझसे छिपा रहे हैं। लगता है विश्वरूप को देखकर मैं डर गया था, इसी से मुझे अधिकारी बनाते हुए धीरे–धीरे ये दिव्य ज्ञान को प्रकाशित कर रहे हैं।

ऐसा सोचते हुए महात्मा अर्जुन हाथ जोड़े खड़े हैं। इधर प्रभु सोच रहे हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१२॥

हे पार्थ! अब मैं उस ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तुम्हें दे रहा हूँ, जिसको जान लेने के उपरांत तुम अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाओगे। वह ब्रह्म अनादि होने से न सत् कहा जाता है न असत् कहा जाता है।

अबतक सत्त्व में स्थित कराया इसको, लेकिन जो न सत् है, न असत् है, जिसे न सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं, ऐसे निर्गुण–निराकार ब्रह्म की स्थापना इसके पास मैं कैसे करूँ! ऐसा सोचकर एक क्षण के लिये भगवान भीतर में डूब जाते हैं, गहरे में चले जाते हैं। नेत्र अंतरिक्ष में हैं लेकिन वे अपने–आप में हैं, सोच रहे हैं कि वह कौन सा सुगम उपाय है, कौन सा सुगम सिद्धांत है, जिससे इसके सामने अपने निर्गुण–निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करूँ और इसको विश्वास हो जाये। एक समय अर्जुन धरती को देखते थे, अंतरिक्ष को देखते थे (पूर्व के अध्यायों में) तो भगवान अर्जुन की तरफ देखते थे; किन्तु अब यहाँ तक पहुँचने में भगवान गम्भीर हो गये हैं, वे अंतरिक्ष की तरफ देख रहे हैं तो महात्मा अर्जुन उनकी तरफ देख रहे हैं। यही दोनों की मुद्रा है। तबतक पलभर में युक्ति प्रकट हुई और प्रभु ने कहना प्रारम्भ किया–

(ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि.....) सत्, असत् एवं सत्त्व–ये तीन शब्द तो विख्यात हैं ही; जो सत् है वही सत्कर्म है, जो सत्कर्म है वही सत् है। स्वर्गादि लोकों को देनेवाले सत्कर्म ही सत् हैं, नरकादि लोकों को देनेवाले कर्म ही असत् हैं। इसप्रकार ये सत् और असत् दो पद हैं। उसके उपरांत एक सत्त्व पद है, वही दिव्य पद है अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभूति ही सत्त्व है, इसी सत्त्व में स्थित होना है। सभी प्राणिपदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर स्थिर रहते हुए ही अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, इसलिए उन्हें सत् भी कहते हैं और असत् भी। अज्ञानी, जीवन को सत् कहते हैं और मृत्यु को असत्। वे कहते हैं कि जन्म होता है शरीर का, इसलिए सत् है; किन्तु वह मर गया तो असत् है; परन्तु निर्गुण–निराकार ब्रह्म को अनादि अनन्त होने के कारण से न सत् कहा जाता है, न असत्। सत्, असत् एवं सत्त्व– ये तीन शब्द विख्यात हैं। सत्कर्म सत् है, दुष्कर्म असत् है; किन्तु सत्त्व (मैं आत्मा हूँ) न सत् है न असत् है। स्वर्ग सत् है, नरक असत् है; किन्तु कैवल्यपद न सत् है, न असत् है। मनुष्य सत् है, किन्तु देवता, यक्ष–राक्षस, भूत–प्रेत, पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे आदि असत् हैं; परन्तु ज्ञानीसंत न सत् है न असत् है, बल्कि वह तो

निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है। गीता अध्याय–२ में कहा है– 'त्रैगुण्यविषया वेदा..... निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो.....' अर्थात् तुम सत्त्व में स्थित हो जाओ, 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभूति ही सत्त्व में स्थित होना है। यद्यपि यहाँ 'सत्त्व' पद नहीं आया है तो भी इसे लेना चाहिए। अभ्यासकाल में कोई साधक सत्त्व में स्थित रहता है, किन्तु जब वह अपने स्वरूप में सम्पूर्णता से स्थित हो ही गया तो न सत्, न असत् और न सत्त्व ही कहा जायेगा, न अंधकार न प्रकाश ही कहा जायेगा, न अमृत न विष ही कहा जायेगा; लेकिन फिर भी उसकी अभिव्यक्ति होगी, वह दिखाई देगा, उसका कहा हुआ उत्तम साधकों को सुनायी पड़ेगा, उसका स्पर्श होगा। ऐसा नहीं है कि वह कहने में न आवे तो निरर्थक हो जायेगा, बल्कि वह तो ब्रह्म ही कहा जायेगा। अब भगवान उस निर्गुण–निराकार ब्रह्म के स्वरूप एवं स्थिति को बता रहे हैं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१७॥

हे पार्थ! वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला तथा सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता और निर्गुण भी है तथा सम्पूर्ण भूतों के भीतर–बाहर रहते हुए, उन सबका धारण–पोषण करनेवाला एवं ज्योतियों का ज्योति, अविद्या से परे, ज्ञान, ज्ञेय तथा सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर–हृदय में बैठा हुआ ज्ञान के द्वारा जानने में आने योग्य भी है। वह अविभक्त होते हुए भी विभक्त सा प्रतीत होता है, वह जानने योग्य ब्रह्म विष्णुरूप से धारण–पोषण करनेवाला, शिवरूप से संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूप से उत्पन्न करनेवाला है। इतना ही नहीं, वह ज्योतियों का भी ज्योति तथा माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह सबके हृदय में वास करनेवाला ब्रह्म बोधस्वरूप, जानने योग्य तथा तत्त्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य है।

बहुधा लोग ऐसा जानते हैं कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म कुछ करता–धरता ही नहीं है अर्थात् वह तो शून्य है। जिस शून्यवाद का बौद्धों ने खूब प्रचार–प्रसार किया, उसी का खण्डन भगवान ने उपरोक्त मंत्रों में पहले ही कर दिया है। एक साधक ने महाराज से कहा– निर्गुण–निराकार ब्रह्म में न करुणा है, न दया है, इसलिए मैं उसकी उपासना क्यों करूँ? भगवती में, शंकर में,

विष्णु भगवान में दया, करुणा है, ये सब वरदान भी देते हैं; इसलिए हम इन्हीं की उपासना क्यों न करें? अरे! अर्थ का अनर्थ क्यों कर रहे हो। भगवान मना तो नहीं कर रहे हैं उपासना करने को, वे तो भ्रम का निवारण कर रहे हैं। रही बात दया की तो अहैतुकी दया तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही होती है। सम्पूर्ण देवी–देवता, मनुष्य एवं प्राणियों में जो दया दिखाई पड़ रही है, वह उसी के दया–करुणा का मात्र एक अंश है। वही दया का सागर, कृपा एवं करुणा का सागर भक्तों एवं संतों पर कृपा करने के लिए चौबीस अवतारों के रूप में प्रकट होता है।

शून्यवादियों और तथाकथित निर्गुण–निराकारियों का उत्तर अब भगवान इन मंत्रों द्वारा दे रहे हैं। वे कहते हैं कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म में तो दया होती ही नहीं, करुणा होती ही नहीं, वह तो सम्पूर्ण अंगों से हीन है; अतः उसकी उपासना कोई कैसे कर सकता है और क्यों करेगा? लेकिन भगवान के अनुसार तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही दया, करुणा एवं कृपा होती है; किसी अन्य में तो होती ही नहीं। जब वह निर्गुण–निराकार सगुण बनता है तो आम बुद्धि से भले निर्णय किया जाये कि वह सगुण है लेकिन वह सगुण नहीं कहा जायेगा क्योंकि निर्गुणता उसमें पूरी तरह से प्रतिष्ठित है। अतः भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द तथा प्रभु श्रीराम को निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही कहा जायेगा। वे सगुण तो मात्र देखने में आते हैं, इसलिए सगुण ब्रह्म भी कहे जाते हैं। अतः वे न सत् कहे जायेंगे, न असत् कहे जायेंगे बल्कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही कहे जायेंगे। निर्गुण–निराकार ब्रह्म वह है जो अपने संकल्प से प्रकट होता है। अतः सगुण होने पर भी निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है। इसलिए सगुण और निर्गुण दोनों ही समझकर उनकी उपासना करनी चाहिए। गुरुजनों से भी उन्हें ही जानना चाहिए। सद्गुरु वही है जो निर्गुण–निराकार ब्रह्म और सगुण–साकार ब्रह्म तथा प्रकृति और पुरुष के स्वरूप को पृथक्–पृथक् करके शिष्य के सामने प्रस्तुत कर दे। निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही दया एवं करुणा है, उनलोगों में जो दया है वह तो दया कही ही नहीं जायेगी; क्योंकि उनकी दया एकमात्र पुत्र, परिवार के प्रति ही है, भाई–बान्धवों एवं स्वजनों के प्रति ही है, लेकिन संत तथा भगवान जो दोनों ही सगुण और निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं, वे तो सम्पूर्ण जगत के प्रति दयावान होते हैं। भगवान ने तो स्पष्ट कह दिया है– 'यदा यदा हि धर्मस्य.....।' आत्मज्ञानी संत को भी आप देखें तो उसका भी व्यवहार ब्रह्मव्यवहार ही होता है। उसके पास चाहे जो भी आयें, चाहे जिसके भी शिष्य हों, चाहे जिस सम्प्रदाय के हों; यदि उसके पास आत्मजिज्ञासु होते हैं तो वह उन्हें अपने शिष्य की तरह ही आत्मज्ञान का उपदेश करता है। उसकी दृष्टि में अपना शिष्य एवं दूसरे का शिष्य– ये दो भाव किसी काल में होते ही नहीं। संतरूप में यह व्यष्टि अवतार भी जगत के सम्पूर्ण आत्मजिज्ञासुओं के उद्धार के लिए ही होता है। भगवान ने स्वयं कहा है– यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, लेकिन भक्तों एवं संतों पर कृपा करने के लिए एक दिव्य रूप लेकर प्रकट होता हूँ जो जरा और मरण से रहित होता है; भले मूर्ख उसे जन्मने और मरनेवाला मानते रहें। आजतक वह शरीर देखने में तो मरा लेकिन भक्तों के लिए नहीं मरा, इसीलिए वे उसके सिद्धांत एवं विग्रह दोनों की पूजा करते हैं। उसीप्रकार संत भी सिद्धांत एवं विग्रह दोनों ही के रूप में उपासनीय होता है। किसी संत को उसके ग्रंथ से भी पहचाना जाता है; क्योंकि वह शरीर एवं ग्रंथ (सिद्धांत) दोनों होता है।

उसीप्रकार निर्गुण–निराकार ब्रह्म सगुण विग्रह के द्वारा भी उतना ही पूजनीय है, जितना कि गीताजी के रूप में अर्थात् सिद्धांत के रूप में। भगवान जितना गीताजी के रूप में उपासनीय हैं उतना ही बिहारीजी के रूप में उपासनीय हैं अर्थात् 'जगन्नाथ भगवान की उपासना, द्वारिकाधीशजी की उपासना' तथा 'गीताजी की उपासना'– दोनों एक जैसी मानी जाती हैं। गीताजी सिद्धांत है निर्गुण–निराकार ब्रह्म का, अतः वह सगुण–साकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द के रूप में भी हैं। अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ही श्रीकृष्ण बना, पुनः श्रीकृष्ण से गीताजी बन गया। इसीलिए तो वे कह रहे हैं कि मैं सब ओर से हाथ–पैरवाला हूँ, सब ओर से आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचावाला हूँ, इसलिए कि भक्तों की सुरक्षा तो मुझे सब ओर से करनी है न! इस न्याय से जो आम लोगों में दया है वह ब्रह्म की सम्पूर्ण दया में से एक अंश ही है। भगवान ने तो दया ही की है उस समय जो कि युद्ध का अवसर लाकर खड़ा किया। ऐसा युद्ध जिस युद्ध की गाथा गाकर भक्त मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। एकमात्र महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता आदि का पाठ करेंगे और मुक्त हो जायेंगे; जिसमें दुर्योधन की भी गाथा गायी गई है, दुःशासन की भी गाथा गायी गई है, कर्ण, पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा आदि की भी गाथा गायी गई है, बर्बरीक तथा घटोत्कच की भी गाथा गायी गई है। ये सभी महारथी भगवान की छत्रछाया में आ गये थे, इसलिए उन सबकी गाथा बड़े प्रेम से गायी जाती है। आपसब का इतिहास जानना चाहते हैं, अर्थात् असुरों का भी आप इतिहास पढ़ना चाहते हैं तथा पढ़ते भी हैं लेकिन आपमें असुरता नहीं आती जबकि संतों–भक्तों एवं देवी–देवताओं की गाथा पढ़ते हैं तो आपमें भक्ति एवं शक्ति दोनों आती है। आप उपन्यास उठाकर पढ़ते हैं, नायक एवं नायिका की गाथा गाते हैं तो आपमें काम आ जाता है लेकिन महाभारत में कामिनियों की गाथा भी गायी गई है, उसमें उर्वशी और मेनका की भी गाथा गायी गई है, शृंगाररस की स्थापना भी उसमें की गई है, शृंगारिक गाथाएँ भी उसमें प्रचुर मात्रा में गायी गई है; किन्तु उसके स्वाध्याय करने से शृंगाररस की व्यथा ही मिट जाती है, अतः आपमें काम प्रकट नहीं होता। यह ऐसा युद्ध है जिसकी गाथा गाने से मुक्ति मिल जाती है। यही तो भगवान नारायण की महति कृपा है।

कुछ तो ऐसे नारकीय प्राणी हैं, जिनको कोई जानता ही नहीं। आप अपने पितामह के चरित्र को भलीभाँति नहीं जानते, बस माता–पिता के चरित्र को जानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आपके उन दादा–परदादा से वे असुर ही बड़े सौभाग्यशाली हैं। भले ही वे संसार में नहीं हैं लेकिन दिव्य जीवितभूमि में तो आ ही गये हैं। इसी से तो जबतक भगवान की गाथा गायी जायेगी, तबतक प्रभु के साथ उनकी भी गाथा गाई जायेगी। यह प्रभु की दया का ही तो परिणाम है। इस न्याय से आपकी कीर्ति न असत् ही है न सत् ही है, अर्थात् किसी में तो नहीं है। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगों की कोई गाथा नहीं होती। जहाँ राम हैं वहाँ रावण है, जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहाँ अर्जुन हैं, दुर्योधन, शकुनि, कर्ण आदि भी हैं। इसप्रकार उस निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही तो दया है। घोर तपस्या किया है इनलोगों ने, उस घोर तपस्या का मान करने के लिए ही ब्रह्म में दया आ गयी है। उसी दया के चलते उसने युद्ध के बहाने सबको एकसाथ स्वर्ग भेज दिया। दोनों अवतारों के दो ढंग हुए स्वर्ग देने के– प्रभु श्रीराम ने भी अपनी प्रजा को स्वर्ग

दिया, भगवान श्रीकृष्ण ने भी स्वर्ग दिया। ये दोनों महाकृपा के सागर हैं, महादया के सागर हैं, महाकरुणा के सागर हैं। एक (प्रभु श्रीराम) ने कहा– जिसे मेरे धाम को जाना है वह मेरे साथ चले! तो सारे अयोध्या के लोग चल पड़े, वहाँ के पशु–पक्षी भी भगवान श्रीराम को पहचानते थे, वे प्रभु की भाषा पहचानते थे, जैसे सिद्ध महात्मा वनप्रदेश में रहते हैं तो उनकी भाषा को वहाँ के सब प्राणी पहचानते हैं, ऐसा तो आज भी देखा ही जाता है। भगवान श्रीराम ने कहा– आयें एकसाथ डुबकी लगायें। सबने प्रभु की आज्ञा मान ली और एकसाथ डुबकी लगायी। उस समय वहाँ का अंतरिक्ष दिव्य विमानों से खचाखच भरा हुआ था। वे सारे के सारे अपने दिव्य शरीर के द्वारा विमान पर बैठे और साकेत धाम चले गये। वह महादया का सागर सबको साथ लेकर चला गया। एक दूसरा दया का सागर है, जो कृष्ण कहलाता है, द्वारिकाधीश कहलाता है, वासुदेव कहलाता है। उसने युद्ध के माध्यम से सम्पूर्ण रथी, महारथियों को अर्थात् योद्धाओं को एकसाथ स्वर्ग भेज दिया।

आपके पास तो स्वर्ग भी उपस्थित नहीं है। इस न्याय से दया तो उस निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म में ही है लेकिन हाँ, आप उसे महादया का सागर क्यों मानेंगे, क्योंकि आपके लिये तो वह कभी प्रकट हुआ ही नहीं। फिर भी कोई बात नहीं यह विषय तो आपका और उस ब्रह्म के बीच का है कि क्यों उसने आपको निर्गुणी (शून्यवादी) बना दिया है।

'सर्वतः पाणिपादं'– महात्मा अर्जुन को भीतर ही भीतर एक भय सता रहा है कि ये सारे के सारे छली–कपटी सामने हैं, कहीं आगे से वार कर देंगे तो? प्रभु कहते हैं कि मैं आगे भी हूँ। अर्जुन कहते हैं कि कहीं पीछे से वार कर देंगे तो? इसी का तो उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं– 'सर्वतः पाणिपादं.....' अर्थात् मैं पीछे भी हूँ। अर्जुन कह रहे हैं– कहीं ऊपर से वार कर देंगे तो? भगवान कहते हैं– मैं ऊपर भी हूँ। अर्जुन के पूछने पर कि नीचे से वार कर देंगे तो? भगवान कहते हैं– मैं नीचे भी हूँ। अर्जुन का कहना है कि तंत्र के द्वारा इन्होंने कहीं भीतर से वार कर दिया तो? भगवान कहते हैं– मैं भीतर भी हूँ। अरे! तुम क्यों डरते हो? भगवान कहते हैं– मैं कहाँ नहीं हूँ बल्कि सर्वतः, सर्वतः, सर्वतः अर्थात् सब ओर से विद्यमान हूँ।

भयवृत्ति आकाश तत्त्व तक पीछा नहीं छोड़ती। जहाँ आकाश तत्त्व समाप्त होता है, वहीं से ॐ प्रकट होता है, अर्थात् ॐ से ही आकाश प्रकट होता है। अतः ॐ और आकाश दोनों ही जहाँ एक–दूसरे को स्पर्श कर रहे हैं, वहाँ तक भयवृत्ति का वास है। पृथ्वी जल से, जल अग्नि से, अग्नि वायु से, वायु आकाश से, आकाश ॐ से और ॐ निर्गुण निराकार ब्रह्म से प्रकट हो रहा है। अतः महात्मा अर्जुन के भीतर भयवृत्ति के कारण से उपरोक्त कल्पना उठ खड़ी हुई है। वे सोच रहे हैं कि छल से ही तो इनलोगों ने जूए में सबकुछ छीन लिया था। ये यहाँ भी तो उसी छल का प्रयोग कर सकते हैं?

अर्जुन ने पूरी तरह से आत्मरूप से विश्वरूप को देख लिया था लेकिन उसे आत्मसात् नहीं कर पाये और भयभीत हो गये। उन्होंने कहा– हे प्रभु! हे दयानिधे! जल्दी करें। हे कृपानिधे! जल्दी करें! अपने इस रूप को समेट लें! उनके द्वारा ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि भगवान

ने भी जल्दी की और अपने दिव्य रूप को समेट लिया। अतः निर्गुण निराकार स्वरूप का भलीभाँति दर्शन नहीं हो पाया। जैसे आत्मज्ञानी देखता है विश्वरूप को वैसे ही भक्त अर्जुन ने आत्मरूप होकर ही देखा था लेकिन भयभीत हो जाने से वे उस दिव्य रूप को आत्मसात् नहीं कर पाये। बाद में थोड़ा सा पश्चात्ताप होता ही रह गया कि पूरा भरपेट ही देख लेना चाहिए था मेरे को, अतः बोल नहीं पा रहे हैं। वे जानते हैं कि ये दया के सागर हैं, बिना मेरे पूछे ही सबकुछ बतायेंगे। दोनों ही वृत्तियाँ एकसाथ काम कर रही हैं– संशयवृत्ति और भयवृत्ति।

भगवान नारायण जैसे सद्गुरुरूप में सगुण ब्रह्म हैं वैसे ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म भी हैं। मानो वे कह रहे हैं कि मैं द्रौपदी की साड़ी भी बन सकता हूँ। मैं भीतर भी हूँ, बाहर भी हूँ, आगे भी हूँ, पीछे भी हूँ, जितना द्वारिका में था, उतना ही हस्तिनापुर में था। हे पार्थ! कल्याणी द्रौपदी ने कहा था– हे द्वारिकाधीश! हे अन्तर्यामी! उसने कहा था कि हे शरणागत रक्षक! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें! मैं सचमुच में जितना द्वारिका में था उतना हस्तिनापुर में था। अतः साड़ीरूप में प्रकट हो गया। तुम डरो मत! मैं वही द्वारिकाधीश हूँ, मैं वही वासुदेव हूँ। मैं तुम्हारा कवच भी बन सकता हूँ, तुम्हारा शरीर भी बन सकता हूँ, तुम्हारे बाण तथा तुम्हारा गाण्डीव भी बन सकता हूँ। अर्जुन के मन में आया कि ये निर्गुण–निराकाररूप में ही तो आगे–पीछे हैं! तो भगवान मानो कह रहे हैं– ना, ना, ना! मैं इसी रंग–रूपवाला तुम्हारे पीछे हूँ, अर्थात् इस कृष्णरूप से ही तुम्हारे आगे–पीछे, दायें–बायें सर्वत्र हूँ। इसप्रकार हरतरह से संतुष्ट कर देनेवाले भगवान नारायण ने कहा– 'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च.....' अर्थात् एक अंश भी कोई जगह खाली नहीं है जहाँ मैं नहीं हूँ; अतः तुम अभय हो जाओ।

भगवान को अर्जुन ने यूँ ही नहीं माँग लिया था, भले ही भगवान ने कहा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, अस्त्र–शस्त्र नहीं उठाऊँगा; किन्तु अर्जुन ने तो शिशुपाल वध के समय देखा ही था कि तर्जनी उँगली से चक्र प्रकट हुआ और शिशुपाल का सर धड़ से अलग कर दिया। वही भगवान अपने सर्वत्र होने की घोषणा कर रहे हैं। ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ वे किसी भी दिव्य शरीर के द्वारा प्रकट न हो जायँ।

जब भक्त सारथि बनाता है भगवान को तो उससे बहुत अपेक्षा रखता है। अर्जुन सोच रहे हैं कर्ण के बाण के विषय में; क्योंकि एक शरीर से दूसरे शरीर के बीच में थोड़ी ही दूरी होगी, जहाँ से कर्ण के बाण उनके पास तक आयेंगे। अर्जुन को भी बड़ा भय है कर्ण से; पितामहभीष्म से, द्रोणाचार्य से या कृपाचार्य से भय नहीं है लेकिन उससे भय है; क्योंकि कभी किसी भी काल में अपने से कहीं कम नहीं देखा उसे। उन्होंने एक बार विराट नगर में उसे अपने से कम देख लिया था, कर्ण मूर्च्छित हो गया था; क्योंकि अर्जुन दिव्य लोक से आये हुए थे न। एक बार जब भगवती द्रौपदी को प्राप्त करना था, मछली की आँख का भेदन करना था, उस समय सबने देखा था कि कर्ण का लक्ष्य खाली नहीं जाता। यह बात अलग है कि भगवती द्रौपदी ने उसे स्वीकार करने से मना कर दिया। इतना ही नहीं, जब युद्ध का कौशल ये दिखा रहे थे भरी सभा में तो उसी समय कर्ण ने आकर कहा था अर्जुन! ब्रह्मास्त्र तक मैं तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ूँगा। इसी से

तो भगवान ने 'सर्वतः पाणिपादं' कहा है अर्थात् तुम्हारी सृष्टि को, तुम्हारे शरीर को सब ओर से मैंने ही धारण कर रखा है।

(सर्वेन्द्रियगुणाभासं.....) आप समझते हैं कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म के पास गुण ही नहीं है, उसके पास वाणी ही नहीं है, हाथ–पाँव ही नहीं है, मन, बुद्धि, अहंकार ही नहीं है; जबकि इस सृष्टि में सम्पूर्ण योनियों में जितनी भी इन्द्रियाँ हैं अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि हैं, हाथ–पाँव, मुख आदि हैं, वे सब तो उसी के हैं। असुर हों चाहें देवता, सभी प्रभु की सत्ता में ही काम करते हैं। एक उदाहरण देता है महाराज आप उससे समझें– आप कहते हैं कि मेरा शरीर है! यदि आपका शरीर है तो युवावस्था जा रही है उसे रोक लें! वृद्धावस्था आ रही है उसे मना कर दें! यदि शरीर आपका रहता तो उसमें जवानी सदा–सर्वदा बनी रहती। आप ही क्या, बुढ़ापा कोई नहीं चाहता। इसी तरह शरीर को मरने कोई नहीं देता। इससे सिद्ध होता है कि कोई शरीर में है, लेकिन वह आप से परे है। अरे! वही तो ब्रह्म है। उसी की सत्ता से बचपन, युवा, वयस्क और वृद्धावस्थाएँ अपने–आप प्रकट हो रही हैं। उसी की सत्ता से मृत्यु भी प्रकट हो रही है, आपकी सत्ता से नहीं। आप कहते हैं– 'मैं जी रहा हूँ; लेकिन मृत्यु को नहीं जानते और आपके नहीं चाहने पर भी शरीर मरता है। आप कहते रहें कि मैं सो रहा हूँ लेकिन शरीर जागेगा। आप चाहकर भी पाँच मिनट अधिक नहीं सो सकते। उसके लिए वरदान माँगना पड़ेगा आपको कुम्भकरण की तरह। बिना वरदान के आप सो नहीं सकते विशेष। अतः सोने की क्रिया भी आप नहीं करते, जागने की क्रिया भी आप नहीं करते। सोने तथा जागने की क्रिया के पीछे मूल में कोई है और वह है भगवान। इन्द्रियाँ जिससे देखती हैं, मन जिससे मनन करता है, बुद्धि जिससे चिंतन करती है, चित्त जिससे चित्र (आकृति) को धारण करता है, पुरुष जिससे 'मैं शरीर हूँ'– ऐसा कहता है, जिस स्मृति से 'मैं हूँ'– ऐसा कहता है; वह ब्रह्म है। 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं' अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियाँ जिससे सम्पूर्ण गुणों को धारण करती हैं तथा अपने–अपने विषयों का सेवन करती हैं वह ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है।

भगवान नारायण का कुछ अर्थों में महात्मा अर्जुन पर ही आक्षेप है, मानो वे कहना चाहते हैं कि अर्जुन ये न मान लें कि निद्रा उनका कहना मानती है, वे ये न मान लें कि उनके पास जो जितेन्द्रियता है वह उनकी है अर्थात् अर्जुन के पास जो भी शक्ति–सामर्थ्य है, वह सब भगवान के होने से है। पितामहभीष्म के पास जो जितेन्द्रियता है, वह भी भगवान के होने से ही है। उनके पास जो इच्छामृत्यु का वरदान है, वह पिता से है किन्तु पिता के पास जो वरदान देने की शक्ति है, वह भगवान से है। आश्चर्य की बात तो यह है कि कोई इन्द्रियों पर शासन कर रहा है, कोई नींद पर शासन कर रहा है, लेकिन विचारों पर शासन करनेवाला तो कोई विरला ही होता है। विचारों पर तो वही शासन कर सकता है जो सत्त्व में स्थित हो जाये। महाराज युधिष्ठिर का भी सम्पूर्णता से सत्य पर शासन नहीं है भले ही वे सत्यवादी हैं, बल्कि सत्य का उन्हीं पर शासन है। सभी जानते हैं कि अश्वत्थामा मारा गया– ऐसा वे भगवान के कहने से भी सहजता से नहीं कह पाये, इससे सिद्ध होता है कि सत्य ही उनपर शासन कर रहा था, वे सत्य पर शासन नहीं कर रहे थे। महापुरुष सत्य के वश में नहीं होता बल्कि सत्य उसके वश में होता

है। भगवान तो सदा–सर्वदा सत्य ही बोलता है, किसी को भले ही उसका कहा हुआ सत्य झूठ प्रतीत हो। महात्मा युधिष्ठिर कैसे सत्यवादी थे कि भगवान के सत्य बोलने में ही झूठ समझ गये! बस जैसे ही उन्होंने कुछ सोचा–विचारा वैसे ही रथ शक्तिहीन हो गया। वह ब्रह्म चाहे सगुण हो या निर्गुण हो लेकिन सत्य–असत्य सबपर शासन करता है। लोग कहते हैं कि 'वह खाता–पीता नहीं है;' किन्तु सम्पूर्ण प्राणियों में खाया हुआ अन्न वही तो पचाता है। अतः वह वैश्वानर अग्नि देवता के रूप में न खाये, न पचाये तो आप क्या कर लेंगे?

'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'– वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को भोग करके भी कहता है– मैं कुछ भी नहीं खाता, कुछ भी नहीं भोगता। कथा तो आपने सुनी ही है कि दुर्वासाजी ने कहा गोपियों से कि जाकर कह दो कालिन्दी (यमुना) से कि यदि दुर्वासा ने कभी दूब के अतिरिक्त कुछ खाया ही न हो तो रास्ता दे दो। गोपियों के द्वारा ऐसा कहनेपर माँ यमुना ने रास्ता दे दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा– जाकर यमुना से कहना कि यदि कृष्ण ब्रह्मचारी है तो रास्ता दे दो। उनके द्वारा ऐसा कहने पर भी माँ यमुना ने रास्ता दे दिया। गोपियों ने परस्पर में हँसी–मजाक किया कि ये दोनों ही गुरु–चेले बड़े झूठे हैं लेकिन इन झूठों का ही तो माँ यमुना कहना मानती हैं। बात समझ में नहीं आती कि ये दोनों ही निर्गुणी हैं किन्तु गुणों के साथ रहते हुए भी कहते हैं कि मैंने तो कुछ खाया–पीया ही नहीं, सोया–जागा ही नहीं, शादी–वादी ही नहीं की।

महात्मा अर्जुन की दुर्दशा को देखकर महाराज के दृष्टिपथ में साधक आ–जा रहे हैं। अर्जुन जैसे शीलवान साधक ही साधनपथ से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनके जैसे ही संकोची साधक आध्यात्मिक पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। उन साधकों के शील और संकोच को कोई भी लूटेगा, उनकी विनम्रता का कोई भी दुरुपयोग करेगा। अर्जुन की अति शीलता में ही कौरव उन्हें लूट रहे हैं। अति शीलवान युधिष्ठिर को तो उनलोगों ने लूटा ही था, अब अति विनम्र, शीलवान, अति मर्यादित अर्जुन को लूट रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्म पर उनका शासन नहीं है बल्कि धर्म ही उनपर शासन कर रहा है। यही तो कारण है कि भगवान का शासन उनपर शीघ्रातिशीघ्र नहीं हो पा रहा है; क्योंकि वे अच्छीप्रकार से स्वजनों के घेरे में आ गये हैं। यही कहानी तो साधकों की भी होती है। वे भी सम्पूर्णता से अपने स्वजनों के घेरे में रहते हैं। अतः अर्जुन जैसे शीलवान साधक के लिए घर में बड़े–बूढ़ों के अधर्म का प्रतिकार करना बहुत कठिन हो जाता है। उस क्षुद्रशीलता के कारण से साधक की साधना निर्बाधगति से आगे नहीं बढ़ सकती। वे तो भगवान ही हैं कि साधक चाहे जितना ही हाथ–पाँव मारे लेकिन उसे आध्यात्मिक भूमि से भागने नहीं देते। माया तो देखें आप भगवान की कि उन्होंने पितामहभीष्म की बुद्धि को ऐसा मोहित किया कि उन्होंने कह ही दिया कि मैं पाँचों पाण्डवों का वध नहीं करूँगा। उसका परिणाम हुआ कि द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भी उनका अनुसरण करने लगे। कर्ण तो पहले से ही मोहित था। उसका आधा बल तो उसी दिन चला गया था जिस दिन भगवान ने उसे बता दिया था कि तुम कौन्तेय हो, कौन्तेय! उसने भगवान से कहा था– हे माधव! यह राज खोलकर आपने मेरे आधे बल को ले लिया। तब प्रभु ने पूछा था कि कदाचित् आपका और अर्जुन का सामना हो ही गया तो? तो उसे कहना पड़ा था कि महादेव उसकी रक्षा करें! महादेव के

उपासक हैं अर्जुन, वे भगवती दुर्गा के भी उपासक हैं; इसलिए उसने स्वयं से उनके भगवान का उनकी रक्षा करने के लिए आवाहन कर दिया।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं'– ब्रह्म अति सूक्ष्म होने से, अयुक्त अर्थात् किसी विषयी (भोगी, असंयमी) पुरुष द्वारा देखा नहीं जाता; अतः उसके लिए बहुत दूर, बहुत दूर है। हाँ, जिन्होंने योग, जप, तप से अपनी बुद्धि को अति निर्मल बना लिया है, सूक्ष्म बना लिया है; उनकी बुद्धि के द्वारा देखा जाने के कारण से उनके लिए अति निकट है। वह तो इतना निकट है, इतना निकट है कि चाहकर भी भक्तों से दूर नहीं जा सकता। एक पहेली को देखें आप– मूर्खों से भगवान बहुत दूर रहता है, बहुत दूर रहता है, लेकिन महात्मा अर्जुन के पास तो उलटा ही हो गया है– भगवान उनके अति निकट आ गये हैं और वे उनसे बहुत दूर चले गये हैं। यहाँ तो वे चालाक बन गये हैं और भगवान ही मूर्ख बन गये हैं। भगवान उन्हें ढूँढ़ रहे हैं लेकिन वे हाथ में नहीं आ रहे हैं। अभी भी कुछ दूरी बनी की बनी हुई है।

प्रभु ने कहा– एक पहेली है पार्थ!

वह क्या है माधव? अर्जुन ने पूछा।

वह यही कि मूर्खों से भगवान बहुत दूर रहता है।

इसमें क्या बड़ी बात है? यह तो होना ही चाहिए;– अर्जुन ने कहा।

प्रभु ने कहा– बहुत बड़ी बात यह हो गई पार्थ! कि तुम्हारे पास तो मैं साक्षात् निर्गुण–निराकार परम ब्रह्म परमात्मा ही मूर्ख बन गया हूँ।

वह कैसे? अर्जुन ने पूछा।

इसलिए कि मैं ही तुम्हें ढूँढ़ रहा हूँ, किन्तु हाथ में तुम आ नहीं रहे हो। अभी भी तुम्हें मेरे पास आने में कुछ देर हो ही रही है। इसप्रकार मैं तुम्हारे निकट होना चाह रहा हूँ और तुम मेरे से दूर ही रहना चाह रहे हो!

भगवान की ऐसी स्थिति को देखकर खिलखिला के हँस पड़े संजय और कहा– धन्य हैं! धन्य हैं! हे जगत्पते! आप धन्य हैं! संजय दूरदृष्टिवाले हैं। उन्होंने भगवान की उस मुद्रा को निकट से देखा। उनमें भगवान के प्रति गरुड़ जैसा, अर्जुन जैसा तथा जीव जैसा मोह नहीं है। इसीलिए शोक–संताप से संतापित नहीं होने के कारण से भगवान नारायण की हर मुद्रा को बड़े निकट से देख रहे हैं। प्रभु के अति दिव्य स्वरूप को जानकर, उनकी दिव्य शक्ति को जानकर उनका (अर्जुन का) हृदय गद्गद होना चाहिये था लेकिन उनका जब नहीं हो रहा है तो संजय का होगा।

धृतराष्ट्र ने कहा– क्यों संजय! क्या बात हो गई?

संजय ने कहा– हे राजन्! यह तो मेरे जीवन में लगता है पहली घटना है और अंतिम

घटना होगी।

धृतराष्ट्र ने पूछा– क्या?

संजय ने कहा– हे राजन्! यही कि भगवान नारायण तो बहुत दूर, बहुत दूर, मूर्खों से बहुत दूर, असुरों से बहुत दूर, मोह से ग्रसित पुरुषों से बहुत दूर रहते हैं लेकिन यहाँ तो विलक्षण बात हो रही है– भगवान तो अर्जुन के अति निकट, अति निकट, अति निकट होना चाह रहे हैं, उन्हें पकड़ना चाह रहे हैं किन्तु अर्जुन ही भगवान से बहुत दूर, बहुत दूर, बहुत दूर होना चाह रहे हैं। यहाँ तो हे राजन्! अर्जुन की चालाकी के सामने भगवान ने अपने को मूर्ख ही सिद्ध कर दिया है, ताकि आपके साथ–साथ आपका प्रिय दुर्योधन, शकुनि तथा उसके अन्यान्य मित्र इस रहस्य को न जान सकें। हे भूपाल! मैं देख रहा हूँ कि भगवान मन ही मन हँस रहे हैं कि भागो, भागो, भागो! कहाँ तक भागोगे! जहाँ जाओगे वहाँ पर मेरी भुजा को ही देखोगे।

भय–शोक और मोह से ग्रसित धृतराष्ट्र अपनी हँसी को नहीं रोक पाये। भगवान द्वारा भक्त को अपने घेरे में लेने की कुशलता को देखकर आश्चर्यवत् हँसी हँसने लगे। प्रभु ने एक और भी संकेत दिया कि सब ओर से हाथ–पाँव होने के कारण से, सब ओर से मेरा घेरा होने के कारण से अब अर्जुन भाग नहीं सकते। मैं किसी को प्रेम में नहीं भागने देता और किसी को द्वेष में भी नहीं भागने देता।

भगवान की दयालुता का बखान कोई कैसे कर सकता है, वे तो असुरों को भी स्पष्ट दिखाते हैं कि सर्वत्र ही विद्यमान हैं। एक दिन कंस ने स्वप्न देखा कि भगवान ने आकर उसकी भुजा पकड़ ली। वह उठकर बैठ गया। जिधर देखता था, उधर भगवान शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये खड़े हैं। उसमें असुरता घर कर गयी थी, अतः वह क्रोध में आकर भागना चाहता था लेकिन जिधर से भागने की तैयारी करता था, उधर से ही प्रभु की भुजा उसकी तरफ, उसे पकड़ने को आ जाती थी। वह भुजा उसके आगे, उसके मुड़ने पर उसके पीछे, दाँयें देखने पर दाँयें, बाँयें देखने पर बाँयें, ऊपर देखने पर ऊपर, नीचे देखने पर नीचे दिखाई पड़ती थी। अब भागे तो भागे किधर से? अतः भगवान शंकर को याद किया तो उनमें भी वही भगवान की भुजा! उसके उपरांत अपनी शक्तियों को याद किया तो वहाँ भी वही भुजा। भगवान शंकर से उसकी दशा देखी नहीं गयी, वे खिलखिला के हँस पड़े, ठहाका मार के हँसने लगे, कहने लगे– कहाँ जाओगे? कहीं जाने से अच्छा है इन्हीं की तरफ मुड़ जाओ, इनके चरणों में चले आओ। जब उस मूर्ख ने उनकी आवाज नहीं सुनी और भगवान शंकर ने उसे अति विकल देखा तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से कहा कि हे प्रभु! अब इस मूर्ख को आप रास्ता दे ही दें! भागने दें! भागकर कहाँ जायेगा! प्रभु ने भगवान शंकर की आवाज सुनी और शयन कक्ष के दरवाजे के पास से अपनी भुजा हटा ली। वह असुर भागा, चिल्लाता हुआ भागा। चाणूर ने कहा– क्या हो गया राजन्? क्या हो गया? लेकिन वह बिना बोले भाग ही गया।

साधक भी इस रहस्य को नहीं जानते। वे भागना चाहते हैं लेकिन उनका इष्ट भी

ऊपर–नीचे, दाँयें–बाँयें सर्वत्र व्याप्त है, वे भागकर कहाँ जायेंगे? शान्ति की नींद नहीं मिलेगी उनको, संशय बना का बना रह जायेगा, अन्ततोगत्वा लौटकर वहीं आना पड़ेगा।

(बहिरन्तश्च भूतानाम्.....) प्रभु अर्जुन के सखा बनकर, भाई बनकर, सारथि बनकर सद्गुरु बनकर तथा अब भगवान बनकर (दूरस्थं चान्तिके च तत्) अति निकट हो गये हैं। युद्ध का मैदान है, लक्ष्य महात्मा अर्जुन हैं; इसलिए महाराज ने इस परिभाषा को जो एक दिव्य लोक से आ रही है, उसे स्वीकार कर लिया है। यहाँ पर ज्ञान का घेरा डालकर अर्थात् पहले ज्ञान को ही प्रकृति के रूप में लाकर खड़ा कर देना और फिर ज्ञान की प्रस्तावना करना, अपने को निर्गुण–निराकार सिद्ध करना, सम्पूर्ण प्राणियों में भी मैं इसी रूपवाला हूँ अर्थात् ऐसा भी हूँ– यह कहना, एक विलक्षण बात है। मानो महात्मा अर्जुन ने पूछा कि चराचर जगत में भी आप इसी रूपवाले हैं? तो भगवान ने कहा कि हाँ, 'चरमचरमेव च' सर्वत्र इस रूपवाला भी हूँ, वराहरूपवाला भी हूँ, नरसिंहरूपवाला भी हूँ, जहाँ पर जिस रूप की जैसी व्यवस्था बनती है उसी रूप को धारण कर लेता हूँ। इतना ही नहीं, चराचर जगत में मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूँ, परम चेतन हूँ।

संकल्प ही जिसका पाँव है, वह ब्रह्म अपने संकल्प से ही जिस रूप की रचना करना चाहता है, उस रूप की रचना कर लेता है। जहाँ जिस रूप की आवश्यकता होती है, उसी रूपवाला बन जाता है। वरदान माँगनेवाले हिरण्यकशिपु ने कह दिया कि दिन भी न हो, रात भी न हो, कोई देवता भी न हो, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष भी न हो, जो मुझे मार सके, कोई अस्त्र–शस्त्र भी न हो जो मुझे मार सके। फिर प्रभु वैसा कुछ बनेंगे ही नहीं, वे तो शेर और आधा नर बनकर नरसिंह बन जायेंगे। नख तो अस्त्र–शस्त्र होता ही नहीं तथा नरसिंह किसी योनि में नहीं आयेगा। अतः नख से हिरण्यकशिपु की छाती को चीरकर उसका रक्त पी लेंगे। पाण्डवों का रक्त पीया है कौरवों ने, अतः भगवान ने यहाँ पर यह संकेत देकर कहा है कि यदि भक्त सताये जाते हैं असुरों के द्वारा, तो वे उन असुरों का रक्त पी लेते हैं, उन पापियों का रक्त पी लेते हैं। बहुत से प्रश्न खड़े होते हैं यहाँ पर, अतः सारे प्रश्नों का उत्तर देना है भगवान को। महात्मा अर्जुन के भीतर प्रश्न चलने लगते हैं, अतः भगवान को उन प्रश्नों के अनुरूप ही बोलना है।

जयद्रथ ने वरदान माँगा कि मैं पाण्डवों पर विजय प्राप्त करूँ। भगवान शंकर ने कहा कि अर्जुन को छोड़कर एक दिन तुम अन्य पाण्डवों पर विजय प्राप्त कर पाओगे। बड़ी भूल हो गयी जयद्रथ से वरदान माँगने में, उसकी दृष्टि में पाँच ही पाण्डव हैं। वह यह नहीं समझ पाया कि पाण्डवों की जितनी भी संतानें हैं वे पाण्डव ही कही जायेंगी। अभिमन्यु भी पाण्डव ही कहा जायेगा। परिणाम हुआ कि वह अभिमन्यु से पराजित हो गया। अभिमन्यु उसके मोर्चे से निकलने में सफल हो गया। इसके उपरांत उस मूर्ख ने अन्य चार पाण्डवों पर विजय प्राप्त कर ली। उसने पूछा था भगवान शंकर से कि अर्जुन पर क्यों नहीं विजय पा सकता। कहा भगवान शंकर ने कि अवध्य तो पाँचों हैं लेकिन अन्य चार पराजित हो सकते हैं, ये पराजय का स्वाद चखेंगे

लेकिन अर्जुन को कोई पराजित नहीं कर सकता; क्योंकि उनके जीवनरथ पर भगवान नारायण होंगे न! अतः अर्जुन को मारना तो दूर, तुम पराजित भी नहीं कर सकते। इसप्रकार असुरों में भगवान प्रवेश कर जाता है और वे वरदान माँगने में भूल कर जाते हैं।

(अविभक्तं च भूतेषु.....) यहाँ एक पहेली देगा महाराज, आपसब ध्यान देंगे। पहले ज्ञानमार्ग से समझाएगा फिर भक्तिपथ से; क्योंकि भक्ति का पक्ष भी यहाँ है। एक ही समय में भगवान नारायण दोहरी वाणी से बोल रहे हैं। वे कह रहे हैं– यद्यपि आकाश अविभक्त है, उसमें पृथकत्व नहीं है लेकिन जब घड़े बनते हैं तो फिर वह घटाकाश कहा जाता है। सम्पूर्ण घड़ों में वह पृथक्–पृथक् सा दिखाई पड़ने लगता है। इसी न्याय से तो औपचारिकतावश वह घटाकाश, मठाकाश, भूताकाश, महदाकाश के रूप में देखने पर पृथक् सा हो जाता है। ठीक वैसे ही भगवान एक ही हैं किन्तु अब भक्तों के लिये सम्पूर्ण प्राणियों में अलग–अलग से दीख रहे हैं। इतना ही नहीं, नानात्व देखनेवालों में तो कोई उसे रामरूप में देखता है तो उसके लिए वह राम बन जाता है, कोई कृष्णरूप में देखता है तो उसके लिए कृष्णरूपवाला बन जाता है। उद्धव, अक्रूर, विदुर आदि ने उसकी इसी कृष्णरूप में उपासना की तो उनके लिए वह इसी रूपवाला बन गया। किसी ने भगवान शंकर माना तो उसके लिए वह शंकर बन गया। इसप्रकार यहाँ एकत्व की स्थापना कर रहे हैं भगवान, परन्तु पृथक्–पृथक् भी हो रहे हैं। किसी ने देवी के रूप में उपासना की तो उसके लिए देवी बन गया, कोई सद्गुरु को ही अपनी आत्मा मानता है तो उसके लिए वह सद्गुरुरूप में प्रकट हो जाता है। इसप्रकार वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म एक ही रूपवाला है लेकिन जिसने जिस रूप में उपासना की, वह उसके लिए उसी रूपवाला बन जाता है। इसप्रकार वह अनेकों रूपवाला भी दिखाई पड़ रहा है। किसी को विष्णु के रूप में, किसी को ब्रह्मा के रूप में, किसी को देवी–देवताओं के रूप में और किसी–किसी को भूत–प्रेत के रूप में दिखाई पड़ने लगता है तथा किन्हीं–किन्हीं लोगों के हृदय में तो जीवनपर्यन्त स्वजनों के रूप में ही वह दिखाई पड़ता रह जाता है।

सम्पूर्ण भूतों में प्रभु अविभक्त सा दिखाई पड़ रहा है, उसका विभाग नहीं हो सकता लेकिन वह करे तो क्या करे अपनी दया को रोक ही नहीं पाता। वह लोमश ऋषि तो है नहीं! क्योंकि लोमश ऋषि आग्रह करेंगे काकभुशुण्डि से कि तुम ज्ञान ले लो, तुम ज्ञान के अधिकारी हो किन्तु भगवान अपनी दया के वश में है। भक्त उसे जिस रूप में चाहता है वह उसी रूप में बन जाता है, यह उसकी विवशता है। इसीलिए सारे के सारे प्राणिपदार्थ उसी की तरफ गमन कर रहे हैं। आज भगवान को जो भूत–प्रेत के रूप में देख रहा है वही कल उसे देवता के रूप में देखेगा तथा देवता के रूप में देखते–देखते संत के रूप में देखेगा तथा संत के द्वारा फिर वह भगवान के असली रूप को देख लेगा।

अर्जुन के मन में आया कि ये तो अपने को भगवान होना भी सिद्ध कर रहे हैं दूसरी तरफ एकमात्र मनुष्ययोनि की ही बात कर रहे हैं। उनके मन की इसी बात को पढ़कर भगवान कह रहे हैं कि 'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं' ऐसा नहीं है कि प्रभु मानवयोनि का ही भरण–पोषण करता है, बल्कि वह तो गाय के मांस खानेवाले का भी भरण–पोषण करता है। एक गाय ही है जो सबको

ब्रह्मविद्यामय दूध देती है लेकिन दूध को पीया सनातन आर्ष ऋषियों ने, साधकों ने, सिद्धों ने तथा उसके मांस और हड्डी की उपासना की असुरों ने। उन्होंने इसका दूध भी पी लिया और मांस भी खा लिया, तो भी भगवान उनका भी भरण–पोषण करता है। जब प्रलयकाल में सम्पूर्ण भूतों तथा भूत–प्राणियों का ग्रसन करता है तो वही ब्रह्म शिव कहा जाता है, जब सृष्टि प्रकट करता है तो ब्रह्मा कहलाता है और सृजन करता है तो भगवान विष्णु कहलाता है। इसप्रकार वह धाता, भर्ता, भोक्ता, सबकुछ है। पूर्व के अध्यायों में भी भगवान ने ऐसा कहा है लेकिन यहाँ पुनः कह दिया; क्योंकि एक ही बात को बार–बार कहने से उस बात के प्रति चेतना जगती है।

(ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः.....) वह ज्योतियों का ज्योति ऐसा है कि जिसमें आजतक अंधकार प्रवेश ही नहीं कर पाया। वह इतना ठोस है, इतना ठोस है कि अंधकार क्या उसमें कुछ भी समा न सका। आप जानते ही हैं कि इतना ठोस घेरा बनाया गया था लक्ष्मण के द्वारा, जिसे लक्ष्मण रेखा कहते हैं। रावण जैसे ही उसको पार करने का प्रयत्न करता था वैसे ही उससे टकराकर पीछे दूर जाकर गिरता था। उस ज्योति की एक अंश मार उसपर पड़ती थी और वह विकल हो जाता था। कई बार उसने प्रयास किया उस ज्योति के घेरे को तोड़ने का। वह समझता था कि यह अग्नि का घेरा है। आज भी लोग ऐसा ही मानते हैं लेकिन महाराज क्या, कोई भी संत इस बात को नहीं मानता कि वह अग्नि का घेरा था। यदि वह अग्नि का घेरा होता तो रावण अग्नि बाँधने का मंत्र भी जानता था; किन्तु वह बार–बार मंत्र को अभिमंत्रित करने के उपरांत भी उस ज्योति का भेदन न कर सका। अग्नि की भी यही बात है– अग्नि को जिधर से छूयेंगे आप उधर से जला देगी। अग्निपुंज में ऊपर–नीचे, दाँयें–बाँयें सर्वत्र उसी की सत्ता होती है, अतः उसमें निर्विकार पुरुष को छोड़कर कोई प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई प्रवेश करता है तो उसका शरीर जलता हुआ प्रवेश करेगा, जिसे अग्नि अपने जैसा बनाती जायेगी। इसप्रकार जब अग्नि में ही कोई प्रवेश नहीं कर सकता तो निर्विकार निर्मल अविनाशी आत्मज्ञानियों को छोड़कर भगवान में तो प्रवेश पाने की बात हो ही नहीं सकती।

निर्गुण–निराकार ब्रह्म तो प्राप्त होता ही नहीं– ऐसा मूर्ख कहते हैं। वे अपने को शरीरवाला कहते हैं तथा भगवान को अशरीरी कहते हैं। जिसमें से सारे के सारे शरीर प्रकट होते हैं, वह तो बिना शरीरवाला हो गया और जिसमें से कोई शरीर प्रकट होता ही नहीं वह शरीरवाला हो गया– यह कैसी मूर्खता है? अरे! जिस शरीर को वे अपना शरीर कहते हैं वह तो प्रारब्ध के संकल्प से जन्म लेता है, फिर उनका शरीर कहाँ हुआ वह तो प्रारब्ध का ही शरीर हुआ, जिस प्रारब्ध पर एकमात्र प्रभु का ही शासन है। इसप्रकार जिसमें से सम्पूर्ण सृष्टियाँ प्रकट होती हैं, वह परम तेजोमय ब्रह्म ही एकमात्र शरीरवाला है। जिसे आप आकाश कहते हैं आप समझते हैं कि उसमें अवकाश ही अवकाश है, लेकिन उसमें तो आप प्रवेश ही नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो इतना ठोस है, इतना ठोस है कि उसमें आप तो क्या वज्र भी नहीं समा सकता। हवा भी प्रभु का एक ऐसा दिव्य रूप है कि उसकी ठोसता के सामने पृथ्वी कुछ भी ठोस नहीं है, अग्नि भी इतनी ठोस है जिसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता। इसीप्रकार पृथ्वी और जल को भी समझना चाहिये। आप जान लें कि पृथ्वी से असंख्य गुना जल ठोस है, जल से असंख्य गुना अग्नि ठोस

है, अग्नि से असंख्य गुना वायु ठोस है, वायु से असंख्य गुना आकाश ठोस है, आकाश से असंख्य गुना शब्द ठोस है तथा शब्द से असंख्य गुना ठोस वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म है। वह ज्योतियों का भी ज्योति है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि वास कर रहे हैं। उस परम ज्योति के एक अंश से ही ये प्रकाशित हो रहे हैं। जिस दिन आपको ज्योतिर्मय समाधि लगेगी उस दिन आँख खुलेगी तो कहेंगे– आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आश्चर्य है!!! जिस समय ज्योतिर्मय समाधि से ही आगे बढ़ने पर परम ज्योति को प्राप्त करेंगे तब तो आश्चर्य की तरह देखते हुए मौनी ही बनके रह जायेंगे।

(ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं.....) वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म, ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। अर्थात् वह स्वयं का स्वरूप स्वयं के द्वारा ही जाना जाता है। लोग उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। किन्तु 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं' कहकर भगवान ने खण्डन कर दिया उनके मत का। बड़ा जोर धमाका दिया है प्रभु ने, छिन्न–भिन्न कर दिया है अनिर्वचनीय शब्द को। मंत्र कहता है कि लोग कहते हैं– वह वाणी के प्रयोग में नहीं आता; लेकिन प्रभु कहते हैं– वाणी तो उसके प्रयोग में आती है! जिन आँखों से वह देखने में नहीं आता, उन आँखों से वह तो देखता ही है! जिसकी आवाज इन कानों द्वारा नहीं सुनी जाती, वह तो इन कानों से सुनता ही है! कोई आजतक उसका बखान नहीं कर सका अपनी क्षुद्र वाणी से लेकिन वह तो अपनी वाणी से अपना बखान कर ही लेता है! तो कैसे कहा जाये कि वह अनिर्वचनीय है? इतना ही नहीं वह जिसकी वाणी में प्रवेश करेगा वह भी तो अपनी वाणी से उसका बखान कर सकेगा! इसप्रकार जो इन आँखों से देखा नहीं जाता, ऐसा लोग कहते हैं; वही तो दर्शनीय है! वही तो अपनी आँखों से देखकर दिखाता है, यदि अपनी आँख उसे दे दें तो वह स्थूल भी बन जाता है, सूक्ष्म भी बन जाता है अर्थात् सबकुछ बन जाता है।

उस परम ज्योति में अज्ञान प्रवेश कर ही नहीं सकता, मोह प्रवेश ही नहीं कर सकता अर्थात् उसमें आजतक माया ने प्रवेश किया ही नहीं। आप नहीं देख रहे हैं कि कुरुक्षेत्र में महाविप्लव खड़ा हो गया है, तो भी प्रभु को तो मोह स्पर्श ही नहीं कर रहा है। वहाँ पर सभी किसी न किसी रूप में मोहित हैं, किन्तु भगवान किसी रूप में मोहित नहीं हैं। उनके लिए तो वह युद्ध होगा ही नहीं, बल्कि एक विनोद होगा, एक क्रीड़ा होगी, एक खेल होगा; हाँ! अर्जुन के लिए एक युद्ध होगा। युद्ध के द्वारा लोगों में त्राहि–त्राहि मच जायेगी, परन्तु प्रभु आनन्दित ही रहेंगे। ये दोनों सेनायें प्रभु की दो वृत्तियाँ हैं। वे वैसे ही अपने कारण में विलीन हो जायेंगी मर–कट करके, जैसे योगी के भीतर सात्त्विक एवं राजस तथा तामस वृत्तियाँ परस्पर में टकराकर मर जाती हैं और वह ज्योतिर्मय हो जाता है। परस्पर में हररोज युद्ध होते रहते हैं– ज्ञान और अज्ञान का युद्ध हो रहा है, अंधकार का प्रकाश से युद्ध हो रहा है। सुवृत्ति का कुवृत्ति से युद्ध हो रहा है, त्याग का ग्रहण से युद्ध हो रहा है, राग का वैराग्य से युद्ध हो रहा है इत्यादि। साधक ध्यान में बैठता है तो प्रकाश की जगह अंधकार आ जाता है, नींद आ जाती है तो नानाप्रकार की क्रियाओं से चोट दे–देकर अंधकार को निगल जाता है और प्रकाश प्रकट कर लेता है। यद्यपि अंधकार की आत्मा भी प्रभु ही हैं। कुछ साधक तो अंधकार को प्रकाश का

ही एक स्थूल आवरण मानते हैं। महाराज भी कहता है कि अंधकार की आत्मा प्रकाश है। किसी साधक ने स्वीकार किया तो ठीक, नहीं स्वीकार किया तो छोड़ दिया! कुछ साधक उसे अस्वीकार कर देते हैं। वे हुंकार भरते हुए नानाप्रकार के प्राणायाम की क्रियाओं के द्वारा मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक गहरी चोट देते हैं। जैसे वे भस्त्रिका द्वारा एक मिनट, दो मिनट लम्बा और गहरा तथा तेजी से स्वर चलाकर प्राणवायु को एकसाथ पेट एवं छाती में भर लेते हैं तो मानो उस समय सम्पूर्ण अंधकार को निगलकर सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश प्रकट कर लेते हैं। ठीक उसीप्रकार जो परम ज्योति ऊपर–नीचे, दाँयें–बाँयें, भीतर–बाहर सर्वत्र व्याप्त है उसे श्रद्धा एवं प्रेमरूप प्राणायाम से प्रकट कर लिया जाता है।

सबके हृदय में व्याप्त है भगवान लेकिन भक्तों के हृदय में प्रकट होता है। ऐसा सुनकर अर्जुन के मन में विचार चलने लगा कि जब सबके हृदय में ये बैठे हैं तो यहाँ जितने भी लोग मेरे पक्ष और विपक्ष में खड़े हैं, फिर तो उनके हृदय में भी ये हैं। तो मैं कैसे किसका वध करूँगा? उन्होंने तो सुन ही रखा है कि रावण के हृदय में भगवती सीता आ गयी थीं, अतः प्रभु श्रीराम उसके हृदय में बाण नहीं चला पा रहे थे। जब प्रभु श्रीराम के साथ ऐसी बात हो सकती है तो मेरे साथ क्यों नहीं हो जायेगी? इसी के उत्तर में भगवान ने कहा– 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। लेकिन थोड़े ही समय पूर्व प्रभु ने यह भी कहा है 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' अर्थात् मैं सबके हृदय में बैठा तो हूँ किन्तु सबके हृदय में निराकाररूप में छिपा हुआ बैठा हूँ और भक्तों के हृदय में साकाररूप से प्रकट हो गया हूँ। मानो भगवान संकेत कर रहे हैं कि वे ज्ञानीभक्त के हृदय में विशेष हैं, जहाँ इस रूप में ही देखे जाने योग्य हैं। 'हृदि सर्वस्य' का तात्पर्य अपने सम्पूर्ण भक्तों में व्याप्त हैं वे, ऐसा अर्थ लेना चाहिए यहाँ पर तथा यह भी अर्थ लेना चाहिए कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के हृदय में तो निर्गुण–निराकार रूप से हैं ही लेकिन भक्तों के हृदय में विशेषरूप से हैं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१८॥

इसप्रकार अपनी प्रकृति को, अपने स्वरूप को और निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म को, जो भक्त जान लेता है, वह तो मेरा स्वरूप ही हो जाता है।

(इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं.....) भगवान के अनुसार भगवान को जानने के पूर्व शरीर को, ज्ञान को तथा ज्ञेय को विस्तारपूर्वक जानना चाहिए, जबकि यहाँ पर संक्षिप्त परिचय दिया गया। जबतक प्रकृति तथा प्रकृति के अंग–उपांगों को न जान लिया जाय, जबतक प्रकृति के विकारों को न जान लिया जाय तबतक उनसे उदासीनता नहीं हो सकती। यह तो स्पष्ट है कि जबतक शरीर की नश्वरता का विचार दृढ़ न हो जाये तबतक उसके प्रति तुच्छता का विचार प्रकट नहीं हो सकता और जबतक शरीर के प्रति तुच्छता का भाव नहीं आता तबतक कोई भी क्रिया उसी के आस–पास, उसी के लिए होती रहेगी, भगवान के लिए तो कुछ हो ही नहीं सकेगा। इसलिए बहुत बार कहा गया है कि वस्तु को, वस्तु के स्वरूप को तथा उसकी शक्ति–सामर्थ्य को

सर्वप्रथम जान लेना चाहिए। कोई व्यक्ति अपने लिए कितना उपयोगी है और कितना अनुपयोगी है जबतक यह जान नहीं लेते तबतक उससे सम्बन्ध करने पर धोखा मिलने की सम्भावना बनी रहती है। इसी न्याय से मानो भगवान का यहाँ संकेत है कि अबतक जो थोड़े में ही क्षेत्र का स्वरूप बताया गया, उसको ज्ञान के द्वारा अच्छीप्रकार जान लेना चाहिए, तभी ज्ञेय वस्तु जानने में आयेगी। एक विलक्षण बात का यहाँ संकेत है कि ज्ञान के द्वारा क्षेत्र (शरीर) को उसके स्वरूप सहित जानकर, उसका त्याग कर देना चाहिए और ज्ञान के द्वारा ही स्वयं को और ब्रह्म को जानकर अपने–आप में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म को पकड़ लेना चाहिए। एक बात और भी भगवान कह रहे हैं कि मैंने तो युद्धभूमि में होने के कारण क्षेत्र–क्षेत्रज्ञादि के स्वरूप को थोड़े में कहा है; अतः इसको विस्तार से जानने के लिए सद्गुरु के पास जाकर, उनके द्वारा जानकर वैसा ही करना, इसका चिन्तन–मनन मनमाना मत करना, अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। जो मोह गरूड़ को था वही मोह तो आपको भी है। आपसब जानते हैं कि भगवान शंकर ने कहा था कि हे गरूड़! मोह ही होता आपको अपने प्रभु के प्रति तो एक बात भी होती लेकिन आपको तो महामोह उत्पन्न हो गया है। इसलिए थोड़े में ज्ञान की बात कहने से समस्या का समाधान नहीं होगा। अतः अब तो काकभुशुण्डि के पास जायें, जहाँ अहर्निश मोह–ममता, ज्ञान–अज्ञान, भक्ति–शक्ति, अनुरक्ति–विरक्ति, जीव–ब्रह्म, बन्धन–मोक्ष के ही विषय में चर्चा चलती रहती है।

(ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं.....) भगवान ने मंत्र एक से लेकर छः तक क्षेत्र की बात की है, मंत्र सात से लेकर ग्यारह तक ज्ञान की बात की है तथा मंत्र बारह से लेकर मंत्र सतरह तक ज्ञेयवस्तु अर्थात् भगवान की बात की है; जिसका विस्तार सद्गुरु के द्वारा भलीभाँति शिष्य सुन ले तो ब्रह्मभाव में अच्छीप्रकार प्रतिष्ठित हो ही जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है। साधकगण ध्यान दें– भगवान ने मंत्र सात से लेकर ग्यारह तक जो ज्ञान की बातें की हैं, वह ज्ञान नहीं है बल्कि क्षेत्र को तथा ब्रह्म को जानने का साधन है अर्थात् प्रयोग है; लेकिन भगवान ने उस साधन को भी ज्ञान इसलिए कह दिया है क्योंकि वह साधन भी क्षेत्र और ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान करानेवाला है। जैसे कर्मयोग के अंतर्गत जपयोग, तपयोग, व्रतयोग, ध्यानयोग आदि योगों को भी भगवान ने ब्रह्मविद्या कहा है, वह इसलिए कि निष्कामभाव होने से ये योग ब्रह्म को ही देनेवाले होते हैं, अतः ब्रह्मविद्या कहने में ही इनका समुचित आदर है। प्रभु ने क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म को जाननेवाले की इस मंत्र के द्वारा सिद्धि बतायी है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि जब भक्त ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तो मरने–मारने का प्रसंग ही नहीं उठता।

ॐ मासपारायण, इक्कीसवाँ विश्राम ॐ

भगवान ने प्रकृति तथा पुरुष और अपनी शक्ति–सामर्थ्य का विस्तार करना चाहा है, इसलिए कहा–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥२१॥

प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही अनादि हैं तथा सम्पूर्ण विकार एवं गुण प्रकृति के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। कार्य और करण के करने में प्रकृति ही कारण कही जाती है तथा पुरुष सुख–दुःख का भोक्ता कहा जाता है। (पुरुष कहाँ स्थित होकर सुख–दुःख को भोगता है इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि) पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख और दुःखरूप गुणों को भोगता है तथा गुणों की आसक्ति के कारण ही सत्–असत् योनियों को प्राप्त होता है।

यह शरीर ही प्रकृति है और इसमें रहनेवाला द्रष्टा ही पुरुष है, ये दोनों ही अनादि हैं। भगवान यहाँ ऐसा क्यों कह रहे हैं; क्योंकि अनादि और अनन्त तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है जो द्रष्टारूप से भी विख्यात है, यानि द्रष्टारूप और परम द्रष्टारूप में वैसे ही अन्तर नहीं है जैसे मुख्य आकाश और घटाकाश, मठाकाश में कोई अन्तर नहीं है। अतः पुरुष (द्रष्टा) को ही अनादि कहना चाहिए, प्रकृति को अनादि क्यों कह रहे हैं? नहीं, नहीं ऐसा तो सांख्यमतावलम्बी ही कहते हैं। अतः भगवान के अनुसार प्रकृति भी कैसे अनादि है इसे देखें– जैसे जल से प्रकट होनेवाली बर्फ प्रकृति है वह जल से प्रकट होकर पुनः जलरूप ही हो जाती है। इसलिए अनादि इस रूप में है कि वह जलरूप ही है और प्रकृति को अनादि शांत भी इसलिए कहा जायेगा क्योंकि भले ही उसकी मौलिकता में कोई अंतर नहीं हुआ, लेकिन रूप उसका समाप्त हो गया अर्थात् अपने नाम, रूप, गुण को अपने–आप में ही विलीन कर दिया। इस अर्थ में जैसे जल अनादि कहा जाता है, उसीप्रकार उसी अर्थ में प्रकृति भी अनादि कही जाती है। भगवान कह रहे हैं कि ये दोनों ही अनादि हैं, इससे सिद्ध होता है कि है तो एक ही लेकिन दो रूप में प्रकट हो गया है अर्थात् द्रष्टा अब दृश्य रूप में प्रकट हुआ जैसे शरीर दृश्य हो गया और उसका द्रष्टा पुरुष हो गया। स्वयं आपसब कहते हैं कि आज मेरे शरीर में दर्द है। इससे सिद्ध होता है कि 'मेरा शरीर' कहनेवाला कोई दूसरा पुरुष है, वही तो चेतन पुरुष कहलाता है। उसी के साथ यह शरीर प्रकट हुआ है, अतः दोनों ही अनादि अनन्त से प्रकट होकर अनादि अनन्त में ही शान्त हो जाते हैं। विलक्षण बात तो यह है कि अनादि शान्त प्रकृति है और अनादि अनन्त द्रष्टा है जिससे यहाँ महाराज ने प्रकृति को अनादि शान्त और द्रष्टा को अनादि ही अनादि कहा है। दोनों एकसाथ प्रकट हुए हैं, किन्तु शरीररूप प्रकृति संसाररूप अनादि शान्त प्रकृति में अनादि शान्त हो जाती है और अनादि अनन्त द्रष्टा पुनः अनादि अनन्तरूप हो जाता है। इसप्रकार भगवान नारायण घोषणा कर रहे हैं कि आप द्रष्टारूप ही हैं अर्थात् आप ही वह पुरुष हैं और यह शरीर ही प्रकृति है। इसप्रकार दो के बाद इस प्रकृति में तीसरी प्रकृति उत्पन्न हुई है– वह है अज्ञान। जिसप्रकार प्रकृति से विकृति, विकृति से भी विकृति अर्थात् अज्ञान प्रकट हुआ है, ठीक

उसीप्रकार अज्ञान से मैं और तू, मेरा और तेरा प्रकट हुआ है; इसप्रकार यह विकार ब्रह्म से नहीं बल्कि प्रकृति से प्रकट हुआ है। अतः यह जो सम्पूर्ण प्रकृति है ब्रह्म के अंतर्गत है ही नहीं और जो है ही नहीं उससे संन्यास लेने की बात बेमानी है अर्थात् बिना अर्थ की है। भगवान मानो यहाँ पर महात्मा अर्जुन के संन्यास का निषेध कर रहे हैं। इसप्रकार सद्गुरुरूप ब्रह्म सामने है, अतः संन्यास लेने की बात करना महामूर्खता है। एक बार पुनः प्रकृति एवं पुरुष दोनों एक ही हैं तथा अनादि ही हैं, इसको महाराज स्पष्ट कर रहा है। जिसप्रकार भगवती गंगा सगुणरूप में प्रकट होती हैं अपने ही जल से तो गंगा जल में और गंगाजी में क्या अन्तर है अर्थात् कुछ भी अन्तर नहीं है, उसीप्रकार अग्निदेवता प्रकट होते हैं अग्नि से ही तो उस अग्नि में और उस अग्निदेवता में क्या अन्तर है अर्थात् इसमें भी अन्तर नहीं है। ठीक वैसे ही समुद्र प्रकट हुआ श्रीराम के पास तो समुद्र में और समुद्र के जल में क्या अन्तर है। उसका प्रभु तो जल की आत्मा ही होता है और आत्मरूप होकर ही रहता है अर्थात् जलरूप होकर ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जल उसका वस्त्र है। भले ही उसे आप जल का देवता मानें लेकिन क्या जल और जल के देवता भिन्न–भिन्न हैं? क्या समुद्र को आप सगुण कहेंगे? जिसने भगवान श्रीराम के सामने प्रकट होकर कहा था कि हे प्रभु! मेरे से बड़ी भारी भूल हो गयी, जो आपके सामने आने में मैंने इतनी देर कर दी। अब तो आप मेरी रक्षा करें! मैं सम शान्त हो जाता हूँ और नल–नील के माध्यम से आप मेरे ऊपर सेतु का निर्माण कर लें तथा और भी जो कुछ जहाँ तक सेवा बनेगी मैं करूँगा। इसके उपरांत वह पुनः जलरूप ही हो गया। उसीप्रकार अग्नि देवता ने प्रकट होकर भगवती सीता को सौंप दिया और पुनः अग्निरूप हो गये। तो क्या वे सगुण कहलायेंगे? अर्थात् गंगाजी, अग्निदेवता तथा समुद्र आदि देवता निर्गुण से सगुण होकर पुनः निर्गुणरूप हो जाते हैं तो ये निर्गुण ही कहे जायेंगे। हाँ जो सगुण कहे जाते हैं, वह एकमात्र आकृति रूप में प्रकट होने मात्र से। उसीप्रकार प्रकृति के साथ जब पुरुष प्रकट होता है तो उसे सामान्य पुरुष कैसे कहेंगे? उसमें कोई गुण तो है ही नहीं। अतः वह निर्गुण ही है। वैसे ही जिसे आप प्रकृति कहते हैं वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही है, जो प्रकट हुआ है और अन्तर्ध्यान हो जायेगा, जिसका नाम शास्त्रों में महाप्रलय दिया गया है। इतना तो आप जान ही गये होंगे कि महाप्रलय के समय दूसरा कोई महाप्रलय करने नहीं आता। वह स्वयं से सृष्टि बनकर स्वयं से पुनः द्रष्टा हो जाता है। आप तो जहर खायेंगे तब शरीररूप प्रकृति का प्रलय होगा, लेकिन वह तो एकमात्र संकल्प करेगा और प्रलय हो जायेगा।

यह प्रकृति है और उसमें रहनेवाला द्रष्टा पुरुष है– ऐसा इस मंत्र का संकेत है। यह जो दिखाई दे रही है प्रकृति, जिसे लोग संसार कहते हैं, सृष्टि कहते हैं, ब्रह्माण्ड कहते हैं, विश्वरूप कहते हैं, सूर्य–चन्द्रमा को जिसकी आँखें कहते हैं इत्यादि, इत्यादि; इस समय उस प्रकृति की आत्मा ही भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने खड़े हैं जो अनादि अनन्त हैं लेकिन जो यह आकृति है अनादि शान्त हो जायेगी, यही विलक्षण बात है। अभी कुछ समय पूर्व भगवान ने इस बात को कहा था, जिसका इस अध्याय में विस्तार हो रहा है। प्रभु बार–बार उसी बात को दोहरा रहे हैं ताकि अर्जुन की संन्यास की कामना समाप्त हो जाये। एक ऐसा पुरुष है जो जितेन्द्रिय

है, गुडाकेश है, महाबाहो है, जो धनञ्जय है उसके संन्यास का निषेध करते–करते भगवान नारायण उसे संन्यासी बना देंगे, उसके भाव–विकारों का निषेध करते–करते गृहस्थाश्रमी संन्यासी बना देंगे; उन्हें घर–बार से संन्यास लेकर साधना नहीं करने देंगे। तन एवं इन्द्रियों के संयम से प्राप्त हुई सिद्धि तो संयम के हटते ही, उसका प्रयोग करते ही कुछ ही दिनों में खत्म हो जाती है, लेकिन 'मैं आत्मा हूँ'– इस स्मृति को धारण करने से प्राप्त हुई ब्रह्मसिद्धि का कभी नाश नहीं होता, इसी रहस्य को भगवान अर्जुन के सामने खोल रहे हैं।

(प्रकृतिं पुरुषं चैव.....) अब स्थूल अर्थ इसका देखें– बाल–बच्चे, भाई–बान्धव, परिवार ही प्रकृति हैं तथा इनके बीच इन्हीं के विषय में रमण करनेवाला मैं ही पुरुष हूँ– ऐसा जाननेवाला, उस सम्पूर्ण परिवाररूप प्रकृति को छोड़कर ब्रह्मरूप हो जाता है। इसीप्रकार कोई सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को प्रकृति जानकर स्वयं सत्त्व (मैं ही आत्मा हूँ) में स्थित होकर सारे जगत से संन्यास लेकर अज्ञात हो जाता है। ठीक इसीप्रकार प्रत्येक राज्य के राजाओं के लिए उस राजा की प्रजा ही प्रकृति है। राजा यदि उन्हें भोगपदार्थ मानकर उनसे संन्यास ले लेता है तो ब्रह्मरूप हो जाता है। इसीप्रकार जो दशम् अध्याय में मुख्य विभूतियाँ हैं, वे अपनी–अपनी प्रकृति में प्रधान रहने के कारण से पुरुष कही गयी हैं। वे यदि अपनी प्रकृति को आत्मरूप होकर छोड़ दें तो वे ब्रह्मरूप हो जाती हैं। इसप्रकार आपको इतना ही समझना है कि शरीर मुझ द्रष्टारूप पुरुष के संकल्प से मुझ निर्गुण–निराकार ब्रह्म में ही प्रकट हुआ, जिसे मैंने अपना रूप ही मान लिया, यह बड़ी भारी भूल हो गयी, अब मैं पुनः द्रष्टारूप में स्थित होता हूँ। अब सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों सहित इस शरीर को भी तथा शरीर के विकारों को भी अपना नहीं मानूँगा। इसप्रकार इस अध्याय के अनुसार जो जहाँ है वहीं पर आत्मरूप होने के कारण से उसका संन्यास फलित हो जाता है।

दोनों गुरु एवं शिष्य खड़े हैं, जिसमें पहले (शिष्य अर्जुन) ने संन्यास–संन्यास की रट लगा रखी है और दूसरा (प्रभु) प्रकृति, प्रकृति, प्रकृति कहकर अर्जुन के संन्यास का खण्डन कर उसके संन्यास की हँसी उड़ाने में लगा हुआ है। अर्जुन के मस्तिष्क में अब धीरे–धीरे प्रभु की बात समझ में आने लगी है। यदि प्रभु की बात सुनने की भूमिका पहले से बनी होती तो उन्हें इतना प्रयास नहीं करना पड़ता। भगवान का कहना है कि तुम्हारे जैसा संन्यास लेना भी माया को स्वीकार करना है, सद्गुरु मिल जाने के उपरान्त उससे भी संन्यास लेकर वन को जाना मायावाद को स्वीकार करना है, सदगुरु मिल गया फिर चिन्ता करना मायावाद है। सद्गुरु के सत्संग और संसर्ग से विशेष प्रीति साधना में होना मायावाद है। अरे! सद्गुरु के मिलने से यह संकेत मिल गया कि अब भीतर भी ब्रह्म प्रकट हो जायेगा। जैसे स्वप्न में यदि कोई हवाई जहाज में बैठकर यात्रा कर रहा है तो इससे सिद्ध होता है कि उसको कुछ विशेष मिलनेवाला है– धन या पद–प्रतिष्ठा। स्वप्न में कोई पहाड़ पर चढ़ रहा है तो यह सिद्ध संकेत है कि उसकी उन्नति का मार्ग खुलनेवाला है। उसीप्रकार भगवान भी एक चोटी है और संत उस चोटी का मूल है। पहाड़ के मूल से ही उसकी चोटी पर पहुँचा जाता है। ब्रह्म सिर है और संत उसका पाँव है, जब पाँव मिल गया तो उसे पकड़कर साधक सिर तक जायेगा ही जायेगा, फिर चिन्ता किस बात की। जिस साधक को सद्गुरु मिलने के उपरान्त भी चिन्ता हो रही है तो सिद्ध होता है कि उसने

अभी घर नहीं छोड़ा है।

संत के चरणों की उपासना की जाती है। गृहस्थ संत के चरणों की पूजा करते हैं इसलिए कि उन्हें लक्ष्मी चाहिए। साधक सद्गुरु या सन्त के चरणों की सेवा धर्म समझकर करते हैं, अन्यथा यथार्थ में तो वे संत की वाणी की उपासना करते हैं, संत के सिद्धांत की उपासना करते हैं। दो उपासक होते हैं संत के पास– एक आर्त होकर आरती करता है और दूसरा प्रेम में भरकर अपने आर्ततारूपी दीपक को ही जलाकर समर्पित कर देता है। यही तो कारण है कि केवल संन्यास की बात करनेवाले महात्मा अर्जुन के पास भगवान ने प्रकृति की रट लगा रखी है। आप साधक हैं या सिद्ध हैं अपने–आप में देखें। लिए तो हैं संन्यास लेकिन आपके त्याग की बात समझ में नहीं आ रही। महाराज तो रोज कहता है कि आप आत्मा हैं, शरीर हैं ही नहीं। भीष्मपितामह ने भी भगवान से सुना था कि मैं आत्मा हूँ, लेकिन जो उनका आत्मज्ञान था वह प्रयोग में नहीं आया था, प्रयोग में नहीं आने के कारण से बुद्धि ब्रह्ममयी नहीं हो पायी थी। महाराज के गुरुदेव ने कहा था कि यदि साधना की सिद्धि में बारह साल लगे तो व्यवहार की सिद्धि में चौबीस साल भी लग सकते हैं। साधक का व्यवहार, सिद्ध का व्यवहार और संत का व्यवहार अर्थात् परम सिद्ध का व्यवहार अलग–अलग होता है। साधक के व्यवहार को साधकों के व्यवहार से देखें, सिद्ध के व्यवहार को सिद्ध तथा संत के व्यवहार को संतों के व्यवहार से देखना चाहिए।

(कार्यकरणकर्तृत्वे.....) उपरोक्त विषय को समझने के लिए ही यह मंत्र दिया गया है। शरीर कार्य है, इन्द्रियाँ करण हैं, इनके मिलने से ही विकार उत्पन्न होते हैं। जिसप्रकार मकान और दरवाजे तथा खिड़कियाँ ये दो हैं, पुरुष न भी रहे और दरवाजे–खिड़कियाँ बन्द रहें तो भी उस मकान में सूक्ष्म कीड़े प्रकट होंगे ही होंगे, सब ओर मकड़ियों का जाला लग जायेगा। यही नहीं, लकड़ियों में घुन के साथ–साथ अनेक कीड़े लग जायेंगे, वह घर अनेक कीड़ों का बसेरा हो जायेगा। इन विकारों की उत्पत्ति वहाँ हवा, उसमें नमी तथा अनेक कीड़ों के बीजरूप प्रकृति के कारण से होती है और जब पुरुष दरवाजा खोलता है तो उससे होनेवाले कष्ट को वह भोगता है। जिसप्रकार मकान में विकृति उत्पन्न होने का प्रधान कारण, मकान मालिक की असावधानी है, उसीप्रकार शरीररूप प्रकृति के कार्य और करण के उत्पन्न होने में द्रष्टारूप पुरुष की असावधानी ही कारण है अथवा यों कहें कि इन्द्रियों सहित कार्यरूप शरीर के उत्पन्न होने में अज्ञान रूप प्रकृति ही कारण है तथा प्रमादवश शरीर में प्रकट होनेवाले सुख–दुःख का भोक्ता मन के माध्यम से द्रष्टारूप पुरुष ही कहा जाता है। पुरुष अज्ञान के कारण से समझता है कि इन सुख–दुःखों का कर्ता मैं हूँ और भोक्ता भी मैं ही हूँ, ये सारे बाल–बच्चे मेरे हैं। ऐसा समझते ही हृदय में स्वजन प्रकट हो जाते हैं। अज्ञानवश कहता है कि इन्हें मैंने जन्माया। भगवान कहते हैं कि यह सोचना तुम्हारा गलत है, तुम जब अपने द्रष्टा स्वरूप से हट गये तो तन, मन, वचन, हृदय में अपने–आप विकार प्रकट हुए; उन्हीं विकारों का परस्पर में खेल है, क्रीड़ा है, जिससे अनेक शरीरों की उत्पत्ति हो गई। इसीप्रकार यह अब स्पष्ट समझ में आ गया होगा कि आप द्रष्टारूप होने के कारण से किसी को जन्माये ही नहीं हैं, अतः ये सब आपके स्वजन नहीं हैं।

यही अहर्निश याद रखना है कि ये सब प्रकृति हैं और मैं द्रष्टारूप शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ।

पिता और माता के संयोग से जैसे बच्चे प्रकट हो जाते हैं, उसीप्रकार उत्तम जिज्ञासु एवं सद्गुरु में आध्यात्मिक संवाद होने पर ब्रह्मज्ञान प्रकट हो ही जाता है। अर्जुन उत्तम अधिकारी हैं, इसलिए उन्हें भगवान भविष्य में परिव्राजक संन्यासी बना देंगे, उन्हें साधना नहीं करनी पड़ेगी। साधकों से भी भगवान का संकेत है कि मूलप्रकृति और पराप्रकृति– इन दोनों का आधार तो ब्रह्म ही है, फिर साधक किसको प्राप्त करना चाहता है, प्रकृति को क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को या ब्रह्म को? प्रकृति को तो कोई पकड़ नहीं सकता; क्योंकि वह तो प्रभु की छाया है, चाहे वह जड़ हो चाहे चेतन हो और ब्रह्म को कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता; क्योंकि जप, तप, योगादि साधनों से वह प्राप्त होता नहीं; जिसको वह चाहता है उसी को प्राप्त होता है। इसलिए वह अपने को कर्ता क्यों मानता है? द्रष्टा क्यों नहीं मानता?

(पुरुषः सुखदुःखानां.....) पुरुष ने सुख और दुःख का भोक्ता अपने को मान लिया, जबकि ऐसी बात नहीं है। अतः इस ज्ञान को धारण करें, चौबीसों घण्टे। ऐसा ज्ञान, नवम् अध्याय में भी है, यह तेरहवें अध्याय का ज्ञान है, सातवें अध्याय का ज्ञान और दूसरे अध्याय का भी ज्ञान है। ज्ञान याद रहे तो विकार कहाँ रहेंगे। अतः जिस वस्तु के लिए आप ध्यान कर रहे हैं उस वस्तु को यदि प्रकाशित किया जा रहा है तो उसको याद क्यों नहीं करते? उसको याद करना ही प्रकृति से संन्यास लेना है, माया से संन्यास लेना है अर्थात् अपने स्वरूप को याद करना ही संन्यास लेना है। भगवान कह रहे हैं कि आपने जन्माए नहीं, नहीं जन्माने के कारण से ये स्वजन आपके हैं नहीं। 'उद्धरेदात्मनात्मानं'– छठे अध्याय में कहा प्रभु ने अपना उद्धार करें, और यहाँ कहते हैं जो सदा–सर्वदा उद्धारित है उसका क्या उद्धार करना। छठे अध्याय में भगवान ने कहा कि बैठें, आसन लगाएँ, ध्यान करें इत्यादि इत्यादि लेकिन यहाँ गूढ़ात्मक तत्त्व को समझा दे रहे हैं। जो गुडाकेश है, जो सदा जागता रहा है, वह सोनेवालों को मार डालता है अर्थात् जो सदा सजग है, वह असजग को मार डालेगा। प्रकृति असजग है– एक अवस्था आती है कि लक्ष्मण मेघनाद को मार देते हैं। वरदान माँग लिया है उसने, वह क्रोध की प्रतिमूर्ति है, कुम्भकर्ण लोभ की प्रतिमूर्ति है, उसका पेट भरता ही नहीं, रावण काम की प्रतिमूर्ति है। गुडाकेश हो करके ही मेघनाद मारा जायेगा। विचार करेंगे कि मेघनाद प्रकट हो गया है, कुम्भकर्ण प्रकट हो गया है, रावण प्रकट हो गया है, राम के नहीं होने से रावण प्रकट हो गया है। बाली प्रमादी एवं विलासी बन गया, यद्यपि बलवान था रावण से, अतः त्रिलोकपति कहलाया रावण। ऐसे ही काम, क्रोध, लोभ– ये तीन प्रकार के विकार प्रकट हो गये हैं, असजगता में, प्रमाद में अथवा सद्गरु के नहीं मिलने पर। सद्गुरु मिल गया, बता दिया उसने तो गुडाकेश हो जाएँ, जितेन्द्रिय हो जाएँ। जो एक पत्नीव्रता होगा और गुडाकेश होगा अर्थात् निद्राविजयी होगा वही मेघनाद को मारेगा तथा वही 'मैं ब्रह्म हूँ'– ऐसी घोषणा करेगा, वही कामरूपी रावण को मारेगा। काम को राम मारेंगे। ये दोनों ज्ञान से मारे जाते हैं, क्रोध तो जितेन्द्रियता से मारा जाता है, यह संकेत है। ये मारे जाते हैं क्योंकि ये विकार हैं, निर्विकारी विकारी को मार डालता है। भगवान ने कहा ये शरीर के विकार हैं, आप निर्विकार हैं। निर्विकारी विकारों को भी संकल्प से मारता है, कहता

है कि आओ देखता हूँ कहाँ से आ रहे हो? हड्डी से, रक्त से या मांस से आ रहे हो या स्वजनभाव होने से आ रहे हो? यदि बाल–बच्चे, भाई–बान्धवभाव से आ रहे हों तो अब वे मेरे कुछ लगते नहीं हैं, वे सब तो मन के विविध रूप हैं। 'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'– इसप्रकार पुरुष जब शरीर को ही अपना रूप मान लेता है अथवा अपना शरीर मान लेता है तो इसी के माध्यम से सुख और दुःख को भोगता है और जब वही आत्मरूप में स्थित हो जाता है तो शरीर सहित भोक्ता कहा जाता है। कहाँ भोगता है! कैसे भोगता है? यह प्रश्न किया महात्मा अर्जुन ने तो भगवान कहते हैं–

(पुरुषः प्रकृतिस्थो हि.....) पुरुष प्रकृति में स्थित होकर गुणों को भोगता है। किस प्रकृति में स्थित होकर? इसके उत्तर में कहते हैं कि राजस, तामस एवं सात्त्विक प्रकृति में स्थित होकर अर्थात् तामस प्रकृति को स्वीकार करके नींद, आलस्य एवं प्रमाद नामक तामस सुख को भोग रहा है, राजस प्रकृति अर्थात् विचारों को अपना मानकर स्त्री को धर्मपत्नी बनाकर कामरूप सुख को भोग रहा है, सतोगुण को अपना मानकर समाधि का सुख भोग रहा है। तामसी पुरुष नींद का सुख लेते हैं, राजसी काम का और सात्त्विक पुरुष समाधि का आनन्द लेते हैं, अतः तीनों ही मूर्ख हैं। एक तरफ अधम योनियों में जाना भी नहीं चाहते हैं दूसरी तरफ उन्हीं योनियों में जाने का कर्म भी कर रहे हैं। समाधि के अभाव में ही यहाँ सारे के सारे दुःखी हैं। समाधि–समाधि, ध्यान–ध्यान, ध्यान की रट लगा रखे हैं, लेकिन अकेले में तीन घण्टे बैठकर चिन्तन नहीं करना है इनको! अरे! नींद आ रही है तो आने दें नींद को, खड़े होकर चिन्तन करें; इसमें क्या जाता है? पहले भूमिका बना लें अच्छीप्रकार चिन्तन से, शरीर को तपा दें तप से, इसके बाद ये तीनों प्रकार के विचार निष्क्रिय हो जायेंगे, कुण्ठित हो जायेंगे, जैसे भोजन न दें तो नींद कुण्ठित हो जायेगी। व्रत के दिनों में इसकी सबको अनुभूति होती है। 'कार्यकरणकर्तृत्वे'– नींद एक कार्य है, जिसका करण भोजन है। जब भोजन नहीं देंगे तो नींद कहाँ से आयेगी। विचार एक कार्य है और विचारों के सहयोगी माता–पिता, भाई–बान्धव करण हैं, इनको जब अपना नहीं मानेंगे तो फिर वे विचार कहाँ से आयेंगे? वैसे ही जप, तप, योग, ध्यान करण हैं और ज्योतिर्मय समाधि उसका कार्य है। उससे आगे बढ़ें, उसे छोड़ें, उससे अनासक्त होवें; यह तो सतोगुण का लक्षण है। 'समाधि द्वारा लोक–लोकान्तरों में घूमने का मन करता है'– ऐसा सुनने से बुद्धि में भ्रम पैदा हो गया है (श्रुतिविप्रतिपन्ना ते..... अ०– २)। असंख्य लोक होते हैं चित्त के भीतर में भी, अतः जैसे बाहर घूमने का मन करता है वैसे ही भीतर घूमने का मन करता है। वह काम ही है जो भीतर–बाहर घुमाता है और कोई नहीं है। बहुत सी कहानियाँ हैं जिन्हें आपसब जानते हैं। चल दिये संन्यास लेकर वनप्रदेश में और समाधि के सुख तथा सिद्धियों में फँस गये। जिन लोगों ने मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओं को स्वीकार किया है उन–उन का इतिहास देखें, जीवनी पढ़ें। वे किसी न किसी अर्थ में अनैतिक रहे हैं, भगोड़े रहे हैं, महत्त्व नहीं दिया अपने आचार्यों को इसलिए उनकी यह दुर्दशा हुई। बड़े अहंकारी हुए हैं वे गुरु का महत्त्व नहीं समझा शिखिध्वज जैसा। शिखिध्वज ने अपनी विदुषी धर्मपत्नी का महत्त्व नहीं समझा, उसने तो उन्हें आत्मज्ञान दे ही दिया था लेकिन उनको लगा कि ये बकवास कर रही है,

सुनी–सुनायी बात कर रही है। बड़ा अपमान किया, बड़ा अपमान किया उस राजा ने अपनी साध्वी धर्मपत्नी का, जैसे बाली ने तारा का अपमान किया, रावण ने मंदोदरी का अपमान किया, वैसे ही बहुत अपमान कर दिया। कहा कि खाओ–पीओ और रति में आनन्द की अनुभूति करो, क्यों बकवास करती हो? घर में यदि ब्रह्मज्ञान होने लगे तो फिर संन्यास क्यों बनाया गया और तेरी जैसी स्त्री को आत्मज्ञान हो जाए तो फिर तो ब्रह्मर्षिपद, महर्षिपद, मुनिपद इत्यादि इत्यादि पद सब व्यर्थ हो जायेंगे। क्यों ढोंग करती हो? इसप्रकार अवहेलना कर दिया उस साध्वी का। उसने (साध्वी ने) सोचा कि ओह! जीव का प्रमाद भी कितना सामर्थ्यवान है। हे मन! अभी इनको भटकने दो, छोड़ दो। कुछ वर्षों के उपरान्त आधी रात को सच में शिखिध्वज वन को चले गये तब उसने सोचा कि जाओ मरो, तप करो! महत् बुद्धि नहीं होने से सद्गुरु भी कहता है कि जाओ मरो, करो साधना, अन्त में तो घूम–फिरकर यहीं आना है।

एक संत सदा ध्यान–समाधि में रमण करनेवाले अपने शिष्य से कहते– आओ, आओ! मैदान में आओ, प्रयोग में उतरो लेकिन उसे बात समझ में नहीं आती थी परन्तु ज्ञानोपरान्त उसने कहा– खोदा पहाड़ निकली चुहिया अर्थात् जो सुना और देखा वह सबका सब प्रकृतिवाद ही है, सब मायावाद है। यदि पहले ही गुरुदेव की बात मानकर 'अहं ब्रह्मास्मि' को प्रयोग में लाता तो कठोर साधना नहीं करनी पड़ती। अतः आप ध्यान दें कि जब आप दूसरे को देखते हैं तो प्रकृति में स्थित हो जाते हैं और अपने को देखते हैं तो प्रकृति से परे हो जाते हैं। शरीर शरीर है, आप आप हैं और विकार विकार है, अतः प्रकृति की विकृति को आप अपनी विकृति क्यों मान लेते हैं? आप अपने साक्षीस्वरूप में क्यों नहीं रहते? ऐसा भगवान का संकेत है।

अब देखें युद्ध के मैदान में कि प्रभु का संकेत क्या है अर्जुन से– (पुरुषः सुखदुःखानां.....) हे पार्थ! राजा पुरुष होता है और प्रजा प्रकृति होती है, इस न्याय से धृतराष्ट्र अपनी मूर्खतारूप प्रकृति में स्थित हैं और उसी के द्वारा सुख–दुःख का अनुभव कर रहे हैं। ये पितामहभीष्म प्रतिज्ञारूप प्रकृति में स्थित हैं किन्तु ये समझते हैं कि मैं ब्रह्मचर्य पद में स्थित हूँ। किसी ब्रह्मचारी की ऐसी दुर्दशा नहीं होती। तुम भी अपने स्वजनरूप प्रकृति में स्थित हो गये थे जबकि तुम आत्मा हो, पुरुष हो। अतः अब प्रकृति एवं विकृति दोनों को मसल डालो। यह तो तुम अब भलीभाँति जान ही गये होगे कि पिता के संसर्ग से पितृलोक, स्त्री के संसर्ग से स्त्रीलोक, पुत्र के संसर्ग से पुत्रलोक, किसी को दुर्योधन के संसर्ग से अधमलोक और भीष्मपितामह को धृतराष्ट्र के संयोग से अन्धलोक अर्थात् तामसलोक प्राप्त हो गया है। पितामहभीष्म जानते हैं कि मैं साक्षात् नारायण हूँ तो भी वे मेरे विपक्ष में अर्थात् अन्धलोक में खड़े हैं।

साधक के भी यदि माता–पिता, भाई–बान्धव, मित्र आदि धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन की जगह ही हैं और उसे सद्गुरु मिले हुए हैं, फिर भी उन्हीं धृतराष्ट्र एवं दुर्योधनों के साथ है तो उसमें और पितामहभीष्म में कोई अन्तर नहीं है; जबकि भगवान कहते हैं कि

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२३॥

हे पार्थ! इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ प्रेरणा करनेवाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण–पोषण करनेवाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, सारे ईश्वरों का ईश्वर होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा– ऐसा कहा गया है। इसप्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सबप्रकार से कर्तव्यकर्म करता हुआ भी, फिर फिर नहीं जन्मता।

(उपद्रष्टानुमन्ता च.....) इस मंत्र का आध्यात्मिक संकेत है कि आप ही अनुमन्ता भी हैं, भर्ता भी हैं, भोक्ता भी हैं, महेश्वर भी हैं, परमात्मा होने से शरीर से परे भी हैं। जैसे एक ही वह पुरुष है जो धर्मपत्नी के पास अपने को पति कहता है, पुत्र के पास अपने को पिता कहता है, सेवक के पास अपने को स्वामी कहता है, सद्गुरु के पास अपने को शिष्य कहता है, स्वामी के पास अपने को सेवक कहता है। एक जगह गुरु के पास ज्ञान लेता है तो जिज्ञासु कहलाता है और उस ज्ञान को लेकर बेटे को दे देता है तो वहाँ पर ज्ञानी कहलाता है यानी शिव कहलाता है, सद्गुरु कहलाता है। एक जगह भर्ता कहलाता है तो एक जगह भोक्ता कहलाता है, एक जगह अनुमन्ता कहलाता है। 'उपद्रष्टा'– अपने स्वामी के पास उपद्रष्टा होता है तो स्वामी उसके लिए महाद्रष्टा हो जाता है। इन्द्रियाँ द्रष्टा हैं शरीर का, मन द्रष्टा है इन्द्रियों का, बुद्धि द्रष्टा है मन का, चित्त द्रष्टा है बुद्धि का, अहंकार द्रष्टा है चित्त का, प्रकृति द्रष्टा है अहंकार का, मूल प्रकृति द्रष्टा है प्रकृति का, पुरुष अर्थात् आत्मा द्रष्टा है मूल प्रकृति का। 'उपद्रष्टा'– जब आप उपद्रष्टा होते हैं तो महाद्रष्टा होता है सद्गुरु आपका, इन्द्र और उपेन्द्र जैसा। वहाँ तो उलटा है, इन्द्र के लिए भगवान वामन ब्रह्मचारी वेश में आये, इन्द्र के बगल में बैठे इसलिए वे उपेन्द्र कहलाए। आये थे इन्द्र के आवाहन से, इन्द्र ने सिंहासन छोड़ दिया, भगवान को सिंहासन पर बिठाना चाहा लेकिन उन्होंने कहा कि नहीं तुम बैठो इसपर। ब्रह्मचारी के वेश में थे न! अतः पलंग पर नहीं बैठ सकते, सिंहासन पर नहीं बैठ सकते, बगल में पलंग पर औपचारिकता से मृगछाला लगा ली और बैठ गये, इन्द्र लज्जित का लज्जित रह गया। त्यागवृत्ति दिखाई उपेन्द्र ने अर्थात् भगवान वामन ने।

'उपद्रष्टानुमन्ता च'– चलें, आप उपद्रष्टा होते हैं तो भगवान आपका परम द्रष्टा होता है। जबतक आप उपद्रष्टा नहीं होते तबतक आपका द्रष्टा, उपद्रष्टा और महाद्रष्टा प्रकृति है। यदि आप उपद्रष्टा हैं और आपके सद्गुरु महाद्रष्टा हैं तो कालान्तर में आप भी महाद्रष्टा हो जाते हैं। 'उपद्रष्टानुमन्ता च'– प्रकृति (तन, मन, वचन) जब शुद्ध हो जाती है तो उपद्रष्टा कहता है– क्या करना चाहिए? यदि भीतर से उत्तर आ जाता है तो विशुद्ध चित्त ही अनुमन्ता कहलाता है। निर्मल हृदय है यदि तो उसमें प्रश्न डाला उत्तर आया अर्थात् यथार्थ निर्णय देता है कि कब क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। 'भर्ता'– निष्काम कर्म ही आपका भर्ता है, सद्गुरु की आज्ञा द्वारा किया हुआ कर्म ही निष्काम कहा जाता है, वही आपका भरण–पोषण करता है, वही

ब्रह्मकर्म आपको अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देता है फिर आप भोक्ता कहे जाते हैं। किसके? प्रकृति के, अर्थात् पहले आप प्रकृति के गुणों के भोक्ता थे, अब कहते हैं कि उपद्रष्टा होते ही आप गुणों के द्रष्टा हो गये। 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्' और अपने उपासकों के जप के भोक्ता होते हैं आप, तप के भोक्ता होते हैं आप, यज्ञ के भोक्ता होते हैं आप, स्वाध्याय के भोक्ता हो जाते हैं, वही आपका भोजन होता है, समाधि के भोक्ता हो जाते हैं आप। कौन समाधि? ज्ञान समाधि। यह सबकुछ आपका भोजन होता है। 'भर्ता भोक्ता महेश्वरः'– आप ही फिर महेश्वर कहे जाते हैं, सम्पूर्ण ईश्वरों पर शासन करने के कारण से आप महेश्वर होते हैं। जो ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है वह ईश्वर कहलाता है, जिसमें बल, वीर्य, मधुरता, उदारता, गम्भीरता इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं वह भगवान कहलाता है। चींटी पर आप शासन करते हैं इसलिए चींटी के लिए आप भगवान हैं, पशु पर आप शासन करते हैं इसलिए पशु के लिए आप भगवान हैं; क्योंकि आप उससे बल, वीर्य, उदारता, मधुरता में विशेष हैं। सम्पूर्ण प्राणियों पर आप शासन करते हैं; इसलिए आप शरीर के माध्यम से उनके स्वामी कहे जाते हैं। 'महेश्वरः'– वे सब ईश्वर हैं, उन सबमें ईश्वर है। चींटी से लेकर सारे प्राणियों में कुछ न कुछ दिव्य–गुण पाये जाते हैं, जो मनुष्य में नहीं होते। जैसे चींटी के पास घ्राणशक्ति विशेष है, गिद्ध के पास दूरदृष्टि विशेष है, कुत्ते के पास सूँघने की शक्ति विशेष है, कौवे के पास सजगता विशेष है, बगुले के पास एकाग्रता विशेष है इत्यादि इत्यादि। उन ईश्वरों पर आप शासन करते हैं, इस कारण से आप महेश्वर हैं। महाराज ने एक घेरे को लाकर खड़ा किया है। सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों पर आप शासन करते हैं शरीर के माध्यम से, अतः जितने भी मनुष्य वर्ग हैं, वे उन प्राणियों के लिए महेश्वर हैं। ये प्राणी भी अपने से निर्बल प्राणियों के लिए ईश्वर हैं। चूहे पर साँप, साँप पर नेवला और मोर– ये सब एक–दूसरे पर शासन करते हैं। ऐसा कोई नहीं जिसके शासन करने के लिए प्राणि या पदार्थ नहीं हैं। चींटी भी अपने से छोटे कीड़ों को खाती है, उनपर शासन करती है किन्तु सम्पूर्ण ईश्वरों पर आप शासन करते हैं, अतः उनके लिए आप महेश्वर होते हैं।

शरीर पर मन शासन करता है, मन पर बुद्धि; परन्तु प्राण इन सबपर शासन करता है अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों और शरीर पर। सम्पूर्ण ईश्वरों का ईश्वर प्राण है और उस प्राण नामक ईश्वर के ईश्वर आप हैं; क्योंकि आप चाहें तो उसे प्राणायामादि क्रियाओं द्वारा वश में कर सकते हैं या तन, मन, वचन सहित उससे उदासीन हो सकते हैं, इसलिए आप महेश्वर कहे जाते हैं।

'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'– प्राण पर शासन करते–करते प्राण को छोड़ दिये अर्थात् प्राण से अनासक्त हो गये और प्राण आत्मा है इन सबका; लेकिन उस प्राण पर शासन किया आपने, अतः आप ही परमात्मा हो गये अर्थात् परमात्मा कहलाये, कैवल्यमय, परम शान्तिमय, परमपदमय हो गये।

भगवान मानो अर्जुन से भी यही बात कह रहे हैं– हे कौन्तेय! तुम इस समय इन सारे ईश्वरों पर शासन करने के कारण से महेश्वर हो और तुम्हारे जैसे महेश्वर पर शासन करनेवाला मैं परमेश्वर हूँ। जब तेरे जैसे पर मैं शासन कर सकता हूँ तो तेरे से तो ये सब तुच्छ ही हैं।

जो सम्पूर्ण आत्मा पर शासन करता है वही परमात्मा कहलाता है। क्रमशः एक ही पुरुष एक समय में जीव होता है तो दूसरे समय में साधक होता है, तीसरे समय में सिद्ध होता है और चौथे समय में ब्रह्म (संत) हो जाता है। जैसे एक समय का बच्चा दूसरे समय में जवान कहा जाता है; वही जवान, बच्चे पर शासन करता है, फिर बूढ़ा होता है तो वही, जवान पर शासन करता है, फिर उसी बूढ़े पर गुरु शासन करता है इत्यादि इत्यादि।

'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'– अबतक भगवान नारायण ने बहुत कुछ कह दिया यह संकेत समझने के लिए। क्या कहा? यही कि प्रकृति एवं पुरुष दोनों एकसाथ प्रकट होते हैं लेकिन जब पुरुष अपने को द्रष्टा मान लेता है तो कालान्तर में वही पुरुष महेश्वर और परमेश्वर हो जाता है, क्रमशः उत्तरोत्तर आगे बढ़ता है अर्थात् जब छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े सम्पूर्ण प्रणियों (आत्माओं) पर शासन करने लगता है तो आत्मा से परमात्मा हो जाता है। इसको इसप्रकार भी समझना चाहिए कि पहले वह आत्मा होता है; क्योंकि अपने शिष्यों पर ही शासन करता है फिर बाद में परमात्मा हो जाता है; क्योंकि सृष्टि में जितने भी निष्कामी साधक हैं, वे ही आत्मा हैं, वह उनपर शासन करता है। वह उनपर क्या शासन करेगा जो आत्मा होकर भी आत्मा नहीं हैं! उन क्षुद्र प्राणियों पर क्या शासन करेगा, विषयी पुरुषों पर क्या शासन करेगा; शेर, चूहे पर क्या शासन करेगा। यहाँ यह संकेत है कि वह परमात्मा आत्माओं पर शासन करता है। जो अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करते हैं वे ही आत्मा हैं और उन आत्माओं पर शासन करने से वह परमात्मा कहलाता है। 'भोक्तारं यज्ञ तपसां'– वह उन आत्माओं के सारे योग, जप, तप को लेकर उसके बदले में अपने को दे देता है अर्थात् अपना पद दे देता है।

संत कहते हैं– एक ही बार लंकेश कह दिया प्रभु ने– आओ लंकेश! आओ! जाम्बवन्त, सुग्रीव, लक्ष्मण घोर संकट में फँस गये। हे प्रभु! यह क्या कहा आपने? प्रभु ने कहा– क्या कह दिया मैंने? यही कि इन्हें लंकेश कह दिया आपने! ये आपको देखते रह गये! जो आपके सामने आता है वह देखता रह जाता है। शूर्पणखा आती है तो वह आपको देखती रह जाती है, खर–दूषण आते हैं तो देखते रह जाते हैं आपको। कहीं रावण भी आपका सामना करने आया और आपको देखता रह गया, आपके शरणागत हो गया फिर? दर्शनीय है जो उसको द्रष्टा देखता रह जाता है। आप ब्रह्म हैं इसलिए ब्रह्म के निकट आते ही जीव आपका द्रष्टा हो जाता है। उस अवस्था में क्या करेंगे आप? प्रभु ने कहा– फिर लंका को उसी के पास रहने देंगे और इन लंकेश को अयोध्या का नरेश बना देंगे। इसप्रकार वह द्रष्टा होते ही अपना परमपद देता है, अपना परमपद देता है।

(उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता.....) आशय इस पद के द्वारा देखें–

ब्रह्म ही था ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही रहेगा।
चाहे बने असंख्य वह एक ही रहेगा।।

जिसे कहे संसार वह संसार ही नहीं है।
संसार एक भाव है कुछ सार वह नहीं है।।

सांख्य के सिद्धान्त में हैं पाँच तत्त्व मानते।
अनुमान का यह भाव है नहिं सत्य इसको जानते।।

मायावी माया कह रहे यह भाव का ही अंग है।
माया की भी माया क्या जब ब्रह्म ही असंग है।।

ब्रह्म से ही ब्रह्म प्रकट हो रहा है किस तरह।
मानव का संकल्प प्रकट हो रहा है जिस तरह।।

कहते उसे विचार जब जागने में हो रहा।
स्वप्न जगत तब कहें जब व्यक्ति मानो सो रहा।।

स्वप्न और विचार को निकाल दो तो कौन है।
द्रष्टा की धार बह चले वह ब्रह्म का ही मौन है।।

महाराज ब्रह्म रूप दे सुनु ध्यान से रे आत्मा।
उस रूप का बखान करे दूर हो अनात्मा।।

ज्योतिर्मय प्रदेश जिसको जानते सब सन्त हैं।
सिर हुआ इस ब्रह्म का जो आदि है न अन्त है।।

चन्द्रमा को देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म का वह मन हुआ ज्ञानीजन हैं जानते।।

सूर्य को देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म की वह आँख है सन्त जन ही जानते।।

आकाश को हैं देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म की वह सन्धि है सन्त सब हैं जानते।।

वायु को हैं देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म का यह प्राण है सन्त जन हैं जानते।।

अग्नि को हैं देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म का वह मुख कहा सन्त सब हैं जानते।।

जल को देवता ग्रह कुछ ऋषि हैं मानते।
इस ब्रह्म की यह वस्ति है सन्त जन हैं जानते।।

वाणी को ग्रह देवता सरस्वती कुछ मानते।
इस ब्रह्म का वह वेद है सन्त जन हैं जानते।।

मानव में निष्काम आप्तकाम सदाचार है।

इस ब्रह्म में ये दिव्य और ब्रह्ममय विचार है।।

मानव में जो देव देवी की करे अराधना।
इस ब्रह्म में राजस विचार है सही तुम मानना।।

पशु पक्षी कीट भी जो प्राण से जीवित रहे।
इस ब्रह्म में तामस विचार सिद्ध जन हैं सब कहें।।

जब से प्रकट हुआ है दृश्य ब्रह्म न सब हैं जानते।
तब से विचार आ रहे और जा रहे हम मानते।।

ब्रह्ममय विचार हो या तुच्छ से सामान्य हैं।
त्रिकाल में इस ब्रह्म को अमान्य है अमान्य है।।

राम और कृष्ण सी प्रकट हुई विभूतियाँ।
वसिष्ठ बाल्मीकि सी बहुत हुई हैं मूर्तियाँ।।

इस ब्रह्म ने पूछा नहीं क्यों जा रहे तुम छोड़कर।
तुम दिव्य आत्मा सुनो क्यों जा रहे मुँह मोड़कर।।

इस ब्रह्म का द्रष्टापना सहज बना है आज भी।
अध्यात्मनिष्ठ जानते यह गुप्त दिव्य राज भी।।

महाराज अब सन्देश दे रहा है उसको मान लो।
जिस तन को अपना मानते विचार इसको जान लो।।

जा रहा विचार सोते जागते सब जानते।
क्यों नहीं तुम देखते बस देखते पहचानते।।

बाहर खड़ा जो ब्रह्म है इस पिण्ड में भी भाषता।
थोड़ा नहीं ज्यादा नहीं बस वही है आसता।।

पिण्ड है आदर्श यह इस ब्रह्म का तुम मान लो।
उस द्रष्टा के आदर्श हो तुम स्वयं द्रष्टा जान लो।।

किंचित विचार मत करो बस स्वयं को देखा करो।
द्वैत और अद्वैत के प्रपंच में तुम मत पड़ो।।

कुछ साल के अभ्यास से तुम स्वयं ही रह जाओगे।
तर जायेगी सब मान्यता तुम स्वयं ही कह जाओगे।।

स्वयं को देखना कभी स्वयं को चिन्तन करे।
स्वयं का कभी हो मनन कभी स्वयं का मन्थन करे।।

स्वयं के स्वरूप में संसार भाव जब चले।
नकार दे नकार दे चिन्तन में उसको तब मले।।

फिर देखता रह जायेगा संसार नहीं आयेगा।
बस स्वयं को तू भायेगा बस स्वयं को तू भायेगा।।

महाराज इस राज को भी आज तुझको दे दिया।
जिस भाव से तुम मर रहा था आज उसको ले लिया।।

कहना था जो भी तुमसे सच में उसको कह दिया।
स्वीकार लो स्वीकार लो स्वीकार लो यह सह दिया।।

(य एवं वेत्ति पुरुषं.....) इसप्रकार प्रभु कहते हैं कि हे महाबाहो! मैं समझता हूँ कि अब तक तूने मेरी बात समझ ली होगी। तुम न प्रकृति हो और न प्रकृति के विकार तुम्हारे हैं, तुम वही सनातन परम पुरुष हो, इसलिए विकारों सहित इस प्रकृति का परित्याग कर दो।

प्रभु ने हर पद में 'अहं ब्रह्मास्मि' पद को ही लाकर खड़ा किया है। जिसप्रकार पिता अपने पुत्र को अज्ञानोपदेश द्वारा हर तरह से घेरे रहता है कि कहीं यह भगवान के घेरे में आकर घर, बार, परिवार को छोड़ न दे। उसीप्रकार प्रभु ने गीताजी के माध्यम से अर्जुन का बहाना बनाकर साधकों पर घेरा बना रखा है। मानो वे कह रहे हैं कि दूध में छिपे हुए घी को पहचानकर चतुर पुरुष दूध से घी को अलग कर ही लेते हैं। उसीप्रकार कोई साधुपुरुष चोरों के बीच में आ गया है तो वह उनसे छिपकर आधी रात को भाग ही जाता है। साधक ब्रह्म की संस्कृति है और शरीर संसाररूप प्रकृति की विकृति है। शरीर प्रकृति का आदर्श (संकल्प) है और शरीर का द्रष्टा ब्रह्म का आदर्श है– ऐसा जिसने विश्वास कर लिया वह जन्मने–मरने से मुक्त हो ही जाता है।

(य एवं वेत्ति पुरुषं.....) एक समय आया था जब भगवान ने कहा था कि आत्मा संकल्प से ही एक से अनेक हो जाता है और अब यहाँ कह रहे हैं कि जो काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विकार हैं, वे प्रकृति की विकृति हैं, जैसे कपड़े में असावधानी के कारण से जूँएँ पड़ जाते हैं। शरीर का पसीना और कपड़े का संयोग जब होता है तथा सिर का पसीना और सिर के बाल का संयोग होता है तो भी जूएँ प्रकट हो जाते हैं। उसीप्रकार अपने स्वरूप को नहीं जानने के कारण से द्रष्टारूप पुरुष एवं शरीररूप प्रकृति का संयोग होनेपर तीन प्रकार के गुणों के साथ–साथ तीन प्रकार के विचार भी प्रकट हुए। यदि पुरुष ऐसा जान लिया तो उसका जानना बहुत महत्त्व का हो गया; क्योंकि प्रकृति से पुरुष असंख्य गुना बलवान है। अथवा यों कहें कि पुरुष के संकल्प से प्रकृति गमन करनेवाली है। अतः जिसप्रकार कपड़े में पड़े हुए जूँओं को गर्म जल में दवा डालकर मार डालते हैं, उसीप्रकार पुरुष ज्ञानाग्नि जलाकर तीनों गुणों सहित सम्पूर्ण काम–क्रोधादि विकारों को मार डालता है या जैसे कपड़े की गन्दगी को दूर करने के लिए कोई धोबी को दे देता है, उसीप्रकार सद्गुरुरूप भगवान को ही अपना शरीररूपी वस्त्र देकर सम्पूर्ण विकारों को दूर करा लिया जाता है। फिर तो धीरे–धीरे शरीररूप प्रकृति से ही

अनासक्त होते–होते सदा–सर्वदा के लिए शरीर से ही संन्यास ले लिया जाता है।

(य एवं वेत्ति पुरुषं.....उपद्रष्टानुमन्ता च.....) भगवान जब ऐसा कह रहे हैं कि जो पुरुष एवं प्रकृति तथा प्रकृति के गुणों के रहस्यों को अच्छीप्रकार जान जाता है, वह कर्मों में बर्तता हुआ भी पुनः जन्म नहीं लेता, तो इसका तात्पर्य है कि भगवान एक प्रयोग दे रहे हैं। यह ऐसा प्रयोग है जिसमें दर्शन पहले है क्रिया बाद में। अपने द्रष्टास्वरूप में प्रतिष्ठित होकर फिर प्रारब्ध का, गुणों के माध्यम से प्रकट होकर सम्पूर्ण इन्द्रियों से अपना–अपना कर्म करने को देखना– यह इसप्रकार का प्रयोग है। मैं देख रहा हूँ कि अहर्निश मैं और मेरा कहनेवाला पुरुष अब जग गया है, इस दिव्य दर्शन से शरीर के जगने रूप क्रिया को देखना, इसके द्वारा जल पीये जाते देखना, शौच–स्नान होते देखना, भोजन–प्रसाद खाते देखना, किसी से बात करते देखना, जप, तप, ध्यान आदि सूक्ष्म क्रियाओं को करते देखना, साम, दान, दण्ड, भेद आदि नीतियों का प्रयोग होते देखना, इस पुरुष का कभी हँसने के अवसर पर आती हुई हँसी को देखना, रोने के अवसर पर आती हुई रुलाई को देखना– यह इसप्रकार का प्रयोग है। इसप्रकार आप प्रयोग करना प्रारम्भ करते हैं तो कुछ ही महीने में आप 'उपद्रष्टा' हो जायेंगे और जहाँ 'उपद्रष्टारूपता' की सिद्धि हुई कि सिद्धों का विवेक प्राप्त हो जायेगा और आप 'अनुमन्ता' नामक सिद्धि को प्राप्त कर जायेंगे। वह क्या है? यही कि प्रकट हुई वृत्तियों को कब स्वीकार करना चाहिए कब स्वीकार नहीं करना चाहिए– इसकी शक्ति प्राप्त हो जायेगी। इसके उपरान्त शरीर, प्रकृति एवं प्रारब्ध पर आपका शासन हो जायेगा, जिससे आप स्वयं भर्ता कहलायेंगे। भर्ता नाम की एक सिद्धि है, वह क्या है? यही कि शरीर, प्रकृति एवं प्रारब्ध का भी आप भरण–पोषण करेंगे। इसका तात्पर्य है कि इन तीनों के ब्रह्मानन्दरूप दिव्य भोग के भोक्ता बन जायेंगे। उसके उपरान्त सम्पूर्ण ऐश्वर्यों पर शासन होने से महेश्वर पद की और शरीर, प्रकृति तथा प्रारब्ध की भी आत्मा (स्मृति) होने से परमात्म पद की प्राप्ति हो जायेगी; जिससे पुनः जन्म–मरण की कहानी का अता–पता भी नहीं रहेगा। फिर कहा महात्मा अर्जुन ने कि कम से कम एक रास्ते से तो बताएँ कि मैं क्या करूँ, अर्थात् मेरे जैसा साधक क्या करे, वह कैसे देखे इस आत्मा को? किस ढंग से देखे! भगवान ने पुनः बताया–

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

हे पार्थ! कोई तो ध्यानयोग से अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, कोई राजयोग से और कोई सांख्ययोग से तथा कोई कर्मयोग से। इतना ही नहीं, कोई–कोई तो श्रद्धावान सद्गुरु से आत्मतत्त्व को सुनकर ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

यहाँ मानो भगवान ऐसा कहना चाहते हैं कि तुम तो राजयोगी हो। तुम्हारे जैसे श्रद्धावान

साधक को यदि ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल जाय तो फिर वह साधक राजयोग से ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर, (यदि गृहस्थाश्रम में है तो) राजा जनक की तरह लोकसंग्रह के लिए कर्मयोग करता रहेगा और संन्यास आश्रम में है तो सम्पूर्ण जगत को त्यागकर शुकदेव जैसा ही अज्ञात होकर ज्ञानसमाधि में बैठ जायेगा या विचरण करता रहेगा। किन्तु जिनकी सामर्थ्य कर्मयोग में भी नहीं है, सांख्ययोग अथवा ज्ञानयोग में भी नहीं है; किन्तु ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा हो गई है तो वे क्या करेंगे?

भगवान मानो यहाँ संकेत कर रहे हैं कि कोई छठे अध्याय के ध्यानयोग के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, कोई नवम् अध्याय के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, 'अन्ये सांख्येन योगेन'– कोई दूसरे अध्याय के माध्यम से अर्थात् सांख्ययोग के माध्यम से अपने–आप में स्थित हो जाते हैं। सांख्ययोग क्या है? रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण आदि जिसमें संख्याएँ उत्पन्न होती हैं, वह सांख्ययोग है। जिससे प्रकृति के अंगोपांग उत्पन्न होते हैं, वह सांख्ययोग है; जो संख्याओं को अलग करके स्वयं अलग हो जाय, वह सांख्ययोग है। एक आत्मा है और चौबीस प्रकृति है– चौबीस प्रकृति संख्या है, अतः यह सांख्ययोग है। आत्मा और प्रकृति– यह सांख्ययोग है। रजोगुण, तमोगुण ही कर्ता हैं, आत्मा द्रष्टा है, यह सांख्ययोग है। प्रकृति करती है, उसका करना उसकी विकृति कही जाती है और वह द्रष्टा है, यह सांख्ययोग है। 'सांख्येन योगेन'– इसप्रकार कोई द्वितीय अध्याय के माध्यम से देखता है और कोई अर्जुन जैसा महापुरुष जितेन्द्रिय गुडाकेश प्रभु की आज्ञा के द्वारा विकर्ममय युद्ध करके ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् निष्काम कर्मयोग करते–करते एक दिन अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। दौड़ते–दौड़ते कोई गंतव्य तक पहुँच जाता है– यह कर्तापना ऐसा है।

यहाँ तक भगवान नारायण ने कुछ करने की बात की, लेकिन राजयोग में कुछ करना नहीं है, अतः अब करने की बात नहीं करेंगे। जिनके शरीर में कर्मयोग की भी सामर्थ्य नहीं है, ध्यानयोग, राजयोग, सांख्ययोग की भी सामर्थ्य नहीं है तो उनका क्या होगा? अब इसके विषय में कहते हैं– 'अन्ये त्वेवमजानन्तः.....'– वे तेरे और मेरे इस दिव्य शास्त्र को सुनेंगे संत से और मुक्त हो जाएँगे, लेकिन असमर्थ होंगे तब। एक संन्यासमार्गी ऐसे होते हैं जो श्रुति को सुनते–सुनते मुक्त हो जाते हैं, कर्म में प्रीति नहीं रह गयी होती है जब; परीक्षित सुनते–सुनते ब्रह्म रूप हो गये, कुछ किया ही नहीं। असमर्थ हो गये थे सात दिन में क्या करेंगे वे, मृत्यु तो निकट सामने खड़ी थी। आद्यगुरु शंकराचार्य ने कहा कि सौ वर्ष जीवन भी तो बहुत कम है, इसलिए जल्दी में भाग जाना। जब लगे कि सचमुच में काल मेरा पीछा कर रहा है तो फिर संन्यास ले लेना, जिसे आतुर संन्यास कहते हैं– किसी से बिना पूछे सब छोड़–छाड़ करके चल देना। वहाँ गुरु आज्ञा की आवश्यकता नहीं रहेगी, आतुर संन्यासवाले को। गुरु बाद में मिलता है संन्यास पहले होता है आतुर संन्यासी का। जिसको गुरु मिल जाता है तो गुरु के ऊपर निर्भर करता है कि संन्यास घर में दे अथवा संन्यास देकर घर से बाहर कर दे। आतुर संन्यासियों की संख्या विशेष होती है और वे आतुर संन्यासी जाकर पहले कर्ता नहीं होते, बल्कि पहले श्रोता होते हैं। जिसमें जल्दबाजी है कि आज या कल के दिन पीछे काल खड़ा है, कल को मैं जानता

ही नहीं, ऐसे आतुर संन्यासियों का कर्तव्य है पहले ब्रह्मज्ञान का श्रवण करें तप के साथ। सुनने की शक्ति होती है, क्योंकि अति श्रद्धा, अति श्रद्धा से सम्पन्न होते हैं वे। वे आमलोगों के लिए अविवेकी होते हैं। कितने लोगों ने तो केवल भगवान की मूर्ति के सामने रोज समय से आरती दिखाई और मुक्त हो गये। उनको तो छोड़ें, चूहीराम शर्मा और चतरजी (कमरऊ, हिमाचल) हैं, जो प्रभु के परम प्रिय भक्तों में से एक हैं, वे दोनों कहते रह गये शेर सिंह शर्माजी को कि रोज कथा सुनने महाराज के पास आयें, लेकिन वे नहीं आये। बयासी वर्ष की उम्र में चौदह साल तक रोज आते थे महाराज के पास लेकिन कथा के समय नहीं आते थे। सवेरा होता था और महाराज चाहे जहाँ भी रहता था वहाँ पहुँच जाते थे आरती ले करके और 'सद्गुरु एक तुम्हीं आधार, सद्गुरु एक तुम्हीं आधार'– इसी भजन से आरती उतारते थे, आचमन लेते, चरणोदक लेते और चले जाते, बस कुछ भी नहीं सुनना। दो साल पहले जन्मकुण्डली द्वारा निर्णय हो गया कि अब ये समाप्त हैं। जन्मकुण्डली लाये महाराज को दिखाए, कहा कि इसमें तो समय अस्सी वर्ष का दिया गया है तो फिर काल आ क्यों नहीं रहा है? तो महाराज ने कहा– अकाल के पास आ गये हैं न! इसलिए जब आप काल को कहेंगे आने के लिए तभी आयेगा, अपने से नहीं आयेगा। चौदह साल आपने अकाल की आरती उतारी है न! तो वे हँसते थे तथा इस बार कहा कि अब तो मुझे जाने दें आप और पंद्रह दिन के अन्दर चले गये। किसी से सेवा नहीं ली उस उम्र में, स्नान तीन समय करना– सवेरे, तीन बजे दोपहर में और शाम को और नहाने का ढंग कैसा? सवेरे झरने के जल से– ठंडे जल से, वैसी जगह पर जहाँ कि बर्फ बरसती है। इस उम्र तक ठंडे जल से स्नान करना! स्नान करने के उपरांत महाराज के पास आना। चौदह साल पहले बकरा (मांस) खाना, शिकार करना और महाराज का दर्शन करते ही सबकुछ छोड़ देना। महराज से कहा– जब आप कहते हैं कि मांस खाना, शिकार करना गलत है, तो गलत है। ऐसा कहकर छोड़ दिया। सवेरे ठंडे जल से, दोपहर में गरम जल से, जब सूर्य सामने हो तो गरम जल से स्नान करते थे। कहते थे– महाराज! जब सामने सूर्य हो तो फिर वे गरम हैं तो गरम जल से नहाना चाहिए और शाम को न गर्म न ठंडा क्योंकि सूर्य जा रहे हैं, संध्या का समय है। त्रिकाल संध्या करना और कोई शास्त्रीय शंका या प्रश्न आ गया तो उसके लिए महाराज के पास आना, ऐसे नहीं आना– यही उनकी दिनचर्या थी। (अन्ये त्वेवमजानन्तः.....) कुछ जो असमर्थ हैं, केवल सुनेंगे वे सद्गुरु से और परमपद को प्राप्त कर जायेंगे, दूसरे दर्शन करेंगे और वे मुक्त हो जाएँगे। 'मृत्युं श्रुतिपरायणाः'– जो श्रुति के परायण हैं उनके लिए एक वाक्य काफी है। वैसे लोग विशेष सुनेंगे नहीं, सुना और उसका चिन्तन किया। उन्हें लोग मूर्ख कहते हैं। सत्संग करते थे– इन्दरजी, चूहीरामजी, चतरजी आदि, कहते थे कि गुरुदेव ये ताऊ सुनने क्यों नहीं आते, इतने कठोर नियम के साथ आपके पास कहीं भी रहेंगे तो चले जाते हैं ये, वर्षा होती रहेगी तो भी जाना है इनको, प्रतीक्षा नहीं करनी है तो फिर रोज कथा में आते क्यों नहीं हैं? महाराज ने कहा कि उनको दर्शन से संतुष्टि हो जाती है न और सुन लिया है श्रुतियों से उन्होंने कि 'संत दरस जिमि पातक टरई.....।' वे कहते थे कि बस दर्शन से ही सारे पाप समाप्त हो जाते हैं महाराज! क्या सुनना, क्या करना! उनका यही वाक्य हुआ करता था– रामायण तो झूठ

है नहीं, संत झूठ बोलते नहीं, लोग सुनें मैं नहीं सुनूँगा। जिसे दर्शन से तृप्ति नहीं होती वही सुनने जाता है, मुझे तो दर्शन और चरणोदक चाहिए बस। वे कहते थे– संतों के चरणों में आत्मज्ञान है। सबके लिए वाणी में आत्मज्ञान है और मेरे जैसे मूर्ख के लिए चरणों में। ऐसी व्याख्या करते थे। आपसब तो कर भी सकते हैं, सुन भी सकते हैं, जो सुनना बाकी था मैंने सुन लिया, अब सुनने के बाद तो मात्र दर्शन रह जाता है।

(अन्ये त्वेवमजानन्तः.....) वे सहज में मैं आत्मा हूँ शरीर–शरीर है– ऐसा मान सकते हैं। हिमाचल के लोग सहज में मान लेते हैं; क्योंकि बहुत पढ़े–लिखे नहीं हैं। इन्दौर के कोल–भील सहज में मान लेते हैं महाराज की बात, अन्य लोगों को समझाने में माथा–पच्ची करनी पड़ती है। बुद्धिमानों के लोक से आये हैं आप, इसलिए माथा–पच्ची करनी पड़ती है; नहीं तो हिमाचल के लोगों की (आनन्दजी, चूहीरामजी, चतरजी, इन्दरजी, तपेन्द्रजी आदि) चौदह साल में एक बार भी संध्या छूटी नहीं होगी। वे विवश होकर ही होटल में खाएँगे। उनमें कोई ज्योति तक पहुँचा है, कोई शब्द तक पहुँचा है। उन्हें केवल आज्ञा माननी है। जिन्हें आप अनपढ़ कहते हैं, गँवार कहते हैं, उनका समर्पण आप देखें तो देखते रह जायेंगे। इन्दरजी की धर्मपत्नी ने कहा कि गीताजी सुना दें मेरे को! वह सुनते–सुनते मुक्त हो गयी, शरीर छोड़ दिया उसने, अनपढ़ थी। पच्चीस दिन सुनाया था गीताजी, उसके बाद प्रभु के पास चली गयी। उनके पिताजी गीताजी सुनते–सुनते चले गये। 'श्रुत्वान्येभ्य उपासते'– 'मैं मरूँगा नहीं'– इन्दरजी के पिता ने कहा था। इसलिए कि गुरुदेव से मैंने गीताजी सुन लिया है। शरीर मरेगा, मैं नहीं मरूँगा– ऐसा कहते थे वे और अन्तिम समय तक विनोद करते रहे। उन्हें सुशीलानन्द ने गीता सुनायी जब गीताजी का अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ तभी प्राण छोड़ा।

(अन्ये त्वेवमजानन्तः.....) किसी को सुनने से, किसी को दर्शन से, किसी को स्वप्न में ही प्रभु या संत की कृपा होने से अपने स्वरूप में स्थित होते देखा गया है। इसप्रकार दो मत सुना जाता है– जीव से सुना जाता है कि 'मैं शरीर हूँ' तो तत्काल बन्धन प्राप्त हो जाता है और सद्गुरु से सुना कि 'मैं आत्मा हूँ' तो तत्काल मोक्ष हो जाता है। 'मैं मरता हूँ'– यह भाव का सागर ही भवसागर कहा जाता है। अरे! शरीर मरेगा नहीं, वह अपनी प्रकृति में विलीन होगा और प्राण मरेगा नहीं, वह भी अपने कारण में ही विलीन हो जायेगा; फिर मरेगा कौन? शरीर कभी जीवित हुआ ही नहीं, तो मरने की बात क्या है? जल से बुदबुदा उठ रहा है और उठते–उठते ही, पुनः फूटकर बैठ जाता है। क्या उसे आप मरना कहेंगे? जहाँ से वह प्रकट होता है, वहीं तो विलीन होता है। आपने ध्यान दिया होगा कि वह हवा के माध्यम से ऊपर उठता है और ऊपर उठते–उठते ही फूटकर जलरूप हो जाता है तथा उसमें की वायु, वायुरूप हो जाती है। इसप्रकार आप जान गये होंगे कि उस बुदबुदे की आत्मा तो हवा ही है। जल और हवा एकसाथ उठते हैं और थोड़ी देर के बाद दोनों अपनी–अपनी जगह मिल जाते हैं। उसीप्रकार शरीर एक बुदबुदा है, वह संसार नामक सागर से प्रकट होता है और बढ़ते–बढ़ते ही फूट जाता है। इसप्रकार शरीर संसारमय हो जाता है और उसका द्रष्टा परम द्रष्टा रूप हो जाता है। इतनी ही सी बात है।

एक साधक एक दिन एकान्त में श्रद्धाभाव से फूट–फूटकर रोते हुए बोले–महाराज जी! अब मेरी कर्म में प्रीति नहीं रह गयी। जिस सद्गुरु के पास से मैं आया हूँ, वहाँ चौदह–पन्द्रह सालतक कठोर कर्म ही किया हूँ, अतः अब कर्म से मन ऊब गया। महाराज ने कहा कि अब आपको कर्म करने की आवश्यकता भी नहीं है। अब आप सदा–सर्वदा मन से जप करते रहो और मन ऊबने पर मन के अनुकूल शास्त्र का स्वाध्याय करो। उन्होंने रामायण पढ़ना शुरु किया और एक–एक बजे रात तक स्वाध्याय करते हैं। ऐसे लोग सहज में सद्गुरु की बात पर विश्वास कर लेते हैं। सद्गुरु के मुख से सुनने मात्र से ही विश्वास हो जाना, प्रभु की महति कृपा मानी जायेगी। जो सद्गुरु की बात पर विश्वास करना नहीं जानता, वह त्रिशंकु राजा की तरह अधर में ही लटकता रहता है। कुछ लोग सद्गुरु को पाकर भी हजारों साल से समाधि में बैठे हुए संत को हिमालय में खोजते फिरते हैं। आश्चर्य तो तब लगता है कि अर्जुन जैसे साधक के पास भगवान स्वयं आता है और आप ऐसे साधक हैं कि आए हुए सद्गुरुरूप भगवान को भी अर्जुन की तरह जल्दी नहीं पहचान रहे हैं। यह भी प्रमाण नहीं है कि आपको वे कभी मिलेंगे भी; क्योंकि वे आपसे ही छिपकर हिमालय में समाधि ले बैठे हैं। जो हजारों साल समाधि में बैठ सकता है, यदि आप उसके पात्र होंगे तो वह तो आपको चाहे जहाँ से भी ले जा सकता है। उन सिद्धों की तो बात ही छोड़िये; एक तंत्रसिद्ध कपटी मुनि सूअर का वेश बनाकर अपने संकल्पबल से प्रतापभानु राजा को दण्ड देने के लिए अपनी गुफा तक ले आया था और उनसे पूर्व का बदला ले लिया था। सिद्धि की कामना से उन सिद्धों को ढूँढ़ने जाने के पूर्व सर्वप्रथम घोर जप–तप करना चाहिए; तभी तो वे आपके लिये सार्थक हो सकेंगे। जो श्रद्धावान हैं, वे तो अपने सद्गुरु को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश और हिमालय के सिद्धों को सिद्ध समझ लेते हैं। यही नहीं! यदि सचमुच में उन्हें विशुद्ध संत चाहिए ही, तो ध्यानयोग का अभ्यास करके ध्यानयोग के द्वारा उनको, उनके नियत स्थान को देखकर वहाँ चले जाते हैं। जबकि किसे कौन संत चाहिए, किसको नहीं चाहिए, यह भगवान निर्णय करता है, तभी समाधान होता है। इसलिए भगवान कहते हैं–

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

हे पार्थ! सारे के सारे प्राणिपदार्थ क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं, चाहे वे चल हों अथवा अचल (चल अथवा अचल), चाहे वे पेड़–पौधे हों या पशु–पक्षी, मनुष्यादि; किन्तु इन सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में सम शान्त सच्चिदानन्दघन बैठा हुआ है। जो इन सबके नाश होने पर

भी उसे नाश रहित ही समझता है तथा सर्वत्र समभाव में इसे बैठा हुआ देखने के कारण से अपने–आप का नाश नहीं करता, अतः वह परमगति को प्राप्त कर जाता है।

(यावत्सञ्जायते किञ्चित्.....) हे भरतश्रेष्ठ! जगत में जितने भी चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, ये सब क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं, तुम्हें तो इसे स्वीकार करना ही चाहिए।

अभी युद्ध के मैदान में ही रहकर देखें कि प्रभु क्या कह रहे हैं अर्जुन से। स्वजन, स्वजन, स्वजन की जड़ भावना से भावित चित्तवाले महात्मा अर्जुन से प्रभु प्रायः कहते जा रहे हैं कि ये सब तुम्हारे स्वजन कैसे हो गये? कब से हो गये? कौन कहता है कि ये सब तुम्हारे अपने हैं? यदि मूर्ख कहते हैं तो तुम ज्ञानी हो, तुम्हारा धर्म नहीं है कि मूर्खों की बात पर ध्यान दो। ज्ञानी तो सद्गुरु और शास्त्र की बात पर विश्वास करते हैं। अतः पहले भले ही तुमने अज्ञानियों की बात को सत्य मान लिया लेकिन अब मेरी बात पर विश्वास करो कि क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का जब संयोग होता है तभी सभी प्राणिपदार्थ प्रकट होते हैं, इन जड–चेतन प्राणिपदार्थों की उत्पत्ति का तो अन्यकारण किसी ने आजतक देखा ही नहीं है तथा ये क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ भी सनातन ब्रह्म के संकल्प से ही प्रकट होते हैं, इनका भी कोई दूसरा आधार नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि क्षेत्र का पिता कोई और हो और क्षेत्रज्ञ का पिता कोई और। जैसे बच्ची किसी और की हो और बच्चा किसी और का तब शादी का संयोग बनाया जाता है, इसप्रकार का न्याय यहाँ पर नहीं है बल्कि यहाँ तो एक तरफ मैं ही जड़ प्रकृति बन गया और दूसरी तरफ चेतन प्रकृति और ऐसा जैसे ही बना वैसे ही एक दिव्य सृजन संहार और पालनरूप सृष्टि प्रारम्भ हो गयी, जिसका राज आज भी जिसे मैं बताता हूँ वही जान पाता है।

अब साधकों की भूमि में लौट आते हैं– भगवान चाहते हैं कि कोई भी भक्त एवं साधक कभी स्वप्न में भी द्वैतवाद को स्वीकार न करे; क्योंकि यह द्वैत ही सम्पूर्ण अनर्थों का हेतु है। यह तो सभी देखते ही हैं कि जैसे ही खेत में जल डाला जाता है वैसे ही उसमें से असंख्य घास–फूस तथा औषधियाँ प्रकट हो जाती हैं। यह भी देखा जाता है कि वैद्य और जड़ी–बूटियों का संयोग होता है तो असंख्य दवाइयों का निर्माण होने लगता है, शिष्य और सद्गुरु का मिलन होता है तो विद्या प्रकट होने लगती है, पशु–पक्षियों का मनुष्यों से संयोग होता है तो नानाप्रकार का सृजन प्रारम्भ हो जाता है, जैसे गाय से पुरुष दूध निकालकर उसमें से घी, मक्खन, छाँछ, दही आदि निकाल लेता है। बैल और पुरुष का संयोग होता है तो खेती प्रारम्भ हो जाती है, जड़ मशीनरियों और वैज्ञानिकों का संयोग होता है तो सालभर में सम्पन्न होनेवाले काम को एक दिन में करके रख देते हैं। इसप्रकार जब दो का मिलन होता है तो एक तीसरा भाव प्रकट होता ही है, यह सभी देखते हैं लेकिन इस मंत्र के पूर्व तो भगवान ने कह ही दिया है कि प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि हैं और वे मेरे ही संकल्प हैं। अतः इस न्याय से किसी को अपना मानकर तो कोई साधक आजतक भगवत् ध्यान, ज्ञान, विज्ञान में सफल हुआ ही नहीं है।

पुनः थोड़ा युद्ध के मैदान में चलते हैं कि वहाँ क्या हो रहा है– (यावत्सञ्जायते किञ्चित्.

.....) भगवान मानो कह रहे हैं कि तुम भरतर्षभ हो। 'हे भरतर्षभ!' कहा भगवान ने। भरतवंशियों में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह भरतर्षभ है। जो भरतवंशी है, उसमें भारत वास करता है और जिसमें भारत वास करता है, वही भरतर्षभ है। तुम भरतर्षभ हो इसलिए तुम भी इस महाभवसागर को अर्थात् मैं मरता हूँ, मैं जीता हूँ– इस भावसागररूप भवसागर से मुक्त हो जाओगे, एक बार 'मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ' इसे स्वीकार करो और मुक्त हो जाओ!

हे राजन्!

बोलो संजय! बहुत देर के बाद तुम लौटे! क्या लेकर आये हो?

संजय ने कहा– हे पृथ्वीनाथ! आज सुना मैंने कि 'मैं शरीर हूँ'– यही भाव भवसागर है, यही भाव का सागर है, भाव ही भवसागर है।

इस भवसागर से पार करने की कुछ बात कही है नारायण ने? धृतराष्ट्र ने पूछा।

संजय ने कहा कि हाँ, 'मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), यह दिव्य भाव ही इस भवसागर से पार करने का महामंत्र है, यही महायान है– इतना कहा।

संजय इस बात को कैसे कोई मान लेगा। धृतराष्ट्र ने गहरी श्वास लेकर पूछा।

माननेवाले मानेंगे राजन्! (मन ही मन संजय सोचते हैं कि आपका तो न मानने का स्वभाव ही हो गया है और ऐसा नहीं है कि आप नहीं मानेंगे तो कोई मानेगा ही नहीं बल्कि आज नहीं तो कल आप भी मानेंगे।)

एक भक्त कहते हैं– गुरुजी! आपकी बात कैसे कोई मान लेगा? महाराज कहता है उनसे कि माननेवाले मानते ही हैं। आप क्यों मानेंगे– दो दिन का जन्म हुआ है आपका। दो दिन का बालक तो डेढ़ साल के बाद मानता है। जिनका जन्म बहुत पहले हो चुका है महाराज के पास, वे माननेवाली सारी बात मानेंगे। सूक्ष्म शरीर से भीतर लोक–लोकान्तरों का भ्रमण होता है। अब कोई कहे कि आपकी बात को कोई कैसे मान लेगा जबतक देखेगा नहीं तबतक, लेकिन माननेवाले मानेंगे फिर प्रयत्नकर के बाद में जान लेंगे, पहले सुना फिर बाद में देखा। पहले ही अविश्वास हो जायेगा तो अधर में लटकता रहेगा वह। सशरीर स्वर्ग जाने की जो कामना करता है वह त्रिशंकु के जैसा लटक जाता है। कितने सशरीर हिमालय में जाते हैं सिद्धों की खोज करने। एक गये खोजने के लिए दमा हो गया तो लौटे– 'माया मिली न राम।' एक गये थे उनका तलवा गल गया है, विषैली बर्फ लग गयी घाव हो गया वह गलता जा रहा है, गलता जा रहा है। कुछ लोग हिमालयी सिद्ध खोजते हैं, लेकिन भगवान तो अर्जुन को खोज रहे हैं। अर्जुन क्यों भगवान को खोजेंगे, वे भरतर्षभ हैं। उसीप्रकार भारत की आप आत्मा हैं, अतः आप क्यों भगवान को खोजेंगे! सद्गुरु जैसा कहता है वैसे आप हो जाएँ, फिर भगवान आपको खोजे। आप उसके लिए सुपात्र हों। जो लोग ऐसा नहीं करते हैं वे त्रिशंकु जैसे लटकते रहते हैं, पाँव ऊपर मुँख नीचे होने से लार टपकती रहेगी अर्थात् बुढ़ापे में लार ही गिरेगी, आँखों से, नाकों

से जिह्वा से लार गिरती रहेगी। धरती भी नहीं मिलेगी, आकाश भी नहीं मिलेगा, माँगने से मृत्यु भी नहीं मिलेगी, जीवन की बात तो दूर है। आप कहते हैं कोई कैसे विश्वास कर लेगा! अरे! नहीं विश्वास करेगा तो त्रिशंकु बनेगा। गुप्त सिद्धों पर विश्वास करेंगे, जो सामने नहीं है उसपर विश्वास करेंगे, जो सामने है उसपर विश्वास ही नहीं करेंगे आप; अंधेरे की बात करते हैं, प्रकाश की बात क्यों करेंगे। कहानी तो यह है कि जो सामने नहीं है वही ढूँढ़ा जाता है, उसकी बात पर विशेष विश्वास होता है, लेकिन जो सामने है, उसकी बात पर विश्वास नहीं किया जाता जल्दी। महत् बुद्धि उसके प्रति है ही नहीं इसलिए उसके सामने काली पट्टी बाँध लेते हैं लोग जो सामने नहीं है। यह कैसा आश्चर्य है कि अपने लिए जिसने आँखें बन्द कर ली हैं उसके लिए हमारे पास आँख हो गयी अर्थात् जो अपने को देखने नहीं आ रहा है उसके लिए हमने आँख खोल दी। आँख बन्द किये हुए को देखना– गोरखनाथजी को देखने लगे हैं लोग, सबके द्वारा कहा भी जाता है कि क्या गोरखधंधे में पड़े हुए हो। गोरखधंधा है ये यहाँ से वहाँ भटकना, इसको ढूँढ़ना, उसको ढूँढ़ना, यह गोरखधंधा है। एक संत ने कहा– गोरखधंधा जैसा इस समय घूम रहे हैं लोग। अरे! उनके पास तो सिद्धि थी आपके पास सिद्धि क्या अहर्निश साधना भी नहीं है, अतः ऐसा सोचकर इधर से उधर भटकना बन्द करें और साधन–भजन में मन लगायें।

संत कहते हैं कि कौन सी बड़ी बात हो गयी! ययाति जैसा विषयी सशरीर स्वर्गलोक को चला गया तो कौन बड़ी बात हो गयी? राजा ययाति जैसा पुरुष जिसने पुत्र की जवानी से विषय को भोगा। ऐसा निर्लज्ज, ऐसा निकृष्ट पुरुष, ऐसा क्षुद्र पुरुष, सौ अश्मेधयज्ञ किया और सशरीर स्वर्ग चला गया तो क्या बड़ी बात हो गयी। यदि कोई सिद्ध पुरुष घूम रहे हैं दिव्य लोकों में और आप उसी धन्धे की तरफ जा रहे हैं, भगवान की तरफ नहीं जा रहे हैं तो क्या महत्त्व की बात हो गयी आपमें। बड़ी अवहेलना की उस संत ने। भगवान नारायण भी ऐसा नहीं चाहते। स्वर्ग को ढूँढ़नेवाले दिव्य लोकों को ढूँढ़नेवाले, आकाश में गमन करनेवाले को ढूँढ़नेवाले, पहले अपने को तो ढूँढ़ लें। इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं है अपने पास कि मैं कौन हूँ, चल दिये सिद्ध ढूँढ़ने। आकाश में उड़ने की कामना हो गयी और पता नहीं है कि मैं कौन हूँ। महामूर्खता की भी हद होती है। प्रभु का नाम जपा नहीं जाता, उसमें बल नहीं लग रहा है और चल दिये सिद्ध को ढूँढ़ने। हजार वर्ष से जो ध्यान में बैठा है उसको ढूँढ़ने चल पड़े। वह पता नहीं क्यों बैठा है! वह जाने और उसका भगवान जाने। आप जहाँ पर बैठे हैं वहाँ पर तो बैठ जायें। कौन ढूँढ़ने जा रहा है? आप नहीं जा रहे हैं बल्कि आपका प्रारब्ध ले जा रहा है ढूँढ़ने के लिए। बहुत लोग गये ढूँढ़ने लेकिन हाथ मलते चले आये। उन सिद्धों के पास इतनी सामर्थ्य नहीं है क्या कि आपके पास आयें और आपको ले जायें? वे आप जैसे हिजड़े हैं क्या, निर्बल हैं वे! अरे! वहीं से संकल्प करेंगे और आप यहाँ से वहाँ चले जाएँगे। प्रेत खड़ा हो जाए तो शौच निकल जायेगा, पेशाब हो जायेगा और हिमालय में जब विकरालरूप धारण करके वे सिद्ध आएँगे आपके सामने तो उस समय क्या दशा हो जायेगी। जैसे बालक संत को देखकर काँप जाता है, भैंस लाल वस्त्र को देखकर छलांग लगाती है, उसीप्रकार जब तामस प्रकृति होगी आपकी, तब आप छलाँग नहीं लगायेंगे वहाँ पर? भागेंगे नहीं क्या वहाँ से? इसलिए पहले तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र

किया जाता है योग से, जप से, तप से, तब भगवान को यदि आवश्यकता पड़ती है तो भेज देता है वहाँ पर। किसको कौन संत चाहिए कौन नहीं चाहिए वह देता है। पहले जो मिला उसी का तो समादर कर लें। क, ख, ग, घ जानते नहीं और चल दिये अ, इ, उ, ऋ, लृ को ढूँढ़ने के लिए! कभी–कभार ऐसा होता है कि जन्म–जन्म की पूँजी आपके पास इकट्ठी होती है और काकभुशुण्डि की तरह लोमश ऋषि के पास पहुँच जाते हैं तथा वरदान पा लेते हैं। अतः इन बातों पर विचार करें, सावधानी बरतें। सद्गुरु की बात पर विश्वास करना सीखें।

चाहे जब भगवान कह रहे हैं कि ऐसा जो जानता है वह परमपद को प्राप्त हो जाता है, ऐसा जो जान लेता है, ऐसा जो मान लेता है, ऐसा जो मानकर जान लेता है, वह परमपद को प्राप्त हो जाता है। तो कैसा जान लेता है? 'समं सर्वेषु भूतेषु'– यही कि सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा निर्विकार भाव से बैठा है, सम शान्त बैठा है। तो क्या किसी प्राणिपदार्थ में वह विषमभाव से भी बैठा है, विकारीभाव से भी बैठा है? ऐसा प्रश्न खड़ा होता है। कहा प्रभु ने– क्यों नहीं! वह असुरों में विषम सा होकर बैठा है तथा वहाँ विषमभाव की प्रेरणा देता है। अतः वहाँ विषमब्रह्म कहलाता है। 'तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'– वह परमेश्वर सबके हृदय में बैठा है। कोई किसी के दरवाजे पर बैठता है तो उसका वहाँ कुछ प्रयोजन होता है, अतः उसका कोई प्रयोजन है क्या? कहा–हाँ, सब सो जाते हैं तब प्राण जागता रहता है लेकिन जो प्राण का प्राण (ब्रह्म) है, वह प्राण भी जब योगी के ब्रह्मरन्ध्र में मानो सो जाता है तो भी जागता ही रहता है; अतः ऐसा परमेश्वर किसी प्रयोजन से बैठा है सबके हृदय में। प्रयोजन है कि जीव कब आये मेरी शरण में तो मैं उठकर उसके लिए काम करने लगूँ अर्थात् उसका उद्धार करूँ। 'तिष्ठन्तं' पद है यहाँ पर। 'समं सर्वेषु भूतेषु'– सम्पूर्ण भूतों में वह बैठा है, सातवें अध्याय में कह दिया, लेकिन सबके सामने प्रकट नहीं होता। चाहे चन्दन की लकड़ी हो चाहे सामान्य लकड़ी हो, अग्नि सम शान्त बैठी हुई है उसमें। लोग कहते हैं कि अग्नि जल रही है, किन्तु अग्नि नहीं जल रही है बल्कि अग्नि वहाँ प्रकट हो रही है, हाँ ईंधन जल रहा है; जलानेवाला कभी जलता नहीं। अतः वैसे ही जो उस ब्रह्म को प्रकट करना चाहता है किसी प्रयत्न से, तो उसके लिए वह प्रकट हो जाता है। चाहे पुरुष का मैला सूखा हो उसे जलाएँगे तो उसमें भी सम शान्त अग्नि है और चाहे तो चंदन की लकड़ी जलाएँ तो उसमें भी सम शान्त अग्नि है। 'समं सर्वेषु भूतेषु'– वैसे ही सम्पूर्ण भूतों में वह परमात्मा निर्विकार भाव से बैठा है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण अहिंसा का संदेश दे रहे हैं भगवान यहाँ पर। सबके हृदय में बैठा है, सबके रोम–रोम में बैठा है भगवान, वहाँ भी वह प्रतीक्षा कर रहा है, वहाँ भी उसको है कि कभी यह जीव मेरी शरण में आयेगा तो मैं उद्धार करूँगा इसका। अतः उद्धार करने के लिए वह भगवान वहाँ पर बैठा है। तो फिर आप किसी भी प्राणी से ईर्ष्या क्यों करते हैं!

एक साधक से पूछा– अहिंसा का पालन हो रहा है? उसने कहा कि 'जी! प्रयत्न में हूँ! लेकिन राग–द्वेष हो जा रहा है, बहुत गहरे में राग–द्वेष है।' पालन करने चलते हैं अहिंसा परन्तु हिंसा आ जाती है। महाराज कहता है कि बहुत अभ्यास के उपरांत अहिंसा आती है, अहिंसा प्रकट होती है। पहले अहिंसा धारण करना पड़ता है, बाद में चूँकि अहिंसक ब्रह्म बैठा

है अपने पास, अतः वह अहिंसा के रूप में अपने सामने प्रकट हो जायेगा। सम बैठा है, अतः समब्रह्म को प्राप्त करने के लिए सम चित्त चाहिए और सम चित्त के लिए अहिंसा ही एक ऐसा सम व्रत है जिसके पालन करने से विषमता आनी तो संभव ही नहीं है। यदि सिद्धि प्राप्त हो जाये अहिंसा की तो विषमप्राणी भी उसके पास सम शान्त हो जाते हैं, ऐसा देखा गया है। 'समं सर्वेषु भूतेषु'– प्रभु श्रीराम पशुओं से, पक्षियों से, कीट–पतिंगों से, सरोवर से, सरोवर की मछलियों से, पेड़ों से, पेड़ों की लताओं से, पत्तों से, फूलों से, फलों से अर्थात् रास्ते में जो मिलते हैं उन सब से भगवती सीता का पता करते हैं, पता पूछते हैं। इसी को समर्दशन का प्रयोग कहते हैं। महाराज प्रयोग करने की बात कर रहा है, आप प्रयोग करें। जिससे आप राग कर रहे हैं वह आपके लिए कुछ न कुछ सांकेतिक भाषा कह रहा है, लेकिन पता ही नहीं है कि वह कुछ कह रहा है मेरे से। यह बात अलग है कि श्रीरामजी को उत्तर नहीं दिया लोगों ने, उत्तर दिया हिरणों ने। लक्ष्मण जानते हो ये हिरण क्या कह रहे हैं? प्रभु ने पूछा। नहीं मुझे तो पता नहीं चल रहा है! लक्ष्मण ने कहा। प्रभु ने कहा– बहुत से हिरणों में से एक हिरण डरता है तो बुद्धिमान हिरण कहते हैं क्यों डर रहे हो? ये तो सोने का मृग ढूँढ़ रहे हैं! स्वर्ण मृग ढूँढ़नेवाले हमलोगों का वध नहीं करेंगे, इसलिए निर्भीक होकर विचरण करो। 'समं सर्वेषु भूतेषु'– जो राम का रामत्व लिए हुए होगा, वह सबमें अपनी आत्मा को देखेगा और अपनी आत्मा के विषय में मन ही मन सबसे पूछेगा। शापित सरोवर होते हैं, शापित पेड़ होते हैं, पक्षी होते हैं। सुना होगा आपलोगों ने कि नारदजी ने कुबेर के दो बच्चों को शाप दे दिया कि जाओ तुमलोग जड़ पेड़ हो जाओ! द्वापरयुग में भगवान यदुनन्दन आएँगे और वे ही तुमलोगों का उद्धार करेंगे। वही हुआ– भगवती माँ यशोदा ने ओखली बाँध दिया भगवान बँध गये। ग्वालिनियों को दिखाना है कि देखो मैंने यह दण्ड दिया है अपने लाला को, मैंने तो उसे ओखली में ही बाँध रखा है। वे गयीं बुलाने के लिए पड़ोसिनियों को। इधर प्रभु ने नन्दबाबा के प्रांगण में रहनेवाले उन दोनों वृक्षों के पास जाकर, जो दोनों ही परस्पर में थोड़ी दूरी पर खड़े थे, उन दोनों के बीच ओखली लगा दी और रस्सी से खींचने लगे। इसप्रकार दोनों ही पेड़ उखड़ गये। उन पेड़ों में से वे दोनों पुरुष देवात्मा रूप से प्रकट हुए, स्तवन किया और अपने धाम चले गये। पशु–पक्षी में भी जिसे आप जड़ कहते हैं, समब्रह्म के अतिरिक्त उनमें बहुत से विषमब्रह्म बैठे हुए हैं, जिन्हें आप नहीं जानते।

गीताजी स्वयं में समब्रह्म है, अतः जहाँ इसका पठन, पाठन, स्वाध्याय होगा वहाँ विषमप्राणी भी निर्भीक होकर डेरा डाल देंगे। इन्दौर जिले (मध्यप्रदेश) के हरसोला गाँव के निकट भगवान पाटीदार के कुएँ पर गीताभाष्य का कुछ अंश महाराज लिख रहा है। यहाँ दो पीपल के वृक्ष हैं। इन देव वृक्षों के कारण से ही यहाँ गीताजी का अंश लिखा जा रहा है। गीताजी के कारण से वासुकि नामक नाग निर्भय होकर यहाँ विचरण करने लगे। भयभीत होकर इनलोगों ने एक नाग को सपेरे द्वारा बहुत दूर भेज दिया। महाराज ने कहा– महाराज को ही हटा दो यहाँ से! जहाँ गीताजी होगी वहाँ असुर, नाग, देवता, गन्धर्व आदि आकर शान्ति प्राप्त करते ही हैं। आपसब कितने साँपों को हटायेंगे? यहाँ तो बहुत साँप हैं। तबतक शाम को गीताजी लिखते समय अभयानन्द के सामने एक साँप आकर विचरने लगा। महाराज ने कहा कि

हल्ला मत करो! दूसरे दिन उससे बड़ा सर्प वहीं पर महाराज के पलंग के पास बोरे के नीचे बैठा था। आत्मानन्द ने मुकेश से कहा– वह बोरा यहाँ से हटा दो। बोरा हटाते ही देखा तो साँप मस्ती से बैठा है। तीसरे दिन एक साँप कुएँ के पास रास्ते में ही आकर बैठ गया। इसप्रकार सर्पों की अभयता को देखकर भगवान, मुकेश, दिनेश आदि परिवार के लोग, सब डर गये और महाराज से क्षमा माँगी। महाराज ने कहा कि यदि इनलोगों को काटना होता तो चाहे जब काट सकते थे! भगवान पाटीदार ने कहा– गीताजी सबको प्रिय है न, इनमें भी तो सम शान्त भगवान बैठा है!

(समं सर्वेषु भूतेषु.....) सम्पूर्ण भूतों में अर्थात् पत्थर में भी वह समब्रह्म बैठा है। हे मुनिवर! आएँ! विद्याधरी ने वसिष्ठजी से कहा कि हे महामना! आएँ! इसमें हम चलते हैं। वसिष्ठजी ने कहा– किसमें? विद्याधरी ने कहा– इस लोक में। मुनि ने कहा– इस लोक में! उसने कहा कि हाँ। मुनि ने कहा– यह तो पत्थर की चट्टान है। विद्याधरी ने कहा– अरे! इतना बड़ा दरवाजा है इस दिव्य लोक का और आपको यह दरवाजा नहीं दिखाई पड़ रहा है? मुनि ने कहा कि दरवाजा? हे देवि! मुझे तो यह पत्थर की चट्टान दिखाई पड़ रही है। आश्चर्य है कि उसे उसमें दिव्य लोक दिखाई पड़ रहा है और उनको पत्थर की चट्टान दिखाई पड़ रही है! 'समं सर्वेषु भूतेषु'– पत्थर भी चेतन होता है। चेतन प्राणी प्राणन करनेवाले प्राणी कहे जाते हैं; जिनमें प्राणन क्रिया नहीं होती लेकिन चेतनता है उन्हें भी चेतन ही कहते हैं। उस विद्याधरी ने कहा– ओ! इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मधारणा सिद्ध नहीं है आपको, मैं तो मारी गयी। मैं तो समझती थी कि जब आकाश में आप ध्यान करने आये हैं, संकल्पबल से आपने झोपड़ी का निर्माण कर लिया है, तो आप चेतन महायोगी हैं। अच्छा, अच्छा, अच्छा! अब समझ में बात आ गयी तो चलें आप बैठें! आपसे मुझे अपना प्रयोजन सिद्ध कराना है, इसलिए आपको चेतन समाधि में स्थित करना ही है तो बैठें आप। वे बैठ गये। विद्याधरी ने कहा– राजयोग का अभ्यास करें आप, अब योगधारणा छोड़ दें। शरीर के किसी अंग–प्रत्यंग में मन को केन्द्रित न करें, न किसी देवी–देवता में, न किसी तंत्र–मंत्र में, यानी कहीं भी आप बाह्य प्रदेश में भी मन को केन्द्रित न करें, एकमात्र राजयोग का चिन्तन करें। उसके ऐसा कहने पर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने राजयोग का चिन्तन करना प्रारम्भ किया। 'मया ततमिदं सर्वं'– अहो! वह सनातन परम पुरुष मैं ही हूँ। जैसे पुरुष के संकल्प से उसी के चिदाकाश में स्वप्नलोक प्रकट होता है, वैसे ही यह सारा जड़ सा दिखाई देनेवाला चेतन जगत मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से संकल्पित होने से मेरा ही स्वरूप है, यहाँ कोई जड़ और चेतन नहीं है बल्कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के भीतर–बाहर मैं ही व्याप्त हूँ, मैं ही सम्पूर्ण प्राणिपदार्थ भी बना हुआ हूँ। अतः मैं समझता हूँ कि मेरे सिवा यहाँ पर कोई है ही नहीं इत्यादि इत्यादि। इसप्रकार राजयोग का अभ्यास किया और उसके उपरांत कुछ समय के बाद विद्याधरी ने कहा– अब यहाँ देखें कि क्या दिखाई दे रहा है? मुनि ने देखा तो वहाँ पर दरवाजा मिला, वह पत्थर की चट्टान अब नहीं थी बल्कि वहाँ एक लोक दिखाई पड़ा। विद्याधरी के साथ उस लोक में जाकर उन्होंने ब्रह्माजी से कहा– हे प्रभु! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? यह आपकी याद में मरी जा रही है, लेकिन आप समाधिस्थ हैं। ब्रह्माजी ने कहा–

मुनिवर! मैं विवश हूँ। इस समय जगत का कोई भी प्राणिपदार्थ मुझे याद करेगा तो मैं उन्हें याद नहीं करूँगा। प्रलयकाल का समय आ गया है अतः आप इसकी चिन्ता छोड़ें और यदि इस मेरे प्रलयंकारी दृश्य को देखना चाहें तो देखें।

इस कथा से यह संकेत मिलता है कि 'समं सर्वेषु भूतेषु'– भगवान कह रहे हैं कि अपमान पत्थर का भी मत कर देना क्योंकि (तिष्ठन्तं परमेश्वरम्) उसमें भी भगवान बैठा है।

(विनश्यत्स्वविनश्यन्तं.....) किसी भी प्राणिपदार्थ के ऊपर की आकृति बदल जाती है किन्तु स्वरूप नहीं मिटता। गोबर की स्थिति तो आप देखें! गोबर का बिच्छू भी होता है। आपलोगों ने देखा होगा गोबर में बिच्छू के बीज होते हैं और उसमें बिच्छू प्रकट हो जाते हैं। एक बिच्छू वह है जो गर्भ से प्रकट होता है और एक वह जो गोबर से प्रकट होता है। यह सृष्टि आश्चर्यमयी है। गोबर का कीड़ा भी होता है, कुछ देर के बाद देखेंगे तो उसमें कीड़े ही कीड़े हो जाएँगे तथा अन्य किसी पशु के गोबर को देखें तो कुछ दिन के बाद में उसमें बिच्छू ही बिच्छू हो जाएँगे। यह आश्चर्य ही है। इसप्रकार ऊपर से प्राणी बैठे हुए हैं उसमें और उन प्राणियों में समब्रह्म बैठा हुआ है। जिसे आप पदार्थ मानते हैं वह पदार्थ नहीं है, पदार्थ के भीतर परम पदार्थ समब्रह्म बैठा हुआ है। 'विनश्यत्स्वविनश्यन्तं'– पदार्थों के ऊपरी भाग नष्ट होते हुए दीखते हैं किन्तु भीतर में उसके मौलिक स्वरूप को नहीं जान पाते, क्योंकि आपने प्रयत्न ही नहीं किया देखने या जानने का। आपने तो जैसा सुन लिया वैसा मान लिया। मानते–मानते आप की चेतनता जड़ हो गयी। आओ मेरे लाल! माँ देवकी ने भगवान से कहते हुए गले लगा लिया तो उतने वर्ष बाद सूखा हुआ दूध आ गया स्तनों में, दूध के बिना सूखे हुए स्तन जड़ से हो गये थे लेकिन उनमें चेतनता आ गयी किन्तु कोई माँ दूसरे के पुत्र को आओ बेटे! आओ! कहकर आलिंगन करती है तो ऐसा भले ही कहकर गले लगाये लेकिन दूध ही सूख जाता है। एक के लिए वह वात्सल्यमयी हो जाती है तो दूसरे के लिए वही हृदयहीन हो जाती है। यह अभ्यास का बल नहीं तो क्या है? 'समं सर्वेषु भूतेषु'– सम्पूर्ण भूतों में वह ब्रह्म है लेकिन आपने उसे देखने का प्रयत्न नहीं किया है, इसलिए वह वहाँ पर आपको दिखाई नहीं पड़ रहा है। एक साधक ने पूछा– 'पितामहभीष्म ने विद्रोह क्यों नहीं किया? वे इतने बुद्धिमान थे आप कहते हैं और महाभारत का भी कहना है कि वे जितेन्द्रिय थे। उन्होंने भगवान को पहचान भी लिया था तो भी पुत्रवधू का चीरहरण देखते रहे?' महाराज ने कहा कि आप नहीं पहचानते भगवान को क्या? इतने दिन गीता सुनते हो गया तो भी माँ से, पिता से अथवा स्वजनों से मोह नहीं है क्या आपको? अरे! वे समझ रहे हैं कि मैंने दुर्योधन का अन्न खाया है और आप भी समझ रहे हैं कि मैंने माता–पिता का अन्न खाया है। तो उनमें और आपमें क्या अन्तर है? लेकिन भक्त तो ऐसा नहीं कहता कि मैंने किसी का अन्न खाया है बल्कि वह कहता है कि मैंने भगवान का अन्न खाया है। इसीलिए उनकी बुद्धि जड़ हो गयी थी, भार ढो रही थी ऋण का। कोई कहता है माँ का ऋण है, पिता का ऋण है, भाई–बान्धव का ऋण है; तो उनके पास दुर्योधन का ऋण था। जैसे चीरहरण होते हुए पितामहभीष्म देख रहे हैं, उस भार से लदे होने के कारण, वैसे ही आपका चीरहरण हो रहा है, पिता ही कर रहा है आपका चीरहरण, माँ ही कर रही है,

भाई–बान्धव कर रहे हैं, नग्न कर देते हैं आपको। आपके सारे के सारे पूर्व जन्मों के जप, तप योग को खींच लेते हैं, झूठे प्यार में, झूठे चुम्बन में और तब भी तो आप मूर्ख ही बने रहते हैं। आप कितने बुद्धिमान हैं कि प्रश्न उठ जाता है आपमें कि भीष्मपितामह इतने बुद्धिमान होकर भी विद्रोह क्यों नहीं किये? मैं रहता तो वहाँ विद्रोह कर देता। आप इतने बुद्धिमान हैं कि वहाँ विद्रोह कर बैठते तो यहाँ क्यों नहीं विद्रोह कर लेते? डर रहे हैं रोज? जिसके लिए जीना चाहिए, उसके लिए कहाँ जी रहे हैं? भगवान ने कह दिया कि उसी के लिए जीएँ और उसी के जीने के लिए चाहे जो भी कीमत चुकानी पड़े चुकाएँ, चाहे जिसका तिरस्कार करना पड़े करें। 'समं सर्वेषु' आप नहीं देखते कि समब्रह्म बैठा है सबमें किन्तु सबने ही अपमान कर दिया है उसका और इतना ही नहीं वे सिखा भी रहे हैं भगवान का अपमान करना अपने बाल–बच्चों को। 'विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः'– जो सम्पूर्ण भूतों को विनष्ट होते हुए देख रहा है लेकिन जानता है कि मेरा भगवान उसमें विनष्ट नहीं होता, वह माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चों इत्यादि तथा सारे प्राणिपदार्थों के मरने–जीने पर भी समझता है कि मेरा ब्रह्म नहीं मरता–जीता, जैसे सम्पूर्ण ईंधनों के नष्ट होते हुए भी अग्नि नष्ट होती हुई नहीं दीखती, अतः यथार्थ वही देखता है। सारे के सारे अंधे जीते हैं, मरते हैं; ये सारे के सारे मरेंगे–जीएँगे, लेकिन हमारी आत्मा तो न मरेगी न जीएगी– ऐसा देखना ही यथार्थ देखना है।

(समं सर्वेषु भूतेषु.....) निर्गुण–निराकार ब्रह्म का सगुण शरीर तो धर्म भी है, जो दिखाई पड़ रहा है। भले ही निर्गुण–निराकार नहीं दिखाई दे रहा है आपको किन्तु शास्त्रीय धर्म तो दिखाई पड़ रहा है। उस शरीर की तो सेवा कर ही सकते हैं! गुरु नहीं दिखाई पड़ता तो गुरुदेव का शरीर तो दिखाई पड़ रहा है! वह तो आत्मा है, आत्मरूप से दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन शरीररूप में दिखाई पड़ता है तो शरीर की सेवा करके ही भक्त समझते हैं कि मैंने गुरु की सेवा कर ली। अरे! जो गुरु कहता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो आप कैसे मानते हैं कि मैं गुरुदेव की सेवा करता हूँ, लेकिन वह मान लिया जाता है; क्योंकि आपकी भावना को वह स्वीकार करता है। 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं'– यहाँ 'तिष्ठन्तं' पद है अर्थात् वह भगवान एक विशिष्ट अतिथि है, जो आपके हृदय में बैठा हुआ है। जा भी नहीं रहा है लगता है कुत्ता बैठा है आपके घर में। यदि उसे कुत्ता ही समझ बैठे हैं आप, तो कुत्ते को भी रोटी दी जाती है लेकिन आपने भगवान को कभी रोटी–पानी नहीं दिया। इस मंत्र का यही आशय है। लम्बे काल उसे भूखा–प्यासा रखेंगे तो वही आपके लिए विषमब्रह्म हो जायेगा, जैसे जो ब्रह्म संतों–भक्तों को तारता है वही ब्रह्म असुरों को, राक्षसों को मारता भी है। आपसब ने सुना होगा कि यदि दरवाजे से भूखा–प्यासा अतिथि लौट जाता है तो आपका सारा पुण्य लेकर चला जाता है, लेकिन हृदय में बैठा हुआ समब्रह्म बहुत दिन भूखा–प्यासा रहने पर भी आपके हृदयरूपी दरवाजे से लौटेगा नहीं, बल्कि महाकाल बनकर आपको ही खा जायेगा।

(समं सर्वेषु भूतेषु.....) सम्पूर्ण भूतप्राणियों के ऊपरी आवरण के नाश होने पर भी उसका तो नाश होता ही नहीं। वह समब्रह्म जल में भी रसरूप से बैठा है, अग्नि में तेजरूप से बैठा है, सूर्य में प्रकाशरूप से बैठा है, तपस्वी में तपरूप से बैठा है, ध्यानियों में ध्यानरूप से बैठा है,

ज्ञानियों में ज्ञानरूप से बैठा है, बुद्धिमानों में बुद्धिरूप से बैठा है, वह समब्रह्म त्यागियों में त्यागरूप से बैठा है। वैसे ही आपको विचार करना चाहिए कि वह ब्रह्म हमारे में किस रूप से बैठा है, हमारे में भी तो उसे किसी रूप में बैठना चाहिए। वह निर्गुण–निराकार ब्रह्म हमारे हृदय में सगुण होकर बैठे तब तो बात बने! अरे! वह हमारी सुनेगा भी कि बैठा ही रह जायेगा, हमारी तरफ देखेगा भी कि बैठा ही रह जायेगा! जब सबमें बैठा है तो हमारी सुनने के लिए, सुनकर हमारे पर कृपा करने के लिए हमारे हृदय में भी बैठे! स्पष्ट हो गयी बात लेकिन यह भी विचार कर लेना कि भक्त में तो विशेष बैठने के लिए आतुर है। अरे! भक्तों, सन्तों तथा मनुष्यों में ही क्यों वह तो मिट्टी, पत्थर एवं लकड़ी आदि में भी बैठा है। इन्द्रद्युम्न नामक धर्मात्मा राजा को भगवान ने स्वप्न दिया कि समुद्र में एक लकड़ी बहती हुई आयेगी, उसमें से मेरी, सुभद्रा एवं बलराम की मूर्ति बना देना; क्योंकि उस लकड़ी में मैं विशेष बैठा हूँ। ऐसा करने से तुम्हारी मनोकामना तो पूरी हो ही जायेगी तथा जो भी भक्त यहाँ (जगन्नाथपुरी में) आकर श्रद्धाभाव से दर्शन करेंगे, उनका भी मनोरथ मैं पूरा करूँगा। इन्द्रद्युम्न नामक राजा की आँख खुली तो देखा कि समुद्र में एक लकड़ी बहती चली आ रही है और उसने लकड़ी से भगवान जगन्नाथ को प्रकट करके रख दिया, गढ़–गढ़ करके भगवान जगन्नाथ, बलराम एवं सुभद्रा को बना दिया। वहाँ लकड़ी में बैठा है भगवान भक्त के लिए, आज भी वही प्रताप है, देखने में हररोज प्रीतिकर ही लगता हैं। वह तो मात्र लकड़ी है, कुछ भी सुन्दरता उसमें नहीं है एक रूप दे दिया गया है। आजतक ऐसा कलाकार नहीं लाया गया वहाँ पर जो अति मनोहर मूर्ति की रचना कर दे। भगवान ने मना किया है कि बस एक आकृति दे दी जायेगी। प्रत्येक वर्ष रथ निकाला जाता है जगन्नाथ भगवान का, पूरा भारत विवश हो जाता है दर्शन करने के लिए। 'समं सर्वेषु भूतेषु'– यह बात अलग है कि अग्नि नहीं जलाता संन्यासी। इसीसे कि कहीं उस लकड़ी में भगवान न बैठा हो, वह पूजनीय लकड़ी न हो, मैं अपने पेट के लिए अग्नि नहीं जलाऊँगा। संन्यासाश्रम में एक व्रत है कि वह आग नहीं जलाएगा, कर्म नहीं करेगा और न ईंधन में आग लगाएगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'समं सर्वेषु भूतेषु'– सम्पूर्ण भूतप्राणियों में भगवान बैठा है किन्तु उनके ऊपरी आवरण, नाम, रूप आदि मिटने से भी उनमें का ब्रह्म नहीं मिटता।

सन् १९७१ में सइता पट्टी नामक गाँव में गंगाजी के तट पर गाजीपुर जिले में एक उच्चकोटि के तांत्रिक संत (नागा बाबा) को देखा। जूँएँ निकलकर उनके सिर से बाहर गिरते रहते थे, कोई हाथ से जैसे ही जूँ हटाता था, उससे जूँओं को छीन लेते थे और शरीर पर रख लेते थे। बोलते नहीं थे, कोई जूँ गिर गया धरती पर तो उठाकर डाल लेते थे सिर में। चौबीस घण्टे बैठे रहते थे। जो जाता था उसको तम्बाकू का प्रसाद दे देते थे। हजारों की भीड़ में प्रत्येक पंद्रह–बीस मिनट के बाद उठते और भीड़ को चीरते हुए आले में रखे हुए तम्बाकू को उठाते थे तथा उसके हाथ में रख देते थे जिसको उन्हें आशीर्वाद देना होता था। उन्होंने कभी बोला नहीं, जो भाषा थी उनकी उसे कोई पहचान नहीं सकता था। किसी ने कभी नहाते नहीं देखा उनको। चौबीस घण्टे में एक बार लगभग दो बजे सत्तू एक ही दरवाजे पर खाते थे। जितने वर्ष रहे वहाँ (चालीस या पचास वर्ष) उस गरीब के दरवाजे गये लेकिन उसको अमीर नहीं बनाया। श्वानवृत्ति

थी उनकी, कुत्ते की तरह खड़े हो जाते थे उसके दरवाजे पर वे। थोड़ा सा हल्का गीला सत्तू (जैसे रोटी पकायी जाती है) एक–दो बजे दिन में पति–पत्नी देते थे। वे उस सत्तू में से पाँच–सात ग्रास खाते थे और उनके दरवाजे पर दोनों तरफ जल का अर्घ्य देते थे तथा बचा हुआ प्रसाद उन्हीं दम्पत्ति को दे देते थे। फिर वहाँ से चलते थे दौड़ते हुए एक फर्लांग की दूरी पर जाकर शौच के लिए बैठ जाते थे, हाथ में कमण्डल नहीं होता था। वहाँ शौच होते थे वे, फिर अपनी जगह आकर बैठते थे। महाराज ने भी देखा था कि वहाँ शौच है ही नहीं, सभी दौड़ते थे उनके जाने के बाद में कि शौच है भी कि नहीं, वहाँ शौच होती ही नहीं थी। यह सब उनके जीवन की कहानी थी। सोते किसी ने देखा नहीं था। आश्चर्य है कि जूँ को उठाकर सिर में रख लेते थे क्योंकि 'समं सर्वेषु भूतेषु'– जूँ में भी भगवान है उनका।

'न हिनस्त्यात्मनात्मानं'– आत्महनन कर्ता कितना क्षुद्रप्राणी है कि जिसके हृदय में भगवान बैठा है वह केवल अपने और अपने माननेवाले बाल–बच्चों के लिए जीवन व्यतीत कर देता है। वह महापापी, महानारकीय पुरुष एकमात्र अपने पेट के लिए जीता है! भगवान कहते हैं– वह नराधम पहले अपना हनन करता है, इसके बाद जगत का हनन करता है। अतः जगत का हननकर्ता चाहे भीष्मपितामह ही क्यों न हो, चाहे कृपाचार्य नामक ब्राह्मण ही क्यों न हो किन्तु भगवान उसे क्षमा नहीं करता।

अब थोड़े समय के लिए युद्ध की तरफ देखें कि भगवान इस मंत्र से अर्जुन के लिए क्या कह रहे हैं– यहाँ पर प्रभु महात्मा अर्जुन को मानो ऐसा संकेत दे रहे हैं कि इस भारतभूमि में मैं बहुत दिनों से भूखा–प्यासा बैठा हूँ। कंस के राज्य में आया तो भोजन देना तो दूर, वह मक्खन, दूध, मलाई ही छीनने लगा, इसलिए वहाँ मुझे काल बनना पड़ा और अब मैं द्वारिका में सम शान्त बैठा हुआ था तो जरासंध ने मथुरा को ही निगल जाना चाहा, उसके लिए मुझे काल बनना पड़ा। अब मैं पुनः द्वारिका में सम शान्त बैठा था तो तुमलोगों को ये कौरव जीने नहीं दे रहे थे। इतना ही नहीं दुर्योधन तो मुझे ही माँगने चला गया और कहा कि हमारी सेना के साथ होकर आप पाण्डवों के लिए काल बन जाओ। जिस नराधम के यहाँ मैंने भोजन–पानी न लेकर विदुर के पास लिया था, उसने तुमलोगों का मुझे काल बनाने के लिए पता नहीं कैसे सोच लिया? सम शान्त बैठे हुए युधिष्ठिर तथा तुमलोगों का युद्ध मुझसे नहीं देखा गया। मुझे रोटी–पानी देना तो दूर, तुमलोगों के हिस्से की भी रोटी–पानी इनलोगों ने छीन ली। इसलिए मैं सम शान्त ब्रह्म इनलोगों के लिए विषम बन गया हूँ, काल बन गया हूँ। हे पार्थ! अब तुम मुझे कुपित न करो। इनका मांस और रक्त देकर मेरी क्षुधा–पिपासा को दूर करो। जिसप्रकार वैश्वानर अग्नि देवता भोजन नहीं मिलने पर पेट का मांस और रक्त ही खाने–पीने लगता है, उसीप्रकार मैं भी जब लम्बे काल तक भूखा–प्यासा रह जाता हूँ तो भूखा–प्यासा रखनेवाले का यमराज के रूप में माँस एवं रक्त ही खाने–पीने लगता हूँ।

(समं पश्यन्हि सर्वत्र.....) इसप्रकार जो सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में बैठे हुए ब्रह्म को सर्वत्र ही देखता है, वह अपने से अपने–आप का हननकर्ता नहीं होता। दो बार कह दिया भगवान ने,

एक बार छठे अध्याय में भी कहा कि अपने–आप से अपना उद्धार करता है, कोई भी उद्धारक नहीं है उसका। इस जगत का कोई भी गुरु क्या करेगा आपमें जब श्रद्धा नहीं रहेगी तो।

एक भक्त ने कहा कि मेरे बालक को आप साधु बना दें! महाराज ने कहा– क्यों बना दे? उसने कहा कि बचपन में इसने कहा था कि मैं ब्राह्मण घर से आया हूँ (पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर।) महाराज ने कहा– ब्राह्मण ही साधु बनता है क्या? भगवान ने तो कहा है कि सब साधु बनते हैं। अच्छा! लेकिन तुम्हारे बेटे ने तो कहा नहीं कि मैं साधु बनना चाहता हूँ, तो क्या महाराज सर पर ढोयेगा इसको लेकर? महाराज ही फालतू है? साधु बनाया नहीं जाता, साधु बना हुआ कोई आता है। थोड़ा सा उसमें आवरण रहता है तो संत उस आवरण को दूर कर देता है। सोने को सीसा तो बनाया नहीं जा सकता, वह तो सोना है ही। हाँ सोने की मैल को भट्ठी में डालकर, गलाकर, उसे साफ कर दिया जाता है सोडे से। संत भी साधु को ही साधु बनाते हैं, जो कि पवित्र आत्मा हैं, जन्म–जन्म से कमाई किये हुए हैं ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की। जब भगवान पापी ही क्या महापापियों को भी तारता है तो संत के यहाँ वे महापापी पुरुष स्वयं से शरणागत होने आते हैं, अतः वे भी उसी समय पुण्यात्मा हो जाते हैं। जब उसी के गाँव का साधक आया साथ में तो वह कहता फिरता था कि देखो संत कितने स्वार्थी होते हैं, फलाने के बेटे को तो अपने साथ रख लिया, मैं कहता था कि मेरे बेटे को रख लो तो नहीं रखा।

(न हिनस्त्यात्मनात्मानं.....) भगवान हृदय में भी है क्योंकि वह आपका मौलिक रूप है। जब जीवनपर्यन्त उसे आप प्रकट करते ही नहीं तो आप उसके हननकर्ता नहीं हुए, बल्कि आप अपने हननकर्ता हो गये। आपकी आत्मस्मृति छिन्न–भिन्न हो गई। भगवान भी आप जैसे आत्मघाती हत्यारे का साथ नहीं देता। जो सम शान्त निर्गुण निराकार ब्रह्म से उदासीन हैं, वे सब के सब आत्महत्यारे हैं। एक प्रेत और आत्महत्यारे में कोई अन्तर नहीं है। प्रेत को भी प्रभुनाम या ध्यान अच्छा नहीं लगता और आपको भी अच्छा नहीं लगता तो आपमें और उसमें क्या अन्तर है? जब प्रभु ने भागवत कथा सुनने मात्र से धुंधुकारी जैसे प्रेतात्मा को मुक्त कर दिया तो आपको मुक्त क्यों नहीं करेगा? जब ध्यानयोग, राजयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग भी न हो तो श्रुतयोग भी दे दिया है यानी सद्गुरु से भगवत्कथा सुनने मात्र से ही उद्धार हो जायेगा। आप तो मनुष्य हैं, आपकी प्रतीक्षा तो प्रभु पहले ही कर रहा है।

(न हिनस्त्यात्मनात्मानं.....) जब कोई जान लेता है कि मैं स्वयं का हत्यारा हूँ तो हत्यारा नहीं रहता। आप जानते ही नहीं कि आप आत्महत्यारे हैं। दूसरे को आप क्या मारेंगे, आपको तो प्रारब्ध मार रहा है; क्योंकि प्रारब्ध को आपने मारने का प्रयत्न किया है और प्रारब्ध को मार न सके, बल्कि स्वयं को मारने लगे। जनमेजय ने सारे सर्पों को मार डालना चाहा! ऋषि के शाप को भी मार देंगे क्या आप? ऐसा कहकर संत हँसते थे और कहते थे कि देखो इस हत्यारे को, समझता है कि इस सृष्टि में न सर्प रहेंगे न किसी को काट पाएँगे। इधर शाप मिला महाराज परीक्षित को, वे गंगाजी के दरवाजे गये वहाँ कथा प्रारंभ हुई और यहाँ पर हिंसात्मक यज्ञ प्रारम्भ कर दिया उस मूर्ख ने। संत का शाप तो नहीं मर सकता और ऐसा ही

हुआ, तक्षक नहीं मारा गया; हाँ! और सारे सर्पों को मार डाला उसने। अन्ततोगत्वा उसका मनोरथ पूरा नहीं हुआ। अपना ही वध कर डाला उसने, क्योंकि ब्रह्महत्या का पाप लग गया उसको, इसलिए उसका प्रायश्चित अलग से करना पड़ा। सर्पों ने क्या बिगाड़ा था कि घोर तामस यज्ञ किया उनको मारने का! सात्त्विक महायज्ञ करना चाहिए, जैसे कि महाराज ने ज्ञानयज्ञ की स्थापना की है, उस ज्ञानरूपी यज्ञ में दिव्य संशयरूपी सर्पों की आहुति देनी प्रारम्भ कर दी है महाराज ने। रोज आवाहन करता है, रोज आवाहन करता है महाराज आपके दिव्य संशय, शोक, मोह, दम्भ, पाखंडरूपी सर्पों का गीतारूपी दिव्याग्नि में जला डालने के लिए, जो आपका हरण किये जा रहे हैं, जिनसे आप मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। जो समर्पित होंगे उनका पीछा करनेवाले सर्प मर जायेंगे। खगेन्द्रानन्द और चूहीरामजी हँसी करने लगते हैं कि वह साँप पकड़ में कैसे आयेगा, कैसे मरेगा यह समझ में ही नहीं आ रहा है? सबसे बड़ा शत्रु यही संशय है जो, जिस पर विश्वास है उसी पर संशय करा देता है। अब उद्धार कैसे होगा हमारा? हाँ, अहं ब्रह्मास्मिरूप गुरु–गारुड़ी मंत्र को बुला लें या प्रभु कामनारूपी गारुड़ी मंत्र को बुला लें। जैसे ही जपेंगे इसे, वैसे ही ये सर्प आ जायेगा सामने फिर आत्मचिन्तनरूप अग्नि में जला डालें। इन्हीं लोगों जैसे और भी साधक विचार करने लगते हैं कि वे साँप पकड़ में कैसे आयेंगे लेकिन तो भी चूँकि यह गीताजी हैं अतः हो सकता है कि कुछ देर हो जाय लेकिन वे साँप आयेंगे अवश्य। अपने–आप गारुड़ी मंत्र के द्वारा जैसे मंत्र द्रष्टा और मंत्र उद्घाटन कर्ता मंत्र पढ़ता है और साँप चले आते हैं, अपने–आप को रोक नहीं पाते, उसीप्रकार संतों ने भी गीतायज्ञ प्रारम्भ कर रखा है, जिसमें आजतक बहुतों के संशयरूपी सर्प जलकर खाक हो गये हैं। बहुत से लोगों ने रोकने का प्रयत्न किया साधकों को, लेकिन विवश होकर चले आ रहे हैं। 'संशय सर्प..... ....दुःखद लहर कुतर्क बहु ब्राता'– हे गरुड़! संशयरूपी साँप ने काट लिया है आपको और लहर चढ़ गयी है, जो विलक्षण लहर है। इसप्रकार संशय को साँप का उदाहरण दिया था काकभुशुण्डि ने। क्योंकि साँप के काटने से दर्द नहीं होता, हाँ स्मृति जाती रहती है। बिच्छू मारेगा तो दर्द होगा, साँप काटे तो दर्द होगा ही नहीं। लहर चढ़ती है, चेतना विलुप्त होती जाती है, स्मृति सर्पमय होती जाती है, इसलिए सर्प की संज्ञा दी गयी, संशय और भ्रम को। सर्प दुःख नहीं देता, काटता है और व्यक्ति अपने प्रारब्धों को प्यारा हो जाता है। जिसको सर्प ने काट दिया वह चिल्लाएगा रोयेगा नहीं, लेकिन संशय नाम का साँप काटता है तो दुःखद लहर चलती है। इसप्रकार संशय भी स्मृति को छीन लेता है और साँप भी स्मृति को छीन लेता है। संशय सर्प से प्रमाद नामक लहर चलती है और बेहोश हो जाते हैं आप, दिखाई पड़ते हुए भी नहीं दिखाई पड़ता। भगवान हर मंत्र से बहुत कुछ कह रहे हैं लेकिन सुनाई नहीं पड़ता आपको तो जान लेना कि लहर चढ़ी हुई है, उसी लहर को उतारने का महाराज ने भी प्रयत्न किया है। दुःखद लहर कुतर्क है, विश्वास हो नहीं रहा आपको जहाँ तर्क करना चाहिए था वहाँ तर्क किया नहीं, जहाँ तर्क नहीं करना चाहिए वहाँ तर्क किये जा रहे हैं। व्यासजी से कहा एक भक्त ने कि परीक्षित महाराज की मुक्ति हो गई भागवत सुनने से, तो मेरी भी मुक्ति हो जायेगी आप यदि सुनाएँगे तो? कहा व्यासजी ने कि मुक्ति तो हो जायेगी लेकिन एक प्रतिज्ञा करो। कहा– कहें

आप! व्यासजी ने कहा– संशय मत करना, मैं कुछ भी कहूँ उसे सच मानकर सुनना! आपके पास संशय का अवसर आयेगा लेकिन उसे स्वीकार मत करना। उसने कहा कि नहीं करूँगा। व्यासजी कथा कहते गये, कहते गये, कहते–कहते कहा कि जानते हो भीम ने क्या किया युद्ध के मैदान में! बहुत से हाथियों के पूँछ पकड़े और आकाश में फेंकते गये, आजतक वे सब हाथी आकाश में ही भ्रमण कर रहे हैं। उस भक्त ने कहा कि नहीं, नहीं, नहीं मैं यह बात नहीं मानूँगा! तो व्यासजी ने कहा कि फिर तुम्हारा उद्धार नहीं होगा।

'न हिनस्त्यात्मनात्मानं'– अपनी आत्मा का उद्धार करने का प्रयत्न किया नहीं आपने, हाथी के उद्धार का प्रयत्न किया! सारी की सारी सृष्टि आश्चर्यमय है बस केवल आश्चर्य है ,आश्चर्य है। अब उस आश्चर्यमय सृष्टि में आपके पास तो कोई तर्क है ही नहीं भगवान के सिवा। आपमें योग्यता ही क्या है कुतर्क करने की? एक बच्चे ने अध्यापक से कुतर्क कर दिया। अध्यापक ने कहा कि पहले इतना तो पढ़ लो जब इससे विशेष जान लेना तब मेरे से बड़े के पास जाना, अभी कुतर्क मत करो। यही परम्परा है, यही नियम है, आचार्य पद्धति में। शास्त्र से और आचार्य से जिसने सुन लिया है कि मैं आत्मा हूँ तो वह कुतर्क नहीं करता कि मैं कैसे आत्मा हो जाऊँगा। यदि वह कुतर्क करते हुए ऐसा कहता है तो उस कुतर्की के पास सद्गुरु कहेगा कि तुम शरीर कैसे हो गये? तुम मूर्ख कैसे हो गये? यदि तुम बुद्धिमान नहीं हो, आत्मा नहीं हो तो मूर्ख कैसे हो गये? शरीर कैसे हो गये, किसी जातिवाले कैसे हो गये तो फिर ऐसा कहो कि मैं शरीर भी नहीं मानता अपने को और आत्मा भी नहीं मानता और किसी जाति, नाम, गाँववाला भी नहीं मानता अपने को। अतः भक्त कुतर्क में अपनी आत्मा का हनन नहीं करता वह तो गुरु एवं शास्त्रों के वचन पर कुतर्क न करके आत्मस्वरूप में स्थित होता है। 'ततो याति परां गतिम्'– इसप्रकार वह परमपद को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में ही समब्रह्म बैठा है। जहाँ प्राणिपदार्थ नहीं हैं, वहाँ तो खाली जगह है, भगवान तो वहाँ पर है ही नहीं। तो भगवान ने इस दोष का निराकरण किया है। सच पूछा जाय तो आकाश का भी जो आकाश है, सर्वत्र तो वही है। शरीर में जैसे अँगूठे से लेकर शिखा तक त्वचा फैली हुई है तो नख में है ही। त्वचा है तभी नख है और त्वचा है तभी बाल हैं। ऐसा कहा जाय कि सम्पूर्ण बालों में, दोनों आँखों में, सारे दाँतों में एवं नखों में त्वचा समरूप से स्थित है, इससे सर्वत्र त्वचा की सिद्धि हो ही गई। नख और बाल नहीं रहने पर भी त्वचा रहती है लेकिन बिना त्वचा के नख, बाल एवं दाँत आदि नहीं रहेंगे। इसीप्रकार जो भी प्राणिपदार्थ प्रकट होंगे उनमें स्वाभाविक ही समब्रह्म प्रकट हो ही जायेगा। जैसे मछली या जल का कोई प्राणी हो तो उसमें जल नामक समब्रह्म स्वाभाविक ही रहेगा, प्रत्येक गहनों में सोना नामक समब्रह्म रहेगा ही रहेगा। वैसे ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है। भगवान ने छठे अध्याय में भी कहा– अपने–आप से अपना उद्धार करें और इस मंत्र में भी वही बात प्रभु ने कह दी कि यदि आप अपने–आप से उदासीन हैं तो आप स्वयं अपने–आप के हननकर्ता हैं। अतः शीघ्रातिशीघ्र आप स्वयं से स्वयं में स्थित नहीं हो सकते तो जो सर्वत्र आत्मा विद्यमान है, उससे अपनी स्थिति को ठीक करावें।

पहली बात कि आप तो जानते ही नहीं कि आप आत्म हत्यारे हैं इसलिए प्रभु ने आपको जनाया है। जब कम से कम आप जान जायेंगे तो आप स्वयं अपनी हत्या क्यों करेंगे? इसलिए आपका परम कर्तव्य है कि आप अपने बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों को भी गीताजी देकर बताएँ कि यदि आपलोग भगवान को और अपने को जानने का प्रयत्न नहीं करते तो प्रेतात्मा ही बन जायेंगे। आप प्रारब्ध को मारने का प्रयत्न करते हैं, जबकि वह बिना भगवान के नहीं मारा जा सकता।

महाराज के परम पूज्य गुरुदेव ने 'मेरा लक्ष्य' नामक ग्रन्थ में लिखा है–

ज्ञानाग्नि सम्यक बार कर सब कर्म दीन्हें हैं जला।
निज तत्त्व को है जानता ज्यों हाथ में हो आँवला।।

करता रहे है कर्म सब फिर भी न करता काम है।
आकाश सम निर्लेप है सुचि सन्त उसका नाम है।।

(समं पश्यन्हि सर्वत्र..... ततो याति परां गतिम्) अतिथि भगवान बैठा है दरवाजे पर बहेलिये के रूप में, जाड़े से ठिठुर रहा है, इसकी सेवा कैसे की जाय? ऐसा पेड़ पर बैठा कबूतर सोच रहा था। मेरी कबूतरी भी आज आँधी–तूफान में कहीं मर तो नहीं गयी या जीवित होगी तो वह भी इसी तरह ठंड से कहीं ठिठुर रही होगी। वह कबूतर इधर बहेलिये की चिन्ता कर रहा था उधर अपनी कबूतरी की विरह वेदना में तड़प रहा था। तबतक बहेलिए के जाल में से कबूतरी की आवाज आयी। कबूतर ने नीचे देखा तो घोर पश्चात्ताप हुआ। कबूतरी ने कहा– अब मैं तो फँस ही गई, आप मत फँस जाना। जो भगवान की खोज छोड़कर भोजन–पानी की खोज करते रहते हैं, वे तो फँसते ही रहते हैं। कबूतर ने कहा– फिर मैं क्या करूँ? कबूतरी ने कहा– अपना उद्धार कर लो। बाल–बच्चे बड़े हो गये, उनके लिए क्यों जी रहे हो? भगवान के लिए नहीं जी सकते हो तो भागवतधर्म के लिए जी लो। कबूतर ने कहा– कैसे जी लूँ? कबूतरी ने कहा– ये आपके दरवाजे के अतिथि देवता हैं जो ठंढ से ठिठुर रहे हैं, इनके लिए आग जला दो ताकि ये ताप लें। कबूतर जाकर दूर से आग का तिनका लाया और पेड़ के नीचे गिरा दिया। बहेलिये ने उसमें पत्ती डालकर आग जला ली और तापने लगा। बहेलिये ने सोचा– ये जो कबूतरी को फँसाया है मैंने, अपने बाल–बच्चों को खिलाये बिना कैसे खा सकता हूँ? लगता है आज रात भूखा ही रहना पड़ेगा। मन की बात को जानकर कबूतरी ने कहा– अतिथि भूखा नहीं रहना चाहिए, जब भगवान नहीं दीखता तो धर्म तो दिखाई पड़ता है! स्वधर्म भी भगवान का ही रूप होता है, अतः इनके लिए दे दो अपने शरीर की आहुति। ये आपके शरीर का मांस खा लेंगे और मात्र इतनी ही सेवा करने से आपका उद्धार हो जायेगा। जो सद्गृहस्थ दरवाजे पर आये हुए अतिथि को अपना सर्वस्व दे देता है, वह सर्वस्व पा लेता है। कबूतरी की बात सुनकर कबूतर आग में कूद पड़ा। बहेलिए को समझते देर न लगी। उसके हृदय के भीतर से आवाज आयी– ओह! धिक्कार है, धिक्कार है! छिः! मुझ पापात्मा को धिक्कार है! एक पक्षी ने अपना धर्म निर्वाह किया, किन्तु मैं महामूर्ख, चाण्डाल अपने धर्म से विमुख हो गया। ऐसा पश्चात्ताप करते हुए उसने

कबूतरी को जाल से निकाल दिया और कहा– आज से मैं सर्वत्र विद्यमान प्रभु की शरण जाता हूँ। हे मन! आज से मैं तेरा कहना नहीं मानूँगा। मैंने अपने–आप से अपना हनन किया है, अब अपने–आप से अपना उद्धार करूँगा। इधर कबूतरी ने पति के साथ ही अग्नि में कूदकर अपना प्राण छोड़ दिया और सती हो गई। उधर जैसे ही बहेलिए ने प्रतिज्ञा की कि आज से मैं इस महापापरूप कर्म का त्याग करता हूँ, वैसे ही देखा कि दो दिव्य विमानों से देवरूप हुई कबूतर एवं कबूतरी की आत्मा (सूक्ष्म शरीर) दिव्य स्वर्ग को चली जा रही है। बहेलिए ने भी प्रभु के शरणागत होकर जप, तप, योग के माध्यम से अपना उद्धार कर लिया।

इस दिव्य कथा का सारांश है कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ रहा है, किन्तु उसका धर्मरूप शरीर सद्गुरु तो दिखाई पड़ ही रहा है, वह भी तो आत्मा है! अतः उसी की सेवा–शुश्रूषा करके, उसी की आज्ञा पालन करके तो आप भी अपना उद्धार कर लें।

(न हिनस्त्यात्मनात्मानं.....) वह कितना क्षुद्र प्राणी है कि जिसके हृदय में भगवान बैठा है और वह केवल अपने और अपने बाल–बच्चों के लिए जीवन व्यतीत कर देता है। वह महापापी, महानारकीय पेट के लिए कैसे जी लेता है? वह तो जगत का भी हनन करता है।

अब पुनः भगवान कर्तापने के भाव से मुक्त करना चाहते हैं, इसलिए कहते हैं कि

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥३०॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सबप्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है, इतना ही नहीं जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक्–पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उसी से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

(प्रकृत्यैव च कर्माणि.....) इस मंत्र में 'कर्माणि सर्वशः' पद आया हुआ है– मानो भगवान कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मों को ही प्रकृति के द्वारा होते हुए देखना, ऐसा न समझना कि राजसी एवं तामसी तथा सात्त्विक कर्म का कर्ता तो प्रकृति या भगवान हैं और ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त किये जानेवाले जप, तप, योग का कर्ता मैं हूँ; बल्कि यह जानना कि जब आत्मजिज्ञासा प्रकट हुई चित्त में तो यह ब्रह्म की ही महति कृपा है कि वह अपने–आप प्रकट हुई है, न कि आपने किया और जब वह आत्मजिज्ञासा प्रकट हुई तभी आपका तन, मन, वचन सद्गुरु के पास पहुँचा। अतः जब उसने बता दिया कि न यह आत्मजिज्ञासा तुम्हारी है और न कोई जिज्ञास्य (ब्रह्म) ही दूसरा है बल्कि वह जिज्ञास्य (आत्मा) तुम्हीं हो, तुम अपने द्रष्टारूप में स्थित हो जाओ तथा इस (अपने) तन, मन, वचन से अब मेरी आज्ञा से कर्म होने दो, तो उस कर्म को अपना कर्म न मान लेना;

क्योंकि जब तुम शरीर ही नहीं हो तो तुम्हारा कर्म कैसे और कहाँ से आ गया? इसलिए किसी भी काल में योग, जप, तप आदि क्रियाओं को भी अपना मत मान लेना। महाराज ने तो एकमात्र इतना ही देखा है कि सद्गुरु जब प्राप्त हो गया तो उसी को सगुण ब्रह्म मान लिया जाय, उसी को परमात्मा मान लिया जाय एवं अपने शरीर को सगुण आत्मा मानकर उस परमात्मा को समर्पित कर दिया जाय। अब उस शरीररूप सगुण आत्मा से वह झाड़ू–बर्तन का काम ले या जप, तप, योगरूप कर्म करा ले, यह उसका धर्म है; आपका धर्म तो है– एकमात्र शुद्धसाक्षी रूप हो जाना। जिसे यह बात न जँचती हो तो वह इस शरीर को अपना माने रहे और द्रष्टा होकर ऐसा समझे कि अपने तन, मन, वचन से सद्गुरु की प्रसन्नता के लिए या चित्तशुद्धि के लिए कर्म कर रहा हूँ, लेकिन यह निश्चित है कि यह योग प्रकृति का लाया हुआ है न कि मेरा। अतः मेरे तन, मन, वचन से विशुद्ध सद्गुरु की आज्ञारूप प्रकृति ही कर्म की कर्ता है, मैं तो मात्र द्रष्टा हूँ। इसप्रकार कुछ वर्षों में अकर्तापना सहज ही प्रकट हो जायेगा। भगवान का कहना है कि इसी दृष्टि को मैं दृष्टि कहता हूँ इससे जो विपरीत दृष्टि है उसे तो मैं कुदृष्टि ही कहता हूँ।

(प्रकृत्यैव च कर्माणि.....) इस मंत्र के द्वारा प्रभु का आशय है कि कोई कर्ता नहीं है, बल्कि प्रकृति ही कर्ता है, प्रकृति अर्थात् प्रारब्ध ही कर्ता है, प्रकृति अर्थात् भाव कर्ता है, प्रकृति अर्थात् संस्कार कर्ता है, प्रकृति अर्थात् माया करती है लेकिन फिर भी वह मूर्ख कहता है कि मैं करता हूँ। प्रकृति अर्थात् मेरी माया करती है, मेरी माया के द्वारा किये जाते हुए समझ कर भी कहता है वो नराधम कि मैं करता हूँ! वह कहता है कि मैंने जन्माया बाल–बच्चों को और वह मूर्ख कहता है कि हाँ मेरे माता–पिता ने मुझे जन्माया, इसप्रकार दोनों एक–दूसरे के ऊपर समर्पित हो जाते हैं। एक कहता है कि मैंने जन्माया, दूसरा कहता है कि हाँ इन्होंने जन्माया; जबकि कुछ समय पूर्व ही प्रभु ने कहा है– 'वेदाविनाशिनं नित्यं।' अरे! कैसे जन्माया! सोने–जागने की सामर्थ्य है नहीं, कहते हैं– हमने जन्माया? और वह मूर्ख कहता है कि हाँ, इन्होंने जन्माया। दोनों एक–दूसरे का हनन करते हैं, वह उसको मारता है, वह उसको मारता है, परस्पर में एक–दूसरे को मारते हैं। इसप्रकार माता–पिता अहंकार से अपना हनन कर रहे हैं और बाल–बच्चे दीन–हीनभाव से अपना नाश कर लेते हैं। 'प्रकृत्यैव च कर्माणि'– यद्यपि वही तो कर्ता होता है लेकिन तब, जब ऐसा देखता है कि प्रकृति करती है, न मैंने किया, न किसी ने किया; बल्कि भगवान की सत्ता से ही सभी कर रहे हैं, तो भगवान ही उसके लिए महाकर्ता है। इसप्रकार देखनेवाला द्रष्टा भी कालान्तर में कर्ता होकर महाकर्ता के रूप में स्थित हो जाता है।

(न स भूयोभिजायते.....) अतः ऐसा मानने एवं जाननेवाला वह जन्मने–मरने की भावना से मुक्त होकर तत्काल परमपद को प्राप्त हो जाता है। (यदा भूतपृथग्भावम्.....) कुछ लोग समझते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये नानाप्रकार के पृथक्–पृथक् भूत हैं, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि ये भूत हैं। ये पृथ्वी के सारे के सारे प्राणी पृथ्वी में अलग आत्मा हैं, जल के प्राणी जल में अलग आत्मा हैं, अग्नि में अलग आत्मा है, वायु में, आकाश में, सूर्य में, अलग–अलग आत्मा है, सारे प्राणिपदार्थों में अलग–अलग आत्माएँ हैं। शिव के रूप में, ब्रह्मा के रूप में, विष्णु के रूप में, देवी के रूप में, अलग–अलग आत्माएँ हैं, लेकिन इतना होने पर

भी जो ऐसा समझता है कि सम्पूर्ण भूतों में एक ही आत्मा है जो अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है तो वह जन्म–मृत्युभाव से मुक्त हो जाता है। क्यों अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है? क्योंकि अनेकत्व का भाव है, अनेकत्वभाव होने के कारण से वह भिन्न–भिन्न रूपों का हो गया और इसी से विस्तार को देखता है। किससे? जो एक है। अतः सबका विस्तार उसी से देखता है तो इस एकत्व दर्शन से शीघ्र ही उसका उद्धार हो जाता है। हररोज महाराज कहता है कि समष्टि ब्रह्म से आजतक ॐकार प्रकट हो ही रहा है। अभी वह 'ओऽ.....' किया ही है 'म्' तो अभी स्थिर हुआ ही नहीं है, 'ओ' के बाद 'म्' जैसे ही पूरा होगा तो महाप्रलय हो जायेगा। अकार, उकार से ही सभी सृष्टियों का विस्तार हो रहा है, अभी तो अकार और मकार मिले ही नहीं, जब मिलते हैं तब महाप्रलय हो जाता है। अकार और मकार, ये दो निर्गुण–निराकार ब्रह्म के दो होंठ (ओठ) हैं जो खुलते हैं तो सृष्टि दिखाई पड़ती है और बन्द होते ही कहानी समाप्त हो जाती है। प्रलय और महाप्रलय दो होते हैं– शरीररूपी सृष्टि का मरना प्रलय कहलाता है और संसाररूपी सृष्टि का मरना महाप्रलय कहलाता है। अतः 'ओऽ.....' कहने से अकार उकार हो गया, उस अकार से आकाश प्रकट होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और इन पाँचों से आपसब का शरीर प्रकट होता है। इन भूतों का है ये शरीर लेकिन आप कहते हैं कि हमारा है, माता–पिता कहते हैं कि हमारा है, यह विश्वरूप भगवान (संसार) कहता है हमारा है; फिर शरीर किसका है? ब्रह्म का ही तो है। उस ब्रह्म से तो सब विस्तारित है और उसी से सम्पूर्ण भावों की सुरक्षा भी हो रही है। सारे भाव उसी में विस्तार को प्राप्त हो रहे हैं। ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ ब्रह्मणे, ॐ इन्द्राय, ॐ अग्नये, ॐ वरुणाय नमः; इसप्रकार ॐ सबकी आत्मा है। इस ॐ से ही सबका विस्तार हो रहा है। 'एकस्थमनुपश्यति'– जब वह देखता है कि एक ही ब्रह्म से इन सम्पूर्ण सृष्टियों का विस्तार हो रहा है और उसी का सब पर शासन है, यह तो भ्रम ही हो गया था कि हमारा शासन है तो वह ब्रह्म का ही हो जाता है। 'ब्रह्म संपद्यते तदा'– तथा उस काल में वह संसार से विरक्त होकर अपने में अनुरक्त हो जाता है। इसप्रकार शीघ्र ही वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, उसके उपरान्त उसी को महाद्रष्टा, महाकर्ता कहते हैं, उसी को महादृढ़व्रता कहते हैं।

(यदा भूतपृथग्भावम्.....) प्रभु कभी तो ज्ञानयोग की स्थापना कर दे रहे हैं और कभी विशुद्ध भक्तियोग की अर्थात् अनन्य भक्तियोग और अनन्य ज्ञानयोग (राजयोग) को एक कर दे रहे हैं। जो भगवान के निकट से निकट भक्त हैं, वे तो समझ ही जायेंगे कि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। कोई भक्त कहता है कि यह सब दृश्यप्रपंच निर्गुण निराकार ब्रह्म ही है, तो ऐसा कहते ही उसका तन, मन, वचन एवं प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण आदि सब कर्म भी निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो जाते हैं और वह भी एकमात्र द्रष्टा होकर रह जाता है तथा कोई भक्त यह कहता है कि सर्वत्र सब रूपों में मैं निर्गुण निराकार ब्रह्म ही विद्यमान हूँ तथा सम्पूर्ण रूप एवं उन रूपों से प्रकट होनेवाली क्रिया मेरे से भिन्न नहीं है, तो ऐसा कहते एवं समझते हुए वह भी द्रष्टारूप ही हो जाता है। एकमात्र भाषा का तो अन्तर है, कोई कहे कि वे जग रहे हैं और कोई कहे कि वे सो नहीं रहे हैं, तो ये दोनों व्यक्ति तो एक ही बात कह रहे हैं। इसीप्रकार कोई कहे

कि यह ब्रह्म की लीला है और कोई कहे कि यह मुझ ब्रह्म की माया है तो ऐसा कहकर दोनों ही तो सम शान्त ब्रह्मरूप ही हो रहे हैं; क्योंकि दोनों ही तो अपने को एकमात्र द्रष्टा ही सिद्ध कर रहे हैं। इसी से तो महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि या तो आप, 'सब ब्रह्म ही है'– ऐसा समझ लें या तो 'सब स्वप्न (माया) ही है'– ऐसा समझ लें या तो 'सब ॐकार ही है'– ऐसा समझ लें, परिणाम तो एक ही होगा कि आप एकमात्र सम शान्तरूप ही रहेंगे, आपमें विषमता नहीं आयेगी। यही तो भगवान का प्रयास है कि साधक, भक्त किसीप्रकार भी अपने को कर्तापने के भाव से मुक्त कर लें। भगवान की इस सत्य बात पर विश्वास करना चाहिए और स्वयं को द्रष्टारूप समझकर सद्गुरु की आज्ञानुसार तन, मन, वचन से क्रिया होने देना चाहिए। कोई कहता है कि जब ऐसा है तो हम द्रष्टारूप ही हो जाते हैं। तो ऐसा नहीं हो सकता कि सहसा आप कर्म छोड़ दें और द्रष्टारूप हो जाएँ, बल्कि प्रयोग में उतरना पड़ेगा। क्रिया अपने तन, मन, वचन से हो या किसी अन्य के तन, मन, वचन ये यही समझना होगा कि न मैं कर रहा हूँ न वे कर रहे हैं, बल्कि यह क्रिया भी भगवान की क्रिया का विस्तार है, इससे मुझ द्रष्टा की क्षति–पूर्ति नहीं हो रही है। तब उसके उपरान्त धीर–धीरे द्रष्टापना सधने लगेगा। इसका प्रयोग एक घण्टे से प्रारम्भ करना होगा। जैसे साधक आसन सिद्ध करते हैं, प्राणायाम सिद्ध करते हैं, उसीप्रकार मैं देख रहा हूँ और सद्गुरु की आज्ञा इस तन, मन, वचन से कर्म कर रही है, यह भाव (दृष्टि) सिद्ध करना होगा। यदि बारह महीने में बारह घण्टे यह दृष्टि (भाव) बनी रह गयी तो फिर यह दृष्टि सोने में, नींद में प्रारम्भ हो जायेगी और जैसे–जैसे इस द्रष्टापने की सिद्धि होती जायेगी वैसे–वैसे सर्वप्रथम नानाप्रकार की प्राकृत सिद्धियाँ प्राप्त होती जायेंगी; किन्तु उन सिद्धियों को भी जब अपनी सिद्धि नहीं मानेंगे तो द्रष्टपना भीतर के चिन्तन से भी प्रकट होना प्रारम्भ हो जायेगा। इसप्रकार कुछ ही वर्षों में चित्त के (मन के) सम्पूर्ण स्तरों से द्रष्टापना प्रकट होते–होते परमद्रष्टापना हो जायेगा और तब परमस्रष्टापना प्रकट हो जायेगा। भगवान आपको इसी परम तत्त्व को देना चाहते हैं।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जिसप्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। हे पार्थ! जिसप्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को

प्रकाशित करता है, उसीप्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

(अनादित्वान्निर्गुणत्वात् .....) सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का, सम्पूर्ण भूतों का आदिकारण होने से सबके लिए वह ब्रह्म निर्गुण–निराकार ही है। क्यों? इसलिए कि उस दिव्य सगुण ब्रह्म को कोई देख ही नहीं पाया आजतक। एक बार 'शक्ति–सामर्थ्य किसमें कितनी है?' ब्रह्म ने पूछा तो जल ने कहा– मेरे में शक्ति विशेष है देखने की, सुनने की, समझने की, करने की। अग्नि ने कहा– मेरे में शक्ति विशेष है। पृथ्वी ने कहा– मेरे में विशेष शक्ति है। सम्पूर्ण देवताओं ने कहा कि मैं सबसे बलवान हूँ, मैं सबसे बलवान हूँ। सबने अपनी–अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया, किन्तु शरीर की कोई हानि नहीं हुई। कैसे? सूर्य देवता ने कहा– मैं बलवान हूँ; ऐसा कहते हुए उन्होंने आँखें छोड़ दीं तो भी बिना आँख का वह पुरुष बुद्धि से देखता रह गया, काम उसका चल गया। दोनों कानों से दिक्पाल चले गये, कहा कि देखें मैं नहीं रहूँगा तो कुछ भी बात नहीं बनेगी तो भी वह पुरुष अनुमान से बहरा होकर जीता रह गया, सारा काम करता रह गया। नाक से अश्विनी कुमार हट गये, यह कहते हुए कि देखें मेरे बिना यह शरीर शक्तिहीन हो जायेगा। महाराज ने भी बिना गंधवाले एक व्यक्ति को देखा उसको सुगंध आती ही नहीं थी तो भी वह जी रहा था। जिह्वा से वरुण देवता हट गये तो भी वह जी रहा था, बिना स्वाद का खा रहा था। सम्पूर्ण अंगों से हटते गये देवता लोग लेकिन वह पुरुष जीता रह गया। उसके उपरान्त प्राण ने कहा कि अब देखें मैं जा रहा हूँ शरीर से, सम्भालें अपने को। उसने खींचा नख से सिर तक अपने को, जैसे ही खींचा वैसे ही सारे के सारे अंग–प्रत्यंग अर्थात् सारे देवी–देवता निष्क्रिय हो गये। कान, आँख, नाक, जिह्वा, हाथ, पाँव सारे के सारे घोर चित्कार करने लगे और उनलोगों ने कहा कि नहीं, नहीं, नहीं आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

उस निर्गुण ब्रह्म को कोई नहीं जान पाता कि वह कितना सगुण है। जाने भी तो कैसे? क्योंकि वह सबका आदि कारण है। व्यवहार जगत में भी जबतक माँ बेटे से न बताये कि वही उसकी माँ है तो वह नहीं जान पायेगा। भगवान ने यहाँ विलक्षण बात कह दी कि अनादि होने से ही लोग मुझे निर्गुण कह देते हैं, जबकि निर्गुण तो सारे प्राणिपदार्थ हैं; क्योंकि उन्हें अपने आदि–अन्त का पता ही नहीं है और पृथक्–पृथक् आकृतियों को देखकर अनुमान लगाते हैं कि ये सब आत्मा हैं तथा इन आत्माओं का जो जन्मदाता है, इनपर जो शासन करता है वह परमात्मा है।

(परमात्मायमव्ययः.....) वह ब्रह्म सम्पूर्ण आत्माओं का आत्मा होने से, अनादि होने से अव्यय है, कभी भी उसमें कमी–बेशी नहीं आयी। बहुत सी सृष्टियाँ प्रकट हुईं आजतक किन्तु वह अव्यय का अव्यय रह गया। जैसे समुद्र से चाहे कोई कितनी भी नदियाँ निकाल ले तो भी उसमें कमी नहीं आयेगी, वर्षा हजारों वर्ष न हो तो भी उसमें कमी नहीं आयेगी। आपसब देखते ही हैं कि असंख्य नदियाँ उसमें मिल रही हैं तो भी उसमें बाढ़ नहीं आती, चाहे जितनी वृष्टि हो जाय लेकिन वह तो ज्यों का त्यों बना रहता है। उसीप्रकार ब्रह्म में से असंख्य ब्रह्माण्ड निकाल दिये जाएँ, चाहे उसमें असंख्य ब्रह्माण्ड निर्मित कर दिये जाएँ तो भी उसमें कमी–बेशी

नहीं होती अथवा एक दीपक से असंख्य दीपक जला लें या उसमें असंख्य दीपक का प्रकाश डाल दें लेकिन वह तो ज्यों का त्यों बना रहेगा।

यह आध्यात्मिक रहस्य है, बड़ा गम्भीर विषय होने से पुनः–पुनः उदाहरणों को दिया जाता है। जिसके मन में जो उदाहरण बसा रहता है वही वह देता है, महाराज के मन में अव्यय के लिए एक सबसे बड़ा उदाहरण है, वह कौन? यही कि व्यक्ति जब जाग रहा है तो उसका वजन कर लें (तौल लें), अब वही व्यक्ति जब सो जाय और जब स्वप्न देख रहा है तो सोये हुए में उसे तौलें उसको, आप पायेंगे कि दोनों का भार बराबर होगा। सोया हुआ है, सपना देख रहा है– आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इतनी ही बड़ी उसमें भी सृष्टि है। उसके भीतर वहाँ पर पत्थर की चट्टानें हैं, हिमालय पहाड़ वहाँ पर है लेकिन तौलने पर तो उसका वजन उतना ही है, जबकि उसका भार तो असंख्यगुना हो जाना चाहिए, उठना ही नहीं चाहिए था उस सोये हुए पुरुष का पलड़ा। इसप्रकार सारी सृष्टि बसती है उसमें लेकिन अव्यय का अव्यय रह जाता है, व्यय नहीं होता। 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय'– वह ब्रह्म शरीर में विद्यमान है, न किसी के ऐसा कहने से कि मैं कर्ता हूँ उसका अपमान होता है, न कोई कह देता है कि भगवान कर्ता है तो उसका सम्मान हो जाता है, वह अव्यय का अव्यय रह जाता है। हाँ जो कहता है कि भगवान कर्ता है उसको वह मोक्षपद देकर के भी अव्यय का अव्यय रह जाता है और जो कहता है कि भगवान उसमें नहीं है उससे मौन हो करके भी अव्यय रह जाता है।

जो अपने को सगुण समझकर ब्रह्म को निर्गुण कह देता है, उसकी बुद्धि की यह कैसी विडम्बना है? अपने को कर्ता और ब्रह्म को अकर्ता, अपने को पूर्ण और ब्रह्म को शून्य कहता रहता है, तो भगवान भी हँसते हुए उसकी ऐसी भावना को स्वीकार कर लेता है जबकि इसप्रकार कहने से ब्रह्म उसके लिए अकर्ता ही हो जाता है, उसके लिए निर्गुण ही हो जाता है और कहता है तुम्हीं कर्ता बने रहो, तुम गुणवान बने रहो। किन्तु भक्त ऐसा नहीं कहते, भक्त तो भगवान को ही महाकर्ता समझकर स्वयं अकर्ता हो जाते हैं, महाद्रष्टा हो जाते हैं। इतना ही नहीं ब्रह्म को, जो रोम–रोम में है, उसको अपने लिए कर्ता बनाकर मानते हैं। वे समझते हैं कि वह निर्गुणरूप में भी उतना ही रहता है और सगुण बन जाय तो भी उतना ही रहता है। अतः भक्त उसे सगुण श्रीकृष्ण बनाकर स्वयं ग्वाल–बाल बन जाते हैं। भक्त उसे कृष्ण बनाकर स्वयं गोपी बन जाते हैं और हररोज रास रचाया करते हैं। कहाँ तक कहा जाय, भक्त उसे श्रीकृष्ण बनाकर स्वयं व्यास बनकर उसकी लीला गायन करने लगते हैं।

(न करोति न लिप्यते.....) 'न करोति' पहला पद है, प्रश्न खड़ा हो जाता कि जब 'न करोति' यानी वह कर्ता ही नहीं है तब उस ब्रह्म की आवश्यकता क्या है? एक–एक पद भगवान बोलते हैं। 'अनादित्वात्'– यदि वह ब्रह्म सबका आदि है तो चलो कोई बात नहीं, नींव को किसने देखा सभी महल को देखते हैं, छाया महल से मिलती है, नींव से तो छाया मिलती नहीं है। तब कहते हैं– 'निर्गुणत्वात्' अनादि और निर्गुण ये दो पद हैं। किसके लिए ये दो पद हैं? हाँ मूर्खों के लिए। शून्यवादियों, नास्तिकों के लिए वह निर्गुण रह जाता है, यद्यपि वह आत्मा का आत्मा

है, वह अव्यय है लेकिन उन मूर्खों के लिए शरीर में रहते हुए भी नहीं करता। उन्हीं मूर्खों के लिए 'न करोति'– 'करता ही नहीं है'– यह पद है और भक्तों के लिए 'न लिप्यते' पद है। किन्तु जिन्होंने हृदय में बैठे हुए उस अतिथि को यानी परमात्मा को बोलने के लिए बाध्य कर दिया है जप, तप, योग से अर्थात् जप, तप, योग करके उसको समर्पित कर प्रसन्न कर दिया है, उनके लिए वह कर्ता होकर भी (न लिप्यते) कर्तापने के दोष से लिपायमान नहीं होता, इसप्रकार इसका अर्थ हुआ 'न करोति'। महात्मा अर्जुन ने मानो कहा कि जब वह कर्ता ही नहीं है तो उस ब्रह्म की आवश्यकता क्या है? तो कहा कि कर्ता है वह, लेकिन भक्तों के लिए कर्ता है। वह भक्तों के लिए बैठा नहीं रहता हृदय के भीतर, बल्कि उनके लिए भीतर में भी कर्ता है और बाहर में भी कर्ता है लेकिन उनके लिये ही उनके गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होता। जैसे भगवान ने अर्जुन से युद्ध कराया और माँ गान्धारी ने समझा कि उन्होंने युद्ध कराया, अतः शाप दे दिया उन्हें; किन्तु उस दोष से प्रभु दूषित नहीं हुए। जप, तप, योग की जब गर्मी होती है तो भीतर का भगवान बैठा हुआ उस दिव्य गर्मी से विकल हो जाता है और बाहर आ जाता है, सहन नहीं कर पाता वह। त्याग की गर्मी भी होती है और त्यागी का भगवान जो भीतर बैठा है वह त्याग की गर्मी से बाहर आ जाता है। आप विकल होते हैं जप, तप, ध्यान में। अरे विकल क्यों होते हैं? वह भगवान तो बाहर आना चाहता है आपके जप, तप, योग की गर्मी से। जब वह बाहर निकलना चाहता है तो पहले सबकुछ निकाल देता है अर्थात् सारे विचारों को, सम्पूर्ण वृत्तियों को बाहर निकाल देता है, ज्ञानयज्ञ से सारे संशयरूपी सर्पों को भस्म कर देता है और इसके बाद भीतर में भी रहता है और बाहर भी, पहले बाहर जाकर फिर भीतर का बोध करा देता है। मानो प्रभु यह भी संकेत कर रहे हों कि भीतर में मैं तुम्हारे बैठा था लेकिन तुम तो नहीं पहचान पाते मेरे को न, इसलिए बाहर अब तुम्हारे पास आकर बोल रहा हूँ।

(अनादित्वान्निर्गुणत्वात्.....) मानो भगवान यहाँ साधकों से कह रहे हैं कि यदि आप स्वयं को द्रष्टा होने से अनादि निर्गुण परमात्मा अव्यय समझ लेते हैं तो शरीर में स्थित रहते हुए भी प्रकृति के गुणों के द्वारा होते हुए कर्मों से लिपायमान नहीं होते। यह कैसे होगा कि शरीर में रहते हुए भी भक्त, साधक कर्तापने के भाव से लिपायमान नहीं होंगे?

(यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं.....) हाँ, ऐसा चिन्तन करने से होगा कि जैसे सम्पूर्ण भूतों से सूक्ष्म होने से आकाश ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ की न हो। उसके ऊपर–ऊपर बादल लगते हैं, उसके ऊपर–ऊपर सृष्टियाँ प्रकट होती हैं लेकिन तो भी आकाश आकाश ही रहता है, वह किसी सृष्टि या प्राणी के गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होता। उसीप्रकार आकाश का भी आकाश होने से, वह ब्रह्म किसी के गुण–दोष से लिपायमान नहीं होता। तो किसके गुण–दोष से? यही तो विलक्षण बात है कि पिता अपने पुत्र के गुण–दोषों से लिपायमान हो जाता है लेकिन आकाश अपने पुत्र हवा के गुण–दोषों से लिपायमान नहीं होता। वायु कुपित होकर दूसरों को शाप देते देखा जाता है लेकिन अपने पुत्र के शाप देने से भी आकाश उसके दोष से लिपायमान नहीं होता। वायु देवता को वरदान देते देखा गया है, जब वह कुपित होता है तो लकवा लग जाता है अर्थात् सारे अंगों को टेढ़ा–मेढ़ा कर देता है। एक बार कुपित हो गया

था शुक्राचार्य के शिष्य पर वह वायु नाम का देवता, क्योंकि वह भगवान को मारने चला था। कंस ने कहा जाओ उस बालक को मार डालो अपने तंत्र से। जैसे ही भगवती यशोदा के घर के प्रांगण में लेटे हुए भगवान को देखा, गला दबाना ही चाहा, वैसे ही उसके हाथ में लकवा मार दिया, यानी वायु ने मार दिया। पैर से मारना चाहा तो पैर में लकवा मार दिया, मुँह से गला दबाना चाहा तो मुँह टेढ़ा हो गया, किसीप्रकार घिसटता–घिसटता बाहर चला गया, भागा–भागा शुक्राचार्य के पास जाकर रोने लगा। शुक्राचार्य ने मूर्ति में से प्रकट होकर कहा कि अरे मूर्ख! तंत्र, मंत्र, योग, जप ये सब भगवान से निकलते हैं, प्रकट होते हैं और तू इसी तंत्र से भगवान को मारने चला गया, तू भस्मासुर बन गया! अरे मूर्ख! भस्मासुर तो भस्म होता ही है। वैसे ही जिस भगवान की शक्ति से शक्तिमान हो करके आप भगवान के सिर पर हाथ रखते हैं तो आप ही भस्म हो जाते हैं, जैसे कि लोग भस्म हो गये हैं। वह भी भस्मासुर ही है जो विषयी भस्मासुरों के पीछे पड़ा हुआ है। यदि आपकी शक्ति का ह्रास हो गया है तो इसका प्रमाण है कि आप भस्मासुरों के साथ रहते हैं। मानो भगवान कह रहे हों अर्जुन से कि 'ये सब भस्मासुर हैं, हे गाण्डीवधारी! उठो! इन भस्मासुरों को जिन्हें मैं भस्म करने के लिए उद्यत हो गया हूँ, उन्हें भस्म कर दो। जितने भस्मासुर हैं वे मोहित होकर के ही भस्म होते हैं, उनको मोहित करने आया हूँ मैं।' भगवान अपने रूप को प्रकाशित नहीं कर रहे हैं। इसप्रकार अपने पुत्र के दोष से दूषित होता है पिता लेकिन आकाश अपनी अध्यक्षता में अपने पुत्र वायु को शाप देते हुए, वरदान देते हुए देखता है फिर भी उसके गुण और दोषों से लिपायमान नहीं होता। इसलिए भगवान नारायण ने यहाँ पर आकाश का स्मरण किया। उदाहरण है ये कि 'यथा सर्वगतं'– उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतप्राणियों में नख से सिर तक व्याप्त है वह ब्रह्म लेकिन प्राण के लिए ही जीनेवाले, अपने पेट के लिए ही जीनेवाले उस नराधम के कुकर्म से अथवा सत्कर्म से वह लिपायमान नहीं होता अर्थात् उसके गुण–दोष से वह दोषी नहीं होता। लोक में देखा जाता है कि प्रतिष्ठा पुत्र को मिलनी चाहिए किन्तु पुत्र के चलते माँ को मिल गयी क्योंकि माँ सामने है तो माँ को मान–सम्मान पहले दिया जायेगा। 'धन्य धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान'– मेघनाद की माँ की जय–जयकार कर रहे हैं हनुमान और अंगद लेकिन यहाँ पर ऐसा नहीं है, सारे के सारे प्राणियों में प्राणन क्रिया का स्वामी वायु है किन्तु जो भक्त होते हैं वे वायु की बड़ाई नहीं करते भगवान की बड़ाई करते हैं, वे समब्रह्म की बड़ाई करते हैं। वे जानते हैं कि ब्रह्म वायु का भी वायु है। मानो भगवान कह रहे हों कि 'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः'– तूने कहा था न पार्थ! अभी प्रार्थना की थी न कि आप वायु के भी वायु हैं! मानो अर्जुन कह रहे हों कि हे प्रभु! मैंने प्रार्थना की थी। प्रभु कह रहे हैं कि तो ठीक है, जब उस वायु के दोष से मेरी आत्मा आकाश भी लिपायमान नहीं होता, फिर मेरी तो बहुत दूर की बात है।

'यथा प्रकाशयत्येकः'– क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का प्रकरण चल रहा है और भगवान उपसंहार करने की स्थिति में हैं तथा इधर बहुत से प्रश्न खड़े हो गये हैं महात्मा अर्जुन के मन में, उन प्रश्नों का भी उत्तर देना है; अतः भगवान कहते हैं– एक ही ब्रह्म कैसे सभी शरीररूप क्षेत्रों को प्रकाशित कर देता है अर्थात् एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण शरीरों को कैसे चेतनता प्रदान कर रहा है, इसे

देखें– जैसे हर मकान में दीये अलग–अलग होते हैं किन्तु जब सूर्य आता है तब हर मकान से दीपक चले जाते हैं। लोक को प्रकाशित करता हुआ सूर्य यदि किवाड़ खुला हुआ हो तो सारे घरों में प्रवेश कर जाता है, वह एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है। विज्ञान भी यहाँ तक तो मानने लगा है कि जो चन्द्रमा में प्रकाश है, जो नक्षत्र, तारों में प्रकाश है वह सूर्य का ही प्रकाश है, किन्तु विज्ञान यह नहीं जान पाया है कि जो सूर्य में प्रकाश है वह किसका प्रकाश है लेकिन भगवान स्वयं कह रहे हैं कि जो सूर्य में प्रकाश है, वह मेरा ही प्रकाश है। एक ऐसा प्रकाश कि जब वह ठंढे भाग से प्रवाहित होता है तो वह प्रकाश ज्योतिर्मय चन्द्रमा का प्रकाश कहा जाता है, शीतलता प्रदान करता है। एक ऐसा प्रकाश जो दिव्य तेजोमय अर्थात् उष्णप्रदेश से गमन करता है तो वह सूर्य का प्रकाश कहा जाता है, वहाँ वह गरम हो जाता है, जबकि वह ब्रह्म प्रकाश न गरम है, न ठंडा है, न वह अंधकार है, न प्रकाश है, न वह टेढ़ा है, न सीधा है। न वह मोटा है, न पतला और न सूक्ष्म है न स्थूल आदि आदि। 'यथा प्रकाशयत्येकः'– इस लोक में भी यदि सूर्य न हो तो इस शरीर की सत्ता कुछ भी नहीं रहेगी, यदि यह बाहर का सूर्य पिघल जाए अर्थात् अन्तर्ध्यान हो जाय तो सारी की सारी सृष्टि अपने–आप पिघल जायेगी क्योंकि इस लोक का (संसार का) प्राण सूर्य ही है। आपने महाप्रलय के विषय में सुना है कि द्वादश सूर्य प्रकट हो जाते हैं, जब वे अपने प्रचंड तेज से प्रचंडित होते हैं तो सारा पृथ्वीलोक पिघलकर जल बन जाता है और ये सूर्य जब अपने द्वादश तेजोमय स्वरूप को प्रकाशित करते हैं तो उनके तेज से, उनके तप से वह जलमय प्रांत भी सूख जाता है, मानो वे सूर्य जल को पी जाते हैं। इसप्रकार सूर्य नहीं तो भूमण्डल नहीं, सूर्य नहीं तो कुछ भी नहीं है। 'यथा प्रकाशयत्येकः'– कोई ब्रह्मा, विष्णु का यज्ञ कैसे कर सकेगा, क्योंकि सूर्य नहीं तो गणना नहीं; ज्योतिष का निर्माण नहीं हो सकेगा, दक्षिणायन, उत्तरायण का निर्णय नहीं हो पायेगा, दक्षिणायन, उत्तरायण का निर्णय नहीं हो पाने से यज्ञ सम्पादन हो ही नहीं सकता। जिन लोकों में सूर्य नहीं है, वहाँ की भूमि भोगभूमि कही जाती है, स्वर्ग में भी सूर्य नहीं है। प्रकाश तो वहाँ पर है लेकिन सूर्य वहाँ पर नहीं है इसलिए यज्ञादि कर्म वहाँ नहीं हो सकते। चन्द्रलोक में कर्म सम्पन्न नहीं होते, मंगललोक में, बुधलोक में, बृहस्पतिलोक में, शनिलोक में कहीं भी यज्ञादिक कर्म सम्पन्न नहीं होते। वहाँ तो प्रारब्ध को भोगने के लिए ही कोई जाता है, वहाँ ज्योतिष शास्त्र का निर्माण नहीं होता, ज्योतिष का निर्माण होता है यहाँ पर सूर्य की अध्यक्षता में ही। बारह महीनेवाला बारह आदित्य है वह। वह है तो योग, लग्न, नक्षत्र और काल की गणना होगी, अन्यथा नहीं होगी। 'यथा प्रकाशयत्येकः' सम्पूर्ण ब्रह्मांड को वही प्राकशित कर रहा है अर्थात् तंत्र, मंत्र, योग, जप, तप सभी उसकी अध्यक्षता में होंगे; तभी सिद्ध होंगे अन्यथा नहीं होंगे। रात्रि देवी को भी प्रकाशित वही करता है, दिन नामक देवता को भी प्रकाशित करता है वह। रात को आप तभी देख पाते हैं जब आपकी आँखों में सूर्य है, यदि आपकी आँखों में सूर्य न हो तो रात को आप नहीं देख पायेंगे। अन्धा रात को नहीं देख पाता, वह दिन को भी नहीं देख पाता वैसे ही आप नहीं देख पायेंगे, सूर्य तो जो बाहर है वही भीतर है। ये आदि पुरुष हैं, भक्ष्याभक्ष्य सबकुछ खा लेते हैं लेकिन इन्हें दोष नहीं लगता, गन्दे नाले को सोख जाते हैं उससे

अपवित्र नहीं होते और भगवती गंगा के जल को पी लेते हैं तो उससे अमृतमय नहीं हो जाते। 'आदित्य हृदयं' नामक स्तोत्र में कहा गया है– 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च' ब्रह्मा के काल की गणना इन्हीं के माध्यम से की गयी है, ये नहीं होंगे तो ब्रह्मा के काल की गणना ही नहीं होगी, आयु का निर्धारण नहीं होगा। अतः ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सब इन्हीं की परिक्रमा करते रहते हैं, यही आदि ऋषि माने जाते हैं। 'यथा प्रकाशयत्येकः'– सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को ये प्रकाशित करते हैं लेकिन सम हैं और सम शान्त निर्विकाररूप में ही अपना काम कर रहे हैं अर्थात् वे महाद्रष्टा हैं। भक्तों के लिए जैसे ये कर्ता हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्म भी क्षेत्रज्ञ के रूप में अर्थात् आत्मा के रूप में सारे प्राणियों के भीतर–बाहर विद्यमान है। उसी की चेतनता से ही सबको चेतना प्राप्त हो रही है। वह सबके भीतर आत्मा के रूप में अर्थात् चेतन के रूप में व्याप्त है, उसी की चेतनता से मन चेतन हो रहा है, बुद्धि चेतन हो रही है, चित्त चेतन हो रहा है, अहंकार चेतन हो रहा है, प्रकृति चेतन हो रही है, आँख चेतन हो रही है, कान चेतन हो रहा है, हाथ–पाँव चेतन हो रहे हैं। जब वह क्षेत्रज्ञ स्वप्नलोक को चला जाता है तो सारी चेतनता धरी की धरी रह जाती है, आँख बन्द हो जाती है, कान सुन नहीं पाता, नाक सूँघ नहीं पाती, जिह्वा में कुछ भी रस डालो, कुछ भी स्वाद नहीं आता, हाथ–पाँव तो रहेंगे लेकिन हलन–चलन नहीं होगी। यदि वह क्षेत्रज्ञ स्वप्नलोक से सुषुप्तिलोक को चला गया तो स्वप्न की भी आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार एक ही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण शरीरों को चेतनतारूप प्रकाश से प्रकाशित कर रहा है लेकिन क्षेत्र (शरीर) के दोष से दूषित नहीं होता और गुण से गुणी नहीं होता है अर्थात् उस आत्मा (प्रकाशयति भारत) के ही प्रकाश से प्रकाशित होता है सारा लोक। चेतनता ही प्रकाश है। एक ही स्मृति से सम्पूर्ण भूत प्राणियों को याद कर रहा है वह। जिसप्रकार सामान्य पुरुष की स्मृति और संत की स्मृति में कितना अंतर होता है– संत आपकी स्मृति को अपने में मिला करके आपके मन की बात जान लेता है क्योंकि वह जानता है कि एक ही स्मृति है सब ओर। इसीप्रकार वह ब्रह्म एक ही स्मृति से सबको याद कर लेता है इसलिए सर्वज्ञ कहा जाता है, अन्तर्यामी कहा जाता है।

'यथा प्रकाशयत्येकः'– इधर युद्ध के मैदान में मानो प्रभु कह रहे हों कि मैं ही आदित्य का आदित्य हूँ। भगवान सूर्य इस सृष्टि में जैसे ही आते हैं सब जाग जाते हैं चाहे वे देवता हों, मनुष्य हों, राक्षस हों, म्लेच्छ हों, चाण्डाल हों, कोल–भील हों, कोई भी हों, उनके नहीं रहने पर सब सो जाते हैं और उनके आने पर सब जाग जाते हैं, मानो स्वागत करते हैं। ऐसा लगता है कि हररोज अग्र पूजा होती हो इनकी। इसीप्रकार मैं भी अनादि अनन्त ब्रह्म हूँ, निर्गुण–निराकार हूँ, जो तुम्हारे लिए सगुण बन गया हूँ, जबकि सगुण होते हुए भी सगुण नहीं हूँ। ये सभी पक्ष–विपक्ष के लोग जानते हैं कि मेरी अग्रपूजा हुई है, तुम भी जानते हो, जब तुम्हारे ये महाराज युधिष्ठिर राजा बने थे। सम्पूर्ण भूपतियों के सामने मेरी अग्रपूजा पितामह ने की थी। मैं वही दिव्य सविता हूँ जिसकी पूजा तुमने अभी–अभी विश्वरूप दर्शन के उपरान्त की है, पहले तुमने उस भाव से पूजा नहीं की थी।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

इसप्रकार जो साधक ज्ञाननेत्रों के द्वारा क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को, उसकी शक्ति–सामर्थ्य को तथा प्रकृति एवं तत्त्वों के विकारों को और उनसे मुक्त होने की कला को भलीभाँति जान लेता है, वह परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

बन्धन तो हो ही गया है, अभिमन्यु की तरह चक्रव्यूह में तो फँस ही गये हैं लेकिन इस चक्रव्यूह में यदि ज्ञाननेत्रोंवाला सद्गुरु अपनी आँख बन जाय तो इससे निकलना सुगम हो जाता है। पाँच तत्त्वों को ही यहाँ पञ्चभूत कहा जाता है और उनके पच्चीस विकारों को ही यहाँ बन्धन का कारण बताया गया है, जैसा कि पूर्व अध्यायों में विस्तार किया गया है। काम, क्रोध, लोभादि विकार तथा नानाप्रकार के रोगों के उत्पात, इन्हीं पाँचों तत्त्वों की कमी–बेशी से होते रहते हैं। ज्ञान होने के उपरान्त शारीरिक दोषरूप रोग प्रकट होते देखे ही जाते हैं। जो ज्ञाननेत्रोंवाले हैं उनमें मन तो रहता नहीं और तन को अपना मानते नहीं, अतः वे सहज में ही प्रकृति एवं प्रकृति के विकारों से मुक्त हो जाते हैं। मन उनका क्यों नहीं रहता? इसलिए कि किसी भी नाते से उनका उससे सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मन का जन्म तो माता–पिता, भाई–बान्धव आदि नातों से ही होता है और शारीरिक धर्म भूख–प्यास, घटना–बढ़ना, सोना–जागना, उनमें प्रवेश कर नहीं सकता। यदि वह शरीर को ही अपना नहीं मानता तो शरीर के विकारों को अपना क्यों मानेगा? यहाँ तो मानना ही बन्धन है और न मानना ही मोक्ष है।

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं.....) पाँच तत्त्व एवं पच्चीस प्रकृति, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, तीन गुण आदि से निर्विकार जीवात्मा बँधा हुआ है, जिससे मुक्ति की बात की गयी है। भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश; इस अध्याय में यही भूत हैं। आध्यात्मिक शास्त्र की मीमांसा हो रही है, इसकारण से इस सम्पूर्ण गीता शास्त्र में अपवाद जगहों को छोड़कर ('भूतानि यान्ति भूतेज्या'–नवम् अध्याय, जो भूतों को पूजते हैं वे भूतों को प्राप्त होते हैं अर्थात् यहाँ भूत का अर्थ है प्रेत) जहाँ भी भूत शब्द आया है, वहाँ पंचभूत (सांख्यमत के अनुसार– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) ही भूत हैं। इसप्रकार जो भूतों से मुक्त होना जानता है वही ब्रह्म को प्राप्त होता है। तो भूतों ने बाँध रखा है क्या? भूत और प्रकृति अर्थात् ये पाँच भूत हैं और पच्चीस प्रकृति है, मेरा लक्ष्य में कहा है महाराज के गुरुदेव ने–

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय पाँचों अंश विकार।
यह गुण सब आकाश तत्त्व के समझो सारा सार।।
धावन उठना बैठना बल करना संकोच।
ये वायु के तत्व हैं सन्त कहें सब सोच।।

फिर कहते हैं–

निद्रा क्षुधा मैथुन औ आलस तृष्णा अति महान।

इन सबकी उत्पति निज अग्नि तत्व से जान।।
रक्त वीर्य मूत्र कफ और पाँचवाँ मेद।
ये सब जल के अंश हैं कहते हैं यूँ वेद।।
त्वचा मांस रोम और अस्थि पंचम कहिए नाड़ी।
पृथ्वी तत्व के ये सब गुण हैं कहता कवि अनाड़ी।।
(मेरा लक्ष्य)

अर्थात् इसप्रकार लगभग पाँच–पाँच प्रकृति है इनकी। चमड़े में आसक्त हैं, रोम में आसक्त हैं आप; कैसे आसक्त हैं? इसकी अब बाहर से महाराज व्याख्या करेगा। रोम में आसक्त हैं! क्या प्रमाण है इसका? यही कि बाल झड़ गया, हाय! बाल झड़ गया महाराज का तो महाराज ने कहा कि कंघी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी अब तो चिन्ता की बात क्या है! 'प्रकृतिमोक्षं च'– बाहर से भीतर प्रवेश करना है। रोम और त्वचा में रोग लग गया तो कुष्ठ रोग लोगों के मन में लग गया, यत्न करने लगे। अब सफेद दाग होने लगा, चलो दवा करते रहो। मन में भी सफेद दाग चला गया, रक्त विकार हो गया तो कहते हैं चलो अब उसकी दवा करो। असावधानी में हड्डी टूट गयी, चलो अब अस्पताल चलो, मांस में रोग हो गया, कैंसर हो गया। बाहर से आ रहा है महाराज भीतर में– कैसे आपका मन बँधा है, हजार कवच हैं सहस्त्रकवच नामक राक्षस के। जो बँधा हुआ है इन कवचों से, वही सहस्त्रकवच नामक राक्षस है, मानो भगवान ऐसा कह रहे हैं। रक्त में दोष लग गया है, वीर्य में दोष लग गया है, खा–खा करके कच्चा आम। खट्टा, मीठा, कड़वा बहुत खाने और पीने से वीर्य पतला हो जाता है, बहुत विशेष खट्टा खाने से वीर्य फट जाता है, विशेष गरम मसाला खाने से वीर्य में रोग लग जाता है। अतः अब करते रहें आप दवा उसकी, पित्त कुपित हो जाता है दिन में सोने से, असमय में सोने से, संध्याओं में सोने से। यदि रात में खूब सो लिया आपने और फिर दिन में भी सोते हैं तो पित्त कुपित हो जायेगा, श्वास रोग होगा फिर। इसीप्रकार मेद और मूत्र में भी दोष लग जाता है इसके बंधन में भी आप हैं। कहाँ तक कहा जाय आप तो अपने जूँओं के बन्धन में भी हैं– संकेत महाराज ने कर दिया, जहाँ बोलना चाहिए वहाँ बोल दिया। अब फिर आ रहा है बाहर से भीतर अर्थात् क्षुधा, तृषा, मैथुन, आलस्य पर– भूख लगती है साधन नहीं होता, आप उसके वश में हैं, तो कहते हैं कि जिसके वश में आप हो गये हैं उससे मुक्त होने की जब कला जानते हैं आप, तब परमपद को पायेंगे। भूख के बन्धन में आप हैं, भूख ने बाँध रखा है, यह अग्नि तत्त्व से प्रकट होनेवाली प्रकृति है अर्थात् उसका विकार है। वह क्या है? क्षुधा, तृषा के बन्धन में हैं आप। विशेष जल पीकर साधना में, यज्ञशाला में बैठते हैं तो बीच–बीच में भागना पड़ता है। अतः बीच में साधना की कड़ी छूट जाती है। 'मैथुन'– अग्नि का विशेष उत्पात हो जाने से शरीर में अपानवायु नीचे की तरफ जाता है। इसी से महाराज कहता है कि कमरे में क्यों ध्यान करते हैं। जाड़े को छोड़कर कमरे में ध्यान करने से अग्नि तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। कमरे में अग्नि अति प्रबल हो जाती है, अपानवायु नीचे जाता है जब अपानवायु नीचे जाता है तो वीर्य अधोगामी होता है उसके उपरान्त क्या–क्या उत्पात होता है यही कि आलस्य, प्रमाद, नींद आयेगी और उस आलस्य, प्रमाद के

विशेष बढ़ने से फिर रजोगुण बढ़ जायेगा और काम की उत्पत्ति हो जायेगी यह अग्नि तत्त्व का लक्षण है। इसीसे साधक चार बार स्नान करते हैं, तीन घण्टे बैठे, आलस्य आया तो स्नान कर लेते हैं।

महाराज से एक बार भूल हो गयी थी साधना काल में। नींद से कहा कि अच्छा नहीं जाओगी तुम! तो लो गंगाजी के रेत को हटाया और जाकर पद्मासन लगा करके नाभि तक जल में बैठ गया और कहा– आओ कैसे आती हो! यद्यपि बीस–पच्चीस मिनट के बाद ध्यान में आया कि अरे! ऐसा न करो रोग हो जायेगा– तो ठीक है लेकिन पाँच बार, छः बार स्नान तो कर सकता है जल में बैठ नहीं सकता तो! अतः जब आलस्य तब स्नान होने लगा। जब अग्नि तत्त्व का प्रचंड वेग चलता है तो आप उसके बंधन में हो जाते हैं, मैथुन भी उसका विकार है, अतः उसके बन्धन में आ जाते हैं। इसप्रकार नींद के बन्धन में भी आप हैं! लेकिन ज्ञाननेत्रों से जो अपनी प्रकृति को और पंचभूतों के विकार को जानता है, फिर पंचभूतों से होनेवाली प्रकृति को जानता है तथा प्रकृति से मुक्त होने की कला जानता है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है। ज्ञाननेत्र क्या है? शास्त्र और सद्गुरु ही उसके ज्ञान नेत्र हैं। 'ज्ञानचक्षुषा'– आपके पास आँख नहीं है तो चश्मे से आप देखते हैं, उसीप्रकार कहते हैं कि इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को या तो आप शास्त्र से जानें या तो सद्गुरु से जानें। ये दो आँखें आपकी हैं, जबकि सद्गुरु दोनों ही आँखों से सम्पन्न होता है। अब आगे बढ़ते हैं। 'बल करना संकोच, उठना, बैठना, दौड़ना'– ध्यान में नींद भी नहीं है ध्यान भी नहीं है, शरीर दर्द भी नहीं कर रहा है फिर भी उठने का मन कर रहा है, ऐसी भी स्थिति ध्यानकाल में आती है, जपकाल में आती है। उठने का क्यों मन कर रहा है? यह वायु का विकार है उसमें हलन–चलन होना, कभी फैल जाना कभी संकुचन हो जाना, जो इस रहस्य को जानता है कि वायु तत्त्व की प्रधानता हो गई है अतः कुछ देर के बाद अपने–आप सम शान्त हो जायेगी तो उससे विकल नहीं होता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय ये पाँच आकाश तत्त्व के विकार हैं, इनसे कैसे छूटा जायेगा? पूर्व के अध्यायों में बहुत सी बातें की गयी हैं इनसे मुक्त होने के लिए, ये भाव विकार हैं। अतः ब्रह्मभाव होते ही इनसे मुक्ति मिल जाती है। पाँच भूत– पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश; पच्चीस प्रकृति अर्थात् उनके विकार, इनसे मुक्त होने के उपाय हैं कि बाहर के विषयों का, स्वजनों का त्याग कर दिया और भीतर में जप, तप, योग एवं आत्मचिन्तन किया। जो इस उपाय को जानता है– किससे जान करके? तो सद्गुरु से जानकर, शास्त्र से जानकर। ज्ञाननेत्र क्या है? तो वे सद्गुरु एवं ज्ञानमय शास्त्र ही नेत्र हैं अपने 'ये विदुर्यान्ति ते परम्'– इसप्रकार वह ब्रह्म को स्पष्ट जान लेता है ब्रह्म को जानने का तात्पर्य उसे देख लेना है अर्थात् अपने स्वरूप को देखकर अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

यहाँ तक आज इस दिव्य गहन विषय को, जो आपके लिए अति गहन है स्पष्ट करके बता दिया गया माना कि कुछ बुद्धि ने समझ लिया लेकिन फिर भी गहन है। इस आख्यायिका को आप अपने इष्ट को समर्पित कर दें। आप इसपर कहाँ तक विचार करते हैं यह तो आप ही जानेंगे, कितना समादर करते हैं आप इसका, आप ही जानेंगे। महात्मा अर्जुन को तो जना दिया

भगवान नारायण ने, अतः उसके मन में भगवान के प्रति प्रीति बढ़ गयी है।

प्रीति बढ़ गयी रीति टूटी, आसक्ति की गाँठें छूटीं।
मन बिहरत अनुहरत रूप जब, परम प्रभु के धाम।।
मेरो मन जाग गयो।।

(भजनावली)

मानो महात्मा अर्जुन को प्रीति बढ़ गयी है, उनका मन जाग गया है। पहले सुनकर आत्मसात् कर लेना चाहिए दिव्य ज्ञान को फिर प्रयोग में उतारना चाहिए ताकि युद्ध के मैदान के बीच अर्थात् युद्धकाल में फिर कभी अपमान न हो, फिर–फिर आज्ञा का उल्लंघन न हो। किसकारण से प्रीति बढ़ गयी है महात्मा अर्जुन के मन में? पहले भगवान की अद्‌भुत छवि को देखने में प्रीति बढ़ गयी थी, उन्होंने कहा– रूप दिखाएँ हे प्रभु! अपने उस दिव्य रूप को दिखाएँ! तो उसी समय प्रभु के दिव्य रूप में प्रीति हो गयी। अब उनकी वाणी में प्रीति बढ़ गयी और जब वाणी में प्रीति बढ़ गयी तो रीति टूट गयी अर्थात् समय का अब ध्यान नहीं है कि युद्ध भी करना है। नियम कहता है कि युद्ध के मैदान में कोई विशेष समय का घात न करे, समय का हत्यारा आत्महत्यारा कहा जाता है लेकिन 'रीति टूटी'– प्रेम में नियम नहीं रहता। महात्मा अर्जुन बोल नहीं रहे हैं, प्रेम में मगन हैं, मस्त हैं, अब और भी सुनने का मन करता जा रहा है। अब तो भगवान भी मस्त हो गये हैं, मानो अर्जुन पहले शिष्य हैं और अंतिम शिष्य हैं। अब तो शिष्य मिलने से रहा उनको, अब तो उनको गुरु मानने से रहा कोई भी युद्धोपरान्त, अब तो पुनः द्वारिकाधीश हो जाएँगे। भगवान तो मान लेंगे कुछ लोग, लेकिन गुरु नहीं मानेंगे। अतः भगवान भी भूल गये कि सब प्रतीक्षा कर रहे हैं युद्ध की। महात्मा अर्जुन की चातक दृष्टि को देखकर उसमें सम्पूर्ण ज्ञान की स्थापना कर देना चाहते हैं। कहते हैं– अच्छा अच्छा! तो अभी तक समाधान नहीं हुआ तुम्हारा! भगवान नारायण ने कहा– तो ठीक है और भी सुनो, ऐसा कहकर प्रभु थोड़ा सा आनन्द में मग्न हो गये। भगवान शंकर से भगवती पार्वती ने प्रश्न किया और दो घड़ी के लिए भगवान भोलेनाथ समाधिस्थ हो गये, प्रेम में मग्न हो गये। उसीप्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द भी मग्न हो गये।

संजय ने प्रभु की मग्नता को देखा और कहा कि हे राजन्! आप देख रहे हैं? धृतराष्ट्र ने कहा क्यों तिरस्कार कर रहे हो संजय! न आँख है, न बुद्धि ही है, न विवेक है मेरे पास। अतः क्यों अपमानित कर रहे हो? दिखाओगे तब तो देखूँगा! संजय ने कहा– देखें, देखें, देखें राजन्! दोनों एक–दूसरे में मग्न हो गये हैं। एक सुनने की जिज्ञासा में मग्न हो गया है, उसकी सुनने में प्रीति बढ़ गयी है, समय जा रहा है और ध्यान नहीं है कि समय कितना बीत गया और दूसरा सुनाने में मग्न हो गया है। दुर्योधन खीझ रहा है मन में लेकिन उसकी कोई सुनने को राजी नहीं है। किसी के मन में है कि या तो दोनों का संवाद, युद्ध बन्द कर देगा या भीष्मपितामह के नियम के विरुद्ध कोई विशेष नियम प्रकट होगा। इसलिए दिव्य संवाद चल रहा है, इसकारण से सभी का मन स्तम्भित हो गया है। कोई सहज ही विवश है तो कोई प्रेम में विवश है वहाँ

पर। हे राजन्! भगवान की स्थिति को देख कर लग रहा है कि जैसे गाय दूध को चुरा लेती है बछड़े के लिए, उसीप्रकार इस दिव्य अमृत को प्रभु ने छिपा रखा था महात्मा अर्जुन के लिए, जिसे अब सब उड़ेल देना चाहते हैं, उनके दिव्य मनरूपी गागर में अमृतमय दूध डाल देना चाहते हैं।

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।।
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।।
परम धर्ममय पय दुहि भाई।अवटै अनल अकाम बनाई।।
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै।।
मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।।
सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंड़ा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

कोई कपिला गाय है। हरा–हरा चारा खाकर आयी है, बछड़े को देखकर पेन्हा गयी है। ग्वाले ने बछड़े को उसके पास बाँध दिया है गाय चाट रही है वह दूध निकाल रहा है। रख दिया आग पर हल्का सुषुम होने के लिए जामन डाल दिया, अब मथने लगा, मक्खन निकाल लिया। यह रूपक है। वैसे ही कोई सात्त्विक श्रद्धा से संपन्न सद्गुरु का परम प्रिय शिष्य है। जप, तप, योग इत्यादि नानाप्रकार के चारा को उसने खूब चरा है, खूब खाया है अर्थात् यम नियमादि का खूब पालन किया है। इन्द्रियों का दमन ही जिसका आधार है, सत्य व्रत ही जिसकी रस्सी है– उस सत्य का आवाहन कर रहा है उस रस्सी से। जिज्ञासु नामक बछड़े को बाँध दिया है। किसमें? एक दिव्य श्रद्धारूपी गाय है उसी के अगले पाँव में। उस श्रद्धारूपी गाय से परम धर्म नामक दूध दूह रहा है। पराये में दोष देखता नहीं अतः अहिंसा नामक दूध को निकाल लेता है, दूह लेता है जगत से। वह आध्यात्मिक श्रद्धा से संपन्न है। 'परम धर्म'– यहाँ पर अहिंसा के साथ ब्रह्म ही परम धर्म है, परम ब्रह्म की आज्ञा ही परम धर्म है, निष्काम कर्मयोगी का सद्गुरु की आज्ञा का पालन करना ही परम धर्म है। इसप्रकार वह परम धर्ममय दूध को निकाल लेता है और फिर जब उसको हृदय में धारण करता है तथा चिन्तन से मन्थन करता है तब 'विमल विराग सुभग सुपुनीता' निर्मल वैराग्य, परम पवित्र वैराग्य, परम पावन वैराग्य प्राप्त कर लेता है। पहले पवित्र कहा फिर पुनीत कहा। इसप्रकार वह मक्खन निकाल लेता है और उसी मक्खन को योगरूपी अग्नि से तपाता है तथा तपाते–तपाते दिव्य घी बना लेता है। 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा दीप सिखा सोई परम प्रचंडा' सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं नाम की वृत्ति जब हो जाती है अर्थात् 'मैं आत्मा ही हूँ, मैं आत्मा ही हूँ, मैं वही हूँ, मैं वही आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ– यह ज्ञान की वृत्ति जग जाती है तो वह अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त

कर जाता है। फिर न आता है न जाता है सम शान्त हो रह जाता है। जो प्रकृति और पंच भूतों तथा इनसे मुक्त होने की कला को जानता है.....। कला क्या है? बता दिया महाराज ने, अतः वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर जाता है।

आख्यायिका तो पूरी हो गयी है किन्तु युद्ध के मैदान में जब देखते हैं तो महात्मा अर्जुन को सुनने में प्रीति बढ़ गई है और भगवान को सुनाने में प्रीति बढ़ गयी है। अतः युद्ध की रीति वहाँ भगवान और अर्जुन के माध्यम से समाप्त हो गयी है। दुर्योधन को पितामहभीष्म का मौन रहना शंका का कारण पैदा कर रहा है। कर्ण अपने प्रिय भ्राता अर्जुन और भगवान मधुसूदन के आन्तरिक प्रेम और उन दोनों की छवि को छावनी में बैठे–बैठे अनुमान कर मंत्रमुग्ध हो रहा है। मन में घोर पश्चात्ताप है कि मैंने इनलोगों के साथ दुर्योधन के माध्यम से कितना घोर अत्याचार किया है। उसका मन घड़ी के दोलक जैसा आन्दोलित हो रहा है। वह कभी सोच रहा है कि दोनों सेनाओं के बीच में जाकर मैं घोषणा कर दूँ कि मैं पाण्डवों का बड़ा भाई हूँ इसलिए अब मैं युद्ध के मैदान में पितामहभीष्म के नहीं रहने पर भी नहीं आऊँगा। मेरा युद्ध न करना ही मित्र दुर्योधन का साथ देना माना जायेगा क्योंकि इनके माध्यम से मैंने अपने भाइयों का बहुत अपमान किया है। अब पहचान लेने के उपरान्त मेरे द्वारा इनका और अपमान नहीं होगा और कभी मन में आ रहा है कि नहीं! नहीं! लोग क्या कहेंगे? अतः ऐसा करना ठीक नहीं है। हे मन! चलो अपने पापों का प्रायश्चित इन्हीं भाइयों के हाथों से मरकर करो। अर्जुन बोल नहीं रहे हैं। वे दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान की गंगा में गोते लगाने में मस्त हैं। प्रभु उनकी ज्ञानमयी मस्ती को देखकर अति प्रसन्न हो गये हैं। वे सोच रहे हैं कि अब तो कोई शिष्य मिलने से रहा, गुरु मानने से रहा, युद्धोपरान्त मेरे को सब भगवान मान लेंगे। अतः क्यों न सबकुछ एक इसी शिष्य के कानों द्वारा हृदय में डाल दिया जाय। चातक दृष्टि से देखते हुए अर्जुन की आँखों में देखकर प्रभु ने कहा– अच्छा! अच्छा! अभी और सुनना चाहते हो तो सुनो। ऐसा कहकर भगवान नारायण अपनी आध्यात्मिक ज्ञानगंगा को स्मरण कर थोड़ी देर के लिए आनन्दमग्न हो मौन हो गये। जैसे भगवती पार्वती के द्वारा रामकथा माँगने पर भगवान शंकर दो घड़ी के लिए सगुण समाधि में समाधिस्थ हो गये थे।

इधर संजय दोनों की मग्नता को देखकर मग्न हो रहे हैं। वे भूल गये कि मैं अन्धे धृतराष्ट्र के पास बैठा हूँ। उन्होंने अर्जुन एवं भगवान की युगल जोड़ी की छवि को देखते हुए ही आश्चर्य की तरह कहा– देख रहे हैं राजन्!

धृतराष्ट्र– क्यों तिरस्कार कर रहे हो संजय! यदि तुम्हारी जैसी आँख होती तो तुम्हारी आवश्यकता क्या मुझे होती?

संजय– क्षमा करें अन्नदाता! नर–नारायण की जोड़ी की मग्नता को देखकर मेरा भी मन मगन हो गया है।

धृतराष्ट्र– मेरे से भूल हो गयी संजय! जो महर्षि व्यासजी के द्वारा दिव्य आँख लेने से

मना कर दिया लेकिन चलो शुभ के साथ अशुभ भी तो देखना पड़ता? मैं अपने मूर्ख बच्चों की मृत्यु नहीं देखना चाहता। मैंने इस संवाद को गुरुकुल में एक अंश सुना था, लेकिन उसपर ध्यान नहीं दिया था। आज तुम्हारे माध्यम से कृतार्थ हो रहा हूँ। अब बताओ कि उन दोनों में प्रतिक्रिया क्या हो रही है?

इस तेरहवें अध्याय को महाराज ने झिंझोटी राग में पद के रूप में गाया है, जिसे आप भी गायें, इसे गानेमात्र से ही इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त हो जाता है–

कहै कोई क्षेत्र सरीखो तन तेरो।।
बुद्धिहिं सो क्षेत्रज्ञ बतावे, मनयाको है चेरो।
इच्छा द्वेष सुख दुख धृति चेतन, बीज कामादि घनेरो।।
कहै कोई क्षेत्र.....

यमनियमादि सद्गुरु कहँ सेवे, अध्यात्म ज्ञान को घेरो।
अव्यभिचारि भक्ति नित सेवे, ज्ञान को साधन ढ़ेरो।।
कहै कोई क्षेत्र.....

जगत चराचर भीतर–बाहर, निर्गुण ब्रह्म को फेरो।
उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता, भोक्ता प्रभु सब तेरो।।
कहै कोई क्षेत्र.....

एक भानु सब विश्व प्रकाशे, कहुँ नहि रहत अन्धेरो।
महाराज प्रभु कह आतम सो, कर क्षेत्रन्ह को उजेरो।।
कहै कोई क्षेत्र.....

ॐ मासपारायण, बाईसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, ग्यारहवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निरन्तर प्रकृति बदल रही है। इस बदलती हुई प्रकृति के स्वरूप को ही इस अध्याय में लाकर प्रभु ने खड़ा कर दिया। दूसरे अध्याय में कहा गया है कि जो ऐसा जानता है कि उन्होंने मुझे मारने का प्रयत्न किया है और मैं मारा जाऊँगा अथवा वे मुझे मार रहे हैं और वह भी समझ रहा है कि मैं इसे मार रहा हूँ, ये दोनों ही मूर्ख हैं। इन दोनों के जीवनरथ पर अज्ञान ही बैठा हुआ है, अज्ञान ही इनके जीवनरथ का सारथि है। सारथि दो प्रकार के होते हैं– एक वे जो सारथि ही नहीं होते बल्कि रथी भी होते हैं और दूसरे वे जो केवल सारथि होते हैं। सद्गुरु सारथि ही नहीं होता रथी भी होता है। वह जीवन के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है। भगवान नारायण ने अर्जुन के चित्त में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। अर्जुन के पास भगवान के पूर्व एक सामान्य सारथि था जो उनके जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता था, वह मात्र रथ हाँकने की कला जानता था, कब किस अवस्था में महारथी को युद्धभूमि से बाहर निकालना चाहिए, कब युद्धभूमि में लाना चाहिए, इत्यादि। भगवान मात्र सारथि ही नहीं हैं बल्कि रथी के हृदय में भी बैठ जाना चाहते हैं। उसीप्रकार बाहर में आपने सद्गुरु को बिठा दिया है लेकिन यदि आपके हृदय में वह नहीं बैठा है तो काम अधूरा है। जबतक आप ये समझते रहते हैं कि वे ऐसा कर रहे हैं और मैं ऐसा देख रहा हूँ तबतक आपका सद्गुरु बाहर का बाहर रह जाता है। व्यवहार में जैसे हर ईंधन से प्राप्त की हुई अग्नि अपनी ठण्ड की निवारक होती है उसीप्रकार सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों के भीतर से ब्रह्म बह रहा है, जब वह बहता हुआ अपने भीतर और बाहर बहने लगता है तभी जीवन की सार्थकता होती है। यह तब होता है जब सबके भीतर उस ब्रह्म की अनुभूति नहीं भी हो रही है तो भी कम से कम अनुभव में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आप ऊपर के व्यवहार को देखते हैं। यह हर पल की कहानी है, आप सोचते हैं कि वे ऐसा कर रहे हैं, मैं ऐसा कर रहा हूँ; वे भोजन दे रहे हैं, मैं भोजन खा रहा हूँ; वे कह रहे हैं, मैं सुन रहा हूँ; मैं बोल रहा हूँ, वे सुन रहे हैं। इन्हीं भाववृत्तियों से नानाप्रकार के उत्पात प्रकट होते हैं। हररोज आप देखेंगे– जब दूसरा दिखाई पड़ता है तो अपने–आपको आप भूल जाते हैं विकल्पों का ताँता लगने से। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्' (अ० २), या 'प्रकृतेः क्रियमाणानि'(अ० ३), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' (अ० १३), 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' (अ० १४), 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति' (अ० १४) आदि सूत्रों को भूल जाते हैं उसकी विस्मृति हो जाती है कि मैं तो जन्म लेता ही नहीं। प्रथमावस्था में सद्गुरु के आश्रित रहनेवाला आत्मा द्रष्टा होता है तो द्रष्टा मात्र बाहर की वृत्तियों को देखता है। जब बाहर की राजस, तामस तथा सात्त्विक वृत्तियों को भलीभाँति देखने की योग्यता प्राप्त

हो जाती है तो भीतर कुशलता से प्रवेश करता है। कैसे? भलीभाँति ध्यान देंगे– कहीं भी शरीर रहता है तो अपने आस–पास लोग भी रहते हैं। आस–पास रहनेवाले लोगों में से तीन प्रकार की धाराओंवाले होंगे– सात्त्विक, राजस एवं तामस। जब साधक समझता है साधु पुरुष के लिए कि सात्त्विक गुण बोल रहा है, राजस पुरुष के लिए समझता है कि राजस गुण बोल रहा है, तामसी पुरुष के माध्यम से अपशब्द बोलने पर भी समझता है कि वहाँ से तामस संस्कार ही बोल रहा है, तब वह धीर पुरुष धीरे–धीरे इस अभ्यास के बल से फिर भीतर की सात्त्विक, तामस एवं राजस शक्तियों को देखने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। जो बाहर की सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियों को नहीं देख पायेगा, वह भीतर में सफल नहीं होगा। सूरदासजी ने एक पद लिखा है कि लोग जप कर रहे हैं, तप कर रहे हैं, उपवास कर रहे हैं, कठोर योगादि का साधन कर रहे हैं लेकिन यह सारी कहानी वैसी की वैसी है जैसे कोई बिल के ऊपर डण्डे से पिटाई कर रहा है और सर्प बिल में मस्ती से बैठा हुआ है। मस्ती से बैठे हुए सर्प को तो देख ही नहीं रहा है इतना ही जान रहा है कि वह भीतर बैठा है और पिटाई करता चला जा रहा है। यदि खुदाई भी करता है बिल की फिर तो सर्प उसी को काट खाता है, ऐसा भी होता है। अतः वहाँ कुशलता इसी में है कि वह व्यक्ति किसी निर्भीक पुरुष के हाथ में लाठी देकर खड़ा कर दे और स्वयं बिल में जल्दी से जल डालकर दूर खड़ा हो जाये। परिणाम होगा कि जल से घबराया हुआ साँप बाहर निकलेगा और लाठीवाले पुरुष के द्वारा मारा जायेगा। इसीप्रकार कुशलता के साथ जिन साधकों ने सद्गुरु के हाथ में लाठी नहीं दी है जिससे कि उसके हृदय में बैठे हुए अहंकाररूपी सर्प के निकलने पर वे उसको मार डालें, तो जीवन द्वन्द्वों से मुक्त नहीं हो सकता है। इस रूपक को आप सब समझ गये होंगे। जब आपके मन में उबाल आता है सामान्य से सामान्य व्यवहार पर, तब निश्चितरूप से आप बाहर के तीनों प्रकार के संस्कारों को देख नहीं पा रहे हैं, न देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्याय के मंत्र पाँच से लेकर मंत्र अठारह तक व्यवहार की भूमिका है। व्यवहार से आप लिपट नहीं सकते, छीना–झपटी नहीं कर सकते। व्यवहार प्रकृति है, प्रकृति से आप सदा पराजित होंगे, जब आपके साथ प्रकृतिविजेता नहीं होगा। महात्मा अर्जुन के भीतर–बाहर जीवनरथ पर पूर्व में द्रोणाचार्य बैठे हुए थे। यद्यपि रणभूमि में भी वे उनके हृदय में बैठे हुए हैं लेकिन भीतर में द्रोणाचार्य और बाहर में भगवान बैठे हुए हैं तब भी अर्जुन के लिए भगवान तबतक सार्थक नहीं हुए जबतक कि हृदय से द्रोणाचार्य निकल नहीं गये।

सिद्धान्त बड़ा व्यापक होता है। कहाँ तक हम सद्गुरु की बात मानते हैं यह तो जब मानने का अवसर आता है तभी पता चलता है। सद्गुरु भी आपको कैसे दे देगा आज्ञा? आपने सद्गुरु को अपने भीतर कितना बिठाया है, जब सद्गुरु पहचान लेता है उसी के अनुपात में वह आज्ञारूप सेवा भी देता है। जबतक आप उसको पूरी तरह से अपने भीतर–बाहर बिठा नहीं लेते तबतक वह आज्ञा देगा भी तो क्यों? आज्ञापालन करने की सामर्थ्य जब आपमें आ जायेगी अर्थात् वह श्रद्धा प्राप्त हो जायेगी तब आपको आज्ञा दी जायेगी। चाहे जहाँ भी कोई जिसकाल में जाता है तो वहाँ उसकी श्रद्धा ही देखी जाती है।

'मैं उसको गुरु बनाऊँगा जिसको अपना पूरी तरह से स्वाभिमान दे दूँ और उसे भी मुझे आज्ञा देने में प्रीति हो तथा मैं भी आँख मूँदकर आज्ञा पालन कर सकूँ, वह मेरे दोषों को न देखे बल्कि मेरे समर्पण को देखे, मेरी श्रद्धा को देखे'– ऐसा सन् १९७३ में एक साधक ने अपनी माँ से कहा था। आपको भी जहाँ पर संभावना लगती हो कि मेरे सद्गुरु अधूरे हैं तो निश्चित ही आपके लिए वे अधूरे हो गये; अतः आपको आगे बढ़ना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ पुरातन योग नहीं है। उस आचार्य के पास जाना चाहिए जहाँ लगे कि यहाँ पर मैं पूरी तरह से आज्ञा पालन कर सकता हूँ। जीवन में कभी किसी ने हिजड़ा नहीं कहा महात्मा अर्जुन को लेकिन भगवान नारायण ने हिजड़ा बना दिया। एक बार हिजड़ा बनाया था शिशुपाल ने भीष्मपितामह को, दूसरी बार भगवान ने बनाया अर्जुन को। ऐसे वाक्य को सहन न करनेवाले महात्मा अर्जुन ने जब हिजड़ा शब्द सुना तो चेतनता आ गयी। बाहर से प्रकृति का भलीभाँति अन्वेषण करनेवाला ही भीतर में प्रवेश कर सकता है। बाहर से भीतर प्रवेश करना है तो देखना यह होगा कि बाहर मैं अच्छीप्रकार से स्थित हूँ कि नहीं। आपका शरीर जहाँ जन्म लिया है वहाँ आप अपने परिवार और परिवार के सदस्यों के व्यवहार को भलीभाँति जानते हैं कि आपकी माँ तथा पिता का व्यवहार कैसा रहा है, आपके भाई–बान्धव का व्यवहार कैसा रहा है, वही व्यवहार लेकर आप गुरु के पास आये हुए होते हैं। क्या वह व्यवहार (चरित्र) सद्गुरु के योग्य होता है, क्या वह व्यवहार यहाँ भी सार्थक है? यदि नहीं है तो आपको पहले वह चरित्र चाहिए, वह व्यवहार चाहिए जिस व्यवहार एवं चरित्र से सद्गुरू प्रसन्न हो सके। इसलिए महाराज स्वाध्याय बताता है जिससे योग, जप, तप, की भूमि बने। किसी महापुरुष का चरित्र जब आप याद करते हैं तो उसके फैले हुए अणु–परमाणु बाहर से आपके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। महात्मा अर्जुन के जीवनरथ पर बैठे हुए भगवान बाहर से भीतर प्रवेश करना चाहते हैं, तभी तो कहते हैं– तीनों गुणों के द्रष्टा हो जाओ तभी (नान्यं गुणेभ्यः) मुझ परम द्रष्टा को देख पाओगे! 'जिस रणभूमि में मैंने प्रवेश किया है, उस रणभूमि के योग्य आप ही सारथि हो सकते हैं', महात्मा अर्जुन ने ऐसा भगवान से स्पष्ट कहा है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में जब प्रवेश आप कर ही गये और आपने सद्गुरु का चुनाव कर ही लिया अथवा करना ही है तो वैसा चरित्र चाहिए जिस चरित्र से सद्गुरु आपके भीतर प्रवेश करे। भगवान नारायण महात्मा अर्जुन के व्यापक चिन्तन को जो बाहर फैला हुआ है, भीतर ला रहे हैं। भक्त अर्जुन का चिन्तन पितरलोक तक फैला हुआ है, देवलोक तक फैला हुआ है जिसे भगवान नारायण ने स्वीकार नहीं किया। बाहर का विज्ञान सुख देता है, क्षणिक शान्ति देता है लेकिन परमानन्द एवं परम शान्ति की अनुभूति नहीं होती। वह सुख देता है या दुःख अथवा दोनों ही देता है? इससे भगवान को लेना–देना नहीं वह तो इस द्वन्द्वात्मक जीवन से आपको मुक्त ही करना चाहते हैं। पितर प्रसन्न हो जाते हैं तो वरदान दे दिया, अप्रसन्न हो गये तो शाप दे दिया। सदा किसी पुरुष को आप प्रसन्न नहीं कर सकते जीवन में। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो जीव को प्रसन्न कर सके लेकिन एक बार सद्गुरु प्रसन्न हो गया तो वह जीव नहीं हो सकता आपके लिए। ब्रह्म में और जीव में यही भेद है कि सद्गुरु आपका हो गया तो सदा के लिये हो गया लेकिन जीव आपका मित्र बनकर वैरी भी बन जाता है। व्यावहारिक चिन्तन से यदि आप बाहर फैल गये हैं तो फिर भीतर प्रवेश करने के लिए

(चिंताओं में निमग्न होने के कारण से चित्त बाहर बिखर जाता है) यह आवश्यक है कि आप दूसरे के व्यवहार को न देखें और दूसरा आपके साथ व्यवहार क्या करता है, इसे भी नहीं देखें।

एक शिष्य को गुरुजी ने भोर में जगाना शुरू कर दिया। जब जग गया तो कहने लगा– ये सारे सोये रहते हैं, सब राक्षस हैं। क्या ब्रह्ममुहुर्त में सोया जाता है? तो गुरुजी ने कहा कि इससे तो तुम सो रहे थे तभी अच्छा था, कम से कम किसी को राक्षस तो नहीं कहते थे! अतः तुम ही राक्षस हो। जब दूसरे के व्यवहार से सर्वथा आँख मूँद लेते हैं तब सद्गुरु की तरफ पूरी आँख खुल जाती है। गृहस्थाश्रम में जबतक आप हैं तबतक दूसरे के व्यवहार को देखने का अधिकार आपको है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी के व्यवहार को देखने का अधिकार किसी महापुरुष ने नहीं दिया। आप अपनी साधना को ही देख सकते हैं, दूसरे की साधना को नहीं देख सकते। रहनी, सहनी, कथनी, करनी ये सबकी अलग–अलग होती है। सबकी प्रकृति का विभाग अलग–अलग है। आज आपकी प्रकृति सात्त्विक है, किसी दूसरे की तामस है तो तामस प्रकृतिवाले के लिए राजस कैसे बने, उससे भी आगे कैसे बढ़े, यह विचार करना चाहिए। आपके भीतर में कोई गोपनीय चरित्र है जिसे अध्यात्म कहते हैं उसे खोलने का प्रयत्न किया है प्रभु ने इस अध्याय से। आप असमर्थ हैं इसलिए आपको सद्गुरु की आवश्यकता होती है। सद्गुरु यदि प्राप्त हो जाता है तो फिर आप बाहर में आँखों को बन्द कर लें और फिर जैसा वह कहता है वैसा करते चलें फिर देखें कि तीनों गुणों से आप आगे कैसे नहीं बढ़ते हैं।

महात्मा अर्जुन ने प्रभु से जैसे ही सुना कि जो ज्ञाननेत्रों के द्वारा भूत प्रकृति और प्रकृति के गुणों से मुक्त होने की कला जानता है, वह परमपद को प्राप्त कर जाता है, वैसे ही उन्होंने मौन वाणी से पुनः प्रभु से प्रार्थना की कि हे प्रभु! आप उस उपाय को पुनः कहें जिससे कि मेरे साथ सभी साधक समझ सकें कि इन तीनों गुणों के वशीभूत कब, कैसे और क्यों हो जाते हैं और किस अवस्था में किस भाँति इन गुणों से मुक्त हुआ जा सकता है।

प्रभु ने तेरहवें अध्याय के साथ–साथ अन्य अध्यायों में भी प्रकृति से मुक्त होने के बहुत से उपाय बताये हैं; शेष तो कुछ कहने को नहीं है किन्तु लगता है कि अर्जुन और भी सुगम उपाय की खोज में हैं। यह तो वैसी ही बात हो गई, जैसे दुकानदार से ग्राहक कहता है कि इससे भी सुन्दर कपड़ा है क्या? और दुकानदार कहता है– हाँ, हाँ! ये लो, ये लो; ऐसा कहकर दिखाता रहता है। उसीप्रकार भगवान ने भी नानाप्रकार की साधनाओं को देकर कहा है कि इसमें से शक्ति–सामर्थ्य के अनुसार जिस साधना का चुनाव करना है, कर लो–

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यन्ति च॥ २॥

प्रभु ने कहा कि अब मैं ज्ञानों में से उत्तम ज्ञान को कहूँगा, जिसको जानकर सारे ऋषि–महर्षि अपने स्वरूप–रूप सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं। इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष प्रयाणकाल में व्यथित नहीं होते और सृष्टि के आदि में पुनः प्रकट नहीं होते।

ज्ञानों में से भी उत्तम ज्ञान को कहूँगा– प्रभु के ऐसा कहने से यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या यह ज्ञान राजयोग से भी उत्तम है? इसके उत्तर में साधकों को जानना चाहिए कि राजयोग कोई क्रियात्मक योग नहीं बल्कि दर्शनात्मक योग है जो सद्गुरु द्वारा अपने कृपापात्र शिष्य को दिया जाता है, अतः राजयोग तो ब्रह्म ही है, ज्ञान नहीं। उसमें तो कुछ क्रिया है ही नहीं। (इस योग में प्रकृति की सत्ता–सामर्थ्य को भी औपचारिकता मात्र के लिए संकेत किया गया है।) ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, अष्टांगयोग, तपयोगरूप ज्ञान को अबतक के अध्यायों में विधिवत् समझाया गया है। लगता है यह ज्ञान उन ज्ञानों से विशेष है। प्रभु ने जब–जब अवतार लिया है, तब–तब इस ज्ञान को अपने प्रिय भक्तों में कहा, जिसे सुनकर उनलोगों ने धारण कर लिया और ब्रह्मस्वरूप हो गये अर्थात् जिन्हें सगुण ब्रह्म प्रिय है वे सगुण ब्रह्म को प्राप्त हो गये तथा जिनको निर्गुण–निराकार ब्रह्म प्रिय है वे निर्गुण–निराकाररूप हो गये।

(इदं ज्ञानमुपाश्रित्य.....) प्रभु ने पहले इस योग की प्रस्तावना करके अर्थात् महिमा बताकर अर्जुन के मन को उत्साहित करने का प्रयत्न किया है, जिससे इस योग के प्रति उनके मन में दिव्य श्रद्धा एवं विश्वास का संचार हो जाय। किसी भी विषय के प्रति जब पहले से श्रद्धा रहती है तो श्रद्धेय के प्राप्त होनेपर अलौकिक प्रीति उमड़ जाती है। जैसे जनकपुर में पुष्पवाटिका के अन्तर्गत श्रीराम–लक्ष्मण को देखकर भगवती सीता की सहेली ने जिस ढंग से उन दोनों के रूप–लावण्य की प्रशंसा की उसे सुनकर भगवती सीता ठगी सी रह गईं। वैसा ही आश्चर्य यहाँ पर अर्जुन को हो गया है अथवा जैसे हनुमानजी ने विभीषण से भगवान श्रीराम की शक्ति–सामर्थ्य के प्रति, उनके आदर्श व्यवहार के प्रति तथा दिव्य अहैतुकी कृपा के प्रति बहुत कुछ कह दिया था जिससे महात्मा विभीषण के मन में प्रभु श्रीराम के प्रति अति दिव्य उत्कंठा जाग गयी थी। हनुमानजी ने यहाँ तक कह दिया था कि जब भगवान हम जैसे वानरों को भी अपना बना सकते हैं जिस बन्दर शब्द का प्रातःकाल में उच्चारण करते ही दिनभर भोजन ही नहीं मिलता तो फिर आप जैसे निर्मल चित्तवाले भक्त को परम कृपालु, परम दयालु, उदारमना प्रभु श्रीराम क्यों नहीं स्वीकार करेंगे? इसप्रकार श्रीराम प्रभु की भूरि–भूरि प्रशंसा कर दी थी, जिसका परिणाम क्या हुआ सभी जानते हैं। वैसे ही भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने अपनी इस दिव्य साधना की, जो धारण करने योग्य है, भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

प्रभु कहते हैं– इस ज्ञान को धारण करनेवाला प्राण के उत्क्रमणकाल में मोह से ग्रसित नहीं होता, प्राणों के द्वारा होते हुए आघात–प्रत्याघात से भी व्यथित नहीं होता, वैसी अवस्था में भी वह यह नहीं समझता कि मैं मर रहा हूँ। उसे उस चोट को सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है (गीता अध्याय ६ में कहा गया है– वह तत्त्ववेत्ता भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता और उत्पत्ति काल में मोह को प्राप्त नहीं होता, शोक–संताप नहीं करता)। यहाँ प्रश्न

उठता है कि जब ज्ञान हो जाता है तो उत्पत्ति एवं प्रलय की बात क्यों की गई है? इसलिए कि लोग सपने में हररोज जाते हुए दीखते हैं अर्थात् स्वप्न के माध्यम से इस लोक को छोड़कर जाते हुए दीखते हैं, मानो मरकर जाते हैं, उस समय तो वे डरते नहीं हैं। सामान्य लोग सपने से डरते हुए देखे जाते हैं कि कहीं अशुभ स्वप्न न हो जाय तथा साधक भी सपने से व्यथित होते देखे जाते हैं। किसी को साँप ही खदेड़ता रहता है तो किसी को शेर, किसी को चीता तो किसी को उसका काल। हररोज महाराज दशरथ को स्वप्न में एक काली–कलूटी स्त्री, जिसके बाल बिखरे हुए थे तथा वस्त्र भी काले थे, घसीटती रहती थी। घसीटकर अपने पार्षदों को दिया करती थी। पार्षद उन्हें गधे पर बैठाकर दक्षिण दिशा की तरफ ले जाया करते थे, फिर बहुत बड़े कड़ाहे में उबलते हुए तेल में उनके शरीर को डाल देते थे। वे बहुत जोरों से कराहते–चिल्लाते जग पड़ते थे और माँ कौसल्या से कहते– हे देवि! ये हररोज के स्वप्न मृत्यु की सूचना दे रहे हैं।

इसप्रकार सपने में लोग प्रायः मरते देखे जाते हैं। देवी–देवताओं एवं संतों के सपने तो होते ही नहीं। अनाप–शनाप सपनों से लोग घबराये हुए रहते हैं लेकिन इस ज्ञान को जाननेवाला साधक नहीं घबराता। वह जानता है कि शरीर सोता है और वासना ही स्वप्न बनकर वासना को देखती रहती है, सपने से क्या डरना; अतः उस लोक से इस लोक में जब आता है, तब ऐसा नहीं समझता कि मैं जग गया। यह ऐसा विलक्षण ज्ञान है कि मृत्यु भी उसके लिए स्वप्न ही है। प्रकृति के स्वरूप को भलीभाँति जान लेने के कारण उसको यह व्यथा नहीं होती कि इतने दिन बीत गये और साधना सिद्ध नहीं हुई, इतने दिन बीत गये तो भी ध्यान नहीं लगा, सिद्धि नहीं मिली, भगवान नहीं आया, मनोरथ पूरा नहीं हुआ इसलिए चलो गंगाजी में डूबकर मर जाते हैं बल्कि वह अपने स्वरूप में स्थित होकर बाहर की वृत्तियों को बाहर ही त्याग देता है और भीतर की वृत्ति से उदासीन हो जाता है, उसकी ऐसी सुगम साधना हो जाती है।

अर्जुन के मन में भाई–बान्धवों, स्वजनों तथा गुरुजनों के प्रति अभी भी मोह की छाया है। जैसे घर छोड़ देने के उपरान्त वनप्रदेश में या गुरुप्रदेश (गुरु आश्रम) में आने के उपरान्त भी लम्बे काल तक माता–पिता, भाई–बान्धव एवं स्वजनों के प्रति मोह की छाया बनी रहती है। वैसे ही महात्मा अर्जुन के हृदय से स्वजनों की आसक्ति नहीं जा रही है। शोक–सन्ताप भी अभी पूरी तरह से गया नहीं है, क्योंकि उन्होंने वही बात लाकर खड़ी कर दी है जिसका समाधान सातवें एवं तेरहवें अध्याय में कर दिया गया है। भगवान भी कहीं कम नहीं हैं वे गहरी नींद में सोये हुए को जगाने की असंख्य कलाएँ जानते हैं। सोये हुए को जगाने की असंख्य कलाएँ होती हैं! कोई कहता है– उठो रमेश! उठो! नहीं जगने पर झकझोरता है, इतने पर भी नहीं जगने पर जल डाल देता है तथा कोई तामसी पिता तो जोरों का चाँटा ही जड़ देता है; फिर तो उठना ही पड़ता है। उसीप्रकार भगवान ने भक्त अर्जुन को जगाने के लिए पुनः एक गहरा आघात किया है। वह क्या?

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

प्रभु ने ज्ञान का पुनः प्रहार किया कि सम्पूर्ण भूतप्राणियों की जो माँ है, वह तो मूल प्रकृति है, आदिशक्ति ही है यानी मेरा संकल्प है। वह सबकी माँ क्यों है? इसलिए कि उसी शक्ति से सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रकट होते हैं। वे किस भाँति प्रकट होते हैं? मैं संकल्प करता हूँ 'एकोऽहं बहुस्याम्' ऐसी इच्छा करते ही बहुत रूप हो जाता हूँ। इसलिए मेरी इच्छाशक्ति ही माँ कहलाती है एवं मैं पिता कहलाता हूँ।

महात्मा अर्जुन ने कहा– यह बात मानने योग्य नहीं है, क्योंकि माँ के गर्भ में वह आदिशक्ति कहाँ रहती है? प्रभु की यही तो रहस्यात्मक बात है जिसे कोई बिरला ही जानता है। जीवों में जो पुत्र की कामना है, वही तो प्रभु की इच्छाशक्ति है। उसकी इसी शक्ति के एक अंश से सभी जीवों में इच्छाशक्ति वास कर रही है। जिसे आप माँ कहते हैं वह प्रकृति का एक अंग है और जिसे आप अपना शरीर कहते हैं वह उस अंग का अंगी है। आप ही विचार करें कि कहीं टहनी डाली को जन्मा सकती है क्या? कहीं तना टहनी को प्रकट कर सकता है क्या? जबतक बीज का सम्बन्ध पृथ्वी एवं जल से न हो जाय तबतक बीज किस महत्त्व का है। उसीप्रकार इच्छाशक्ति और शरीर से योग होता है, तभी वीर्य की स्थापना होती है। उस वीर्य की स्थापना सामान्य पिता ने नहीं की, एक काम नामक शक्ति ने की। अतः आप जिसे पिता कहते हैं वह पिता नहीं है। जब रजोगुणी शक्ति प्रकट होती है तो व्यक्ति के अन्दर काम की कामना होती है। वह रजोगुणी शक्ति भी भगवान की ही शक्ति है। प्रभु की आदिशक्ति सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन भागों में विभक्त हुई। अपानवायु को अपने अधिकार में करके किसी भी गर्भ से जेर सहित शिशु को बाहर करना आदिशक्ति का काम है। यह काम कोई भी शरीरधारी माता नहीं कर सकती, इसलिए कोई भी शरीरधारी माता माँ नहीं हो सकती। जबतक अपानवायु ऊपर की तरफ गमन नहीं करता है तबतक शिशु गर्भ से बाहर नहीं आता। वह आदिशक्ति प्राण, अपान, समान आदि के रूप में इस शरीर में विभक्त है। उसी आदिशक्ति के द्वारा लार, पित्त, कफ आदि का निर्माण होता है। उसी की इच्छाशक्ति से अपानवायु द्वारा वीर्य की स्थापना होती है और उसी की इच्छाशक्ति से वीर्य ऊर्ध्वगामी और अधोगामी होता है तथा प्राणवायु नामक शक्ति से शरीर सुरक्षित रहता है। अतः यह आदिशक्ति ही सबकी माँ है। वह नहीं है तो किसी भी शरीर का महत्त्व नहीं है। इसप्रकार जान लेने के उपरान्त साधक में वैराग्य की पराकाष्ठा उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम होता है कि माता–पिता, भाई–बान्धवों से जो मोह हो गया है, वह नष्ट हो जाता है। दो प्रकार के साधक होते हैं– एक घर में साधना करनेवाले, दूसरे वन में साधना करनेवाले। घर में रहकर साधना करनेवाले साधकों को रहना है स्वजनों के साथ लेकिन मन की आसक्ति रहती है भगवान के साथ। अतः संन्यास लेकर वन में साधना करनेवाले को भीतर और बाहर दोनों से अनासक्त रहना होगा। ऐसा होना कठिन नहीं है, जब साधक इस ज्ञान को धारण कर ले तो।

एक साधक ने कहा कि रोज भय लगा रहता है कि यहाँ पर मेरे माता–पिता न चले आयें। महाराज ने कहा– भाग कर आये हो क्या? उसने कहा– नहीं, सबसे आज्ञा लेकर आया हूँ लेकिन जब चला तो घर पर पिताजी नहीं थे। महाराज ने कहा– यदि आ जायेंगे तो क्या हो जायेगा? यदि उनसे छिपकर रहना था तो यहाँ क्यों आए। डर से कबतक भागते रहोगे? वे आयेंगे तो आदर–मान के साथ उचित उत्तर देना। तुम्हारी दशा तो मारीच की हो गयी है। मारीच को भी भय लगा रहता था कि कहीं पीछे से राम का बाण न आ जाय। जहाँ देखता था वहाँ राम, जहाँ देखता था वहाँ राम। वैसे ही जब देखो तब, जिधर देखते हो उधर तुम्हें तुम्हारे पिता दिखाई दे रहे हैं। यदि तुम अपने को प्रह्लाद समझते हो तो भी तो भागने की आवश्यकता नहीं है! साधक भक्त प्रह्लाद जैसे सताये जाते हैं तो भी तो भगवान का पीछा नहीं छोड़ते! घर छोड़कर आये तो वहाँ की वृत्ति पीछा नहीं छोड़ेगी। माता–पिता, भाई–बान्धव रोयेंगे, कलपेंगे तो अपने भीतर भी मोहवृत्ति आ सकती है। वहाँ प्रभु से प्रार्थना करनी पड़ेगी, फिर देखें मोह कैसे नहीं जाता है? भगवान आपको भी शान्ति देगा और उनको भी। अर्जुन की सी मोहमयी दशा लगभग सब साधकों की होती है। उसकी तो विशेष होती है, जो भगवान के लिए जीने की कामना करता है। उसके लिए तो आदिशक्ति ही माँ है; क्योंकि वह आदिशक्ति से ही उपासना कर सकता है, माता–पिता की शक्ति से नहीं। माता–पिता की शक्ति से तो वह व्यभिचारी हो जायेगा, रागी–द्वेषी हो जायेगा इसलिए भगवान के संकेतों को मानना चाहिए। साधक यथार्थ चिन्तन से, जो भावविकार साधनपथ में आते हैं उनका वध करता जाता है। त्यागना और वध कर देना, बात तो बराबर है लेकिन कोई चाहे कि मन से भी बात चली जाय तो ऐसा सहसा नहीं होगा, आत्मचिन्तन के साथ कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी।

(मम योनिर्महद्ब्रह्म.....) निर्गुण–निराकार ब्रह्म से प्रकट होनेवाली इच्छाशक्ति ही विकसित होते–होते कालान्तर में विश्व कहलाती है। उस विश्व नामक प्रकृति से ही यह व्यष्टिचेतन शरीर प्रकट होता है। इसमें भी नख से सिर तक आदिशक्ति व्याप्त है। उसी आदिशक्ति से आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सुगन्ध लेती है, जिह्वा रस लेती है; उसी आदिशक्ति से हाथ–पाँव में बल आता है। उसी आदिशक्ति से प्राण, प्राणन क्रिया कर रहा है; मन, मनन कर रहा है, बुद्धि चिन्तन कर रही है। उसी आदिशक्ति से अहं (चेतन) ने अज्ञान को धारण कर रखा है, मानो प्रकाश ने अंधकार धारण कर लिया हो।

गुरु नानकजी ने कहा है– 'बहुत काल कालिका अराधी।' यही आदिशक्ति सम्पूर्ण भक्तों एवं संतों की जप, तप, योग, ध्यान एवं समाधि बन जाती है। भगवान का नाम ही मूल प्रकृति है। एक तरफ आप हों, दूसरी तरफ प्रभुनाममयी शक्ति हो, फिर देखें वह क्या रचना करती है। वह नाम शक्ति (ॐ, श्रीकृष्ण, राम आदि) सर्वप्रथम नानाप्रकार की सिद्धिरूप शक्तियों को लाकर देगी। उन्हें स्वीकार नहीं करने पर वह नामशक्ति नामी को अर्थात ब्रह्म को लाकर खड़ा कर देगी। नाम एक शक्ति है, धारणा एक शक्ति है, समाधि एक शक्ति है इन शक्तियों में से किसी को भी धारण करने से नानाप्रकार के ऐश्वर्य प्रकट हो जाते हैं तथा उन ऐश्वर्यों का त्याग करने से ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

(मम योनिर्महद्ब्रह्म.....) अब युद्ध के मैदान में चलकर देखते हैं कि भगवान अर्जुन से क्या कहना चाहते हैं। मानो वे कह रहे हैं कि हे महाबाहो! तुम भूल मत करो! मैं ही तुम्हारा पिता हूँ क्योंकि तुमने स्पष्ट ही देखा कि मैं ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म एवं विश्वरूप भी हूँ अतः मेरी संकल्पशक्ति ही तुम्हारी माँ है। तुम उसी शक्ति से हलराये–दुलराये गये हो। तुमने ब्राह्मी, वैष्णवी एवं माहेश्वरी इन तीनों शक्तियों की उपासना की है। तुमने माहेश्वरी शक्ति से पाशुपतास्त्र प्राप्त किया है, मेरी ब्राह्मी शक्ति से ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया तथा मेरी देवी–देवतारूप अन्यान्य शक्तियों से तूने बहुत से दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं। वे शक्तियाँ ही तुम्हारी माँ हैं। उन शक्तियों की भी आज्ञा है कि अब उनसे प्राप्त दिव्यास्त्रों का प्रयोग करने का समय आ गया है; अतः अब इनका उपयोग करो। एक ही पिता कभी पुत्र का साथी होता है, वही पुत्र का कभी भाई हो जाता है, कभी अतिथि तथा कभी वैरी भी हो जाता है। उसीप्रकार समय बीता और मैं तुम्हारा परम पिता ही तुम्हारा सखा एवं भाई हो गया, काल बीता, वही परम पिता तुम्हारा सारथि तथा स्वामी हो गया, काल बीता तुम शिष्य हो गये, मैं गुरु हो गया और अब मैं तुम्हारा भगवान हो गया तो तुम मेरे भक्त हो गये।

(सर्वयोनिषु कौन्तेय.....) अब आप सब ने भी समझ लिया होगा कि सम शान्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सम्पूर्ण जीवों के किसप्रकार पिता हैं और उनकी आद्यशक्ति (इच्छाशक्ति) ही किसप्रकार सबकी माँ है। भगवान ने अबतक मानवमात्र के लिए ही कहा था लेकिन ऐसा तो प्रश्न खड़ा हो सकता है कि लगता है भगवान मनुष्ययोनि के ही पिता हैं तथा इनकी इच्छाशक्ति माँ, अन्य योनियों के माता–पिता कोई और हैं। इसलिए भगवान ने यहाँ 'सर्वयोनिषु' कहा है। सम्पूर्ण योनियों में भी तामस, राजस एवं सात्त्विक प्राणी पाये जाते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि वे योनियाँ भोगयोनियाँ ही हैं, अतः चाहकर भी मुक्ति का साधन नहीं अपना सकतीं। 'सर्वयोनिषु.....'– कहने से यह भी स्पष्ट हो गया कि वनस्पतियों की योनि पृथ्वी है पिता ब्रह्म है, पृथ्वी की योनि जल है लेकिन पिता भगवान हैं, जल की योनि अग्नि है लेकिन पिता भगवान हैं, अग्नि की योनि वायु है लेकिन पिता भगवान हैं, वायु की योनि आकाश है लेकिन पिता भगवान हैं, आकाश की योनि शब्द है लेकिन उसका पिता और माता दोनों ही भगवान हैं। इसीप्रकार स्वर योनि है व्यंजनों की लेकिन पिता भगवान हैं, वेद की योनि ब्रह्मा हैं लेकिन पिता भगवान हैं, पुराणों की योनि व्यास जी हैं लेकिन पिता भगवान हैं, शास्त्रों की योनि उनके रचियता ऋषि हैं लेकिन उनके पिता भगवान हैं लेकिन गीताजी के तो माता–पिता दोनों ही भगवान हैं। इसलिए वह ब्रह्म ही है। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि भगवान जब जिससे जो कुछ कराना चाहता है तो करा ही लेता है।

(मम योनिर्महद्ब्रह्म.....) जपयोग, ध्यानयोग आदि की आधारशिला कर्मयोग है, कर्मयोग की आधारशिला भगवद्भाव है, भगवद्भाव की आधारशिला आत्मजिज्ञासा है, आत्मजिज्ञासा की आधारशिला है आत्मा अर्थात् आप हैं। इसप्रकार क्रमानुसार आपको अपने स्वरूप तक गमन करना है, अपने स्वरूप में स्थित होना है। पराये में स्थित हो जाने के उपरान्त सुख तो मिल सकता है लेकिन शान्ति नहीं मिल सकती। शरीर पराया, मन पराया, बुद्धि पराई, चित्त पराया

सब पराया, जिन्हें आप माता–पिता, भाई–बान्धव कहते हैं वे सब पराये हैं क्योंकि अपने होते तो सदा अपने रहते लेकिन जब अपना शरीर ही अपना नहीं है तो दूसरे का शरीर अपना कैसे हो सकता है?

देवताओं के स्वरूप का आपने भलीभाँति विवेचन सुन लिया। देवता कहते किसे हैं, माँ किसे कहते हैं, ये दो हैं, पिता किसे कहते हैं, गुरु किसे कहते हैं। विपरीत बुद्धि हो गयी है। जो पृथ्वी देवी है वह भौतिक माँ जैसी दिखाई पड़ रही है, सांसारिक माँ जैसी दिखाई पड़ रही है वैसे ही वरुण देवता सांसारिक पिता जैसा दिखाई पड़ रहा है। वह भी कहता है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ और आप भी कहते हैं कि आप मेरे पिता हैं। दोनों ही अपनी मूर्खता के साथ–साथ युद्ध कर रहे हैं, जबकि ये बातें सत्य नहीं हैं। तो फिर माँ कौन है? भगवान नारायण ने स्पष्ट किया है कि मेरी मूल प्रकृति ही सम्पूर्ण भूतों की माँ है अर्थात् जननी है सम्पूर्ण जड़–चेतन शरीरों की। जैसे पेड़ों की माँ पृथ्वी है, मछलियों की माँ जल है, पतिंगों की माँ आकाश है, वैसे ही मनुष्यों और पशु–पक्षियों की माँ मूल प्रकृति है। क्या प्रमाण है कि अपने शरीर की माँ मूल प्रकृति है? हाँ, यही कि जो जहाँ का होता है वह वहीं पर जाता है। व्यावहारिक नियम भी है कि जब छुट्टी मिलती है काम–धाम से तो जहाँ पर आपका घर होता है, जहाँ पर आपका परिवार होता है, वहाँ पर आप चले जाते हैं। वैसे ही जब प्राण निकलते हैं तो शरीर का स्थूल भाग चमड़ा, हड्डी, मांस जलकर राख बन जाता है और वह राख पृथ्वी में मिल जाती है क्योंकि वह वहीं से आयी थी। इसमें जो जलांश है वह वाष्प बनकर बादल बन जाता है अर्थात् जल में चला जाता है। इसमें जो अग्नि है वह आपके देखते ही देखते सर्वत्र व्याप्त अग्नि में विलीन हो जाती है, जो वायु है वह सर्वत्र व्याप्त वायु में चली जाती है। जो चिदाकाश है भीतर में, जिस चिदाकाश में आप सपना देखते हैं, जिस चिदाकाश में संकल्प–विकल्प खड़े होते हैं, जिस चिदाकाश में आप आगे आनेवाले स्वर्ग–नरक की कल्पना करते हैं, वह चिदाकाश, बाहर के आकाश में विलीन हो जाता है। उसीप्रकार सूर्य सूर्य में, चन्द्रमा चन्द्रमा में, इन्द्र इन्द्र में, वरुण वरुण में, अग्नि अग्नि में, प्रजापति प्रजापति में, यम यम में, अर्थात् जिन्हें आप देवता कहते हैं, शक्ति कहते हैं वे अपने–अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। अतः इस शरीर की जो माँ है वह मूल प्रकृति ही है। गर्भ से आते हुए आप आत्मा को नहीं देख पाते इसे भ्रम कहते हैं। एकमात्र भौतिक माँ का शरीर निमित्त है जिसे आप अज्ञानवश अपनी माँ कहते हैं जबकि निमित्त को कारण नहीं मानना चाहिए। महाराज पूछता है कि गर्भ में शिशु कहाँ से आया? आप कहते हैं वीर्य से। वीर्य कहाँ से आया? अन्न से। अन्न कहाँ से आया? जल से। जल कहाँ से आया? अग्नि से। अग्नि कहाँ से आया? वायु से। वह शिशु वायु में कहाँ से आया? चन्द्रलोक से, देवलोक से, सिद्धलोक से, प्रेतलोक से, गन्धर्वलोक से, किन्नरलोक से, नागलोक से, यक्ष–राक्षसलोक से, भावलोक से अर्थात् अन्यान्य लोकों से। बीच में कुछ समय के लिए माँ का शरीर निमित्त हुआ जिसे कारण नहीं माना जा सकता। अतीत के स्वरूप को तो आप देख ही नहीं पा रहे हैं। जिसे आप पुत्र कहते हैं उस पुत्र का स्रोत कहाँ है? आपका पेट तो स्रोत है नहीं, वीर्य तो स्रोत है नहीं, अन्न तो स्रोत है नहीं, जल तो स्रोत है नहीं। उसीप्रकार अग्नि, वायु तथा अन्यान्य लोक

तो स्रोत हैं नहीं। उस आत्मा का स्रोत तो ब्रह्म की इच्छाशक्ति (मूल प्रकृति, आद्यशक्ति) है। अतः यह सिद्धांत निश्चित हुआ कि आपकी वास्तविक माँ भगवान की इच्छाशक्ति अर्थात् आद्यशक्ति ही है।

भगवान का आशय है कि भौतिक माता–पिता के निमित्त होने से उन्हें कारण नहीं मान लेना चाहिए, उन्हें सर्वस्व नहीं मान लेना चाहिए अर्थात् उन्हीं के लिए अपने को सम्पूर्णता से समर्पित नहीं कर देना चाहिए। आप जीव की श्रेणी में हैं तथा वे भी जीव की श्रेणी में हैं, अतः अपने–आप को जीव को ही समर्पित करते हैं तो बाजी हार जाते हैं। यदि अपने जीवन को उन्हीं के लिए दाव पर लगा दिया तो रोटी–दाल तो मिल गई लेकिन उनके द्वारा कोई वरदान नहीं मिला। अतः भगवान कहते हैं– उन्हें देवता मान लेना। देवता विषयी होते हैं, वे एकमात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, खाना, कपड़ा, मकान, ऐश्वर्य, मान, सम्मान चाहते हैं। विषयी संज्ञा उनके लिए ही दी गई है। आप यदि ब्रह्मजिज्ञासु हैं तो फिर न जीव हैं, न विषयी हैं बल्कि साधक हैं। अतः माता–पिता आदि को देवता मानकर भगवान जैसी ही सेवा–शुश्रूषा तो करनी चाहिए लेकिन भगवान के ही समान उनको सत्तावान नहीं मान लेना चाहिए। इसलिए तन से तो उनकी सेवा करे लेकिन मन में भगवान को रखे।

अब भगवान महात्मा अर्जुन से कहते हैं कि तुम देखो कि मेरी प्रकृति जीवात्मा को अपने वश में कैसे करती है?

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८॥

हे महाबाहो! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण– ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण विनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। हे निष्पाप! उन तीनों गुणों में सतोगुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला एवं विकाररहित है, वह सुख तथा ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बाँधता है। हे कौन्तेय! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों एवं उनके फल के सम्बन्ध से बाँधता है। हे भारत! सब देहाभिमानियों को मोहित करनेवाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

इस मूल प्रकृति से सत्, रज, तम ये तीन प्रकार की धाराएँ प्रकट होकर बहती रहती हैं। इन्हीं तीन धाराओं में निर्विकार आत्मा बहता चला जाता है। जल को जिस बर्तन में डालते हैं, वह उसी के आकार का हो जाता है। यही बात अव्यय, अविनाशी आत्मा की है। इसलिए कि वह भ्रमवश अपने को शरीर मानकर उसमें से प्रकट होनेवाले तीन प्रकार के विचारों को भी अपना ही विचार मानता हुआ विचाररूपता को ही प्राप्त हो जाता है।

(तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्.....) साधक को सतोगुणी शक्ति जब बाँधती है तब वह कुलगुरु द्वारा स्वर्ग के निमित्त यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देता है। शुक्राचार्य जैसे कुलगुरु आग में घी डालने का काम करते हैं और उस यजमान को राजा ययाति की जगह बैठा देते हैं। वे कहते हैं– मोक्ष किसने देखा और जिसके आँख, कान, नाक, हाथ, पाँव आदि है ही नहीं तो ऐसे निर्गुण–निराकार ब्रह्म की उपासना क्या? इसलिए स्वर्ग ही सर्वश्रेष्ठ पद है। वह भक्त ऐसे सद्गुरु के माध्यम से स्वर्ग के निमित्त यज्ञ प्रारम्भ कर देता है। वैदिक देवता, यदि उसके मंत्रों के स्वर, अनुस्वार आदि व्याकरण के नियमानुसार नपे–तुले, बँधे हुए होते हैं तो अपना फल प्रकट कर देते हैं। वे सतोगुणी देवी–देवता उन्हें अन्तिम समय में स्वर्ग लेकर चले जाते हैं, इसप्रकार वे सतोगुण में बँध जाते हैं। जो भीतर है वही बाहर है। भीतर निर्गुण काम है, बाहर सगुण काम है; भीतर निर्गुण नींद, आलस, प्रमाद है तो बाहर में भोजन ही सगुण नींद, आलस्य एवं प्रमाद है, अनाप–शनाप खाना–पीना ही सगुण नींद आदि है। भीतर में सतोगुणी प्रकाश है तो बाहर में महामृत्युंजय, नवार्ण, गायत्री आदि मंत्र सतोगुणी देवता हैं। इन सतोगुणी देवी–देवताओं में ही वह बँध जाता है। बाहर में शिवलोक, ब्रह्मालोक, इन्द्रलोक, वरुणलोक, अग्निलोक को देनेवाले नानाप्रकार के जो मंत्र हैं वे सतोगुणी शक्तियाँ हैं। वह सतोगुणी साधक कहता है कि स्वर्ग के निमित्त ही योग, जप, तप करना है। वाल्मीकि रामायण की एक कथा है कि प्रभु श्रीराम ने वनप्रदेश में एक सरोवर के पास देखा कि नानाप्रकार की राग–रागिनियाँ एवं वाद्य सुनाई पड़ रहे हैं लेकिन कोई दिखाई नहीं दे रहा है। एक संत ने उन्हें बताया कि ये माण्डकर्णि नामक ऋषि हैं जो इस सरोवर के भीतर अपने शक्तिबल से देव–अप्सराओं से विहार कर रहे हैं। इस जल के भीतर ही संकल्पबल से इन्होंने एक दिव्य महल बनाया है जो किसी के दृष्टिपथ में नहीं आता। इस समय नृत्य के साथ गायन भी चल रहा है जो सुनाई पड़ रहा है। आपको तो सुनाई भी पड़ गया, अन्य लोगों को सुनाई भी नहीं पड़ता। प्रभु श्रीराम ने कहा– हे लक्ष्मण! यह तो आश्चर्य ही आश्चर्य है!

सतोगुण का फल दिव्य भोग एवं ज्योतिर्मय समाधि है अतः सतोगुण भी दिव्य सुख में बाँधनेवाला हो जाता है। कोई ब्रह्म का उपासक है और जप, तप, ध्यान में मन न लगने पर ऊबकर भाग जाता है, तो ब्रह्म का उपासक कैसा? इसीप्रकार–

(रजो रागात्मकं विद्धि.....) काम के विचार आये और उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करने लगा। शादी की, बाल–बच्चे हुए एवं उन्हींलोगों के लिए जीवन को दाव पर लगा दिया। उसका काम व्यापक होता गया। निर्गुणकाम ही बाल–बच्चे एवं भाई–बान्धवों के रूप में सगुण होता

गया। मकड़ी के जाले की तरह एक घेरा बन गया, अतः वह उस घेरे में ही फँस कर रह गया। नियम तो यही है कि जो ब्रह्म के घेरे में नहीं है, प्रकृति उसे अपने घेरे में ले लेती है अर्थात् जो ब्रह्म (सद्गुरु) के अनुशासन में नहीं रहता प्रकृति फिर उसे अपने अनुशासन में कर लेती है।

(तमस्त्वज्ञानजं विद्धि.....) वह काम से घायल पुरुष काम का उपभोग करते–करते थक जाता है फिर थका–माँदा होने के कारण ब्रह्म की तरफ नहीं जा पाता, उसे तो तामस शक्ति प्रकट होकर अपने में बाँध लेती है। वह कहती है– आओ! आओ! तुम्हारा स्वागत है! आओ! ऐसा कहते हुए उसे नींदमय बना देती है। वह नींदमय तामस शक्ति से पुनः शक्ति प्रदान कर देती है। इसप्रकार राजस इच्छाओं से कामी, क्रोधी, लोभी तथा रागी–द्वेषी आदि होते हुए पुनः नींदमयी शक्ति की गोद में ही जाता रहता है। उसे मृत्युलोक के काम से यदि पेट भरता हुआ दिखाई नहीं पड़ता तो कहता है अब स्वर्ग में काम को भोगेंगे क्योंकि सुना है वहाँ दिव्य अप्सराएँ होती हैं तथा इन्द्रियाँ भी शिथिल नहीं होतीं, सुना है कि इच्छित फल अपने–आप संकल्प से ही प्रकट हो जाते हैं, तो चलो उसके लिए मैं अब यज्ञ, दान, तप करता हूँ, अब स्वर्ग को प्राप्त करूँगा। वह जान लेता है कि यह शरीर अब पता नहीं रहेगा कि नहीं रहेगा, अतः वहाँ स्वर्ग में तो अनन्त काल तक दिव्य भोगों को भोगूँगा, ऐसा सोचते–सोचते काम की कामना से सतोगुण प्रकट हो जाता है और उसे अपनी तरफ खींच लेता है तथा कहता है– आओ! आओ! आओ! अब कुलगुरु के पास जाओ। कुलगुरु ही सात्त्विक देवता है अतः वह रजोगुणी पुरुष कुलगुरु की सहायता से राजा ययाति की तरह सोचता है कि यहाँ तो सन्तुष्टि होगी नहीं; क्योंकि मन बलवान से बलवान होता गया और शरीर वृद्धावस्था की तरफ गमन करता गया, इसलिए चलते हैं स्वर्ग में ही इस काम की पूर्ति करेंगे– ऐसा सोचते–सोचते सतोगुणी शक्ति ने उसका आवाहन किया।

अब इन चारों मंत्रों का एक बार पुनः आध्यात्मिक अर्थ देख लें–

(सत्त्वं रजस्तम इति.....) इस मंत्र में महाबाहो कहकर मानो आध्यात्मिक साधकों से कहा जा रहा है कि आप भी तो महाबाहो हैं अर्थात् बड़ीभुजावाले हैं, अति सामर्थ्यवान हैं! इतना ही नहीं आप निर्विकार हैं, अविनाशी आत्मा हैं, अव्यय आत्मा हैं। इतना होने पर भी यह विचार का विषय है कि आप क्षुद्रबाहो कैसे हो गये अर्थात् शक्तिहीन कैसे हो गये? इतना ही नहीं, आप विकारी तथा घटने–बढ़नेवाले, नाश होनेवाले कैसे हो गये? आप तो बन्धन में पड़े हुए को मुक्त करते हैं फिर बन्धन में होने की अनुभूति कैसे हो गयी? अच्छा! अच्छा! तो आपने इसपर विचार नहीं किया है कि मुझ अविनाशी, अव्यय को किसने बाँध लिया अथवा बन्धन की अनुभूति क्यों हो रही है? तो सुनें– अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणों के कारण ही आपको बन्धन की अनुभूति हो रही है। यह यदि आप पूछते हैं कि सात्त्विक, राजस, तामस गुण का तात्पर्य क्या है? तो इसका उत्तर है कि तीन प्रकार के कर्म ही जो तीनों गुणों के माध्यम से होते हैं, वे ही तीन प्रकार के गुण कहे जाते हैं और यह भी जान लें कि जबतक आप अज्ञान को स्वीकार नहीं करते अर्थात् जबतक अपने को आप शरीर नहीं मानते तबतक प्रकृति के गुण

जो शरीर से प्रकट होते हैं आप अविनाशी का स्पर्श ही नहीं कर सकते। जैसे सूर्य बादल से कितनी दूर है, तो भी कदाचित् वह किसी काल में मृत्युलोक के प्राणी को अपना भक्त मानकर कहे कि तुम्हारे पास आने में यह बादल मुझे बाँधता है, रोकता है तो फिर उसे शक्तिमान नहीं कहा जायेगा अथवा कभी कहे कि बादल मेरे को ढक लेता है, अतः मैं उस अवस्था में किसी को देख नहीं पाता तो उसके कथन पर हँसी ही आयेगी। कोई सामान्य पुरुष भी कह सकता है कि आप के पास तो आजतक बादल पहुँचा ही नहीं है फिर आपको ढकेगा कैसे? इतना ही नहीं, आप तो जब चाहें तब बादल को छिन्न–भिन्न करके, संकल्प से दूर करके मृत्युलोक में अपने भक्त के पास प्रकट हो सकते हैं, अतः आप ऐसा न कहें। ठीक यही बात यहाँ इस मंत्र के द्वारा प्रकट हो रही है कि यद्यपि आपको माया के बन्धन में होने की अनुभूति हो रही है लेकिन वह तभी तक जबतक कि आपने अज्ञान को धारण कर रखा है। अतः अज्ञान को अभी छोड़ दें तो उसी समय यह स्पष्ट दिखाई देगा कि आप कभी गुणों के बन्धन में थे ही नहीं। अब आप ये देखें कि ये तीनों गुण किस शक्ति से सम्पन्न हैं जिस शक्ति से आपको अपने बन्धन की अनुभूति हो रही है।

(तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्.....) आपके इस तन, मन, वचन से स्वाभाविक ही सतोगुण के प्रकाश में अर्थात् उसकी अध्यक्षता में बहुत से जन्मों में ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का अभ्यास किया गया है। यह जब आत्मा की अध्यक्षता प्राप्त करता है तो दिव्य तेजोमय लोकों की रचना कर लेता है। दिव्य–शक्तियों की, देवताओं की रचना कर लेता है, अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धियों और नवनिधियों की शक्ति प्रकट कर देता है। तेजोमय लोक तथा दिव्य शक्तियाँ, दिव्य देवता हाथ जोड़कर आपके पास खड़े हो जाते हैं और आपसे कहते हैं– हे महात्मन्! आप हमें कृतार्थ करें, हमें स्वीकार करें, हमारा उपयोग करें, हमारे होने की सार्थकता तो आपके द्वारा हमारा उपयोग करने में ही है। बस, उसी समय आप अपने को शरीर मान लेते हैं, यह नहीं जान पाते कि यह सतोगुणी माया है; अतः शरीर के माध्यम से उसे स्वीकार कर लेते हैं।

इस मंत्र में सतोगुण को निर्मल कहा गया– इसलिए कि वह मलरहित लोकों का निर्माण करता है, मलरहित देवी–देवताओं का सृजन करता है लेकिन ऐसा न मान लें कि वे मलरहित हैं तो आप भी मलरहित हो जायेंगे या मलरहित ही रहेंगे। वे शक्तियाँ अर्थात् देवी–देवता एवं सिद्धियाँ मलरहित इस अर्थ में हैं कि उन्हें आपसे आसक्ति नहीं है, उन्हें आपसे मोह नहीं है बल्कि जबतक तन, मन, वचन से होनेवाले सत्कर्मों की सत्ता है तभी तक वे आपकी हैं जिस दिन सत्कर्म समाप्त हुए कि वे सब अन्तर्ध्यान हो जायेंगी। आप तो जानते ही हैं कि मेनका के स्वर्ग जाने का जब समय आया तो विश्वामित्र को अँगूठा दिखाती हुई प्रसन्न मन से स्वर्ग को चलती बनी और वे चिल्लाते रह गये। इतना ही नहीं, उसने बच्ची को भी रोते–कलपते त्याग दिया, मानो वह बच्ची उसकी है ही नहीं। अब यह बात स्पष्ट हो गयी कि वे दिव्य देवी–देवता तथा सिद्धियाँ अनासक्त भाव से ही आपके पास रहती हैं (आपके काम आती हैं) लेकिन आप निश्चितरूप से उनमें आसक्त हो जाते हैं, उन्हें अपना मान लेते हैं और जब वे शक्तियाँ आपके

पास से जाती हैं तो विकल होते देखे जाते हैं। महाराज तो हररोज देखता है कि जिस साधक को तेजोमय समाधि लगनी शुरु हो गयी तो वह चाहता है कि मैं सदा–सर्वदा समाधि में ही रहूँ, एक पल के लिए भी उससे विरत न होऊँ और वह समाधि भी मेरा परित्याग न करे, लेकिन वह यह नहीं जान पाता कि समाधि भी उतनी देर तक रहती है जबतक पुण्य का प्रभाव रहता है। उसके उपरान्त तो वह समाप्त हो ही जायेगी। इसीसे तो जो स्थूल समाधि है वह लगभग पाँच–सात मिनट तक ही प्रारम्भ में लगती है लेकिन वह भी हररोज नहीं लगेगी। किसी को आज चेतनसमाधि लग गयी तो तीन–चार महीने के उपरान्त आधे धण्टे के लिए लग जायेगी; फिर तीन महीने के उपरान्त, दो महीने के उपरान्त, डेढ़ महीने के उपरान्त, एक महीने के उपरान्त, पन्द्रह दिन, दस दिन, आठ दिन, पाँच दिन, तीन दिन, दो दिन, एक दिन के उपरान्त (समाधि) लगेगी। फिर नित्यप्रति समाधि प्रारम्भ होगी, उसके उपरान्त उसका समय बढ़ता जायेगा; आज पन्द्रह मिनट समाधि लगी रही तो कल बीस मिनट, परसों तीस मिनट, नरसों पैंतीस मिनट, इसप्रकार बढ़ते–बढ़ते एक घण्टा, दो घण्टे, तीन घण्टे, चार घण्टे, पाँच घण्टे से बढ़ते–बढ़ते बारह घण्टे, चौबीस घण्टे, तीन दिन, छः दिन, बारह दिन से बढ़ते–बढ़ते बारह महीने, बारह साल की समाधि भी लग जाती है। इसप्रकार हजारों–हजार साल की समाधि लगी रहती है लेकिन जब वह पुरुष व्यवहार काल में आकर उन सिद्धियों का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर देगा तो फिर उतनी ही तेजी से उनका क्षय भी होगा। क्षय होते–होते एक समय ऐसा आयेगा जब लगेगा कि वह जहाँ से चला था वहीं आ गया। यही सतोगुण का बन्धन है। हाँ, यह भी जान लेना कि मूलाधार से प्रकट होनेवाली समाधि अन्तर्यात्रा में बाँधती है, स्वाधिष्ठान से प्रकट होनेवाली समाधि उससे दिव्य अन्तर्यात्रा कराती है, मणिपुर चक्र से प्रकट होनेवाली समाधि उससे दिव्य तेजोमय समाधि कराती है। इसीप्रकार अनाहद चक्र से उससे भी दिव्य, विशुद्ध चक्र से उससे भी दिव्य तेजोमय समाधि प्राप्त होती है। हाँ, आज्ञाचक्र से प्रकट होनेवाली समाधि ज्योतिर्मय ही है, वहाँ पर साधक की अन्तर्यात्रा नहीं होती बल्कि उसकी स्मृति दिव्य ज्योतिर्मय बन जाती है और वह लम्बे काल तक बनी रहती है। उसीप्रकार सहस्त्रार से प्रकट होनेवाली समाधि तो उससे भी दिव्य तेजोमय है, जिसका दिव्य सुख साधक त्याग नहीं पाता। हाँ सद्गुरु की कृपा हो जाय तो झटके से वह उससे भी पार पहुँच जाता है। ये सम्पूर्ण समाधियाँ सतोगुण की अवस्था में सतोमय कर्म से प्रकट होनेवाली हैं जो पुरुष को अपने दिव्य सुख एवं शान्ति में बाँध लेती हैं। वह पुरुष भी समझता है कि मैं सम्पूर्ण लोकों की गति को, सामर्थ्य को, जानता हूँ। यह जानकारी का अभिमान ही इस मंत्र में सतोगुणीज्ञान कहा गया है, जो उसे अपने में बाँधकर रखता है तथा उस समाधि से प्राप्त होनेवाला दिव्य सुख भी साधक को आगे नहीं बढ़ने देता। अब आवें भगवान के अगले मंत्र से देखें कि अगला बन्धन क्या है–

(रजो रागात्मकं विद्धि.....) जब आप अज्ञान के माध्यम से अपने–आपको शरीर मान लेते हैं तो सम्पूर्ण जीवन बस शरीर के भरण–पोषण में लग जाता है। इतना भी जान लें कि शरीर का भरण–पोषण तीन प्रकार के साधनों से होता है– पुत्र से, धन से तथा मान–सम्मान से। ऐसा देखा जाता है कि सद्गृहस्थ तो इन तीनों ही सिद्धियों के प्रति आसक्त होता है तथा

संन्यासाश्रमी साधक योगादि सिद्धियों एवं मान–सम्मान के प्रति आसक्त होता है अर्थात् गृहस्थाश्रम में आप रहते हैं तो पुत्र बाँधता है, धन–वैभव बाँधता है तथा संन्यासाश्रम में हैं तो मान–सम्मान और नानाप्रकार की सिद्धियाँ बाँध लेती हैं। यह तो देखा ही जाता है कि धन का अभाव है तो धनोपार्जन के लिए आप दिनों–रात एक करके परिश्रम करते रहते हैं। आपके पास सुबह–शाम संध्या करने के लिए भी समय नहीं मिलता, स्वाध्याय के लिए भी समय नहीं मिलता, संत के पास जाकर दस–पाँच दिन रहने का या उसे बुलाकर अपने घर में रखकर सत्संग करने का भी समय नहीं मिलता। धन की लिप्सा इतनी बढ़ जाती है कि बाल–बच्चों को भी समय नहीं दे पाते, उनके रोने–कलपने पर कहते हैं कि हम तुमलोगों के लिए ही तो दिन–रात मर रहे हैं जबकि वहाँ धन की तृष्णा बढ़ गयी है, पूर्व का रजोगुणी प्रारब्ध आपको बाँधने में लगा हुआ है और आप जान नहीं पाते कि उसने आपको भगवान से विमुख कर दिया है। उस कर्म ने आपको एकमात्र कर्मवादी बना दिया है। यदि भगवान की याद भी आती है तो यही कहते हैं कि हे प्रभु! हमारा अमुक काम सिद्ध हो जाय। इसप्रकार आप धनके लिए ही जीने लगते हैं और परिणाम होता है कि 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' अर्थात् जैसे–जैसे लाभ बढ़ता जाता है वैसे–वैसे लोभ बढ़ता जाता है। धन की लिप्सा इतनी हो जाती है कि जगत में फिर नाम कमाने की होड़ में आप सम्मिलित हो जाते हैं। जगह–जगह आप जैसे लक्ष्मीपुत्र की प्रतिष्ठा होने लगती है, उसी प्रतिष्ठा को आप सर्वस्व मान लेते हैं तथा मान कमाने की दिशा में भी बढ़ जाते हैं। चार दिशाओं में पूर्व दिशा पर तो अधिकार हो ही गया था अब दक्षिण दिशा पर अधिकार करने का मन कर जाता है। सबसे प्रतिष्ठा पाने के लिए सार्वजनिक घोषणा के साथ आप महादानी कहलाने लगते हैं, गरीबों की सेवा के बहाने मान–सम्मान कमाने लगते हैं, यज्ञ कराने के बहाने मान–सम्मान कमाने लगते हैं। एक लोभ तो था ही दूसरा लोभ आपके चरणों को चूमने लगता है। इसप्रकार आप आनन्दित होने लगते हैं, तन, मन, वचन में थकान होती ही नहीं है क्योंकि धन का लोभ, मान–सम्मान का लोभ बढ़ता ही जाता है। उसके उपरान्त पुत्र को अपने जैसा या अपने से भी विशेष धन, मान, सम्मान तथा पुत्र–पौत्र से सम्पन्न देखने का मन बनाने लगते हैं। परिणाम होता है कि आप धृतराष्ट्र बन जाते हैं। सद्गुरुरूप भगवान बहुत बार दरवाजे पर आता है जगाने लेकिन जगना तो दूर बल्कि उसे ही जगाने लगते हैं कि गुरुदेव! इसके बिना तो गृहस्थाश्रम नरक के समान है और हम आप सब के लिए ही तो कमा रहे हैं। बिना धन का तो कुछ होता ही नहीं है। यदि धन, पुत्र, मान–सम्मान न हो तो कोई घर में रहेगा ही क्यों! मैं तो देख रहा हूँ कि क्षत्रियों ने अपना खजाना अपने वैरियों का धन जीतकर भरा किन्तु कम से कम मैं कमाकर तो भर रहा हूँ। फिर बुढ़ापा तो भजन के लिए ही होती है उस समय करना भी तो क्या रहेगा। इसप्रकार बुढ़ापा आ घेरती है और उस समय जो पहले भगवान याद आता भी था वह भी भूल जाता है। फिर कहते हैं कि भगवान का जप, तप संतों के लिए है, बस उनके दरश–परस से ही हमारा कल्याण हो जायेगा। इसप्रकार बहाना बनाकर नानाप्रकार के रोगों से ग्रसित होकर समय व्यतीत करते हैं अतः रजोगुणी कर्म अच्छीप्रकार आपको अपने बन्धन में ले लेता है। इसीप्रकार आप निर्मल आत्मा को तमोगुण भी

बाँध के रखता है। कैसे?–

(तमस्त्वज्ञानजं विद्धि.....) पूर्वजन्मों के तामस अर्थात् अशुभ कर्म तमोगुणी शक्ति के माध्यम से नींद, आलस्य, प्रमाद बनकर आपके लिए बन्धनकारक हो जाते हैं। कर्म करने के उपरान्त जो कुछ शेष समय बचता है जिसमें कि आप भजन कर सकते हैं तो उस समय वह आलस्य, प्रमाद, नींद बनकर आपको आलसी–प्रमादी बना देता है। इतना ही नहीं, साधन–भजन में भी वह तामसी शक्ति (तामस कर्म) बाधा डाल देती है, सत्संग सुनने नहीं देती आलस में पूरा शरीर सिकुड़ा रहता है।

एक माई तो कहती है कि आप बतावें कि मुझे कथा–प्रवचन में ही नींद क्यों आती है? मैं कथा में बैठी नहीं कि नींद ने अपने घेरे में लिया। उसके उपरान्त तो नींद नहीं आती। हाँ–हाँ इसलिए कि पड़ोसियों की निन्दा होती रहती होगी न! क्योंकि निन्दा करने और सुनने में ही नींद नहीं आती। कितने लोग तो नींद से जगाने पर चाँटे भी जड़ देते हैं और कहते हैं कि सोते समय मेरे को कोई न छेड़े अन्यथा मेरे जैसा कोई बुरा नहीं होगा। इसप्रकार इन तीनों गुणों के माध्यम से तीन प्रकार के कर्म आप निर्मल, अविनाशी, अव्यय आत्मा को मलवान, नाशवान और घटने–बढ़नेवाला बनाकर रख देते हैं। अतः आप जान लें कि आपका कोई वैरी नहीं है जो आपको बन्धन में डाल सके। यही नहीं, कर्म–बन्धन में आप फँसे भी नहीं हैं। हाँ, फँसे होने का भ्रम अवश्य हो गया है। अतः जब आप जान ही गये कि तीनों गुण ही बन्धन के हेतु से प्रतीत हो रहे हैं तो दूसरों को बन्धन का हेतु क्यों मानते हैं?

अब तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को कर्मों में कैसे प्रवृत्त करते हैं, आगे के मन्त्रों से देखें–

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

सतोगुण सुख में, रजोगुण कर्म में एवं तमोगुण नींद, आलस, प्रमाद में घुमाता ही रहता है और ब्रह्म शरणागत भक्तों को इन तीनों से मुक्त करता है तो आप उनके चक्कर में क्यों आ रहे हैं, ब्रह्म की कामनावाले क्यों नहीं हो रहे हैं? इतना ही नहीं, रजोगुण–तमोगुण को दबाकर सतोगुण प्रकट होता है, रजोगुण सतोगुण को दबाकर तमोगुण और तमोगुण तथा सतोगुण को दबाकर रजोगुण प्रकट होता है।

(सत्त्वं सुखे सञ्जयति.....) अबतक साधकों ने समझ लिया होगा कि ध्यान तथा समाधि के सुख की तरफ सतोगुण ले जाता है। इसीकारण साधकों को समाधि की कामना से सतोगुणी कर्म जप, तप, योग करने की कामना प्रकट हो जाती है, जिसका परिणाम होता है कि साधक उन्हीं कर्मों में आसक्त होकर साधना को सर्वश्रेष्ठ और सद्गुरु के द्वारा प्राप्त सत्संग को तुच्छ

मान लेता है। इतना ही नहीं, बल्कि वरदानी गुरु भी पथ–प्रदर्शक बनकर रह जाता है। साधक शम्बूक बन जाता है और सद्गुरु मौन हो जाता है, क्योंकि साधक समझता है कि प्रयास तो हमें ही करना होगा। हमारे बदले गुरुदेव तो जप, तप, योग करेंगे नहीं। वह सोचता है कि सबने तो जप, तप, योग करके पाया है तो मैं एकमात्र सत्संग से ही कैसे प्राप्त कर लूँगा? इसप्रकार वह सतोगुणी कर्म भौतिक ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का सुख देकर निर्विकार आत्मा को कसकर अपने–आप में जकड़ लेता है। समाधि में इतना आसक्त हो जाता है कि वह यह समझ ही नहीं पाता कि मैं दिव्य भोग ही भोग रहा हूँ, ब्रह्मभोग यानी ब्रह्मसुख तो अभी आगे है। यही तो कारण है कि भगवान ने अब के पूर्व कहा है कि साधक शरीर, वाणी, मन से चित्तशुद्धि हेतु कर्म करते हैं, जप, तप, योग करते हैं न कि समाधि हेतु (अध्याय ५, श्लोक ११)। विलक्षण बात तो यह है कि साधना जब लम्बा काल चलने लगती है तो संकल्प सक्रिय होने लगता है और साधक जान नहीं पाता कि संकल्प सक्रिय हो रहा है, जिसका परिणाम होता है कि साधक की इच्छानुसार, चाहनानुसार समाधि लगनी प्रारम्भ हो जाती है और उस दिव्य सुख से ही अपने को परम सुखी मान लेता है। महाराज ने इस सतोमयी समाधि में आसक्त साधकों को देखा है कि प्रतिकूलता में अपने सद्गुरु को भी चाहे जो कुछ भी अनाप–शनाप बकते रहते हैं। ऐसे भी साधक को महाराज ने देखा है कि उसके सद्गुरु ने किसी को माध्यम बनाकर उसे छेड़ दिया और साधक जान गया कि यह सब गुरुदेव ने ही कराया है, अतः उसके होंठ के साथ–साथ हाथ–पाँव और अंग–प्रत्यंग भी क्रोध के कारण काँपने लगे। वह जो कुछ भी अपने सद्गुरु को कहा– वह वर्णन के योग्य नहीं है। महाराज ने अपने गुरुदेव के पास यह कथा सुनाई और मन ही मन प्रणाम करके प्रार्थना की कि गुरुदेव! मुझे तो पहले अपने प्रति आप भक्ति दे दें, श्रद्धा दे दें, भाव दे दें, ऐसा ध्यान, ज्ञान एवं समाधि मुझे न दें। ऐसी प्रार्थना महाराज ने उसी दिन से शुरू कर दी और सच में वह प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। सन् १९७२ में भी महाराज ने अपने इष्ट से कहा था, जब गुरुदेव प्राप्त नहीं थे कि हे प्रभु! सर्वप्रथम आप मिलें, सिद्धियाँ न मिलें मुझे। मैं कभी सिद्धि के लिए आपके नाम का स्मरण न करूँ, सिद्धि के लिए आपका नाम न बेचूँ, सिद्धि के लिए आपका ध्यान न करूँ, सिद्धि के लिए आपका चरित्र न गाऊँ। हे प्रभु! मुझे कोई जाने भी नहीं कि मैं आपका हूँ और आप हमारे हैं। हे प्रभु! अपने को दिखाने के पूर्व आप पहले मेरे रूप को दिखा दें, ताकि अपने को देखकर मैं आपको देख सकूँ।

साधक शोक–सन्ताप करते हैं कि ध्यान नहीं लगता। अरे! ध्यान–समाधि नहीं लगती तो कितनी अच्छी बात है कि चित्त शुद्ध हो रहा है। गीले ईंधन पर थोड़ा मिट्टी का तेल (केरोसिन तेल) छिड़ककर आग लगाने से आग लग जाती है लेकिन तेल के जल जाने के उपरान्त आग बुझ जाती है, क्योंकि ईंधन गीला है। क्या आश्चर्य है कि आग तो लगी हुई दिखाई दी किन्तु ईंधन का विकार दूर नहीं किया। यही बात ज्योतिर्मय ध्यान एवं समाधि की भी है। सतोगुणी क्रिया करने से थोड़ा ध्यान लग गया, समाधि तो लग गयी लेकिन हृदय मैला का मैला रह गया। हजारों–हजार साधक ध्यान में आसक्त हो जाते हैं, सिद्धि के लिए। भगवान के लिए ध्यान में आसक्त होनेवाले कोई बिरले साधक पाये जाते हैं। एक साधक ने कहा– अबतक सिद्धि नहीं

मिली मेरे को ध्यान करते–करते बारह साल व्यतीत हो गये। महाराज ने कहा– जितेन्द्रिय हैं आप? काम विजेता हैं आप? अहिंसक हैं आप? अपरिग्रही हैं आप? सत्यवादी हैं आप? भगवान आपका हो गया है? उसने कहा– नहीं, न मेरे में यह सब गुण हैं, न ही मुझे भगवान मिला है। तो फिर सिद्धियाँ क्यों चाहिएँ आपको? अध्यात्मपथ में तो दिव्य अनुभूति के पूर्व सिद्धियों की प्राप्ति बाधक है। उसने कहा– कैसे? महाराज ने कहा– आप साधना कर रहे हैं, कुछ–कुछ ब्रह्मचर्य सधने से आपके तन, मन, वचन में मधुरता आयेगी, सौन्दर्य झलकने लगेगा, उस अवस्था में कोई कामिनी स्त्री आपकी चाहना करेगी और आप उसके मन की बात जान जायेंगे कि वह आप से प्रेम चाहती है, उस समय आप काम विजेता हैं नहीं; तो आप बतायें कि उस अवस्था में काम के द्वारा खुले आमंत्रण को आप अस्वीकार कर पायेंगे? उसने कहा– ये तो आपने बड़ी गूढ़ बात कर दी, इसपर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था। कम से कम जब मैं मन की बात नहीं जानूँगा और किसी बहन–बेटी के प्रति कामभाव प्रकट भी होगा तो भय तो लगेगा कि इसे छेड़ने में कहीं यह हल्ला न मचा दे और पिटाई शुरू हो जाय! महाराज ने कहा– दूसरी बात और सुनें– आपको शाप एवं वरदान देने की शक्ति प्राप्त हो जाये और आप क्रोध–विजेता हैं नहीं, तो किसी के अपमानित करने पर क्या उसे आप विश्वामित्र एवं दुर्वासा की तरह शाप नहीं दे डालेंगे, क्या बारह साल की तपस्या शाप देकर समाप्त नहीं कर लेंगे? उसने कहा– यह भी बात निश्चितरूप से होगी, क्योंकि मुझे तो प्रतिकूलता एक पैसा भी सहन नहीं होती। महाराज ने कहा– यही बात वरदान की शक्ति मिल जाने पर भी होगी। थोड़ी सी सेवा कर देनेवाले के प्रति भी आप कहेंगे– माँगो बेटा! क्या माँगते हो? वह तो माँग लेगा कि मैं जिसके सिर पर हाथ रखूँ वही भस्म हो जाये। फिर तो आप उसे यह वरदान देकर शक्तिहीन हो जायेंगे और वह आपके ही सिर पर हाथ रखने लगे तो क्या होगा? उस साधक ने कहा– बस, बस, बस! अब तो मैं ऐसा कभी नहीं सोचूँगा कि मुझे इतने साल हो गये और सिद्धियाँ नहीं मिलीं। अब तो मैं भगवान से भगवान को ही माँगूँगा। महाराज ने कहा– इतना ही नहीं और सुनें– गुप्त खजाने आपको दिखाई पड़ने लगे तो आप किसे धनवान बनाते नहीं फिरेंगे? क्या सोने की लंका नहीं बनायेंगे रावण की तरह? साधक ने कहा– बस गुरुजी! बस, अब क्षमा करें, आप क्षमा करें।

महाराज ने तो एक ऐसी माँ को देखा जो सन् १९५४ से जप, तप, योग कर रही थी, वह रहती थी गृहस्थाश्रम में बाल–बच्चों के साथ लेकिन उसने कभी सिद्धियों को याद भी नहीं किया होगा। जब उसके बेटे ने संन्यास ले लिया तो और भी कठोर साधना प्रारम्भ हो गयी किन्तु तो भी सिद्धियाँ नहीं मिली। जब सन् १९८० तक उसका हृदय अति निर्मल, अति निर्मल हो गया, तब दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवण आदि सिद्धियाँ मिलनी प्रारम्भ हो गयीं किन्तु तो भी उस अव्यभिचारिणी भक्ति की कामना करनेवाली माँ ने किसी को नहीं बताया कि मुझे सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी हैं। स्वयं हनुमानजी ने प्रभु श्रीराम के मिलने के पूर्व बाली, सुग्रीव आदि के पास अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन कभी नहीं किया है। उस माँ का धैर्य, उत्साह, वैराग्य, सहिष्णुता, तेज, क्षमा, धृति आदि दिव्य गुण तो देखते बनते थे। उसने तो आसन भी सिद्ध नहीं किया। आज के साधक आते हैं किताबों को पढ़कर, कथा सुनकर और ध्यान तथा समाधि की बात प्रारम्भ

कर देते हैं, आसन सिद्ध करने लगते हैं।

एक साधक को महाराज ने देखा कि उसने सन् १९७२ से लेकर सन् १९७७ तक आसन सिद्ध हो इसकी कल्पना भी नहीं की। उसने यह भी नहीं सोचा कि आसन भी सिद्ध करना पड़ता है! बस, तप और आत्मचिन्तन, तप और आत्मचिन्तन में ही लगा रहता था। सन् १९७७ में उसके सद्गुरु ने कहा– अब अखण्ड आसन से भी आत्मचिन्तन करो तो वह सन् १९७८ में दशहरा के बाद एक पेड़ के नीचे सुबह पाँच बजे भोर में बैठकर आत्मचिन्तन प्रारम्भ किया– सर्वप्रथम सिद्धासन से बिना हिलेडुले लगभग दो घण्टे बैठा फिर बायाँ पाँव बदलकर एक घण्टा बैठा, पुनः दायाँ पाँव बदला और लगभग दो घण्टे बैठा, पुनः थकने पर बायाँ पाँव बदला और लगभग आधा घण्टा बैठा, पुनः थकने पर बायें पाँव को ऊपरकर आधा घण्टा बैठा, पुनः पाँव थका, बदला और दायाँ पाँव ऊपरकर लगभग पच्चीस मिनट बैठा, पुनः बायें पाँव से लगभग पन्द्रह मिनट, दायें पाँव से लगभग बीस मिनट। फिर आकर देखा कि पाँव अत्यन्त थक गये तो पाँच मिनट शवासन से लेटकर ध्यान–चिन्तन किया और उठकर आधा घण्टा चिन्तन करते हुए ही आसन किया। वज्रासन, विपरीतकरणी मुद्रा, मत्स्यासन, हलासन, अर्धचक्रासन, पश्चिमोत्तानासन, महामुद्रा, गर्भासन, धनुरासन, मयूरासन, फिर सम्पूर्ण चक्रासन करके दस मिनट ध्यान किया– उसके उपरान्त कुछ हल्का आहार लिया, स्वाध्याय किया साधकों के बीच बैठा। फिर चार बजे से पाँच बजे तक टहला, इसके बाद स्नान करके छः बजे तक ध्यान–चिन्तन में बैठ गया। दिन में पाँव और शरीर थका होने से मात्र दो घण्टे बैठ पाया। इसप्रकार यह क्रम पन्द्रह दिन चला। इसप्रकार उस साधक का अचल आसन में बैठकर पहला दिन ही लगभग सात घण्टे हुआ जिसे पन्द्रह दिन धारण किया, सोलहवें दिन से आसन का समय बढ़ने लगा और वह लगभग चार महीने में सुबह से शाम तक बारह, तेरह, चौदह घण्टे बिना थके बैठे–बैठे आत्मचिन्तन में लगा रहता। शाम को उठकर स्नान करके जैसे ही बैठता तो आधा घण्टे के उपरान्त ही उस भीषण ठंढ में पसीने से तर–बतर हो जाता। इसप्रकार छः महीने में ही उसको आत्मचिन्तन सहज होने लगा। अब वह चाहे जितना घण्टा बिना थके बैठे–बैठे आत्मध्यान करता। हाँ, एक बात थी कि जब वह आसन आदि से उठता तो रोटी दाल आयी है तो दाल पी लेता रोटी छोड़ देता किसी से कुछ कहता नहीं था। एक दिन चुपके से अन्न भी छोड़ दिया। आती थी रोटी दाल ,लेकिन खाता नहीं था। शाम को वह पीता था बबूल, पीपल, बेर आदि के पत्तों का रस। इसप्रकार बहुत दिन यानी पन्द्रह–बीस दिन लगभग बीते होंगे तो एक भक्त के द्वारा भगवान दूध भेजने लगे। उसी दूध को चौबीस घण्टे में एक बार रात्रि में दस–ग्यारह बजे पी लेता। यद्यपि उस साधक ने आसन सिद्धि की कामना नहीं की थी लेकिन आसन ने उसकी साधना का अनुगमन किया। वह चाहता तो सदा समाधि में रह सकता था; किन्तु सद्गुरु के कहने से उस ज्योतिर्मय समाधि का त्याग कर दिया जो बलात् आती थी। जिसका परिणाम हुआ कि सतोगुण अपने सुख के लोभ में उसे फँसा न सका, न बाँध सका।

(सत्त्वं सुखे सञ्जयति.....) एक बात और भी जानते चलना चाहिए कि जो देवलोक की

कामना से जप, तप, योग में लगे हुए भक्त एवं साधक हैं उनके संसर्ग में जाने पर वे देवलोक की ही भूरि–भूरि प्रशंसा करेंगे। इतना ही नहीं, सात्त्विक पुरुष जो मांत्रिक होंगे, वे यह भी कहेंगे कि इस मंत्रजप के मैदान में आओ, यह मंत्र ही सिद्ध होकर तुम्हारे लिए दिव्य सिद्धियों का प्रदाता हो जायेगा। क्या भगवान–भगवान की रट लगाये हुए हो? किसी धारणाभ्यासी सिद्धयोगी के पास पहुँचेंगे तो कहेगा– तुम्हारे राम–राम कहने से तो आजतक तुम्हारे राम ने कुछ भी नहीं दिया फिर कैसे माना जाय कि तुम्हारा रामनाम स्वयं से सिद्ध है। मेरी क्रिया तो देखो कि उस क्रिया से अर्थात् धारणाशक्ति से मैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश में जो कुछ भी है, जान लेता हूँ। महीनों जल में, थल में, आकाश में समाधि लगाके रहता हूँ। अतः आओ मेरी साधना करो, छोड़ो राम और श्याम को, छोड़ो अपने निर्गुण–निराकार ब्रह्म को। अरे! लोगों से जाकर पूछो कि सतोगुणी समाधि को कौन नहीं चाहता? इसप्रकार वह योगीपुरुष आपको अपने में फँसा लेता है। अतः उससे भी सावधान रहने का संकेत इस मंत्र से प्राप्त हो रहा है।

महाराज ने तो देखा कि एक बार जो तंत्र–मंत्र के चक्रव्यूह में फँस जाता है, वह इतना उससे मोहित हो जाता है कि उससे निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है। एक भक्त आया और कहा– महाराज! मेरे पीछे तो मेरे गुरुजी ही पड़े हुए हैं, जैसे किसी के पीछे भूत पड़ जाता है। महाराज ने कहा– छल मत करें! आप छल मत करें। सर्वप्रथम वह तांत्रिक गुरु आपके पास आया था कि आप ही उसके पास गये हुए थे। उन्होंने कहा– गया तो मैं ही था। मेरी बीस साल की बच्ची बीमार पड़ गयी तो उनके पास आशीर्वाद माँगने चला गया। उन्होंने मेरे सामने अपना मंत्र पढ़ा और बेटी ठीक हो गयी। अतः मैं भी तंत्र सिद्ध करने के चक्कर में पड़ गया। मेरा तंत्र तो सिद्ध हुआ नहीं बल्कि मस्तिष्क विक्षिप्त हो गया और मैं मूढ़ हो गया। अब तो मेरी बच्ची पुनः उसी अवस्था में आ गई। मेरी पत्नी भी उसके पीछे–पीछे हो गई। मेरा परिवार तहस–नहस हो गया। नींद और भूख समाप्त हो गयी है, जिधर देखता हूँ उधर लगता है वे ही मेरा पीछा कर रहे हैं। महाराज ने कहा– बस, बस, बस, यह तो स्पष्ट ही हो गया कि पहले आपने ही उनका पीछा किया, भगवान का पीछा करना छोड़ दिया। अरे भले आदमी! सुना नहीं है आपने कि जो भगवान का पीछा छोड़ता है उसके पीछे भूत लग जाता है और ऐसा हुआ ही है तो जाओ अब भूत बनो या तो अभी भी भगवान के शरणागत हो जाओ।

सतोगुणी पुरुष या तो तंत्रलोक में ले जाता है या मंत्रलोक में या योगलोक में। लोग सोच लेते हैं कि मृत्युलोक से तो यह बढ़–चढ़कर ही है, ऐसा कहते हुए सतोगुण में बँधे हुए होने पर भी उन्हें नहीं लगता कि हम बँधे हुए हैं, यही तो सतोगुण का प्रताप है लेकिन जब तंत्र–मंत्र का प्रभाव क्षीण हो जाता है तो पुनः भटकते फिरते हैं, घोर अशान्ति हो जाती है जीवन में, उनकी दुर्दशा देखते बनती है। सतोगुणी शक्तियाँ अपने सुख के द्वारा उनके सत् को ही पी जाती हैं, शेष रजोगुण–तमोगुण बचता है जिसका परिणाम वे जीवन–जीवन दुःख भोगते रहते हैं।

(ज्ञानमावृत्य तु तमः.....) तमोगुणी पुरुष तो बलात् अपनी तरफ खींचकर पुरुष को तामसी

आहार–व्यवहार, आचार–विचार तथा आलस्य, नींद, प्रमाद में बाँध देता है। अपने पास आनेवाले से कहता है कि भगवान ने सम्पूर्ण खाद्य–पदार्थ बनाये खाने के लिए, सम्पूर्ण पेय पदार्थ बनाये पीने के लिए तथा नींद बनायी सोने के लिए; अतः आप भी खायें, पीयें, सोयें और मस्त रहें। आप तो देख ही रहे हैं कि अन्य योनियों में सोने को मिलता ही नहीं, वे सब तो भोजन के लिए ही दिन भर यत्न में लगी रहती हैं, एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमें खा–पीकर भरपेट सो सकते हैं। वे कहते हैं– जप, तप, व्रत, योग सब ब्राह्मणों का पाखण्ड है, स्वर्ग–नरक किसने देखा है जो है सो यहीं है। हमारे बाप–दादाओं ने हमलोगों के लिए ही तो इतना धन कमाया था। वे तो कहते ही थे कि हम इतना कमा देंगे, इतना कमा देंगे कि पोते–परपोते, खाते–पीते आराम से जीवन जीते रहेंगे, फिर हम इसका उपभोग क्यों न करें। बकरे, भैंसे तो देवी के प्रसाद ही हैं, ये तो खाने के लिए भगवती ने ही दिया है। शराब तो चौदह रत्नों में से एक दिव्य रत्न है जिसे प्रभु ने हमलोगों के लिए ही बनाया है। ये गाँजा–भाँग आदि दिव्य जड़ी–बूटियाँ जो मस्तिष्क को शान्त करनेवाली हैं, मनुष्य के लिए ही बनायी गयी हैं! अतः आओ–आओ इन सबका सेवन करो, अन्य किसी देवी–देवता के चक्कर में मत पड़ो। ऐसा कहकर वे तो बलात् अपनी तरफ खींच लेते हैं और खाते–खिलाते, पीते–पिलाते, सोते–सुलाते जीवन व्यतीत करने लगते हैं किन्तु जब घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तो फिर उनके जीवन की कहानी को किसने नहीं देखा। इसप्रकार उनके संसर्ग में आने पर प्रमाद हो जाता है जो प्रमाद मानवमात्र का एकमात्र शत्रु है। प्रमाद एक ऐसी शक्ति है जिसके प्रकट हो जाने पर भगवान को पाने की कामना तो दूर, स्वर्ग पाने की भी कामना नहीं होती। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, शरीर छोड़कर कहाँ जाऊँगा, किसलिए जी रहा हूँ, ऐसा प्रश्न कभी स्वप्न में भी मन में खड़ा नहीं होता। उनका हृदय पशु–पक्षियों, कीट–पतिंगों की तरह सर्वथा जड़ हो जाता है।

विद्यार्थी जीवन में महाराज ने अपने एक साथी को देखा जो गाँजा–भाँग, पीने–खानेवालों के चक्कर में आ गया। अपने सामने ही देखता था कि वे कहते– अरे! क्या हुआ, एक फूँक तो मार लो फिर इसका आनन्द देखना। अरे! गाँजा पीये राजा.....। ऐसा सुनकर वह साथी महाराज के मना करने पर भी 'अच्छा! लाइये पी ही लेता हूँ', यह कहते हुए पी लेता था। होली, शिवरात्रि के दिनों में भाँग खाने लगा, कुछ ही दिनों में उसको धूम्रपान ने अपने घेरे में ले लिया। उसकी एक मण्डली बन गयी। आश्चर्य तो तब होता था कि वह मण्डली गाँजा–भाँग, खा–पीकर किसी के दरवाजे कीर्तन गाने का निमंत्रण पाने पर कीर्तन भी गाती लेकिन वहाँ पहले ही गाँजा–भाँग की माँग हो जाती। इसप्रकार वह साथी भोजन मिले चाहे न मिले एक मात्र गाँजा–भाँग, खा–पीकर सोते रहने का आदी हो गया। आठवीं कक्षा की बात है, महाराज ने भी तीन–चार साथियों को गाँजा पिलाकर आनन्द लिया, क्योंकि वे पीकर नशे में आकर लड़ते–झगड़ते पागल हो जाते। उस साथी के साथ एक और साथी भी कभी–कभी फूँक मारकर आनन्द मनाता था। एक बार महाराज ने अपने पैसे से पर्याप्त गाँजा खरीदकर उन दोनों को भरपेट पिलाने की सोची ताकि ये पागल होकर लड़ेंगे तो मुझे आनन्द आयेगा और ऐसा ही किया। जब गाँजा तैयार हो गया तो उन दोनों ने खूब पीया और नशा चढ़ जाने पर

गुत्थम–गुत्थ करते हुए भिड़ गये। महाराज दूर जाकर देखने लगा– डर लग रहा था कि कहीं मेरे पर ही ये दोनों टूट न पड़ें। जब ज्यादा भय लगा तो चुपके से वहाँ से भाग गया। वह साथी आलस्य, प्रमाद में घिरता गया, घिरता गया और इतना घेरे में आ गया कि अमूल्य जीवन गाँजे–भाँग के लिए बिककर रह गया, जबकि पढ़ने लिखने में भी वह बहुत अच्छा था और व्यवहारकुशल भी था। इसप्रकार तमोगुणी पुरुष अपनी तरफ कैसे खींच लेते हैं और कोई पुरुष या बालक कैसे फँसता है, अब आप सब ने भी समझ लिया होगा, देखते तो रोज आप हैं ही। एक गाँव में तो देखा कि पिता ने यह सोचकर पुत्र को शराब पिलानी शुरू कर दी कि बड़ा होकर यह कहीं मेरा शराब पीना न बन्द करने लगे। अतः यह जब स्वयं पीयेगा तो मेरी शराब क्यों बन्द करेगा। परिणाम हुआ कि जब बच्चा, बाल–बच्चोंवाला हो गया तो दोनों पिता–पुत्र शराब पीकर आपस में ही भिड़ जाते, घर की सास–बहू डर से किवाड़ बन्द कर लेतीं। बहू आकर कहती है कि ऐसे परिवार में मेरी शादी कैसे हो गयी, वह कौन सा पाप था कि मैं भूतों के बीच में आ गयी हूँ? महाराज ने कहा– कभी का ऐसा कर्म तो अवश्य होगा जिसका परिणाम ऐसा मिला। तो तुम एक काम करो– चुपके से मन में भगवान के नाम का जप करो, खाते–पीते, काम करते तथा कभी–कभी प्रार्थना करो। सच में उसने ऐसा प्रारम्भ किया। परिणाम हुआ कि डेढ़–दो साल में ही उसका पति, महाराज के पास आने लगा। उस बहू को भी लग रहा है कि अब बात बन जायेगी। पहले से तो अब ना के बराबर रह गया है उसका पीना–खाना। अतः तमोगुणी माता–पिता से तो पुत्र–पुत्रियों को भी बचकर ही रहने का संकेत कर रहे हैं भगवान, क्योंकि उन्होंने अपने आचार–विचार, आहार–व्यवहार में बाँध लिया तो पता नहीं कब मुक्ति मिलेगी।

(रजः कर्मणि भारत.....) रजोगुणी पुरुष कर्म की तरफ प्रेरित करता है क्योंकि वह कर्मवादी होता है वह इसलिए कि उसकी दृष्टि सर्वप्रथम खाना, कपड़ा, मकान तक ही सीमित रहती है वह कहता है कि 'भूखे भजन न होहिं गोपाला, ये लो अपनी कंठी माला।' जबकि पेट भरकर खानेवाला भी तो कहता ही है कि भजन भी कैसे होगा जब पेट भरके खायेगा! खायेगा तो सोयेगा भजन कहाँ से होगा। ठीक दोनों के विपरीत भगवान संयम का पाठ पढ़ाते हैं– युक्ताहारविहार को साधे निज रूप अराधे..... सुनो रे पार्थ योगिया जोगें धीरे धीरे। महाराज ने एक राजनेता के द्वारा किये गये गीताभाष्य को देखा– उन्होंने गीता को कर्मप्रधान ग्रन्थ सिद्ध करने का अथक प्रयास किया है। भगवान महायोगी भी हैं उनके द्वारा दिये हुए मन्त्रों का एकमात्र विद्वत्ता के आधार पर विद्वान भाष्य करे– यह तो शोभा देता है किन्तु जिसने ध्यानयोग का प्रयोग एक अंश भी न किया हो तो भी वह ध्यानयोग की मीमांसा देने लगे, जिसने जपयोग का साधन अंशमात्र भी न किया हो और जपयोग की व्याख्या करने लगे, जिसने अष्टांगयोग की अँगुली तक न पकड़ पायी हो यदि वह अष्टांगयोग का पाठ पढ़ाने लगे तो यह बात हास्यास्पद होकर ही रह जायेगी। भले ही कर्मवादी इस ब्रह्मविद्यामय ग्रन्थ को कर्मप्रधान बतावें, भाग्यवादी इसे भाग्यप्रधान कहें लेकिन यह ग्रन्थ तो भगवानवादी अर्थात् गुरुवादी है। इस ग्रन्थ में समन्वयवाद स्पष्ट झलक रहा है जिसका आधार सद्गुरु है। भगवान सद्गुरु के पद पर होकर बोल रहे हैं

तथा चौथे अध्याय के मंत्र द्वारा आत्मजिज्ञासुओं को उसी की शरण में जाने की आज्ञा भी दे रहे हैं जहाँ जाने मात्र से जीवन का सम्पूर्ण विवाद ही समाप्त हो जाता है।

इस समय तो रजोगुणी पुरुषों की ही सर्वत्र बाढ़ हो गयी है। जो इस बाढ़ में न डूबे वह पुरुष अत्यन्त भाग्यशाली है। उन विषयी पुरुषों के द्वारा कर्म की प्रशंसा इतनी हो गयी है कि सद्गृहस्थों ने अब संध्याओं में जप, तप, योग करना छोड़ दिया है। तीन संध्याएँ सुबह–शाम एवं दोपहर की होती हैं जो सद्गृहस्थों के लिए ही निर्धारित की गयी हैं लेकिन किसी भी संध्या में अब भगवान के लिए बैठना सम्भव नहीं हो रहा है। जो लोग संध्या में पन्द्रह–बीस मिनट जप, ध्यान करते भी हैं, वे टेलीफोन पास में रखते हैं। यदि टेलीफोन नहीं आया तो संध्या कर रहे हैं और नहीं तो फिर संध्या करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है। वे कर्म के प्रशंसक इतने बुद्धिमान हो गये हैं कि उनके बाल–बच्चे ही उनके परम विरोधी होते जा रहे हैं, धक्के दे–देकर उन्हें घर से निकालते जा रहे हैं फिर भी कहते हैं यह जगत कर्म प्रधान है, सृष्टि कर्म प्रधान है– पहले करो तब खाओ। छिः! धिक्कार है ऐसे लोगों को, लज्जा भी नहीं लगती कि जिस धन को अपने बलबूते कमाया हुआ समझते हैं उसी धन को उनके सामने ही बेटे परस्पर में छीना–झपटी करके बाँट लेते हैं और वे मूकदर्शक बने रह जाते हैं तो भी कहते हैं कि हम कर्मवादी हैं। बेटा हँसता है, कहता है– हम भाग्यवादी हैं, हमारे भाग्य से आपने कमा रखा है, इसे हम नहीं भोगेंगे तो कौन भोगेगा?

दुगाने गाँव (हिमांचल, सिरमौर) में आत्मानन्द ने एक भक्त से कहा कि अब तो मकान पर्याप्त बन गया। अब आप भजन–पूजन करें। वृद्धावस्था आ गई है, भगवान के पास जाने की तैयारी करें। तो उन्होंने कहा– तीन पोते हैं, तीन मकान चाहिए। पिता का धर्म है कि वह बच्चे–बच्चे की सम्पूर्ण व्यवस्था करके जाये। हम गृहस्थों की यही पूजा है। महाराज को हँसी आ रही थी कि वे भक्त उलटे उन्हीं को ज्ञान देने लगे।

रजोगुणी साधकों के संसर्ग में आत्मजिज्ञासु भी कभी कर्मवादी बनते दीखते हैं जबकि उन्हें तो प्राणायाम, आसन कम तथा आत्मचिन्तन विशेष करना चाहिए। आत्मजिज्ञासु तो प्राणविजेता होने की कामना नहीं करते बल्कि प्राण से उदासीन होने का प्रयत्न करते हैं।

इन दोनों मंत्रों के माध्यम से महाराज अब आप सब को युद्ध के मैदान में ले चलता है जहाँ आप भगवान का दर्शन करें। जहाँ वे महात्मा अर्जुन को झकझोरते हुए एक विनोद कर रहे हैं कि हे पार्थ! तुम प्रकृति की सामर्थ्य को तो देखो कि उसी ने इस समय तुम्हारे पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया है। धृतराष्ट्र रजोगुणी पुरुष हैं, पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य आदि सतोगुणी पुरुष हैं और दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि तमोगुणी पुरुष हैं जिन्हें तुम अपना स्वजन मान रहे हो। यह तुम्हारे भीतर की ही तो प्रकृति है जो सगुणरूप धारण करके बाहर प्रकट हो गयी है तथा तुम्हें अपनी तरफ खींच रही है, वह मोह–ममता में बाँधना चाहती है। हे पार्थ! इतना जान लो कि जो भीतर है, वही बाहर प्रकट है और जो बाहर है वही भीतर में प्रकट है। चलचित्र के पर्दे की आकृतियों को कोई अपना नहीं मानता बल्कि सभी समझते हैं कि ये सारी

आकृतियाँ छोटे से कैसेट से प्रकट हो रही हैं। उसीप्रकार तुम्हारी ही चित्तवृत्तियाँ इस समय बड़े पर्दे पर दिखाई दे रही हैं, जिन्हें तुम्हें किसीप्रकार का महत्त्व नहीं देना चाहिए। तुमने मेरी कृपा से ही इन वृत्तियों का उल्लंघन कर युद्ध में इनका वध करने का निश्चय किया है। अब पुनः उन्हीं के अनुशासन में बँधने क्यों जा रहे हो! कभी तुम राजा धृतराष्ट्र के मोह में मारे गये, तो कभी दुर्योधन, शकुनि आदि की चाल में फँस गये, तो कभी पितामहभीष्म एवं द्रोणाचार्य के प्रति शीलता एवं विनम्रता के घेरे में आ गये। अतः अपने को तुम पहचानो! तुम इन तीनों प्रकार के पुरुषों से एक पृथक् पुरुष हो अर्थात् तुम तो आत्मा हो आत्मा और आज तुम इतना जान लो कि आत्मा किसी के बन्धन में नहीं आता बल्कि उसके बन्धन में सब आ जाते हैं।

(रजस्तमश्चाभिभूय.....) मानो इन तीनों गुणों ने परस्पर में मंत्रणा कर ली है कि हम बारी–बारी से (तीनों में से एक) जीवात्मा को नचा–नचाकर आनन्द लेते रहेंगे। इसलिए रजोगुण एवं तमोगुण जब दोनों ही बैठ जाते हैं तो सतोगुण उस जीवात्मा से खेल खेलता रहता है और जब रजोगुण, सतोगुण बैठ जाते हैं, तो तमोगुण उसको बंदी बनाकर, चिढ़ा–चिढ़ाकर आनन्द लेता रहता है और जब तमोगुण, सतोगुण विश्राम करने लगते हैं, तब रजोगुण त्रास देना शुरू करता है। इसप्रकार भगवान से विमुख जीवात्मा को कभी कामी बनाता है, कभी क्रोधी, रागी, द्वेषी तथा कभी छली–कपटी एवं कभी राजा, कभी रंक बनाता हुआ कभी रुलाता है तो कभी हँसाता है। अतः वह भगवान के विषय में सोचने भी नहीं देता। साधकों एवं भक्तों का तो विशेष पीछा करता है और छल–कपट के द्वारा उनके प्रमाद को देखते ही विषय उपस्थित कर बाधा डाल देता है। जिसप्रकार बलवान हाथी को कोचवान अंकुश से अपने वश में करके उसपर सवार होकर घूमता रहता है और हाथी लोगों के कौतूहल का विषय बना रहता है, उसीप्रकार यह कभी–कभी साधकों की भी सवारी कर लेता है। इसलिए प्रभु ने सावधान होने के लिए इन मंत्रों को क्रम से दिया है। निर्विकार जीवात्मा ने इन तीनों गुणों का क्या बिगाड़ा है कि ये बारी–बारी से अपना बदला ले रहे हैं? हाँ! और तो कोई अपराध नहीं है, इतना ही है कि ये अपने पीछे तो सबको चलाना चाहते हैं किन्तु स्वयं सद्गुरु या भगवान के पीछे चलना नहीं चाहते। अतः भगवान के विरोधी तो ये हुए ही, इसलिए भगवान की माया उन्हें छोड़ेगी कैसे? सभी जानते हैं कि रावण ने अशोक वाटिका में भगवती सीता को सताने के लिए राक्षसियों को नियुक्त कर दिया किन्तु माँ सीता ने प्रभुनाम को ही अपना बिछावन, ओढ़न, भोजन–पानी, माता–पिता, गुरु और सहेली आदि सब कुछ बना लिया था। इसलिए राक्षसियाँ भी गुप्तरूप से उनकी सेविका बन गईं थीं।

(रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं.....) इसका सगुण अर्थ भी देखना चाहिए क्योंकि कोई भी आन्तरिक वृत्ति बाह्यवृत्ति के संसर्ग से ही अति प्रभावकारी होकर व्यापक हो जाती है अर्थात्, बाहर फैल जाती है और आपके तन, मन, वचन को अपने घेरे में ले लेती है। यदि सतोगुणी पुरुष का संसर्ग मिल जाता है तो वह पुरुष सतोगुणी बनकर राजसी एवं तामसी सदस्यों पर भारी पड़ने लगते हैं। एक ऐसे परिवार को महाराज ने देखा जिसमें कुछ राजसी एवं बहुत तामसी पुरुष थे जिनमें एक बच्चा कुलगुरु का संसर्ग पाकर भगवान शंकर की पूजा–पाठ करना प्रारम्भ

कर दिया। फिर क्या! दो तीन साल में ही उसके घर के राजसी एवं तामसी सदस्य उसका आदर–मान करने लगे। उनलोगों के राजसी एवं तामसी आहार–व्यवहार से सर्वथा भिन्न होने से उस बालक की गाँव में ख्याति होने लगी, सज्जन लोग भी उसके दरवाजे बैठने लगे। उसका प्रभाव अपने राजस एवं तामसी सदस्यों पर ऐसा पड़ा कि धीरे–धीरे, आठ–दस साल में ही सभी सदस्यों ने तामसी आहार–व्यवहार का त्याग कर दिया।

उसीप्रकार एक परिवार में देखा कि दिन–रात शराब पीनेवाला, जूआ खेलनेवाला पिता खा–पीकर, जूआ खेलकर सोता रहता था, अश्लील टी.वी. देखता रहता था लेकिन उसके बच्चे सब देवप्रकृति के हो गये, वे सात्त्विक आहार–व्यवहारवाले हो गये, लेकिन वे बच्चे उससे इसप्रकार डरे रहते थे कि जैसे– वह भगवान हो। ऐसा हो भी क्यों नहीं, क्योंकि वह तामसी पुरुष अरबपति बाप का इकलौता बेटा था, नगर सेठ कहलाता था। सम्पत्ति तहस–नहस होती गयी लम्बा काल बीत गया किन्तु जब पुत्र भी बाल बच्चेवाले हो गये तो उस तामसी पिता की तरफ धीरे–धीरे देखना भी बन्द करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अब वे बच्चे अपने माता–पिता से अलग रहने की स्थिति में आ गये हैं। पहले तो वह तामसी पिता ही सात्त्विक प्रकृतिवाले बच्चों पर भारी पड़ता था लेकिन अब वे ही उसके ऊपर भारी पड़ने लगे हैं, अब वे उसकी एक नहीं सुन रहे हैं। आगे जो होगा वह तो सभी जानते हैं क्योंकि अब शहरों में तो लगभग घर–घर की यही कहानी बनती जा रही है।

महाराज सबके माता–पिता को देखता है कि अपने पुत्र से श्रवणकुमार जैसा व्यवहार करने की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु स्वयं श्रवणकुमार के माता–पिता जैसे नहीं बनते, वे स्वयं राजा जनक नहीं बनते। सभी लोग अपने से छोटों से आदर्श व्यवहार चाहते हैं किन्तु स्वयं आदर्श शिष्य नहीं बनना चाहते। सतोगुण कैसे सुख में बाँधता है, पुनः वाल्मीकि रामायण की एक कथा के माध्यम से देखें– वनप्रदेश में भ्रमण करते हुए प्रभु श्रीराम ने स्वर्ग से उतरकर, एक पुरुष को अपने शव (मरे हुए शरीर) को, सरोवर के किनारे खाते हुए देखा। अगस्त्य ऋषि ने कहा– हे राम! इन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में रहते हुए घोर तप के द्वारा दिव्य लोक प्राप्त किया है; किन्तु जहाँ संकल्प से ही भूख–प्यास बुझाने के लिए दिव्य पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं, वहाँ पर भी इनकी भूख–प्यास नहीं गयी। ब्रह्माजी ने इनसे कहा था कि आपने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार किया था, न कि संन्यासाश्रम। आपका घर एवं घर के बाल–बच्चों से सम्बन्ध भी था, फिर भी आप बिना दान दिये ही, बिना आतिथ्य किये ही, जप–तप करते रहे। परिणामस्वरूप आपने इस लोक को प्राप्त कर लिया; किन्तु दान न देने के कारण से आपकी भूख–प्यास ज्यों की त्यों बनी रहती है। यदि आप इससे मुक्ति चाहते हैं तो वहाँ पर (सरोवर के किनारे) आपका शव अभी सुरक्षित है, उसी को रोज आप खाकर आया करें। किसी दिन अगस्त्य ऋषि आपका परिचय पूछकर अशुभ खाद्य पदार्थ खाने का कारण पूछेंगे, उस समय आप कारण बताकर उन्हें अपना बाजूबंद एवं हाथ का कड़ा दान कर देना। उसी समय आपका शव अन्तर्ध्यान हो जायेगा और आप भूख–प्यास से मुक्त हो जोयेंगे। हे राम! अभी आप यहीं से देखें। मैं अभी इस देवता को मुक्त करता हूँ। अगस्त्य ऋषि ने जैसे ही उनके पास जाकर बाजूबन्द एवं कड़े का दान लिया

वैसे ही शव अन्तर्ध्यान हो गया और वे देवपुरुष ऋषि को प्रणाम करके दिव्य लोक को चले गये।

सतोगुण जब बढ़ता है तो उस अवस्था में मनुष्य ही क्या, असुरों ने भी जप, तप, योग करके दिव्य शक्तियों को प्राप्त किया है। वे दिव्य शक्तियों द्वारा प्राप्त दिव्य सुख में फँसे तो कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु साधक एवं भक्त भी उन्हीं के जैसे तीनों गुणों के बन्धन में आते रहें, यह शोभा नहीं देता!

(तमः सत्त्वं रजस्तथा.....) कहीं–कहीं देखने में आता है कि कोई ऐसा परिवार होता है जिसमें तामसी, सात्त्विकी एवं राजसी– ये तीनों प्रकार के सदस्य होते हैं और इन तीनों सदस्यों में से तामसी एवं सात्त्विक पुरुषों पर कोई राजसी पुरुष ही भारी पड़ता है। सभी उसी के अनुशासन में रहते हैं, क्योंकि वह दिनों–रात कर्म करने में लगा रहता है। अतः तामसी एवं सात्त्विक पुरुष ऐसा समझते हैं कि इसके कमाने से ही हमसब खा–पी रहे हैं। यह न रहे तो दाल–रोटी मिलना दूभर हो जायेगा तथा वह कर्म का उपासक राजसी पुरुष भी यही समझता है कि मैं न रहूँ तो ये खा–पीकर सोये हुए रहनेवाले देवता तथा ये दिन–रात देवी–देवता की पूजा में मस्त रहनेवाले देवता तो भूखे ही मर जायेंगे। इसप्रकार अपने कर्म के अहंकार से वह उन दोनों को दबाकर रखता है।

इसप्रकार पूर्वकृत संस्कारों के माध्यम से कभी तो राजसी एवं तामसी पुरुषों पर सात्त्विक पुरुष शासन करते हैं और कभी राजसी एवं सात्त्विक पुरुषों पर तामसी पुरुष शासन करते हैं तथा वैसे ही तामसी एवं सात्त्विक पुरुषों पर राजसी पुरुष शासन करते हैं लेकिन एक चौथा पुरुष है जो इन तीनों पर भारी पड़ता है जो संत के संसर्ग में आकर संत ही हो जाता है, जिसका वर्णन इसी अध्याय के मंत्र सं० ११ से २० में किया जायेगा।

यहाँ तक साधकों को बहुत सी बातों का पता चल गया होगा कि कहाँ–कहाँ उन्हें सावधानी बरतनी है। यह भारतवर्ष धर्मभूमि है, तपोभूमि है, यज्ञभूमि है, योगभूमि है, यह शिवभूमि भी है, ब्रह्माभूमि भी है तथा विष्णुभूमि एवं देवीभूमि भी है, वैसे ही यह तंत्रभूमि भी है, मंत्रभूमि भी है और संतभूमि अर्थात् ब्रह्मभूमि भी है। यहाँ तंत्रसिद्ध साधक भी विचरण करते हैं, मंत्रसिद्ध साधक भी विचरण करते हैं, योगसिद्ध साधक भी विचरण करते हैं तथा भगवद्सिद्ध संत भी विचरण करते हैं। इन सिद्धों में भगवद्सिद्ध सन्त तो अपवाद रूप में ही है। उन्हीं आत्मज्ञानी गुरुओं की निकटता चाहिए, उन साधकों को जो एकमात्र आत्मजिज्ञासु हैं लेकिन जब वे आत्मजिज्ञासु सद्गुरु की आवश्यकता समझकर उसके पास चलते हैं तो बीच में वे ही तंत्रसिद्ध, मंत्रसिद्ध एवं योगसिद्ध साधक अपनी तरफ खींचने का प्रयत्न करते हैं। इस जगत में आत्मज्ञानियों को जानता भी कौन है? जानते तो लोग उन्हीं को हैं जो तांत्रिक, मांत्रिक एवं योगसिद्ध संत हैं। असंख्यों की भीड़ उनके पीछे चलती है इसलिए आत्मजिज्ञासु भी उन्हीं की तरफ संस्कारवश बह जाता है। सत्संग का अभाव होने से वह यह नहीं जान पाता कि ये आत्मज्ञानी हैं भी या नहीं। हाँ, यह बात अलग है कि कुछ काल के उपरान्त वह उस संत को प्रभु की कृपा से पहचान लेता है कि ये भगवद्सिद्ध संत हैं या नहीं। यदि नहीं हैं तो वहाँ से

आगे बढ़ जाता है या आत्मज्ञानी ही हैं तो उन्हीं के पास अपना लक्ष्य पूरा करता है।

सन् १९७७ में महाराज भी जहाँ साधनाभूमि में रहता था वहीं पड़ोस में पन्द्रह–बीस किलोमीटर दूर एक शाक्त सन्त रहते थे जो तंत्र एवं मंत्र में सिद्ध थे। महाराज ने तो ऐसा ही सोचा कि अवश्य ही ये आत्मज्ञानी सन्त होंगे। अतः कभी–कभार इनसे सत्संग का लाभ भी लेना चाहिए, ऐसा सोचकर उनके पास जाकर पन्द्रह–बीस दिन रहा। एक दिन महाराज ने उनसे पूछा– आप की दृष्टि में नासिकाग्र कौन है? जो उन्होंने कहा उससे सन्तुष्टि नहीं हुई, अतः अपनी साधनास्थली पर लौट आया। बद्रीनाथ में भी उन्हीं दिनों गर्मी में जाया करता था। एक सन्त के बाह्य त्याग को देखकर अति सन्तुष्टि हो गयी, अतः सोचा पन्द्रह–बीस मिनट यहाँ इनके पास सत्संग लाभ लेना चाहिए लेकिन तीन–चार दिन के उपरान्त पता चल गया कि ये अभी आत्मज्ञानी नहीं हैं और न ही अपनी साधना के अनुरुप यहाँ सत्संग प्राप्त हो सकता है; क्योंकि जो मंत्रयोग के माध्यम से आगे बढ़ रहा है वह मंत्रमय सत्संग देगा, जो तन्त्र के माध्यम से आगे बढ़ रहा है वह तन्त्रमय सत्संग देगा तथा जो अष्टांगयोग के माध्यम से आगे बढ़ा है वह अष्टांगयोग की तरफ खींचने का प्रयत्न करेगा लेकिन जो आत्मजिज्ञासु इन तीनों से परे आत्मचिन्तनमय ध्यान का अभ्यासी है उसे तो उसके अनुरुप ही सत्संग चाहिए अन्यथा बुद्धि में संकरता आने की सम्भावना रहती है, ऐसा सोचकर वहाँ जाना छोड़ दिया। हाँ; महाराज को उनके दर्शन का लाभ अवश्य मिला जो परम लाभ था, क्योंकि संत तो थे ही भले ही आत्मज्ञानी नहीं थे। शास्त्रीय नियम है कि जो आत्मज्ञान की तरफ बढ़ रहा है और अपने त्यागवृत्ति से, सन्तवृत्ति से भी रह रहा है तो वह सन्त ही है उसके दर्शन का लाभ तो आत्मज्ञानी के दर्शन जैसा ही मिलेगा यदि सन्त समझकर दर्शन किया जा रहा है तो।

ठीक इसके विपरीत संत इन तीनों सिद्धों से अर्थात् तांत्रिक, मांत्रिक एवं योगियों से भी सर्वथा भिन्न स्वभाववाला होता है। जिसप्रकार ये सभी को अपनी–अपनी तरफ खींचते रहते हैं, प्रचार–प्रसार के माध्यम से लोगों को बुला–बुलाकर अपनी साधना में बाँधते रहते हैं, उसप्रकार वह संत नहीं करता। उसमें बाँधने–छोड़ने का भाव नहीं उठता। वह तो सूर्यवत् प्रकाशित होता रहता है, अपने–आप में सम शान्त बना रहता है और उसकी उस निर्विकार अवस्था से तांत्रिक, मांत्रिक एवं योगी भी लाभ उठाते रहते हैं। सर्वप्रथम तो उत्तम अधिकारी को उसके दरस–परस से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है तथा मध्यम अधिकारी को उसके तन, मन, वचन एवं संस्कार तथा स्वभाव की शक्ति–सामर्थ्य को देखकर वह उसके अनुरूप साधना दे देता है। उसका किसी एक साधना के प्रति आग्रह नहीं रहता यदि सच में कोई आत्मजिज्ञासु है तो। वह तीनों गुणों से सर्वथा विपरीत स्वभाववाला इसलिए होता है कि तीनों गुण एवं तीनों गुणोंवाले पुरुष जहाँ अपने में बाँधने का प्रयास करते हैं, वहीं वह अपने–आप से भी मुक्त ही रखता है। इतना ही नहीं बल्कि उसके पास साधक स्वयं से बन्धन में आकर भी मुक्त ही रहते हैं। उसके पास सबके धर्म का स्वागत है, सभी प्रकार की साधनाओं का स्वागत है, सब प्रकार के व्यवहार का स्वागत है। वह तो आत्मजिज्ञासु देखकर उसकी साधना का रूप एकमात्र आत्मा की तरफ कर देगा। जिसके स्मरण मात्र से ही सम्पूर्ण दिशाएँ खुल जाती हैं, सम्पूर्ण शक्तियाँ अपना स्वागत करने

लगती हैं वह किसी को क्यों बाँधेगा। इसप्रकार आत्मजिज्ञासु भी उस आप्तकामी सन्त को पाकर तीनों प्रकार के पुरुषों के बन्धन को तोड़कर बन्धन मुक्त ही नहीं होता बल्कि आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न होकर तीनों प्रकार के पुरुषों पर शासन भी करने लगता है।

आखिर यह जाना कैसे जाये कि इस समय सतोगुण बढ़ा है, रजोगुण बढ़ा है या तमोगुण बढ़ा है। इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

जब सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा देवी–देवताओं का अथवा भगवान का ही स्मरण करने का मन करे, पूजा–पाठ करने का मन करे, कर्म से मन हटे और संसार से वैराग्य हो तो जान लेना चाहिये कि इस समय तन, मन, हृदय में सतोगुण की धारा बह रही है। भरतश्रेष्ठ! जब हानि के प्रति क्षोभ, स्वार्थ बुद्धि से कर्म में प्रवृत्ति एवं प्रीति उत्पन्न हो, स्वार्थ बुद्धि से अशान्ति और विषयभोग की लालसा उत्पन्न हो तो जानना चाहिए कि रजोगुण बढ़ा हुआ है तथा शरीर सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों में अज्ञान, कर्मों में अरुचि, प्रमाद एवं निद्रादि वृत्तियाँ प्रकट हों तो जान लेना चाहिए कि तमोगुण की वृद्धि हो गयी है।

सतोगुण ही एक ऐसा है जिसका उपयोग करके कोई स्वर्ग भी जा सकता है एवं कोई परम धाम भी जा सकता है। कोई जप, तप, योग में लगा हुआ है किन्तु उसके पास हो–हल्ला मच जाए, जिसके चलते उसके मन में खिन्नता उत्पन्न हो, कुछ भी देखने–सुनने का मन न करे, तो जान लेना चाहिए कि इस समय सतोगुण बढ़ा हुआ है। दस हजार भजन करनेवालों में नौ हजार नौ सौ निन्यानबे सकामी ही होते हैं। हाँ, वे प्रारम्भ में जानते हैं कि हम भगवान का भजन ही कर रहे हैं; किन्तु प्रतिकूलता में मन में क्षोभ हो जाता है, तब उन्हें बताया जाता है कि आप सकामी हैं, आपको सतोगुण ने बाँध लिया है अथवा जब सिद्धियाँ मिलती हैं और उनका वे उपयोग करने लगते हैं, तब भलीभाँति पता चल जाता है कि ये भगवान की आराधना, भगवान को पाने के लिए नहीं बल्कि सिद्धियों को पाने के लिए ही कर रहे थे।

एक साधक को सतोगुणी ध्यान में आसक्ति हो गयी थी। वह सदा ध्यान में बैठा रहता था; क्योंकि ध्यान का भी एक नशा होता है। जिसप्रकार नींद एवं आलस–प्रमाद में व्यक्ति पड़ा रहता है, उसीप्रकार सात्त्विक सुख में भी साधक बैठा रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों से दिव्य प्रकाश बहता रहता है। वृत्तियों सहित मन अन्तर्मुख रहता है। चेतना रहती है; किन्तु 'मैं', 'तू' की मार नहीं

पड़ने से, विचारों के तूफान सामने नहीं आने से एवं दिव्य स्पर्श का आनन्द बहते रहने से साधक को ध्यान से उठने का मन नहीं करता। ध्यान में बैठे रहनेवाले साधक से उसके गुरुदेव कहते थे कि ध्यान में आसक्ति हो जाने से आध्यात्मिक चिन्तन नहीं हो सकेगा और जबतक चिन्तन नहीं होगा तबतक रजोगुण शान्त नहीं होगा, फिर तो कभी सतोगुण, कभी रजोगुण एवं कभी तमोगुण का चक्र चलता ही रहेगा क्योंकि सतोगुण के प्रकाश से प्रकट होनेवाली चित्त की सम शान्तता सतोगुण का प्रवाह खत्म होते ही समाप्त हो जाती है। फिर–

(सर्वद्वारेषु देहेस्मिन्प्रकाश.....) दस बाह्य इन्द्रियाँ, अंतःकरण अर्थात् चार अन्तःइन्द्रियाँ ये चौदह हैं। अतः भगवान का कहना है कि सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियों सहित मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में देवकर्म करने की कामना जग जाय तो जान लेना कि सतोगुण प्रकट हो गया है। जैसे नेत्रों से देवदर्शन, संतदर्शन, तीर्थदर्शन करने का मन करे जिस समय तो जान लेना कि नेत्र में सतोगुण प्रकट हो गया है, कानों से पुरातन देवकथा सुनने का मन करे, दूसरे की निंदा सुनने का मन न करे, भगवद्गीत सुनने का मन करे तो जानना कि कानों में सतोगुण बढ़ गया है। वाणी से सत्य बोलने का मन करे, पुराणों को पढ़ने का मन करे, भजन गाने का मन करे तो जानना कि वाणी में सतोगुण प्रकट हो गया है। जिह्वा से सात्त्विक आहार ही लेने का मन करे, हाथ से बड़े–बूढ़ों की सेवा करने का मन करे, पाँव से आसन लगाकर ध्यान में बैठने का मन करे, मन से देवताओं का मनन हो, बुद्धि से देवचिन्तन हो, हृदय में देवताओं के प्रति अनुराग हो, अहंकार उनके लिए समर्पित हो तो जान लें कि सतोगुण प्रकट हो गया है अथवा स्वर्ग की कामना से यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं को करने का मन करे तो जान लें कि सतोगुण बढ़ा है। सदा–सर्वदा ज्योतिर्मयध्यान करने का मन करे, समाधि में ही बैठे रहने का मन करे तो जान लेना कि सतोगुण बढ़ा है। वैरी से भी प्रेम करने का मन करे तो जानना कि सतोगुण बढ़ा है, वेश्या के प्रति भी माँ की भावना जगे, स्त्रियों के प्रति देवी की भावना और पुरुषों के प्रति देवता की भावना जगे तो जानना कि सतोगुण प्रकट हुआ है। यम–नियमादि व्रतों को पालन करने का मन करे तो जान लेना कि सतोगुण बढ़ा है। मन प्रसन्न है, बुद्धि धर्म–अधर्म के निर्णय में देर नहीं कर रही है, तो जान लेना कि सतोगुण बढ़ा है।

(लोभः प्रवृत्तिरारम्भः.....) रजोगुण जब बढ़ता है तो चित्त से लोभ की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है, नानात्व की धारा बहने लगती है, कर्म में इतनी प्रीति बढ़ जाती है कि दस, पन्द्रह, बीस साल कैसे बीत जाते हैं, यह पता ही नहीं चलता। यही कारण है कि रजोगुणी साधकों के लिए आश्रमों में कर्मयोग करने की व्यवस्था है, मठ की व्यवस्था भी पुरातनकाल से चली आ रही है। यह भी देखा गया है कि बहुत से साधक पूर्वजन्म के संस्कारवश सतोगुणी वैराग्य के आवेश में घरबार छोड़कर आश्रम में तो चले आते हैं किन्तु डेढ़–दो या तीन साल बाद वह वैराग्य का आवेश, आध्यात्मिक चिन्तन की धारा नहीं खुलने पर ध्यान, जप, तप करने से खत्म हो जाता है, जिसप्रकार नींद खर्च होती है, सात–आठ घण्टे सोने के बाद बहुत प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आती, क्योंकि रजोगुण की धारा वहाँ प्रकट हो गई है। उसीप्रकार उन साधकों का डेढ़–दो साल में वैराग्य का नशा खत्म हो जाता है। अब वे करें क्या, घर जाने का मन नहीं करता और

ध्यान में मन लगता नहीं? अतः उनके लिए आश्रमों में निष्कामकर्म की व्यवस्था दी जाती है।

अभी दो साल पहले एक साधक महाराज के पास आया। महाराज कहता रहा कि घरपर पत्र भेज दो लेकिन वैराग्यावेश में न उसने पत्र लिखा और न अपना गाँव, घर, नाम एवं जाति को बताया। महाराज प्रत्येक तीन–चार महीने के बाद पूछता था कि घर के लोगों के प्रति कोई विचार नहीं आता? तो वह कहता कि विचार आना तो दूर, याद ही नहीं आती। अब जब दो साल बीत गया तब पूछने पर बता रहा है कि माता–पिता एवं भाइयों के प्रति मोह आ रहा है, जबकि ध्यान एवं जप में उसकी उन्नति बहुत हो गई है। अतः ऐसी अवस्था में जानना चाहिये कि अब मोह की वृत्ति बढ़ने लगी है। आश्रम बनाने का मन करे, धर्मप्रचार की तरफ मन की प्रवृत्ति होने लगे, प्रसिद्धि पाने की कामना होने लगे तो जान लेना चाहिए कि लोभ बढ़ गया है या बढ़ रहा है। कितने साधकों को तो महाराज ने देखा है कि घर से संन्यास लेने के उपरान्त विद्याध्ययन करने का मन करने लगता है जबकि घर छोड़ते समय एकमात्र भगवान पाने की कामना थी। उनके मन में कब किसके संसर्ग से लोभ की प्रवृत्ति आ गयी, अब तो वे ही नहीं बता पायेंगे, इसी लोभ की प्रवृत्ति में साधकों द्वारा साधनपथ को कठिन समझकर घर लौटते देखा गया है।

(लोभः प्रवृत्तिरारम्भः.....) प्रभु श्रीराम ने सुग्रीव को राज्य दे दिया किन्तु वह राज्य का लोलुप राज्य पाकर विषय भोगों में अनुरक्त होकर भगवान को ही भूल बैठा। लोभ तो लोभ ही होता है। लोभ शब्द का सम्बन्ध एकमात्र धन से ही नहीं समझना चाहिए बल्कि सम्पूर्ण इन्द्रियों के लोभ से समझना चाहिए। व्यक्ति के पास जब धन आ जाता है और जब वह समझ लेता है कि अब धन दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा है तब उसका काम के प्रति भी लोभ बढ़ जाता है; तो वह एक के बाद एक कामिनियों को अपने काम का शिकार बनाना प्रारम्भ कर देता है। वैसी अवस्था में उसका काम इतना व्यापक होता जाता है कि पवित्र बहन–बेटियों, साध्वी माताओं पर भी छलाँग लगाना प्रारम्भ कर देता है। रामचरितमानस में इसका संकेत भी है कि जो बाली ने किया वही तो सुग्रीव ने किया– भले ही प्रभु श्रीराम ने उसपर ध्यान नहीं दिया, दयावश छोड़ दिया। सुग्रीव का काम के प्रति लोभ इतना बढ़ गया था कि हनुमानजी चिंतित हो उठे थे कि इसप्रकार का कामलोभ इनके लिए घातक न बन जाय। सच में वही हुआ कि प्रभु श्रीराम कुपित हो ही गये। काम के प्रति लोभ कैसे बढ़ता है इसे रावण के काम से देखें। उसके कामलोभ की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामीजी ने कहा है–

देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि।।
(बालकाण्ड)

अर्थात् देव, यक्ष, गन्धर्व यहाँ तक कि ऋषि–कन्याओं की तरफ भी बढ़ चला, तब चाहे जहाँ भी शाप ही शाप पाने लगा। ऋषि–कन्या वेदवती पर भी आक्रमण कर दिया, जिसका शाप उसके लिए कालान्तर में मृत्यु का कारण बन गया। कहाँ तक कहा जाय– इस कामलोभ

की ऐसी स्थिति को देखकर ही तो ऋषि–महर्षियों ने कह दिया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त में अपनी सगी माँ, बहन, बेटी के साथ भी नहीं रहना चाहिए। इस पापरूप काम के प्रति हुए लोभ पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह किन अवस्थाओं में कब किसपर प्रकट हो जायेगा आजतक किसी ने नहीं जान पाया है। सहस्त्रार्जुन के काम ने तो सम्पूर्ण क्षत्रिय वंश को कहीं का नहीं रहने दिया।

इसीप्रकार क्रोध का भी लोभ होता है। रजोगुण की वृद्धि जब होती है तो कामनाओं की पूर्ति नहीं होने पर क्रोध बढ़ने लगता है। वह राजसी पुरुष चाहे जिसपर क्रोधरूप बाण छोड़ने लगता है तथा आश्चर्य तो तब होता है जब वह क्रोध का लोभी क्रोध करने के उपरान्त ही शान्त होता है। परिणाम होता है कि अपने से बड़े–बूढ़ों तथा गुरुजनों पर भी क्रोध करके अपना सर्वनाश कर बैठता है।

जिह्वालोलुप की कहानी तो सभी जानते हैं। नानाप्रकार के व्यंजनों का लोभी पुरुष अंशमात्र भी स्वाद में कमी होने पर भोजन की थाली पटकता रहता है। वह स्वाद का लोभी सम्पूर्ण सात्त्विक पदार्थों में स्वाद को ढूँढ़ते–ढूँढ़ते, राजस पदार्थों में स्वाद ढूँढ़ने लगता है। जब वहाँ भी तृप्ति नहीं होती तो तामस पदार्थ मांस और शराब में स्वाद खोजते–खोजते अपने अमूल्य शरीर को तहस–नहस कर देता है। फिर तो कभी वह नालियों में पड़ा रहता है तो कभी चौराहे पर। सुग्रीव ने तो प्रभु श्रीराम से यहाँ तक कह दिया था कि

लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।
(किष्किन्धाकाण्ड)

लोभ की प्रवृत्ति जब बढ़ती है तो साधक भी नानाप्रकार की क्रियाओं को धारण कर लेता है। पतञ्जलिजी ने तो योगदर्शन के अन्तर्गत विभूतिपाद नामक एक अध्याय ही लिख दिया, ताकि कम से कम सिद्धि के लोभ से ही तो कोई साधना में प्रवृत्त होवे। जैसे बालक को मिठाई का प्रलोभन देकर विद्या के प्रति प्रेरित किया जाता है वैसे ही लोभी साधकों से ही तो सिद्धियों की बात की जाती है अन्यथा सिद्धियों की बात क्या करनी जब कोई भगवान के लिए जीने लगा है।

धन का लोभी तो नानाप्रकार की कामनाओं के लोभ में दिनरात कर्म में ही लगा रहता है। उसे क्या पता कि उसके तन, मन, वचन एवं हृदय में लोभ की वृत्ति बढ़ गयी है। वह धन की प्राप्ति के लिए अपनी बहन–बेटी यहाँ तक कि स्त्री को भी बेच सकता है। तभी तो इस मंत्र में 'अशमः' पद आया हुआ है। धन के लिए ही वह जागता है, धन के लिए ही वह सोता है, धन के लिए ही किसी से बोलता है, धन के लिए ही किसी की सुनता है, धन के लिए ही उसकी हर श्वास होती है। यद्यपि तीसरे अध्याय में भगवान ने इस रजोगुण की वृद्धि से काम प्रकट होता है ऐसा संकेत कर दिया है तो ऐसा लोग कह सकते हैं कि पुनः वही बात यहाँ कहने की क्या आवश्यकता थी? बात तो सही है लेकिन पुनः–पुनः कहने से रहस्यात्मक विषय हृदयंगम हो जाता है। साधकों को यह पता तो चले कि रजोगुण है क्या, उसकी प्रवृत्ति में कौन–कौन

से दुर्गुण आते हैं। इसप्रकार उपरोक्त दोषों के प्रकट होने पर जानना चाहिए कि रजोगुण बढ़ा हुआ है।

रजोगुण के बढ़ने पर नानाप्रकार के अश्लील गीतों को सुनने का मन करेगा, अश्लील किताबों को अर्थात् उपन्यासों को पढ़ने का मन करेगा, अश्लील बात ही करने का मन करेगा तथा राजसी पुरुषों के साथ ही रहने का भी मन करने लगेगा। कहाँ तक महाराज साधकों को समझाए– जब घर–परिवार के विषय स्वजन, हित, मित्र, भाई, बान्धव याद आने लगें तो जान लेना चाहिए कि अब रजोगुण बढ़ने लगा है। यही नहीं, यदि एक भी स्त्री कामभाव से याद आ गयी तो जान लेना चाहिए कि अब रजोगुण प्रकट होने लगा है। इसीप्रकार–

(अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च.....) जब सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्रमाद, आलस एवं नींद प्रकट होने लगे, जम्हाई आने लगे तो जान लेना चाहिये कि इस समय तमोगुण बढ़ गया है। जब साधक अच्छीप्रकार अपने मित्र एवं वैरी को पहचान लेता है, तब वह मित्र से मित्र जैसा और वैरी से वैरी जैसा व्यवहार करने लगता है। उसीप्रकार जब इन तीनों गुणों की अच्छीप्रकार पहचान हो जाती है और यह भी पता चल जाता है कि ये तीनों ही भगवत्–पथ के शत्रु हैं, तब इनसे मुक्त होने की युक्ति का पता लगाया जाता है। तमोगुण के सुख में आसक्त किसी व्यक्ति को आप जगायें तो वह अनाप–शनाप बोलता हुआ चाँटा भी मार सकता है, वैसे ही सतोगुण के कार्यरूप ध्यान में बैठे हुए आसक्त साधक को छेड़ें तो वह शाप भी दे सकता है। रजोगुण के कार्यरूप कर्म में आसक्त पुरुष को आप तीर्थ में रहने को कहें, तो वह झुंझलाकर कहेगा– तीर्थ में घूमने से ही भगवान रोटी–पानी देगा? भगवान भी तो यही कहता है कि पहले करो, फिर खाओ? अरे! क्यों ढोंग करते हो, तीर्थ की व्यवस्था तो बनायी ही गयी है बुढ़ापे के लिए!

(अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च.....) ठीक इन दोनों गुणों के विपरीत जब शरीर सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों में जड़ता आने लगे, कर्म–धर्म से अरुचि होने लगे, प्रमादवश सात्त्विक भावों के प्रकट होने पर भी उनकी अवहेलना करने लगे तथा एकमात्र नींद, आलस्य, प्रमाद में ही रहने का मन करे तो निश्चित जानना चाहिए कि तमोगुण की वृद्धि हुई है। तमोगुण के बढ़ने पर उस पुरुष के मन में छल–कपट, झूठ–पाखण्ड आने लगे तो जान ले कि तमोगुण बढ़ा है, सम्पूर्ण इन्द्रियों से अज्ञान पर अज्ञान प्रकट होने लगे तो जान लेना कि तमोगुण बढ़ा है, संतों, शास्त्रों की बातों पर भी विश्वास न हो तो जान लेना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा है, चोरी करने का मन करे, छल–कपट करने में आनन्द आवे तो जान लेना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा है, सभी को मूर्ख और अपने को ही बुद्धिमान समझने लगे तो जानना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा है, तमोगुणी आचार–विचार एवं व्यवहारवाले पुरुषों से प्रीति करने का मन करे तो जानना कि तमोगुण बढ़ा है।

'प्रमाद ही मृत्यु है, सजगता ही जीवन है।' चाहे कोई कितना भी दुराचारी क्यों न हो लेकिन चौबीस घण्टे में कभी न कभी सात्त्विक वृत्तियाँ अर्थात् सात्त्विक विचार तो उसके हृदय से प्रकट होंगे ही होंगे, भले ही वह उन्हें स्वीकार न करे, यही तो प्रमाद है!

सतोगुण की सकामता में सतोगुण बाँधनेवाला होता है और निष्कामता में वही सतोगुण निष्कामी बनानेवाला बन जाता है। अब महात्मा अर्जुन के प्रश्न के अनुसार जो पुरुष सतोगुण में आसक्त है और यदि उसी समय प्राण छूट जाता है तो उसकी गति क्या होती है– इसके विषय में भगवान बता रहे हैं–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

जिस समय साधक सतोगुण के कार्यरूप ध्यान–समाधि में ही आसक्त है, तो उस समय की मृत्यु से मलरहित, दिव्य उत्तमलोकों को वह प्राप्त कर जाता है, रजोगुण की अवस्था में प्राण छोड़कर गया हुआ पुरुष मृत्युलोक को एवं नींद–आलस में मरकर गया हुआ पुरुष पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे आदि अधम योनियों को प्राप्त कर जाता है; क्योंकि पुण्यकर्म का फल तो निर्मल फल ही प्राप्त होता है एवं राजसकर्म का फल दुःख की प्राप्ति होता है तथा तामस कर्म का फल अज्ञान होता है।

(यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु.....) विश्व का मानवमात्र इस पहेली को जानना चाहता है कि शरीरगत प्रकृति की किस अवस्था में प्राण छोड़कर जीवात्मा कहाँ, किस लोक को जाता है? इसी का उत्तर अब भगवान दे रहे हैं, तो सर्वप्रथम इसका आध्यात्मिक अर्थ भी देख लें– यह तो सभी देखते ही हैं कि पौने दो घण्टे के लगभग में स्वर बदल जाते हैं वैसे ही सबके हृदय से सात्त्विक, राजस एवं तामस विचार प्रवाहित होते रहते हैं। हाँ यह बात अलग है कि जैसे योगी स्वर को अपने अनुकूल चला लेते हैं यानी एक ही स्वर बारह–बारह घण्टे चलाने का अभ्यास कर लेते है उसीप्रकार साधक सात्त्विक वृत्तियों को ही अपने अनुकूल चलने के लिए बाध्य कर देते हैं। जैसे सोते समय रात्रि में कोई बायाँ करवट लेटे तो दायाँ स्वर अपने–आप खुल जाता है और वह तब पौने दो घण्टे की जगह तीन घण्टे चलेगा, तीन चार महीने होते–होते तो छः घण्टे बायें करवट से लेटे रहे कोई तो उतने ही घण्टे दायाँ स्वर चलता रहेगा और यदि रातभर दायाँ स्वर चलता रहे तो दिनभर बायाँ स्वर बिना प्रयास के चलता रहेगा, फिर तो सात्त्विक प्रकृति की धारा को लम्बे काल तक अपने अनुकूल बहाया जा सकता है। यदि सात्त्विक प्रकृति की धारा दिनभर बहने लगे अथवा रातभर बहने लगे तो तामस एवं राजस विचार तो आयेंगे किन्तु विक्षेप नहीं कर पायेंगे, वे अस्तित्वहीन ही रहेंगे।

संध्याओं में भी साधक सुषुम्नानाड़ी में ही ध्यान करते हैं। शाम की संध्या में दायाँ स्वर चलाकर ध्यान में बैठ जाते हैं, जिससे कुछ समय के उपरान्त यानी पाँच, दस, पन्द्रह मिनट में

सुषुम्ना प्रवाहित हो ही जाती है, उसीप्रकार सुबह की संध्या में बायें स्वर में ध्यान के लिए बैठते हैं तो दस–पाँच मिनट में सुषुम्ना जग ही जाती है, जिस सुषुम्ना में ध्यान करना अति प्रभावकारी होता है। सुषुम्ना को ही तो स्थूलरूप में ब्रह्मस्वर कहा जाता है, वैसे ही दायें स्वर को देवस्वर तथा बायें स्वर को मनुष्यस्वर कहा जाता है। रात्रि मानो मानुषस्वर है और दिन देवस्वर है तथा संध्या ही ब्रह्मस्वर है। यह सामान्य पुरुषों के लिए बताया जाता है किन्तु जिनके पास साधन–भजन में बैठने का विशेष समय नहीं है तो कम से कम संध्या (ब्रह्मस्वर) में ही बैठकर ध्यान करेंगे तो कुछ काल के उपरान्त प्रकृति सम शान्त हो ही जायेगी लेकिन जिन्होंने जीवन को भगवान के लिए ही समर्पित कर दिया है जो सदा–सर्वदा ध्यान–भजन में ही समय व्यतीत करना चाहते हैं उनके लिए तो दिन ही ब्रह्म का दायाँ स्वर है और रात्रि ही उनका बायाँ स्वर है तथा दिन–रात्रि का मिलन ही उनकी सुषुम्ना है। ब्रह्म के इन्हीं तीनों स्वरों में साधक अपने स्वरों को पिरोकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। साधक जब 'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु'– शाम की संध्या में अपने शरीर का दायाँ स्वर चलाकर ध्यान, जप में बैठता है तो ब्रह्म के बायाँ स्वर (रात्रि) का उसके दायें स्वर से योग हो जाता है, अतः थोड़े ही समय में सुषुम्ना जग जाती है। यदि सुषुम्ना शीघ्र नहीं भी जगी तो कोई बात नहीं, कम से कम उसका दायाँ स्वर और ब्रह्म का बायाँ स्वर का योग तो प्रकृति का सन्तुलन बनाकर रखेगा ही रखेगा। उसीप्रकार सुबह की संध्या में जैसे ही उसका बायाँ स्वर प्रवाहित होता है वैसे ही ब्रह्म के दायें स्वर (दिन) का योग हो जाता है, जिससे सुषुम्ना प्रवाहित होने लगती है। इसप्रकार व्यष्टि स्वर और समष्टि स्वर का योग हो तो वह दिन दूर नहीं जब सात्त्विक आचार, विचार, व्यवहार के अतिरिक्त कोई तामस एवं राजस आचार–विचार प्रकट ही न हों अर्थात् राजस एवं तामस वृत्तियाँ प्रकट ही नहीं होंगी।

दो स्वर के योग से तीसरे स्वर की उत्पत्ति होती है अथवा दो स्वर जब मिलते हैं तो तीसरा स्वर प्रकट हो जाता है। सृष्टि में नर–मादा भी दो स्वर हैं जिनके मिलने से तीसरे स्वर 'प्राणी' की उत्पत्ति होती है। जैसे माँ बायाँ स्वर है तो पिता दायाँ स्वर है, इन दोनों के मिलने से तीसरे स्वर यानी बाल–बच्चे प्रकट होते हैं, माता–पिता बायाँ स्वर हैं तथा कुलगुरु दायाँ स्वर है, जिसके संसर्ग से देवलोकों की प्राप्ति होती है, ठीक वैसे ही आत्मजिज्ञासु शिष्य बायाँ स्वर है एवं सद्गुरु दायाँ स्वर है, जिसके संसर्ग से सुषुम्ना (ब्रह्मस्वर यानी ब्रह्ममार्ग अथवा ब्रह्मप्राप्ति होना) प्रकट हो जाती है।

महाराज के गुरुदेव कहा करते थे कि साधनाकाल के अन्तर्गत चौबीस घण्टे में मैं मन को एक घण्टा स्वतंत्र छोड़ देता था और कहता था कि अब जितनी छलाँग लगानी हो लगा लो। ऐसा करते ही वह उड़ानें भरने लगता था और मैं उसका पीछा करता कि कहाँ–कहाँ जा रहा है– सात्त्विकवृत्ति में या राजसवृत्ति में या तामसवृत्ति में। इसप्रकार मैं उसके व्यवहार का अध्ययन कर लेता था। उसके उपरान्त पुनः उसको समझाना–बुझाना प्रारम्भ कर देता था।

(यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु.....) सतोगुण की प्रवृत्ति में प्राणों को छोड़कर गया हुआ पुरुष उत्तम वैदिक कुल में जन्म लेता है जहाँ वैदिकता की सम्पूर्णता से स्थापना रहती है, वही दिव्य लोक है, वही मलरहित लोक है क्योंकि राजस एवं तामस आचार–विचार, आहार–व्यवहार की उस

परिवार में गन्ध तक नहीं रहती। उसमें सभी तपस्वी होते हैं, सतोमय होते हैं। यद्यपि उनके पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि भोग–विषय प्रचुर मात्रा में रहते हैं लेकिन उसका उपभोग शास्त्रीय नियमों के अन्तर्गत ही करते हैं। उसी परिवार के सम्पूर्ण सदस्यों में परस्पर में सौहार्द्र का वातावरण बना रहता है। लगता है कि सभी देवताओं ने ही उस परिवार को अपना वासस्थान बना लिया हो। ऐसे परिवार हर प्रदेश में पाये जाते हैं। बंगाल के आसनसोल नामक नगर में एक ऐसा ही परिवार है जिसमें आज लगभग अस्सी–पच्चासी सदस्य हैं लेकिन ऐसे घोर कलियुग में उनके परस्पर का प्रेममय वातावरण देखते ही बनता है। वैसे परिवार चाहे जिस प्रदेश में, जिस नगर या गाँव में हों देवलोक कहा जायेगा। उस परिवार में भी सभी सकामी भक्त हैं, आत्मजिज्ञासु आजतक एक भी सदस्य जन्म नहीं लिया है। इसीलिए उसे देवलोक कहा जायेगा, उस परिवार में एक सदस्य भी जुआरी, शराबी, मांसाहारी, चोर, बदमाश नहीं है, छली–कपटी भी नहीं है, इसी से वह परिवार देवताओं का परिवार कहा जायेगा। सभी सदस्य सात्त्विक देवपूजक एवं देवीपूजक हैं, उस परिवार में भगवान शंकर एवं भगवान विष्णु तथा वैदिक देवताओं की सम्पूर्णता से स्थापना है। 'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु'– सारे देवी–देवता सतोगुण से सम्पन्न ही तो होते हैं जिनकी झाँकी उन सभी सदस्यों में देखने को मिलती है।

सम्पूर्ण देवताओं में से किसी एक भी देवता का स्मरण करता हुआ पुरुष शरीर त्याग करता है तो उसे इसीप्रकार का लोक मिलता है अथवा सतोगुणी कर्मों को करता हुआ पुरुष शरीर त्याग करता है तो उसे वैदिक परिवार, जो स्वर्गीय सुखों से सम्पन्न है वही प्राप्त होता है।

यदि विचारों से पता नहीं चलता है कि मेरी प्रकृति कौन है– सात्त्विक, राजस या तामस तो स्वप्न से पता चल जाता है। जब नित्यप्रति सपने में तीर्थों में घूमने लगें, देवी–देवताओं की पूजा करने लगें, सपने में उड़ने लगें तो जान लेना चाहिये कि यदि ऐसी ही सतोगुणी अवस्था में बिना ज्ञान हुए प्राण छूटता है तो सात्त्विकलोक प्राप्त हो जायेगा। शरीर छोड़ते समय जीव किसी न किसी गुण के प्रभाव में तो रहेगा ही रहेगा। इस मंत्र के द्वारा यह भी पता चलता है कि भारत में जितने भी भगवान के भक्तों के घर हैं, वे ही उत्तमातिउत्तम निर्मल लोक हैं। माँ मदालसा के पास जो भी बच्चे आये, उनके लिए उसका घर–बार ही उत्तमातिउत्तम लोक था। जिस परिवार में भगवद्भाव की ही प्रधानता है वही उत्तमातिउत्तम लोक है, जहाँ भक्त के साधनपथ में कोई विशेष व्यवधान नहीं आता तथा विरोध होना तो दूर, घर के माता–पिता, भाई–बान्धवों से सहयोग ही मिलता है। महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में ऐसे विशुद्ध परिवारों की बाढ़ है।

(रजसि प्रलयं गत्वा.....) यदि कोई कर्म में आसक्त पुरुष है तो उसके सपने में भी हाय मचती होगी। वहाँ भी वह जाग्रत् जगत के जैसा ही बाल–बच्चों को कर्म में धकेलता होगा और गधे जैसा कर्मरूप फल ढोता होगा। सपने में किसी जन्म का हाथ, किसी जन्म का पाँव, किसी जन्म की आँख, किसी जन्म की नाक, किसी जन्म का मन, किसी जन्म की बुद्धि एक साथ होने से उसके सपने में भी तारतम्यता नहीं होती। छः घण्टे के अन्दर ही कभी राजस तो कभी तामस सपने आते रहेंगे। सपने में कभी भी उसकी रोटी पकती नहीं होगी। वह कर्म में आसक्त पुरुष

शरीर छोड़कर इसी लोक में अपने ही पुत्रों का अथवा हित–मित्रों का या जिसका ऋण खाया हुआ रहता है उसका नौकर बनकर पशु जैसा कर्म करता है। धर्मग्रन्थों में ऐसी हजारों कथायें हैं, जिन्हें आप स्वाध्याय करेंगे तो महाभारत, वाल्मीकि रामायण, अठारहों पुराणों में पायेंगे ही पायेंगे।

(रजसि प्रलयं गत्वा.....) इसे दूसरे अर्थों में देखें– विषयी माता–पिता, भाई–बान्धव ही रजोगुण हैं। इनका स्मरण करते हुए प्राण छोड़ने पर मानुषलोकों की प्राप्ति होती है जहाँ राजस कर्मों की प्रधानता होती है वहाँ करते–करते मर–मर जाते हैं लेकिन भले ही पेट भर जाता हो पर शान्ति नहीं मिलती, परिणाम में श्रम ही हाथ लगता है। दिन–रात हाय–हाय मची रहती है और सुख की नींद भी नहीं आती। सभी स्वार्थी होते हैं, सभी अपने स्वार्थ के लिए ही जीते हैं। दस दिन समता रहती है तो बीस दिन परस्पर में विषमता रहती है। जिनका कर्म ही भगवान होता है, कर्म ही भोजन–छाजन होता है, कर्म ही वस्त्र और मकान होता है उनकी स्मृति कर्ममय ही बनी रहती है। पुत्र चाहता है माता–पिता हमारे अनुसार चलें, माता–पिता चाहते हैं कि पुत्र हमारे कहे अनुसार चले, पत्नी चाहती है पति हमारे अनुसार चले, पति चाहता है पत्नी हमारे कहे अनुसार चले। परस्पर में मित्र भी एक–दूसरे को अपने अनुसार चलाना चाहते हैं। भाई–बान्धव की भी यही कहानी है। इसका तात्पर्य है कि ये सब राजसी पुरुष हैं जो पूर्व के जन्मों में एक–दूसरे का छीना–झपटी करके खाये–पीये हुए हैं, वही परस्पर में ऋण पूरा करने के लिए एक परिवार में माता–पिता, पुत्र–पुत्री, भाई–बहन आदि बने हुए हैं। ऋण जैसे–जैसे पूरा होता जाता है, वैसे–वैसे एक दूसरे का साथ छोड़ते जाते हैं।

एक बेटे को देखा कि माता–पिता से अलग होने लगा। जब उसका बँटवारा नहीं कर रहे थे माता–पिता तो उसने न्यायालय का आश्रय लिया। अंततोगत्वा उसकी विजय हो गयी, पुलिस ने आकर बँटवारा करा दिया। पिता ने पूछा– यह क्या है महाराज! महाराज ने कहा– वह पूर्वजन्म में जितना ऋण खाया था आपका उसे पूरा कर दिया था, बचपन से अबतक आपकी आज्ञानुसार सेवा–शुश्रूषा करते हुए। अब आपका ऋण तो समाप्त हो गया लेकिन उसका ऋण (कर्ज) तो आप भी खाये थे न! अतः अपना कर्ज लेकर अलग हो गया। यही तो मानुषलोक है। जो मन से चले वह मानुषलोक है। अब आपका कर्तव्य है कि इस रहस्य को जानकर आप उससे उदासीन हो जाएँ, खुशी की तो बात है कि आप कर्ज से मुक्त हो गये। अतः अब भगवान के नामजप में, उनके रूप के ध्यान में एवं स्वाध्याय–सत्संग में मन लगावें।

रजोगुण की उत्पत्तिकाल में प्राण छोड़कर गया हुआ पुरुष मनुष्य तो बनता है लेकिन मनुष्यों की उन श्रेणियों में जन्म लेता है जहाँ कर्म तो विशेष करना पड़ता है लेकिन फल उसका बहुत कम प्राप्त होता है। कर्म को पकड़कर उसके द्वारा प्राप्त फल को भी पकड़ना चाहता है लेकिन फल तो पकड़ में आता ही नहीं, इसलिए वह दैव को अर्थात् अपने भाग्य को ही कोसता रहता है। कभी–कभी तो अपने भाग्य को धिक्कारता–धिक्कारता इतनी मूढ़ता को प्राप्त हो जाता है कि सोचता है कि मेरे से तो वे चोर–बदमाश अच्छे हैं, जो चोरी, बदमाशी करने पर भी सुखी हैं। अतः चलो मैं भी अब वही कर्म करता हूँ और ऐसा सोचकर उनकी मण्डली में

सम्मिलित हो जाता है। फिर तो क्या, चोरी करना, हत्या करना, सताना, छीना–झपटी करना ही उसका कर्म बन जाता है। जिसका परिणाम होता है कि किसी को मारता हुआ, कभी स्वयं मार खाता हुआ दण्डाधिकारियों द्वारा आजीवन कारागार में बन्द कर दिया जाता है, जहाँ वह आहें भरता हुआ अपने वैरियों से बदला लेने की प्रतीक्षा करता रहता है अथवा वह कर्मासक्त पुरुष वनप्रदेश में रहनेवाले उनलोगों के घरों में जन्म लेता है जहाँ विरासत में कुछ भी प्राप्त नहीं रहता बल्कि बचपन से ही वनप्राणियों का वधकर उन्हीं का मांस खाकर जीवनयापन करना होता है, जहाँ दुःख पर दुःख ही प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, कोई–कोई कर्मासक्त पुरुष उन घरों में जन्म लेता है जहाँ दूसरे के घरों में अधमकर्म ही करना पड़ता है तभी दो रोटी प्राप्त होती है। कहाँतक उन राजस कर्मियों की बात की जाय– इसलोक में मनुष्य जाति के अन्तर्गत ही बहुत सी जातियाँ हैं उन जातियों के अन्तर्गत नानाप्रकार के उत्तम, मध्यम एवं अधम तथा अधम से भी अधम कर्म करने की व्यवस्था बनी हुई है। पेट कैसे भरता है सबका, यह तो सभी जानते हैं। अब तो प्रायः सभी कहते हैं कि हम सत्कर्म करेंगे तो पेट ही नहीं भरेगा। इसप्रकार जहाँ कर्म करते–करते कुछ खाने को तो मिल जाता है लेकिन भरपेट भोजन नहीं मिलने से क्षुधा नहीं मिटती उसी को तो मृत्युलोक कहते हैं जहाँ जीते रहने की कामना करते हैं लेकिन मरते ही रहते हैं, हर पल मरते ही रहते हैं, सुखमय जीवन जी ही नहीं पाते।

(रजसि प्रलयं गत्वा.....) इस मंत्र में 'कर्मसङ्गिषु जायते'– पद आया हुआ है, जिसका पाठान्तर होगा– 'कर्मयोनिषु जायते' अर्थात् राजसी पुरुष पुनः कर्मयोनि में ही जन्म लेते हैं यानी जहाँ सब कर्म में ही लगे रहते हैं वहाँ जन्म लेते हैं, इसप्रकार के मनुष्यों के घर में कर्म करते–करते ही पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

(तथा प्रलीनस्तमसि.....) सदा आलस–प्रमाद एवं नींद में रहनेवाले एक पुरुष ने स्वप्न देखा कि वह कुत्ता बनकर किसी मालिक की पहरेदारी कर रहा है। समय पर उसे रोटी न मिलने पर अति पीड़ा हो रही है, तब वह मैला खाने लगता है। मैला खाते–खाते ही उसकी नींद खुल जाती है और अपने–आप से घृणा की अवस्था में संत के पास पहुँचकर पूछता है कि हे प्रभु! मैं सपने में कुत्ता क्यों बन गया? संत ने कहा कुत्ते से विशेष प्रेम है क्या तुम्हारे को? उसने कहा कि जी! उसे मैं अपने साथ खिलाता हूँ, अपने साथ सुलाता हूँ और जब घूमने निकलता हूँ तो उसी के साथ घूमता हूँ। इस समय संसार में मुझे मात्र दो से ही प्रेम है– एक नींद से दूसरा कुत्ते से। संत ने कहा कि यदि तुम्हें चोट न लगे तो सत्य बात बताऊँ? उसने कहा कि बतायें महाराज! मैं तो कुत्ता बनकर मैला खा रहा था, अब इससे बड़ी चोट क्या होगी? संत ने कहा सुनो– एक महीने के अन्दर तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी और सोये–सोये जो अपने बच्चों की कमाई खा रहे हो तो मरने के बाद उन्हीं के यहाँ कुत्ता बनकर पहरेदारी करोगे।

अवधेशानन्द ने कहा– मैं रहता तो कुत्ते का सपना देखनेवाले से कहता कि सिद्धि मिलेगी, क्योंकि संत से पूछने आये हो, इसका फल कहाँ जायेगा? महाराज ने कहा– वह संत के पास संतभाव से नहीं गया था। वह तो इतना ही जानता था कि इनके पास सपने की बात जानने की सिद्धि है। अतः उसे संत दर्शन का फल उतना नहीं मिलेगा। यदि संत के पास कोई

हस्तरेखा दिखाने गया है या जन्मकुण्डली दिखा रहा है तो वह उन्हें अच्छा ज्योतिषी मान रहा है न कि संत। जबतक संत को संत के रूप में न देखा जाय तबतक प्रारब्ध में बदलाव नहीं आता।

(तथा प्रलीनस्तमसि.....) तमोगुण में आसक्त पुरुष प्राण छोड़ने के उपरान्त मूढ़ योनियों को प्राप्त हो जाता है। स्पष्ट है कि तामस कर्म करनेवाला तामसयोनि को प्राप्त कर जाता है अर्थात् बकरा काटनेवाला बकरा बन जाता है, बन्दर नचानेवाला बन्दर, सूअर नचानेवाला सूअर, शेर, हाथी, ऊँट से आजीविका चलानेवाला शेर, हाथी, ऊँट बन जाता है, सर्प का वध करनेवाला, सर्प नचानेवाला, सर्प बन जाता है, मछुवारा मछली बन जाता है, दूसरे की आजीविका का हरण करनेवाला (चुरानेवाला) कुत्ता, बिल्ली एवं चूहा बन जाता है, कर्ज लेकर न देनेवाला गधा, खच्चर, घोड़ा बनकर बोझ ढो–ढोकर कर्ज उतारता रहता है, कुत्ता बनकर पहरेदारी करता है, बैल बनकर हल जोतता है इत्यादि इत्यादि।

अभी एक बहू ने कहा– मेरे ससुर सपने में कह रहे थे कि मैं साँप बन गया हूँ, कुछ दिन बाद सचमुच में एक साँप घर में घूम रहा था। उसने पूछा– यह क्या? महाराज ने कहा– सपने में जो उन्होंने कहा है उसका वे प्रमाण देने आये हुए हैं। उसने कहा– फिर दिखाई दें यहाँ घूमते हुए तो क्या करूँ? तो महाराज ने कहा– मन से उन्हें प्रणाम करके कहो कि भले ही आप साँप बने हुए हैं लेकिन सर्परूप से तो डर लग रहा है, इसलिए आप कहीं अन्यत्र चले जायें या आप बतायें कि आपका उद्धार कैसे होगा? इसप्रकार कोई क्या जानता है कि हमारे घर में जो पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे हैं, वे कौन हैं? कहीं हमारे दादा–दादी, परदादा–परदादी तो नहीं हैं या कोई वैरी ही तो सर्प बनकर बदला लेने नहीं आ गया है?

कहाँ तक कहा जाय– प्राणियों की तो बात ही छोड़ें– एक बार एक किसान ने बताया कि आज सपने में मेरे पास दो गायें आयीं। एक सफेद दुधारू थी तथा दूसरी गाय लाल थी जिसके पास दूध नहीं था। महाराज ने कहा– आज आपका ट्रैक्टर आनेवाला है न! वह शुभ है, उससे आपका भला ही होगा लेकिन उसके साथ जो छोटी कोई गाड़ी आयेगी वह आपके लिए घातक होगी। शाम हुई, ट्रैक्टर के साथ एक पुरानी मोटरसाईकिल लायी गयी। महाराज ने कहा– यह मोटरसाईकिल अभी आप बेच दें। उन्होंने कहा– अब आ गयी तो रहने देते हैं इससे विशेष क्या हानि होगी? कुछ दिनों के बाद उसी मोटरसाईकिल से किसी को गहरी चोट आ गयी, उस क्षति–पूर्ति के लिए पैसा भी देना पड़ा, गाड़ी थाने में बहुत दिनों तक पड़ी रही। अन्ततोगत्वा वे इतने परेशान हो गए कि उसे जल्दी से जल्दी हटाना पड़ा। इसप्रकार अपना तामस संस्कार बदला लेने के लिए वाहन बनकर, वस्त्र बनकर, मकान बनकर भी आ जाता है। जैसा कि आप सब जानते ही हैं– अर्जुन से कुपित एक सर्प बाण बनकर कर्ण के तरकश में आ गया था। कुछ तामस मनुष्य ही भूत–प्रेत बनकर दुःख भोगते रहते हैं। तंत्र की उपासना करनेवाले तो लगभग सभी भूत–प्रेत, यक्ष–राक्षस के रूप में ही जन्म लेते हैं।

(कर्मणः सुकृतस्याहुः.....) यहाँ तक निर्णय हो गया कि सात्त्विक कर्मों का सात्त्विक

एवं निर्मल फल, राजस कर्मों का फल दुःखमय तथा तामस कर्मों का अज्ञान ही फल मिलता है। यही नहीं, यह भी सिद्ध हो गया कि पुण्य कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है, राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है।

साधकों से मानो भगवान कह रहे हैं कि साधकों को तो न सात्त्विक कर्म करना है, न राजस कर्म और न ही तामस कर्म बल्कि उन्हें तो ब्रह्मकर्म करना है, भले ही वह सात्त्विक पुरुषों को अच्छा लगे, राजस पुरुषों को समझ में न आए तथा तामस पुरुषों को बुरा ही लगे। मंत्र संकेत कर रहा है कि साधक को तो न सात्त्विक फल चाहिए, न राजस और न तामस, उसे तो भगवत् फल चाहिए। हाँ, लेकिन कर्म के स्वरूप को तथा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले फल को अच्छीप्रकार जान लेना चाहिए ताकि वह अपने सामने आये हुए कर्म और कर्मफल के विषय में निर्णय कर सके कि कौन कर्म एवं कर्मफल त्याग करने योग्य है तथा कौन कर्म एवं कर्मफल ग्रहण करने योग्य है तथा किस पुरुष से कौन कर्म हो रहा है। यदि पुरुष सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी है तो उससे उदासीन रहना है और चौथा पुरुष है जो भगवद्भक्त है उसको बाहर से स्वीकार करना है। यह तो न्याय ही है कि जबतक भले–बुरे की पहचान नहीं हो जाती तबतक उसे स्वीकार करनेवाला मूर्ख ही कहा जाता है। इस मृत्युलोक में सबदूर (सर्वत्र) तो ये ही तीन पुरुष हैं जो अपने दृष्टिपथ में आते रहते हैं तथा इनका कर्म भी अपने को दिखाई पड़ता रहता है। विष को तथा उसके कर्म, मृत्यु को जान–पहचान लेने से उसे कोई स्वीकार करता ही नहीं, उसे वही स्वीकार करता है जिसे मरना है। वही बात यहाँ है, साधकों के पास भगवान वह दिव्य आँख दे रहे हैं जिससे वे भले–बुरे की पहचान कर सकें। प्रायः साधक जगत में मौनी क्यों नहीं हो पाता? क्योंकि वह पहचानने का यत्न ही नहीं करता कि कौन कैसा पुरुष है। इतना ही नहीं, अपने पास पूर्वजन्म के कर्मों का भी कौन–कौन फल प्राप्त होता है जिसे त्याग दिया जाए यह भी देखना चाहिए।

आखिर भक्तों से उनके स्वजनों ने प्रथमावस्था में विरोध क्यों किया, वह इसीलिए न कि भक्तों ने जब पहचान लिया कि ये मेरे राजस एवं तामस कर्मों के फल हैं, तो उनसे उदासीन हो गये और जब उदासीन हो गये तो स्वजनों ने जान लिया कि जब यह हमसब के काम आ ही नहीं रहे हैं तो इनकी आवश्यकता क्या है। यदि यह भगवान को ही अपना सर्वस्व मानते हैं तो जायें भगवान के पास, जायें जंगल में, फिर यहाँ दंगल में क्यों रहते हैं? सोचते हैं कि हमारे कहे अनुसार इन्हें चलना नहीं है, उलटे विरोध करना है, उपदेश देना है तो फिर इससे तो यही अच्छा है कि ये अपना रास्ता नापें। ध्रुव, प्रह्लाद, भगवती मीरा, शबरी, तुलसीदासजी आदि कौन भगवद्भक्त नहीं सताये गये स्वजनों से, संसार के लोगों से। आत्मदेव और गोकर्ण ने धुंधुकारी को इसी से त्याग दिया कि यह पुत्र एवं भाई के रूप में अपना तामस कर्म का फल है। शादी–शुदा साधकों ने धर्मपत्नी एवं बाल–बच्चों को राजस कर्म का फल समझकर त्याग दिया, उन्होंने कुलगुरु, पुरोहितों को अपने सात्त्विक कर्म का फल समझकर त्याग दिया और अपने इष्टफल सद्गुरु को स्वीकार कर लिया तथा उनके द्वारा ब्रह्मकर्म को प्राप्तकर ब्रह्मपद ही प्राप्त कर लिया।

जो आत्मजिज्ञासु होते हैं उन्होंने अपने वैरियों के द्वारा होते हुए उत्पात को भी अपना तामस कर्मफल समझकर प्रेम से भोगा है। इतना ही नहीं, वनप्रदेश में किसी भी हिंसक प्राणी से वे डरे नहीं। उन्होंने जान लिया था कि अपना तामसफल इनसे भी तो मिल सकता है। यदि तामसफल होगा ही नहीं तो ये हमारा क्या बिगाड़ लेंगे। उसीप्रकार साधक दिव्य व्यंजनों को, दिव्य वस्त्रों को, दिव्य महल को अपना सात्त्विकफल समझकर त्याग देते हैं। मानवमात्र को अपने राजसकर्म का फल समझकर त्यागते हैं और अज्ञानियों को तथा तामस आहार–व्यवहार को अपना तामस कर्मफल समझकर त्यागते हैं। इसीप्रकार वे सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रधान ग्रन्थों को भी अपना सात्त्विक, राजस और तामसफल समझकर त्याग देते हैं तथा ब्रह्मग्रन्थ गीता, रामायण, योगवासिष्ठ, महाभारत एवं उपनिषद् आदि को स्वीकार कर लेते हैं।

ॐ मासपारायण, तेईसवाँ विश्राम ॐ

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

वे जानते हैं कि सतोगुण से ज्ञान–ध्यान की प्राप्ति होती है, रजोगुण में आसक्त होने से लोभ तथा तमोगुण से मोह और अज्ञान ही उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, वे यह भी समझते हैं कि सत्त्व में स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं एवं राजस पुरुष मृत्युलोक में तथा तमोगुण में स्थित पुरुष अति मूढ़योनियों को प्राप्त करते हैं।

(सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं.....) वे समझ जाते हैं कि सतोगुणी पुरुषों के सम्पर्क में आने पर उनसे देवकर्म प्रकट होगा, जिसका प्रभाव अपने तन, मन, वचन एवं हृदय पर पड़ सकता है। सात्त्विक पुरुषों के द्वारा दया, करुणा, विनम्रता, शीलता आदि गुण प्रकट होंगे ही होंगे। अतः उनके संसर्ग में आने पर अपने में भी ये सात्त्विक गुण प्रकट होकर अपने साधनपथ में बाधा बन सकते हैं। सभी साधक देख ही रहे हैं कि घर से तो वे अकेले चले लेकिन कुछ महीने में ही वे अपने स्वभाव एवं गुणवाले को साथी बना बैठे, जबकि साधनपथ में अपना एक भी साथी नहीं होना चाहिए, भले ही वह सात्त्विक गुणवाला है; क्योंकि सिद्धान्त में कहीं न कहीं पृथकत्व रहेगा ही रहेगा। इसलिए सिद्धान्त में संकरता आने की सम्भावना पूरी बनी रहती है। माना कि सतोगुणी पुरुष से, सतोगुणी शास्त्र से बुद्धि में विवेक प्रकट होता है, कुछ विशेष जानकारी हो जाती है लेकिन आत्मजिज्ञासु को तो विशेष ज्ञान की आवश्यकता है नहीं न! उसे तो निर्मल भक्ति, निर्मल वैराग्य चाहिए, जिससे वह कालान्तर में अपने स्वरूप में स्थित हो सके। इस चौदहवें अध्याय की साधना सतोगुण में प्रतिष्ठित करने के लिए नहीं है बल्कि स्व में, अपने–आप में प्रतिष्ठित करने के लिए है। अतः इसमें शास्त्रीय जानकारी की आवश्यकता तो है नहीं! इसमें तो एकमात्र प्रयोग है और यह प्रयोग सम्पूर्ण शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञानों के त्याग के बिना

सम्पन्न हो नहीं सकेगा। साधक को सतोगुणी शक्ति तो चाहिए लेकिन सतोगुणी ज्ञान नहीं चाहिए और वह सतोगुणी शक्ति तो तप और त्याग से ही आती है। जिस शक्ति एवं तप–त्याग के द्वारा तीनों गुणों को त्यागने में सफलता मिलती है।

(रजसो लोभ एव च.....) राजसी पुरुषों के तन, मन, वचन एवं हृदय से लोभ की ही धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। अतः उनके संसर्ग में अपने तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों से भी लोभ की धारा बह सकती है, इसलिए उनसे बचकर रहना चाहिए। एक साधक ने सन् १९८४ में कहा था कि महाराजजी! अब इस क्षेत्र एवं गाँव में हमलोग न आयें; क्योंकि यहाँ आने से हमारे परिवारवाले आते हैं, उनके संसर्ग में आने पर मोह उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना बन सकती है। मेरे तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों में इतना निर्मल वैराग्य नहीं प्रकट हो गया है कि उनके दुःख–सुख से प्रभावित होकर सुखी–दुःखी न हों। महाराज ने कहा– ठीक है, बात तुम्हारी पूरी सत्य है, अब यहाँ आना–जाना छोड़ दिया जाय।

(प्रमादमोहौ तमसो.....) तामसी पुरुष के तन, मन, वचन तथा इन्द्रियों से क्षुद्र अहंकार, प्रमाद, मोह और अज्ञान की धाराएँ बहती रहती हैं। जैसे बालक के सामने शास्त्रीय राग अलापें तो वह क्या समझेगा; क्योंकि उसके प्रत्येक अंग से ही अज्ञान बह रहा है। उसीप्रकार तामसी आहार–व्यवहारवाले पुरुष के संसर्ग में रहने से उसके द्वारा प्रतिपल प्रमाद प्रकट होते रहने से अपने मन में भी खिन्नता आ सकती है। उसके द्वारा बार–बार अज्ञान की बात करने पर मन में क्षोभ भी आ सकता है। इसलिए मानो भगवान का संकेत है कि सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी पुरुषों को आप भगवद्भक्त बनाने का प्रयत्न न करें; क्योंकि भैंस को गाय और कुत्ते को हिरण तो नहीं बनाया जा सकता। आप रक्त को कैसे बदल सकते हैं, क्योंकि उसका स्रोत गर्भ के गर्भ से है, वैसे ही सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियाँ तो ये पुरुष विरासत में प्राप्त किये रहते हैं। इसलिए उनके चक्कर में आकर कहीं आप ही न फँस जायें, अतः सावधान रहें। ऐसा भगवान इसलिए कह रहे हैं कि उन्होंने कौरवों को समझाने–बुझाने का भरसक प्रयास किया लेकिन उनका समझना तो दूर बल्कि भगवान को ही अपने घेरे में लेने का प्रयत्न कर दिये। यह बात अलग है कि उनकी नाक ऐसी कटी कि वे सब नककटवा हो गये। नककटवों को लाज कहाँ आती है।

(ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था.....) अब प्रभु ये बताना चाहते हैं कि सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी पुरूष प्राण छोड़कर किस बल से किस लोक को प्राप्त करते हैं– सतोगुण में स्थित पुरुष प्राण छोड़कर अपने पुण्य कर्मों के बल से देवलोकों को चला जाता है। देवलोकों को ही यहाँ ऊर्ध्वलोक कहा गया है। पितरलोक, इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, सिद्धलोक, शिवलोक और ब्रह्मालोक आदि ही ऊर्ध्वलोक हैं। जहाँ संकल्प से ही सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी होती हों वही ऊर्ध्वलोक अर्थात् देवलोक कहा जाता है। सतोगुणी पुरुष जो सकामी हैं वे इन्हीं दिव्य लोकों में जाने के लिए योग, यज्ञ, दान एवं व्रत तथा तप किया करते हैं और उन ऊर्ध्वलोकों में अपने पुण्य फलों को भोगकर पुनः अधोलोक में चले आते हैं।

(मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः.....) राजस पुरुष फल की कामना से यज्ञ, दान, तप, करते हैं तथा माता, पिता, अतिथि एवं गुरुजनों को भी देवता मानकर स्वर्ग की कामना से उपासना कर स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि गृहस्थाश्रम में माता, पिता, गुरु, अतिथि तथा दरवाजे पर आये हुए पशु–पक्षी आदि की पूजा ही पंच महायज्ञादि हैं। गृहस्थाश्रम में निष्काम साधकों द्वारा जो माता–पिता और गुरुजनों की सेवा की जाती है, वह एकमात्र गुरु के पास जाने के लिए ही की जाती है क्योंकि उनका ऊर्ध्वलोक तो एकमात्र सद्गुरू है। जो राजस पुरुष हैं, माँ को देवता समझकर उपासना नहीं करते, बल्कि माँ को जीव समझकर उपासना करते हैं, पिता को जीव समझकर उपासना करते हैं, अतः जीवभाव से उपासना करने से जीवत्व उनमें रह ही जाता है। यही तो कारण है कि वे मातृलोक एवं पितृलोक से अतिक्रमण नहीं कर पाते। स्त्रीलोक से जो आगे नहीं बढ़ पाते तो यही सिद्ध होता है कि स्त्रीलोक की उपासना उन्होंने स्त्रीभाव से की है, लक्ष्मीभाव से नहीं की। ये क्रमशः ऐसे देवता हैं जो उत्तरोत्तर अपने से आगेवाले देवता के पास पहुँचाते जाते हैं।

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः'– एक चौथा पुरुष है, गीता अध्याय आठ में उसका मौलिक स्वरूप दिया गया है और इस मंत्र में भी उस पुरूष का स्वरूप छिपा हुआ है। (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था) 'सत्त्व' पद के माध्यम से एक और भी अर्थ देखें– किसी साधक के द्वारा सत्त्व भाव में स्थित होकर अर्थात् माता–पिता, भाई–बान्धव ये सब भगवान के अंग हैं, ऐसा समझकर उनकी सेवा की जाय तो उन्हीं अंगों की सेवा करने से वह उनके मूल अंगी के पास, यानी ब्रह्म के पास चला जाता है। माँ अपनी जगह रह जाती है, पिता अपनी जगह रह जाता है, गुरु अपनी जगह रह जाता है, कुलगुरु, अतिथि अपनी जगह रह जाते हैं और वह आगे बढ़ जाता है। इतना आगे बढ़ जाता है कि वे ही लोग उस संन्यासी की उपासना करने लग जाते हैं, पूजा करने लग जाते हैं। अतः वह संन्यासी गुरु ही ब्रह्मलोक है जिसके चरणों की दासी लक्ष्मी होती है अर्थात् ऐश्वर्य होता है। वहाँ वह निष्कामी साधक ही साक्षात् विष्णु है, जो सर्पों की शय्या पर लेटा रहता है अर्थात् संशय, शोक, मोह आदि का उसने बिछावन बना लिया है अथवा संशय, शोक, मोह से ग्रसित जीवों के ही बीच रहता है, वही उसका आसन है। वे जहाँ बिठा देते हैं वह वहाँ बैठ जाता है, जहाँ सुला देते हैं वहाँ सो जाता है, जैसे रखते हैं वैसे ही रह लेता है, उन संशयरूप साँपों से डरता नहीं है। 'उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' जब वह ब्रह्म में गमन कर जाता है तो फिर वह मृत्युलोक को नहीं आ सकता, वहाँ पर आता है तो बुलाए जाने से आता है। यदि राम बनकर आता है, कृष्ण बनकर आता है तो सारी की सारी अधः शक्तियाँ उसकी ऊर्ध्वशक्ति में किसीप्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं। बाणासुर, जरासंध, कंस, शिशुपाल इत्यादि सारी की सारी अधः योनियाँ अर्थात् तामसी शक्तियाँ मिलकर उस ऊर्ध्वलोक में वास करनेवाले संन्यासी भगवान श्रीकृष्ण का कुछ भी बिगाड़ न सकीं। सामना तो किया उनलोगों ने लेकिन पराजित हुए।

एक चौथा लोक है जिसे भगवान लोक की संज्ञा नहीं देते। इस मनुष्यलोक में सद्गुरु ही ब्रह्मलोक है और उसके पास जो साधक रहते हैं, वे ही उस लोक के वासी कहे जाते हैं। अब

के पूर्व के बहुत से मंत्रों से स्पष्ट हो गया कि सतोगुण भी रजोगुण एवं तमोगुण जैसा ही बाँधता है। यदि सतोगुण के आवेश में कोई साधक आत्मज्ञानी गुरु के पास आ जाता है तो उसी को महति कृपा मानी जाती है। उस साधक के लिए वही वैकुण्ठ लोक है। यदि सचमुच में वहाँ पर आकर निष्कामी हो गया, ध्यान और समाधि में आसक्त नहीं हुआ, तो उस समय वही भगवान विष्णु हो जाता है और उसके सद्गुरु तो निर्गुण–निराकार ब्रह्म हैं हीं। पुराणों में विष्णु भगवान को ही निष्कामी कहा गया है। उस ब्रह्मलोक में (आत्मज्ञानी के लोक में) उनकी उपासना ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों करते हैं। इस संकेत का आशय है कि सद्गुरु के पास जो निष्कामी साधक रहते हैं वे ही भगवान विष्णु हैं; वहाँ जो सकामी साधक रहते हैं, वे ही ब्रह्मा हैं तथा जो वहाँ तंत्रसिद्धि की कामना से आये हुए रहते हैं, वे ही तामस शिव हैं। इसे दूसरे अर्थों में समझें– जो कर्मकाण्डीय गुरु हैं, यज्ञादि के द्वारा देवलोक की उपासना करते एवं करवाते हैं, वे ही ब्रह्मा हैं। जो मध्यम पुरुष हैं, वे स्वर्ग की कामना से उन्हीं के पास जाते हैं तथा जो तांत्रिक संत हैं वे ही अघोर शिव हैं, श्मशानी शिव हैं, खप्परधारी शिव हैं। तामस साधक उनके यहाँ ही भेज दिये जाते हैं तथा जो निष्कामी साधक हैं वे ही विष्णु हैं जो ब्रह्मज्ञानी के पास चले जाते हैं।

(ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था.....) और भी सूक्ष्मतत्त्व पर ध्यान दें– भगवान में आसक्त हुआ निष्कामी पुरुष शरीर छोड़ने के उपरान्त वैदिक उपासनावाले परिवार में जन्म तो लेता है (जिसे भगवत् कुल कहा जाता है) किन्तु वहाँ उसे तबतक ही रखा जाता है जबतक कि उसके तन, मन, हृदय में प्रौढ़ावस्था नहीं आ जाती। भक्तिमय व्यवहार तो उसका बचपन से ही रहता है किन्तु बारह, सोलह से बीस–पच्चीस वर्ष की अवस्था होते–होते पूर्ण ब्रह्मजिज्ञासु होकर बिना शादी–विवाह किये ही (बिना गृहस्थाश्रम स्वीकार किये ही), वह ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास सदा–सर्वदा के लिए चला जाता है; क्योंकि उससे विशिष्टलोक तो कोई है ही नहीं।

(मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः.....) मध्यम साधक सिद्धि की कामना से साधना करते–करते बिना सिद्धि प्राप्त किये ही शरीर छोड़ देता है तो वह कर्मकाण्डी–देवोपासक परिवार में जन्म लेता है। वह भी बारह से पच्चीस वर्ष की अवस्था के बीच गोरखनाथ जैसे किसी सिद्ध संत के पास पहुँच जाता है और वहाँ नानाप्रकार के मन्त्र तथा योग धारणाओं के द्वारा सिद्ध हो जाता है। यही बात तामस साधक की भी समझनी चाहिये। उपरोक्त क्रमानुसार ही तंत्रसिद्धि को पूरा करने के लिए वह किसी तंत्रसिद्ध संत के पास पहुँचा दिया जाता है।

ये तीनों प्रकार के साधक अपवाद ही पाये जाते हैं। प्रायः सभी मनुष्य माता–पिता और बड़े–बूढ़ों की उपासना करने से पितृलोक तक ही रह जाते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि इन्होंने माता–पिता, बड़े–बूढ़ों की उपासना जीवभाव से की है।

(ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था.....) इस मंत्र का एक और अर्थ भी देखें– जो चौथा पुरुष है जो सत्त्व में ही स्थित रहते हुए शरीर को छोड़कर जाता है, तो पूर्वजन्म की स्मृति के अनुसार बिना किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास गये ही, बचपनावस्था से ही आत्मबोध से सम्पन्न परिव्राजक–संन्यासी हो जाता है। इस जन्म को जन्म नहीं कहते, ये साधक अपवाद में पाये जाते हैं।

(ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था.....) यदि कोई साधक ब्रह्मलोकस्वरूप सद्गुरु के पास चला गया; किन्तु वहाँ पर जाकर वह राजस साधक जैसा व्यवहार करेगा, सकामी हो जायेगा, तो वहीं पर वह मध्यम साधक हो जायेगा; यदि अधम साधक जैसा व्यवहार करेगा, तो अधम साधक की श्रेणी में पहुँच जायेगा। इस न्याय से जिन साधकों ने संन्यास ले लिया है, यदि उन्हें माता–पिता, भाई–बान्धवों, हित–मित्रों के पास जाने–आने का मन करता है अथवा उन्हीं को बुलाने का मन कर जाता है, तो सद्गुरु आश्रम में उनसे कोई न कोई भूल–चूक हो गयी है, जिससे कि ब्रह्मलोक में रहते हुए भी उनके मन की प्रतिष्ठा मृत्युलोक में हो रही है। पिता का लोक ही ब्रह्मा का लोक है, जहाँ सृष्टि का सृजन होता है। यदि वहाँ जाने–आने का मन कर रहा है तो यह सिद्ध हो गया कि वे परिवार की संस्कृति को लेकर गुरुलोक (ब्रह्मलोक) में रहते थे; जबकि वहाँ गुरुलोक की संस्कृति को ही लेकर रहना चाहिये। ससुराल में जाकर किसी भी बच्ची का गोत्र एवं जाति बदल जाती है। इस न्याय से गुरु आश्रम में जाते ही उनकी जाति भी ब्रह्म की ही जाति हो जाती है, अतः वैसा ही व्यवहार भी करना चाहिये। ऐसा व्यवहार नहीं होने पर पतन होना अवश्यंभावी है। सतोगुणी पुरुष गुरु आश्रम में प्रमादवश एक वाक्य भी दोषदर्शन से युक्त कह देता है तो घातक परिणाम होने की सम्भावना रहती है।

एक धनवान भक्त गृहस्थाश्रम से आकर अपने गुरुजी के पास तन, मन, धन, से सेवा करते थे; किन्तु वे गरीब होते गये। एक दिन उन्होंने कहा– 'गुरुदेव के पास सब तो अमीर हो गये लेकिन मैं गरीब हो गया।' जबकि महाराज ने स्वयं देखा है कि वृद्धावस्था में उनको सुपुत्र हुआ था। उन्होंने संत की उस कृपा को नहीं देखा। महाराज ने लोगों से कहा कि इनको अपने गुरुदेव में कोई न कोई अवश्य दोषदर्शन हुआ होगा, तभी वृद्धावस्था में पुत्र से पुत्रवान तो हुए किन्तु धन से धनहीन हो गये। दो दिन के उपरान्त उन्होंने अपनी मित्र–मण्डली में कहा– 'अब महात्माजी पहलेवाले महात्माजी नहीं रहे। पहले नाक से सूँघकर ये बता देते थे कि अमुक रास्ते से कोई आश्रम में प्रवेश कर रहा है लेकिन अब कोई भी चाहे जब आ सकता है; पहलेवाली बात अब इनमें नहीं रही।' महाराज ने कहा– बस, बस, बस! इनके लिए अब महात्माजी, महात्माजी नहीं रहे, इसीलिए परम लाभ नहीं मिल रहा है, जो संत एवं सद्गुरु के दर्शनमात्र से ही मिलना चाहिये।

ब्रह्मलोक यानी गुरुलोक एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जहाँ आप जो कुछ भी सोचेंगे वह हो जायेगा। अतः वहाँ चिन्तन, मनन के द्वारा सजग रहना पड़ता है अन्यथा उनमें एक बार दोषदर्शन हुआ कि हजार बार दोषदर्शन की सम्भावना बढ़ जायेगी। यदि आप वहाँ पर सम्पूर्णता के साथ द्रष्टा होकर आज्ञा में रहते हैं, तब तो वह आपका सम्पूर्ण कर्ता बन जायेगा। वहाँ पाप वृद्धि भी अधिक हो जाती है और पुण्य की वृद्धि भी एक क्षण में ही बहुत अधिक हो जाती है। वहाँ आप एकगुना विलासी बनके रहते हैं तो हजारगुना विलासी बन जायेंगे और एक घण्टा त्यागी बनकर रहते हैं, जप–तप के साथ रहते हैं, तो कुछ ही दिनों में आपको अखण्डत्यागी एवं अखण्डजापक बना देगा। कुछलोग कहते हैं कि घोड़े के पिछाड़ी और गुरु के अगाड़ी नहीं रहना चाहिये। ऐसा कहनेवाले अहंकारी होते हैं, पीछे चलना ही नहीं जानते तथा डरपोक भी होते हैं।

जो घोड़े की सेवा नहीं किये रहते हैं, वे ही ऐसा कहते हैं। जिनके पास घोड़ा नहीं रहता उनके लिए यह बात कही गयी है; क्योंकि जिसके पास घोड़ा है, उसे तो घोड़े के अगाड़ी–पिछाड़ी मालिश करनी ही पड़ेगी। यह तो वैसी ही बात हो गयी कि कोई गधा विद्यार्थी कहता है कि गुरु के सामने नहीं बैठना चाहिये। ऐसा कहनेवाला विद्यार्थी विद्याहीन ही रह जाता है। ऐसा कहकर वह सद्गुरु से बहुत दूर हो जाता है। वह नहीं चाहता है कि मेरे किसी भी व्यवहार में सद्गुरु का हस्तक्षेप हो। जबकि कहा गया है कि समाज से दूर–दूर रहना और सद्गुरु के अति निकट होते–होते उसकी आत्मा बन जाना। यदि कौसल्या, सुमित्रा जैसी माँ हो, वसिष्ठजी जैसा सद्गुरु हो, रामजी जैसा भाई हो, मन्दोदरी तथा तारा जैसी धर्मपत्नी हो, तो इनकी बात बिना विचारे ही माननी चाहिये। साधक सद्गुरु की वाणी की उपासना विशेष करता है, शरीर की उपासना बाद में करता है। वह उनके एक–एक वाक्य को शब्दब्रह्म मानकर उपासना करता है तो उसके लिए विशेष अर्थ निकलता रहता है। यदि सद्गुरु उसकी आलोचना कर रहा है तो उस सद्गुरु वाणी के उपासक के पास उसमें से उसके लिए दिव्य अर्थ निकल जायेगा। जब अन्तर–दृष्टि जागती है तो पता चलता है कि सद्गुरु ने ही क्या, किसी ने भी आक्षेप किया है तो मेरे हित के लिए ही किया है। अब तो गुरुलोक (ब्रह्मलोक) में जाकर चन्दा कर संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी ब्याज से खाते हैं। साधना हो तो हो कैसे? ब्याज से खाना तो गृहस्थों का धर्म है।

अबतक बहुत सी बातें हो गयी हैं। मोर्चे को तोड़ना है। घेरा है रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण का। भीतर में भी घेरा है बाहर में भी घेरा है। गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम और संन्यासाश्रम ये चार घेरे बनाकर सन्तों ने काम को घेर लिया है। जिसमें विशेष काम की मात्रा होगी सद्गुरु उस शिष्य को घर भेज देगा– जाओ शादी कर लो। वह आज्ञा से जायेगा– आज्ञा से गया वह घर में तो कर्मयोगी कहा जायेगा। पहले की आदि परम्परा रही है गुरुकुल में सद्गुरु कहते थे कि कौन घर में जाना चाहता है कौन संन्यास लेना चाहता है। जो घर में गया हुआ साधक है जिसने शादी कर ली है उसका काम फैल गया होता है। वैसे साधक को सहसा संन्यास नहीं देगा, क्योंकि उसके मन में घर समाया हुआ रहता है। उसके लिए व्यवस्था करेगा वह। क्या व्यवस्था करेगा? यही कि गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में भेजेगा। वहाँ घोर तप करायेगा, वहाँ वह पेंशन से भी खायेगा–पीयेगा, अतः वह वानप्रस्थी कहा जायेगा। कम से कम अपने पेंशन का तो खायेगा या घर से व्यवस्था कर खायेगा। पाप तो नहीं खा रहा है वह किसी का। वहाँ पर वह घोर जप, तप करेगा, जब घर से विशेष अनासक्ति हो जायेगी तब दोनों साधकों से कहेगा कि अब परस्पर में दोनों एक–दूसरे को भी छोड़ दो, भागो यहाँ से, संन्यासी के पास जाओ। वहाँ ब्रह्मचारी हो जाओ। वे भाग खड़े होंगे। जब धर्मपत्नी नहीं मानेगी तो उसे घर में भेज देगा और चलता बनेगा। सद्गुरु उसके लिए अपने आश्रम का निर्माण कर देगा अर्थात् अपने यहाँ बुला लेगा। दो मोर्चे तोड़ दिये। गृहस्थाश्रम एक मोर्चा है, उसको तोड़ने के लिए वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता होती है। वानप्रस्थाश्रम को तोड़ने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् गुरु आश्रम की आवश्यकता होती है। गुरु आश्रम पहुँच करके वानप्रस्थाश्रम को तोड़ दिया। अब वहाँ पर मैं आत्मा हूँ की सिद्धि प्राप्त हो गयी। उसके भीतर–बाहर से सोऽहं, सोऽहं

की अखण्ड वृत्ति चलने लगी– 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा', 'सोहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वाहमस्मि'। दिन–रात बारह दिन यदि अखण्ड रह जाय कि मैं आत्मा हूँ तो बारह दिन की एक अखण्ड समाधि कही जाती है। इसके उपरान्त कुछ माह या वर्षों में संकल्प सक्रिय हो जायेगा। बैठे–बैठे ही नहीं बल्कि चाहे जैसे भी याद कर रहा है कि मैं आत्मा हूँ, तो बारह दिन के बाद में अखण्ड समाधि कही जायेगी। यदि महीना दिन 'मैं आत्मा हूँ' अखण्ड याद रह गया तो एक महीने की समाधि कही जायेगी, उसीप्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते हुए साल–दो साल यह दिव्य भाव अखण्ड बना रहा तो महीनों एवं वर्षों की समाधि कही जायेगी। उसके बाद सिद्धियाँ आनी प्रारम्भ हो जाएँगी जिनसे उदासीन रहेगा तो अपने स्वरूप में अखण्ड स्थिति हो जायेगी और गुरु की आज्ञा से गुरु आश्रम को भी छोड़ देगा अर्थात् उस आश्रम के घेरे को भी तोड़ देगा। उसके उपरान्त इस ब्रह्माकाश में विचरण करने लगेगा वह आत्मज्ञानी। आकाश ही छत है जिसकी, पृथ्वी है बिछावन जिसका, दोनों हथेलियाँ हैं पात्र जिसकी, कौपीन है वस्त्र जिसका, ऐसा महात्मा बिरला पाया जाता है। इस जीवजगत में वही सगुण ब्रह्म कहा जाता है, वह साधकों का उद्धारक होता है, वही दर्शनीय एवं स्पर्शनीय हो जाता है और साधकों के लिए उसका व्यवहार अनुकरणीय हो जाता है।

डाक्टरजी (दुबई) ने कहा कि आश्रम के नाम से एक फैक्ट्री खोल देता हूँ। महाराज ने कहा कि यह तो हो ही नहीं सकेगा; क्योंकि जिसदिन आश्रम के नाम से कुछ भी हो जायेगा तो यह आश्रम नहीं रह पायेगा, यहाँ साधना नहीं हो पायेगी। भगवान वामन भी जब ब्रह्मचारीरूप में आये तो ब्रह्मचारियों के लिए, मधुकरी माँगकर खाने का ही सन्देशरूप उपदेश दिया। भगवान दत्तात्रेय, आद्यगुरु शंकराचार्य आदि ने भी ब्रह्मचारियों के व्यवहार को स्वयं प्रयोग करके दिखाया है। पुरातनकाल से अबतक ब्रह्मचारियों का वास रहा ब्रह्मलोक में किन्तु जीवन–जीने का ढंग रहा आकाशवृत्ति की तरह, अजगरवृत्ति, श्वानवृत्ति, खगवृत्ति और भिक्षावृत्ति की तरह। भगवान को भी जो श्रद्धा से भोग लगाता है, वही पाता है, जबकि वह सभी के हृदयरूप ऊर्ध्वलोक में बैठा हुआ है। जैसे भगवान सबके हृदय में साक्षीरूप से बैठा हुआ है, वैसे ही ब्रह्मचारी भी सबके बीच प्रवृत्ति का त्याग कर साक्षीरूप से रहता है, वही उसकी ब्रह्मलोक में स्थिति मानी जाती है।

(जघन्यगुणवृत्तिस्था.....) सात्त्विक एवं राजसी वृत्तिवालों के विपरीत जो आसुरी एवं राक्षसी वृत्तिवाले हैं, जघन्य अपराधी हैं, दिन–रात चोरी, डकैती, अपहरण एवं जीवों की हत्या करने में लगे हुए हैं, जो काम, क्रोध के ही उपासक हैं, कामपूर्ति के लिए बहन–बेटियों से भी बलात्कार करते हैं, लोभी इतने हैं कि माता–पिता की सम्पत्ति को भी चुरा लेते हैं, गुरु एवं सन्तों तथा ब्राह्मणों की सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं, इतना ही नहीं, वे क्षुद्रप्राणी गुरु एवं ब्राह्मण की स्त्री एवं कन्याओं से भी गमन कर बैठते हैं। कहाँ तक कहा जाय वे गुरु और ब्राह्मण, बालक तथा स्त्री तक की भी हत्या कर बैठते हैं। वैसे ही नीच पुरुष, शूकर, कूकर, कीड़े, मकोड़े, घोड़े, गधे, खच्चर आदि योनियों में बार–बार, जन्मते–मरते रहते हैं।

यदि इन उपरोक्त तीनों गुणों में साधक नहीं फँसता, तो उसे क्या फल मिलता है? प्रभु

इसपर प्रकाश डाल रहे हैं– प्रभु ने इस अध्याय के पूर्व में भी सर्वप्रथम इस दिव्य ज्ञान की महिमा गायी और अब समाप्ति के पूर्व भी इन निम्नलिखित दो मंत्रों से पुनः इसके माहात्म्य का गायन कर रहे हैं–

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

सम्पूर्ण प्राणियों के द्वारा भीतर एवं बाहर से भी होती हुई क्रियाओं को जो साधक सत्, रज, तम इन्हीं तीनों गुणों के द्वारा किया हुआ मान लेता है तब वह सहज में ही अपने द्रष्टारूप में स्थित हो जाता है और वह जैसे ही द्रष्टारूप होता है वैसे ही उसमें और ब्रह्म में अन्तर ही नहीं रहता। अतः इस जन्म, मृत्यु, जरा आदि दुःखों से अच्छीप्रकार मुक्त होकर अमृतमय हो जाता है।

एक समय में तो एक ही रहेगा या तो ब्रह्म या तो जीव, जैसे या तो कोई सोयेगा या जागेगा। जब जाग्रत् में शरीर सोने लगेगा तब वह द्रष्टा सपने में जागेगा और जब सपने में सोयेगा तब पुनः जाग्रदवस्था में जागेगा। द्रष्टा तो एक ही है, जबकि कर्ता तीन हैं और तीनों कर्ता द्रष्टा का ही आश्रय लेकर कर्ता कहला पाते हैं। आश्चर्य की बात है कि जाग्रदवस्था सतोगुण का धर्म है। इस सतोगुण के धर्म में रजोगुण अपना काम करता है, चाहे यह लोक हो चाहे स्वप्नलोक हो। जब तमोगुण इस शरीर को सुला देता है तो रजोगुण ही स्वप्नद्रष्टा की अध्यक्षता में सूक्ष्मशरीर के माध्यम से अपना काम करने लगता है और तमोगुण जब सूक्ष्मशरीर को सुलाता है तो रजोगुण ही जाग्रत् द्रष्टा की अध्यक्षता में स्थूलशरीर के द्वारा अपना सम्पूर्ण कर्म करता रहता है। यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिये कि रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण एक औपचारिक भाषा है। यदि इस भाषा को हटा दिया जाय तो कर्ता तो तीन प्रकार का सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रारब्ध ही है। सुषुप्ति की बात महाराज नहीं कर रहा है, इसलिए कि वहाँ पर सम्पूर्ण वासनायें मानो विश्राम कर रही होती हैं। दो बार वासनायें विश्राम की स्थिति में होती हैं– एक बार द्रष्टा जब ज्योतिर्मय समाधि में रहता है तथा दूसरी बार जब सतोगुणी एवं रजोगुणी वासनाएँ उसी में सिकुड़ सी जाती हैं अर्थात् निष्क्रिय सी हो जाती हैं, जिसे सुषुप्तावस्था कहते हैं। अन्तर इतना ही है कि जब द्रष्टा एकमात्र ज्योतिर्मय समाधि से लौटकर आता है (वहाँ द्रष्टा के लौटने की बात नहीं होती, बल्कि ज्योति ही उसमें विलीन हो जाती है, क्योंकि द्रष्टा कहीं आता–जाता नहीं है। द्रष्टारूप आत्मा में ही सत्, रज, तमरूप तीनों वासनाएँ बारी–बारी से प्रकट होती रहती हैं; किन्तु महाराज के पास सामान्य बुद्धिवालों को समझाने के लिए द्रष्टा के लिए ही आने–जानेवाली भाषा का प्रयोग करना पड़ रहा है) तो वह ऐसा अनुभव करता है कि मैं ही प्रकाश बन गया था, वहाँ मेरे अलावा कोई था ही नहीं। जब वह स्वप्नलोक से लौटकर आता है तो कहता है– मैं ही वहाँ कर्ता, कर्म, क्रिया बन गया था; किन्तु जब सुषुप्तिलोक से आता है तो एकमात्र इतना ही कहता है कि आज तो मैंने कुछ देखा ही नहीं;

इसलिए कि वहाँ एकमात्र वही (स्वयं द्रष्टा ही) रहता है।

इसको फिर दूसरी भाषा में समझने का प्रयत्न करें– आकाश मानो द्रष्टा की तरह है और अन्धकार, प्रकाश तथा बरसात ये ही तीन प्रकार के कर्ता हैं। बरसात होती रहती है, आकाश मानो देखता रहता है– यही रजोगुणी कर्ता है। इसके उपरान्त सूर्य द्वारा प्रकाश की बरसात होती रहती है अर्थात् प्रकाश बिखरता रहता है– यह सतोगुणी कर्ता है, फिर सूर्य के छिप जाने के उपरान्त पुनः अन्धकारमय बरसात प्रारम्भ हो जाती है; किन्तु इन तीनों ही प्रकार के कर्ताओं के द्वारा होते हुए कर्म को आकाश मानो साक्षी होकर देखता रहता है। वह कभी भी कर्तापन के भाव से लिपायमान नहीं होता। इसीकारण से वह आजतक अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। उसीप्रकार जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्तावस्थारूप तीन प्रकार के कर्मों के प्रकट होने पर भी, जब द्रष्टारूप आत्मा नहीं कहता कि मैं कर्ता हूँ, तब वह अपने ब्रह्मस्वरूप में ही भलीप्रकार प्रतिष्ठित माना जाता है।

(नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं.....) दूसरे अर्थों में देखें– इस मृत्युलोक में मनुष्य, पशु–पक्षी तथा कीड़े–मकोड़े– तीन प्रकार के शरीर दिखाई दे रहे हैं। वह द्रष्टा समष्टिरूप होकर जब ऐसा समझता है कि मेरे संसाररूप चिदाकाश में ये तीन प्रकार के प्राणी ही अपने–अपने स्वाभाविक कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, तब तो वह द्रष्टा साक्षात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही कहा जाता है। (नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं.....) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि भी मानो ब्रह्म के चित्त से प्रकट तीन प्रकार के गुण ही हैं; जिसमें आकाश, सूर्य, चन्द्रमादि तो सतोगुण हैं; वायु, अग्नि रजोगुण है और जल एवं पृथ्वी ही तमोगुण हैं। इन्हीं तीनों गुणों का विस्तार यह माया है, जिसमें मनुष्य, पशु–पक्षी, गन्धर्व, किन्नर, नाग, देवता तथा कीट–पतिंगेरूप तीन विचार हैं। इसप्रकार तीन गुण और तीन विचारों का कर्ता मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म नहीं हूँ बल्कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। ऐसा समझते हुए वह तीनों गुणों का उल्लंघन कर ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

(गुणानेतानतीत्य त्रीन्.....) इसप्रकार वह आत्मा शरीर से उत्पन्न हुए तीनों गुणों का उल्लंघन कर जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःख से भी मुक्त होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

यहाँ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था से मुक्त हुआ पुरुष कहा गया है– इसका तात्पर्य है कि वह शरीर सहित जन्म, मृत्यु, जरा और वृद्धावस्था से उत्पन्न हुए सारे दुःखों से अनासक्त हो जाता है। अनासक्त होते ही उसे अपने अमृतमयस्वरूप की अनुभूति होने लगती है।

अच्छीप्रकार से इस गूढ़ात्मक विषय पर विचार करना चाहिये। 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति' से लेकर 'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते' इन तीन मंत्रों में प्रभु ने इस अध्याय का माहात्म्य बताया है। अतः एक बार थोड़े में इसका सारांश समझ लें– ऊर्ध्वलोक अर्थात् संतलोक (आश्रम) में आप जायेंगे तो पूर्वाश्रम (गृहस्थाश्रम) के लिए सो जायेंगे और यहाँ पर रहते हुए भी गृहस्थाश्रम के

विचार आयेंगे तो संत आश्रम में रहते हुए भी यहाँ सोये हुए माने जायेंगे। यही नहीं, घर याद आते ही घर के गुण–दोष प्रकट होने लगेंगे। स्वप्नलोक में जाते ही वहाँ के गुण और दोष प्रकट हो जाते हैं, स्वप्न शरीर वहाँ पर समय की प्रतीक्षा नहीं करता। एक समय में कोई एक ही रहता है, दो रहने पर मुक्ति नहीं होगी। समाधि में भी विचार आयेगा तो समाधि टूट जायेगी, समाधिस्थ साधक इसको अच्छीप्रकार जानते हैं। आपको अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में नींद या विचार बाधा दे रहे हैं तो आप विचार करें कि ये साधक न बनकर बाधक क्यों बन गये? कहीं आश्रम में या जगत में किसी के प्रति दोषदर्शन तो नहीं हो गया? आगे बढ़ने पर बार–बार सतोगुणी समाधि ही बाधा बनने लगे तो और भी विचार करना पड़ जायेगा। जब आप गुणों के अतिरिक्त किसी को भी कर्ता देखते हैं, तभी ये तीनों गुण बारी–बारी से अपने में आसक्त करते रहते हैं। एक वाक्य से समाधि टूट जाती है, वैसे ही एक वाक्य यानी एक विचार से 'हाय! मैं मर रहा हूँ' आप मर जाते हैं और ऐसे ही एक ही वाक्य से पुनः जन्म हो जाता है। अन्धे का अन्धा होता है, इस एक वाक्य से ही दुर्योधन, द्रौपदी के लिए अन्धा हो गया और सम्पूर्ण जगत के सामने उसे नग्न करना चाहा।

सन् १९७६ ई० में महाराज के साथ एक साधक रहता था, छः महीने रहते हुए हो गये थे। उसके बड़े भाई को डकैतों ने मार डाला। वह समाचार सुनकर मोह से अति विकल हो गया। उसने कहा– आप मुझे एक बार दिखा दें कि वे किस योनि में गये हैं। महाराज ने कहा– तुमने छः महीने पहले कहा था कि मैं घर तब लौटूँगा जब आप बता देंगे कि ये लोग मेरे लगते कौन हैं? और आज तुम्हीं कह रहे हो कि किस योनि में गये हैं? आप बता दें, मेरा मन अति व्याकुल हो रहा है? छः महीने पहलेवाले तुम हो या तुम इनलोगों के भाई–बान्धव हो? अन्ततोगत्वा उसके उस मोहरूप दोष ने महाराज के माध्यम से ही उसे घर भेज दिया। उसके उपरान्त वह महाराज के पास सोलह वर्ष के बाद आया। अतः इस निर्विकार साधना में सावधान होकर रहना; क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है। यदि प्रमाद न हो तो साधक हररोज नहीं मरता–जीता। यदि वह जान गया कि तीनों गुण ही अहर्निश कर्ता हैं तो अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। शोक, संताप से यदि भर गया तो मर गया, गहरी श्वास ले रहा है सद्गुरु से ज्ञान सुनने के उपरान्त भी तो वह मर गया। मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ इस भाव से जी गया और मैं शरीर ही हूँ इस भाव से मर गया। मन में व्यथा होने से रक्तचाप हो ही जाता है ये तो सभी जानते ही हैं।

यदि साधक लम्बे काल तक सतोगुण से उत्पन्न होनेवाली समाधि में ही आसक्त हो जाता है तब ब्रह्मचिन्तन नहीं होता। दो समय में चिन्तन नहीं होता, पहला– नींद, आलस, प्रमाद जब बढ़ जाते हैं तब और दूसरा– सतोगुणी ध्यान और समाधि लग जाती है तब। चौदहवें अध्याय का यह ज्ञान परम ज्ञान है क्योंकि आत्मचिन्तनमय साधना बुद्धि से प्रारम्भ होती है तथा अन्य साधनाएँ– जप, तप, ध्यान तथा योगादि, तन एवं मन से प्रारम्भ होती हैं। जिसने तन, मन, की साधना को भलीभाँति करके सद्गुरु को प्राप्त कर लिया है उसकी इस परम ज्ञान के द्वारा ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा तत्काल हो जाती है, यदि आप ध्यान और समाधि चाहते हैं तो आप भी सकामी ही हैं। आपने सुना कि ध्यान एवं समाधि में बड़ा आनन्द है और चल दिये सद्गुरु के

पास तो वह सद्गुरु आपको ध्यान व ज्योतिर्मय समाधि देने में सार्थक तो हो जायेगा लेकिन आपको आत्मज्ञान नहीं दे पायेगा; जबतक कि आप उस समाधि से विरत नहीं होते। फिर तो उस समाधि का आनन्द है क्या, जिसमें आसक्त होकर साधक भगवान को ही भूल जाता है, ऐसा प्रश्न खड़ा हो जाता है। इसका उत्तर है कि– प्रथम सुख तो वीर्य ऊर्ध्वगामी होने के कारण से जो दिव्य स्पर्श होता है वही चौबीस घण्टे बना रहने से साधक आगे की नहीं सोच पाता। इसको पुनः स्पष्ट किया जाता है– अन्तःशरीर का इस स्थूलशरीर के साथ स्पर्श होता है तो वीर्यपतन के समय जो आनन्द होता है, वही आनन्द चौबीस घण्टे बना रहता है। वीर्यपतन के समय अपानवायु का मुख नीचे रहता है, अतः एक अंश कुण्डलिनीशक्ति से मन टकराता है, उस अवस्था में वीर्य का और मूलाधार चक्र का स्पर्श होता है तो वीर्य का पतन हो जाता है। अब ध्यान में क्या स्थिति होती है उसे भी जान लें– जब मन भृकुटी में अथवा किसी चक्र में, या भगवान के नाम में केन्द्रित होता है तो अपानवायु के ऊर्ध्वगामी होने से वीर्य भी ऊर्ध्वगामी होने लगता है। उस समय वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहद, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्त्रार चक्रों के स्पर्श के साथ असंख्यगुना आनन्द देता हुआ ज्योतिर्मय होता रहता है। वह सदा रहनेवाला आनन्द भी जो शरीरगत ही है, आगे नहीं बढ़ने देता। साधक इसी को बड़ी उपलब्धि मान लेता है, क्योंकि उस अवस्था में विचार निष्क्रिय हो जाते हैं और ज्योतिर्मयसमाधि हठात् लग जाती है। उस अवस्था में तो जाग्रदवस्था के आनन्द से असंख्य गुना आनन्द उस ज्योतिर्मय समाधि में मिलता है। अतः साधक सांसारिक उत्पातों से बचकर उसी समाधि में मानो छिपा रहता है, वह सतोगुणी संभोग कहलाता है। सुषुप्ति अवस्था का आनन्द तमोगुणी सम्भोग है और स्त्रीप्रसंग रजोगुणी सम्भोग है। आगे चलकर तो ज्योतिर्मयसमाधि भी संकल्पवत् हो जाती है– साधक जब चाहता है तब आ जाती है। ये जितनी भी सतोगुणी समाधियाँ हैं, अविद्या के ही स्तर हैं। निर्गुण–निराकार ब्रह्म के उपासक के पास ये बलात् इसलिए आ जाती हैं कि सर्वप्रथम उसने ध्यान एवं समाधि ही चाहा है। अब कोई साधक कहता है कि आत्मज्ञान क्यों नहीं हो रहा है? तो उसको जानना चाहिये कि आत्मज्ञान के लिए तो उसने योग, जप, तप किया नहीं है। अब यदि भगवान चाहिये तो यह समझना होगा कि ज्योतिर्मयसमाधि भी गुणकृत ही है। जब उससे अनासक्त होकर अहर्निश ब्रह्मचिन्तन करेगा तब आत्मज्ञान होगा अर्थात् अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा होगी।

इसी को देखते हुए भगवती मीरा ने सकाम जप, तप, योग पर मधुर व्यंग्य किया है–

भजु मन चरण कमल अविनाशी।।
जोगी होये जुगुति नहीं जानी, उलटि जन्म फिर आसी।।
भजु मन.....

वे अपने मन से कहती हैं कि हे मन! तुम योग, यज्ञ, जप, तप की कामना क्यों करते हो, क्योंकि यह तो योगियों की सकाम साधना है, तुम प्रभु को क्यों नहीं चाहते? मैं तो नहीं चाहती कि तुम जन्म–मरणरूपी चक्कर में पड़े रहो। ये समाधि भी एक शारीरिक दिव्य सुख ही है।

इसमें आसक्त हो जाने पर तुम प्रभु में आसक्त कैसे हो पाओगे? सामान्य सुख और दिव्य सुख भले ही तुम इन्हें दो प्रकार का सुख कह लो, किन्तु सुख तो सुख ही है।

महाराज का कहना है कि चेतनसमाधि से जाग्रत्समाधि में, जाग्रत् से जड़समाधि में भ्रमण करते रहने से क्या मिल गया? ये पशु–पक्षी भी तो समाधिस्थ हैं, जिन्हें मात्र अपना विषय–सुख ही चाहिये। सूअर को एकमात्र विष्ठा चाहिये, चींटी को एकमात्र मीठा चाहिये, मनुष्य को भी अपना विषय ही चाहिये। जो अपने विषयसुख में सुखी हो गया है, वह समाधिस्थ ही तो है! अतः अविनाशी तत्त्व की कामना करें, वह कामना ही महत्त्व रखती है। गिद्ध (जटायु) ने ध्यान नहीं लगाया एकमात्र भक्ति के बल से ही उसके ध्यान में भगवान आ गये। अजामिल तथा गणिका आदि ने ध्यान–समाधि नहीं चाही, उन्होंने भगवान को चाहा तो भगवान आ गये। सतोगुण से भगवान नहीं आता, सतोगुण से सिद्धियाँ आती हैं। उन सिद्धियों को त्यागते हैं, तभी भगवान आता है।

क्या प्रमाण है कि आपने भगवान के लिए घर छोड़ा है? अथवा क्या प्रमाण है कि आपने अपने स्वरूप को जानने के लिए घर छोड़ा है? यदि आपने भगवान के लिए घर छोड़ा है तो भगवान सगुणरूप (सद्गुरु) में मिल गया है। अब निर्गुणरूप में आना शेष है, तो तीनों गुणों को छोड़ दें अर्थात् तीनों वृत्तियों से उदासीन होकर प्रतीक्षा करें तो वह निर्गुण–निराकाररूप में भी आ जायेगा। आत्मा तीनों गुणों का साक्षी है, उसी की अध्यक्षता में सात्त्विक, राजस एवं तामस प्रारब्ध अपना–अपना कर्म करते हैं– भगवान के द्वारा ऐसा सुनकर अर्जुन के मन में कौतूहल होना स्वाभाविक है। सात्त्विक प्रवृत्तिवाले तो वे थे ही, अतः अपनी प्रकृति को ब्रह्मप्रकृति में और अपनी व्यष्टिस्मृति को समष्टिस्मृति में विलीन कर देने की इच्छा से वे पुनः प्रश्न कर बैठते हैं–

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥

हे प्रभु! किस उपाय से पुरुष तीनों गुणों से अतीत होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तथा वह गुणातीत हो गया इसका लक्षण क्या है? एवं जगत में उसका व्यवहार कैसा होता है? तो भगवान ने पुनः इसका उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया–

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥

जब पुरुष सतोगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण का कार्य मोह तथा तमोगुण का कार्य नींद, आलस्य, प्रमाद के प्रकट होने पर द्वेष नहीं करता तथा उनके निवृत्त होने पर पुनः उनकी चाहना नहीं करता बल्कि तीनों गुणों से चलायमान न होकर उदासीन बना रहता है, वह समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं तो वह गुणातीत कहा जाता है।

माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे तथा परिवार आदि सामान्य लोगों को जैसे ही आपने त्यागा– जो बाहर की सगुण वृत्तियाँ कही जाती हैं; तो इन्हें त्यागते ही बाहर का सगुण ब्रह्म सद्गुरु मिल जायेगा और अब भीतर के सगुण ब्रह्म जिसे अपरब्रह्म भी कहते हैं, काम–क्रोध, लोभ–मोह आदि को त्याग दिया तो निर्गुण ब्रह्म मिल जायेगा। सद्गुरु ही आपको निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचा देता है। ज्ञान स्वतंत्र है, परतंत्र नहीं। इसलिए उच्चकोटि का ज्ञानयोगी कठोर चान्द्रायणादि व्रतों के साथ तप करता हुआ, आध्यात्मिक चिन्तन के साथ आत्मज्ञान की प्रतीक्षा करता है अथवा इसी क्रम से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस ज्ञान का आश्रय ध्यान या समाधि नहीं होती। बहुत ऐसे संत हैं जिनके यहाँ ध्यान, समाधि, आसन, प्राणायाम की परम्परा नहीं है; बल्कि तप के साथ स्वाध्याय की परम्परा है और अष्टाङ्गयोगी के पास तपसहित ध्यानयोग की परम्परा है। अष्टाङ्गयोग में शरीर की शक्ति–सामर्थ्य विशेष चाहिये; किन्तु ज्ञानयोग में चाहे शरीर जैसा है, तप के साथ स्वाध्याय प्रारम्भ हो जायेगा। इस अध्याय का परम ज्ञान साधन की अपेक्षा नहीं रखता; बल्कि तप और त्याग की अपेक्षा रखता है। कौन सा त्याग? बाह्य तथा अन्तः (रजोगुण, सतोगुण, तमोगुण) वृत्तियों का त्याग। 'यह तो बड़ा कठिन है; इन वृत्तियों का त्याग कैसे हो सकता है? नींद आयेगी ही, भूख–प्यास लगेगी ही, लोग सामने दीखेंगे ही तथा बहुत काल ध्यान–समाधि का अभ्यास हो गया है, तो ध्यान–समाधि आयेगी ही आयेगी। तो भी चलिए मान लिया कि ध्यान–समाधि भी छोड़ दिया, तो करेगा क्या? यही प्रश्न चेतनसमाधि में आसक्त चित्तवाले अवधेशानन्द का भी है। जिसप्रकार तमोगुणी पुरुष के नहीं चाहने पर भी नींद बलात् आ जाती है, उसीप्रकार इनके नहीं चाहने पर भी समाधि बलात् आ जाती है।

(प्रकाशं च प्रवृत्तिं च.....निवृत्तानि काङ्क्षति) महात्मा अर्जुन ने सोचा कि यह तो बड़ा कठिन है, बहुत कठिन है, बहुत कठिन है, तीन गुणों का उल्लंघन करना। तब भगवान ने कहा कि नहीं कठिन तो उसके लिए है जो अपने सद्गुरु को सद्गुरु ही मानता है, संत ही मानता है, सिद्ध ही मानता है और उसके पास उसे साधना में विशेष आसक्ति हो जाती है; योग, जप, तप में आसक्ति हो जाती है। जैसे सद्गृहस्थ को कर्म में आसक्ति होती है; नींद, आलस्य, प्रमाद में आसक्ति हो जाती है। वैसे ही सन्यास आश्रम में साधकों को जप, तप, योग में आसक्त होते देखा जाता है। इस कारण से कठिन हो जाता है तीनों गुणों से अनासक्त होना। यदि उसमें आसक्त न हों और अपनी साधना को गौण समझें, प्रधान न समझें तब तीनों गुणों का पार करना कठिन नहीं है। गुरुभक्त तो साधना कर रहा है लेकिन साधना से मानो वह खेल रहा है। सद्गुरु ने जप बता दिया है तो जप से खेल रहा है अर्थात् अहर्निश वह जप कर रहा है लेकिन जान रहा है कि सद्गुरु का यह एक बहाना है, आत्मज्ञान देना तो इन्हीं को है। लेकिन चूँकि

आज्ञापालन करना है इसलिए प्रमाद रहित हो जाएगा और वह जप, तप, योग से दिनों–रात खेलेगा, अर्थात् अहर्निश जप, तप, योग में लगा रहेगा लेकिन वह समझेगा कि यह बहाना है सद्गुरु की कृपा जिस दिन हो जाए, उसी दिन अपने स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाएगी। अतः उसके लिए कठिन नहीं है गुणों के पार जाना। लेकिन जो ऐसा मानता है कि जप से, तप से, योग से आत्मज्ञान प्राप्त होता है, उसके लिए निर्गुण–निराकार साधना ही क्या सगुण–साकार साधना भी कठिन हो जाती है। महात्मा अर्जुन के पास भगवान मानो कहना चाहते हैं कि जहाँ से पेट समाप्त होता है वहीं से पीठ प्रारम्भ होती है, जहाँ पीठ समाप्त होती है वहीं से पेट प्रारम्भ होता है। वैसे ही जहाँ सगुण–साकार साधना समाप्त होती है वहीं पर निर्गुण–निराकार में प्रवेश मिल जाता है। जहाँ निर्गुण–निराकार का बोध होता है वहीं उसमें सगुण–साकारता की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वही साधक ब्रह्मा, विष्णु, महेश की शक्ति से सम्पन्न होकर अर्थात् ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी शक्ति से सम्पन्न होकर जगत का उद्धार करते देखा जाता है अर्थात् अपने शरणागतों का उद्धार करता रहता है।

(प्रकाशं च प्रवृत्तिं च.....) इसी का उत्तर दे रहे हैं भगवान। जिसने अपने स्वरूप को जान लिया है, उसे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए एकमात्र प्रयोग ही शेष रह जाता है। जब उसने जान लिया कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो स्पष्ट हो गया कि ध्यान और समाधि भी शरीरगत ही है, आत्मगत नहीं। वह भी एक शरीर का सतोगुणी विकार ही है तो वह शरीर के साथ उस विकार को भी छोड़े। उसे समझना चाहिये कि जब शरीर का समाधि भी एक सतोगुणी विकार ही है, तो निर्विकारी आत्मा कितना आनन्दमय होगा, शान्तिमय होगा। इसलिए शरीरसहित शरीर के तीनों वृत्तिरूप विकारों से रहित आकाश की तरह उदासीन (साक्षी) हो जाये। (उदासीनवदासीनो.....) आकाश में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकट होते हैं लेकिन उसका इन ब्रह्माण्डों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसीप्रकार वह भी चिन्तन करे कि मैं आकाश से भी अति सूक्ष्म परमाकाश अर्थात् परम चेतन निर्विकार आत्मा हूँ तो शरीर एवं शरीर के विकारों से मुझे क्या लेना–देना? जब गुण ही गुण में बरत रहे हैं, तब मैं ऐसा क्यों मानूँ कि मैं विचारों का द्रष्टा हूँ। जिसप्रकार आकाश कभी बादल, बिजली पर ध्यान नहीं देता, उसीप्रकार अब मैं शरीर तथा शरीर की जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्त्यावस्था पर ध्यान नहीं दूँगा। जिसप्रकार आकाश अपने से ही उत्पन्न हुए वायु के स्वरूप और गुणों से सर्वथा उदासीन रहता है, उसीप्रकार वह निर्विकार आत्मा अपने–आप शरीररूप बादलों और उससे प्रकट हुए वृत्तिरूप बिजली और बरसात पर ध्यान नहीं देता। जिसप्रकार जल सम्पूर्ण मछलियों तथा अन्य जल–जीवों से उदासीन रहता है; उसीप्रकार सम शान्त निर्गुण–निराकार साधक भी शरीर और शरीर के सम्बन्धियों से उदासीन ही रहता है। कोई कहे कि शरीर से, शरीर के सम्बन्धियों से, सत्, रज, तम विकारों से उदासीन रहकर करता क्या है? तो इसका उत्तर है कि यही तो रहस्य है। वह सम शान्त साक्षी स्वरूप ही रह जाता है। कोई कहे कि आकाश उदासीन होकर क्या कर रहा है तो इसका उत्तर है कि वह कभी अपने में प्रकट हुए ब्रह्माण्डों एवं बिजली, बादल तथा बरसात से आसक्त हुआ ही नहीं तो उदासीन होने की बात क्या है। आकाश ब्रह्माण्डों एवं बिजली,

बादल, बरसात से उदासीन है– यह वाक्य तो एकमात्र संकेत के लिए है न कि ऐसा है ही। उसीप्रकार जैसे ही साधक शरीर से, सतोगुण से उत्पन्न हुए ध्यान, समाधि से तथा शरीर के सम्बन्धियों से उदासीन होकर अपने में आसीन होगा तो किसी दिन ऐसा चमत्कार होगा कि वह स्वयं से स्पष्ट देखेगा कि अरे! मैं तो कभी शरीर हुआ ही नहीं था। मैं तो उसमें कभी आसक्त हुआ ही नहीं था। यह तो एकमात्र भ्रम ही था और वह भ्रम भी मेरे को था, यह मैं कैसे कह सकता हूँ।

आद्यगुरु शंकराचार्य के 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थ में मंत्र (श्लोक) सं. उनतीस से लेकर चालीस तक आत्मस्वरूप में स्थित हुए साधक के द्वारा शरीर का और उसके विकारों का निषेध कैसे किया गया है, उसे पढ़ना चाहिए। यहाँ पर कुछ श्लोकों का हिन्दी अर्थ दिया जा रहा है–

अहम् (मैं) पद से प्रसिद्ध परमात्मा एकमात्र स्थित है (अर्थात् वह अनेक तत्त्वों का संघात नहीं है); फिर स्थूल नहीं है और अनेक भावों को प्राप्त हो रहा है, वह देह, पुरुष कैसे हो सकता है?

अहम् द्रष्टारूप से सिद्ध है और 'शरीर मेरा है'– ऐसा कहे जाने के कारण दृश्यरूप से स्थित है; फिर यह देह, पुरुष कैसे हो सकता है।

अहम् विकाररहित है और देह सर्वदा विकारवान है यह स्पष्ट प्रतीत होता है, फिर यह देह पुरुष कैसे हो सकता है? इत्यादि, इत्यादि।

(प्रकाशं च प्रवृत्तिं च.....) पुनः इसका भाव इन अर्थों में देखें– देवलोक की कामना से यज्ञादि कर्म करनेवाले सतोगुणी पुरुष कहे जाते हैं तथा सिद्धियों की कामना से जप, तप, योग, ध्यान करनेवाले साधक भी सतोगुणी कहे जाते हैं। निर्विकार द्रष्टास्वरूप में स्थित रहनेवाला साधक ऐसे दोनों प्रकार के सतोगुणी पुरुषों से उदासीन हो जाय। उसके उपरान्त जो दिन–रात कर्मरूप प्रवृत्ति में लगे हुए हैं, उनसे भी उदासीन हो जाय, जो संसार में अशुभकर्मा हैं, जिन्हें आप चोर, डकैत, बदमाश कहते हैं, उनसे भी उदासीन हो जाय। उदासीन कैसे? इनमें से किसी को भी अच्छा–बुरा न कहे और इनलोगों के आने–जाने से हर्ष एवं विषाद न करे। क्योंकि–

(गुणा वर्तन्त इत्येव.....) सात्त्विक, राजस एवं तामस पुरुष अपने वश में तो हैं नहीं, इसलिये कि पूर्वजन्मों के प्रारब्ध के कारण किसी के द्वारा शुभ कर्म हो रहा है और किसी के द्वारा अशुभ तथा किसी के द्वारा शुभ–अशुभ मिश्रित।

एक गाँव में एक पुरुष को किसी ने कभी क्रोधित होते नहीं देखा। सारे लोग बड़ाई करते थे। महाराज ने कहा– वह पुरुष तो और भी बुरा है; क्योंकि कहीं द्रौपदी जैसी माँ का चीरहरण हो रहा होगा तो भी इसे क्रोध नहीं आयेगा। भक्ति में तो शून्य है; क्योंकि जीता तो अपने बाल–बच्चों के लिए ही है। जब उसके बाल–बच्चे मरेंगे तब उसका पता चलेगा कि अच्छा है कि बुरा है। इसप्रकार यदि बाहर की सगुण वृत्तियों से साधक उदासीन हो जाय तो भीतर की

वृत्तियाँ मात्र चार आना रह जायेंगी, जिसका समाधान चिन्तन से भी हो जायेगा। रही बात नींद की, जो मोहरूप वृत्ति मानी जाती है– तो यदि संध्याओं को छोड़कर दिन में नौ बजे से लेकर पाँच बजे तक दो बार बहुत हल्का–हल्का आहार लेता है तो नींद बारहआना अपने–आप कम हो जाती है। रात्रि में तीन–चार घण्टे की नींद ही पर्याप्त है। इसप्रकार वह वैसी सतोगुणी नींद से भी द्वेष नहीं करता।

(प्रकाशं च प्रवृत्तिं च.....) भगवान ने यहाँ पर जब प्रकाश शब्द कहा है तो इससे सिद्ध होता है कि निर्गुण–निराकार साधक के चित्त से सतोगुण का फल (ध्यान और समाधि) नहीं चाहने पर भी प्रकट होगा; किन्तु वह उसमें आसक्त नहीं हो रहा है अर्थात् वह ऐसा नहीं मान रहा है कि हमारी समाधि है तो उसके पास नानाप्रकार की सिद्धियों का चमत्कार भी प्रारम्भ हो जायेगा किन्तु इसे भी वह सतोगुणी प्रकाश का ही चमत्कार समझेगा तथा जब दोनों को ही स्वीकार नहीं किया, तो इस साधना में सबसे बड़ी बाधा है नींद, वह आक्रमण करेगी, लेकिन उसे भी यदि अपना नहीं मानता तो कुछ ही महीनों अथवा वर्षों में वह नींद संकल्पवत् भी हो जायेगी। फिर भी साधक उस संकल्प का प्रयोग नहीं करता और नींद के बहुत सूक्ष्म होने से घबराता नहीं, वह नहीं चाहता कि चार–पाँच घण्टे नींद आनी ही चाहिये अथवा यदि तीन–चार घण्टे नींद आती है तो संकल्प का प्रयोग करके हटाता नहीं और न ही उसके आने से दुःखी होता है, तब अपने स्वरूप में शीघ्रातिशीघ्र प्रतिष्ठित हो जाता है।

(उदासीनवदासीनो.....) यदि बाहर की वृत्तियों का उसने समर्थन नहीं किया तो भीतर की वृत्तियाँ अपने–आप कुण्ठित हो जाती हैं क्योंकि भीतर की वृत्तियों के लिए कोई न कोई बाहरी आधार चाहिये। जब बाहर कोई नहीं है तो भीतर कुछ प्रतिक्रिया नहीं होगी। किसी भी पेड़ को यदि जड़सहित धरती से निकाल दिया जाय तो कुछ दिन के उपरान्त अपने–आप सूख जायेगा। यहाँ उदासीन होने की बात क्यों की गई है? इसलिए कि जबतक वह सबसे उदासीन नहीं होगा, तबतक अपने में आसीन नहीं होगा। वह अपने को शरीर का द्रष्टा क्यों मानेगा क्योंकि शरीर का द्रष्टा तो इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का द्रष्टा मन है, मन का द्रष्टा तो बुद्धि है और बुद्धि का द्रष्टा अहम् (मैं) अर्थात् साक्षी चेतन है? अतः वह साक्षी चेतनरूप हुआ निर्गुण–निराकार बुद्धि से चिन्तन के द्वारा सम्पूर्ण प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोह का निषेध कर अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। उसका और भी कोई व्यवहार होता है क्या? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥

हाँ, जब वह अपने साक्षी चेतनस्वरूप में स्थित हो जायेगा तो उसे दुःख देनेवाली वृत्तियाँ प्रकट हो जायेंगी। यदि उनके द्वारा दिये जानेवाले दुःख पर भी सम शान्त बना रहता है, तो

सुख देनेवाले लोग नानाप्रकार के रत्नों, दिव्य वस्त्रों, दिव्य महलों तथा दिव्य–व्यंजनों से उसे सुख पहुँचाने का प्रयास करेंगे; किन्तु निंदा–स्तुति में सम रहनेवाला, प्रिय–अप्रियों द्वारा सुख–दुःख पहुँचाने पर भी अपने प्रिय के प्रति आसक्त नहीं हो जाता और अप्रिय के प्रति द्वेषी नहीं हो जाता बल्कि दुःख का निराकरण करने के लिए कोई संकल्प भी नहीं करता, तब वह निर्विकार साधक गुणातीत कहा जाता है।

भगवान को ही चाहनेवाले की सर्वप्रथम सारी वस्तु छीन ली जाती है, ऐसा देखा जाता है। इसलिए कि उसे तप करना है न! और जब उससे विचलित नहीं होगा तो पुनः सुखों की बरसात होगी, परिणाम होगा कि जो मित्र है वह तो मित्र है ही, उसका वैरी भी मित्र बन जायेगा तो वैसी अवस्था में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि मित्र के प्रति उतनी आसक्ति नहीं होती, जितना कि वैरी कोई मित्र बन जाय तो उसके प्रति आसक्ति होने की सम्भावना रहती है।

(समदुःखसुखः स्वस्थः.....) आप–अपने में स्थित होकर ही सुख, दुःख से उदासीन हो सकते हैं, अपने को शरीर मानकर नहीं, अपने को बच्चा, जवान, बूढ़ा मानकर नहीं, अपने को किसी का मानकर नहीं। मिट्टी, पत्थर, सोने में समान होने की बात की, इसलिए कि धन आपके पास रहेगा तो धन चाहनेवाले लोग आपके साथ मित्रता का व्यवहार करेंगे। लोग धन–धरती के भूखे हैं। जब आपके पास कुछ रहेगा ही नहीं, तो किसी का मित्र बनना तो दूर, वैरी भी निर्वैरी हो जायेगा; क्योंकि वह तो कहेगा कि यह तो भाग खड़ा हुआ, साधु बन गया, इसको क्या सताना? साधनपथ में आजतक जब भी शाप का अवसर आया है, तो वह या तो अपने को सताने पर या अपने प्रिय को सताने पर आया है। जबकि अभी अपने को आपने वरदान तो दिया ही नहीं और न काम–क्रोधादि वृत्तियों को ही शाप दिया, तो फिर दूसरे को शाप–वरदान देने का आपको क्या अधिकार है? जब साधक में संकल्प की सिद्धि होती है, तो वह भगवान शंकर जैसा संकल्प करता है कि शरीर में प्रकट होनेवाला काम राम बन जाय, क्रोध बोध बन जाय, इत्यादि इत्यादि। प्रकृति में रूपान्तरणवाद संतों ने देखा है– जिसप्रकार कूड़े–करकट को गड्ढे में डालकर खाद बना लिया जाता है, उसीप्रकार संकल्प के द्वारा विकारों को निर्विकार बना लिया जाता है। लम्बे काल तक सांसारिक राग–द्वेष को स्वीकार नहीं किया गया तो अपने–आप से ही प्रेम हो जायेगा। संत तो स्वयं अपने दोषों को जगत में फैला देते हैं; क्योंकि जगत में कह देने के बाद विकार समाप्त हो जाता है, जिसे कहते हैं समर्पण। नारदजी, काकभुशुण्डिजी, वाल्मीकिजी आदि संतों ने अपने अशुभ वृत्ति की कहानी स्वयं से लिखी है, तभी तो आप जानते हैं। आप पक्षापक्ष से लिपायमान रहते हैं, इसलिए भगवान आपके पक्ष में खड़ा नहीं है। निष्पक्ष के पास ही भगवान आता है। निर्दोष के पास निर्दोष आता है, ब्रह्म निर्दोष है, अतः दोष से निर्दोष आप जब होते हैं, तभी आपके पास निर्दोषब्रह्म आता है।

(मानापमानयोस्तुल्यः.....) सद्गुरु के आश्रम में नानाप्रकार के तामस साधक भी होंगे, राजस साधक भी होंगे, सात्त्विक साधक भी होंगे और तीनों साधकों से अलग हटकर सद्गुरु के ही साधक हैं आप, सद्गुरु की आज्ञा का ही अनुमोदन कर रहे हैं, उसके अनुसार ही चल

रहे हैं तो तीनों के द्वारा मान–अपमान का अवसर आयेगा। सतोगुणी साधक मान करेंगे, रजोगुणी, तमोगुणी साधक विक्षेप डालेंगे, व्यवधान डालेंगे। अतः उनके माध्यम से बहुत सा उत्पात आपके सामने आयेगा और उस उत्पात को आप सहन कर सकते हैं। उस उत्पात को सहन कैसे कर सकते हैं? यह प्रश्न खड़ा होता है। तब महात्मा अर्जुन के सामने भगवान ने महति कृपा की और कहा–

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो अव्यभिचारिणी भक्तियोग के द्वारा मेरी उपासना करता है, वही इन तीनों गुणों का उल्लंघन कर अपने सम एवं साक्षीस्वरूप आत्मा में स्थित हो सकता है।

(मां च योऽव्यभिचारेण.....) जो मुझे ही निर्गुण–निराकार ब्रह्म जानता है और वह यह भी जानता है कि सम्पूर्ण भूतप्राणियों में मेरे सद्गुरु की ही सत्ता–सामर्थ्य है तो इस अव्यभिचारिणी भक्तियोग से वह बाहर एवं भीतर के मोह का उल्लंघन कर जाता है। भीतर से भी राजस, तामस एवं सात्त्विक वृत्तियों का उत्पात होता है और बाहर से भी सात्त्विक, राजस एवं तामस साधकों के द्वारा उत्पात होते देखा जाता है लेकिन यदि कोई साधक अपने सद्गुरु को ही सब रूपों में देखता है तो इस अव्यभिचारिणी भक्तियोग से उन गुणों का उल्लंघन कर जाता है अर्थात् दोष दृष्टि से रहित हो जाता है।

जगत को सगुण ब्रह्म का अंग मान लेना ही अव्यभिचारिणी भक्तियोग है। शिवपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में खच्चर, गधा, बकरा, सूअर आदि को भी भगवान का नख कहा गया है। संत उसकी वाणी हैं, वे ही उसके आँख, कान हैं, धर्मात्मा राजा उसकी भुजायें हैं, सारे के सारे प्राणी उसी के अंग–उपांग हैं। पुष्करानन्द ने कहा कि मच्छर–मक्खी मारने से भी पाप लगता है? हाँ हाँ, क्यों नहीं, वे भी तो भगवान के अंग हैं! आप सबके पास तो उनसे बचने के कई साधन हैं। अहिंसा व्रत तो इन्हीं प्राणियों से प्रारम्भ होगा। इसप्रकार अव्यभिचारिणी भक्तियोग के द्वारा उपासना करनेवाला गुणातीत हो जाता है अर्थात् गुण उसके अधिकार में हो जाते हैं। अथवा सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को अपने सगुण–स्वरूप का ही अंग–उपांग मानना और सम्पूर्णता से परम अक्षरस्वरूप द्रष्टा होकर रह जाना अव्यभिचारिणी भक्तियोग द्वारा उपासना करना माना जाता है। गुणों से उपराम हो जाने का तात्पर्य यह नहीं कि वह निर्गुणी होकर जड़ हो जायेगा। प्रभु कहते हैं ना, ना, ना! वह जड़ नहीं होगा–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

ब्रह्म का तात्पर्य यहाँ सगुण ब्रह्म से है तथा सगुण ब्रह्म यहाँ निष्कामी शिष्य है। इस मंत्र में अहम् पद सद्गुरु के लिए है। प्रभु ने भक्त अर्जुन से कहा– ब्रह्मरूप तो वही है, वही परम सुख

और शाश्वत धर्म तथा अव्यय अमृत आदि का एकमात्र आश्रय है।

यह आख्यायिका निर्गुण ब्रह्म के साथ–साथ सगुण ब्रह्म के लिए भी है। वह निर्विकार साधक ही कालान्तर में सगुण ब्रह्म हो जाता है और सच पूछा जाय तो एकमात्र उसी में ही एकत्वरूप सुख की, शाश्वत धर्म की तथा अव्यय अमृत की प्रतिष्ठा रहती है। द्वादश अध्याय में लगभग जो पैंतीस–छत्तीस अणुव्रत हैं, जिन्हें अमृतधर्म कहा जाता है; वह उसी साधक के व्यवहार में देखे जाते हैं। अतः समष्टि ब्रह्म उसी में प्रतिष्ठित है, जैसे देवताओं की प्रतिष्ठा यज्ञ में होती है। यही नहीं उस साधक में तीनों गुण (वैष्णवी, ब्राह्मी, माहेश्वरी) शक्ति बनकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, जो उसकी उपासना करनेवालों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन्हीं शक्तियों से वह अपने पास आये हुए ब्रह्मजिज्ञासुओं की कुवृत्तियों का संहार कर सद्वृत्तियों की स्थापना कर उनकी सुरक्षा भी करता रहता है।

(ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं.....) ये आप न भूलें कि जो अपना सद्गुरु है वही सगुण–साकार परमब्रह्म है, आपके लिए ही उसका अवतार हुआ है। अतः आपके जप में, आपके तप में, आपके योग में उसी की प्रतिष्ठा है अथवा आपके जप, तप, योग की उसी में प्रतिष्ठा है, बात बराबर हुई। कोई कहता है बाल्टी में आधा जल है यानी बाल्टी आधी भरी हुई है; कोई कहता है– बाल्टी आधी खाली है; ये दोनों बात एक ही कह रहे हैं, भाषा में अन्तर है। 'शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च' इतना ही नहीं जो आपके लिए अमृत प्राप्त होगा, आपके लिए ज्ञान प्राप्त होगा वह आत्मज्ञान सद्गुरु में पहले से ही प्रतिष्ठित है अतः सद्गुरु में प्रतिष्ठित होनेवाला वह आत्मज्ञान उसी से प्राप्त होगा; जो आत्यन्तिक सुख, आत्यन्तिक आनन्द, परमानन्द की संज्ञा से विभूषित होता है। अतः प्रभु ने इसपर विचार करने का अवसर दे दिया तो भी महात्मा अर्जुन उनके सामने मौन ही रहे उन्हें सम्पूर्णता से सन्तोष नहीं हुआ तो उन्हें सत्पात्र समझकर पन्द्रहवें अध्याय को भगवान नारायण ने पुनः कहना प्रारम्भ किया।

(ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं.....) अब युद्ध की तरफ लौटकर देखें तो प्रभु कहते हैं– हे पार्थ! उस निष्कामी निर्गुण–निराकार साधक की प्रतिष्ठा मेरे में है। हे महाबाहो! तुमने भी अपने को सम्पूर्णता से मुझे ही समर्पित कर दिया है; अतः तुम्हारी भी मेरे में प्रतिष्ठा हो गयी है। तुम महावीर योद्धा हो, जितेन्द्रिय योद्धा हो; तुम अमृतधर्मा हो। वर्तमान के तुम जिज्ञासु हो लेकिन अब थोड़े ही समय में तुम स्वयं कहोगे कि मैं अविनाशी ब्रह्म हूँ। आज तुम निष्कामी हो और ये सारे योद्धा सकामी हैं। जब तुम निष्कामी हो गये, तभी मैं तुम्हारे लिए सकामी हो गया। अतः युद्धविजय की प्रतिष्ठा भी मेरे में ही है। इसलिए तुम शोक–संताप मत करो। अपने निर्गुण–निराकार स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मघोष करो।

प्रभु ने यह कहकर अर्जुन को परम संतोष देना चाहा है कि जब तुम निष्कामी हुए तो मैं आप्तकामी ही तुम्हारे लिए सकामी बन गया। साधकों को गम्भीरता से प्रभु की इस दिव्य घोषणा पर विचार करना चाहिये। जब ब्रह्म आपके लिए सकामी बन ही जाता है तो आपको निष्कामी होने में क्या संकोच है? यदि इस अध्याय का संदर्भ बुद्धि ने समझ लिया हो तो संसार

से ही नहीं, संसार के व्यवहार से भी एवं ध्यान तथा समाधि से भी उदासीन होकर अपने स्वरूप में रहने का प्रयत्न करें। आपने यदि सब कुछ त्यागकर भगवान को ही चाहा है तो चाहे जितना भी भारी उत्पात होगा, उसे आपके बदले भगवान ही सहन कर लेगा अर्थात् सहन करने की प्रेरणा और शक्ति दोनों देगा। आप विश्वास करें कि आपके लिए सद्गुरु आ गया है तो वह निर्गुणरूप में भी आयेगा। जो शरीर से असमर्थ हैं; किन्तु श्रद्धा और सामर्थ्य से समर्थ हैं, वे इस कृपासाध्य परम योग को धारण करें और व्यवहार का प्रयोग करते हुए अपने दिव्य स्वरूप निर्गुण–निराकार की प्रतीक्षा करें। इस अध्याय के मंत्रों को महाराज ने 'काफी राग' से गाया है आप अन्य राग से भी गा सकते हैं। प्रेमपूर्वक गा देने पर ही इस अध्याय के पाठ का फल मिल जाता है। तो आयें आप भी महाराज के साथ गायें–

त्रिविध पुरुष खेलें होरी, रे अर्जुन।।
ग्यान ध्यान विज्ञान रंग डारत, सत् बाँधत बरजोरी।
रज डारत रंग काम राग सुख, कर आत्मा विषभोरी।।
त्रिविध पुरुष खेलें.....

निद्रालस्य प्रमाद रंग डारत, बाँधत तम चोरी चोरी।
क्रम क्रम सों ये करें आलिंगन, दें द्रष्टापन फोरी।।
त्रिविध पुरुष खेलें.....

देवलोक सतोमय जावें, मरण लोक को रजोरी।
अधमलोक ले जात तमोमय, राखत बाँह मरोरी।।
त्रिविध पुरुष खेलें.....

उदासीन त्रिविध सुख त्यागत, द्रष्टा रह मुख मोरी।
महाराज परमपद पावत, जहँ रह परम अँजोरी।।
त्रिविध पुरुष खेलें.....

धृतराष्ट्र ने पूछा– संजय! तुमने जो मधुसूदन के द्वारा कही हुई परम ज्ञान की बातें बतायी है, वह तो सुनने के उपरान्त वैसे ही विस्मृत हो गयीं जैसे कोई स्वप्न, जगते समय तो याद रहता है लेकिन तत्काल भूल भी जाता है।

संजय ने कहा– लगता है परम ज्ञान आपके लिए है ही नहीं राजन्! सुनते और सुनाते समय तो मेरे लिए भी यह ज्ञान कौतूहल का विषय ही था। लगता है, मैं भी इसे धारण नहीं कर सकता, क्योंकि बुद्धि यहाँ काम नहीं कर रही है।

और अर्जुन? धृतराष्ट्र ने पूछा!

संजय ने कहा– वे तो निर्गुण–निराकार होते ही जा रहे हैं, क्योंकि इन्हें ज्ञान देने की इच्छा तो भगवान की ही थी। लगता है, दोनों आत्माओं का सम्बन्ध पुरातनकाल से चला आ

रहा है। ये दोनों ही नर–नारायण की जोड़ी लग रहे हैं। इन दोनों में इस समय जो तेज है, वह देखते ही बनता है। जैसे सूर्य के प्रकट होते ही चन्द्रमा एवं तारों सहित सभी प्राणी सूर्य को ही देखने लगते हैं तथा चन्द्रमा एवं तारों का तो प्रकाश तेजहीन हो ही जाता है। ठीक यही बात यहाँ पर भी दिखाई पड़ रही है। सारे के सारे रथी–महारथी इनके सामने तेजहीन दिखाई पड़ रहे हैं। इनके विजय का लक्षण तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है, राजन्!

धृतराष्ट्र ने कहा– तुम चाहे लाख डराने का प्रयत्न करो संजय! लेकिन अब डर के मारे मैं समर्पण करनेवाला नहीं हूँ।

सञ्जय ने कहा– तो ठीक है, राजन्! मुझे इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। थोड़ा आप शान्त रहें; भगवान मधुसूदन अर्जुन के बिना प्रश्न किये हुए, कुछ बोलने की स्थिति में दिखाई पड़ रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।१४।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अब तो बोलने को कुछ शेष रहा नहीं, फिर भी अभी महात्मा अर्जुन का हृदय लगता है कि कुछ विशेष सुनना ही चाहता है। जैसे आध्यात्मिक यात्रा करनेवाला साधक तृप्त नहीं होता वैसे ही उन्हें तृप्ति नहीं हो पा रही है। उनके लिए यह अध्यात्मज्ञान दिव्य से दिव्यतर होता जा रहा है। भगवान के हृदय में अध्यात्मज्ञान का सागर भरा हुआ है। प्रभु का हृदय मानो ब्रह्माजी के कमण्डलु जैसा है जिसमें उन्होंने गीतारूपी गंगाजी को रख रखा है, उनका हृदय मानो भगवान शंकर की जटा है जिसमें अपने ही चिदाकाश से उतरती हुई इस गीतारूपी दिव्य गंगा को धारण कर रखा है, उनका हृदय मानो जह्नु ऋषि का कमण्डलु है जिसमें उन्होंने असुरों से कुपित होकर इस दिव्य ज्ञानगंगा को भर रखा है जिसे अब वे अपने परम प्रिय भक्त अर्जुन को दिये जा रहे हैं। मानो प्रभु को देने में ही तृप्ति हो रही है। ऐसा हो भी क्यों न! जब अपने भाई को ही, सखा को ही उन्होंने सारथि से सद्गुरु बना लिया है। दुर्योधन ने कर्ण को अङ्गदेश दिया जिस उपकार का बदला कर्ण ने अपना जीवन देकर चुकाया। दुर्योधन ने पितामह भीष्म को सेनापति का पद दे दिया, उस सेनापति के पद से संतुष्ट हुए पितामह भीष्म ने अपना अस्तित्व ही बेच दिया। उसीप्रकार यहाँ अर्जुन ने प्रभु को सद्गुरु बना लिया है तो प्रभु ने भी अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन को अपना सर्वस्व देने की ठान ली है। 'शीश दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान'– अर्जुन ने भी प्रभु के दोनों चरणों में शीश रख दिया है, अपना स्वाभिमान रख दिया है, जिसे सारे रथी–महारथी एवं वीर योद्धा देख रहे हैं। जिसप्रकार समाधि के सुख में साधक आसक्त हो जाता है, वैसे ही महात्मा अर्जुन को प्रभु की अमृतमयी वाणी सुनने में आसक्ति हो गयी है। उनके लिये यह विषय वैसे ही नया है, जैसे वाल्मीकिजी के लिए देवर्षि नारद का उपदेश नया था, जिसे सुनकर वे अखण्ड प्रभुनाम जप में बैठ गये थे। तुलसीदासजी ने अपने जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की है कि जब सूकरखेत में मेरे गुरुदेव ने अपने से रामकथा सुनाई थी तो मैंने महत् आदरबुद्धि से नहीं सुनी, जिसका परिणाम हुआ कि मुझे गृहस्थाश्रम जैसे नरकलोक में जाना पड़ा लेकिन जब धर्मपत्नी की बात का डंडा लगा तो संन्यास लेने के उपरान्त उसी रामकथा के प्रति अद्भुत अभिरुचि हो गई; जिसे मैं जगतहितार्थ दे रहा हूँ। जितेन्द्रिय अर्जुन भी सोच रहे हैं कि विद्यार्थीजीवन में उपनिषद् के कुछ अंश पढ़ने को मिले थे, किन्तु मैं उन अंशों को इसलिये छोड़ दिया करता था कि यह तो महात्माओं का विषय है। इससे क्या लेना देना। जैसे खगेन्द्रानन्द योगवासिष्ठ को इसलिये सांगोपांग नहीं पढ़ पाते कि उन्हें एक ही बात बार–बार पढ़ने में आती है, जबकि उन्हीं बातों में से कोई ऐसी बात रहती होगी

जो बड़ी गूढ़ होगी, जिससे जीवन की धारा ही बदल सकती है।

एक बार बड़ी हँसी आयी महाराज को, जब सासाराम (बिहार) से कार में गुरुदेव के साथ कहीं जा रहा था। गाड़ियों का जाम लगा हुआ था, उसमें अपनी भी गाड़ी फँस गई। पीछे भी असंख्य गाड़ियाँ और आगे भी असंख्य गाड़ियाँ हो गईं। गुरुदेव के परम प्रिय भक्त भी उसी रास्ते से पैदल आ–जा रहे थे। उन्हें क्या पता कि इन्हीं गाड़ियों में ही गुरुदेव की भी गाड़ी है। महाराज को मन ही मन हँसी आ रही थी कि जब साधक ध्यान में बैठता है तो इसीप्रकार विचार आते–जाते रहते हैं। यदि साधक सावधानी से देख रहा है तो उन्हीं विचारों में से एक ऐसा दिव्य विचार आयेगा जो ब्रह्म–अनुभूति दे जायेगा। जो भी वैदिक मंत्र हैं अथवा जो भी काव्य हैं, वे ऐसे ही क्षण में प्रकट हुए हैं। जैसे एक दिन श्यामानन्द ने बताया था कि गुरुदेव! ध्यान में चालीस साल पहले के भी विचार आ जाते हैं। यदि ध्यान में नहीं बैठे हैं तो याद करने पर भी नहीं आते। उसीप्रकार यदि आप भगवान के लिये बैठे हैं, राजस, तामस तथा सात्त्विक विचारों की धारा बह रही है और आप देख रहे हैं कि ये तो हमारे विचार हैं ही नहीं, तो चार–पाँच घण्टे बैठने के उपरान्त अपनी अनुभूति भी आ जायेगी। ब्रह्म भी विचारों से रहित तो है नहीं! क्योंकि यह सृष्टिप्रवाह उसका विचार ही तो है– सम्पूर्ण वेद उसी की वाणी कहे जाते हैं। उसीप्रकार महात्मा अर्जुन ने भी इन संकेतों को पढ़ा है लेकिन अब जब प्रभु के मुख से सुन रहे हैं तो तृप्ति नहीं हो पा रही है, जबकि भगवान उनकी पिटाई भी करते जा रहे हैं और सुनाते भी जा रहे हैं। जिसप्रकार लंकिनी का पाप समाप्त हो गया था, हनुमानजी की पिटाई खाने से; उसीप्रकार भक्त अर्जुन की भी पिटाई खाने से अब चेतना जाग रही है। अतः उस आध्यात्मिक चेतना के जग जाने के बाद में आध्यात्मिक रहस्य को मात्र सुनना ही चाहते हैं। इसलिये प्रभु ज्ञान के बाद विज्ञान, विज्ञान के बाद परम विज्ञान और परम विज्ञान के बाद ऐसा विज्ञान खड़ा कर रहे हैं जो समझने में अति सुगम होगा।

नित्यप्रति आध्यात्मिक चर्चा को सुनते–सुनते आध्यात्मिक चेतना कैसे जाग जाती है, महाराज ने आत्मानन्द के जीवन से देखा है। महाराज की सेवा से ही इनको पढ़ने का तथा स्वाध्याय का समय नहीं मिला। एक बार महाराज ने साधकों के बीच एक प्रश्न खड़ा किया था कि इस शरीर का मूल क्या है? तो सभी साधक मौन थे; इन्होंने कहा कि मैं बताऊँ? महाराज ने कहा कि बताओ। इन्होंने कहा कि शरीर का मूल वासना है। वासना का मूल क्या है? महाराज ने फिर पूछा। इन्होंने कहा कि वासना का मूल है– अज्ञान। महाराज ने पूछा– अज्ञान का मूल क्या है? उन्होंने कहा कि ब्रह्म। ब्रह्म ने ही अज्ञान को स्वेच्छा से स्वीकार कर रखा है लीला के लिये, विनोद के लिये। आत्मानन्द ने वासना को निकट से पहचाना है। बीस साल पहले ये कहा करते थे कि आप हमारे गाँव न जाया करें। आपकी सेवा में रहने के कारण से मुझे भी जाना पड़ता है। यहाँ आने पर माता–पिता, भाई–बान्धवों को देखकर मोह जग सकता है, आप जैसा वैराग्य अभी मेरे में नहीं है। महाराज के गुरुदेव भी कभी–कभी सहज ही कहते थे कि किसी ने संन्यास ले लिया है तथा पूर्व का विवाहित है, यदि वह कामविजेता नहीं हो पाया है और चालीस साल के बाद भी यदि धर्मपत्नी की आँखों से आँख मिल गयी तो उसमें

कामभाव प्रकट हो जायेगा। उसीप्रकार जो साधक विवाहित नहीं हैं, उनमें ज्ञान होने के पूर्व माता–पिता को देखने पर मोह–ममता जग सकती है। महाराज ने आत्मानन्द की बात सुनकर उनके गाँव जाना छोड़ दिया।

यदि लम्बे काल तक निर्मल जीवात्मा का सम्बन्ध विकारी जीवों से हो जाता है तो उसमें क्षुद्र जीवत्व आ ही जाता है। महात्मा अर्जुन पूर्व जन्मों से ही उच्चकोटि के साधक हैं; तो भी लम्बे काल तक वर्तमान जन्म में सामान्य जीवों के साथ रहने से, माता–पिता, भाई–बान्धवों के साथ रहने से उनमें भी जीवत्व प्रशस्त हो गया था, जिसको दूर करने के लिये प्रभु ने अनेकानेक सिद्धान्तरूप प्रयोग दिये। डॉक्टर भी गम्भीर रोग को दूर करने के लिये एक दवा के बाद दूसरी दवा, दूसरी दवा के बाद तीसरी दवा देने के बाद उस दवा को खोज ही लेता है, जिससे उस रोग का निदान हो जाता है। प्रभु भी सोच रहे हैं कि यह दवा अन्तिम हो सकती है। ऐसे सोचते–सोचते अब जिस दवा का प्रयोग करने जा रहे हैं, उस दवा का नाम है– पुरुषोत्तमयोग। इस योग की भी प्रशंसा प्रभु ने अध्याय के अंत में बहुत की है। भगवान ने अर्जुन के मन में शरीर के प्रति जो स्वजन भावना हो गयी है, जिस भावना से ममता–मोह के कारण वे अपने निर्विकार आत्मस्वरूप को भूल बैठे हैं; उसे याद दिलाने के लिये कई घेरे बनाकर उस क्षुद्रभाव को छिन्न–भिन्न करने का महत् प्रयास किया है। दूसरे अध्याय में पहला घेरा है कि ये सारे के सारे शरीर जीवात्मा पर वस्त्र के समान हैं और तुम आत्मरूप हो। अतः जो वस्त्र जूँओं से भरपूर हो गये हैं, जिनका निदान अब सम्भव नहीं है तथा दूसरे नये वस्त्र मिल रहे हों तो इन वस्त्रों को जला देना चाहिये, ऐसा कहकर भगवान ने शरीरों की अवहेलना कर दी। पाँचवें अध्याय में प्रभु ने कहा कि यदि मकान सब तरह से जर्जर हो गया है, पुराना हो गया है तथा नया मकान मिल रहा है तो उसे छोड़ ही देना चाहिये; पता नहीं कब गिर–ढह कर अपनी जान ही ले ले। तेरहवें अध्याय में कह दिया कि जिसको राजपद मिल रहा हो वह मूर्ख खेतों से क्यों प्रेम करेगा, जब वह राजा हो जायेगा तो सारी प्रजा एवं प्रजा की सम्पत्ति उसकी हो ही जायेगी। उसीप्रकार यदि आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो शरीररूपी खेतों से क्या प्रयोजन? जिन खेतों में पहले से ही भयंकर कँटीली झाड़ियाँ हैं, जिनकी सफाई करने पर भी खेत में मिट्टी कम, पत्थर ज्यादा होने से हानि के सिवा लाभ की सम्भावना है ही नहीं, तो ऐसे खेत को त्याग देना ही चाहिये। कौरवों का शरीररूपी वस्त्र, शरीररूपी महल तथा शरीररूप खेत, ठीक उपरोक्त दृष्टान्त के अनुरूप किसी काम के नहीं रह गये हैं, इसलिये अर्जुन से उन्होंने उन्हें त्यागने को कहा। अर्जुन के मौन होने पर अब प्रभु ब्रह्मास्त्र का संधान कर रहे हैं। वे कह रहे हैं–

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

हे पार्थ! ब्रह्म ही है मूल जिसका, ऐसे अव्यक्त प्रकृतिरूप (इच्छाशक्ति) तनावाले, मूलप्रकृतिरूप तने से प्रकट होनेवाली राजस, तामस एवं सात्त्विक प्रकृतिरूप शाखावाले एवं वेदरूप पत्तोंवाले, जिस संसाररूप पीपलवृक्ष को अविनाशी कहते हैं; उसे जो पुरुष उपरोक्त प्रकार से तत्त्वतः जानता है, वह वेद को यथार्थ जानता है। उस संसारवृक्ष की तीनों गुणोंरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे–ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता, वासनारूप जड़ें भी नीचे–ऊपर, सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।

(ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्.....मनुष्यलोके) यह एक पुरातन वृक्ष है, जो आमलोगों के लिए अव्यय अविनाशी प्रतीत हो रहा है जिसका नाम संसार है। इसकी उपमा पीपल वृक्ष से दी गयी है; क्योंकि सम्पूर्ण वृक्षों में वह विशेष पूजनीय है। अतः संसाररूपी वृक्ष का नाम लेने पर उसकी समानता करनेवाले वृक्ष का ही नाम लेना चाहिए– इस न्याय से भगवान ने ऐसा कहा है। जब वे अपने ही विश्वरूप को वृक्ष की संज्ञा देंगे तो फिर किस वृक्ष की उपमा देंगे! इसके लिए उपयुक्त तो पीपल का वृक्ष ही है, जो भगवान की विभूति है। वैष्णवता उसमें विशेष पायी जाती है, इसलिए कहा– 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययं'। संसार एक दिव्य अश्वत्थ है, जो अव्यय है, अविनाशी है, जिसकी जड़ ऊपर की तरफ है। सारे के सारे वृक्षों की जड़ें नीचे की तरफ होती हैं और शाखाएँ, डालियाँ, टहनियाँ ऊपर की तरफ बढ़ती जाती हैं, लेकिन यह पुरातन वृक्ष ऐसा दिव्य है कि इसकी जड़ें ऊपर हैं तथा शाखाएँ नीचे हैं। कौतूहल का विषय है यह, यहाँ ऊपर और नीचे की बात क्या है? यही कि इसकी जो जड़ें हैं, वे ऊपर हैं और जो शाखाएँ हैं, वे नीचे हैं। जो इसका तना है वह ब्रह्म की इच्छाशक्ति है जिसे पुराणों में ब्रह्मा कहा जाता है। तने के उपरान्त उसके नीचे में तीन शाखाएँ हैं– रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण, मानो ये इच्छाशक्तिरूप तीन शक्तियाँ हैं। इस पेड़ में सम्पूर्ण वेद की ऋचाएँ पत्ते हैं। यहाँ फूल की बात नहीं कर रहे हैं भगवान; क्योंकि पीपल के वृक्ष से फल ही प्रकट होता हुआ दिखाई पड़ता है, फूल नहीं दिखाई पड़ता, मानो वह एक साथ ही प्रकट हो रहा है, पृथक्–पृथक् तो है ही नहीं। फल की बात तो इसलिए भी नहीं की कि जिसप्रकार पीपल के वृक्ष में फूल नहीं दिखाई पड़ता केवल फल ही दिखाई पड़ता है, उसीप्रकार पूर्वजन्मों का कर्म नहीं दिखाई पड़ता लेकिन सुख और दुःखरूपी फल दिखाई पड़ता है। प्रायः ऐसा कहते हुए लोग देखे जाते हैं कि इस जन्म में तो मैंने ऐसा कोई पाप कर्म नहीं किया, फिर यह भारी दुःख मेरे पास कैसे आ गया? अवश्य ही किसी न किसी जन्म का दुष्कर्म होगा। आप सब जानते ही हैं कि कैकेयी पिशाचिनी एवं डाकिनी जैसी अयोध्या के लोगों को लग रही है। लोग कह रहे हैं कि पति को खा गयी और राम जैसे

बेटे को वनवास दे दिया लेकिन किसी को यह नहीं दिखाई दे रहा है कि राजा दशरथ भी श्रवणकुमार सहित उनके माता–पिता को खा गये थे। महाराज ने एक धर्मात्मा पिता के पास धुन्धुकारी जैसे बालक को देखा। सबलोग आश्चर्य के साथ कहते थे कि यह इनके किसी न किसी जन्म के दुष्कर्मों का फल है। इसप्रकार यह बिना फूल के फल देनेवाला मनुष्य शरीर पीपल के वृक्ष की उपमा से सुशोभित है। वेद ही जिसके पत्ते हैं, नियत कर्म और शुभाशुभ कर्म वेदों ने ही प्रकाशित किये हैं। उन्हीं वेदरूपी पत्तों से यह शरीररूपी वृक्ष हवा और सूर्य का प्रकाश लेता है अर्थात् कर्म, अकर्म तथा विकर्म का निर्णय करता है। इस ऐसे संसाररूपी वृक्ष के स्वरूप को जो पत्ते, फल, फूल एवं मूलसहित जानता है, वही इस मनुष्यलोक में यथार्थ जाननेवाला कहा जाता है। जो इसे इसप्रकार नहीं जानता, वह तो महामूर्ख ही है।

(अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा.....) इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर तथा नीचे सर्वत्र फैली हुई हैं। ऊपर और नीचे का तात्पर्य देवलोक तथा अधोलोक तक मानना चाहिए। पहले जो सामान्य अर्थ है आप उसे देख लें, फिर आध्यात्मिक विवेचन देखेंगे। देवलोक और गंधर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत–प्रेत तथा नरकलोक तक इसकी जड़ें तथा शाखाएँ फैली हुई हैं। जिसप्रकार सूर्यवंशरूप देवलोक में राजा वेन नामक अधमलोक आ गया, रावणलोकरूप राक्षसलोक में विभीषण नामक उत्तमलोक आ गया, कोल–भील नामक नरकलोक में शबरी नामक दिव्यलोक आ गया, पशु नामक अधःलोक में कामधेनु नामक दिव्यातिदिव्यलोक आ गया, पक्षी नामक अधमलोक में जटायु, सम्पाती नामक उत्तमलोक आ गया; (इसीप्रकार सम्पूर्ण प्राणियों हेतु गणित कर लेना चाहिये) उसीप्रकार सभी लोक एक–दूसरे में समाये हुए हैं; क्योंकि सम्पूर्ण लोकों में तीनों गुण व्याप्त हैं तथा वहाँ भी शब्द, स्पर्शादि विषय पीछा नहीं छोड़ते। यही नहीं, जो ममता, मोहरूप वासना है, वह भी देवलोक से लेकर अधमलोक तक फैली है, जो इस वृक्ष की जड़ कही जाती है। यहाँ तक कि दूसरे अर्थ में यह भी जानना चाहिये कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति– इन तीनों लोकों में भी ये आसक्ति एवं वासनारूपी जड़ें फैली हुई हैं।

(गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः.....) किसी भी पुरुष के द्वारा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणरूपी जल को स्वीकारने से उसमें से विषयरूपी कोपलें निकलती हैं। जैसे एक साधक ने कहा– घर–गाँव जाने पर मोह आ जाता है, स्वजनों को देखते हैं तो आसक्ति हो जाती है एवं भीतर का राग–द्वेषरूप विषय बढ़ जाता है। इसप्रकार तीन प्रकार के विषयी पुरुष ही साधक के विषय को जगाने के लिए जल हैं अर्थात् तामस, राजस एवं सात्त्विक कर्मरूपी जल से सींचा जानेवाला विषय बढ़ता जाता है। यद्यपि वासनारूपी जड़ें तो देवलोकों से लेकर अधःलोकों तक अर्थात् अधम(जड़) योनियों तक फैली हुई हैं, लेकिन मनुष्यलोक में तो सुख–दुःख भोग के साथ–साथ नवीन कर्मों से भी विशेष बाँधनेवाली हैं। इसी से कहा– 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'– यह कर्मरूप संस्कार तो मनुष्यलोक में इससे भी विशेष बन्धनकारक होता है।

(कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके.....) यह कर्म (संस्कार) तो मनुष्यलोक में इससे भी विशेष बन्धनकारक बनता है, क्योंकि कर्म के बाद कर्म प्रकट होता रहता है। नित्यप्रति हजारों, असंख्यों कर्म प्रकट होते हैं, उनका अन्त होना तो दूर शरीर छूटने के पूर्व ही वे मनुष्य के लिये एक नये

लोक की रचना कर देते हैं। सभी जानते हैं कि देवलोक से लेकर अधमलोक की आत्माएँ मात्र सुख या दुःख भोगती हैं। जैसे कुत्ते को आप रोज मारते हैं तो वह दुःख को भोग लेगा, किन्तु आपका द्वेषी एवं वैरी नहीं बनेगा। किसी भी प्राणी को आप सताते हैं तो वह आपका द्वेषी नहीं बनता, किन्तु यदि मनुष्य को सतायेंगे तो वह बदला लेकर रहेगा। परस्पर में दो व्यक्तियों में लड़ाई हो जाने पर बहुत साल तक बोलना–चालना अथवा व्यवहार करना बंद हो जाता है। इतना ही नहीं, एक–दूसरे को नीचा दिखाने का हर सम्भव प्रयास भी होता है। पशु भी आपस में लड़ते–झगड़ते हैं; किन्तु कुछ समय के उपरान्त ही वे अपने पूर्ववत् व्यवहार में आ जाते हैं। इसलिये अन्य योनियाँ अपने सुख एवं दुःख को भोगकर तो आगे बढ़ती हैं लेकिन मनुष्य राग–द्वेषरूप वासना को लेकर पीछे हटता है। यह तीनों गुणरूपी जल से सींचा जानेवाला वृक्ष कभी कड़वा तो कभी मीठा फल अर्थात् कभी दुःख तथा कभी सुखरूपी फल देता रहता है।

उपरोक्त मंत्रों में इस शरीररूपी वृक्ष की उपमा पीपल के वृक्ष से दी गयी है, वह इसलिए कि जिसप्रकार पीपलवृक्ष की उपासना करने से अपने में दैवी शक्ति का संचार होता है, उसके नीचे बैठकर जप, तप, योग असंख्यगुना प्रभावकारी हो जाता है; उसीप्रकार देवता, पशु–पक्षी और मनुष्य योनियों में मनुष्य का शरीर ही सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है, जिसके द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

(ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्.....) ऊपर का तात्पर्य अतिसूक्ष्म–अतिसूक्ष्म अर्थात् ब्रह्म से समझना चाहिए। अज्ञानियों की तरह आकाश ऊपर है और पृथ्वी नीचे है, ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए। इस आध्यात्मिक प्रसंग में तो ऊपर–नीचे की बात ही नहीं की जायेगी। अतः इस ऊपर और नीचे की कहानी को अच्छीप्रकार समझने के लिए एक संकेत दिया जा रहा है, जिससे आप भलीभाँति समझ जायेंगे।

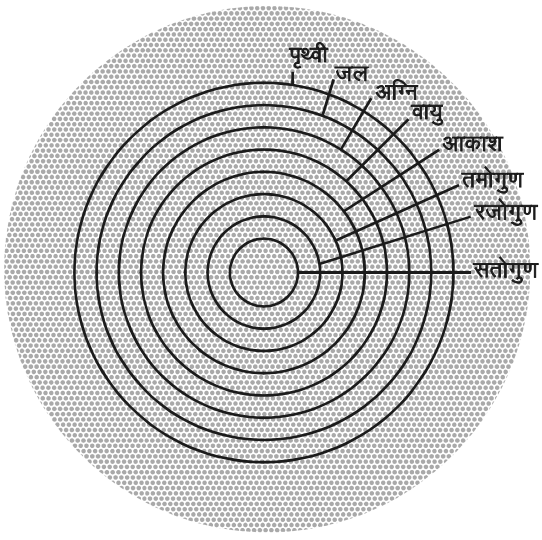

उपरोक्त सृष्टिचक्र में जो सर्वत्र बिन्दु का भाग है, वह सर्वव्यापी ब्रह्म का संकेत है तथा गोलाकार खींची हुई रेखाओं को प्रकृति का घेरा मानें। सर्वप्रथम वैष्णवी शक्ति (सतोगुण) का घेरा है, उसके उपरान्त ब्राह्मी शक्ति (रजोगुण), माहेश्वरी शक्ति (तमोगुण), आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का घेरा है। इसे पुनः समझें– पृथ्वी से लगभग दस हजार गुना घेरा जल का है, जल से दस हजार गुना अग्नि का, अग्नि से दस हजार गुना वायु का, वायु से दस हजार गुना आकाश का, आकाश से दस हजार गुना माहेश्वरी शक्ति का, माहेश्वरी शक्ति से दस हजार गुना ब्राह्मी शक्ति का, ब्राह्मी शक्ति से दस हजार गुना वैष्णवी शक्ति का घेरा है तथा इन सबके भीतर–बाहर व्याप्त एकमात्र व्यापक ब्रह्म ही ब्रह्म है।

इसप्रकार पृथ्वी के भीतर–बाहर सूक्ष्म जल व्याप्त है, इन दोनों के भीतर–बाहर सूक्ष्म अग्नि व्याप्त है, अग्निसहित इन तीनों के भीतर–बाहर सूक्ष्म वायु व्याप्त है, वायुसहित इन चारों के भीतर–बाहर आकाश व्याप्त है, आकाशसहित इन पाँचों के भीतर–बाहर माहेश्वरीशक्ति व्याप्त है, माहेश्वरीशक्ति के भीतर–बाहर ब्राह्मीशक्ति व्याप्त है, ब्राह्मीशक्ति के भीतर–बाहर वैष्णवीशक्ति व्याप्त है और सबके भीतर–बाहर परिपूर्णरूप से ब्रह्म व्याप्त है।

शरीर दिखाई पड़ रहा है जबकि इससे असंख्य गुना प्राणवायु बलवान है, जो इसकी अपेक्षा अति सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ रही है। इसीप्रकार उससे असंख्य गुना मन बलवान एवं सूक्ष्म है। अतः अन्य तत्त्वों को भी ऐसा ही समझना चाहिये। यही बात ब्रह्म के अन्तर्गत प्रकृति के घेरे की है।

(ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्.....) इस मंत्र से यह स्पष्ट हो रहा है कि यह शरीर भी पीपलवृक्ष के समान एक वृक्ष ही है, जिसका मूल तो अविनाशी आत्मा है तथा जन्म–जन्मान्तर की वासना ही उसका बीज है, जिसे प्रारब्ध कहा जाता है। बुद्धि इसका तना है, मनुष्य, देवता एवं अधम योनियाँ ही इसकी तीन शाखायें हैं, तीन गुण ही इसे सींचने के लिये जल है। इसकी अहंता, ममता की वासनारूपी जड़ें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति– इन तीनों लोकों तक फैली हुई हैं, जिसमें से शब्द, स्पर्शादि विषयरूपी कोपलें निकलती हुई शोभा दे रही हैं। इसप्रकार नवीन कर्मों से अपने–आप में बाँधनेवाली आसक्ति ही मनुष्य के रोम–रोम में फैली हुई है। उपनिषद् से लेकर पुराणों एवं शास्त्रों तक इस शरीर को वृक्ष की ही उपमा दी गई है। सबने अपने–अपने ढंग से इस शरीर का रूपक तैयार किया है। प्रभु का रूपक संक्षिप्त है, जिसका विस्तार हमलोगों को अपने से करना चाहिये। महाराज के द्वारा उस रूपक को देखें– इस मंत्र में ऊर्ध्व, मूलं, अधः, शाखः तथा 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' ये पाँच पद दिये गये हैं। जिसमें "ऊर्ध्व" पद का तात्पर्य निर्गुण–निराकार ब्रह्म से जानना चाहिये, उसकी इच्छाशक्ति को ही मूल प्रकृति जानना चाहिये, वासना को बीज समझना चाहिए तथा बुद्धि को ही अधः अर्थात् तना समझना चाहिये, तीन प्रकार की योनियों को तीन शाखायें एवं ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद को ही इस पेड़ के पत्ते मानने चाहियें। इसलिये कि इन्हीं तीनों वेदों से सकामीपुरुष अपने कर्म–धर्म का निर्णय कर उसके द्वारा ही आचार–विचार का पालन कर सुख–समृद्धि प्राप्त करते हैं। अज्ञानियों के लिये इस वृक्ष को पुरातन, अव्यय एवं अविनाशी इसलिये कहा गया है; क्योंकि वे इसका आदि, मध्य और अन्त

जानते ही नहीं हैं। कुछ लोगों ने ब्रह्म को ही इसका बीज कहा है। महाराज को उनका ऐसा कहना भी यथार्थ लग रहा है; क्योंकि उन्होंने इस शरीररूप सृष्टि की आदि परम्परा से ही इस मंत्र का अर्थ निकाला है, क्योंकि प्रारम्भ में ब्रह्म ही था उसने संकल्प किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ, ऐसा संकल्प करते ही वह तीन प्रकार की योनियोंवाला हो गया अर्थात् असंख्यरूप हो गया लेकिन महाराज ने इस मंत्र का अर्थ वर्तमान जन्म को ध्यान में रखकर किया है। इस आध्यात्मिक शास्त्र के अनुसार ब्रह्मा की जगह बुद्धि शब्द रखा है; क्योंकि बुद्धि (जीवात्मा) ही संकल्प के साथ सृजन करती है। तीनों वेदों में जितने मंत्र तथा उपमंत्र हैं, वे सब के सब पत्ते ही हैं; क्योंकि इन्हीं मंत्रों के कारण से लोकमत, वेदमत एवं संतमत का विभाग हुआ है। जो इसमें से उत्तमात्युत्तम भाग है वह संतमत कहलाया, मध्यमभाग वेदमत कहलाया तथा अधमभाग लोकमत हो गया। इन तीन मतों से ही लोग अपने–आपको व्यवस्थित करने का प्रयत्न करते हैं। इसप्रकार इस शरीररूप वृक्ष की झाँकी देखें–

आधार	ब्रह्म (ऊर्ध्व)
बीज	प्रारब्ध (मूल)
तना	बुद्धि (अधः)
शाखायें	तिर्यक् योनि (मनुष्य, देवता, पशु–पक्षी)
पत्ते	तीन वेद (ऋक्, यजु, अथर्व)
कोपलें	विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)
जड़ें	अहंता, मोह, ममता आदि
फल	सुख और दुःख
जल	तीन गुण (सत्, रज, तम)

ब्रह्म को आधार तथा प्रारब्ध को ही आपने बीज (मूल) कहा है, जबकि कुछ टीकाकारों ने ब्रह्म को ही मूल कहा है? इसका उत्तर ऊपर में दे दिया गया है, फिर भी सुनें– जिसप्रकार पेड़ का बीज पृथ्वी को नहीं कहा जायेगा बल्कि पेड़ का फल ही बीज कहलाता है। जिसप्रकार बीज नहीं रहेगा तो वृक्ष भी नहीं रहेगा, उसीप्रकार कर्मरूपी बीज नहीं रहेगा तो शरीररूपी वृक्ष की भी उत्पत्ति नहीं होगी। वैसे भी महाराज ने ब्रह्म को तो आधार कह ही दिया, आधार के बिना तो बीज की सत्ता है ही नहीं तथा ऐसा अर्थ महाराज ने वर्तमान जन्म को लेकर किया है। ऐसा कहने से साधकों को समझने में सुगमता होगी। वैसे सम्पूर्ण योनियों में सम्पूर्ण शरीरों का मूल एवं आधार तो यथार्थ में ब्रह्म ही है; क्योंकि अहंरूप द्रष्टा के द्वारा वही सबमें व्याप्त है। जैसा कि महाराज सदा कहा करता है कि अहम् (मैं) पद ही चेतन है। जैसे मैं संत हूँ, मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं पक्षी हूँ, मैं कीट–पतिंगा हूँ आदि आदि। इन सम्पूर्ण शरीरों के मूल में चेतन ब्रह्म (मैं) ही स्पष्ट दिखाई दे रहा है 'एकोऽहं बहुस्याम्' अर्थात् एक से बहुत हो जाऊँ के अनुसार तो कर्म को बीज कहा ही नहीं जा सकता। बीज और वृक्ष दोनों ब्रह्म को ही कहा जायेगा। अतः यहाँ दोनों अर्थ दे दिये गये हैं, जिसको जो समझ में आये उसको धारण करे।

अज्ञानियों के लिये यह संसाररूपी वृक्ष तथा शरीररूपी वृक्ष पुरातन इसलिये कहा जाता है; क्योंकि–

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं–
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा–
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै–
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

इस संसारवृक्ष का स्वरूप जैसा पुराणो–शास्त्रों में कहा गया है वैसा यहाँ विचारकाल में नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न इसकी अच्छीप्रकार से स्थिति ही है। इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूपी अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूपी पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वर को भलीभाँति खोजना चाहिए, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर नहीं आते। जिससे संसार–वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायण की मैं शरण में हूँ– इसप्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है तथा जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं, वे सुख–दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन ही उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

(न रूपमस्येह तथोपलभ्यते.....) अभी कहा था महाराज ने कि सामान्य लोगों के लिए मानो यह अविनाशी अव्यय पुरातन वृक्ष है लेकिन विशेष के लिए अर्थात् चिन्तनशील ज्ञानी को वह वृक्ष मिलता ही नहीं, तो वह किस पेड़ की जड़ को खोदे? जैसा पुराण और शास्त्र में इसका विवेचन किया गया है, वैसा ज्ञान होने के उपरान्त इसका स्वरूप नहीं मिलता– 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा'। हाँ, यहाँ भगवान सम्पूर्ण पुराणों के सृष्टिवाद, संसारवाद, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयवाद का खण्डन कर रहे हैं। वेदान्त में ब्रह्म के सिवा कुछ स्वीकार नहीं किया जाता। इसके आजतक न आदि का पता चला, न अन्त का और न मध्य का। आपका सपना कब

प्रारम्भ हुआ, यह तो आजतक आपने जाना नहीं है फिर इसका अन्त भी आप कैसे जानेंगे एवं मध्य तो तब आप बता सकते हैं सपने का, जब सपना टूटा और आपने देखा लेकिन प्रारम्भ कहाँ से हुआ इसे तो आपने देखा नहीं, तो फिर मध्य की बात क्या कर रहे हैं और टूट गया तो फिर ऐसा तो है नहीं कि ऐसा सपना होगा ही नहीं, वह तो फिर चालू हो जायेगा; इसलिए इसका आदि, अन्त, मध्य आजतक किसी ने नहीं बताया। मार्कण्डेय ऋषि ने कहा– मैं आपकी माया के आदि, अन्त और मध्य को जानना चाहता हूँ, तो भगवान ने कहा– आपको मैं ऐसी शक्ति देता हूँ कि सम्पूर्ण सृष्टियों में आप भ्रमण कर सकते हैं अतः आप स्वयं पता कर लें इसके आदि, मध्य और अन्त का। अन्ततोगत्वा बारह साल बीत गये समाधि में, यहाँ का हजारों साल बीत गया, हजारों साल सूक्ष्मजगत की यात्रा करते रह गये। समाधि का पहला स्तर ऐसा है, जिसमें साधक लोक–लोकान्तरों में भ्रमण करता रह जाता है, किन्तु आदि, अन्त का पता चलता ही नहीं। उसीप्रकार उन्हें भी अन्त नहीं मिला। जब अन्त नहीं मिला तो मन से थककर भगवान का स्मरण किया। भगवान बालमुकुन्द के रूप में सामने आ गये और हँस पड़े, यह कहते हुए कि आग में से उष्णता का आदि, अन्त और मध्य ढूँढ़े, जल में शीतलता का कोई आदि, अन्त और मध्य ढूँढ़े तो जैसे नहीं ढूँढ़ सकता, वैसे ही सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य को कोई नहीं ढूँढ़ सकता। ज्योतिषी कहते हैं जन्मकुण्डली में कि आपकी सौ वर्ष की उम्र है, आपकी अस्सी वर्ष की है, आपकी सत्तर, आपकी पचास और आपकी उम्र चालीस वर्ष की है; लेकिन जब भूकम्प आता है तो उस क्षेत्र में सबकी जन्मकुण्डली समाप्त हो जाती है। अभी कुछ वर्ष पूर्व गुजरात, महाराष्ट्र, (लातूर) तथा हिमाचल और उत्तरकाशी में ऐसा ही हुआ। अब ज्योतिषियों से कोई पूछे कि 'इन जन्म–कुण्डलियों का क्या होगा जिनमें सबकी उम्र आप सब ने बतायी थी? जबकि कोई उसमें दस, कोई बीस, कोई तीस साल पहले चला गया।' एक साधक अपनी जन्मकुण्डली लाया है, कहा कि गुरुदेव थोड़ा देख लें कि साधु बनूँगा कि नहीं, यानी साधनपथ में विजयी होऊँगा तभी मैं साधु बनूँगा, नहीं तो नहीं बनूँगा। ऐसा ही एक साधक ने कहा था कि "तीन लाख जमा करके मैं साधक बनूँगा, तभी तो बुढ़ापे में सेवा करेंगे लोग!" जबकि आध्यात्मिक शास्त्र कहता है कि वहाँ ज्योतिष का कोई मूल्य नहीं होता जहाँ कि आप आध्यात्मिक भूमि में प्रवेश कर गये हैं और न उसमें कल के लिए जगह होती है। एक सिद्ध संत की हस्तरेखा को देखकर ज्योतिषी ने कहा– अरे! आपकी रेखा में तो चार बेटे एवं तीन बेटियाँ हैं लेकिन आप संत कैसे हो गये! मेरा ज्योतिष शास्त्र गलत है या मैं देखनेवाला गलत हूँ, मैं तो संकट में पड़ गया हूँ? तो संत ने कहा कि आदि, अन्त तथा मध्यवाला ब्रह्म नहीं हूँ न मैं! इसलिए आप गणित नहीं कर पायेंगे। आपका ज्योतिष शास्त्र भी ठीक कह रहा है और आप भी ठीक कह रहे हैं। आप सात–आठ बेटे–बेटी की बात कर रहे हैं और देख नहीं रहे हैं कि मेरे पास पचासों शिष्य एवं शिष्या हैं! आपको पता होना चाहिए कि शास्त्र ही कहता है कि शिष्य एवं शिष्या भी बेटे–बेटी ही होते हैं। आपका ज्योतिषशास्त्र यहाँ नहीं पहुँचेगा क्योंकि आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं उसका तथा आदि, अन्त और मध्य रहित होने के कारण से प्रतिष्ठित कहाँ है, कैसे है, इस विषय में भी कोई कह नहीं सकता। आजतक किसी ने कहा ही नहीं, क्योंकि अच्छी तरह से प्रतिष्ठा है ही नहीं। अतः आप चाहें तो अनासक्त होकर इस शरीररूपी वृक्ष से दूर हट सकते हैं। अनासक्त होना ही इसे

जड़–मूल से खोदना हुआ, यही आध्यात्मिक विश्लेषण है।

(न रूपमस्येह तथोपलभ्यते.....) भगवान नारायण ने इस विषय को अर्जुन से पहले नहीं कहा, बाद में कहा। इसलिये कि सुनते–सुनते जब प्रज्ञा जाग जाती है तब गम्भीर विषय को सुनने की योग्यता आ जाती है। अज्ञानियों के लिए यह शरीर पुरातन वृक्ष है ऊपर में आपने ऐसा कहा है, यहाँ ऐसा क्यों कह रहे हैं आप? हाँ! ऐसा इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उसका एक शरीर के बाद दूसरा शरीर जन्म लेने के लिए तैयार रहता है। जैसे वृक्ष से फल नीचे आया और दूसरा वृक्ष बनना शुरु हो गया अथवा अम्बाला के जटवाड़ गाँव में देखा कि एक वटवृक्ष की जटा धरती में आ गयी और वह विशाल वृक्ष बन गया। जब विशाल वृक्ष बन गया तो मुख्यवृक्ष सूखता गया, सूखता गया, वह सूख ही गया। अब इस पेड़ से तीसरी जड़ (बरोह) भी एक तीसरा वृक्ष बन रहा है। जब वह वृक्ष भी खड़ा हो जायेगा पूरी अच्छीप्रकार से तो दूसरा वृक्ष भी समाप्त हो जायेगा। उसीप्रकार अज्ञानियों का एक जन्म के बाद दूसरा जन्म, दूसरे जन्म के बाद तीसरा जन्म, तीसरे जन्म के बाद चौथा जन्म होता रहता है, इसलिए उनके लिए मानो यह शरीर ही पुरातन वृक्ष है। जबतक ज्ञान नहीं होता तबतक समूल नष्ट होता ही नहीं, अतः उनके लिए कहा गया कि जो इसे संसार के रूप में देखते हैं उनके लिए यह वासनामय हो जाता है तथा वासना का कभी अन्त नहीं होता अर्थात् जबतक ज्ञान न हो जाए तबतक अज्ञानियों की समझ में यह विनाशी शरीर ही अविनाशी है; क्योंकि जबतक ज्ञान न हो जाए तबतक दूसरा शरीर खड़ा करके ही वह समाप्त होता है। हररोज उस दिव्य शरीररूपी वृक्ष से स्वप्नजगत के माध्यम से वृद्धि हो रही है। आपने देखा होगा कि बालक संत की तरफ देखता है और देखता रह जाता है, लेकिन बूढ़े को कह दीजिए तो नहीं देख पायेगा। सबसे चंचल बूढ़ा होता है इसलिए कि वासना उसके भीतर फैल गयी है। बाल–बच्चे धक्के देते रहेंगे तो भी उन्हीं को आत्मा–परमात्मा माने–जाने रहेगा, उन्हीं के लिए अपना सबकुछ बलिदान कर देगा। काम बुढ़ापे में व्यापक हो जाता है, क्रोध बुढ़ापे में व्यापक हो जाता है, लोभ बुढ़ापे में व्यापक हो जाता है। एक व्यक्ति को देखा महाराज ने इसी जीवजगत में, उन्होंने कहा कि बाबा! मैंने तो इतना कमा दिया है कि दस पीढ़ी तक भी समाप्त होगा ही नहीं, ये लोग केवल खाना जान लें। तो महाराज ने कहा कि दस प्रतिशत दान कर दिया करो उसमें से, नहीं तो बच्चे शराबी निकल जाएँगे न! तो कहा उन्होंने कि 'बाबा दस प्रतिशत! दस प्रतिशत तो बहुत हो जाएगा। एक प्रतिशत भी नहीं निकाल सकता मैं तो।' वे अब चाहे आज मरे या कल मरेंगे अवश्य ही। इसप्रकार वासना फैलती जाती है, लोभ फैलता जाता है और इतना फैल जाता है, इतना फैल जाता है कि अनेक जन्मों के संस्कार संचित हो जाते हैं। जैसे सपनों का अंत नहीं है, वैसे ही उस अज्ञानी के, मूढ़ नारकीय पुरुष के जन्म–मृत्यु का अन्त नहीं है। क्योंकि अव्यय अविनाशी मानता है अपने स्थूल शरीर को ही। अव्यय अविनाशी तो ब्रह्म है लेकिन मूर्ख के लिए उसका संसार और शरीर ही अव्यय अविनाशी है। भगवान ने ऐसा कहकर बहुत बड़ा व्यंग्य किया है यहाँ पर।

बृहदारण्यकोपनिषद् में अष्टावक्र और राजा जनक के सभासदों के बीच दिव्य आध्यात्मिक वाद चल रहा था। अष्टावक्र ने अंत में सबसे एक प्रश्न किया, जिसका उत्तर न दे पाने के कारण

सबके सिर झुक गये, नीचे हो गये। प्रश्न है कि वृक्ष जिस धर्मवाला होता है, उसी धर्म से पुरुष भी सम्पन्न होता है– वृक्ष में पत्ते होते हैं और पुरुष के शरीर में पत्ते की जगह रोएँ होते हैं; वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है और उसी की समता में पुरुष के शरीर में त्वचा होती है; वृक्ष की छाल से ही गोंद निकलता है, वैसे ही पुरुष के शरीर से रक्त चूता है; जिसप्रकार आघात करने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसीप्रकार चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है; पेड़ की छाल के भीतरी भाग को गूदा (शकट) कहते हैं, पुरुष के शरीर में उसे मांस कहते हैं; वृक्ष में छाल और गूदा के भीतर एक और भी सूक्ष्म अंश होता है जिसे किनाट कहते हैं, वैसे ही पुरुष के शरीर में नसों का जाल होता है; वृक्ष में लकड़ी (काष्ठ) होती है और पुरुष के शरीर में हड्डी होती है; किन्तु यदि वृक्ष को काट दिया जाय (जड़ से उखाड़ा न जाय) तो वह अपने मूल से पुनः और भी नवीन होकर अंकुरित हो जाता है। इसीप्रकार यदि मनुष्य को मृत्यु काट डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा?

वह वीर्य से उत्पन्न होता है– ऐसा तो मत कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है। वृक्ष भी बीज से ही उत्पन्न होता है, किन्तु बीज से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जाने के पश्चात् पुनः अंकुरित होकर बढ़ता रहता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है। हाँ! यदि वृक्ष को मूल सहित ही उखाड़ दिया जाय तो फिर उत्पन्न ही नहीं होगा, इसीप्रकार यदि मनुष्य को मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूल से उत्पन्न होता है?

(अध्याय–३, ब्राह्मण भाग–६, श्लोक–१ से ५)

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र का यहाँ स्पष्ट आशय है कि कर्म ही शेष रह जाता है अर्थात् वासना ही शेष रह जाती है। वह वासना ही बीज है, उसी वासना से पुनः जन्म हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में राजा जनक के दरबार की आख्यायिका है। बड़ी सुगमता होती है इस संदर्भ से उस विषयवस्तु को समझने और समझाने में। समाधिस्थ पुरुष है कोई, फिर तो उदाहरण की आवश्यकता नहीं है; लेकिन जो समाधिस्थ नहीं हैं साधकगण, उनके लिए यह आख्यायिका बड़ी विलक्षण है।

गोस्वामीजी ने श्रीरामचरित मानस में इस पुरातन वृक्ष का संकेत इसप्रकार दिया है–

अब्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।।
(उत्तरकाण्ड, दोहा नं०–१२(क) छंद ५)

इस छन्द में गोस्वामीजी ने इस शरीररूप संसार का "आदि" अव्यक्त को ही माना है। वे प्रभु श्रीराम से कह रहे हैं कि यह संसाररूपी वृक्ष आप ही हैं। आप ही मूल भी हैं, तना, शाखा, पत्ते, फूल–फल भी आप ही हैं। अतः मैं संसाररूप में भी आपकी वन्दना करता हूँ।

तो मूल क्या है उस शरीर का? तो कहते हैं कि ब्रह्म ही मूल है। वह मूल कैसे हो गया? ऐसे कि उसने संकल्प किया– मैं एक से बहुत हो जाऊँ। कैसे संकल्प किया? जैसे पुरुष कहता है कि मैं एक ही हूँ, अतः जब घर में रहना है तो बहुत होकर रहूँगा। घर में रहना है तो शादी करूँगा, बाल–बच्चे होंगे, एक से अनेक होऊँगा। इसप्रकार वह संकल्प करके एक से अनेक होने के लिए शादी करता है, उसके बाल–बच्चे होते हैं। जब बाल–बच्चे हो जाते हैं तो कालान्तर में फिर कहता है कि मैं अब बहुत से एक हो जाऊँ। कभी कोई आत्मजिज्ञासु साधक, भक्त ऐसा करते भी हैं और ऐसा करके संकल्प के साथ उन बाल–बच्चों अर्थात् स्वजनों को छोड़कर संन्यास ले लेते हैं। इसप्रकार पुनः एक हो जाते हैं। अतः उन बाल–बच्चों के मूल तो वही हुए! उन्होंने ही उन बाल–बच्चों को स्वीकारा तथा उन्होंने ही उन बाल–बच्चों को छोड़ दिया। बाल–बच्चों को स्वीकारा तो बहुत हो गये और अस्वीकारा तो एक हो गये। बड़ा सुगम साधन है साधकों के लिए, अब इससे सुगम साधन नहीं हो सकता है। यदि यह बात समझ में आ गयी, तब मायामय विचार कैसे आयेंगे? जब आप जान लेंगे कि यह विचार मेरा ही संकल्प है तो जहाँ से ये विचार आते हैं, जिस संकल्प से विचार आते हैं, वहाँ उस संकल्प को ही छोड़ दें। महात्मा अर्जुन युद्ध नहीं कर पा रहे हैं जबकि भगवान कह रहे हैं कि तुम एक से अनेक हो गए थे, अब अनेक से एक हो जाओ। एक से अनेक हो गया जीवात्मा, यह कैसे? (चौथे अध्याय में इसका विशद वर्णन किया गया है)।

अनेक से एक होने की कहानी को पुनः एक बार देखें– जैसे ही आप कहते हैं कि मैं अनेक से एक हो जाऊँ तो बड़े वेग से उपरामता आती है जगत से। कोई साधक यदि बीस साल से घर छोड़ दिया होगा तो अब घर उसे याद करने पर भी याद नहीं आता होगा। बारह साल तक घर गाँव के सपने तो आयेंगे लेकिन जाग्रतवस्था में उसे घर बारह साल के बाद याद नहीं आयेगा, यदि घर नहीं गया है तो। उसको घर याद करने के लिए जैसे सपने को संकल्प से याद किया जाता है वैसे ही उस घर–गाँव को संकल्प से याद करना पड़ेगा। क्यों? इसलिए कि वह बारह साल तक किसी अन्य प्रदेश में रह गया, तो बारह साल के पूर्व के संस्कारों के ऊपर वहाँ के संस्कारों की परत जम गयी है। इसलिए अब वे पूर्व के संस्कार याद नहीं आ रहे हैं। याद करने के लिए भी उसे गाँव–घर को मन के द्वारा खींचकर लाना पड़ेगा। महाराज आपकी स्मृति को बड़ा सामर्थ्यशाली मानेगा कि सवेरे से लेकर शाम तक के विचार आप ध्यान में जान लें। आप नहीं जान पायेंगे। सुबह जगने से लेकर सोने तक कौन–कौन से विचार आये हैं, उसे याद करें तो आप भूल जायेंगे। एक घण्टा, आधा घण्टा, पन्द्रह मिनट पहले के ही विचार आप याद कर पायेंगे। हाँ, पूर्व के महत्त्वपूर्ण विचार तो याद आ जायेंगे लेकिन विचारों में से जो विचार फूटे हुए हैं, वे विचार आपको याद नहीं आयेंगे; क्योंकि असंख्य विचारों की परत हो गयी है उसके ऊपर।

(अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा.....) ये शाखाएँ–प्रतिशाखाएँ और उनकी जड़ें कहाँ तक फैली हैं इसके उत्तर में प्रभु कहते हैं– सम्पूर्ण योनियों सहित देवलोक तक। ये जो वासना की जड़ें हैं, देवलोक में भी ऐसी ही हैं जैसी कि यहाँ पर हैं अर्थात् राग–द्वेष देवलोक में भी है।

अरिष्टनेमि नामक साधक ने कहा कि आप स्वर्ग मे ले जाना चाहते हैं तो वहाँ क्या विशेषता है? इन्द्र ने कहा– वहाँ तो विशेषता ही विशेषता है महात्मन्! अपने–आप पदार्थ आ जाते हैं, सुखोपभोग के सारे के सारे विषय इच्छा मात्र से ही प्रकट हो जाते हैं। मैं कहाँ तक कहूँ, जिसके लिए सभी प्रयत्न कर रहे हैं, वे सभी विषयवस्तु वहाँ पर अपने–आप प्राप्त हो जाते हैं। साधक ने पूछा– दोष भी कुछ है? इन्द्र ने कहा कि हाँ! अपने से ऊपरवालों, ऊँचे सिंहासनवालों, ऊँचे पदवालों से ईर्ष्या हो जाती है। साधक ने कहा– राम! राम!! राम!!! यहाँ तो मैं ईर्ष्या से मुक्त हो गया हूँ, देवराज! क्योंकि यहाँ मेरे से तो बड़ा कोई है ही नहीं। इस भूमि पर संत से बड़ा कोई नहीं होता। अतः मुझे अब यहाँ ईर्ष्या नहीं होती और वहाँ ईर्ष्या होगी। अतः ऐसे आपके लोक में हे देवराज! मैं नहीं जा सकता।' इसप्रकार वासना की जड़ें सर्वत्र फैली हुई हैं। दिव्य भोगों के भोगने से वासना समाप्त नहीं होती बल्कि अन्तर्भोग अर्थात् ईर्ष्या होने लगती है। तिर्यक्योनियों में भी वासना की जड़ें फैली हुई हैं, विचार वहाँ भी आते हैं। पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे ये सभी वासनामय विचारों के ही घेरे में रहते हैं। शरीर छोड़ते समय उन सबके मन में कौन सा विचार चल रहा है, उसी के अनुसार उनका अगला जन्म होता है। इसप्रकार किसी के भी आदि, अन्त और मध्य की बात नहीं की जा सकती। हाँ, यदि आप तन, मन, वचन, हृदय से अनासक्त हो जाते हैं तो यह आदि, अन्त वाला शरीर संसारसहित आप में ही विलीन हो जायेगा।

(न रूपमस्येह तथोपलभ्यते.....) यह तो स्पष्ट हो ही गया कि ज्ञान होने के उपरान्त जैसा यह दृश्य दिखाई पड़ रहा है वैसा नहीं दिखाई पड़ता, इसी से इसके आदि, मध्य और अन्त की कल्पना नहीं की जा सकती। जब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तक वासना की जड़ें हैं तो उसके आदि की कहाँ से शुरुआत की जायेगी? यदि जाग्रत् से की जाय तो अन्त में सुषुप्ति होती है, स्वप्न मध्य में होता है; यदि सुषुप्ति को आदि कहते हैं तो जाग्रत् अन्त हो जाता है। मृत्यु को देखते हुए यदि स्वप्न को आदि कहते हैं तो सुषुप्ति मध्य में हो जाती है, जाग्रत् अन्त में होता है। अतः कोई आजतक यह निर्णय नहीं कर सका कि सृष्टि की शुरुआत कहाँ से करें।

नारदजी ने कंस को आकर बता दिया कि आठवें बच्चे की गणना किससे करोगे? हर उँगली से पहली गणना की जा सकती है और प्रत्येक उँगली आठवीं भी हो सकती है। कर्मकाण्डीय ज्योतिष के अनुसार कहीं कहा गया है कि यदि विशेष संख्या की गिनती करनी हो तो तर्जनी उँगली से ही प्रारम्भ करनी चाहिये। कोई आचार्य कहता है– नहीं, नहीं! मध्यमा से गिनती शुरु करनी चाहिये। किन्हीं का मत है कि अनामिका ही पहली उँगली है; क्योंकि ब्रह्म सर्वप्रथम जल से प्रकट हुआ फिर उसने सृष्टि की, तो कोई कहता है कनिष्ठिका ही पहली है। कितने लोग अँगूठे को आकाश मानते हैं और कितने लोग कनिष्ठिका को आकाश मानते हैं तो वह आठवाँ बच्चा कौन होगा, जो तुम्हारा वध करेगा? आप इसपर चिन्तन करें। अब कंस विकल हो गया और सारे बच्चों को मारना शुरु कर दिया। उसीप्रकार आप यदि आध्यात्मिक साधक हैं, तो ज्योतिष शास्त्र के अनुसार विषय–वासना की गणना कहाँ से करेंगे। काम, क्रोध की उत्पत्ति कब और कहाँ से हुई इसको किसने जाना। प्रभु ने तो स्पष्ट कह दिया कि कामरूप

वासना शरीर से लेकर बुद्धि तक फैली हुई है (गीता अध्याय–३) लेकिन ज्ञान हुए बिना तो बुद्धि की मुक्ति नहीं होती और जबतक उसकी मुक्ति नहीं होती तबतक विषय–वासनारूप संसार का समाधान नहीं होता। भगवान इस मंत्र में कहना चाहते हैं कि विषय–वासनारूप माया का आदि, अन्त है ही नहीं, अतः इसे अनादि शान्त कह दिया जाता है तथा आप भी आदि, अन्त, मध्य से रहित हैं इसलिए आपको अनादि अनन्त कहा गया है। यदि आप अपने द्रष्टारूप में स्थित हो जाते हैं तो कैसा आदि, कैसा अन्त और कैसा मध्य? फिर किसकी खोज करनी है? जैसे आपको स्वप्न में आसक्ति है ही और किसी ने झकझोर कर उठा दिया, नींद टूट गयी तो आप कहते हैं– क्यों जगा दिया? इतना सुन्दर स्वप्न आ रहा था! जगानेवाला कहता है– जल्दी करो, सो जाओ और देख लो सपने को! पुनः सोकर उसी स्वप्न को नहीं देख सकते; क्योंकि जहाँ से सपना टूटा है वहीं से वह प्रारम्भ नहीं होता। इसलिये भगवान कहते हैं कि जिस आत्मरूप में सोना–जागना है ही नहीं, आदि, अन्त, मध्य है ही नहीं, उसी रूप में आप स्थित हो जायें क्योंकि आपका वही रूप है। अतः आप आध्यात्मिक चिन्तन प्रारम्भ करें, क्योंकि आध्यात्मिक चिन्तन आत्मा की श्वास है, जबकि जीव की श्वास कुचिन्तन एवं सुचिन्तन है। तीन धारा तो अहर्निश इस शरीररूप संसार में बहती ही रहती है– कभी कुचिन्तन की, कभी सुचिन्तन की तो कभी नींद, आलस, प्रमाद की, जिसमें नींद, आलस, प्रमाद को हटाना आपके वश की बात नहीं है; किन्तु चौथी धारा ब्रह्मचिन्तन को जैसे ही स्वीकार करते हैं, वैसे ही कुचिन्तन और सुचिन्तन का पता भी नहीं चलेगा तथा नींद भी कालान्तर में आपका ही कहना मानेगी।

(अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं.....) अष्टांगयोगी, प्राणवायु का रेचन करते–करते एक दिन सम्पूर्ण प्राणवायु का रेचन कर (निकालकर) सूक्ष्मशरीर के द्वारा लोक–लोकान्तर में घूमता रहता है। उसीप्रकार आध्यात्मिक योगी सम्पूर्ण जगतरूप भाव का, द्वैतरूप भाव का रेचन कर देता है– यही उसका आध्यात्मिक प्राणायाम है। यह द्वैत चिन्तन ही अपान है एवं अद्वैत चिन्तन ही प्राण है, इसलिये द्वैत को फेंककर अद्वैतरूप चिन्तन भर लेता है। इसप्रकार एक दिन वह अद्वैतमय हो जाता है। जहाँ से कुचिन्तन प्रारम्भ होता है वहीं से अद्वैत चिन्तन भी प्रारम्भ होता है। जैसे जिस कैसट पर जहाँ से फिल्मी गाने टेप किये जाते हैं, उसी कैसट पर उसी जगह से भजन के गीत भी टेप किये जाते हैं; पर एक विलक्षण बात है कि फिल्मी गाने टेप हुए कैसेट पर यदि आपने भजन के गीत टेप कर दिये तो फिल्मी गाने का आदि, अन्त और मध्य ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। एक और भी रहस्यात्मक विषय है कि यदि पैंतालीस मिनट की कैसेट (सी. डी.) आपने सामान्य भजनों से भरा है तो मात्र चार–पाँच मिनट ही मिटाने में लगेंगे। उसीप्रकार जन्म–जन्म के संस्कारों को तीन साल, छः साल, ज्यादा से ज्यादा बारह साल में आप मिटा सकते हैं। तीन साल तक बारह–बारह घण्टे, सोलह–सोलह घण्टे, बीस–बीस घण्टे अखण्ड ब्रह्मचिन्तन करने से बारह जन्मों की क्या, बारह युगों की कहानी समाप्त हो जायेगी। एक शेर असंख्य हिरणों पर भारी पड़ता है, एक महारथी हजार रथियों पर भारी पड़ता है। दस नाले मिलकर एक नदी बनती है, दस नदियाँ मिलकर एक नद बनता है और दस नद मिल जाने से एक महानद कहा जाता है, वह महानद भी समुद्र में मिलकर अपने नाम–रूप को खोकर समुद्ररूप हो जाता है।

ठीक उसीप्रकार कुचिन्तनरूपी नाले एवं सुचिन्तनरूपी नदियाँ ब्रह्मचिन्तनरूपी महानद में मिल जाते हैं तो वह ब्रह्मचिन्तनरूपी महानद सम्पूर्ण कुचिन्तन और सुचिन्तनरूपी नदी–नालों को समेटता हुआ परमानंदरूपी समुद्र में अर्थात् ब्रह्म में जाकर समाप्त हो जाता है। जो साधक साधना में ऊबता है, उसके लिये यह अध्याय परम विज्ञान है। महात्मा अर्जुन ने साधकों के हित के लिये प्रश्न किया है जिससे यह तो स्पष्ट हो ही गया कि संसार भाव ही एक वृक्ष है। तो उसे जड़ सहित मूल से उखाड़ फेंकने के लिये कोई न कोई तो हथियार होगा ही होगा? उसके लिये भगवान कहते हैं–

'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'– इस वृक्ष को जड़ सहित उखाड़ फेंकने के लिये अनासक्ति ही दिव्यास्त्र है।

प्रभु ने महात्मा अर्जुन को परन्तप, गुडाकेश, जितेन्द्रिय, महाबाहो, भारत इत्यादि बहुत से विशेषणों से विभूषित करते हुए ही इस परम दिव्य ज्ञान को दिया है। अर्जुन ने भौतिक नींद पर विजय प्राप्त की है और अब वे मोह–ममतारूपी नींद पर विजय प्राप्त कर जायेंगे। जो परन्तप है, वही मोहरूपी नींद पर विजय प्राप्त कर सकता है, जो महान तपस्वी है, जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही इस अनासक्तिरूपी दिव्यास्त्र को प्राप्त कर सकता है। अनासक्ति क्या है? यही कि न मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है, न मैं जगत का हूँ, न जगत मेरा है, न मैं किसी का हूँ, न कोई मेरा है– इन भावों से उत्पन्न होनेवाली निर्मोहता, निर्ममता ही अनासक्ति है। जबतक अनासक्तिरूपी दिव्यास्त्र से आप सम्पन्न नहीं होते तबतक आपको ब्रह्मचिन्तन स्वीकार नहीं करता, वरण नहीं करता। अनासक्तिरूपी दिव्यास्त्र से कुचिन्तन एवं सुचिन्तनरूपी बाह्य वृत्तियों का छेदन कर अर्थात् त्यागकर यानी माता–पिता, भाई–बान्धव, हित–मित्र आदि को मन से त्यागकर 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं'– उस परमपद को खोजना चाहिये; जिसको प्राप्त कर पुनः जीवपद की प्राप्ति नहीं होती।

खगेन्द्रानन्द ने कहा कि चिन्तन चलता है, चलता है, रुक जाता है। उसमें गति क्यों नहीं होती? महाराज ने कहा– रोटी जलती क्यों है? फेरे बिना (बार–बार उलाटे बिना), पान सड़ता क्यों है? फेरे बिना, घोड़ा अड़ता क्यों है? फेरे बिना, (रोज दौड़ाये बिना)। वैसे ही चिन्तन रुकता क्यों है? पुनरावृत्ति किये बिना यानी फेरे बिना। ब्रह्मचिन्तन बार–बार करने में परेशानी तो होती है, तो भी उसी ब्रह्मचिन्तन को पुनः पुनः पकड़कर लाया जाता है। साबर तंत्र (रं, रं, रं, रं, रं, रं, रं, वैसे ही– हं, हं, हं, हं, हं, हं, जं, जं, जं, जं, जं, जं) सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण में चार–पाँच घण्टा पुनरावृत्ति करने से ही सिद्ध हो जाते हैं, उसीप्रकार भौतिक सामान्य भावों को त्यागकर सद्गुरु की अध्यक्षतारूपी सूर्यग्रहण में आध्यात्मिक चिन्तन भी सिद्ध होता है। मात्र अनासक्त हो गये इतने से तो बात बननेवाली नहीं है। तो फिर और क्या करना है?–

(तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये.....) घर–द्वार, बाल–बच्चों को अपना न मानकर उस सद्गुरुरूप सगुण ब्रह्म की अध्यक्षता में राजा जनक की तरह अपने स्वरूप को खोजना है या शुकदेवजी की तरह सद्गुरु की अध्यक्षता में अपने स्वरूप को या ब्रह्म को खोजना है। जीवपद, विषयीपद,

साधकपद, सिद्धपद तथा उसके उपरान्त आता है– 'ब्रह्मपद' इसी ब्रह्मपद को खोजना है, जहाँ से पुनरावृत्ति अर्थात् आना–जाना नहीं होता। वह ब्रह्मपद क्या है? अपना स्वरूप अर्थात् अपने को जानना ही ब्रह्म को जानना है। 'स्वयं' का पद एवं 'ब्रह्म' का पद– पर्यायवाची शब्द हैं। जब स्वयं की अनुभूति हो जाती है तो 'पर' की यानी संसार की अनुभूति नहीं होती। प्रभु ने यहाँ विशेषण दिया कि सजग होकर, गुडाकेश होकर, परंतप होकर जपी, तपी, योगी होकर ही ढूँढ़ना। लेकिन कहाँ पर ढूँढ़ना? जो आदि, मध्य और अन्त से अनासक्त हो गया है, उसी आत्मरूप सद्गुरु की अध्यक्षता में जाकर ढूँढ़ना।

(यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी.....) जिस सद्गुरु के निर्गुण–निराकाररूप से ही संसार और शरीररूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उस वृक्ष को समूल नष्ट करने के लिये उसकी शरणागति स्वीकार करे तथा वह जो विधि बताये उसी विधि के अनुसार अपने स्वरूप का चिन्तन करे। माया, ब्रह्म और जीव पर भी चिन्तन करे तथा माया एवं जीव के स्वरूप का चिन्तन कर उसका त्याग करे तथा अपना स्वरूप, वह जो बतावे उसी को स्वीकार करे। ऐसा क्यों? इसलिये कि ब्रह्मचिन्तन कहीं सात्त्विक, राजस, तामस चिन्तन न बन जाय, कहीं भ्रम न हो जाय। अतः सद्गुरु अहर्निश जिज्ञासु के लिये जागता है जैसे शरीर के लिये प्राण जागता रहता है और बाल–बच्चों के लिये माता–पिता जागते रहते हैं, इसलिये सद्गुरु के पास आप उसकी सावधानी के कारण से ब्रह्मचिन्तन में प्रमाद नहीं कर सकते। जबतक सद्गुरु की अध्यक्षता नहीं मिलती, तबतक अच्छीप्रकार से खोजना नहीं माना जायेगा। वहाँ सावधान रहना; क्योंकि युद्धभूमि में निर्मोही भगवान के पास अर्जुन जैसा जितेंद्रिय पुरुष भी मोह से ग्रसित हो गया। वह इसलिये कि सब ओर से साधन सम्पन्न थे किन्तु एक ओर से भगवान को सद्गुरु बनाने के पहले आध्यात्मिक सद्गुरु से हीन थे। जिसप्रकार तीन तरफ से ईंधन में आग लग गयी है लेकिन एक तरफ से आग लग ही नहीं रही है; क्योंकि उधर का ईंधन गीला है। अतः अग्नि पहले उसे सुखायेगी तभी उसमें लगेगी अर्थात् जलायेगी। उसीप्रकार तीन तरफ से अर्जुन आध्यात्मिक साधन से सम्पन्न हैं– वे एक तरफ से जितेन्द्रिय हैं, दूसरी तरफ से निद्रा विजयी हैं, तीसरी तरफ से परम तपस्वी हैं; एकमात्र चौथी तरफ से स्वजनों से अनासक्त नहीं हैं अर्थात् मोह–ममतारूप दोष से दूषित हैं। भगवान ने उस दिशा में भी ज्ञान की आग लगा दी है। अब अन्तिम चरण में प्रवेश कर गये हैं। मानो भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! (ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्.....) तुम्हारे सामने भी एक अशुभ वृक्ष खड़ा है, जिसे तुम जड़–मूल से उखाड़ने में समर्थ हो, जिस वृक्ष की–

वासना (मूल)	–	धृतराष्ट्र हैं।
तना	–	पितामह भीष्म हैं।
शाखायें	–	शकुनि, कर्ण एवं दुर्योधन हैं।
उपशाखायें	–	अन्य रथी–महारथी हैं।

टहनियाँ	–	पैदल सेना के सदस्य हैं।
डालियाँ	–	राजकुमारों के राजकुमार हैं।
पत्ते	–	द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य हैं।
फल	–	हस्तिनापुर विराट साम्राज्य है।

जिसका इन लोगों ने खूब उपभोग कर लिया है। अब ये नरकादिरूप दुःख फल भोगने के लिये तैयार हैं। हे पार्थ! इस अशुभ पेड़ को उखाड़ फेंकने में ही तुम सब की भलाई है। इतना ही नहीं, तुम शोक–संताप क्यों कर रहे हो क्योंकि मैं ही तुम्हारे लिये इस दुःखद पेड़ को उखाड़ फेंकने के लिये एक दिव्यास्त्र हूँ। अतः अब तुम प्रसन्न होकर और भी गोपनीय रहस्य को सुनो–

(यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी.....) जो सदा सर्वदा के लिए सम्पूर्णता से प्रकृतिवाद से, संसारवाद से, शरीरवाद से, परिवारवाद से तथा स्वजनवाद से अनासक्त होकर ब्रह्मवाद को स्वीकार कर लेता है; उसी आध्यात्मिक पथिक के चरणों को विजय चूमती है। कुचिन्तन, सुचिन्तन ही जीव की आत्मा है और ब्रह्मचिन्तन आध्यात्मिक जिज्ञासु की आत्मा है। जीव विचार के बिना नहीं रह सकता; वह पागल हो जायेगा। उसके पागल नहीं होने में नींद भी सहायक है और कभी–कभार साधु–संत का संग भी। जीव की आत्मा माया है और साधक की आत्मा ब्रह्म है। जीव की आत्मा उसके बाल–बच्चे हैं, स्वजन हैं और आध्यात्मिक साधक की आत्मा उसका सद्गुरु है। यदि साधक सद्गुरु के बिना जी रहा है तो वह अपने स्वजनों के बीच में ही है। माया तो सद्गुरु के आश्रम तक फैली हुई है। यदि वहाँ भी सुन्दर खाने का, पहनने का, घर–बार की बात करने का मन कर जाता है तो वह वहाँ रहते हुए भी घर में ही है। अरे! सपने पर तो अपना अधिकार नहीं है लेकिन जाग्रत् पर तो अपना अधिकार हो सकता है! सद्गुरुलोक जाग्रत्लोक है, जहाँ साधक अहर्निश सावधान रह सकता है, सावधान रहना ही वहाँ जागना है। जागने का व्यापक अर्थ भगवान ने अगले मंत्र में दिया है–

(निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा.....) वहाँ सद्गुरु के पास ब्रह्मचिन्तन के द्वारा स्वयं की खोज करने में कहीं न कहीं मान की कामना है, कहीं न कहीं किसी से भी मोह है, कहीं न कहीं मन में कामना छिपी है, तभी बाधा पड़ रही है, तभी उच्चाटन हो रहा है। मान–मोह आदि का अवसर वहाँ प्रकृति लाकर खड़ा कर देती है और आपको यह बताती है कि आप अभी इन दोषों से मुक्त नहीं हैं। थोड़ी सी प्रतिकूलता में आप वहाँ भी बड़े घर के बेटे बन जाते हैं।

अभी एक संत ने शरण में आये हुए एक जोड़े की शादी करायी, जिसमें बच्चे की पहली पत्नी आग लगाकर मर गयी थी और बच्ची का पहला पति जहर खाकर मर गया था। बच्ची ने दुःखी होकर एक दिन जेठानियों से कहा–जानती नहीं हो! मैं बड़े घर की बेटी हूँ! जेठानी ने अपनी सहेली से कहा कि ये ससुराल में भी आकर बड़े घर की बेटी बनती है, तभी तो इसका पति जहर खाकर मर गया था। वैसे ही गुरुआश्रम में सुन्दर कपड़ा, खाना और कमरा नहीं मिलता है तो कह देते हैं कि मैं बड़े घर का बेटा हूँ। स्वाभिमान जाता ही नहीं आपका; क्योंकि

आप बड़े घर के बेटे हैं, वहाँ तक भी मान पीछा नहीं छोड़ता। जैसे युद्ध के मैदान में भी अर्जुन का मान और मोह पीछा नहीं छोड़ रहा है। वे प्रभु से कह रहे हैं कि मैं गुरुजनों की तरफ बाण कैसे चलाऊँगा, माधव! कहीं गुरुदेव और पितामह भीष्म ऐसा न कह दें कि धिक्कार है अर्जुन! धिक्कार है! जिन गुरुओं ने तुम्हें विश्वविजेता बनाया, उन्हीं गुरुओं पर बाण चलाते तुम्हें लाज भी नहीं आती। तुम्हारे जैसे कृतघ्नी का मांस गीध भी नहीं खाते, जबकि युद्ध के मैदान में वे गुरुजन न्यायतः क्षत्रिय हो गये थे। युद्ध के मैदान में जो युद्ध की कामना से आता है वह क्षत्रिय होता है। वैसे ही जो गुरुलोक में आता है वह एकमात्र ब्रह्मचारी होता है, साधक होता है किन्तु गुरु आश्रम में तो आए लेकिन मान–सम्मान सुरक्षित ले आये तो आप कृतघ्नी हैं। गृहस्थ पुत्र एवं धन में फँसता है और साधक मान में फँसता है। जब अपमान होता है तो कहते हैं कि इससे तो मेरा घर ही अच्छा था!

अभी कुछ दिन पहले एक साधक ने दूसरे साधक की पिटाई कर दी तो तीसरे साधक ने कहा– 'गुरुदेव मौन क्यों हैं'? न्याय करना चाहिये। जिसने पिटाई की है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।' ब्रह्म आश्रम में भी न्याय माँगने की बात आ गयी। तीसरा साधक अधिवक्ता बन गया था तथा दो तो वादी–प्रतिवादी थे ही। आश्रम को न्यायालय बनाना चाहते हैं, सद्गुरु को न्यायाधीश बनाना चाहते हैं आप। ऐसे साधकों को धिक्कार है।

(निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा.....) गुरुलोक में भी कामना हो रही है तो अकामता बहुत दूर है। महाराज एक आप बीती घटना के अनुसार बताता है कि संतलोक में प्रतिकूलता के कैसे अवसर आते हैं। सन् १९८४ में एक संत के पास महाराज आत्मानन्द के साथ ठहरा था। वहाँ सभी को रात्रि में एक गिलास दूध मिलता था। रात्रि में आत्मानन्द को भी मिला महाराज को दूध नहीं मिला। आत्मानन्द ने वह दूध लाकर महाराज से पीने को कहा। महाराज ने कहा– इस दूध को तुम्हीं पी लो। यह संत आश्रम है न! भले तुम्हारे कारण से महाराज का यहाँ रहना हो रहा है लेकिन यहाँ के नियम का परित्याग नहीं कर सकता। संत के पास रहनेवाले साधकों की भी अपनी मर्यादा होती है। संत की भी अपनी मर्यादा होती है। ये संत अन्तर्यामी हैं। महाराज को दूध न मिलने पर भी मौन हैं तो कोई कारण है। आत्मानन्द दूध पीना नहीं चाहते थे, किन्तु अनुशासन के कारण से महाराज ने उन्हें दूध पीने के लिये बाध्य कर दिया और यह भी कह दिया कि इस विषय की किसी से चर्चा न करना। महीना बीता और एक माँ ने आकर कहा– महाराज! मैं गाय का दूध लाऊँगी तो पी लेंगे? महाराज ने कहा– हाँ; ले आना, पी लेंगे। दस दिन तक एक–एक किलो दूध पीता रहा; क्योंकि जंगल में तो दूध–फल का ही आहार था। इसी आश्रम पर दाल, रोटी, चावल खा रहा था। तबतक एक दूसरी माँ ने कहा– गुरुजी तो आप पर नाराज हो जायेंगे; क्योंकि इस माँ का तो वे कुछ खाते ही नहीं हैं, इससे वे बहुत दुःखी हैं। महाराज ने तत्काल संत से पूछा– 'क्या उस माता का दूध नहीं पीना चाहिए? मैं तो शील–संकोच में उसे मना नहीं कर पाया।' संत ने कहा– हाँ; उसका दूध नहीं पीना चाहिए, कुछ बात है। महाराज ने कहा– तो मना कर देता हूँ। संत ने कहा– ऐसे कहना आप– माता दूध क्यों ला रही हो, मुझे तो यहाँ पर्याप्त दूध मिल जाता है! अब मत लाया करो! महाराज ने

उस माँ से वैसा ही कहा। वह फूट–फूटकर रोने लगी और कहा उसने– नहीं, नहीं महाराज! आपको मेरा दूध पीने से मना कर दिया गया है। उस समय महाराज ने आत्मानन्द को संत के द्वारा दूध पीने से मना करनेवाली बात नहीं बतायी कि अभी ये नये ब्रह्मचारी हैं, कहीं संत के प्रति अश्रद्धा न हो जाय कि एक तो महाराज को दूध नहीं मिल रहा है दूसरा झूठ भी बोलने को कह रहे हैं।

अब क्या रहस्य था वहाँ पर– संत झूठ नहीं बोल सकता पर दूध वहाँ मिलता नहीं था, जबकि सबको मिलता था तो भी यह कहने को कह दिया कि कह दीजिए यहाँ पर्याप्त दूध मिलता है! यह एक पहेली है, रहस्य है, जिसका महाराज को ही अनुभव है। महाराज नहीं बतायेगा कि संत के द्वारा वैसा व्यवहार क्यों हुआ, जबकि वह व्यवहार उनके द्वारा जानबूझ कर ही हो रहा था जिसमें महाराज का भविष्य सुरक्षित था। आप सबको इसलिये नहीं बतायेगा; क्योंकि इसप्रकार की परीक्षा कभी महाराज भी तो ले सकता है?

(अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः.....) उस ब्रह्मलोक में, अध्यात्म में प्रतिष्ठित होकर भलीभाँति कामना से रहित होना होगा। वहाँ राग–द्वेषादिक द्वन्द्वों के अवसर आते रहते हैं। जबतक रोम–रोम में ब्रह्म को ही जानने की कामना नहीं हो जायेगी, तबतक वहाँ भी भौतिक कामना विघ्न बनकर खड़ी हो जायेगी। अभयानन्द ने पूछा कि जो संत एवं सद्गुरु के भक्त होते हैं, उनसे कैसे अनासक्त हुआ जा सकता है? महाराज ने कहा– जिसप्रकार पिता के अतिथि से पुत्र अनासक्त रहता है। उनका अतिथि आया पुत्र ने जल–भोजन, खिलाया–पिलाया, सम्पूर्ण सेवा की लेकिन मन में एक बात बनी रही कि ये पिता के अतिथि हैं। अतः अनासक्तभाव से सद्गुरु के अतिथियों की सेवा करने के कारण से उन अतिथियों से आसक्ति नहीं होती।

एक साधक ने महाराज से अपनी बात बतायी कि गुरुदेव के पास मैं बीस साल रहा, किन्तु जब उनका शरीर छूट गया तो मैंने वहाँ से सुगमता से संन्यास ले लिया; क्योंकि किसी भी साधक एवं भक्त से कोई आन्तरिक लगाव नहीं हुआ था। मन में एक बात रहती थी कि ये लोग जो मुझे आदर–मान दे रहे हैं, यह सद्गुरु के नाते है। ये सद्गुरु के पास जिज्ञासु हैं, न कि मेरे पास। सद्गुरु के पास रहने के कारण से इन्हें मुझे मान देना कर्तव्य हो जाता है और मेरा भी इनको मान देना कर्तव्य हो जाता है। अतः इसी कारण से वहाँ राग–द्वेष की सम्भावना नहीं बनी। इसीप्रकार–

(गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्.....) सद्गुरु आश्रम में राग–द्वेष से अनासक्त होकर साधक अविनाशी परमपद अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर जाता है।

ॐ मासपारायण, चौबीसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, बारहवाँ विश्राम ॐ

वह अविनाशी पद कैसा है, उसकी सामर्थ्य क्या है? इसका अगले मंत्र से प्रभु ने संकेत दिया है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

दिव्य रथ पर बैठे हुए, दिव्य आकृति एवं तेजवाले प्रभु ही परमपद हैं। युद्धभूमि में ऐसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा से दिव्य भाव एवं दिव्य जिज्ञासा से सम्पन्न महात्मा अर्जुन ने मन ही मन एक बार और प्रश्न किया कि आपने इस संसाररूपी वृक्ष को प्रकाशित करने के लिये सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि को दिया। इस जगत को सूर्य प्रकाशित करता है, सूर्य के नहीं रहने पर रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशित करता है और उसके भी नहीं रहने पर लालटेन तथा दीपक से लोग प्रकाशित करते हैं, इसीप्रकार इन तीनों के नहीं रहने पर स्वप्नजगत में आत्मा स्वयं से, स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित होता है; किन्तु इस परमपदरूप परब्रह्म परमात्मा को कौन प्रकाशित करता है? प्रभु ने कहा– हे पार्थ! उस परमपद को सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते बल्कि परमपद स्वरूप आत्मा से ही सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि एवं स्वप्नजगत प्रकाशित होते हैं, जाग्रत् और सुषुप्तिलोक भी इसी से प्रकाशित होते हैं। इस आत्मा की ही दिव्य स्मृति से सम्पूर्ण प्राणियों में स्मृति व्याप्त है। वही परम प्रकाश है, जहाँ न अंधकार है न प्रकाश है, न 'मैं' है न 'तू' है, न 'यह' है न 'वह' है, जहाँ 'मेरा' है न 'तेरा' है, दिन है न रात है, जहाँ न ज्ञान है न ध्यान है न विज्ञान है अर्थात् ये सब भी उस परमपद को प्रकाशित नहीं कर सकते। जो जप, तप, योग, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान को भी प्रकाशित करता है, उसे ये दिव्य सूर्य एवं जप, तप, योगादि तथा ध्यान, ज्ञान, विज्ञान भी प्रकाशित नहीं कर सकते। बड़े–बूढ़े एवं पूज्यजनों की सेवा ही दिव्य चन्द्रमा (चन्द्रलोक) है, कुलगुरु के द्वारा प्राप्त हुआ भौतिक ज्ञान ही अग्नि है तथा जप, तप, योग ही दिव्य सूर्य है। ये सब मिलकर के भी इस परमपद को प्रकाशित नहीं कर सकते; क्योंकि इसी से ये सब धर्म प्रकाशित हैं।

अठारह पुराण तथा सारे शास्त्र एवं वेद भी दिव्य सूर्य हैं, ये भी परम ब्रह्मस्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकते। जिस अहं ब्रह्मास्मि, सर्वाहमस्मि रूप पद को सूर्य, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं कर सकते, जप, तप, योग प्रकाशित नहीं कर सकते, वही मेरा परमपद है, वही मेरा परमपद है। जिस पद को प्राप्त होने के उपरान्त पुनरागमन नहीं होता, आवागमनरूपी चक्र छूट जाता है, जहाँ तप भी मुक्त हो जाता है, जहाँ जाकर जप भी मुक्त हो जाता है, जहाँ जाकर ज्ञान, ध्यान भी मुक्त हो जाते हैं, जहाँ समाधि भी मुक्त हो जाती है, जहाँ सारे के सारे साधन ही निर्वाण को प्राप्त कर जाते हैं; वही मेरा अहं ब्रह्मास्मि (सर्वाहमस्मि) नामक परमपद है, जिसको प्राप्त करके साधक लौटता ही नहीं अर्थात् वह कभी स्वप्न में भी नहीं कहता कि मैं जीव हूँ। यही परमपद है, यही परमपद है, यही परमपद है।

महात्मा अर्जुन ने ऐसा सुनते ही कौतूहल के साथ प्रभु की ओर एक बार देखा, मानो वे अपनी कृतकृत्यता का बोध करा रहे हों। भगवान ने भी जैसे माँ बच्चे को दूध पिलाकर बड़े प्यार से चुम्बन लेती है, वैसे ही विहँसते हुए महात्मा अर्जुन की तरफ देखकर कहा– हाँ पार्थ! तुम भी वही परमपद हो, हाँ, हाँ वही परमपद हो।

देखें देखें! हे राजन्! देखें! संजय ने कहा।

क्या हो गया संजय? धृतराष्ट्र ने पूछा।

लगता है, अर्जुन अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये राजन्! सम्पूर्ण लोक–लोकान्तरों से उन्हें मुक्ति मिल गयी सी लग रही है। हे राजन्! जगत भर में काँटे बिखरे हों, किन्तु पाँव में जूती हो, तो वे काँटे अपने पाँव में नहीं चुभते। वैसे ही रणभूमि में आये हुए सारे वीर अव्यवस्थित हैं लेकिन एकमात्र अर्जुन ही यहाँ व्यवस्थित हो गये हैं।

ओह! संजय! मेरा भी चित्त व्यवस्थित नहीं हुआ। धिक्कार है मुझ अन्धे को, संजय! धिक्कार है! अच्छा! मेरे चलते तुम अपने ध्यान को इधर–उधर मत करो; भगवान मधुसूदन के एक–एक शब्द, एक–एक वाक्य को सुनाते जाओ, यह अन्धा कभी तो चेतेगा!

अब भगवान ने जीवात्मा की मूर्खता पर कुठाराघात करने का प्रयत्न किया है। इसके लिये अगले मंत्रों में क्या कहते हैं, देखें–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

हे पार्थ! इस जीवलोक में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है जो मन सहित छः इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगता रहता है तथा प्रयाणकाल के समय यह पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयरूप संस्कारों को संकल्प से अपने मन में धारण कर शरीर को छोड़ देता है और अपने संकल्प से ही दूसरे लोक का निर्माण कर वहाँ भी श्रोत्र, नेत्र, त्वचा आदि इन्द्रियों का आश्रय लेकर मन के द्वारा उन्हीं विषयों को भोगता है।

इस जीवलोक में अर्थात् यह शरीर ही जीवलोक कहा जाता है। अज्ञानी इस विश्वरूप नामक सगुण ब्रह्म को मृत्युलोक कहते हैं। अतः इसमें जो देवपूजक हैं वे ही देवलोक हैं, जो प्रेतपूजक हैं वे ही प्रेतलोक हैं। इस बाह्यप्रदेश में जो ब्रह्मज्ञानी संत हैं वे ही वैकुण्ठलोक हैं, वे ही ब्रह्मलोक हैं तथा उनके शरणागत भक्त भी ब्रह्मलोक के वासी ही हैं। जहाँ उनका शरीर रहता है, वह स्थान भी वैकुण्ठलोक होता है। इसी से चींटी से हाथी तक, मनुष्य से देवता तक के जीवों को (अज्ञानी होने के कारण से) जीवलोक कहा जाता है। इन सम्पूर्ण जीवलोकों में एक ही आत्मा भीतर–बाहर व्याप्त है, किन्तु जब अपने शरीर को ही अपना रूप मान लिया तो उसके लिये यह एक जीवलोक हो गया। यद्यपि वह सनातन, पुरातन, अव्यय एवं अविनाशी पुरुष है;

किन्तु जैसे सदाचारी पुरुष दुराचारिणी को पकड़ ले तो वह दुराचारी कहा जाता है, उसीप्रकार इस सनातन आत्मा ने जो प्रभु का ही अंश है इस शरीररूप प्रकृति को स्वीकार कर लिया है, इसलिये यह शरीरलोक हो गया तथा वह जीव हो गया है। जो जन्मने, मरने के स्वभाववाला है, उसे जीव कहते हैं, वही मनसहित छः इन्द्रियों का आश्रय लेकर, एक क्षुद्रप्राणी कहलाकर विषयों को भोगता है, प्रकृति में स्थित कुभावनाओं से उत्पन्न होनेवाले विषयभाव को वह ग्रहण करता है। साधकों के शरीर को ही सिद्धलोक कहते हैं, क्योंकि वे प्रकृति विजेता होते हैं। उन्होंने प्रकृति पर शासन कर रखा है, अतः वे सिद्धलोक हैं। इस जीवलोक में जो सद्गुरुजन हैं, वे ब्रह्म हैं, वे ही सिद्धलोकों (साधकों) का निर्माण किया करते हैं। 'जन्मना जायते शूद्रः'– जन्म से सभी शूद्र होते हैं अर्थात् तुच्छ प्राणी होते हैं, किन्तु देववर्ग उन प्राणियों को देवता बनाते हैं, प्रेतवर्ग उनमें से किसी को प्रेत बनाते हैं; जो कामी हैं, वे कामलोक की रचना कर देते हैं तथा जो ब्रह्म हैं, वे सिद्धलोक एवं ब्रह्मलोक का निर्माण करते रहते हैं अर्थात् शिष्यों को सद्गुरु बनाते रहते हैं। जीव छः इन्द्रियों का आश्रय लेकर पाँच विषयों को मन के द्वारा भोगता रहता है लेकिन जो सिद्धलोक के वासी साधकगण हैं, वे ब्रह्मविषय नामक एक ही विषय भोगते रहते हैं तथा वह ब्रह्म (सद्गुरु) भी भक्तों के श्रद्धा और विश्वासरूप एक ही विषय को भोगता रहता है– भक्त ही हैं विषय जिसके, उस आत्मज्ञानी को सद्गुरु कहते हैं। अन्य सारे के सारे प्राणी जो तुच्छ हैं, वे पाँच विषयों को मन के द्वारा भोगते रहते हैं। वे पाँच विषय हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

(जीवभूतः सनातनः.....) वह सनातन आत्मा जब जान लेता है कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, तब निर्विषयी होकर परम विषय का उपभोग करता रहता है। वह अपने स्वरूप में ही विचरण करने लगता है, वही उसका परम विषय हो जाता है। प्रथम अवस्था में सद्गुरु ही होता है विषय जिसका, दूसरी अवस्था में सद्गुरु का सिद्धान्त ही होता है विषय जिसका, तीसरी अवस्था में त्याग ही होता है विषय जिसका और चौथी अवस्था में अपना स्वरूप ही होता है विषय जिसका, वह एकविषयी पुनः ब्रह्मरूप ही हो जाता है। इसप्रकार ब्रह्म एकविषयी होता है और आप बहुविषयी होते हैं। पिता ही आपका एक विषय है, माँ ही एक विषय है, पत्नी/पति एक विषय है, बच्चे एक विषय हैं, मित्र एक विषय है, भाई–बान्धव एक विषय हैं, भौतिक गुरु एक विषय है। इसप्रकार आप सारे के सारे बहुत विषयी हैं। आप सनातन पुरुष होकर भी क्षुद्र प्राणी जैसे हो गये हैं। आप जितेन्द्रिय हैं तो आप ही परन्तप कहे जाते हैं। एक ही विषय में जागनेवाले को गुडाकेश कहा जाता है। जो काम–क्रोध, राग–द्वेष, मोह–ममता इत्यादि विषयों में सो जाता है लेकिन ब्रह्मविषय में जाग जाता है तो वह क्षुद्रविषय का परित्याग सफलतापूर्वक कर देता है। यदि आप निर्विषयी सद्गुरु को पाकर विषयी ही बने रहे तो बाजी हार गये। जिसप्रकार जुआरी अपने बाल–बच्चों को ही दाव पर लगा देता है उसीप्रकार जो ब्रह्मविषयी है, वह ब्रह्म से जूआ खेलता है और सर्वप्रथम शब्द–स्पर्शादि विषयों को ही दाव पर लगाता है। उसके उपरान्त मनसहित शरीर को ही दाव पर लगा देता है। यदि हारा तो ब्रह्म का हो जाता है और जीता तो ब्रह्म उसका हो जाता है, दोनों एक–दूसरे के विषय होते हैं। अतः और आगे चलकर जहाँ हार–जीत की कल्पना नहीं की जाती है, वहाँ वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

आप भी यदि निर्विषयी होते हैं तो समष्टि चेतनावाले हो जाते हैं, समष्टि स्मृतिवाले हो जाते हैं। व्यष्टिचेतना– शरीर को अपना मानकर, शरीर को मैं मानकर, शरीर को विषय मानकर, आप व्यष्टि चेतनावाले, व्यष्टि स्मृतिवाले हो गये रहते हैं। व्यष्टिस्मृति– जिसमें कि भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीनों ही लोप हुए रहते हैं, जो तीनों को नहीं जानता है वही व्यष्टि आत्मा है। समष्टि चेतना– जो सर्वज्ञ है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालों से परे है, वही समष्टि आत्मा कहलाता है। अतः आप ही सनातन आत्मा हैं। सारी की सारी आत्मायें आकाश से नहीं आतीं, किसी न किसी माँ की गोद (कोख) से ही आती हैं। महर्षि व्यास, वाल्मीकि, भरद्वाज, गौतम, विश्वामित्र एवं शुकदेव आदि तथा अन्य ऋषि–महर्षि– ये सब के सब किसी न किसी माँ की गोद (कोख) से आयी हुई आत्माएँ हैं, जो व्यष्टि से पुनः समष्टि हो गईं, जो अल्पज्ञ से सर्वज्ञ हो गईं, जो सकाम से निष्काम और निष्काम से आप्तकाम हो गईं, अतः ब्रह्म कहलायीं। जिसप्रकार सूर्य एवं सूर्य की किरणों में कोई अन्तर नहीं होता, उसीप्रकार ब्रह्मज्ञानी में और निर्गुण–निराकार ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं होता। जो अथाह सागर के जल में है वही उसकी एक बूँद में है। शरीर के सम्पूर्ण वीर्य में से एक बूँद निकालकर शोधन किया जाय तो एक बूँद वीर्य में जो गुण होगा वही सम्पूर्ण वीर्य में होगा। जो चेतना है, वह बिखरी हुई रहती है। आपने देखा होगा कि साँप और छिपकली आदि की पूँछ को कोई काट दे तो पूँछ भी कुछ देर तक हिलती–डुलती रहती है। इसलिये कि जो स्मृति ऊपर है, वही पूँछ में भी है, जो स्मृति अँगूठे के पास है, वही स्मृति ब्रह्मरन्ध्र के पास है; वही स्मृति भृकुटि में है, अनाहद में है, मणिपुर में है, स्वाधिष्ठान में है, मूलाधार में है, वही स्मृति सम्पूर्ण रोम–रोम में है। जैसे जीव मन सहित छः इन्द्रियों के द्वारा विषय को खींचता है वैसे ही साधक स्मृति को खींचता है। जैसे जीव खेत में से धान, गेहूँ, चना इकट्ठा कर लेता है, वैसे ही साधक नख से सिर तक बिखरी हुई स्मृति को समेट लेता है। एक समय में बिखरा हुआ होने के कारण झाड़ू भी तिनका कहलाता है और दूसरे समय में संघटित होने के कारण वही झाड़ू कहलाता है। उसीप्रकार विषयी होने से आत्मा ही जीव कहा जाता है और विषयसहित शरीर से अनासक्त होने के कारण वही ब्रह्म कहलाता है।

अरे! देखो! देखो! देखो आत्मानन्द! देखो! महाराज ने आत्मानन्द को आवाज दी, (सात–आठ साल पहले) आत्मानन्द ने भी आकर देखा। मालाकुण्डी गुफा (ऋषीकेश से २८ किलो मीटर दूर गंगा किनारे) के आगे दो छोटे–छोटे पेड़ हैं। दोनों पेड़ों के बीच मकड़ी ने आकर जाला बुनना शुरु कर दिया बड़े वेग से, जैसे जुलाहा ताना लगा देता है, ताने में सूत पिरो देता है, सूत की फिर खिंचाई करता है। वैसे ही मानो जीवलोक की रचना आत्मा ही करता है, वह ऐसा कहने आयी हो। बड़ी तेजी के साथ जाला बुनने लगी। उसने अपनी लार से एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक बड़े वेग से सैकड़ों सूत एक सीधी रेखा में खींच दिये। फिर ऊपर से नीचे तक सैकड़ों सूत खींचे तथा अगल और बगल से भी ऐसा ही किया। लगभग डेढ़ फुट लम्बा और डेढ़ फुट चौड़ा वह जाला था, जिसके बीच में गोलाकार चक्र बना हुआ था। मानो जीवलोक का निर्माण हो गया और वह स्वयं (मकड़ी) जाले के एक कोने में बैठ गयी। तत्काल दो–तीन मिनट में एक पतिंगा आया और जाल में फँस गया। उसने छलाँग लगाकर कीड़े को पकड़ लिया तथा

जाले के बीच में लाकर खाना शुरु कर दिया। महाराज ने कहा– देखा आत्मानन्द! यह मकड़ी गीता अध्याय पन्द्रह के 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' का भाष्य कर रही है। जिसप्रकार अपनी लार से ही जाला बुना है कीट–पतिंगो को खाने के लिये, उसीप्रकार माँ के गर्भ में जीवात्मा भी अपने संकल्प से ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध– इन पाँचों विषयों का सेवन करने के लिये इन्द्रियोंसहित शरीररूपी जाला नौ महीने में तैयार कर गर्भ से बाहर निकल आता है। यद्यपि यह परम ब्रह्म परमात्मा का ही अंश है, अंश और अंशी में तत्त्वतः भेद नहीं होता; किन्तु जब इसने शरीररूप जीवलोक का निर्माण कर विषयों का सेवन करना शुरु किया, तब विषयी जीव कहलाया। वह विषय को खाता है एवं विषय उसको खाता है, इसप्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है। इसी न्याय से पिता विषय है माँ का, माँ विषय है पिता का, ये परस्पर में एक–दूसरे के जीवन को ग्रास किये जा रहे हैं; पिता–माता विषय हैं पुत्र का और पुत्र विषय है माता–पिता का, ये दोनों ही एक–दूसरे के जीवन को ग्रास किये जा रहे हैं; उसीप्रकार भाई–भाई, मित्र–मित्र, वैरी–वैरी एक–दूसरे के विषय हैं, परस्पर में एक–दूसरे के जीवन को ग्रास किये जा रहे हैं। इस न्याय से एक समय में जो उत्थान का कारण होता है दूसरे समय में वही पतन का कारण बनता है। शक्ति एक ही हैं भगवती सीता, जिनको लक्ष्मण ने अपनी आराध्या बना लिया तथा रावण ने अपना विषय मान लिया। दोनों ने उपासना की उनकी किन्तु एक का उत्थान हुआ दूसरे का पतन हुआ। इस जीवलोक में अधिकार है सनातन आत्मा का कि जब चाहे तब घर छोड़ दे, जैसे नियम है शास्त्र का– 'जब जागो तभी सवेरा'। जिसदिन भगवान की प्रबल कामना हो जाय, उसी दिन आधी रात को लोगों को सोये हुए छोड़कर भाग जाना, जैसे भगवती शबरी भाग गयी थी क्योंकि ये जीवलोक है। अतः जिसदिन समझ में आ जाय कि 'मैं आत्मा हूँ' शब्द, स्पर्शादि विषय मेरे भोजन नहीं है; सम, शान्त एवं साक्षीरूप रहने पर स्वयं से स्वयं में रहना ही भोजन है, तब आप जीवलोक से अनासक्त होकर ब्रह्मलोक की तरफ गमन कर जाना। धीरे–धीरे ब्रह्म की तरफ गमन करनेवाला बहुत से वस्त्रों का त्याग करता है– सर्वप्रथम घर नामक वस्त्र उसका बाहर का कवच है, जिसका वह त्याग करता है क्योंकि चोर, डकैत तथा बदमाशों से डरकर उसने घर का निर्माण कर लिया था। जब जाना कि मेरा भगवान तो घर के भीतर–बाहर व्याप्त है, चोर–डकैतों के भीतर–बाहर है अथवा मैं ही सर्वत्र व्याप्त हूँ, तब उस घररूप वस्त्र का त्याग कर दिया। यही नहीं, जब वैराग्य की गर्मी लगी तो गृहस्थाश्रमरूपी कोट को उतार दिया और वानप्रस्थ आश्रम में चला आया। वहाँ भी आठ–दस साल के बाद जप–तप की गर्मी सहन नहीं हुई तो वानप्रस्थरूपी कुर्ते को हटा दिया और ब्रह्मचर्याश्रम में चला गया। वहाँ भी जब गुरुप्रताप की आग लगी तो ब्रह्मचर्याश्रमरूपी बनियान का त्याग कर दिया। ब्रह्मचर्याश्रम ही बनियान है जिसे झटके से छोड़ दिया जाता है, एक आवरण है वह। जब अपने स्वरूप में आया तो ब्रह्मचर्य के नियमों का परित्याग कर वह निर्वस्त्री ही हो गया। जीवलोकों का परित्याग करते–करते ब्रह्मलोकमय हो गया। उस कौपीनधारी सनातन आत्मा को अब प्रारब्धरूपी काल स्पर्श नहीं कर सकता बल्कि वह प्रारब्ध का ही महाकाल बन जाता है। कौपीन को धारण करनेवाला निर्वस्त्री कहा जाता है, इसी से सिले हुए

वस्त्रों को नहीं पहनते हैं साधक, चाहे जब वे उन्हें उठाकर रख देते हैं। देवता भी सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते, इसका तात्पर्य है कि इस शरीररूपी वस्त्र को भी वे जब चाहते हैं तब अपने आप पर से उतार देते हैं अर्थात् जब चाहें शरीर को छोड़ दें जब चाहें शरीर को पकड़ लें।

(ममैवांशो जीवलोके.....) वेदों, पुराणों, दर्शनों, उपनिषदों में लोकों की अनेकानेक कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं। अनेकानेक भेद हैं लोकों के– मृत्युलोक तो स्पष्ट ही है जिसे सभी मानते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्गलोक, नरकलोक, जनःलोक, तपलोक, सिद्धलोक, शिवलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक इत्यादि इत्यादि असंख्य लोकों का वर्णन मिलता है। सूर्यलोक, चन्द्रलोक, ध्रुवलोक, मंगललोक, बुद्धलोक, बृहस्पतिलोक, शुक्रलोक, शनिलोक, राहुलोक की तरह और भी लोक हैं जिन्हें नक्षत्र, तारा एवं लोक कहा जाता है जो नित्य दिखाई पड़ रहे हैं; किन्तु इन लोकों की आभा (प्रकाश) ही मनुष्य देख पाता है, वहाँ तक जा नहीं पाता जबकि वहाँ भी इसीप्रकार के लोग हैं, मात्र उनमें कुछ विशेष शक्ति–सम्पन्नता है। किन्हीं–किन्हीं लोकों पर वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है जाने का; जब लौटते हैं तो कहते हैं– वहाँ प्राणी नहीं हैं, जबकि ऐसी बात नहीं है। इन नेत्रों से वहाँ के प्राणी नहीं दीख सकते अरे! उनलोगों को यदि वे दीखते भी तब, जब वे वहाँ पहुँचते। वे तो उन लोकों में से एक लोक में भी आजतक नहीं पहुँच पाये हैं, उन लोकों में जाने का उनको भ्रम हो गया है। वे पृथ्वी के ही एक अंश में उतरते हैं जहाँ आबादी नहीं है तथा समझते हैं कि यह तो चन्द्रलोक है। समाधि की अवस्था में साधकों को असंख्यलोक स्पष्ट ही दीखते हैं।

एक बार तो एक लोक का प्रलय महाराज ने अपने सामने देखा। जब आकाश मण्डल में उस लोक का प्रलय हुआ तो पूरा आकाश और पृथ्वी प्रकाशमय हो गये। लोगों ने कहा– तारा टूट कर गिरा है। महाराज तो जब वह लोक पृथ्वी पर गिरा तो भी ५–६ मिनट तक प्रकाशपुञ्ज बिखरता रहा, ऐसा देख रहा था। जब पूरा प्रकाश बिखर गया तो वहाँ एक सौ ग्राम के लगभग का मिट्टी का गोला दिखाई पड़ा जो बहुत ही हल्का था, जिसप्रकार अंगारा की आग निकलने के बाद राख हल्की हो जाती है। महाराज ने देखा कि जिस जीवात्मा (ब्रह्मा) की वासना उस लोकरूप में दिखाई दे रही थी, उस जीवात्मा का मोक्ष हो गया है। मोक्ष होते ही उसकी वासनामय सृष्टि का प्रलय हुआ। प्रलय होते समय उसमें का जो प्रकाशपुञ्ज बिखर रहा था, वही उस ब्रह्मज्ञानी का पाप और पुण्य है जिसमें पाप को सद्गुरु एवं सन्त–विरोधी, धर्म–विरोधी, शास्त्र–विरोधी परस्पर में बाँट लेते हैं और जिज्ञासुओं धर्मात्माओं के पास उसका पुण्य चला जाता है। यही उस लोक का तथा उस लोक की वासना का रहस्य है।

जानते हैं आप! यह पृथ्वीलोक भी उन्हीं लोकों की तरह प्रकाशपुंज ही दिखाई देता है यानी एक तारे की तरह। यहाँ एक मिनट की आयुवाले प्राणी से लेकर सौ वर्ष तक की उम्रवाले भी प्राणी हैं तथा सौ वर्ष की उम्रवाले प्राणी से लेकर हजारों–हजार वर्ष की उम्रवाले भी प्राणी हैं तथा इच्छामृत्युवाले प्राणी भी हैं, जिनपर काल का प्रकोप, काल का प्रताप कुछ काम नहीं करता। यहाँ मच्छर की उम्र एक मिनट से लेकर १०–१२ घण्टे की भी होती है। वह एक मिनट की उम्र में ही ऐसा समझता है कि बहुत काल बीत गया है। वह एक दिन में अनेक बार भी जन्म

ले लेता है। बरगद का पेड़ हजारों साल रहता है तथा सिद्धमहात्मा तो काल का भी काल है।

जानते हैं आप! यह पृथ्वी नामवाला ब्रह्म भी एक आकाश ही है जिसमें सात द्वीप ही सात मुख्य ग्रह हैं जिसमें राहु–केतु को ले लें तो नौ खण्ड भी कहा जाता है। सात महाद्वीपों में जम्बूद्वीप ही सूर्यलोक है। यहाँ आर्यों की सन्तानें हैं अर्थात् धर्मात्मा ही यहाँ जन्म लेते हैं, इसलिए इस सूर्यलोक को धर्मभूमि भी कहते हैं। इसी सूर्यलोक (भारतवर्ष) से सम्पूर्ण लोकों में धर्म का प्रकाश फैलता है। ज्ञान–विज्ञानरूप दिव्य प्रकाश की किरणें यहीं से अन्यान्य लोकों में फैलती रहती हैं। एशिया, यूरोप, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं ध्रुवीय प्रदेश (अंटार्टिका) ये सात महाद्वीप हैं। इन सात द्वीपों में भी कोई–कोई यक्षलोक है, कोई राक्षसलोक है, कोई गन्धर्वलोक है, कोई किन्नरलोक है, कोई नागलोक है। इसीप्रकार अन्य लोकों की गणना कर लेनी चाहिए। इसप्रकार सूर्यलोक (भारतवर्ष) को छोड़कर अन्य लोकों जैसे– अमेरिका, अफ्रीका आदि के प्राणी विषयी होते हैं। इस जम्बूद्वीप में भी कुछ नगर इन्द्रलोक हैं, कुछ गन्धर्वलोक हैं, कुछ किन्नरलोक हैं, कुछ नागलोक हैं तथा कुछ यक्षलोक हैं। सारे तीर्थ जनःलोक हैं, हिमालय का क्षेत्र सिद्धलोक है। काशी, केदारनाथ, सोमनाथ आदि ज्योतिर्लिंगोंवाले नगर ही शिवलोक हैं तथा पुष्करराज ब्रह्मालोक है, अयोध्या, वृन्दावन, जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी आदि विष्णुलोक हैं और असंख्य लोकों के अन्तर्गत भारतवर्ष में जहाँ–जहाँ ब्रह्मज्ञानियों का निवास है, वहीं–वहीं ब्रह्मलोक है।

जानते हैं आप! ये गाँव, नगर, महानगर भी एक–एक आकाश हैं। जिनमें प्रत्येक घर एक–एक लोक हैं। इन लोकों (परिवारों) में वह परिवार जिसमें मात्र जन्मना, कर्म करना मरना ही धर्म है वह परिवार तो मृत्युलोक है; जिन परिवारों में दिन–रात कलह ही कलह है, अशान्ति ही अशान्ति है, उस कलह के कारण दरिद्रता की परिसीमा है वह घर (लोक) तो नरकलोक है; जिन घरों के लोग विशेष ओजस्वी–तेजस्वी, शक्तिसम्पन्न एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं, वे घर (लोक) तो स्वर्गलोक हैं; जिस परिवार के सदस्य गाने–बजाने, नृत्यादि में तथा विलासमय जीवन जीने में ही सुख और शान्ति का अनुभव करते हैं वे परिवार ही गन्धर्वलोक हैं; जिन परिवारों के लोगों को मात्र ऐश्वर्य ही प्रिय है वे परिवार ही किन्नरलोक हैं; जिन परिवारों के सदस्यों को जादू–टोना, तंत्र–मंत्र के चमत्कार करने और कराने में रुचि है तथा इन तंत्र–मंत्रों से शक्तिसम्पन्न हैं, वे ही घर यक्षलोक हैं; जिन परिवारों के सदस्य गो हत्यारे, सन्त हत्यारे, मातृ–पितृ हन्ता हैं, तथा कुछ शक्ति से सम्पन्न हैं, वे ही परिवार राक्षसलोक हैं; जिन परिवारों के सदस्य अपने में ही मस्त रहनेवाले, सबसे डरनेवाले और सभी के स्वभाव से अलग–थलग स्वभाववाले तथा मौका पाने पर अपने वैरी को चुपके से धोखा देनेवाले हैं, वे ही परिवार नागलोक हैं; जिन परिवारों के सदस्यों को स्वर्ग ही प्रिय है, उसकी प्राप्ति के लिए जप, तप, हवन पूजन करते रहना अच्छा लगता है वे ही परिवार जनःलोक हैं; जिन परिवारों के सदस्य योग के ज्ञाता हैं, धारणा, ध्यान, समाधि में अभिरुचि रखते हैं, वे ही परिवार सिद्धलोक हैं; जिन परिवारों में शंकर भगवान की अर्चना–वंदना होती रहती है, वे परिवार तो शिवलोक हैं; जिनमें वेदपाठ और यज्ञादि होते रहते हैं वे ही परिवार ब्रह्मालोक हैं; जिन परिवारों में भगवान विष्णु के

प्रति अनुराग है तथा परिवार के सदस्य भागवत, रामायण आदि की कथा कहते–सुनते रहते हैं, वे परिवार विष्णुलोक हैं; जिस घर के सदस्य सीधे, सरल, विनम्र, शीलवान और दान–धर्म में निपुण हैं वे ही घर गोलोक हैं तथा जिन परिवारों के सदस्य निष्कामी हैं, गुरुभक्त हैं, वे ही परिवार ब्रह्मलोक हैं, परम धाम हैं, परमपद हैं।

जानते हैं आप! ये सारे के सारे घर (परिवार) भी एक–एक आकाश हैं। इन परिवारों में रहनेवाले सदस्य ही एक–एक लोक हैं। इन सदस्यों में जन्मने, कर्म करने, मर जानेवाला सदस्य ही मृत्युलोक है; राग–द्वेष, कलह, शोक–सन्ताप तथा हररोज दुःख से दुःखी रहनेवाला सदस्य ही नरकलोक है; विशेष ओजस्वी–तेजस्वी और घर–गाँव पर शासन करनेवाला, प्रभुता सम्पन्न, शक्तिसम्पन्न सदस्य ही इन्द्रलोक है यानी स्वर्गलोक है; जो सदस्य गाने–बजाने, नृत्यादि एवं विलासिता में पारंगत है वह ही गन्धर्वलोक है; जिस सदस्य को ऐश्वर्य ही मात्र प्रिय लगता है वही किन्नरलोक है; जो सदस्य जादू–टोना, तंत्र–मंत्र की शक्ति से सम्पन्न हैं वही यक्षलोक है; जो सदस्य शास्त्र, सद्गुरु, धर्म एवं माता–पिता विरोधी है वही राक्षसलोक है; जिस सदस्य का स्वभाव डरपोक, इर्ष्यालु, एकान्तप्रिय तथा अवसर आने पर अपने वैरी को धोखा देने का है वही नागलोक है; जिस सदस्य को स्वर्ग ही प्रिय है, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ही जो जप–तप, यज्ञादिक का अनुसरण करता रहता है वही जनःलोक है; जिस सदस्य का स्वभाव योग में (धारणा, ध्यान, समाधि में) रमण करता है वह सदस्य ही सिद्धलोक है; जो शिव का भक्त है वही शिवलोक; जो वेद का पुजारी है, वह ब्रह्मालोक तथा जो विष्णु भगवान का उपासक है वही विष्णुलोक है और जो सदस्य निष्कामी है सद्गुरु का भक्त है, वही ब्रह्मलोक है, परमपद है, परम धाम है।

जानते हैं आप! ये सारे के सारे शरीर एक–एक आकाश हैं। इन आकाशों में बुद्धि (जीवात्मा) ही एक–एक लोक है। इन लोकों में जो बुद्धि, ऐश्वर्यमय, शक्तिमय, प्रभुतामय है वही स्वर्गलोक है; जो बुद्धि मरने–जीने की कल्पना करती रहती है वह मृत्युलोक है; जो बुद्धि संशय से ग्रसित है वह नरकलोक है; जो बुद्धि नृत्य–गायन पर चिन्तन करती रहती है वह गन्धर्वलोक है; जो बुद्धि ऐश्वर्य में ही रमण करती है वह किन्नरलोक है; जो बुद्धि भयवृत्ति को नहीं छोड़ पाती वही नागलोक है; जो बुद्धि सकामी है वही जनःलोक है; जो बुद्धि योग में (धारणा, ध्यान, समाधि में) रमण करती है वह सिद्धलोक है; जो बुद्धि वेद में रम रही है वह ब्रह्मालोक है; जो बुद्धि शिव के चिन्तन में रहती है वही शिवलोक है; जो बुद्धि विष्णु के चिन्तन में है वह विष्णुलोक है तथा जो बुद्धि आध्यात्मिक चिन्तन में है वही ब्रह्मलोक है, परमपद है, परम धाम है।

जानते हैं आप! बुद्धि ही एक आकाश है जिसमें मन ही एक लोक है। इन असंख्य लोकों में (मनों में) मरने–जीने की कल्पना करनेवाला मन तो मृत्युलोक है; सुख–दुःख, राग–द्वेष, छल–कपट, दम्भ–पाखण्डवाला मन ही नरकलोक है; शक्ति से सम्पन्न मन, दृढ़निश्चयी मन तो स्वर्गलोक है; स्वर्ग की कामना से जप, तप, व्रत, उपवास करनेवाला मन जनःलोक; गाने, नाचने और विलासी जीवन जीनेवाला मन गन्धर्वलोक है; शृंगारमय एवं सौन्दर्यमय जीवन जीनेवाला मन किन्नरलोक है; तन्त्र–मन्त्र और सिद्धियों में रमण करनेवाला मन यक्षलोक है; धोखेबाज मन

नागलोक है; योगमय मन (ध्यान, धारणा, समाधिवाला मन) ही सिद्धलोक है तथा शिव का उपासक मन ही शिवलोक; वेद का उपासक ब्रह्मालोक एवं विष्णु में चित्त को समर्पित करनेवाला मन विष्णुलोक; फिर निष्काम जप, तप, साधन करनेवाला मन ही ब्रह्मलोक है, परमपद है, परम धाम है।

जानते हैं आप! मन ही आकाश है, इस आकाश में विचार ही असंख्य लोक हैं, इन विचारों में संशय–शोकमय विचार ही मृत्युलोक हैं, स्वर्गीय सुख देनेवाले विचार ही स्वर्गलोक हैं, अज्ञानमय विचार ही नरकलोक हैं, स्वर्ग की कामना को प्रेरित करनेवाले विचार जनःलोक, जप–तप करानेवाले विचार तपलोक, संकल्पमय विचार सिद्धलोक और शिवमय विचार शिवलोक, ब्रह्ममय विचार ब्रह्मालोक, विष्णुमय विचार विष्णुलोक हैं तथा निर्विकारता की तरफ गमन करानेवाले विचार ही ब्रह्मलोक हैं, परमपद हैं, परम धाम है।

जानते हैं आप! यह विचार भी एक आकाश है, जिसमें काम का विचार ही एक लोक है, इन लोकों में पशुवत् काम मृत्युलोक, बलात्कारमय काम नरकलोक, धर्ममय काम स्वर्गलोक, विवेकमय काम सिद्धलोक (जैसे महर्षि पराशर का काम जो महर्षि व्यास को प्रकट करता है, व्यास का काम जो महात्मा शुकदेव को अवतरित करता है), शिवमय हुआ काम शिवलोक, ब्रह्ममय हुआ काम ब्रह्मालोक, विष्णुमय हुआ काम विष्णुलोक और ब्रह्ममय, राममय, कृष्णमय हुआ काम ही ब्रह्मलोक, परमपद, परम धाम है। अर्थात् यह संस्काररूप विचार भी एक आकाश है, जिसमें काममय विचार– गन्धर्वलोक, लोभमय विचार– मृत्युलोक, क्रोधमय विचार– असुरलोक, रागमय विचार– पशु–पक्षीलोक, द्वेषमय विचार– प्रेतलोक इत्यादि हैं। इनमें विष्णु की कामनावाले विचार विष्णुलोक, शिव की कामनावाले विचार शिवलोक तथा कोई अपने स्वरूप की कामनावाला विचार ही कैवल्यलोक, सायुज्यलोक एवं ब्रह्मलोक है।

(जीवलोकोपाख्यान नामक गूढ़ात्मक रहस्य पूरा हुआ)

(शरीरं यदवाप्नोति.....श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च.....) हररोज आप देखते हैं कि आपके संकल्प से स्वप्नलोक का निर्माण हो ही जाता है। वहाँ पर आप वासनात्मक शरीर का आश्रय लेकर (जो मनोमय कहा जाता है) शब्द, स्पर्शादि विषयों को भोगते ही हैं। वहाँ भी आप इस लोक की वासना के अनुसार ही भोग भोगते हैं। जो यहाँ निरक्षर है, किसी अपवाद को छोड़कर, कभी भी स्वप्नलोक में किताब नहीं पढ़ सकता अर्थात् जो कामी है, वह काममय तथा जो भगवद्भक्त है, वह राममय ही स्वप्न देखेगा। जिसकी जिसमें प्रीति होती है, स्वप्नजगत में वह उसी विषय–वस्तु का निर्माण कर लेता है। चोर देवता का सपना देखे, ऐसा नहीं है। वह तो पुलिस से अपने–आप को भागता हुआ देखेगा। ऐसा नहीं कि शराबी दूध पीता हुआ अपने को देखेगा, बल्कि शराबी अपने को शराब पीता हुआ ही देखेगा। हररोज अन्तर्वासना को आप स्वप्नलोक में ले जाते हैं और वहाँ आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों से वासना को भोगकर उसी वासना को लेकर इस जीवलोक में जाग जाते हैं। वासना के साथ आप रहते हैं, वासना के साथ स्वप्नलोक में जाते हैं और पुनः वासना के साथ ही आप इसी जीवलोक में आ जाते हैं। वासना ही

आपके लिए मधुर से मधुर हो गयी है। वैसे ही वह जीवात्मा शरीर को छोड़कर विषयकामना के साथ इसलोक से दूसरे लोक में भी जाता है जबकि वह भी स्वप्नलोक ही है। मानो महात्मा अर्जुन के मन में आया कि वहाँ पितरलोक में होकर इस जीवलोक में हमलोगों पर कभी पितर कुपित हो गये तो? तब प्रभु ने कहा कि सद्गुरु (ब्रह्म) के घेरे में कोई आ गया तब पितर कुपित हो जाएँ तो उनके कुपित होने का फल उसे नहीं मिलेगा; बल्कि कुपित होने का फल पितरों को ही मिल जायेगा। जैसे जब बच्ची ससुराल जाती है तो वहाँ पर भी अपने स्वभावानुसार वातावरण बनाने का प्रयत्न करती है। सास को अपनी माँ, ससुर को पिता, देवर को भाई तथा वहाँ की बच्चियों को सहेली एवं उनलोगों के रिश्तेदारों को अपना रिश्तेदार मानकर अपने मायके जैसा ही वहाँ भी जीवन जीती है। कोई विदेश में सर्विस करने जाता है तो वह वहाँ भी किसी को मित्र, मित्र के भाई को भाई, उसके माता–पिता को माता–पिता आदि बनाकर अपने घर के अनुरूप ही वातावरण बनाकर जीता है। उसीप्रकार जीवात्मा भी अपने स्वभाव के अनुरूप ही वासनाओं के साथ क्रीड़ा में रत हो जाता है। जब वह शरीर को छोड़कर अन्यलोक में जाता है तो किस तरह इस शरीर को छोड़ता है, उस संकल्पक्रिया को दिव्य दृष्टिवाले ही जानते हैं।

(शरीरं यदवाप्नोति.....) इस विषय को योगवाशिष्ठ के माध्यम से भी समझने का प्रयत्न करें। जब यह जगत विस्तार को प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टिमनरूप ब्रह्मासे पूर्वकर्मानुसार विकास को प्राप्त होते हैं। ये सब सहस्त्रों व्यष्टिचेतन संसरणशील जीव कहे जाते हैं। वे जीव सच्चिदानन्दघन परमात्मा से ही प्रकट होकर आकाश में तन्मात्राओं के साथ संयुक्त होते हैं। फिर आकाशस्थित वायुओं के मध्यवर्ती जो चौदह श्रेणियों में विभक्त जीव हैं, उनमें से जिसप्रकार की जीव–जाति में रहने से जो जीव जैसी वासना और कर्म के अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, उसी जीव–जाति की प्राणशक्ति द्वारा वे स्थावर अथवा जंगम शरीर में प्रविष्ट हो रज–वीर्यरूपी बीजभाव को प्राप्त होते हैं, तत्पश्चात् योनि से जगत में जन्म ग्रहण करते हैं तथा वासनाप्रवाह के अनुसार अपने कर्मफल के भागी होते हैं। फिर शुभ और अशुभ कामनाओं से युक्त पुण्य–पापकर्मरूपी रस्सियों से जिनका लिंगशरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए कभी उत्तम लोकों में जाते हैं और कभी नरकों में गिरते हैं।

जीवों की ये सब जातियाँ वासनारूप ही हैं। कितने ही जीव हजारों जन्मों तक कर्मरूपी बवंडर में पड़कर चक्कर काटते हुए जंगल के पत्तों की भाँति झड़ जाते हैं और पर्वत के कुक्षिभाग में लुढ़कते फिरते हैं। कितने ही जीव जिन्हें सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ज्ञान नहीं है, अतएव जो मोहित रहते हैं, वे असंख्य जन्म धारण करते हैं। चिरकाल से जन्म लेकर इस संसार में सैकड़ों कल्पों तक जन्म और मरण की परम्परा में बँधे रहते हैं। कतिपय जीव, जिनके कई असुन्दर जन्मान्तर व्यतीत हो चुके हैं, वर्तमान जन्म में शुभकर्मपरायण हो इस जगत में विचरण करते हैं। कई जाति के जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपद को प्राप्त हो गये हैं, जैसे वायु से उड़ाये हुए समुद्र के जलबिन्दु पुनः समुद्र के ही जल में प्रवेश कर जाते हैं। इसप्रकार यहाँ परमपदरूप ब्रह्म से सम्पूर्ण जीवों की गुण और कर्म के अनुसार उत्पत्ति (सृष्टि) हुई है। यह सृष्टि आविर्भाव और तिरोभाव के कारण क्षणभंगुर है तथा जन्म–मरण की परम्परा को प्रकट

करनेवाली है, वासनारूपी विष की विषमता से उत्पन्न हुए नानाप्रकार के दुःखरूपी ज्वरों को धारण करती है, अनन्त संकटों से भरे हुए अनर्थकारी कार्यों का समादर करनेवाली है, अनेक दिशाओं, देशों, कालों तथा विविध पर्वतों की कन्दराओं में घुमानेवाली, कर्मफलों का भोग करानेवाली है। स्वयं निर्मित उत्तम विचित्रताओं से इसने चारों ओर भ्रम का जाल बिछा रखा है। परमार्थ से यह सृष्टि असत् ही है। वत्स रामभद्र! विक्षुब्ध मन ही जिसका शरीर है, वह संसाररूपी जंगल की जीर्ण–शीर्ण लता यदि तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ी से जड़सहित काट दी जाय तो फरसे से काटी गयी बेल के समान यह फिर पनप नहीं सकती।

इस संसार में विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट–पट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं है अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। वह चिन्मय परमात्मा ही विज्ञानानन्दघन परमात्मा है। वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अंश से इन्द्रिय चित्त एवं घट–पट आदि उत्पन्न हुए हैं; किंतु आदि और अन्त से रहित, विकाररहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत–कारणरूप ब्रह्म वास्तव में माया से रहित है। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञान के कारण अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण करता है। वह अहंभावना से 'अहंकार', मनन से 'मन', निश्चय की भावना से 'बुद्धि', इन्द्रियों की भावना से 'इन्द्रिय', देह की भावना से 'देह' और घट की भावना से घट बन जाता है। इसप्रकार अपनी भावना के कारण यह जीवात्मा पुर्यष्टक बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान–कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख–दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से मैं 'साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है। वही जीवात्मा अपनी भावना से समय–समय पर स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है। जैसे जल के सींचने से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावना के अनुसार उस जीव के भी शरीर, स्थावर एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञान से यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ। वासनाओं के वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकाल तक स्वर्ग–नरक में आवागमनों द्वारा जगत में घूमता ही रहता है। इनमें से कोई तो विशुद्ध जन्म के कारण पहले जन्म में ही परमात्मा को यथार्थ जानकर आदि–अन्त से रहित परमपद परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कोई बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख–दुःखादि भोगों के अनन्तर परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा परमपद को प्राप्त होता है। श्रीराम! बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय–सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही सम्भव है, मृत पुरुष में कभी नहीं। जब शान पर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्न के समान आँखों के तारे में बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थ का हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण, देहाभिमानी जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस रीति से बाह्य वस्तु जीव द्वारा हृदय में जानी जाती है– (योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण)

(शरीरं यदवाप्नोति.....) जिसप्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, वैसे ही तो सभी करते हैं– जो जहाँ जाता है वहाँ अपने स्वभाव को, अपनी वासना को लेकर

ही तो जाता है। इस मंत्र के द्वारा साधक अपनी प्रकृति के साथ–साथ दूसरे की प्रकृति को भी समझ सकता है कि मैं पूर्व के जन्मों से क्या विषय लेकर आया हूँ। यदि किसी साधक का शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि के प्रति विशेष झुकाव हो रहा है, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, ब्रह्म क्या है, जीव क्या है, भाव क्या है इत्यादि को जानने के प्रति जिज्ञासा हो रही है तो यह सिद्ध हो रहा है कि पूर्व के शरीर से ज्ञानयोग लेकर आया है तभी इस जन्म में इस शरीररूपी महल के मन, बुद्धि आदि अन्तः इन्द्रियों के द्वारा आध्यात्मिक विषय की तरफ झुक रहा है एवं वैसी ही साधना को स्वीकार कर रहा है। जिस साधक को नवधा–भक्ति प्रिय लग रही है, सगुण ब्रह्म– भगवान श्रीराम या प्रभु श्रीकृष्ण या भगवती के दरश–परश की ही कामना हो रही है, तो इससे सिद्ध होता है कि वह साधक पूर्व के जन्म में भक्तिपथ का पथिक था तभी वह भक्ति की ही माँग कर रहा है और इस शरीर के नेत्रों से प्रभु का दर्शन करना चाहता है, कानों से अहर्निश प्रभु की कथा श्रवण करना चाहता है, वाणी से प्रभु के नाम एवं गुणों का जप तथा संकीर्तन करता रहता है, जिह्वा से प्रभु को भोग लगाकर ही खाता है, पैरों से संतों की तरफ तथा तीर्थों में ही दौड़ लगाये रहता है, हाथों से सन्तों की ही सेवा करता रहता है, मन से भगवन्नाम का जप तथा बुद्धि से उनके चरित्र का चिन्तन और हृदय से भगवान की ही छवि का ध्यान करता रहता है, तो निश्चित ही पूर्वजन्म का वह सगुणोपासक है। जिस साधक को अष्टांगयोग प्रिय लग रहा है तो इससे सिद्ध होता है कि पूर्व के जन्म में भी उसने इस योग का पालन किया था, तभी यम, नियम, ध्यान, समाधि की कामना कर रहा है। यही नहीं, अवश्य ही उसने ज्योतिर्मय समाधि का त्याग किया है तभी वह समाधि–समाधि की रट लगाये रहता है एवं उसको प्राप्त करने के प्रयत्न में भी लग जाता है। वह संयम झट पकड़ लेता है अर्थात् न वह अधिक खाता है न कम खाता है, न अधिक सोता है न कम सोता है, न अधिक काम करता है और न निठल्ला ही बैठा रहता है बल्कि युक्त आहार–व्यवहार को धारण कर लेता है तथा कठोर नियमों का पालन करता हुआ अपने यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि नियमों में लगा रहता है। जिस साधक को तंत्रसिद्धि के प्रति विशेष अभिरुचि हो रही है तो यह सिद्ध हो रहा है कि पूर्व में भी उसने तंत्रसिद्धि का ही प्रयत्न किया है लेकिन तंत्रसिद्धि अधूरी रह गयी थी इसीलिए सात्त्विक साधनाओं के विशेष प्रचार–प्रसार होने पर भी वह तामस साधनाओं की तरफ बह जाता है और अपने योग्य तान्त्रिक गुरु की खोजकर मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि तंत्रों की सिद्धि कर अपने सिद्ध होने का डंका पीटकर अपने नाम का झंडा गाड़ देता है।

(शरीरं यदवाप्नोति.....) इसीप्रकार पूर्व की कामनाओं को मन के द्वारा साथ लाकर वह अपने विषयों को अपने अनुकूल शरीर की रचना कर भोगता है। जो बाल–बच्चों की ही उपासना करनेवाला था वह उन्हीं की मंगलकामना करते हुए सकाम, जप, तप, योग, यज्ञ के द्वारा पुनः मनुष्यलोक में आकर शादी–विवाह कर उन बाल–बच्चों को ही अपनी आत्मा बना लेता है, उन्हें ही अपनी इन्द्रियों का विषय बनाकर उनका उपयोग करता रहता है। स्त्री को आनन्द का विषय बना लेता है, पुत्र–पुत्रियों को अहंकार का विषय बना लेता है, धन को जिह्वा का विषय बना लेता है, इत्र–फुलेल को नाक का विषय बनाता है; सिनेमा, सर्कस को नेत्रों का विषय बनाता

है, बाल–बच्चों के भविष्य की चिन्ता करना मन का विषय बना लेता है, उनके सद्‌गुणों–दुर्गुणों को चिन्तन का विषय बना लेता है तभी तो जीवन बीत जाता है और न भगवान को जानने की कामना होती है और न अपने को ही जानने की उत्सुकता होती है। इतना ही नहीं, निर्विषयी पुत्र को जो पूर्वजन्मों का साधक है, उसे भी विषयी बनाने का हर सम्भव प्रयास करता है, उसके द्वारा विषय को अस्वीकार करने पर विरोध भी कर बैठता है। वह कहता है कि मैंने तुम्हारे लिए सबकुछ किया है, मर–मरकर जीया है और तुम अब भगवान के हो जाओगे? देखता हूँ ऐसा कैसे हो सकता है? अरे! जब मैं न रहूँ, तब तू अपने भगवान के लिए जीना या अपने अहंकार के लिए जीना, मैं तो देखने नहीं आऊँगा! अभी तो तुम ऐसा करके मेरी बनी–बनायी इज्जत को चौपट नहीं कर सकते।

इसप्रकार जो जिस विषय को लेकर आया है, उसे भोगने का पूरा प्रयास करता है। घर–गाँव में बहुत प्रकार के विषयी पुरुष पाये जाते हैं, जिनको तीन भागों में बाँटा गया है– सात्त्विक, राजस एवं तामस। इनमें सात्त्विक पुरुष को यदि तामस पुत्र हो गया तो स्पष्ट है कि वह पूर्वजन्म का ऐसा वैरी है जो एकमात्र सात्त्विक पुरुष का पुत्र बनकर बदला लेने आया है। इसी से वह पिता–माता एवं परिवार के सर्वथा विपरीत आचार–विचार, आहार–व्यवहारवाला होगा; क्योंकि शरीर छोड़ते समय उसने अपने वैरी को ही याद किया है, अतः वह वैरी का व्यवहार करना प्रारम्भ कर देगा। यही बात तामस धर्मपत्नी के प्रति भी समझनी चाहिए। उसने उस शरीर को छोड़ते समय वैरी के वैर को ही स्मरण किया है तभी तो सात्त्विक पुरुष की तामस धर्मपत्नी बनकर उसे दुःख देती रहती है। ठीक इसके विपरीत शरीर छोड़ते समय जब कोई जीव किसी के उपकार को याद करके शरीर छोड़ता है तो वह सात्त्विक पुत्र बनकर अपने माता–पिता को देवता मानकर उनकी तबतक पूजा करता रहता है जबतक कि वह उनके ऋण से मुक्त नहीं हो जाता।

इसप्रकार विषयी जीवों में से तामसी जीव तामसी शरीर की रचना करके अपने तामस विषयों को भोगता है, राजसी जीव तामस एवं राजस मिश्रित शरीर की रचना करके अपने राजसी विषयों को भोगता है और सात्त्विक जीव राजस तथा सात्त्विक शरीर की रचना कर अपनी भगवत् साधना को भोग का विषय बनाता है तथा जो इनसे ऊर्ध्वगतिवाला जीव है, वह दिव्य शरीर की रचना करता है, जिससे कि सर्वस्व त्यागरूप वृत्ति को ही अपनी वासना का विषय बनाता है, जैसे ऋषि–महर्षि। जीव के चित्त में एक ऐसा कोश है जिसमें भले–बुरे तथा मिश्रित कर्म संचित होते रहते हैं। जब जीव मरणासन्न होता है तो उसी कोश में से सम्पूर्ण कर्म उसके सामने नाचने लगते हैं। उस समय उसे घोर पश्चात्ताप होने लगता है। यदि वह किसी की वस्तु को लेकर छल से या विवशतावश नहीं दे पाया है तो उस समय उसे पश्चात्ताप के कारण से अगले जन्मों में उसी पुरुष का नौकर बनना पड़ता है। यदि बहुत विशेष चोरी–डकैती करके, छीना–झपटी करके छीन लिया है तो उसी को पूरा करने के लिए उस पुरुष का पशु– बैल, घोड़ा, गधा, कुत्ता आदि बनकर आना पड़ता है। इस सृष्टि में जहाँ भी, जो कुछ भी थोड़ा या विशेष सम्बन्ध है, इसका कारण निश्चितरूप से अदला–बदली करना है, जिसका समाधान

बिना अपने स्वरूप में स्थित हुए होता ही नहीं।

इस मंत्र के माध्यम से संकेत मिलता है कि पाँचों पाण्डव भगवान की तरफ गमन कर रहे थे। इसी से इनके जन्म–जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्म उनके पीछे पड़ गये थे। ये पाँचों महात्मा इस जन्म के पूर्व कुछ जन्मों से यम–नियम एवं शम–दम आदि आध्यात्मिक साधनों का ही सम्पादन करते चले आ रहे थे। यदि ऐसा नहीं होता तो वे अपने तन, मन, वचन, हृदय से धर्म को ही अपना विषय नहीं बनाये होते। वे नेत्रों से धर्म ही देखते थे, कानों से धर्म ही सुनते थे, वाणी से धर्म ही बोलते थे, जिह्वा से धर्म ही खाते थे, हाथ से धर्म ही करते थे, पाँव से धर्म पथपर ही चलते थे, मन से धर्म का ही मनन करते थे और बुद्धि से धर्म का ही चिन्तन करते थे। यही कारण है कि उनके नहीं चाहने पर भी भगवान उन्हें मुक्ति देने आ गये थे। ठीक इसके विपरीत दुर्योधन आदि कौरव जन्म–जन्मान्तर से अधर्माचरण ही करते चले आ रहे थे। वे महापापी, नीच शरीर छोड़ते समय अपने अधर्माचरण को मन के द्वारा इस जन्म में भी सम्पूर्ण इन्द्रियों से अधर्म के द्वारा ही विषयों का सेवन करते थे। शकुनि छल–कपट को लेकर ही जन्म लिया है, कर्ण वैरभाव को लेकर जन्म लिया है और दुर्योधन अहंकार तथा काम, क्रोध, लोभ आदि विषय को लेकर जन्म लिया है। आचार्य द्रोण पुत्रमोहरूप विषय को लेकर जन्म लिए हैं तो पितामह भीष्म पितृभक्तिरूप विषय को लेकर उत्पन्न हुए हैं। ठीक इसीप्रकार अपने तन, मन, वचन एवं पराये तन, मन, वचन, हृदय को देखकर अपने पूर्वजन्म की विषय–वासनाओं का निर्णय कर लेना चाहिए।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

शरीर में स्थित हुए को, तीनों प्रकार के विषयों को भोगते हुए को और शरीर को छोड़कर जाते हुए को मूर्ख क्या देख पायेंगे, इसे तो ज्ञानदृष्टिवाले ज्ञानीजन ही देख पाते हैं। ज्ञान नेत्रोंवाले ज्ञानयोगी भी अपने हृदयस्थ आत्मा को बड़े ही यत्नपूर्वक जानते हैं लेकिन जिन अज्ञानियों (सकामियों) ने तन, मन, वचन एवं बुद्धि को पवित्र किया ही नहीं है, शुद्ध किया ही नहीं है, वे तो लाख यत्न करने पर भी हृदयस्थ परमात्मा को नहीं जान पाते।

(उत्क्रामन्तं स्थितं वापि.....) प्रथमावस्था में कहा जाता है कि शरीर में भगवान बैठा है, वही शरीर को छोड़कर चला जाता है। दूसरी अवस्था में कहा जाता है कि शरीर में ब्रह्म क्यों बैठेगा? वह तो शरीर के भीतर–बाहर बैठा है। हाँ! भक्तों का शरीर उनमें बैठा है, ऐसा तो कहा जाता है और मूर्खों का शरीर उनके प्रारब्ध में बैठा है अथवा मूर्खों के शरीर में प्रारब्ध बैठा है। तीसरी अवस्था में कहा जाता है कि शरीर में किसी के बैठने–उठने की तो बात ही नहीं है तो फिर क्या है? भ्रम है और चौथी अवस्था में कहा जाता है किसी उत्तम अधिकारी से कि स्वप्न

कहीं आता–जाता है क्या? अग्नि कहीं आती–जाती है क्या? इत्यादि–इत्यादि। इसप्रकार चिन्तनशील पुरुष तो सद्गुरु की आँख से देख लेते हैं कि शरीर में कौन बैठा है, कौन विषयों को भोगता है और कौन शरीर को छोड़कर जाता है लेकिन जो जड़ हैं, मूर्ख हैं, विषयी हैं, वे इस रहस्य को सुनने पर भी नहीं जान पाते; क्योंकि वे जानना ही तो नहीं चाहते हैं। मानो भगवान संकेत कर रहे हों अर्जुन के लिए कि वे भी जानकर यदि भगवान की बात नहीं मानेंगे तो मूर्ख ही हैं।

(विमूढा नानुपश्यन्ति.....) अरे! माँ! मैं कहाँ गया था! तू तो व्यर्थ का चिल्ला रही है, इसे रोना नहीं कहते बल्कि चिल्लाना कहते हैं। माँ ने कहा– हाय! यह कितना निष्ठुर हो गया है। इसके बिना मुझे नींद नहीं आती और मेरा रोना इसको चिल्लाना लग रहा है। बेटे ने कहा– जब मेरा भगवान के लिए जाना तुझे भागना लग रहा है तो तेरा रोना मुझे चिल्लाना नहीं लगेगा? माँ ने कहा– अच्छा! तो बोल तू क्या करके आया, वन से क्या लाया– मैं तो देख रही हूँ कि तू सूख गया है, हड्डी–हड्डी दिखाई दे रही है? बेटे ने कहा– मैं यह लेकर आया हूँ कि शरीर में कौन बैठा है, कौन खाता–पीता, सोता–जागता है, इसमें कौन बोलता है, कौन रोता–हँसता है, कौन मरता है, कौन जीता है, कौन जन्म लेता है, मरकर कैसे जाता है और पुनः वह शरीर में कैसे आता है? मैं तो चाहता हूँ कि तुम्हें भी बता दूँ। बोलो! यदि सुनना चाहती हो तो ज्ञान की गंगा बहा दूँ। माँ सोचती रही– कहीं मेरा बेटा पागल तो नहीं हो गया? अतः मन की बात मन में रहने दी और कहा– तो ठीक है बेटा! चार–पाँच दिन के बाद मैं सुनूँगी, ऐसा कहकर भूत उतारनेवाले के पास गयी और कहा– मेरे बेटे को बहुत बड़े प्रेत ने पकड़ लिया है; क्योंकि मैं जब उसके लिए रो रही थी तो वह कह रहा था कि क्या चिल्ला रही हो? हड्डी–हड्डी हो गया है, प्रेत ने सब रक्त चूस लिया है, अब तो आपको ही उसे ठीक करना होगा। दूसरे दिन प्रेत उतारनेवाला आया, पूछा– कौन हो.....तुम?। बच्चे ने कहा– आत्मा हूँ, आत्मा। ओझे ने कहा– कहाँ से आये हो? बच्चे ने कहा– सर्वत्र रहता हूँ। ओझे ने एक घूँसा दिया और बच्चा गिर गया। बच्चे ने सोचा यह क्या हो गया? तबतक उसकी कनिष्ठिका ऊँगली जोरों से मोड़कर बोला– कहाँ से आये हो.....? बच्चे ने कहा– अरे रे रे रे रे रे....! ये क्या कर रहे हो? ओझे ने कहा– पूछ रहा हूँ, कहाँ से आये हो? बच्चे ने कहा– वन से आया हूँ। अरे! जंगल चला गया था छोड़ दो ऊँगली.....हाय.....। ओझे ने पूछा– कौन हो तुम.....? बच्चा समझ गया कि मूर्खों के चंगुल में फँस गया हूँ, अतः कहा– मैं तो आप लोगों का बेटा हूँ, बेटा। अरे माँ! ये क्या करा रही हो? ओझे ने कहा– लो माँ! तुम्हारे बेटे को प्रेत (भूत) ने छोड़ दिया, अब यह ठीक हो गया। बच्चे ने सोचा– कहाँ से आ गया मूर्खा माँ को समझाने–बुझाने! इसने तो यही समझ लिया कि मेरे बेटे को भूत–प्रेत ने पकड़ लिया है। भगवान ने ठीक ही कहा है कि 'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः'।

(यतन्तो योगिनश्चैनं.....) जिन्होंने आत्मा, परमात्मा को अथवा स्वयं को जानने के लिए अपने जीवन को ही दाव पर लगा दिया है, उन्हें भी कई जन्म परमात्मप्राप्ति के साधन में लग

जाते हैं, तब कहीं सद्गुरु कृपाकर अपनी दिव्य दृष्टि देता है जिससे वे अपने स्वरूप को यानी ब्रह्म को देख पाते हैं। जो जल्दी में हैं, इसी जीवन में भगवान को चाहते हैं और साधना करते हैं जपसिद्धि पाने के लिए, तपसिद्धि पाने के लिए, योगसिद्धि पाने के लिए, तो यदि वे यत्न भी करते हैं तो भगवान हाथ नहीं आता। वे तो शम्बूक बन जाते हैं। उसने भी बड़ा यत्न किया था स्वर्ग पाने के लिए। वे तो उतंक ऋषि बन जाते हैं। उन्होंने भी बड़ा यत्न किया था भगवान को पाने का लेकिन भगवान हाथ नहीं आया। बड़ा यत्न किया था माँ यशोदा ने भगवान को ओखली में बाँधने का लेकिन जब यत्न करना छोड़ दिया तो कहा प्रभु ने– लो मैं बँध गया। जाओ अपनी सहेलियों को बता दो कि देखो मैं अपने लाला को कितना दण्ड दे रही हूँ। रावण और कंस ने भी बड़ा ही यत्न किया था भगवान शंकर को वश में करने का लेकिन भगवान शंकर ने नचा–नचाकर मारा राम एवं कृष्ण के रूप में आकर लेकिन वे सब जानते रहे कि विष्णु ने मारा। जो देना जानता है वह लेना भी जानता है। असुरों के द्वारा यत्न (तप) करने पर वह ब्रह्मा और शिव बन जाता है तथा माया का वरदान देकर उनसे छिपा का छिपा रह जाता है। कोई चाहता है– पहले मुझे सिद्धि मिल जाय तब तो जानूँ कि भगवान मुझे चाहता है। इसप्रकार मनमाना यत्न करनेवाला क्या यत्न कर पाएगा, क्योंकि वह तो तीनों गुणों के घेरे में ही है। अतः उसका यत्न राजस बन जाएगा, तामस बन जाएगा या सात्त्विक बन जाएगा अर्थात् जीव का यत्न बन जाएगा। जीव के द्वारा भी यत्न होता है ब्रह्मप्राप्ति का और सद्गुरु की अध्यक्षता में रहकर (तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये.....) भी भक्त के द्वारा यत्न होता है ब्रह्मप्राप्ति का।

'विषयी साधक सिद्ध सयाने'– ऐसा कहकर शास्त्रों ने भगवद्भक्तों की श्रेणियाँ कर दीं। जो विषयी है, वह मनमाना यत्न करनेवाला है और जो साधक, सिद्ध, सयाने आदि हैं वे सद्गुरु के अनुसार यत्न करनेवाले हैं। अतः इन भक्तों का यत्न तो सफल हो जाता है, क्योंकि उनका साधन–साध्य सब भगवान बन जाता है लेकिन विषयी पुरुषों का, सकामियों का साधन–साध्य उनका प्रारब्ध बन जाता है। जिनका मनमाना करने का स्वभाव है, वे भगवत्प्राप्ति के साधन में भी मनमाना करेंगे ही करेंगे, अपनी बुद्धि लगाके मानेंगे। उन्हें (अपने को चालाक माननेवाले लोगों को) भगवान मूर्ख की संज्ञा दे रहे हैं। उनका तर्कशास्त्र अपना होता है। वे कहते हैं– कहीं पत्थर में भगवान है? भगवान तो सर्वत्र है! उसके लिए यत्न करने में सद्गुरु की क्या आवश्यकता है या भगवान की भी तो क्या आवश्यकता है? जब उसके लिए यत्न करेंगे तो उसे आना ही पड़ेगा लेकिन जब कालान्तर में वे यत्न में असफल हो जाते हैं तो कहते हैं– भगवान है ही नहीं। यही तो कारण है कि भगवान उन्हें महामूर्खों की गणना में रखते हैं। (विमूढा नानुपश्यन्ति.....) इस मंत्र में यही कहा गया है कि मूर्ख तो यत्न करते–करते थककर कभी शरणागत हो सकते हैं, लेकिन महामूर्ख यत्न करते–करते थक जाने पर महा अहंकारी हो जायेंगे। वे कहेंगे– हमें क्या पड़ी है भगवान को पाने की, उसे गरज होगी तो हमारे पास आएगा।

प्राणी किसप्रकार मरता है और पुनः जन्म लेता है। इस तत्त्व को योगवासिष्ठ में वर्णित एक साधिका लीला ने अपनी आराध्या माँ सरस्वती से पूछा था। उसी का अंश, यहाँ पर थोड़ा सा

दिया जा रहा है, जिससे आप लोगों को समझने में सुगमता होगी–

नाड़ियों की गति रुक जाने पर जब प्राणी प्राणवायुओं की विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त सी हो जाती है, इसी को मरण कहते हैं। वास्तव में आत्मा सर्वथा शुद्ध एवं नित्य है; उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न तो उसका विनाश ही होता है। वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत, अग्नि और वायु आदि सभी में स्थित है। केवल प्राणवायु की गति अवरुद्ध हो जाने से जब शरीर की चेष्टा पूर्णतः शान्त हो जाती है, तब यह शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड़' है, 'मृत' कहा जाता है। जब यह शरीर 'शव' रूप में परिवर्तित हो जाता है और प्राणवायु अपने कारणरूप महावायु में विलीन हो जाती है, तब वासनारहित चेतन अपने–आप तत्त्व में स्थित हो जाता है। फिर पुनर्जन्म के बीजभूत वासना से युक्त एवं सूक्ष्म शरीरवाला वह व्यष्टि चेतन, 'जीव' नाम से पुकारा जाता है। शरीर के मरने के बाद लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उस जीव को 'प्रेत' शब्द से पुकारते हैं और वह चेतन गन्ध मिली हुई वायु के समान वासनाओं से संयुक्त हो जाता है। जब वह जीव इस शरीर आदि दृश्य का परित्याग करके देहान्तर का दर्शन करने के लिये उत्सुक होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती हैं। फिर उसी प्रदेश के अन्तर्गत वह पूर्वजन्म की तरह स्मरणशक्ति से युक्त हो जाता है और तभी मरणकाल की मूर्च्छा के पश्चात् वह अन्य शरीरों को देखने लगता है। इसप्रकार अपनी वासना के अनुसार हृदय में इस व्यवस्था का क्रमशः एवं क्रमरहित ही अनुभव करता है।

प्राणियों के शरीर में जो छिद्र स्थान हैं, उनमें प्रविष्ट हुई वायु जब अंगों में चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है। जब जीवात्मा, मनुष्यादि दूसरे नगर में पहुँचता है, तब वहाँ बुद्धि को चक्षु आदि इन्द्रिय गोलकों में ले जाकर उनके द्वारा बाह्यपदार्थों का अनुभव करता है। वह स्वेच्छा से जिसके लिये जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही अपने शरीर को जानता है। इसप्रकार वह सर्वव्यापी आत्मा जंगमरूप से जंगम की और स्थावररूप से स्थावर की कल्पना करता हुआ, सबके शरीररूप से स्थित होता है। इसलिये जो जंगम जगत है, उसे वह अपनी कल्पना के अनुसार जैसा समझा था, दूसरे जन्म में भी उसी रूप में देखता है। जैसे जिन वृक्ष, शिला, पेड़–पौधों और तृण आदि को स्थावर होने के कारण जड़ समझा था, वह उसी रूप में वहाँ भी स्थित हो जाते हैं क्योंकि न जड़ता ही पृथक् वस्तु है और न चेतनता ही। इन पदार्थों की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश में कोई भेद नहीं है और न सत्ता–सामर्थ्य में ही कोई अन्तर है अर्थात् शक्ति भी सबमें समान ही है। यथार्थ बात तो यह है कि वृक्षों एवं पर्वतों के अन्दर जो उनकी जड़ता एवं नाम–रूप आदि भेद परिलक्षित होते हैं, वे जीवात्मा की बुद्धि द्वारा विहित हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वही जीवात्मा स्थावर आदि के भीतर 'मैं स्थावर हूँ' ऐसी बुद्धि से स्थित होने के कारण जंगम से भिन्न नाम और अभिमान का विषयभूत होकर वृक्षादि अन्य स्वरूपों से स्थित है। कृमि, कीट एवं पतिंगों के अन्दर संविदरूप से वर्तमान जीवात्मा ही बुद्धि का रूप धारण करता है और वही अनेकविध नाम–रूपों से व्यवहृत होता है। सभी स्थावरजंगम अपने–अपने अनुभव में ही लीन हैं, परन्तु जब वे एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तब उनमें यह स्थावर है

और यह जंगम है यों संकेत की आवश्यकता होती है। चेतन तो परमार्थरूप से स्थावर, जंगम सभी में व्याप्त है, परन्तु जंगम प्राणियों में वायु के प्रवेश करने से चेष्टायें होती हैं लेकिन स्थावरों में नहीं होती। जिसप्रकार विश्व के समग्र पदार्थों के स्वभाव का विकास होता है और जैसे वे असत्य होते हुए भी सत्य से प्रतीत होते हैं, उसीप्रकार मृत्यु एवं जन्म का क्रम बताया गया।

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति–प्रकरण)

इसी विषय को योगवासिष्ठ में ही वर्णित काकभुशुण्डिजी के द्वारा भी समझाने का प्रयत्न किया गया है। वे कहते हैं– सम्पूर्णतः नाशरूप मृत्यु कभी नहीं होती है। अपने दूसरे संकल्पों का कुछ काल तक स्थिर रहना ही मरण कहलाता है। प्राण के भीतर चित्त है और चित्त के भीतर विविध आकार–प्रकार से युक्त जगत वैसे ही विद्यमान है, जैसे बीज के भीतर वृक्ष। पुरुष की मृत्यु हो जाने पर उसके शरीर से निकले हुए प्राण बाह्याकाश में भरे हुए वायुसमूह के साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे नदियों का जल समुद्र के जल के साथ मिलकर एक हो जाता है। आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण हैं। उन प्राणों के भीतर उनका मन है और उस मन के भीतर जगत को उसीप्रकार स्थित समझो, जैसे तिल में तेल रहता है। जैसे मानो वायु में स्थित सुगन्ध इधर–उधर ले जायी जाती है, उसी तरह प्राणवायु में स्थित आकाशात्मक जगत इधर–उधर, यत्र–तत्र ले जाये जाते हैं। जैसे घड़े को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचा देने पर उसके भीतर के आकाश में कोई भेद नहीं होता, उसीप्रकार स्पन्दन आदि से युक्त चित्त में तीनों जगत का भ्रम रहने पर भी चेतन आत्मा में वस्तुतः वह स्पन्दन एवं भ्रम नहीं होता है। जगत एवं इसका भ्रम दोनों उदित नहीं हैं। यदि उदित हों तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथ्वी के परिभ्रमण आदि को इसके ऊपर स्थित हुए प्राणी उसी तरह नहीं देख पाते हैं, जैसे नौका के भीतर बैठे हुए मनुष्य उसकी गति को नहीं देखते हैं। वे तीनों लोक देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही हैं और अहंकार भी इन देश, काल आदि के साथ सम्बन्ध रखने के कारण देश–कालादिरूप ही है। अतः देश–कालादिरूप जगत एवं अहंकार में भेद नहीं है। अज्ञानी में, जिसप्रकार, विकल्प–सम्पत्ति का उदय होता है, उसप्रकार ज्ञानी में निश्चित ही उसका उदय नहीं होता है। चेतन आकाशरूप परमात्मा सर्वव्यापी एवं अनन्त है, इसलिये वह विकल्प–सम्पत्ति उसका स्वरूप न होने के कारण सत्स्वरूपा नहीं है। परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप सर्वशक्तिमान है, इसलिये उसमें गुण, वस्तु, क्रिया एवं जाति आदि से अनन्तरूपता को प्राप्त तथा नानाप्रकार के कार्यों का आरम्भ करनेवाले दिगन्तवर्ती जनसमुदाय से परिपूर्ण ये सब संसार चंचल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित क्षणभंगुर नगरों एवं अपने अन्तःकरण में स्थित समस्त उपकरणों से भरे महानगरों के समान असद्रूप से ही स्थित हैं।

(योगवासिष्ठ, निर्वाण–प्रकरण)

इसप्रकार सदा आध्यात्मिक खोज में लगे हुए सूक्ष्मदर्शी योगीजन ही अपने हृदय में स्थित आत्मा को तत्त्व से जानते हैं; किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध न हो, वे यत्न करने पर भी आत्मतत्त्व को नहीं जान पाते। यह तो स्पष्ट हो ही गया कि किसी भी पदार्थ के मौलिकतत्त्व

को जानने के लिये धारणाशक्ति के द्वारा प्राणिपदार्थ का रूप बनकर ही तो उसका स्वरूप जाना जा सकता है। उसीप्रकार आत्मरूप होकर ही आत्मसत्ता को भलीभाँति जाना जा सकता है। आत्मा तो कहीं आता–जाता है नहीं, वासनात्मक शरीर ही आने–जाने जैसा प्रतीत होता है। यह तो अज्ञानियों को समझाने के लिये मात्र औपचारिक बातें हैं। जिसप्रकार जड़ लोहा भी अग्नि का संसर्ग पाकर दाहक क्रिया से सम्पन्न हो जाता है। उसीप्रकार जड़ वासना भी चेतन आत्मा के संसर्ग से आने–जाने जैसी प्रतीत होती है। इसी को स्पष्ट करने के लिये भगवान ने अगला मंत्र दिया है–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

हे पार्थ! सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करनेवाला सूर्य एवं चन्द्रमा का तेज तथा अग्नि का भी तेज मेरा ही तेज है, ऐसा जान लो तथा यह भी जान लो कि मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भूतों को धारण करता हूँ तथा रसरूप चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों को पुष्ट करता हूँ।

अधिकारी को पाकर सद्गुरु कुछ छिपा भी नहीं पाता; क्योंकि शिष्य ही उसकी आत्मा होता है। वही स्थिति यहाँ भगवान की हो गयी है। वे धर्मपूजक एवं देवपूजक अर्जुन को स्वयं का पूजक बना देना चाहते हैं। महात्मा अर्जुन ने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि को देवरुप में देखा है। उस देवबुद्धि का सम्पूर्णता से निराकरण कर आत्मबुद्धि की स्थापना ही प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा की है। वे दुराव न करते हुए कहते हैं कि सूर्य में जो प्रकाश है, वह सूर्य का नहीं बल्कि मेरा प्रकाश है। चन्द्रमा, अग्नि का तेज भी मेरा ही तेज है। इतना ही नहीं, पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों की जीवनशक्ति भी मैं ही हूँ तथा चन्द्रमा के माध्यम से सोमरस की वर्षा कर सम्पूर्ण औषधियों को पुष्ट भी मैं ही करता हूँ।

जो अज्ञानी हैं वे सूर्य से प्रकट होनेवाले प्रकाश को सूर्य का ही प्रकाश मानते हैं। वैज्ञानिक भी यही कहते हैं तथा पुराणों का संकेत न समझ पाने के कारण से अपने को पुराणवेत्ता माननेवाले भी उपरोक्त बात को ही स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, जो गायत्री के उपासक हैं, वे सन्ध्याओं में सूर्य का ही आश्रय लेते हैं। जिसप्रकार अज्ञानी बालक रोटी, कपड़ा, मकान के दाता, माता–पिता को ही मान लेते हैं, जबकि वे निमित्त ही होते हैं, कारण नहीं। उसीप्रकार सूर्य एवं सूर्य के प्रकाश को अपवाद को छोड़कर लोग एक ही मानते हैं। यही कारण है कि बाली तथा कर्ण आदि सूर्योपासकों को निर्गुण–निराकार ब्रह्म ने ही सूर्य नामक देवता के रूप में दर्शन देकर वरदान दिया है। अब तो इस बात को वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि यदि अन्य लोकों पर जाकर पृथ्वी को देखा जाये तो पृथ्वी न दिखाई पड़कर एक चमकता हुआ गोला दिखाई

पड़ेगा। यह बात अलग है कि सूर्य के द्वारा प्रकट होनेवाले प्रकाश के अनुपात में पृथ्वी से प्रकट होनेवाला प्रकाशपुंज अति न्यून होगा। आत्मप्रकाश ठण्डा या गर्म नहीं होता। सूर्यलोक एक उष्णलोक है। अतः उसके माध्यम से प्रवाहित होनेवाला ब्रह्मप्रकाश उष्ण प्रतीत होता है। उसीप्रकार चन्द्रमा के शीतप्रधान लोक होने के कारण से उससे प्रवाहित होनेवाला आत्मप्रकाश शीतल प्रतीत होता है। हवा ठण्ढी या गर्म नहीं होती; किन्तु वातानुकूलित यंत्र के माध्यम से उसे अपने अनुकूल गर्म या ठण्डा बना लिया जाता है। यह एक अद्‌भुत पहेली है कि हर प्राणिपदार्थ के चारों ओर एक प्रकाशपुंज का घेरा है जिसे ज्ञाननेत्रों के द्वारा ही देखा जा सकता है। वह प्रकाशपुंज का घेरा प्राणिपदार्थों के कर्म अथवा भावानुसार विशेष या सामान्य होता देखा जाता है। एक पहेली और है कि सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों से प्रवाहित होनेवाले प्रकाशपुंज के उद्‌गम को आजतक कोई भी बता नहीं पाया है, इसलिये कि वह दिव्य प्रकाश ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ न हो और निश्चितरूप से महात्मा अर्जुन के मन में यह प्रश्न खड़ा हुआ कि जब सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि निमित्त ही हैं तो उस दिव्य प्रकाश का कारण क्या है? इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि

(गामाविश्य च भूतानि.....) ब्रह्म ही पृथ्वी के भीतर–बाहर व्याप्त होने से सम्पूर्ण भूत प्राणियों का नियंता है। जिसप्रकार जल के भीतर अनेकानेक जीव–जन्तु प्रकट होते हैं, किन्तु सम्पूर्ण जल–जन्तुओं की अपेक्षा मगरमच्छ में विशेष ओज एवं तेज देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वह बीज जब प्रकट होता है तो स्वाभाविक ही उसमें ब्रह्म का तेज एवं ओज प्रकट होता है, जिसे दशम अध्याय में प्रभु ने स्पष्ट कर दिया है। तब तो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि का कोई महत्त्व न रहा? तब तो सम्पूर्ण पौराणिक मत झूठे हैं, जिन्होंने मुक्त कण्ठ से सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वरुण आदि देवताओं की सत्ता को स्वीकारा है? नहीं नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि भगवान ने इस गूढ़ात्मक रहस्य को कहने के पूर्व ही स्पष्ट कह दिया है कि 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'– ज्ञान होने के उपरान्त जैसा पुराणों–शास्त्रों में पाया जाता है, वैसा देखा नहीं जाता। इससे स्पष्ट हो गया कि शास्त्र–पुराण अवस्थागत साधुओं की साधना के एक अंग हैं। जो परम तत्त्व अवर्णनीय है, उसका वर्णन वे कैसे कर सकते हैं। हाँ, स्वाध्याय के कारण चिन्तन प्रदान करने के कारक होते हैं। इतना ही नहीं, चित्तशुद्धि के भी कारक होते हैं। इनमें परम पावन देवी–देवताओं, महापुरुषों एवं अवतारों के चरित्र का विशद वर्णन विस्तार से किया गया है, जिसका पठन–पाठन करने से उनके दिव्य गुण अपने तन, मन, वचन, इन्द्रियों में उतरते हैं, जिससे चित्त में निर्मल वैराग्य होता है और अपने आत्मरूप से राग होता है। उसके उपरान्त तो आत्मस्वरूप होने पर न राग रहता है, न वैराग्य रहता है।

भगवान ने तो संकेत दे ही दिया है कि यह संसार ऊर्ध्वमूलवाला है अर्थात् इसका मूल आत्मा ही है तथा आत्मा की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों से प्रकट होनेवाली विशेष शक्ति से कर दी है। पुनः एक बार इन सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों एवं लोकों की स्थिति का अवलोकन करें– कैवल्य ही एक दिव्य लोक है, जिसे ब्रह्मलोक कहते हैं; जिसका प्रतिनिधि ब्रह्मज्ञानी को समझना

चाहिये। इस लोक के बाहर सिद्धों का घेरा है, जिनका प्रतिनिधित्व निष्कामी साधक करते हैं। इस घेरे के उपरान्त मुमुक्षुओं का घेरा है, फिर देवताओं का घेरा है, देवताओं का प्रतिनिधित्व सकामी भक्त करते हैं। इसके उपरान्त सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का घेरा है, जो सकामी मनुष्यों के काम आते हैं; जैसेः– पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे, अन्न, फल आदि।

(गामाविश्य च भूतानि.....) पूर्व में कहा गया है कि आत्मजिज्ञासु भक्त यत्न करते–करते ही चित्तशुद्धि के उपरान्त सद्गुरु कृपा से अपने स्वरूप में स्थित हो पाते हैं अर्थात् ब्रह्म को जान पाते हैं तो वे क्या यत्न करते हैं? उसी तत्त्व को भगवान प्रकाशित कर रहे हैं इन मंत्रों से कि प्रभु ने तो उन भक्तों के लिए यत्न कर ही दिया है। अब उस किये गये यत्न को अपना न मानकर भगवान का ही मानते हैं, यही उनके द्वारा किया गया यत्न है। भगवान सूर्य का प्रकाश, अग्नि का तेज किसके लिए बना है? सबके लिए तो बना है! आप सब इस बात को न मानें, पशु–पक्षियों की तरह न समझें तो भी भक्त मुक्त कण्ठ से इस बात को मानते हैं। वे भगवान की इस बात को भी मानते हैं कि पृथ्वी में प्रवेश कर भगवान ने ही पृथ्वी को धारण कर रखा है, तभी सम्पूर्ण जीवों की स्थिति स्थिर है। अज्ञानी कहते हैं कि शेषनाग ने पृथ्वी को धारण कर रखा है, जबकि वह पौराणिक संकेत रूपकमात्र है। शेष का तात्पर्य है जो सबका शेष भाग हो। जिसमें सबकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है वही शेष है। यह प्रभु का यत्न ही तो है। अमृतमय चन्द्रमा बनकर भगवान ही सोमरस की वर्षा करता है, जिससे सम्पूर्ण औषधियाँ पुष्ट होती हैं, यह उसी का तो यत्न (प्रयत्न) है। यही नहीं, आयुर्वेद की रचना कर उसने उन सम्पूर्ण औषधियों के गुण भी बता दिये। अब केवल अपनी प्रकृति के अनुसार उनका सेवन कर मेधाशक्ति को जागृत करना है। जहाँ विषयी पुरुषों के लिए वह विषयरस की वर्षा करता है, वहीं भक्तों एवं सन्तों के लिए अमृतरस की वर्षा करता है। यह तो सभी जानते हैं कि चन्द्रमा की किरणों से एक दिव्यरस बरसता है जिससे किसानों की खेती में प्राण आ जाता है, इसे तो अनपढ़ किसान भी जानते हैं। तामसी पुरुषों के लिए भी लहसुन, प्याज में वह अमृतरस बरसाता है, जिससे कि ये शरीर के लिए तो अमृत ही हैं लेकिन बुद्धि के लिए विष हो जाते हैं, जिससे साधक–भक्त इनका सेवन नहीं कर सकते। लहसुन, प्याज, गरम–मसाले खाकर कोई भी साधक–भक्त गुडाकेश नहीं हो सकते और न ही कामविजेता हो सकते हैं; जबकि जहाँ लहसुन में गठिया एवं टी.बी. आदि रोगों को शमन करने की सामर्थ्य है, वहीं यदि हररोज पाँच–छः कली सुबह खाली पेट खायी जाए तो इसमें व्यक्ति को सुलाये रखने की भी विशेष सामर्थ्य है, मस्तिष्क सात्त्विक नहीं हो पायेगा, स्मृति सात्त्विक नहीं बन पायेगी। ठीक इसीप्रकार प्याज में जहाँ शरीर की गर्मी को मारने की सामर्थ्य है, कच्चा खाने से तथा उसका रस पीने से जहाँ वह मूत्रदोष निवारण करने की क्षमता रखता है, वहीं कामोत्तेजना को असंख्यगुना बढ़ा देता है। ठीक इसके विपरीत शंखपुष्पी, ब्राह्मी आदि औषधियाँ जहाँ मस्तिष्क के विकार को दूर कर देती हैं, वहीं शरीर की बढ़ी हुई सूक्ष्म गर्मी को भी समाप्त कर देती हैं। सुबह खाली पेट यदि शंखपुष्पी का चूर्ण एक चम्मच मक्खन एवं मिश्री से ले लिया जाय तो इक्कीस दिन में स्मृति साफ–सुथरी हो जायेगी, बहुत भूलने की बीमारी चली जायेगी, विद्यार्थी जो विषय तीन घण्टे में याद नहीं

कर पाता है, वही वह आधा घण्टा में याद करने लगेगा। सम्पूर्ण औषधियाँ अपने–आप में जीवनदायी हैं; क्योंकि प्रभु ने सोमरस के द्वारा उनको सींचा है। इसी से तो साधक साग–सब्जी, कन्द–मूल, फल–फूल, घास–पात ही खाकर अपने योग, जप, तप को सम्पन्न करते हैं। ये औषधियाँ जीवनदायी हैं, इसे कौन नहीं जानता? आस्तिक से आस्तिक तक और नास्तिक से नास्तिक तक इसके महत्त्व को जानते हैं। इसका एकमात्र कारण है कि भगवान का ऐसा संकल्प ही है तभी तो वे स्वयं चन्द्रमा में सोमरस बन गये। संजीवनी जड़ी से लक्ष्मण का जीवित होना, च्यवनप्राश से कायाकल्प होना तो सर्वविख्यात है ही। अतः औषधियों को लेते समय इस मंत्र का स्मरण तीन बार करने से पूरा का पूरा लाभ मिल जायेगा अर्थात् रोग का निवारण हो जायेगा। इतना ही नहीं, भगवान का भक्तों के लिए और क्या प्रयत्न है, इसे भगवान ही कहते हैं–

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो–
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो–
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

सम्पूर्ण प्राणियों में वैश्वानर नामक अग्नि बनकर उनके द्वारा खाये हुए चार प्रकार के पदार्थों (अन्न) को मैं ही पचाता हूँ। इतना ही नहीं, सबके हृदय में मेरी उपस्थिति होने के कारण सबमें स्मृति, विवेक, बुद्धि तथा भले–बुरे का बोध होने की शक्ति भी मेरे से होती है। हे पार्थ! मैं क्या छिपाऊँ! सम्पूर्ण वेदों के द्वारा तो मैं ही जाना जाता हूँ और इतना ही नहीं, उन वेदों का कर्ता–धर्ता भी मैं ही हूँ।

एक बाहर की अग्नि है और एक देह के भीतर की अग्नि है। बाहर की अग्नि मात्र जलाने का कार्य करती है जबकि भीतर की अग्नि खाये हुए पदार्थों का मन्थन कर उसमें से नौ धातुओं को पृथक्–पृथक् कर देती है। वे नौ धातु निम्न हैं–'वाणी, बुद्धि, वीर्य, प्राण, रक्त, मूत्र, मन, मांस तथा मैला।' मनुष्यों के दोष को भक्त ग्रहण न करें, इसलिये भगवान ने प्रत्येक पहलू पर उन्हें सावधान रहने के लिये कहा है। 'मैं खाता हूँ, पीता हूँ', ऐसा कहना भी महापाप है। 'मैं खाता हूँ' तो सब कहते हैं, पर 'मैं पचाता हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता, इसलिये कि पचाने की क्रिया को आजतक किसी ने नहीं देखा; क्योंकि खाने तथा पचानेवाला तो भगवान ही है। यदि ऐसा सदा–सर्वदा साधक को स्मरण रहे तो वैश्वानर अग्नि देवता नामक भगवान को निश्चितरूप से वह शुद्ध एवं सात्त्विक पदार्थ ही भेंट करेगा, जिससे आलस्य, प्रमाद, नींद आदि वृत्तियाँ उसके अनुकूल व्यवहार करेंगी। इस मंत्र को देने का प्रयोजन यह भी है कि कोई साधक अन्न, दूध, फल आदि खाकर पेट पर हाथ फेरता हुआ तीन बार इस मंत्र का आवाहन करे तो पाचन–संस्थान

सुगमतापूर्वक कार्य करता है। इतना ही नहीं, यदि किसी साधक ने दूषित या अपवित्र अन्न भी खा लिया तो उसका दोष उसे नहीं लगेगा। सामान्य विज्ञान को जाननेवाला अघोरी भी तंत्रविज्ञान द्वारा मुर्दे को खाकर पचा लेता है फिर भगवान तो मंत्रों का भी मंत्र है, उसके लिए ऐसा कहा जाय तो कोई बड़ी बात नहीं है।

(पचाम्यन्नं चतुर्विधम्.....) चार प्रकार का अन्न पचाने की बात प्रभु ने यहाँ क्यों की है; क्योंकि अन्न (रस) तो छः प्रकार के होते हैं! राजा जनक के यहाँ छः प्रकार के रसों को बारातियों को देने की बात की गयी है। हाँ, इसलिए कि साधक खट्टा और कड़वा (चरपरा) खाकर साधना नहीं कर सकता।

एक तरफ तो भगवान कहते हैं कि मैं ही सब कुछ हूँ तथा दूसरी तरफ खाने–पीने में भी नियम की बात करते हैं, ये दोनों बातें विरोधी जान पड़ती हैं। नहीं, नहीं, अगस्त्य ऋषि जैसे के लिये कुछ नहीं कहा जाता है, यह तो साधना में रत रहनेवाले साधकों के लिये कहा गया है।

(सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो.....) मैं सम्पूर्ण भूत–प्राणियों के हृदय में वास करता हूँ, ऐसा या तो भगवान कहेगा या तो संत कहेगा। यदि साधक ऐसा कहता है तो उसके लिये ऐसा कहना धोखा हो जायेगा। प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु के पास कहा था– 'हममें तुममें खड्ग खम्भ में घट घट व्यापे राम', तो उन्होंने अपने राम को खम्भे में दिखा भी दिया। अतः साधक को जबतक यह पता न चल जाय कि उसका भी भगवान उसके लिये घट–घट में व्याप्त है तबतक बकवास न करे।

(सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो.....) इस मंत्र के अनुसार सभी प्राणी भगवान की प्रेरणा पाकर ही अपने–अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं। फिर इस न्याय से तो पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधन आदि भी भगवान की प्रेरणा से ही अन्यायपथ पर अग्रसर हैं? ऐसा प्रश्न होने पर इसका अर्थ इसप्रकार लेना चाहिये कि सबके अर्थात् भक्तों के हृदय में प्रभु के द्वारा ही प्रेरणा हो रही है तथा भक्तों के लिये ही भगवान कर्ता–धर्ता होता है। यद्यपि सबके हृदय के भीतर भगवान ही है; किन्तु शरणागत नहीं होने से उनके लिये वह मौन रहता है। इसलिये उन नराधम प्राणियों के लिये उनके प्रारब्ध की ही प्रेरणा होती है। 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' का तात्पर्य है कि मूर्खप्राणियों में जो स्मृति है, वह तो मेरी स्मृति का अंश है; किन्तु वे उसका दुरुपयोग करते हैं, उनमें विचारशक्ति भी है जिसका उपयोग वे अशुभ कर्म करने में लगाते हैं। शुभ–अशुभ का निराकरण करने की शक्ति को अपोहन कहते हैं। जिसप्रकार गाय से दूध निकालना, उसका मन्थन कर उसमें से अपने योग्य पदार्थ को निकाल लेना कुशलता के साथ कर ही लिया जाता है, उसीप्रकार वेद–वेदान्तों, शास्त्रों–पुराणों का मन्थन कर ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति करने की शक्ति को भी अपोहन कहा जाता है। आजकल लोग बिना वेद–पुराण का मन्थन किये बोलने लगते हैं; इसलिये मनुवादी न होकर मनोवादी अर्थात् मन के अनुसार चलनेवाले कहे जा सकते हैं। जो सद्गुरु के अनुसार वेदशास्त्रों का मन्थन कर, उसी के अनुसार चलते हैं, वे ही सच्चे मनुवादी

हैं। लोग कहते हैं– मनु ने वेद–शास्त्र रचे! अरे! मनु ने वेद–शास्त्र कहाँ रचे? मनु तो एकमात्र मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं, उनके हृदय से मंत्र आते गये और वे लिखते गये। इसलिये भगवान ने कहा कि वेद–वेदांगों की रचना करनेवाला तो मैं हूँ। भगवान नहीं चाहते कि कोई भी साधक या भक्त शास्त्र, पुराण एवं वेदों की आलोचना करे। किसी काल में महर्षि विश्वामित्र ने गायत्री मंत्र का खूब प्रचार–प्रसार किया, महामृत्युंजय का महर्षि वसिष्ठ ने तथा नवार्ण मंत्र को मार्कण्डेय ऋषि ने जन–जन में प्रकाशित कर दिया। जिसके कारण से लोग इन मंत्रों का सृजनकर्ता इन्हीं ऋषियों को कहने लगे, जबकि ये ऋषि तो इन मंत्रों के एकमात्र द्रष्टा एवं प्रचारक हैं। इन मंत्रों का सृजनकर्ता कोई और नहीं बल्कि भगवान ही इन मंत्रों के रूप में ऋषियों के माध्यम से समय–समय पर प्रकट हुए हैं। भगवान द्वारा ऐसा कहे जाने का तात्पर्य यह भी है कि साधक सावधान रहे, वह किसी को भी कर्ता न मान ले, तभी वह सम्पूर्णता से जब द्रष्टा होगा तो भगवान उसके लिये कर्ता बन जायेगा। भगवान निमित्त चाहे मनु को बना लें चाहे सप्तऋषियों को बना लें, लेकिन वेदों के, पुराण एवं शास्त्रों के रचयिता तो वे ही हैं। इसलिए वेदादि का अपोहन करना चाहिए, मन्थन करना चाहिए; अपने योग्य विषय–वस्तुओं को, मंत्र–तंत्र तथा ज्ञान को, जो इनमें आपको प्रिय हो उसे निकाल लेना चाहिए। भगवान के अनुसार तो मन्थन किये हुए ज्ञान को लेकर उसके माध्यम से संशय का निवारण (अपोहन) करना चाहिए।

(वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्.....) और सच पूछा जाय तो वेद–पुराणों का कर्ता भगवान होने से उसके वास्तविक मर्म को वही जानता है। जो ऋषि–महर्षि कुछ जानते हैं; वह तो उनका जानना अंश मात्र कहा जायेगा। हाँ, जो ब्रह्मरूप ही हो गया है वह जो जान रहा है, वह ब्रह्म का ही जाना हुआ माना जायेगा। इसप्रकार इस मंत्र से यह भी बात सिद्ध हुई कि सर्वप्रथम उस ब्रह्म को ही जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

एक साधक ने कहा– गीताजी का मर्म समझने के लिये मैं व्याकरण पढ़ रहा हूँ। महाराज ने कहा –यदि ऐसा है तो सभी व्याकरण ज्ञाताओं को गीताजी के मर्म का पता हो जाना चाहिये? किन्तु ऐसा होता नहीं है। भगवान को जानने के लिये किसी विद्या अथवा कला की आवश्यकता नहीं है। तो फिर क्या जानने की आवश्यकता है? किस पुरुष के जान लेने से अथवा किसके संसर्ग से ब्रह्म जाना जाता है? इस विषय में भगवान कह रहे हैं–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं– एक वे जिनका नाश नहीं होता और दूसरे वे जिनका

नाश होता ही है। 'यह आपने क्या कह दिया? नाश तो सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों का होता है?' नहीं, नहीं! इस मंत्र में तो 'पुरुषौ लोके' कहा गया है, मृत्यु लोके नहीं, देव लोके, गन्धर्व लोके, पशु लोके, पक्षी लोके, कीट–पतिंगे लोके आदि नहीं। इसलिये ऐसा नहीं मानना चाहिये कि सारे प्राणियों में से दो ही प्राणी हैं। इस मृत्युलोक में चौरासी लाख प्राणी तो विख्यात हैं ही। अरे! जितनी योनियाँ हैं उतने ही लोक हैं। तो फिर उन सम्पूर्ण लोकों में से वे दो लोक कौन हैं? दो लोक नहीं है; पुरुषौ लोके का तात्पर्य है– पुरुषलोक में अर्थात् मनुष्यवर्ग में ऐसे दो पुरुष हैं, जिनमें से एक का नाश होता है और एक का नाश हो ही नहीं सकता। उनमें से प्रथम पुरुष को क्षर अर्थात् सकामी कहा गया है और दूसरे को अक्षर अर्थात् निष्कामी कहा गया है। सकामी ही मरता–जीता है एवं निष्कामी जीता ही रह जाता है। वह क्षरता ही नहीं, इसी से तो अक्षर कहलाता है। ब्रह्म को चाहनेवाले को कोई मार नहीं सकता, भले ही उसने ब्रह्म को प्राप्त कर लिया हो चाहे न किया हो। यदि उसने तन, मन, वचन एवं प्राण आदि को सम्पूर्णता से ब्रह्म के लिये अर्पित कर दिया हो तो वह इस मनुष्यलोक में अवध्य हो जाता है। यहाँ तक कि उसका शरीर भी उसकी इच्छानुसार ही अपने कारण में विलीन होता है। निष्कामी का तात्पर्य है– भगवान ही जिसकी कामना है, वही अक्षर है, वही अविनाशी है। ये सारी की सारी उपाधियाँ उसके लिए ही हैं।

(उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः.....) इन दो पुरुषों के लोक में तीसरा ब्रह्मलोक है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्मलोक है; उसी को इस मनुष्यलोक में उत्तम पुरुष, परम पुरुष कहा जाता है। वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों लोकों पर विजय प्राप्त किये हुए रहता है अर्थात् इन तीनों ही लोकों से अनासक्त रहता है। इतना ही नहीं, अज्ञानी, सकामी और निष्कामी–इन तीनों ही पुरुषों की वही आत्मा होता है। ये तीनों उसी आत्मज्ञानी की ही शरण को स्वीकार करते हैं। इसलिये वह आत्मज्ञानी ही इस मनुष्य लोक में अव्यय एवं ईश्वर कहा जाता है। (महाराज ने यहाँ जो अज्ञानी, सकामी एवं निष्कामी इन तीन पुरुषों को लाकर खड़ा किया है जबकि प्रभु ने दो पुरुषोंकी बात की है अतः किसी को शंका न हो जाय इसलिए वे जान लें कि अज्ञानी और सकामी ये दोनों मिलकर एक ही पुरुष होते हैं। अज्ञानी वे हैं जो देवी–देवताओं को भी नहीं मानते, एकमात्र पशुवत् जीवन जीते हैं। भगवान ने उन्हें मनुष्य नहीं माना है लेकिन सकामी भी अज्ञानी ही है क्योंकि वह प्रभु से या देवी–देवताओं से अति तुच्छ विषय–वस्तुओं को चाहता है अतः वह भी नाशवान ही है। इसलिए समझाने मात्र के लिए अज्ञानी एवं सकामी दो पुरुषों की बात की जा रही है जबकि सकामी एवं निष्कामी ही दो पुरुष हैं।)

साधकों से एक दिन महाराज ने प्रश्न किया कि दो पुरुष हैं, वे नानाप्रकार की नृत्य–कलाओं से बारी–बारी से नाच रहे हैं। एक पुरुष जब थक जाता है तो उसके सो जाने पर दूसरा नाचने लगता है और जब दूसरा थककर सो जाता है तो पहला नाचने लगता है तथा एक तीसरा पुरुष ऐसा है, जो इन दोनों की नृत्यकला को अहर्निश देखता ही रहता है। तो बताओ कि वे दो नृत्य करनेवाले पुरुष कौन हैं? और वह तीसरा कौन है जो देखता रह जाता है? आत्मानन्द और अभयानन्द ने बताया कि स्थूलशरीर (जाग्रत्पुरुष) एवं सूक्ष्मशरीर (स्वप्नपुरुष)

ही वे दो नृत्य करनेवाले पुरुष हैं जो बारी–बारी से नृत्य करते हैं। नृत्य करने का तात्पर्य है कर्म करना। जब स्थूलशरीर कर्म करते–करते थककर सो जाता है तो सूक्ष्मशरीर (स्वप्नपुरुष) स्वप्न में कर्म करने लगता है और जब वह कर्म करते–करते थककर सो जाता है तो स्थूलशरीर पुनः कर्म करने लगता है (मानो खाते, पीते, सोते, जागते हुए, गप–शप करते हुए, कामराग गाते हुए, क्रोधराग, लोभराग, राग–द्वेषराग गाते हुए बस वे नाच रहे हैं– इसप्रकार का कर्म करने का भाव रखना ही दिव्य नृत्य करना है), लेकिन एक अद्‌भुत पहेली है कि इन दोनों सकामी पुरुषों के नृत्य को देखनेवाला एक तीसरा पुरुष है, जो निष्कामी है, जो द्रष्टा कहलाता है, वह कभी सोता ही नहीं है। वही सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है, वही कहता है कि मैंने तो केवल देखा, कुछ किया ही नहीं; इसीलिये वह अक्षर अविनाशी कहा जाता है। वही तीसरा पुरुष इन दोनों सकामी पुरुषों के नृत्य को देखता रहता है। जाग्रत्पुरुष स्वप्नपुरुष में प्रवेश करता है तथा स्वप्नपुरुष सुषुप्ति में प्रवेश कर जाता है। मानो यह संकेत है कि स्वप्नपुरुष निष्कामी होने के लिये ही सुषुप्ति में प्रवेश करता है, तभी जगने पर वह कहता है कि आज मैंने कोई सपना नहीं देखा। कदाचित् किसी काल में वह ऐसा ही कहता रह जाये कि मैंने स्वप्न कभी देखा ही नहीं, मैंने कभी जाग्रत् देखा ही नहीं तथा मैंने कभी सुषुप्ति देखी ही नहीं बल्कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मेरी ओर ही देखते रह जाते हैं, फिर तो उसे उत्तम पुरुष के पद पर बैठते देर नहीं लगेगी। तो फिर ऐसे पद की प्राप्ति के लिये वह निष्काम साधक द्रष्टा कैसे बने? इसप्रकार चिन्तन करके बने कि मैं देख रहा हूँ कि पुष्कर शिवम् नामक पुरुष अज्ञानमय जीवन जीता हुआ अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। लगभग सोलह वर्ष की अवस्था में उसके हृदय के भीतर से 'ब्रह्म क्या है' जानने की जिज्ञासा हुई और दो वर्ष तक उत्तर न मिलने पर वह हिमालय के लिये चल पड़ा। यहाँ हिमालय में महाराज नामक संत को अपना सद्‌गुरु बनाया। कुछ प्रबुद्धता होने के कारण से इसका नाम अब पुष्करानन्द रख दिया गया है। अब मैं देख रहा हूँ कि उसके हजारों संशय दूर हो गये हैं और नित्य नयी दिव्य अनुभूतियाँ प्रकट हो रही हैं। अब यह बात उसकी समझ में आ गयी है कि मैं द्रष्टा हूँ। हाँ, किन्तु व्यवहारकाल में द्रष्टापना वैसे ही स्थिर नहीं हो पा रहा है, जैसे चंचल सरोवर की लहरों में चन्द्रमा हिलता–डुलता दिखायी पड़ता है। मैं देख रहा हूँ कि स्थूलशरीर की छाया ही स्वप्नशरीर बन जाती है इत्यादि इत्यादि। इसप्रकार चिन्तन के माध्यम से ही अपने स्वरूप की कल्पना करनेवाला पुरुष ही अक्षर, अविनाशी पुरुष कहा जाता है।

इसप्रकार जो तीसरा पुरुष आत्मज्ञानी है जो वेदों, पुराणों में उत्तम पुरुष कहा जाता है उसी का स्तवन भगवान अब कर रहे हैं–

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

ब्रह्मज्ञानी ही सकामी एवं निष्कामी दोनों पुरुषों से उत्तम होने के कारण से पुरुषोत्तम भी कहा जाता है। यही तीसरा उत्तम पुरुष है। इसप्रकार जो पुरुष अपने आत्मज्ञानी गुरु को ही सगुण ब्रह्म के रूप में देखता है, जानता–मानता है; तो वह तन, मन, वचन एवं प्राण द्वारा

एकमात्र ब्रह्म में ही निवास करता है। उसका देखना, सुनना, सोना, जागना, व्यवहार करना सब भजन ही माना जाता है। इसप्रकार पुर, पुरुष एवं पुरुषोत्तम को समझने के लिये 'पुरुषोपाख्यान्' प्रारम्भ किया जाता है जो ध्यान से कई बार स्वाध्याय करने पर हृदयंगम हो जायेगा–

विचार द्वारा देखें तो सारी की सारी आकृतियाँ एक समय में पुर (महल) हैं तो दूसरे समय में पुरुष हैं तथा तीसरे समय में आत्मा हैं। निर्गुण–निराकार ब्रह्म तो पुर (महल) हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसमें तो वही है दूसरा है ही नहीं; किन्तु जब वह संकल्प से सृष्टिरूप होता है तो मानो वह भी एक समय 'पुर' संज्ञावाला होता जाता है। जैसे जब ब्रह्म में स्वतः स्फुरणा हुई कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' (एक से बहुत हो जाऊँ), तब स्वयं से ही वह पंचभूत, उनका विषय तथा विकार और अनेकानेक लोक तथा लोकों में रहनेवाला प्राणी भी बन गया। अतः मानो वह भी एक महापुर (दिव्य महल) है; जिसमें सर्वत्र सब ओर से प्रवेश द्वार हैं, उनमें 'ॐ' ही मानो पुरुष है। इसीप्रकार 'ॐ' एक पुर है तो शब्द उसमें पुरुष है और आकाश उसकी आत्मा है। शब्द एक पुर है तो आकाश उसमें पुरुष है और वायु उसकी आत्मा है तथा आकाश एक पुर है तो वायु उसमें पुरुष है और स्पर्श उसकी आत्मा है। वायु एक पुर है तो स्पर्श उसमें पुरुष है और अग्नि उसकी आत्मा है। स्पर्श एक पुर है तो अग्नि उसमें पुरुष है और तेज उसकी आत्मा है। अग्नि एक पुर है तो तेज उसमें पुरुष है और जल उसकी आत्मा है। तेज एक पुर है तो जल उसमें पुरुष है और रस उसकी आत्मा है। जल एक पुर है तो रस उसमें पुरुष है और जल–जन्तु उसकी आत्मा हैं। रस एक पुर है तो जल–जन्तु उसमें पुरुष हैं और पृथ्वी उसकी आत्मा है। जल–जन्तु एक पुर हैं तो पृथ्वी उसमें पुरुष है और गन्ध उसकी आत्मा है। पृथ्वी एक पुर है तो गन्ध उसमें पुरुष है और कीट–पतिंगे उसकी आत्मा हैं। गन्ध एक पुर है तो गन्ध से ही जीनेवाले प्राणी उसमें पुरुष हैं और वनप्रदेश उसकी आत्मा है। गन्धीय प्राणी एक पुर हैं तो वन (जंगल) उसमें पुरुष है और वनप्राणी उसकी आत्मा हैं। वन एक पुर है तो वनप्राणी उसमें पुरुष हैं तथा औषधियाँ उसकी आत्मा हैं। वनप्राणी एक पुर हैं तो वनौषधियाँ उसमें पुरुष हैं और पशु–पक्षी उसकी आत्मा हैं। वनौषधियाँ एक पुर हैं तो पशु–पक्षी उसमें पुरुष हैं और मनुष्य उसकी आत्मा हैं। पशु–पक्षी एक पुर हैं तो मनुष्य उसमें पुरुष हैं और राजा उनकी आत्मा है। मनुष्य एक पुर है तो राजा उसमें पुरुष है और प्रजा उसकी आत्मा है। राजा एक पुर है तो प्रजा उसमें पुरुष है और वैदिक ब्राह्मण उसकी आत्मा हैं। ब्राह्मण एक पुर हैं तो ब्रह्मचारी उसमें पुरुष हैं और ब्रह्मविद्या उसकी आत्मा है। ब्रह्मचारी एक पुर है तो संन्यासी उसमें पुरुष है और त्याग उसकी आत्मा है। संन्यासी एक पुर है तो त्याग उसमें पुरूष है और द्रष्टापना उसकी आत्मा है। त्याग एक पुर है तो द्रष्टापना उसमें पुरुष है और आत्मशक्ति उसकी आत्मा है। द्रष्टा एक पुर है तो शक्ति उसमें पुरुष है और आत्मज्ञान उसकी आत्मा है। शक्ति एक पुर है तो आत्मज्ञान उसमें पुरुष है और कैवल्यपद उसकी आत्मा है। आत्मज्ञानी एक पुर है तो कैवल्यपद उसमें पुरुष है और निष्कामी भक्त ही उसकी आत्मा हैं। इसप्रकार पुरुषोपाख्यान पूरा हुआ। उपरोक्त विषय को ही हिन्दी पद में याद करने तथा प्रयोग करने के लिए दिया जा रहा है–

ब्रह्म में नहीं ज्ञान और विज्ञान की है कल्पना।
नानात्व यदि दीखता तो झुँठी है यह जल्पना।।

संकल्प से वह बन गया बहु रूप नाम ज्ञान में।
पर वही का है वही देख ले तु ध्यान में।।

ब्रह्म में नहिं पुर पुरुष और ही है आत्मा।
पुर पुरुष भी बन गया और वह परमात्मा।।

वह विभाग कर रहा तू प्रिय है तेरे लिये।
यह जानकर संसार में सम शान्त होकर तू जिये।।

ब्रह्म महापुर है तो संकल्प उसमें पुरुष है।
नाद यदि पुरुष है तो ॐ उसकी आत्मा।।

नाद महापुर है तो ॐ उसमें पुरुष है।
ॐ उसमें पुरुष है तो आकाश उसकी आत्मा।।

ॐ महापुर है तो आकाश उसमें पुरुष है।
आकाश उसमें पुरुष है तो शब्द उसकी आत्मा।।

आकाश महापुर है तो शब्द उसमें पुरुष है।
शब्द उसमें पुरुष है तो वायु उसकी आत्मा।।

शब्द महापुर है तो वायु वहाँ पुरुष है।
वायु वहाँ पुरुष है तो स्पर्श उसकी आत्मा।।

वायु महापुर है तो स्पर्श वहाँ पुरुष है।
स्पर्श वहाँ पुरुष है तो अग्नि उसकी आत्मा।।

स्पर्श महापुर है तो अग्नि वहाँ पुरुष है।
अग्नि वहाँ पुरुष है तो तेज उसकी आत्मा।।

अग्नि महापुर है तो तेज वहाँ पुरुष है।
तेज वहाँ पुरुष है तो जल उसकी आत्मा।।

तेज महापुर है तो जल वहाँ पुरुष है।
जल वहाँ पुरुष है तो रस उसकी आत्मा।।

जल महापुर है तो रस वहाँ पुरुष है।
रस वहाँ पुरुष है तो पृथ्वी उसकी आत्मा।।

रस महापुर है तो पृथ्वी उसमें पुरुष है।

पृथ्वी वहाँ पुरुष है तो गन्ध उसकी आत्मा।।

पृथ्वी महापुर है तो गन्ध उसमें पुरुष है।
गन्ध वहाँ पुरुष है तो वन है उसकी आत्मा।।

गन्ध महापुर है तो वन वहाँ पुरुष है।
वन वहाँ पुरुष है तो पशु है उसकी आत्मा।।

वन महापुर है तो पशु वहाँ पुरुष है।
पशु वहाँ पुरुष है तो औषधि उसकी आत्मा।।

पशु महापुर है तो औषधि वहाँ पुरुष है।
औषधि वहाँ पुरुष है तो सूर्यादि उसकी आत्मा।।

औषधि महापुर है तो सूर्यादि वहाँ पुरुष हैं।
सूर्यादि वहाँ पुरुष हैं तो मनुष्य उसकी आत्मा।।

सूर्यादि महापुर हैं तो मनुष्य वहाँ पुरुष है।
मनुष्य वहाँ पुरुष है तो राजा उसकी आत्मा।।

मनुष्य महापुर है तो राजा वहाँ पुरुष है।
राजा वहाँ पुरुष है तो प्रजा उसकी आत्मा।।

राजा महापुर है तो प्रजा वहाँ पुरुष है।
प्रजा वहाँ पुरुष है तो ब्राह्मण उसकी आत्मा।।

प्रजा महापुर है तो ब्राह्मण वहाँ पुरुष है।
ब्राह्मण वहाँ पुरुष है तो वेद उसकी आत्मा।।

ब्राह्मण महापुर है तो वेद वहाँ पुरुष है।
वेद वहाँ पुरुष है तो ब्रह्मचारी उसकी आत्मा।।

वेद महापुर है तो ब्रह्मचारी वहाँ पुरुष है।
ब्रह्मचारी वहाँ पुरुष है तो ॐ उसकी आत्मा।।

ब्रह्मचारी महापुर है तो ॐ वहाँ पुरुष है।
ॐ वहाँ पुरुष है तो सन्न्यासी उसकी आत्मा।।

ॐ महापुर है तो सन्न्यासी वहाँ पुरुष है।
सन्न्यासी वहाँ पुरुष है तो त्याग उसकी आत्मा।।

सन्न्यासी महापुर है तो त्याग वहाँ पुरुष है।
त्याग वहाँ पुरुष है तो द्रष्टा उसकी आत्मा।।

त्याग महापुर है तो द्रष्टा वहाँ पुरुष है।
द्रष्टा वहाँ पुरुष है तो शक्ति उसकी आत्मा।।

द्रष्टा महापुर है तो शक्ति वहाँ पुरुष है।
शक्ति वहाँ पुरुष है तो तुर्या उसकी आत्मा।।

शक्ति महापुर है तो तुर्या वहाँ पुरुष है।
तुर्या वहाँ पुरुष है तो स्वज्ञान उसकी आत्मा।।

तुर्या महापुर है तो स्वज्ञान वहाँ पुरुष है।
स्वज्ञान वहाँ पुरुष है तो मुक्ति उसकी आत्मा।।

स्वज्ञान महापुर है तो मुक्ति वहाँ पुरुष है।
मुक्ति वहाँ पुरुष है तो जिज्ञासु उसकी आत्मा।।

महाराज महापुर है तो भक्त वहाँ पुरुष हैं।
भक्त वहाँ पुरुष हैं तो यह भाष्य उनकी आत्मा।।

'इसप्रकार पुरुषोपाख्यान पूरा हुआ।'

(यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्.....) इस मंत्र द्वारा अब युद्ध के मैदान में चलते हैं जहाँ भगवान अर्जुन को ललकारते हुए क्या कह रहे हैं उसे भी देखते चलें– हे भारत! जो महात्माजन मुझ वासुदेव को ही पुरुषोत्तम जानते हैं, वे सम्पूर्ण भावों से एकमात्र मेरे लिये ही जीते हैं। वे जो कुछ भी करते हैं, मेरी आज्ञानुसार ही करते हैं; इसलिये उनका किया हुआ सबकुछ भजन ही माना जाता है। तुमने स्पष्ट देखा ही है कि महात्मा विदुर एवं भक्त अक्रूर, ये दो मेरी ऐसी प्रिय आत्मा हैं, जो शरीर से असुरों के साथ रहते हैं, किन्तु कार्य मेरा करते हैं। वे झूठ, छल, कपट के साथ उन लोगों के मध्य रहते हैं किन्तु फिर भी वे निर्दोष कहे जाते हैं। लाक्षागृह में तुमलोगों को दुर्योधन द्वारा जला डालने की योजना को महात्मा विदुर ने सफल नहीं होने दिया, छल से तुमलोगों को बचा ले गये किन्तु छल करने का पाप उन्हें नहीं लगा। भक्त अक्रूर कंस की प्रत्येक गुप्त मंत्रणा को नन्दबाबा के पास भेज देते थे। इतना ही नहीं, उस दुरात्मा के जरासंध की सेना के साथ अपने पिता उग्रसेन की सेना पर आक्रमण करने की योजना तथा उन्हें सिंहासन से उतारकर कारागार में डालने की योजना को भी पहले ही अवगत करा दिया था; फिर भी उन्हें पाप न लगा। विदुर रहते हैं अन्धे धृतराष्ट्र के साथ लेकिन गान्धारी जैसा नहीं रहते, वे वहाँ आँख खोलकर रहते हैं। इसप्रकार वे मेरा भजन ही करते हैं। यदि तुमने भी मुझे पुरुषोत्तम के रूप में देखा है तो मेरी आज्ञानुसार किया हुआ युद्ध ही तुम्हें सम्पूर्ण जप, तप, योग एवं ज्ञान का फल देगा।

(यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्.....) स्पष्ट संकेत है कि जो अपने सद्गुरु को सगुण–साकार एवं निर्गुण–निराकार ब्रह्म के रूप में देख लेगा, वह उसी दिन से उसी का होकर रह जायेगा। ब्रह्मरूप में दिखाई पड़ना ही अंतिम सिद्धि है; क्योंकि उसके उपरान्त तो उसी का

होकर उसी के रूप में देखते ही तन, मन, वचन, हृदय, ब्रह्ममय हो ही जाता है, उसके लिए कोई क्रिया करनी नहीं पड़ती। जैसे किसी बच्ची को धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार करते ही कामरूपता हो ही जाती है, उसके लिए किसी यत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस ब्रह्मविद्यामय शास्त्र से प्रभु ने एकमात्र सम्पूर्णता से अपनी जगह सद्गुरु की ही स्थापना की है। जैसे पिता अपने प्रिय पुत्र को अपनी विरासत देने के लिए उसके द्वारा कुछ यत्न नहीं कराता। हाँ, जो उसे देना है उसको धारण करने की शक्ति–सामर्थ्य उसको दे देता है अथवा पिता की तन, मन, हृदय से सेवा–शुश्रूषा करते हुए ही, उसकी आज्ञानुसार कर्म करते रहने से ही उसमें उसकी सम्पत्तिरूप विरासत को धारण करने की क्षमता आ ही जाती है। ठीक यही बात गुरु एवं शिष्य के विषय में समझनी चाहिए। सद्गुरु अपने निकटतम शिष्य से घोर जप, तप, योग नहीं कराता बल्कि ब्रह्मविद्या सुनाता है। इसी से तो इस ब्रह्मविद्या को श्रुति कहा जाता है जो गुरु मुख से सुनने मात्र से ही प्राप्त हो जाती है और हृदय में प्रतिष्ठित भी हो जाती है।

इसप्रकार भगवान का यहाँ संकेत है कि साधकों एवं भक्तों ने अपने आत्मज्ञानी गुरु को पहचान लिया है तो उस सद्गुरु की आज्ञानुसार व्यवहार में बरतने से ही उन्हें अपने परम स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न है कि अपने सद्गुरु को भी सगुण ब्रह्म के रूप में देखने नहीं देने में वे कौन से आवरण बाधक हैं? तो आयें संक्षिप्त में इन आवरणों को निम्न पद से देखें–

"अथ ब्रह्म आवरणोपाख्यान प्रारम्भ"

आश्चर्य है आश्चर्य है आश्चर्य ही सब हो गया।
पलभर के पूर्व था जगत कहाँ गया वह खो गया।।

पलभर के पूर्व राज था महाराज ही था आवरण।
सर्वत्र सर्वरूप है वह अब हुआ अनावरण।।

पलभर के पूर्व सिद्ध हूँ यह भाव ही था आवरण।
अब महाचैतन्य ही चैतन्य है अनावरण।।

पल भर के पूर्व ब्रह्म की थी खोज का ही आवरण।
पर ब्रह्म ही सब ब्रह्म है सब दीखता अनावरण।।

पलभर के पूर्व जीव की थी खोज का ही आवरण।
पर जीव ही है शिव अब है दीखता अनावरण।।

पलभर के पूर्व मन की खोज, खोज ही था आवरण।
पर मन ही महादेव है, है दीखता अनावरण।।

चंचल सा दिखता सदा, यह दोष ही था आवरण।

पर शान्त और सम हुआ, यह मन हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व बुद्धि की मलीनता थी आवरण ।
पर बुद्धि ही है ब्रह्म, अतः अब हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व राजसी अहंकार ही था आवरण ।
पर कहाँ चला गया, अब मैं हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व तामसी अहंकार ही था आवरण ।
पर कहाँ चला गया, अब मैं हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व सात्त्विक अहंकार ही था आवरण ।
पर कहाँ चला गया, अब मैं हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व राजस यह भाव ही था आवरण ।
तामस भाव है कुंभकरण मैं सदा अनावरण ।।

सतभाव है विभीषण, यह भाव ही था आवरण ।
त्रिभाव का जब लय हुआ, तो चैतन्य है अनावरण ।।

कौन कहाँ कैसे, यह प्रश्न ही था आवरण ।
प्रश्न सब कहाँ गये, अब बचा अनावरण ।।

भय मृत्यु का संताप शोक, त्रिताप ही था आवरण ।
ये कहीं न दीखते, तो मैं हुआ अनावरण ।।

ज्योतिष का योग लग्न वार तिथि ही था आवरण ।
सब ब्रह्ममय ये हो गये, तो मैं हुआ अनावरण ।।

मास वर्ष युग वह मन्वन्तर ही था आवरण ।
सब ब्रह्ममय ही हो गये तो अब हुआ अनावरण ।।

दुर्धर्ष काम कहाँ गया, जो था महा आवरण ।
क्रोध लोभ लुप्त हुआ अब बचा अनावरण ।।

पल भर के पूर्व पंच विषय, पंच क्लेश ही थे आवरण ।
अब पाँच न पच्चीस रहे, मैं हुआ अनावरण ।।

पलभर के पूर्व श्रोता और श्रोतव्य ही था आवरण ।
पर कहाँ चले गये, और मैं हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व वक्ता और वक्तव्य ही था आवरण ।
पर कहाँ चले गये, अब मैं हुआ अनावरण ।।

पल भर के पूर्व द्रष्टा और दृश्य ही था आवरण।
पर कहाँ चले गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व गन्ध और गन्धक ही था आवरण।
पर कहाँ चले गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व स्पर्शी और स्पर्श ही था आवरण।
पर कहाँ चले गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व रस और रस ग्राहक था आवरण।
पर कहाँ चले गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व द्वैत व अद्वैत ही था आवरण।
निर्गुण सगुण भी सब गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व शुभ–अशुभ धर्मादि ही थे आवरण।
कर्मादि भी चले गये, अब मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व ज्ञान और ध्यान ही था आवरण।
विज्ञान भी तो लुप्त हुआ, मैं हुआ अनावरण।।

पलभर के पूर्व संकल्प और विकल्प ही था आवरण।
निश्चय हुआ सब ब्रह्म है तो मैं हुआ अनावरण।।

पल भर के पूर्व ज्ञान और अज्ञान ही था आवरण।
माया की परत हट गयी, अब मैं हुआ अनावरण।।

हूँ एक ही अनेक पर मैं कह नहीं हूँ पा रहा।
वाणी की पहुँच है नहीं, नहीं इसलिये समझा रहा।।

पर कर रहा संकेत सावधान देखो आवरण।
देखते ही देखते हो जाओगे अनावरण।।

मैं ब्रह्म हूँ के पूर्व सिद्ध भाव ही था आवरण।
मैं सिद्ध हूँ के पूर्व साधक भाव ही था आवरण।।

मैं साधक हूँ के पूर्व मुमुक्षु भाव ही था आवरण।
मुमुक्षु भाव पूर्व था, निष्काम भाव आवरण।।

मैं हूँ अकाम पूर्व था, सकाम भाव आवरण।
मैं हूँ सकामी पूर्व था, इन्द्र भाव आवरण।।

मैं इन्द्र हूँ के पूर्व था, एक स्वर्गदेव आवरण।

मैं स्वर्गदेव पूर्व था, ब्राह्मण भाव आवरण।।

मैं ब्राह्मण हूँ के पूर्व था, मैं क्षत्रिय हूँ यह आवरण।
मैं क्षत्रिय हूँ के पूर्व था, वैश्य भाव आवरण।।

मैं वैश्य हूँ के पूर्व था, शूद्र भाव आवरण।
मैं शूद्र हूँ के पूर्व था, आभीर भाव आवरण।।

मैं आभीर हूँ के पूर्व था, यवन भाव आवरण।
मैं यवन हूँ के पूर्व था, किरात भाव आवरण।।

मैं किरात हूँ के पूर्व था, खस भाव आवरण।
मैं खस हूँ के पूर्व था, चाण्डाल भाव आवरण।।

मैं चाण्डाल हूँ के पूर्व था, वनमानुष भाव आवरण।
मैं वनमानुष हूँ के पूर्व था, वानर भाव आवरण।।

मैं वानर हूँ के पूर्व में था, वनपशु भाव आवरण।
मैं वनपशु के पूर्व में था, शेरादि भाव आवरण।।

मैं शेरादि हूँ के पूर्व में था, हिरण भाव आवरण।
मैं हिरण हूँ के पूर्व में था, गौ भाव आवरण।।

मैं गौ हूँ के पूर्व में था, हाथी भाव आवरण।
मैं हाथी हूँ के पूर्व में था, अश्व भाव आवरण।।

मैं अश्व हूँ के पूर्व में था, ऊँट भाव आवरण।
मैं ऊँट हूँ के पूर्व में था, सर्प भाव आवरण।।

मैं सर्प हूँ के पूर्व में था, पक्षी भाव आवरण।
मैं पक्षी हूँ के पूर्व में था, गरुड़ भाव आवरण।।

मैं गरुड़ हूँ के पूर्व में था, हंसादि भाव आवरण।
मैं हंसादि के पूर्व में था, कीट भाव आवरण।।

मैं कीटादि हूँ के पूर्व में था, पतिंगे भाव आवरण।
मैं पतिंगे हूँ के पूर्व में था, वृक्ष भाव आवरण।।

मैं वृक्षादि हूँ के पूर्व में था, फलभाव आवरण।
मैं फलादि हूँ के पूर्व था, अन्नभाव आवरण।।

मैं अन्नादि हूँ के पूर्व में था, औषधि भाव आवरण।
मैं औषध्यादि हूँ के पूर्व में था, नदी भाव आवरण।।

मैं नद्यादि हूँ के पूर्व में था, सरोवर भाव आवरण।
मैं सरोवरादि हूँ के पूर्व में था, पर्वत भाव आवरण।।

मैं पर्वतादि हूँ के पूर्व में था, पृथ्वी भाव आवरण।
मैं पृथ्वी हूँ के पूर्व में था, जल भाव आवरण।।

मैं जल हूँ के पूर्व में था, अग्नि भाव आवरण।
मैं अग्नि हूँ के पूर्व में था, वायु भाव आवरण।।

मैं वायु हूँ के पूर्व में था, आकाश भाव आवरण।
मैं आकाश हूँ के पूर्व में था, ॐ भाव आवरण।।

मैं ॐ हूँ के पूर्व में चैतन्य हूँ अनावरण।
मैं चैतन्य हूँ अनावरण चैतन्य हूँ अनावरण चैतन्य हूँ अनावरण।।

मैं महाराज हूँ के पूर्व था अज्ञान ही का आवरण।
मैं तू के गर्भ में हुआ न आवरण अनावरण।।

'इसप्रकार ब्रह्म आवरणोपाख्यान पूर्ण हुआ।'

अब भगवान के श्रीमुख से ही इस दिव्य अध्याय का माहात्म्य सुनें–

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

हे पार्थ! जो निष्पाप पुरुष मेरे इस दिव्य शास्त्र का श्रवण, पठन, पाठन, मनन, चिन्तन कर– मेरे परम अव्यय, अविनाशी स्वरूप को जान लेता है, वह अपने स्वरूप को भी जानकर कृतकृत्य हो जाता है।

इस अध्याय को भगवान ने गुह्यतम शास्त्र कहा है– इसलिये कि इसमें जीवलोकों की, आत्मलोकों की तथा ब्रह्मलोकों की कहानी स्पष्ट की गयी है। जो आत्मजिज्ञासु हैं, वे सजगता से इसका पठन, पाठन करने मात्र से ही अपने स्वरूप में स्थित हो सकते हैं तथा उनके लिये विशेष कुछ करना शेष नहीं रह जायेगा। अपने मन से करने को करना कहते हैं, अपनी आँखों से देखने को देखना कहते हैं, उसीप्रकार अपने कानों से सुनने को सुनना कहते हैं; किन्तु 'सद्गुरु की आँख से देखना, देखना नहीं कहलाता; उसके कान से सुनना, सुनना नहीं कहलाता; उसकी वाणी से बोलना, बोलना नहीं कहलाता; उसके मन–बुद्धि से मनन–चिन्तन करना, मनन–चिन्तन करना नहीं कहलाता।' फिर उसे जब कुछ करना शेष नहीं रह जाता तो क्या वह पाषाणवत् हो जाता है? नहीं नहीं! उसका तन, मन, वचन, हृदय सद्गुरुरूप परमात्मा का निमित्त बन जाता है। तब वे लोक–हितार्थ उसके द्वारा जो कुछ भी करवाना चाहते हैं, करवाते रहते हैं।

संजय की स्थिति भी धीरे–धीरे विलक्षण होती जा रही है, उनकी भी मौनावस्था उतरती जा रही है। इसलिये धृतराष्ट्र ने उनकी चुप्पी को तोड़ते हुए पूछा कि अभी कुछ समय पूर्व तो तुम अपने आप ही भगवान मधुसूदन के दिव्य संदेश सुना रहे थे; किन्तु अब तुम विशेष मौन ही रह रहे हो, क्या बात है?

संजय ने कहा– हे राजन्! मेरी भी स्थिति इस समय महात्मा अर्जुन की सी हो गयी है। वे इतने कृतकृत्य हो गये हैं कि उनकी इस दिव्य स्थिति को देखकर तथा भगवान के दिव्य संदेश को सुनकर मैं भी कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ और न ही इस जीवजगत में सुनने–सुनाने की जिज्ञासा ही रह गयी है लेकिन चूँकि भगवान व्यास ने महति कृपा करके मुझे दिव्य दृष्टि दी है और आपको युद्ध की हर स्थिति से अवगत कराने को कहा है तो मैं देखकर बताऊँगा ही बताऊँगा। उन्होंने एक बार पुनः महात्मा अर्जुन से कह दिया है कि देवी–देवता मात्र निमित्त हैं, कारण तो मैं ही हूँ। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि जो निष्कामी भक्त एवं सन्त हैं, वे ही अक्षर, अविनाशी लोक हैं तथा ब्रह्मज्ञानी गुरु ही सगुण ब्रह्म है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। यही नहीं, मुझे तो स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है कि ये भगवान मधुसूदन ही निर्गुण निराकार शुद्ध अनामय ब्रह्म हैं। हे राजन्! अर्जुन मन ही मन सोच रहे हैं कि मैंने निर्गुण निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा को ही अपना सारथि समझ लिया था। प्रभु को मैंने तो नहीं पहचाना लेकिन इन्होंने मुझे पहचान लिया। अतः अपनी कृतकृत्यता को बारम्बार सराह रहे हैं। हे राजन्! लगता है कि अपने प्रिय के बिना कुछ पूछे ही भगवान मधुसूदन कुछ कहने की स्थिति में आ रहे हैं। तो आप प्रतीक्षा करें, तबतक मैं देखता हूँ कि वे अब कौन सा दिव्य संदेश देने जा रहे हैं।

(इति गुह्यतमं शास्त्रं.....) भगवान ने महात्मा अर्जुन को यहाँ पर भी अनघ कहकर संबोधित किया है। जो पापरहित होता है, जो तन, मन, वचन के सम्पूर्ण दोषों से रहित होता है, वही अनघ कहलाता है। प्रभु ऐसा कहें भी क्यों नहीं; क्योंकि महात्मा अर्जुन ने उन्हीं के मुख से इस गीता शास्त्र को सुना है, जबकि गीताजी का श्रद्धा एवं भाव के साथ जो मात्र पाठ करता है वह भी अनघ ही कहलाता है। पाठ ही क्या! जो गीताजी को धूप–दीप दिखाकर, पुष्प, पत्र, फल आदि चढ़ाकर अर्चना एवं वन्दना करता है, वह भी अनघ ही कहलाता है। सन् २००३ में विजयालक्ष्मी माई (दिल्ली) रुद्रप्रयाग से ऋषिकेश अपनी कार से आ रही थी। ब्यासी से पहले कोडियाला के पास एक दुकान के पास गाड़ी खड़ी करके उसके पति (महेश्वर दयालजी) चाय पीने लगे। ड्राइवर से उन्होंने कहा कि गाड़ी में गिलास है, ले आओ। ड्राइवर गेट खोलकर गिलास निकाल कर दुकान की तरफ बढ़ा और इधर गाड़ी अपने–आप पीछे की तरफ चल पड़ी। सभी लोग दौड़े लेकिन गाड़ी किसी के पकड़ में नहीं आयी। उसमें नित्य गीतापाठी माँ विजयालक्ष्मी बैठी हुई थी। उसका उस समय भी गीता पाठ चल रहा था। उसने गीता उठाकर दोनों हाथों को ऊपर किया और कहा– हे प्रभो! ले चलो जहाँ चाहो ले चलो! तब गाड़ी सड़क को छोड़कर गंगाजी की तरफ जा रही थी। उसी समय गाड़ी एक पेड़ से टकरायी एवं एक पत्थर की चट्टान के पास रुक गयी। गाड़ी को हल्की–फुल्की चोट आयी लेकिन कुछ क्षति

नहीं हुई। विजयालक्ष्मी माई ने गीताजी को बार–बार सिर से लगाया और प्रभु को धन्यवाद दिया।

भगवान मानो स्वयं कह रहे हैं कि "जिसके हाथ में गीता, वह सारे जग में जीता, भाई हो गया परम पुनीता। अभय हुआ सारे जग से वह, जो था सभय सभीता। वह सारे जग में जीता भाई, सारे जग में जीता।" भगवान के दृष्टिपथ में भक्त अर्जुन तो हैं हीं, लेकिन वे यह भी देख रहे हैं कि महर्षि व्यास इसे अध्याय का रूप दे रहे हैं। भगवान ने देखा कि मेरे इस दिव्य संवाद को उन्होंने चौदह अध्यायों में बाँट दिया है तथा अब पंद्रहवें अध्याय को पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोध्यायः लिखने ही वाले हैं, तबतक प्रभु ने इस अध्याय को गुह्यतम शास्त्र नाम देकर महत् स्थान दे दिया। शास्त्रों में भी जो विशेष दिव्यता लिए हुए हो उसे गुह्यतम शास्त्र कहा जाता है। अतः भगवान ने कहा– हे पार्थ! अबतक तुम्हारे को मैंने चौदह प्रकार के शास्त्रों में बहुत कुछ सुनाया है लेकिन अभी जो मैंने इस शास्त्र को दिया है, यह तो गोपनीय शास्त्रों में भी गोपनीय शास्त्र है। अतः मैं समझता हूँ कि अब इसे प्राप्तकर (जानकर) तुम कृतकृत्य हो गये हो। तुम्हीं क्यों! जो भी इस गुह्यतम शास्त्र पर चिंतन कर इस गूढ़ात्मक रहस्य को आत्मसात् कर जायेगा, वह भी कृतकृत्य हो ही जायेगा। महात्मा अर्जुन मन ही मन हँस रहे हैं कि यह कैसा नाटक है कि जब देखो तब ये कहते आ रहे हैं कि अब मैं जो तुमसे कहूँगा उसे जानकर तुम्हें कुछ जानना शेष नहीं रह जायेगा। (गीता अध्याय ६, १० तथा १४ में भी ऐसा ही कहा है और अब पुनः भगवान ने लगभग वैसी ही बात कह दी) इससे यह सिद्ध होता है कि आज मैं भी इनका पीछा नहीं छोड़ूँगा। गाण्डीव मैं तबतक नहीं उठाऊँगा, जबतक इनका गोपनीय रहस्य समाप्त नहीं हो जाता। उधर व्यासजी मन ही मन प्रसन्न हो रहे हैं तथा अर्जुन को साधुवाद दे रहे हैं कि हे महात्मा! तुम ऐसे ही इनके पीछे पड़े रहो, जिससे मेरा अठारह पुराण गीताजी के अठारह अध्यायों में परिवर्तित हो जाय। इधर भगवान ने भी महर्षि व्यास के मन की बात जान ली और मन ही मन विहँसते हुए चित्त से कहने लगे कि तो ठीक ही है! आप अपना अठारह अध्याय पूरा ही कर लें, क्योंकि कलियुगी मानव के पास अठारह पुराण पढ़ने का समय ही कहाँ है। लोग अठारह अध्यायों को एक–एक अध्याय पाठ करते हुए अठारह दिन में पूरा कर देंगे तो उन्हें अठारहों पुराण, चारों वेद तथा सम्पूर्ण शास्त्रों, स्मृतियों एवं उपनिषदों के पाठ का फल मिल जायेगा।

महाराज भी भगवान का अनुमोदन कर रहा है तथा साधकों एवं भक्तों से कह रहा है कि आप सब भगवान के सपने को साकार करें और इस गीता शास्त्र का पाठ करके कृतकृत्य हो जाएँ। इस गीता शास्त्र में इस अध्याय को विशेष चिन्तन का साधन बनाया जाए तो राजयोग को हृदयंगम होते देर नहीं लगेगी। जैसे श्रीरामचरितमानस में सुन्दरकाण्ड उसकी आत्मा है, विशेष अवसरों पर उसी का पाठकर सम्पूर्ण श्रीरामचरिमानस का पाठ हुआ लोग मान लेते हैं, उसीप्रकार इस अध्याय का पाठ हो गया तो लोग अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं। भारतवर्ष में सुन्दरकाण्ड असंख्य भक्तों को कण्ठाग्र है, उसीप्रकार साधकों एवं भक्तों में यह गीताजी का पन्द्रहवाँ अध्याय भी विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त है। सन्त एवं साधक तो जहाँ भी प्रसाद पाते हैं,

सर्वप्रथम इसका पाठ कर लेते हैं। तो आप सब भी प्रभु को निराश न करें और इस अध्याय में बार–बार गोते लगाकर कृतकृत्य हो जाएँ।

इस अध्याय को महाराज ने पदरूप में गाया है, आप भी इसे मारुविहाग राग में गाकर कृतकृत्य हो सकते हैं–

अविनाशी तरुवर कहत याको कोई, वेद पुराण जाको कहत कोई कोई ।
पर जाने ना रे कोई, कोई जाने कोई माने ना ।।
ज्ञान भयो जग मिलत नाहीं कबहुँ, भागत तम जिमि आवत रविहुँ ।
आवत जात भरम बस दीखत, जोगिया कहे पर कोई कोई माने ना ।।
पर जाने ना रे कोई.....

पुरुष दोउ दीखत सकामी अकामी, सकामी सड़े अरु निकामी तरे रे ।
ब्रह्मज्ञानी उत्तमपुरुष वेद गावत, ब्रह्म सरीखो मूढ़ सनमाने ना ।।
पर जाने ना रे कोई.....

आदि अन्त कोई मध्य न पावत, सोवत जागत विरह वेद गावत ।
निर्मोही बटोही जब होवे कोई मन से, फिर महाराज गावे कोई भरमावे ना ।।
पर जाने ना रे कोई.....

आप लोगों ने इस दिव्य, अमृतमय संवाद को प्रभु और महात्मा अर्जुन की दिव्य झाँकी के साथ हृदय में धारण किया है। अतः यह भाष्य आप सबके इष्ट को ही समर्पित किया जाता है, क्योंकि इष्ट ही प्रधान होता है। उसी की कृपा से आप सब ने इस भाष्य को प्रेमपूर्वक धारण किया है।

ॐ मासपारायण, पचीसवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में
भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप पुरुषोत्तमयोग नामक
पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ षोडशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रभु ने प्रकृति पुरुष तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले तीनों गुणों की व्याख्या और क्षर–अक्षर एवं परम अक्षर (परमात्मा) का भेद महात्मा अर्जुन के पास भलीभाँति खोल दिया है तो भी उनके हाथों में गाण्डीव न आ सका। तब प्रभु ने उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा को दूर करने के दृष्टिकोण से और भी गहरे में उतरकर उनके संशय का निवारण करने का प्रयत्न इस अध्याय से प्रारम्भ किया है। चौदहवें अध्याय के अनुसार यह तो पता चल ही गया कि अपने शरीर में तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं– सात्त्विक, राजस तथा तामस। इनमें से जब दो शक्तियाँ राजस एवं तामस एक साथ मिलती हैं तो संशय, भ्रम आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं, उसके उपरान्त तन, मन, वचन एवं हृदय में उत्पात होना प्रारम्भ हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने जीवन में अपना मन ही अपना घातक हो जाता है, अपनी बुद्धि ही अपने को नरक के गड्ढे में ले जाती है; जिसे प्रभु ने तेरहवें, चौदहवें एवं पन्द्रहवें अध्याय में खूब स्पष्ट कर दिया है। अब इसका प्रयोग करने के लिए उन्होंने अर्जुन के बिना प्रश्न किये एक ऐसे पहलू को छुआ है जिसकी आवश्यकता महात्मा अर्जुन को प्रतीत नहीं हो रही थी लेकिन भगवान को इसकी आवश्यकता आवश्यक लग रही थी क्योंकि वे समझ रहे हैं कि अबतक के ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की बातें सुनने से इसे लग रहा है कि यह ज्ञानी हो गया है, अब इसे जानना कुछ शेष नहीं है। यह समझ रहा है कि अब यह स्वजनों से उपराम हो गया है, इसका मन त्रिगुणमयी माया से मुक्त हो चुका है और बुद्धि का मोक्ष हो गया है लेकिन शीलता एवं विनम्रता से यह अभी तक उबर नहीं पाया है। भगवान ने बड़ी पैनी दृष्टि से उनकी प्रकृति तथा स्वभाव को देखा है। इसलिए बड़े प्रेम में भरकर उन्होंने उनके बिना पूछे ही उस पहलू को लाकर खड़ा किया जिस पहलू को सर्वप्रथम कहना चाहिए था। भगवान ने जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान की बातें कर दीं हैं, धर्म–कर्म के सर्वांग पहलुओं को दे दिया है, जप, तप, योग के सूक्ष्म रहस्यों को भी दिया है, वहीं पर अब सामान्य पहलू को लाकर दे रहे हैं। इसलिए कि भक्त अर्जुन के मन के अन्दर एक विचार बार–बार शील, संकोच में डाल देता है कि पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य में तो कोई दोष दिखाई नहीं दे रहा है, जो दिखाई दे रहा है वह अंशमात्र है। पितामह ने तो प्रतिज्ञा भी कर ली है कि मैं पाँचों को मारूँगा ही नहीं। यह एक बहुत बड़ी बात है– जिन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं पाँचों को मारूँगा ही नहीं फिर मैं उनके साथ युद्ध कैसे और क्यों करुँगा? आचार्य (द्रोण) ने भी नहीं मारने की प्रतिज्ञा कर ली है। वे बंदी बना लेंगे लेकिन मारेंगे नहीं अतः उनके प्रति मेरे मन में युद्ध करने की बात कैसे आ

सकती है, इत्यादि– इत्यादि। यह सोच उनकी महत् शीलता की तरफ संकेत करता है। बार–बार महाराज कहता है कि साधक अति शीलता में मारा जाता है। अति शीलवान साधक साधन के अंगों से निर्धन हो जायेगा क्योंकि व्यावहारिक पक्ष में रचा–पचा रह जायेगा, वह व्यवहार का तिरस्कार नहीं कर पायेगा। अतः साधना की प्रथमावस्था में साधक को अति कठोर, अति कठोर, वज्र से भी कठोर होना होता है। भगवान का हृदय वज्र से भी कठोर है एवं फूल से भी कोमल है। वैसे ही साधक को कठोर हो जाना है तभी वह कालान्तर में फूल से भी कोमल हो सकता है। जबतक वह ऐसा नहीं करता तबतक तो कहानी कुछ की कुछ होती रहेगी और वह बार–बार धक्के खाता रहेगा।

प्रभु ने दो प्रकार की प्रकृति का निरूपण पहले भी कर दिया है किन्तु पितामहभीष्म एवं द्रोणाचार्य को देखते हुए उसकी आवश्यकता फिर समझ रहे हैं। इसी से दैवी प्रकृति के पुरुषों के लक्षणों को बताना प्रारम्भ कर दिया। वे इस आशय से दैवी गुणों को प्रकाशित कर रहे हैं कि किसी भी भक्त को जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें दुष्टों के साथ, असुरों के साथ, धर्म विरोधियों के साथ, मातृ–पितृ विरोधियों के साथ, गुरु विरोधियों के साथ नहीं रहना चाहिए; अन्यथा वही परिणाम होगा जो पितामहभीष्म के साथ हुआ, द्रोणाचार्य–कृपाचार्य के साथ हुआ। ये तीनों सचमुच में दुरात्मा नहीं थे लेकिन दुरात्माओं के संसर्ग में आकर इनमें क्षुद्र विचारों ने जो उत्पात मचाकर इनसे जो कुछ भी दुर्व्यवहार कराया उससे सभी भलीभाँति परिचित हैं। अपने तन, मन, वचन में मायामय विचार ही तो उत्पात मचाते हैं और उत्पात मचाता कौन है? आप प्रकृति को पहचान नहीं पाते, विचारों को पहचान नहीं पाते, अतः उन विचारों को अपना जानते ही कि ये हमारे ही विचार हैं, बस धोखा हो जाता है और तो कोई धोखा है ही नहीं। इसे श्रीरामचरितमानस के अन्तर्गत गोस्वामीजी ने प्रारम्भिक चरण में ही भक्तों से कह दिया है कि जो आसुरी प्रकृति के लोग हैं, उनसे अपना कल्याण होने की भी सम्भावना हो तो उन्हें स्वीकार न करना। सभी जानते हैं कि दुष्टात्मा दुर्योधन के संसर्ग से कर्ण की बुद्धि मारी गयी और वह जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप की आग में झुलसता रहा। उसने कहा था कि जिसे अपना भला, भगवान से कराना हो तो उसे दुष्टों का उपकार स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि परिणाम बड़ा घातक होगा। वे एक उपकार के बदले हजार उपकार की अपेक्षा रखेंगे। इसलिए उन दुष्टों का स्वभाव क्या होता है, कैसे होता है, उनमें कौन–कौन से लक्षण होते हैं, इसको जानने से पहले प्रभु ने भक्तों, सज्जनों, साधकों के सद्विचारों को लाकर खड़ा किया है।

"पूत के पाँव पालने में दीख जाते हैं–" ऐसी कहावत है। भगवान मानो कह रहे हैं कि दैवी प्रकृति एवं आसुरी प्रकृति, ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि ये दोनों ब्रह्म के ही अंग हैं, विश्वरूप ब्रह्म के ही दो प्रकार के विचार हैं लेकिन जो आध्यात्मिक साधक हैं वे अशुभ वृत्तियों का त्याग करते हैं और शुभ वृत्तियों को धारण करते हैं। शुभ वृत्ति को शुभ वृत्तिवाले सज्जनों के संसर्ग से जागृत् किया जाता है और अशुभ वृत्ति को अशुभ वृत्तिवाले दुर्जनों के संसर्ग से। सज्जनता के भी कई भाग हैं। मानो सज्जन पुरुष ही एक दिव्य सूर्य है जिससे सज्जनता की किरणें प्रकट होती रहती हैं, वे किरणें क्या हैं?

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

हे भारत! अभयता, चित्त की पूर्ण निर्मलता, ध्यानयोग में निरन्तरता, आध्यात्मिक एवं भौतिक दान देने का स्वभाव, इन्द्रियों का दमन, अपने से पूज्यजनों का पूजन एवं छोटों को प्यार तथा अग्निहोत्रादि का सम्पादनरूप यज्ञ करना, सत् शास्त्रों का पठन–पाठन व चिन्तन करना, अपने साधनपथ में आयी हुई प्रतिकूलताओं को सहन करना (तप) और अन्तःकरण की सरलता (आर्जवम्)। ठीक इसीप्रकार अहिंसा, सत्य बोलना, अपने स्वार्थ के लिए क्रोध न करना (अक्रोधः), 'मैं कर्ता हूँ'– इस भाव का अभाव (अकर्तापना), समशान्त बना रहना (शान्ति), किसी की चुगली–निन्दा न करना (अपैशुनता), सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया (दया), कोमलता (मार्दवम्), अलोलुपता (अलोलुप्त्वम्) अर्थात् विषय सामने आने पर भी उससे उदासीनता, अशास्त्रीय व्यवहार में लज्जा और अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, किसी में वैर भाव न होना, अपने में श्रेष्ठता का अभाव– ये सब तो दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के लक्षण हैं।

इन मंत्रों के द्वारा भगवान नारायण ने सज्जनों के लगभग २६ संक्षिप्त गुण दर्शाये हैं। जो दैवी प्रकृतिवाले पुरुष हैं, उनको इन्हीं सद्गुणों से जाना–पहचाना जा सकता है। दैवी पुरुष एक दिव्य सूर्य है, जिसके माध्यम से उपरोक्त दैवीगुण नामक किरणें प्रकाशित होती रहती हैं। उन किरणों में, अभयं–अभयपद प्रथम किरण है। सर्वप्रथम अभयपद को भगवान ने स्मरण किया, जिसका अत्यन्त विशिष्ट प्रयोजन है। भगवद्भक्तों में अभयता सहज पायी जाती है। इसी अभयता के कारण वे भययुक्त जगत में भयमुक्त होकर विचरते हैं। भगवान उसका हुआ चाहे न हुआ लेकिन वह भगवान का होकर अभय हो जाता है। ऐसा नहीं कि जंगल में रहनेवाले शेर, भालू आकर खा जायेंगे– इसलिये उसे भय लगे। साधनपथ में भयवृत्ति ही सबसे बड़ी बाधा है। भक्त वही है जो सबसे अभय हो। सबसे का तात्पर्य माता, पिता, भाई, बान्धव भी यदि आसुरी प्रकृति के हैं तो वह उनसे भी भयभीत नहीं होता।

(अभयं सत्त्वसंशुद्धिः.....) जो भगवान का होकर सबसे अभय हो गया है, उसके हृदय में सत्त्वसंशुद्धि से ज्ञानयोग में तन, मन, वचन की अच्छी प्रकार से स्थिति, दान, इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोधता, त्याग, शान्ति, अचुगलखोरिता, सम्पूर्ण भूतप्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करने में लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोहता, श्रेष्ठ होने का अभाव– ये अभयता सहित छब्बीस गुण वास

करेंगे ही करेंगे अर्थात् उसको प्राप्त हो ही जायेंगे। ये गुण अभयभक्त के पास क्रमशः वैसे ही आते हैं जैसे नवधा भक्ति का पहला अंग– 'प्रथम भक्ति संतन्ह कर संगा.....' अर्थात् सन्त का संग मिल जाय तो अन्य आठ अंग अपने–आप चले आते हैं अथवा भगवान का होकर इन छब्बीस दैवीय गुणों में से कोई एक गुण भी है तो अन्य गुण उसके पास आ ही जायेंगे। सजातीय शक्तियाँ एक साथ ही रहती हैं, जैसे ज्ञानयोग की षट् सम्पत्ति यानी छः अंगों में से पहला अंग शम आ जाय तो अन्य को आना ही आना है।

(सत्त्वसंशुद्धिः.....) जो भगवद्भक्त हैं, उनके हृदय में एकमात्र भगवान को पाने की ही कामना रहती है। यद्यपि वे विषयी पुरुषों के साथ रहते हैं लेकिन विषयता अपनी तरफ उनके चित्त को आकर्षित नहीं कर पाती, जैसे कँटीली–झाड़ियों में यदि फूल का पौधा है तो उसमें से फूल ही खिलेगा, उसमें से काँटे नहीं उगेंगे; यही उनके हृदय की शुद्धि का प्रमाण है। जिनके हृदय में अपने बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों, हित–मित्रों के लिए तो जगह है, उनकी मंगलकामना तो करते हैं लेकिन भगवान को पाने की कामना नहीं करते तो भले ही वे घर–परिवार एवं गाँव–समाज में सज्जन एवं भद्र माने जाते हों, भले ही वे उदार दृष्टिवाले, निर्मल हृदयवाले माने–जाने जाते हों लेकिन भगवान की दृष्टि में उनका चित्त तो अशुद्ध ही है। जो सबका भला चाहता है लेकिन उसके बदले में मान–सम्मान चाहता है तो उस पुरुष के चित्त का भला कहाँ हुआ अर्थात् चित्त शुद्ध कहाँ हुआ, वह तो बुरा का बुरा ही रह गया। ठीक इसके विपरीत किसी का चित्त भले ही काम–क्रोध आदि दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त नहीं है लेकिन काम, क्रोध होने से उसका चित्त गन्दा होते हुए भी गन्दा नहीं माना जायेगा क्योंकि उसकी नीयत तथा भाव एवं संकल्प देखा जायेगा, न कि उसके चित्त के विकारों पर आक्षेप किया जायेगा।

क्षुद्र वासनाओं की मार से आहत मंकि नामक (ऋषि) आत्मजिज्ञासु ने किसी काल में ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से पूछा था कि हे प्रभु! मैंने बहुत काल तक अपने चित्त के विकारों को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु वे विकार दूर होने की जगह निरंतर बढ़ते ही गये। यद्यपि मैंने उन्हें स्वीकार नहीं किया है लेकिन जैसे छोटे सरोवर में हाथी लोट–पोटकर उसके जल को गन्दा बना देता है, वैसे ही वासनारूपी हाथी मेरे हृदय को गन्दा कर देता है, वासनामय कर देता है। एक क्षण में लगता है कि मेरा हृदय अति निर्मल हो गया है तथा दूसरे क्षण में ही लगता है कि मेरे चित्त के जैसा गन्दा तो किसी का चित्त होगा ही नहीं। एक क्षण में लगता है मेरा चित्त कामरूपी पिशाच से मुक्त हो गया है तो दूसरे पल में ही वह अपने विषय को सामने देखकर काममय हो जाता है। यद्यपि लगता है कि मैंने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है लेकिन दूसरे समय में प्रतिकूलता का अवसर आने पर उसमें क्रोधाग्नि भड़क जाती है, मान–सम्मान का लोभ भी प्रकट हो जाता है। लगता है कि चित्त भय से मुक्त हो गया है किन्तु शेर और सर्पों के सामने आने पर भय प्रकट हो ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि इस नश्वर शरीर के प्रति राग (आसक्ति) है ही तथा प्रतिकूल विषय आने पर द्वेष भी प्रकट हो ही जाता है तो फिर आप बतायें कि क्या कारण है? मैं तो समझता हूँ कि आजतक इस जीव–जगत में मुझे आप जैसा आत्मदर्शी सन्त नहीं मिल पाया था, इसीलिए मेरा चित्त निर्विषयी नहीं हो पाया था। यहाँ पर आत्मजिज्ञासु

भक्त मंकि के द्वारा उपरोक्त प्रश्न करने पर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने उसे अवसर दिया और उसका समाधान करना प्रारम्भ कर दिया अर्थात् ब्रह्मविद्या का दान देना प्रारम्भ कर दिया।

उपरोक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि भक्त मंकि के हृदय में एकमात्र ब्रह्म की ही कामना थी न कि विषय की। विषय का प्रकट होना अलग बात है तथा उसे स्वीकार करना अलग बात है। जिस खेत में सुन्दर चारा होता है, उसी को सुन्दर खेत कहते हैं। किसान जानता है कि समयानुसार खेत की यही घासें खाद का काम करेंगी और मैं अपना अभीष्ट बीज बोकर फल काट लूँगा। उसीप्रकार जब आत्मजिज्ञासु साधक सद्गुरु के शरणागत हो जाता है मन, कर्म, वचन से और अपने सम्पूर्ण दोषों को जब उसके सामने रख देता है तब वह (सद्गुरु) उसके लिए सार्थक हो जाता है। उसी समय के लिए तीसरा पद दिया गया है– 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'– अपने आत्मस्वरूप को सद्गुरु से सुनकर उसपर विश्वास करना ज्ञान है तथा उसे प्रयोग में लाना योग है। कालान्तर में ज्ञानयोग में भलीभाँति स्थिति हो जाने पर आत्मस्वरूपतारूप सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। जबतक ज्ञान और योग यानी प्रयोग का मिलन नहीं होता तबतक ज्ञानयोग में प्रतिष्ठा नहीं होती। मानो महात्मा अर्जुन ज्ञान हैं अर्थात् आत्मजिज्ञासु हैं और भगवान ही उनके लिए योग हैं। इसप्रकार इन दोनों ज्ञान एवं योग के मिलने से नानाप्रकार के योगों का प्रादुर्भाव हुआ– जिनमें विषादयोग से लेकर मोक्षसंन्यासयोग तक के स्वरूप को आप सब जानते ही हैं। उसके उपरान्त तो महात्मा अर्जुन के द्वारा प्रयोग प्रारम्भ ही हो गया। उन्होंने गाण्डीव उठाकर कहा– अब मैं युद्ध करूँगा।

(दानम्.....) हे माधव! मैं तो निर्विकार आत्मा हूँ, यह मुझे आत्मस्मृति प्राप्त हो गयी, आप तो आज्ञा करें! यह शरीर, मन, बुद्धि एवं हृदय मैं आपको ही देता हूँ, अब ये सभी करण–उपकरण आपके हैं, इस अर्जुन नामक शरीर से आप अपना प्रयोजन सिद्ध करें। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि जब ज्ञान और योग का मिलन होगा यानी सद्गुरु एवं शिष्य का सचमुच में मिलन होगा तो उन दोनों के द्वारा परस्पर में दान का आदान–प्रदान प्रारम्भ हो ही जायेगा। शिष्य अपने तन, मन, वचन एवं हृदय को सदा–सर्वदा के लिए सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर ही देगा क्योंकि बिना सम्पूर्ण समर्पण के समाधान तो होता ही नहीं। भौतिक दान एकमात्र दस प्रतिशत दान से पूरा माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक दान तो तन, मन, धन तीनों को समर्पित करने से पूरा होता है। आजतक किसी भी आध्यात्मिक साधक ने सद्गुरु का होकर अपने लिए कुछ भी नहीं बचाया तभी भगवान ने भी उससे किसी भी प्रकार का दुराव नहीं किया और अपने सम्पूर्ण बल, वीर्य, ऐश्वर्य, माधुर्यता, गम्भीरता, उदारता आदि गुणों एवं शक्तियों को उन साधकों एवं भक्तों को दे दिया। इसके उपरान्त तो–

(दमः.....) इन्द्रिय दमन की शक्ति अपने आप प्रकट हो जाती है, विशेष उसके लिए यत्न नहीं करना पड़ता। जुआरी को आप देखें– वह रात–दिन जूआ खेलने के लिए कैसे बैठा रहता है! उसके बाल–बच्चे उसके भोजन–पानी की चिन्ता करते हैं लेकिन उसे तो संसार ही भूल गया रहता है, भोजन–पानी की तो बात ही क्या है। एक गाँव में महाराज रहता था। दीपावली

के अवसर पर बच्चे आकर कहते थे कि महाराज! अमुक व्यक्ति जूआ खेल रहे हैं, उन्हें चार दिन खेलते हो गया लेकिन अभी डटे हुए हैं। भोजन वहाँ रखा रहता है, किसीप्रकार उन्हें खिलाना पड़ता है। पता नहीं, वे कैसे और कब सो लेते हैं। जबतक उनलोगों के पास पूँजी रहेगी तबतक वे खेलते रहेंगे। अथवा जैसे दो मित्र गप–शप में रात्रि व्यतीत कर देते हैं किन्तु थकान का पता नहीं चलता। उसीप्रकार जब अपने तन, मन, वचन एवं हृदयादि को आत्मजिज्ञासु समर्पित कर देता है सद्गुरु को, तो उन दोनों में परस्पर दिव्य संवाद प्रारम्भ हो जाता है। एक सुनने में नहीं थकता तो दूसरा आध्यात्मिक दान देने में नहीं थकता। इसप्रकार वे दोनों रात–दिन एक कर देते हैं।

जब भगवान श्रीराम एवं ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का आध्यात्मिक योग बना तो कथा कहते–सुनते इक्कीस–बाईस दिन बीत गये। अन्तिम दिन भगवान श्रीराम ज्ञानसमाधि में तल्लीन एवं लवलीन हो गये। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने उन्हें अपने संकल्पबल द्वारा समाधि से विरत किया। अतः–

(अभयम्.....) अभयता + सत्त्वसंशुद्धि + ज्ञानयोगव्यवस्थिति + दान = दम, प्रकट हो ही जाता है। आप सब तो देख ही रहे हैं कि महात्मा अर्जुन का तन, मन, रथ पर ही समाहित हो गया है। वे इतना अन्तर्मन में चले गये हैं कि भगवान को उन्हें हिजड़ा, डरपोक, कायर कहकर बाहर लाना पड़ रहा है। अतः आत्मजिज्ञासा के कारण सद्गुरु का योग मिल जाय तो भी इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनी रहें, ऐसा नहीं हो सकता। सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त आदि का मुख ब्रह्म की तरफ हो ही जायेगा– इसी को आध्यात्मिक इन्द्रिय दमन कहते हैं। उसके उपरान्त पद है–

(यज्ञः.....) उस अभयपद को प्राप्त भक्त का आचार–विचार एवं व्यवहार यज्ञमय हो जाता है। इतना ही नहीं, घर में है तो पंचमहायज्ञादि के साथ–साथ देवयज्ञादि को निष्काम करने लगता है। जैसे राजा जनक ने ज्ञान होने के उपरान्त भी अश्वमेधादि यज्ञों का परित्याग नहीं किया वैसे ही सदा ध्यान में बने रहनेवाला साधक भी अपने से विशेष बढ़े–चढ़े ध्यानी, ज्ञानी, विज्ञानी के प्रति विशेष भाव रखता है एवं सुबह–शाम दस–बारह मिनट मानसिक यज्ञ (पूजन) भी करता है। सम्पूर्ण प्राणियों को ब्रह्म का रूप समझकर धूप, दीप, नैवेद्य अर्पित कर सबको सन्तुष्ट करता है। जो जिसप्रकार की सेवा से सन्तुष्ट होनेवाला है उसे यथासामर्थ्य उसी विषय–वस्तु से सन्तुष्ट करता है। अतः आत्मजिज्ञासु के पास उपरोक्त गुणों के द्वारा यज्ञादि गुण भी प्रकट हो ही जाते हैं, जैसे अभयता + सत्त्वसंशुद्धिः + ज्ञानयोगव्यवस्थितिः + दानं + दमः = यज्ञः। इसके उपरान्त स्वाध्याय नामक देवता प्रकट हो जाता है। वह समय को व्यर्थ खाली नहीं जाने देता बल्कि सद्गुरु ने जिन शास्त्रों, पुराणों एवं स्मृतियों का पाठ करने को कहा है, उन्हें श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक स्वीकार करता है। उसकी आध्यात्मिक यात्रा में स्वाध्याय जीवनसाथी जैसा साथ देता है।

एक साधक के चित्त में जब–जब उच्चाटन हो जाता था तब–तब स्वाध्याय से ही उसका समाधान हो जाता था। उसे सद्गुरु के द्वारा प्राप्त सत्संग से विशेष योगादि साधनाओं में अभिरुचि हो गयी थी जबकि वह अभी योगादि साधनाओं का अधिकारी नहीं था। साधना करना

अलग बात है लेकिन उसका महत्त्व सद्गुरु से विशेष समझना अलग बात है। सन्तों, भक्तों एवं भगवान के चरित्र को प्रकाशित करनेवाले शास्त्रों के पठन–पाठन एवं चिन्तन करने से संशय–भ्रम तो जाते ही रहते हैं उसके साथ–साथ एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है, वह है– भगवद्शक्ति, जिसका आध्यात्मिक साधना में बहुत विशेष महत्त्व है। स्वाध्याय का दो अर्थ लेना चाहिए एक आर्ष ग्रन्थों का पठन–पाठन और दूसरा स्वयं के तन, मन, वचन एवं हृदय से प्रकट होनेवाले सद्गुणों एवं दुर्गुणों का अध्ययन करना तथा अस्वीकार करने योग्य गुणों को अस्वीकार करना और स्वीकार करने योग्य गुणों को धारण करना। यह भी जान लेना चाहिए कि सम्पूर्ण ग्रन्थों में भगवान के नाम एवं गुणों में ही उनका निर्गुण–सगुण रूप भी छिपा हुआ है। यही नहीं, उन ग्रन्थों में सम्पूर्ण ऋषि–महर्षि भी छिपे हुए हैं जो प्रसन्न होकर वरदान भी दे जाते हैं। जैसे गीताजी के प्रत्येक अध्याय के पाठ का फल गीता माहात्म्य में लिखा हुआ है, उसे देखें।

उसके बाद पद है 'तप'.....इसका आध्यात्मिक अर्थ तो होता है भगवत्पथ में आयी हुई प्रतिकूलता को सहन करना। जैसे सर्दी, गर्मी, बरसात के थपेड़े को सहन करना, सुख–दुःख के उत्पात को सहन करना, भूख–प्यास की मार को सहन करना, मान–अपमान को सहन करना, इत्यादि इत्यादि। प्रयोग के उपरान्त यह स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर को चाहे जिस अवस्था में रखा जा सकता है, इसमें एक ऐसी दिव्य शक्ति है। जाड़े के दिनों में समयानुसार ठंड लगने के भय से स्नान, शौच आदि नहीं हो पाता, गर्मी में जप, ध्यान में बैठने का मन नहीं करता, बरसात में वर्षा के साथ–साथ प्रकृति आलस्य, नींद एवं प्रमाद को भी बरसाती रहती है, जिसमें साधक एवं भक्त विशेष तप के साथ रहते हैं, यह तो सभी देखते ही हैं। सालों भर सवेरे उठते ही भूख–प्यास नामक पिशाचिनी आकर त्रास देने लगती है जिसका आघात भगवद्भक्त ही सहन कर सकता है लेकिन साल दो साल सहन कर लिया जाय तो नींद अपने समयानुसार ही आयेगी। यदि समयानुसार शरीर को भोजन–पानी दिया जाय, समयानुसार ही नींद को स्वीकार किया जाय, व्रत के दिनों में औषधियों (फल–फूल) को ही दिया जाय, मान–अपमान को सहन कर लिया जाय और चांद्रायणादि व्रतों से इसे तपाया जाय तो जैसे अग्नि में सोने को तपा कर उसके ऊपर छिपी हुई मैल को दूर कर दिया जाता है वैसे ही तन, मन, वचन एवं हृदय को दिव्य बना लिया जाता है। उसके उपरान्त प्रकट होता है 'आर्जवम्'– मन, वाणी, शरीर की सरलता अर्थात् उपरोक्त गुणों के प्रकट होने पर शरीर में एक सरलता प्रकट होती है जो स्पष्ट दिखाई पड़ती है अर्थात् वाणी में विनम्रता, स्वर में मधुरता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, शारीरिक चंचलता दूर हो गयी रहती है, उसमें ऐंठ नहीं रहती। उसके उठने–बैठने, चलने–फिरने से भी उसकी सरल गति का अनुमान लगाया जा सकता है।

'सत्यम्'– एक बालक ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि आज से मैं झूठ नहीं बोलूँगा। उसके पिता ने किसी अवसर पर झूठ बोलने को कहा। पुत्र ने मना किया तो पिता ने एक चाँटा जड़ दिया। पुत्र ने कहा– आपके मारने–पीटने से तो हृदय से झूठ आयेगा नहीं, आप शरीर को ही तो मार सकते हैं, सत्य को मार नहीं सकते! सत्य तो सदा सर्वदा अवध्य है; तथा शरीर को भी आप कितना मारेंगे क्योंकि जिस दिन इस शरीर को जन्मानेवाला नहीं चाहेगा तो उस दिन आप

चाहकर भी नहीं मार पायेंगे। यह तो मेरी मूर्खता ही है कि आप जैसे असत्यवक्ता को मैं पिता मान रहा हूँ। एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा कि मैं उस सत्यवक्ता को ही पिता कहूँगा।

साधक ने सच ही कहा था– क्योंकि जिस दिन प्रभु ने नहीं चाहा उस दिन हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को मार नहीं पाया। उसके जैसे वरदानी पुरुष की छाती को चीरकर भगवान ने रक्तपान किया। जो भक्त हैं उन्हें सतानेवाले उनके पिता को भी भगवान क्षमा नहीं करता।

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च'– आप कहते हैं कि हम भक्त हैं और दूसरी ओर जो पिता–माता नहीं हैं फिर भी कहते हैं कि हम पिता–माता हैं, वैसे लोगों से आप मोल–भाव करते हैं। कोई माँ अपने को भक्त कहती हैं और अपने अहंकारी पति से भय के कारण मोल–भाव करती हैं, उसके लिये बिना मोल बिक जाती है, सत्य का परित्याग कर देती है। कोई पिता कहता है कि मैं भक्त हूँ और कंस जैसे पुत्र से डरता है, फिर वह किस बात का भक्त है, जो असत्यवादी जीव के लिये बिक जाता है, उससे सारी की सारी आसुरी प्रवृत्तियाँ खिलवाड़ करती हैं लेकिन भक्त के साथ कोई ढोंग नहीं कर सकता।

'अक्रोध, शान्ति'– महाराज ने एक ऐसी माँ को देखा है जिसका पति मानो रावण बनकर आकाश में हुंकार भरता हुआ उसके सिर पर दही का मटका पटक देता है, शरीर पर पत्थरों की बरसात कर देता है, राक्षसों की भाँति मारता–पीटता है और पुनः चार–पाँच घण्टे के बाद क्षमा–याचना करते हुए कहता है– मैंने तुझे बहुत सताया। पुनः कुछ दिन पश्चात् राक्षस बनकर वही कार्य करता है तथा क्षमा माँगते हुए कहता है कि मैंने तुझे बहुत सताया। बेटा माँ से पूछता कि तू तो रोती–कलपती भी नहीं है? तो माँ कहती कि यह प्रारब्ध है बेटे! वन में भी जाऊँगी तो भोगना ही पड़ेगा। अतः मैं सोचती हूँ कि यहीं क्यों न दुःख भोगते हुए भगवान की खोज करूँ।

भारतवर्ष में महाराज ने गिनती की ऐसी भी मातायें देखी हैं, जो ऐसे आसुरी प्रकृतिवाले पति के साथ रहते हुए भी अखण्ड जप, तप, योग करते हुए, अपने स्वभाव से विचलित होनेवाली नहीं हैं, उनमें से ये माँ प्रथम है। आज उस माँ से सिद्ध एवं देवतागण बात करते हैं, वह सर्वज्ञ हो गयी है, घर में रहकर ही अभय हो गयी है। उसका शरीर असुरों में जीता है तथा वह भगवान में जीती है।

भगवान के उपरोक्त मंत्रों द्वारा महाराज पूछता है– आप कौन हैं, रावण या राम? न आप में रावणत्व दिखाई पड़ रहा है, न रामत्व दिखाई पड़ रहा है। आप कौन हैं? शूर्पणखा या सीता, कौसल्या या कैकेयी? ये सभी अपने–अपने भगवान के आश्रित होकर अभय हैं। रावण अपने भगवान शंकर एवं ब्रह्मा की अध्यक्षता में अभय होकर शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीराम से भी नहीं डरता; इसलिये कि वह उनके हाथों मरना चाहता है। यदि आप डरते हैं तो आप उसकी जगह भी तो नहीं हैं। भक्त की भक्ति का आधार अभयता है। अभय शिष्य के चित्त में ही सद्गुरु ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का बीज बोता है। जबतक आप भीरु रहेंगे तबतक तो आपका सद्गुरु भी आपके लिये सफल नहीं हो सकेगा। इसीलिये प्रभु ने कहा कि उससे प्रेम एवं मित्रता

कर लेना जो अभय है और भक्त भी है।

कल एक पिता फूट–फूटकर रोने लगे। वे कह रहे थे कि मेरा बड़ा बेटा मुझे छोड़ना चाहता है क्योंकि वह कमा रहा है और मेरे अन्य दो बेटों की स्थिति कुछ गम्भीर है। महाराज ने कहा– तो क्या हो गया। आपको और आपके दोनों बच्चों को अपने भगवान पर भरोसा नहीं है क्या? वह अपनी फैक्ट्री लेकर ही तो अलग होगा, आपके आशीर्वाद एवं प्रसन्नता से तो वंचित ही रह जायेगा। भगवद्भक्त माता–पिता को दुःख देकर आजतक कौन सुखी रहा है? लगता है कि आप सच्चे भक्त नहीं है; तभी तो दुरात्मा पुत्र से डरते हैं कि वह अलग हो जायेगा तो रोटी मिलेगी कि नहीं। कोई धन से, कोई बुद्धि से, कोई मन से, कोई तन से दरिद्र होता है लेकिन आप तो भगवद्भक्ति से ही दरिद्र लग रहे हैं। भगवद्भक्त माता–पिता अपने पुत्र की सम्पत्ति नहीं खाना चाहते। आप दोनों की पचास–साठ वर्ष की अवस्था हो गयी, अतः तीर्थ में जायें, वहाँ भगवान का अन्नक्षेत्र खुला हुआ है। किसी आश्रम में साधन–भजन करते हुए प्रसाद पायें, उस पर आपका जन्मसिद्ध अधिकार है। बेटे अपने भाग्य से आये हुए हैं, आपकी कैसी प्रतिष्ठा और कैसी सम्पत्ति। आज एक पत्नी अपने पति से दुःखी होकर रो रही थी। महाराज ने कहा– "तू भीरु है, भक्त नहीं है। अरे! ऐसे शराबी, मांसाहारी, वेश्यागामी, जुआरी पति के द्वारा लात मारने पर तुम्हें उसे बात से मारना चाहिये या भगवती मीरा बनकर द्वारिका, वृन्दावन या किसी अन्य तीर्थ में जाकर भजन करना चाहिये। तू नहीं जानती कि भगवान के पास जीव से भयभीत होकर रोने–कलपनेवाले के लिये स्थान नहीं है!"

'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः'– रावण ने मन्दोदरी से एक बार कहा था– यदि आज तू धर्मपत्नी नहीं होती तो मेरी भुजा पकड़ते ही तेरे सिर को धड़ से अलग कर देता। उस माँ ने अपनी अभयता का परिचय देते हुए कहा था कि मन्दोदरी की इच्छा के बिना काल भी उसे मार नहीं सकता महाराज! आप क्या मारेंगे! रावण को वहाँ मौन होना पड़ा था। जो अभय हैं, भगवान के हैं; वे कहीं भी रहते हैं तो भी भगवान के ही होके रहते हैं। पापियों के पास भी सम्पत्ति होती है। यदि आप उस सम्पत्ति के लिये माता–पिता से डरते हैं तो आप में और उस पापी में कोई अन्तर नहीं है। माता–पिता वही हैं, जो अपने बाल–बच्चों को जप, तप, योग में प्रवृत्त करें, पुत्र वही है, जो अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों को भगवद्भक्ति में लगावे, धर्मपत्नी वही है, जो पति को भगवान के सम्मुख खड़ा कर दे और धर्मपति भी वही है जो धर्मपत्नी को भगवान की आत्मा बना दे, आदि–आदि। पिता एवं माँ ये दोनों शब्द भगवती और भगवान से निकले हुए हैं। माँ एक ही है, वह है– 'भगवती (आदिशक्ति, दुर्गा)', पिता भी एक ही है, वह है– 'भगवान'। ये दोनों शब्द जो बाहर में बिखरे हुए हैं, ये भगवती एवं भगवान की किरणें हैं। लाज को भी लाज आ जायेगी, आपको लज्जा भी नहीं लगती, जब आप कहते हैं कि मैं तुम्हारा पिता हूँ, तुम्हारी माता हूँ, पुत्र हूँ जबकि आप में एक अंश भी न भगवत्ता है, न मातृत्व है और न ही पुत्रत्व है। हाँ, यदि आप राजा जनक के आदर्शवाले हैं, तब तो निश्चित ही आपके पुत्र, पुत्री आपकी आत्मायें हैं लेकिन जब अपने पेट के लिये ही उनको अपना अंग मान लेते हैं, तब आप रावण भी नहीं हैं। आपका तो कोई भगवान है ही नहीं, इसलिये कि आप महाडरपोक हैं। पाँच मिनट राम–राम

जपते हैं और अगले ही क्षण लगता है कि श्याम नाम बड़ा है तो श्याम–श्याम करने लगते हैं, दो–चार मिनट बाद गायत्री मंत्र को बड़ा मानकर जपना प्रारम्भ कर देते हैं; कुछ ही क्षण बाद सोचते हैं कि अकाल मृत्युयोग का नाशक तो महामृत्युञ्जय मंत्र है, तबतक कोई कहता है कि दुर्गा सबसे बड़ी हैं और आप नवार्ण मंत्र–'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' जपना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसा तो आपका बिखरा हुआ मन, बिखरी हुई स्मृति, बिखरा हुआ विश्वास है। एक पल भी मन टिकता नहीं है और कहते हैं कि हम भक्त हैं। भक्त कहलाने का बड़ा शौक है– इसके लिये चाहे जितना ढोंग करना पड़े उतना ढोंग आप करते हैं।

एक भक्त ने कहा कि मैं सोते समय सभी भगवानों का आवाहन कर लेता हूँ। महाराज ने पूछा कि सपने में सब आ जाते हैं क्या? कैसी मूर्खता है! नियम तो कहता है कि सम्पूर्ण देवी–देवताओं का पूजा–पाठ के समय स्मरण कर लिया, उन्हें प्रणाम कर लिया, उसके उपरान्त दिन–रात अपने भगवान के ही नाम का जप किया, उन्हीं के रूप का ध्यान किया। आप जिस भगवान को मानते हैं, वही आपका भगवान है, दूसरे भगवान तो आपकी शक्तियाँ बन जाते हैं। इस गूढ़ात्मक रहस्य को समझ लें– जैसे भगवान विष्णु की उपासना करनेवाले के लिये शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, सूर्य, गणेश आदि शक्ति हो जाते हैं; उसीप्रकार शिवजी को माननेवाले के लिये दुर्गा, गणेश, सूर्य, विष्णु आदि शक्ति हो जाते हैं। जब आप उपासना की सीमा में आते हैं तो आपका भगवान ही सबकी आत्मा होता है। उसका रूप, उसका नाम ही आपके लिये भगवान होता है। ज्योतिषी जन्मकुण्डली को देखकर कहता है कि महामृत्युञ्जय का जप करा दो अन्यथा तुम्हारे बच्चे की अकाल मृत्यु हो जायेगी तो उस समय आप अपने भगवान को किनारे कर देते हैं। आपका भगवान शक्तिहीन है क्या? आपका भगवान तो महामृत्युञ्जय की भी आत्मा है, फिर आप क्यों डरते हैं? इसीलिये न कि आप भगवान के भक्त नहीं हैं। सद्गुरु की बात पर विश्वास नहीं है और जन्मकुण्डली की बात पर विश्वास हो गया! डरपोकों के हजार भगवान होते हैं, डरते–डरते अपनी छाया से भी डरने लगते हैं। जबतक भगवान आपकी छाया नहीं बन जाता, तबतक आप अपने ही शरीर की छाया से डरते रहेंगे। हर प्राणिपदार्थ की छाया होती है। हाँ, मृत्यु के कुछ घण्टे पूर्व अपने शरीर की छाया समाप्त हो जाती है। उस समय प्रकृति संकेत करती है कि अब भी तो आप जगत से अभय हो जाओ। आप कहेंगे कि उस समय तो और भय लगेगा? यही तो महाराज का कहना है कि यदि उस समय भी आप भगवान के हो जाते हैं तो आप में अभयता प्रकट हो जाती है। भगवान के विविध रूपों में से यदि एक भी रूप आपके स्मरण में रहता है तो आपमें अभयता सहज ही प्रशस्त होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण भी तो भगवान के विविध रूप हैं। उपरोक्त तीन मंत्रों में जो लगभग २६ सद्गुण गिनायें गये हैं, वे भी तो भगवान के ही विविध रूप ही हैं। भगवान मूर्तरूप में आने के पूर्व इन्हीं रूपों में आता है। जिनके पास सद्गुणरूप ब्रह्म नहीं है, वे सब से डरते रहते हैं। यहाँ तक कि वे सबसे डरनेवाले प्राणियों से भी डरते रहते हैं। जैसे साँप, बिच्छू, शेर ये सब मनुष्यों से डरते हैं, रात्रि में चोर की भाँति शिकार के लिये निकलते हैं, वे इनसे भी डरते हैं। यहाँ तक कि वे कीड़े–मकोड़े एवं पतिंगों से भी डरते हैं। दुबई में रहनेवाली माण्डवी पतिंगों से डरकर भाग

जाती है, चिल्लाने लगती है, जैसे काल आ गया हो। आपने अपने भगवान को स्वयं से इतना दूर कर लिया है कि आप क्षुद्र प्राणियों की तरह डरते रहते हैं। भगवान का यहाँ यह भी संकेत है कि जो संसार से अभय है और भगवान का भक्त है, उसको अपना साथी बना लेना ताकि आपमें उसकी अभयता एवं भक्ति का संचार हो। आपको ऐसा मित्र चाहिये जो धन का सेवक न हो, भाई–बान्धवों का सेवक न हो, सत्य का सेवक हो; जो आपके सत्य का अनुमोदन कर सके, तभी आप में भक्ति एवं अभयता का प्रादुर्भाव हो सकता है।

"दैवी गुणवालों का व्यवहार विलक्षण होता है। उनके व्यवहार के सामने शास्त्र का व्यवहार भी लज्जित हो जाता है।" पुष्करानन्द ने दो चार फल उठाकर खा लिया। उसके उपरान्त उसे अशान्ति हो गयी तो उसने महाराज को बताया। महाराज ने कहा कि यह चोरी तो है नहीं, क्योंकि महाराज ने कहा था कि तुम लिखते–लिखते थक जाते हो, अतः फल खा लिया करो। उसने पूछा– फिर अशान्ति क्यों हो गयी? महाराज ने कहा– लगता है, तुमने कभी चोरी की ही नहीं है, इसीलिये तुम इसे भी चोरी ही मान रहे हो। तुम्हारे जैसे पवित्र साधक में ही ऐसा विचार आ सकता है। महात्मा युधिष्ठिर ने भी कभी झूठ नहीं बोला था, अतः अश्वत्थामा मारा गया– भगवान के कहने पर भी वैसा कहने में वे हिचक रहे थे। लेकिन उसने कहा– गुरुदेव! हो सकता है कि मेरी देखा–देखी सब अपने से फल उठाकर खाने लगेंगे, इससे अशान्ति हो गयी हो! महाराज ने कहा कि सब महाराज के पुत्र ही तो हैं। महाराज को तो बहुत अच्छा लगता है, जब कोई अपने से उठाकर खाता है तो। उसने कहा कि गुरुजी! लेकिन व्यवस्थापक को तो बुरा लग सकता है! महाराज ने कहा कि ऐसा तो नहीं है लेकिन चलो तुमने बहुत गूढ़ बात कही है, तो ठीक है तुम्हें जैसे शान्ति मिले वैसे करना। महाराज के हाथ से ही माँग लेना, व्यवस्थापकों से ही माँग लेना लेकिन जलपान अवश्य करना; क्योंकि महाराज का काम करना है, खाली पेट लिखने–पढ़ने में लटकन–झटकन आ सकती है।

'स्वाध्यायस्तप आर्जवम्'– मन, वाणी, शरीर की कोमलता अर्थात् अशास्त्रीय व्यवहार में लज्जित होना दैवी प्रकृति के पुरुष का स्वाभाविक गुण है। महाराज ने तो 'झोपड़ी बनाना चाहिए कि नहीं चाहिए जंगल में' अपने गुरुदेव से यह भी पूछा था। पूछा था कि एक तरफ सरकार कहती है कि पेड़ नहीं काटना चाहिए जंगल में और दूसरी तरफ झोपड़ी बनाकर ही वहाँ रहना है, तो फिर आप क्या कहते हैं? गुरुदेव ने कहा था कि साधक, भक्त एवं संतों को सरकार की हर बात नहीं माननी चाहिए। अतः पेड़ कटवाओ और झोपड़ी बनाकर उसमें साधना करो। सद्गुरु से एक–एक बात पूछ कर चलना यह शास्त्रीय मर्यादा है। यदि आपने अपने तन, मन, हृदय को उसे दान कर दिया है तो आपको प्रमाण भी चाहिए कि उसने स्वीकार किया है या नहीं किया है। यदि स्वीकार कर लिया होता तो अपने तन, मन, वचन, हृदय में भीतर–बाहर ब्रह्म उतर जाना चाहिए था लेकिन ऐसा होते देखा नहीं जा रहा है बल्कि उसके विपरीत पूर्व की भाँति ही काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि विकार प्रकट होते रहते है। अतः इससे सिद्ध होता है कि हमने तो दान कर दिया किन्तु भगवान ने अभी उसे लिया नहीं है। तो फिर वह क्या करे? चलें, नहीं लिया तो नहीं लिया, जबतक नहीं लिया तबतक इस शरीर को उसके योग्य बनायें,

इसी को दमन कहा जाता है अर्थात् जप, तप, योग, यज्ञादि कर्म के साथ, स्वाध्याय के साथ समय को बिताएँ। ऐसा करने से जब पवित्र हो जायेंगे तन, मन, वचन, हृदय, तो वह प्रभु स्वयं ही आपकी शरीररूप प्रकृति को स्वीकार कर लेगा।

'अहिंसा सत्यमक्रोधः'– भगवद्भक्त में अहिंसा, सत्य, क्रोधहीनता, दुर्गुणों का त्याग, शान्ति, दूसरे की निन्दा न करना, सम्पूर्ण भूत–प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, तेज, क्षमा, धृति, शौच तथा अभिमानहीनता आदि दिव्य गुणों का सहज ही वास रहता है। तेज उसे कहते हैं कि भक्त के व्यवहार को देखते ही लोग वैसा व्यवहार करने को विवश हो जायें। वह क्षमा नामक गुण से भी सम्पन्न होता है– अपने प्रति अपकार करनेवाले का भी उपकार करते रहना ही वास्तविक क्षमा है। ब्रह्म को धारण करना ही धृति है। सबको ब्रह्मभाव से देखना ही उसका शौच है तथा वैरियों के मध्य निर्वैर होकर रहना ही उसका मानरहित होना है।

भगवद्भक्त में यदि अभयता आती है तो उसके उपरान्त अन्य सम्पूर्ण गुणों का क्रमशः प्रकट होना प्रारम्भ हो ही जाता है अर्थात् अभयता के उपरान्त हृदय की निर्मलता का प्रकट होना, अपने स्वरूप में स्थिति होना, उसके उपरान्त तन, मन, धनसहित सर्वस्व प्रभु को अर्पण करना– यह सब प्रकट होने लगता है। कहाँ तक कहा जाये, जिसप्रकार दीपक के पास नानाप्रकार के पतिंगे आने लगते हैं उसीप्रकार भगवद्भक्त के पास ब्रह्म ही इन गुणों के रूप में प्रकट होने लगता है।

(तेजः क्षमा धृतिः शौचम्.....) इसप्रकार दान करने के उपरान्त, दमन करने के उपरान्त, यज्ञ और स्वाध्याय आदि करने के उपरान्त 'तेज' नामक शक्ति प्रकट होती है। उसके उपरान्त भीतर से क्षमा नामक गुण प्रकट होता है। अपने प्रति अपकार करनेवाले का भी उपकार करने का मन करता है। कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि वह क्षमा ही कर देता है। नहीं, नहीं अपने प्रति अपकार करनेवाले का भी उपकार करता है– उसे कहते हैं क्षमा। धृति कहते हैं धारण करने की शक्ति को, अर्थात् सात्त्विक गुणों को धारण करना। जैसा कि गीता अध्याय अठारह, मन्त्र तैंतीस से पैंतीस तक में इसका स्वरूप दिया गया है अर्थात् इन सब सद्गुणों को प्राप्त करने के लिए सात्त्विक धृति को धारण करना। हृदय के भीतर पवित्रता है ब्रह्मभाव होने के कारण से तो बाहर से भी आसन, अशन और वसन को पवित्र रखना– यह शौच कहलाता है। किसी से विद्रोह न करना, बहुत छेड़ने पर भी मौनी बना रहना अद्रोह कहलाता है तथा इन सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न होने के उपरान्त भी अहंकार का न होना निरभिमानता कहलाता है।

(महात्मा अर्जुन के मन में आया– अरे! तब तो ये पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि दैवी प्रकृतिवाले ही हैं। प्रभु ने कहा– किन्तु एक दोष के कारण ये दूषित हो गये हैं।) अब प्रश्न उठता है कि महात्मा अर्जुन में भीरुता आयी क्यों, उनमें तो अभयता स्वाभाविक ही थी?– हाँ, अभयता तो थी लेकिन व्यावहारिक शीलता एवं विनम्रता की भी अति थी। इसी एक दोष के कारण से भयवृत्ति ने उनपर आक्रमण कर दिया।

साधकों के साधनपथ में उनका शील एवं संकोच भी बाधा बनता है। एक साधक के

सद्गुरु ने कहा– आज से तुम अपने स्वजनों के साथ व्यवहार न करना। उसने आज्ञा शिरोधार्य कर ली। जब उसके सामने उसके पिता आये तो उसने समाचार आदि नहीं पूछा, किन्तु पूर्व की लज्जा का संचार होता रहा। पिता ने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया तो उसने उनके प्रणाम को स्वीकार तो किया किन्तु लज्जा का भी सामना करता रहा। उसके पिता जानते थे कि बेटा संन्यास ले ले तो उसे प्रणाम करना चाहिए। यह वैसी ही बात है जैसे कि पिता यदि अपने जज बने हुए बेटे के पास अपराधी बनकर आता है तो उसे अपने बेटे के नीचे ही बैठना पड़ता है, क्योंकि उस समय वह उनका बेटा नहीं बल्कि उनका न्यायाधीश है।

आये दिन साधकों के जीवन में ऐसी घटना घटती रहती है। साधक जैसे ही भगवान का होता है वैसे ही कुछ ही दिनों में स्वजनों के मन में भी उसके प्रति आदर का भाव प्रकट होने लगता है। यदि आप भगवान के एक अंश भी हो गये हैं तो कल के दिन सम्पूर्णता से भगवान के होनेवाले हैं। इसलिये सात्त्विक पुरुष आपको संत मान बैठते हैं; किन्तु उनके द्वारा दिये हुए आदर–मान को आपने उनका दिया हुआ मान लिया तो शील–संकोच में आपको व्यवहार में उतर जाना पड़ेगा जो आपके लिये घातक हो जायेगा।

(अभयं सत्त्वसंशुद्धिः.....) रावण के पुत्र प्रहस्त ने अपने पिता का विरोध तो किया किन्तु महात्मा विभीषण की तरह विरोध नहीं कर पाया। इसलिये कि महात्मा विभीषण की अभयता उसमें नहीं आ पायी थी। अतः शील–संकोच एवं भय के कारण से उसने रावण की तरफ से युद्ध किया। प्रायः साधकों के साथ ऐसी घटना घटती रहती है।

मित्रता में यह व्यवहार चलता रहता है कि एक मित्र दूसरे मित्र के विषय में कहता है कि चलो आज उसने मेरी बात नहीं मानी तो कभी मैंने भी तो उसकी बात नहीं मानी थी। इसप्रकार परस्पर में उन दोनों का योग बना रहता है किन्तु साधक ऐसा नहीं करता। उसके जीवनपथ में जो भी काँटे बनते हैं, उनका साथ छोड़ता जाता है। एक संत के शिष्य ने कहा– मैं भी आपके साथ पैदल ही बद्रीनाथ चलूँगा। संत ने कहा–रास्ते में मैं जैसे रहूँगा वैसे ही रहना पड़ेगा। शिष्य ने कहा–ठीक है। शाम हुई, सन्त एक पेड़ के नीचे ठहर गये। शिष्य ने कहा– थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम है यदि वहाँ ठहरते हैं तो प्रसाद भी मिल जायेगा। जैसे ही शिष्य ने आश्रम एवं भोजन की बात की वैसे ही संत ने कहा कि नहीं, नहीं! यहीं ठहरो! मात्र इतना ही कहने से संत रात्रि में सोये हुए शिष्य को छोड़कर चलते बने। साधनपथ में यदि एक अंश भी भय वृत्तिवाला, लोलुप वृत्तिवाला कोई साधक है तो उसे त्याग करने का विधान है। एक साधक ने सुना कि सर्वस्वत्याग करने से ही भगवान मिलता है तो आज से प्रतिज्ञा करता हूँ कि घर नहीं जाऊँगा। जब अपना दोष दिखाई पड़ जाय तो उसको दूर करने के लिये प्रायश्चित तत्काल करना चाहिये। यदि एक अंश भी कहीं आसक्ति है तो भगवान अपने में आसक्त नहीं होता। घर क्यों जायेंगे आप, क्या आप भीरु हैं? जब भगवान ने संन्यासी साधकों के लिए स्पष्ट कह दिया है कि 'नवद्वारे पुरे देही.....' अर्थात् यह नव दरवाजोंवाला शरीर ही घर है जिसमें वह 'न करता हुआ, न करवाता हुआ' सुखपूर्वक रहता है तो फिर बाहर के घर के प्रति कोई कर्तव्य शेष

नहीं रहता।

एक ब्रह्मचर्य के चलते पितामहभीष्म को भगवान ने अपनी झाँकी दिखा दी थी, जिससे वे जान गये थे कि ये साक्षात् भगवान ही हैं। इतना होने पर भी उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं आपका निर्गुण–निराकार रूप भी देखना चाहता हूँ। इसीकारण उनका चित्त आध्यात्मिक नहीं बन पाया। वे ज्ञानी तो थे लेकिन योगी नहीं बन पाये, उन्हें सम्पूर्णता से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया। वहीं पर महात्मा अर्जुन ने जाना कि ये ही सगुण ब्रह्म हैं तो उन्होंने प्रभु से उनके निर्गुण–निराकार रूप के दर्शन की माँग कर दी और सगुण–निर्गुण दोनों रूपों का दर्शन कर लिया। साधक भी जबतक अपने सद्गुरु के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का दर्शन नहीं कर लेता तबतक उसका दर्शन अधूरा माना जायेगा। कल के दिन किसी साधक को लकवा मारता है तो उसे जान लेना चाहिये कि वह सम्पूर्णता से भगवान का नहीं था। जब भगवान वृद्धावस्था में भी संन्यास लेने की बात करता है तो मानो वह संकेत करता है कि तुम वृद्धावस्था की चिन्ता मत करो। तुम्हारे शरीर और मन के साथ ऐसा उत्पात नहीं होगा कि जिससे तुम यह सोचोगे कि आज मैं घर में रहता तो ऐसी दुर्दशा नहीं होती। बहुत से ऐसे साधुवेश धारियों को देखा है महाराज ने जो कि अंतिम चरण में घर को चले गये अपनी सेवा–शुश्रूषा कराने के लिए। एक संत की शिष्या ने अभी–अभी शरीर छोड़ा है; आश्चर्य की घटना है कि जीवनपर्यन्त संन्यास लेकर संत की सेवा की लेकिन अन्तिम चरण में अपने परिवार के लोगों पर दया कर बैठी, बुलाना शुरू कर दिया घरवालों को। अन्ततोगत्वा संत के शरीर छोड़ने के उपरान्त उसे वृद्धावस्था में लकवा मारा, अतः सेवा के लिये घर जाना पड़ गया। वहीं एक दूसरी साधिका थी लगभग सौ वर्ष की किन्तु त्याग वृत्ति से रहने के कारण से वैसी अवस्था में भी उसे सेवा के लिये किसी की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह युवावस्था के जैसा ही योग, जप, तप करती रही और अंत में प्रभु के ध्यान में शरीर छोड़ दिया। एक दोष के चलते आप भगवान के घेरे में नहीं आ पाते; जिसका परिणाम होता है कि भगवान का कोई एक अस्त्र आपके ऊपर चलता है और आप कहीं के नहीं रह पाते। सम्पूर्णता से भगवान आपका रक्षक तभी होता है जब आप पूरी तरह से उसी के होकर रह जाते हैं। जो सम्पूर्णता से भगवान का है, उसमें उपरोक्त मंत्रों में दिये हुए दैवीगुण निश्चितरूप से परिलक्षित होते हैं।

अब प्रभु ने आसुरी पुरुष के लक्षण बताने के दृष्टिकोण से अगले मंत्रों को देना प्रारम्भ किया–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

हे पार्थ! उपरोक्त गुणों के ठीक विपरीत दम्भ, दर्प, अभिमान आदि अवगुण आसुरी पुरुष

के लक्षण हैं। इसीकारण से दैवी सम्पत्ति मोक्ष प्राप्ति में कारण बनती है एवं आसुरी सम्पत्ति बन्धन पर बन्धन देती जाती है। इसलिये कम से कम तुम तो शोक–संताप मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तिवाले ही हो।

महात्मा अर्जुन अपने दैवी गुणों से सम्पूर्णता से परिचित नहीं हैं, जिसके कारण भगवान ने ही उन्हें उनके दिव्य गुणों का परिचय कराया। प्रभु का यहाँ यह संकेत भी है कि दैवी गुणोंवालों के साथ ही ब्रह्म रहता है, इसलिये उन्हें जय–पराजय की चिन्ता क्यों? हनुमानजी को भी अपनी शक्ति का पता नहीं था, जामवंत ने जब याद दिलाया तब उन्हें पता चला। कभी–कभार साधकों के साथ भी ऐसी बात होती है। जब साधन सिद्धि में विलम्ब होता है, पराजय पर पराजय का मुँह देखना पड़ता है; तब वे निराश होकर अपनी दैवी शक्ति को भूल जाते हैं। यह बात अलग है कि सद्गुरु का सानिध्य होने से वह उन्हें उत्साहित करता रहता है। साधक को अपनी दैवी सम्पत्ति की गणना करनी चाहिए कि कौन सी सम्पत्ति उसके पास कितने अनुपात में है। जैसे अज्ञानी अपनी भौतिक सम्पत्ति की गणना में लगे रहते हैं वैसे ही वह अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति का अवलोकन करता रहता है। बारहवें अध्याय में भगवान ने जिन अणुव्रतों का पालन करने को कहा है, उन्हीं व्रतों की यहाँ छाया दिखाई दे रही है। अतः साधक में यदि कोई गुण बहुत न्यून है तो संकल्प द्वारा उस गुण को बढ़ाना चाहिये।

(दैवी सम्पद्विमोक्षाय.....मा शुचः.....) 'हे भारत! दैवी सम्पत्ति तो मोक्ष दिलाती है और आसुरी सम्पत्ति बन्धनकारक होती है, अतः तुम शोक मत करो क्योंकि तुम तो दैवी सम्पत्तिवाले हो।' यह कैसा मधुरयोग है कि शिष्य को अपने दैवी गुणों का पता ही नहीं है और सद्गुरु उसे उसका बोध करा रहा है। प्रभु अपने शिष्य अर्जुन के सामने बहुत बार तो घोषणा कर चुके हैं कि तुम महात्मा ही हो, महात्मा तो जय–पराजय की भावना से ऊपर रहता है और अब एक बार पुनः कह दिया कि तुम्हारे में सम्पूर्ण दैवी गुणों में से कोई एक भी गुण ऐसा नहीं है जो न हो; इससे तुम्हारी मुक्ति तो सुनिश्चित है। ये आसुरी प्रकृति के लोग अब तुम्हें अपने घेरे में ले नहीं सकते। दैवी गुण तो जिसको वरण कर लेते हैं, उसको भीतर–बाहर से मुक्त करके ही मानते हैं। अतः अब तुम शोक–सन्ताप करना छोड़ दो और आगे बढ़ो।

इस मंत्र के द्वारा साधकों को विचार करना चाहिये कि यदि साधनाकाल में शोक–सन्ताप हो गया है तो अपने दैवी गुणों एवं इष्ट पर पूरा का पूरा विश्वास नहीं है। यद्यपि किसी भी साधक के पीछे सद्गुरु यही सिद्ध करने में लगा रहता है कि यदि तुम दैवी गुणवाले नहीं होते तो भगवान की शरण में कैसे जाते? यह शोक–सन्ताप तुम्हारे में कहाँ से आ गया क्योंकि भविष्य की चिन्ता को लेकर आसुरी प्रकृति के मूढ़ पुरुष ही शोक–सन्ताप किया करते हैं? यदि आप अपने से अपने दैवी गुणों की गिनती नहीं कर सकते तो सद्गुरु से गिनती करा लें क्योंकि वह तो अपने सभी शिष्यों के गुण एवं अवगुणों की गिनती करके रखता है। जैसे कुशल किसान अपने सम्पूर्ण खेतों के स्वभाव को जानता है। किस खेत में क्या गुण है, किसमें क्या अवगुण है, उससे वह भलीभाँति परिचित रहता है, तभी तो उन खेतों के अनुरूप ही बीजों को भलीभाँति

बोता रहता है। सारी की सारी मातायें अपने सभी बच्चों के गुण और दोषों को भलीभाँति जानती रहती हैं। अतः आप अपने सद्गुरु पर विश्वास करें और अपनी प्रकृति को उसे समर्पित कर दें।

अगले मंत्र में भगवान कहते हैं–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

हे पार्थ! देवता एवं असुर ये दो प्रकार के पुरुष हैं अर्थात् दैवी प्रकृतिवाले एवं आसुरी प्रकृतिवाले। उनमें से दैवी प्रकृति को विस्तारपूर्वक कह दिया गया है। अब तुम्हें आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यों के गुण एवं स्वभाव को विस्तारपूर्वक जानना चाहिये; जिससे कि तुम उनके संसर्ग से बच सको।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले व्यवहार में कब प्रवृत्त होना चाहिये, उससे कब निवृत्त होना चाहिये, यह तो जानते ही नहीं। वे भीतर–बाहर से अपवित्र, आचारहीन एवं असत्यवादी होने के कारण से इस जगत को भी असत्य प्रतिष्ठावाला कहते हैं। वे कहते हैं कि इस जगत का नियन्ता, जन्मदाता तो कोई है ही नहीं; यह तो परस्पर के संयोग से हुआ है। यह मैथुनी सृष्टि है, इसलिये यह एक मात्र कामसुख भोगने के लिये बनाई गयी है। इसप्रकार वे अशुभ दृष्टिवाले, मंद बुद्धिवाले, मूर्ख, क्रूरकर्मा सबका अनिष्ट करने के लिये ही जगत में जन्म लेते हैं।

(प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च.....) यद्यपि पितामहभीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य ये तीनों ही आसुरी प्रकृति के नहीं हैं; चूँकि आसुरी प्रकृतिवालों के साथ हैं जिनमें प्रवृत्ति–निवृत्ति का बोध है ही नहीं, इसलिए चोरी करने का, झूठ बोलने का, इन्हें दोष लग गया है। चोरी करना, चोर का अनुमोदन करना, झूठ बोलना या झूठ बोलनेवाले का अनुमोदन करना– ये सब एक ही बात है। जब देखा कि नहीं मान रहा धृतराष्ट्र तो महात्मा विदुर ने संन्यास ले लिया। उसीप्रकार जब इनलोगों ने भी देखा कि धृतराष्ट्र इनसे नहीं मान रहा है तो ये लोग भी संन्यास ले लेते– इतनी ही सी तो बात थी। पितामहभीष्म जैसा गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत कोई बड़ा विद्वान, कोई बड़ा ज्ञानवान, कोई बड़ा ब्रह्मचारी तो था ही नहीं लेकिन उनको बहुत जानने का अहंकार हो गया था, वेद–शास्त्रों के ज्ञान का अहंकार हो गया था; उस अहंकार के चलते ही इन्होंने प्रभु से भी पूछना उचित नहीं समझा कि क्या उचित है क्या अनुचित है। स्वयं वे देख रहे थे कि बड़ा भारी

छल किया है दुर्योधन और कर्ण ने कि बलराम जैसे महारथी को इस युद्धभूमि में नहीं आने दिया तो भी ये लोग पाण्डवों के विपक्ष में खड़े हुए। बलरामजी ने कहा था भगवान से कि तुम युद्ध कराके मानोगे क्या? तो प्रभु ने कहा था कि युद्ध तो होकर रहेगा। तब उन्होंने कहा कि फिर मैं इस युद्ध में नहीं रहूँगा, संन्यास ले लूँगा। तब प्रभु ने कहा– जाओ संन्यास ले लो लेकिन युद्ध तो होकर रहेगा। ऐसा सुनकर बलरामजी ने संन्यास ले लिया। ठग लिया था गुरु बनाकर बलराम को दुर्योधन ने। गदायुद्ध की कला सीखने के लिए, मल्लयुद्ध की कला सीखने के लिए, उन्हीं की शरणागति स्वीकार कर ली थी उसने। उनके जैसा उस समय गदायुद्ध का सम्पूर्ण ज्ञाता तो कोई था ही नहीं, छल द्वारा सेवा करके उसने प्रसन्न कर लिया था। पूछा था दुर्योधन ने बलराम जी से कि गुरुदेव! यदि युद्ध होकर ही रहा तो उस अवस्था में आप क्या करेंगे? क्या आप अपने शिष्य के विपक्ष में खड़े होंगे? बलरामजी ने कहा था– नहीं वत्स! तुम्हारे विपक्ष में कहाँ खड़े होंगे, यदि वह कृष्ण नहीं मानेगा तो मैं न तो तुम्हारे पक्ष से खड़ा होकर युद्ध करूँगा, न अर्जुन के पक्ष से बल्कि मैं तो संन्यास ले लूँगा। भोले–भाले बलरामजी को इनलोगों ने संन्यासी बना दिया था, इतना होने पर भी इन्हीं आसुरी प्रवृत्तिवाले नराधमों का साथ ये पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि दे रहे थे। इस एक दोष के कारण से उनलोगों का चित्त आध्यात्मिक नहीं हो पाया था। पितामहभीष्म ने तो सगुण को निर्गुणरूप में उतारने की कामना भी नहीं की थी; जबकि वे जानते थे कि भगवान का सगुणरूप जानेवाला है, अतः जानेवाले से न जानेवाले रूप को उन्हें जान लेना चाहिए था, तब उनके जानने की सार्थकता होती। सगुण साकाररूप में यदि अपना इष्ट सामने आया तो निर्गुण–निराकार के लिए उसी के द्वारा प्रयत्न कराना चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(असत्यमप्रतिष्ठं ते.....) दो प्रकार के पुरुष होते हैं– आसुरी एवं दैवी। आसुरी कहते हैं कि आखिर ये भोग बनाये क्यों हैं? यदि हम नहीं भोगेंगे तो पशु–पक्षी आकर भोगेंगे क्या? वाममार्गी होते हैं वे। ऐश्वर्य भोगने के लिए ही तो मनुष्य जन्म मिला हुआ है तथा इस संसार की तो प्रतिष्ठा है ही नहीं। भगवान को किसने देखा, जो मरके चला गया वह कहने नहीं आता और जो है वह कुछ जानता ही नहीं है; अतः झूठे शास्त्रों पर क्या विश्वास करना। किसी ने कहा था कि जो आत्मज्ञानी हो गये वे तो कहने आयेंगे ही नहीं। महाराज उनसे पूछता है कि वे गूँगे हो जायेंगे क्या? जो उनलोगों ने कहा है– शास्त्रों, वेदों, पुराणों में वह गूँगा होकर कहा है क्या? चलो जब वे शास्त्रों, पुराणों की ही बात नहीं मानेंगे तो भगवान की बात क्या मानेंगे– 'चलत कुपन्थ वेद मग छाड़े'। वे आसुरी प्रकृति के पुरुष काम के ही दास होते हैं। अतः कहते हैं 'अपरस्परसम्भूतं'– पुरुष और स्त्री के परस्पर के संयोग से ही पुरातन संस्कृति चली आ रही है। मनु और शतरूपा को तो देखो, यदि शास्त्र की ही बात देखी जाए तो सब तो उन्हीं की ही सन्तान हैं, क्या उन्होंने राज्य नहीं भोगा? इत्यादि, इत्यादि बहुत से अनर्गल अलाप–प्रलाप करते हैं।

(प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च.....) अभी एक आश्रम में भाग कर आये हुए साधक के पिता एवं भाई–बान्धव आये और कहने लगे कि भजन करने की यही अवस्था है? चलो नहीं तो हाथ–पाँव

तोड़ देगें। भगवान को किसने देखा, जो तुमको बता देगा कि भगवान यही है; जो मरकर गया, वह क्या कहने आता है? यदि सब साधु ही बन जायेंगे तो फिर सृष्टि का क्या होगा? तेरे जैसे बालक को भगवान मिलेगा? काम करने के भय से आकर साधु बने हुए हो! तेरे जैसे हिजड़ों से ही भारत देश आज गरीब हो गया है। ये सारी सम्पत्तियाँ बनायी क्यों गयी हैं? क्या इनका उपभोग पशु–पक्षी करेंगे? क्या राजर्षिगण गृहस्थाश्रम में संत नहीं थे? अरे मूर्ख! राजा जनक तो गृहस्थाश्रम में ही थे जिन्होंने शुकदेव जैसे को अपना शिष्य बना लिया था। यदि तेरी दृष्टि में संन्यासी ही श्रेष्ठ है तो फिर वे राजा जनक के पास क्यों गये? किसी संन्यासी को गुरु क्यों नहीं बनाया? अतः मूर्खता छोड़ो। हमने जन्माया, पाल–पोस कर बड़ा किया, तुम्हारे लिये गधे जैसा बोझ ढो–ढो कर मर–मर गये, उस ऋण को कौन उतारेगा? इतने सस्ते में हम तुम्हारे को कैसे छोड़ देंगे। ऐसा कहकर उसे मारते–पीटते लेकर चले गये। इतना ही नहीं–

(एतां दृष्टिमवष्टभ्य.....) वे मूर्ख, अज्ञानी जगत के नाश के लिए ही किसी भी प्रकार का यत्न करते रहते हैं। जो भी प्रक्रिया उनसे होती है उसमें उनका तो हित होता नहीं तो दूसरे का क्या होगा!

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

वे दम्भी, पाखण्डी, अभिमान और मद से चूर, उन–उन कामनाओं में विचरण करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण हो ही नहीं सकतीं तथा मनः कल्पित सिद्धान्तों को ग्रहण किये हुए, भ्रष्ट आचरणों को धारण करके, मरते दम तक असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लिये हुए; खाओ–पीओ मौज करो, यही तो स्वर्ग है– ऐसा माननेवाले, असंख्य कामनाओंरूपी फाँसियों में फँसे हुए काम–क्रोधरूप विषयभोगों को भोगने के लिये अन्यायपूर्वक धन उपार्जन करते रहते हैं। वे अन्यायपूर्वक धनोपार्जन कर सोचते हैं कि आज मैंने तो यह प्राप्त कर लिया और आगे भी सम्पूर्ण संकल्पों को पूरा कर ही लूँगा। आज मेरे पास हजारों हैं तो कल मैं अरबपति हो ही जाऊँगा। जब मैंने इन शत्रुओं को मार डाला तो अन्य शत्रुओं की बात ही क्या है। जिसके पास

शक्ति है वही भगवान है– इस न्याय से मैं ईश्वर ही सम्पूर्ण सिद्धियों से युक्त सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को भोगनेवाला सबसे बलवान एवं सबसे सुखी हूँ। इतना ही नहीं–

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

वे मूर्ख अपने सामने किसी को धनवान एवं कुटुम्बवान नहीं समझते हैं। यहाँ तक कि मान–सम्मान की कामना से वे यज्ञ, दान, तप करने से भी नहीं चूकते। इसप्रकार वे मूर्खतारूप मोह के कारण भ्रमित हुए चित्तवाले विषय में ही आसक्त होने के कारण से अपवित्र नरकों में जाते हैं। वे अपने आपको ही सर्वश्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी, धन एवं मान के मद में मतवाले हुए, नाममात्र के यज्ञों द्वारा दिखावे के लिए शास्त्रविधि से हीन यज्ञ भी करते हैं। वे अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध आदि के आश्रित हुए सबकी निन्दा करनेवाले अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से द्वेष करनेवाले होते हैं।

भगवान ने इन मंत्रों में आसुरी प्रकृति के पुरुषों के जो अवगुण दर्शाये हैं, वे सबके सब दुर्योधन में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मानो वे कह रहे हों कि इस पापात्मा ने कर्ण, पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि को अपने पक्ष में पाकर यह घोषणा कर दी है कि मेरे जैसा धनवान एवं बलवान कौन है। यह सब कहने का कारण यह भी है कि अर्जुन यह जान लें कि स्वजन के रूप में ये सब असुर ही उसके सम्मुख उपस्थित हैं। इस दुरात्मा दुर्योधन ने ढोंगपूर्वक शकुनि के कहने से दुर्वासा ऋषि की भी आडम्बरयुक्त सेवा की थी। अब वह सोच रहा है कि विजय प्राप्त कर मैं एक ऐसा विश्वजीत यज्ञ करूँगा कि जगत के लोग देखते रह जायेंगे। वह मूर्ख ऐसा भी समझ बैठा है कि पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा आदि जैसी मेरी असंख्य भुजायें हैं, जिनका सामना करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। वह समझता है कि जिस पितामहभीष्म ने अपने गुरु परशुराम जी से लोहा लिया था, जिन्होंने २१ बार भूपालों का दमन कर सम्पूर्ण धरा को ब्राह्मणों को दान कर दिया था– वे भगवान परशुराम इन्हें पराजित न कर पाये थे; फिर इस भुजा के रहते मेरा बाल बाँका कौन कर सकता है।

प्रभु ने पैनीदृष्टि से अन्तिम चरण में महात्मा अर्जुन के चित्त को अपनी ओर खींचा है। उनका एकमात्र उद्देश्य यह है कि अर्जुन सर्वप्रथम स्वयं को पहचाने, फिर इन असुरों को

पहचाने। कहीं ऐसा न हो कि युद्ध के मैदान में इन असुरों के द्वारा छल, कपटमय आदर्श व्यवहार को देखकर यह ठगा जाय।

एक साधक ने प्रश्न किया कि यहाँ आपने छल–कपट को आदर्श छल–कपटमय व्यवहार की संज्ञा क्यों दी? हाँ! इसलिये कि भगवान भविष्यद्रष्टा भी हैं जो जानते हैं कि युद्ध के मैदान में इन असुरों द्वारा स्वांगयुक्त आदर्श व्यवहार हो सकता है। जैसा कि आप सभी जानते हैं, ऐसा हुआ भी है। जब कर्ण ने देखा कि पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य जैसे महारथी धराशायी हो गये, तब मेरी क्या बिसात (सामर्थ्य) है। इसलिये उसने धर्म की दुहाई देनी प्रारम्भ कर दी। पहले दिन सन्ध्या में अर्जुन का वध करने से यह कहते हुए मना कर दिया कि जाओ! आज भगवान सूर्य ने तुम्हारी रक्षा कर ली, कल युद्ध की कला सीख कर आना। वह जानता था कि भले ही मैंने अर्जुन को वध करने योग्य घेरे में ले लिया है किन्तु भगवान मधुसूदन इसकी रक्षा करने से चूकेंगे नहीं; क्योंकि वह सुन चुका है कि भगवान, पितामहभीष्म पर अर्जुन की सुरक्षा हेतु रथ का चक्का (पहिया) लेकर दौड़ पड़े थे। इन्होंने प्रतिज्ञा तो की है कि मैं अस्त्र नहीं उठाऊँगा लेकिन ये कहने से नहीं चूकेंगे कि चक्र कोई अस्त्र नहीं है। इसलिये उसने सोचा कि जिसप्रकार आज मैं अर्जुन का वध करने से मना कर रहा हूँ तो ऐसा अवसर आने पर अर्जुन भी मेरा वध करने से मना कर देगा। वही हुआ भी– दूसरे दिन वह अवसर उपस्थित हो ही गया। जब उसके रथ के दोनों चक्के धरती में धँस गये तो उसने धर्म की दुहाई दे डाली और कहा कि अर्जुन! तुम आदर्श युद्ध करो। तुम्हारा वध मैं कल कर सकता था किन्तु युद्ध के नियमानुसार मैंने तुम्हें छोड़ दिया था। अर्जुन सचमुच ही ठहर गये, यह बात अलग है कि सर्वज्ञ भगवान ने धर्म के गूढ़ात्मक रहस्यों को खोलकर अर्जुन को ललकारा और यह भी कहा कि ये सब नराधम वीरोचित मृत्यु के अधिकारी नहीं हैं। छलियों को तो छल से ही मारना चाहिये।

साधकों के लिये भगवान मानो यह सन्देश दे रहे हैं कि भक्तिपथ में आते समय अथवा संन्यास लेते समय जिन साधकों के माता–पिता, भाई–बान्धवों ने घोर विरोध किया हो, उन साधकों को यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि वे निश्चितरूप से आसुरी प्रकृतिवाले ही हैं और यह समझ उनके प्रति तबतक रखें जबतक कि वे अपने साधनपथ में सफल नहीं हो जाते अथवा जबतक अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लेते। अन्यथा एक बार वे द्वेषपूर्ण व्यवहार से साधनपथ में बाधा बन रहे थे तो दूसरी बार वे प्रेमपूर्ण व्यवहार से बाधा बन जायेंगे। वे मूढ़मति उस भक्त बालक या साधक को भी अपनी प्रतिष्ठा का विषय बना लेंगे। पिता एवं भाई–बान्धवों तथा सगे–सम्बन्धियों द्वारा साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने पर साधक भुलावे में आ सकता है। वह प्रमादवश ऐसा सोचने के लिये विवश भी हो सकता है कि हे मन! अब इनके अपराध को क्षमा करो, मेरे से तो ये ही विशेष भगवद्भक्त लग रहे हैं; क्योंकि अभी तो मैं सिद्ध भी नहीं हुआ हूँ और ये भगवान जैसी मेरी पूजा करने लगे हैं। अतः इनसे उदासीन होने की क्या आवश्यकता है, मैं इनलोगों के साथ ऐसा व्यवहार करूँ कि इनलोगों का भी उद्धार हो जाये? ऐसा सोचते ही, उस साधक की उनमें आसक्ति होनी अवश्यम्भावी है, अतः उसका घोर पतन होने से कोई रोक नहीं सकता।

आज से लगभग ४५–५० वर्षों पूर्व एक व्यक्ति ने संन्यास ले लिया था। दो–चार वर्षों के उपरान्त जब घर–गाँववालों को पता चला तो उनकी तपस्थली पर जाकर उनकी खूब पूजा–पाठ, सेवा–शुश्रूषा करने लगे और प्रार्थना की कि गाँववाले आश्रम पर ही आप अपना जप, तप, योग करते तो हम सबका भी उद्धार हो जाता। वे बाबा अति प्रसन्न हो गये और गाँववाले आश्रम पर रहने लगे। नित्यप्रति गाँववाले उनकी आरती उतारते लेकिन कुछ ही महीनों में बाबा अपने भाइयों से बँटवारा करने चल पड़े। इतना ही नहीं, उन्होंने घर गाँव के प्रति क्या–क्या दुर्व्यवहार किया वह लिखने योग्य नहीं है। अन्ततोगत्वा घर एवं गाँववालों ने उन्हें पत्थरों से मारकर भगा दिया। घी, धूप, नैवेद्य से पूजन करनेवालों ने पुनः पत्थरों से पूजा की। उन्हीं घर–गाँववालों ने संन्यास लेते समय उनका विरोध किया था लेकिन उन गाँव–घरवालों की असुरता बाहर आ गयी और पत्थरों के द्वारा उन्हीं लोगों ने पुनः संन्यासधर्म की दीक्षा दे दी अर्थात् उन्हें गाँव से भगाकर यह संकेत दिया कि संन्यासी साधक को गाँव–घर नहीं आना चाहिए।

महाराज को एक घटना याद आती है– चोरों की मण्डली में से एक चोर ने संन्यास ले लिया। एक रात्रि अपने मित्रों से छिपकर एक संत के पास चला गया। चोरों ने सोचा कि यह हमलोगों की पोल तो खोल ही देगा, अतः वे बड़ा आदर–मान देकर पुनः उसे वनप्रदेश में लाये और यह कहते हुए उसे गोली से उड़ा दिया कि 'सब चूहे खाकर बिल्ली हुई भगतिन'। वे सैकड़ों आशारूपी पाशों से बँधे हुए काम एवं भोग में आसक्त होने के कारण से भगवद्भक्तों की हँसी करते रहते हैं। वे कहते हैं कि जितने भी साधु हैं, वे कामचोर हैं; पूड़ी, हलवा, खीर कचरते (खाते) रहते हैं। वे खाते तो किसी गृहस्थ का ही हैं कि आकाश से खाते हैं? यदि गृहस्थ न रहे तो ये सारे के सारे भूख से तड़प–तड़पकर मर जायेंगे। वे सदा ही काम, क्रोध, लोभ के दास, अशुभ दृष्टि एवं व्यवहार के कारण से बार–बार अधम योनियो में ही जाते रहते हैं। वे सूअर, सर्प, बिच्छू, गधे, शृगाल, कुत्ते आदि अपवित्र योनियों में जन्म लेते हैं।

(.....पतन्ति नरकेऽशुचौ) इस मंत्र में भगवान ने पवित्र एवं अपवित्र दो नरकों का संकेत किया है। भगवान वैसी विषम परिस्थिति में भी विनोद करने से नहीं चूकते। जैसे ही प्रभु ने कहा कि वे अपवित्र नरकों में गिरते हैं, वैसे ही अर्जुन ने मूक प्रश्न किया कि हे प्रभु! नरक भी पवित्र एवं अपवित्र होते हैं क्या? भगवान ने कहा– पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे आदि तो अपवित्र नरकवाले हैं हीं किन्तु जिसे तुम गृहस्थाश्रम कहते हो वह एक पवित्र नरक ही है। जो माता–पिता अपने बाल–बच्चों, स्वजनों, सगे–सम्बन्धियों के लिये ही गधे जैसा बोझ ढो–ढोकर कमाते रहते हैं; वे पवित्र नारकीय प्राणी ही तो हैं। इतना ही नहीं जो भी आसुरी प्रकृतिवाले हैं, वे जिस घर में वास करते हैं वह घर पवित्र नरक ही है और वे उसके प्राणी हैं। इतना जान लेना चाहिये कि जो पवित्र नारकीय प्राणी हैं, वे ही अपवित्र नरक में जाया करते हैं।

(अहङ्कारं बलं दर्पं.....) अहंकार क्या है, बल क्या है, दर्प, काम एवं क्रोध क्या है? जिसके आश्रित रहते हुए वे अपनी आत्मा का हनन करते रहते हैं? इसके उत्तर में भगवान कहते

हैं– कुटुम्ब, परिवार ही उनका अहंकार है। दुःशासन एवं कर्ण जैसा अथवा रावण के परिवार जैसा कुटुम्ब ही उनका बल है, अर्थात् उन असुरों की हाँ में हाँ मिलानेवाले ही उनके बल हैं, सदा सज्जनों को बुरा कहना ही उनका बल है, अशिष्टता ही उनका बल है तथा निर्लज्जता ही उनका बल है। इसी बल के कारण वे घमण्ड के मद में चूर–चूर रहते हैं। स्त्री उनका काम है, वैरी उनका क्रोध है। वे बिना व्यभिचार दोष के नहीं रह सकते और न ही बिना क्रोध के रह सकते हैं। उनके अहंकार की तृप्ति के लिये कोई न कोई निर्बल पुरुष उनके क्रोध का शिकार होने के लिये होना चाहिये। राक्षसराज रावण की अहंकारमय भाषा पर थोड़ा ध्यान दें।

दो०– कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि।।२७।।

सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई।।
नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु सब कीसा।।
मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा।।
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा।।
दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप सुजस खल मोहि सुनावा।।
जौं पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुन गाथा।।
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।।
हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू।।

दो०– सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस।।२८।।

जरत बिलोकेऊँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला।।
नर कें कर आपन बध बाँची। हसेऊँ जानि विधि गिरा असाँची।।
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरें। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें।।
आन बीर बल सठ मम आगें। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागें।।
(लंकाकाण्ड, श्रीरामचरितमानस)

यद्यपि ये कामी, क्रोधी, लोभी एवं अहंकारी मूलतः डरपोक होते हैं किन्तु बाहर में अभय होने का स्वाँग रचते हैं। वे ओलों की भाँति होते हैं– ओला अपने तो गलता ही है, फसल को भी गलाता है। वे अपने व्यवहार से ही भक्तों सहित अन्तर्यामी ब्रह्म को भी दुःख पहुँचाते रहते हैं।

भगवान ने उपरोक्त मंत्रों में लगभग ५५–६० आसुरी गुणों का उल्लेख किया है। साधकों को इस पर विचार करना होगा, अपने एवं अपने संसर्ग में रहनेवालों के गुण–दोषों पर बारीकी से ध्यान देना होगा तभी वे इन मायावी असुरों से मुक्त हो सकतें हैं। यदि कोई कहता है कि हमें तो अवगुण देखने का अधिकार नहीं है तो ऐसी बात नहीं है। गुण–दोष का विभाग करने

के लिये तो हमें गुण–अवगुण पर दृष्टिपात करना ही होगा, कपड़े से कुर्ता बनाने के लिये कपड़े की काट–छाँट करनी ही होगी।

सन् १९८३ में महाराज ने एक साधक को संध्या में कार्य करने से मना किया। उसके नहीं मानने पर महाराज के गुरुदेव ने उसे आश्रम से जाने को कह दिया। अन्ततोगत्वा वह महाराज का विरोधी हो गया और चार वर्ष पश्चात् अत्यन्त दुर्गति के साथ प्रभु को प्यारा हो गया।

साधक का प्रत्येक व्यवहार देखा जायेगा; वह कितना सजग है, कितना सावधान है। बिना छेड़े तो यह पता चलेगा नहीं। प्रथमावस्था में जो साधक संध्या में ही १५ मिनट नहीं बैठ पाता तो वह २४ घण्टे को कैसे पकड़ सकता है? उस साधक को विचार करना होगा कि कहीं आसुरी वृत्तियाँ मेरी साधना में बाधक तो नहीं बन रही हैं। आसुरी वृत्ति चाहे भीतर से प्रकट हो, चाहे बाहर से प्रकट हो, इन दोनों से ही अनासक्त होना होगा। इसप्रकार प्रभु ने आसुरी प्रकृतिवाले पुरुषों का लक्षण देकर, उनलोगों के प्रति वे (प्रभु) क्या व्यवहार करते हैं, उनके ही श्रीमुख से सुनें–

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय! उन पापाचारी मूर्खों को मैं बारम्बार आसुरी योनियों में ही डालता रहता हूँ। इतना ही नहीं, वे मेरे द्वारा प्राप्त हुई आसुरी योनि से नीच से नीच अति नीच गति को अर्थात् घोर नरक को प्राप्त होते रहते हैं।

अबतक पुराणों एवं शास्त्रों तथा बुद्धिमानों से यही सुना गया है कि पाप का परिणामरूप फल नरक मिलता है और पुण्य का फल स्वर्ग अर्थात् पाप नरक में ले जाता है एवं पुण्य स्वर्ग देता है, किन्तु भगवान मानो कह रहे हैं कि ऐसा नहीं है, पाप और पुण्य तो एक शक्ति हैं, उन शक्तियों को संचालन करनेवाला शक्तिमान भी तो कोई होगा? वह शक्तिमान मैं ही हूँ। जो मेरी आज्ञानुसार पाप–पुण्य नहीं करता, मैं उसी को नरक देता हूँ। जो मेरी आज्ञानुसार ही भले–बुरे कर्मों को करता है, उसको तो स्वर्ग–नरक के बदले मैं ही मिल जाता हूँ। यदि पापियों का पाप उन्हें नरक ले जाता है फिर तो महर्षि वाल्मीकि तो महापापी थे, उन्हें तो घोर नरकगामी होना चाहिये था, किन्तु नरकगामी होना तो दूर वे भगवद्स्वरूप ही हो गये। इसलिये कि जब उन्होंने पाप–पुण्य की परिभाषा जान ली, तब पुनः घोर अत्याचार नहीं किया। अनजाने में किये हुए दुष्कर्मों का परिणाम बच्चे को कहाँ मिलता है। छोटा बालक पिता की जेब से मिठाई के लिये चोरी कर लेता है; वह इतना ही जानता है कि पिताजी देख लेंगे तो पिटाई करेंगे। वह यह नहीं जानता कि चोरी करने से पाप लगता है। अतः पिता उसे चोरी करते हुए देख लेने पर भी विशेष दण्डित नहीं करता, बल्कि थोड़ा डाँट–फटकार लेता है। उसीप्रकार जो जानते हुए भी भगवान

अथवा सद्गुरु की आज्ञानुसार नहीं चलते, उन्हें फिर भगवान नरकगामी बनाता ही रहता है। भगवान का मानो यहाँ संकेत है अर्जुन के लिये कि यदि तुम मेरी आज्ञानुसार इस धर्मयुद्ध को नहीं करते हो, स्वजनवधरूप पाप नहीं करते हो तो, तुम भिक्षाटन करके भी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। स्वजनवधरूप पाप तो तब लगता जब वे आसुरी प्रकृति के नहीं होते। अपने में शक्ति–सामर्थ्य हो तो आसुरी प्रकृतिवालों का दमन करना महापुण्य हो जाता है। परशुरामजी ने विलासी क्षत्रियों का बहुत बार वध किया है, फिर भी उन्हें पाप लगना तो दूर बल्कि शक्तियाँ उन्हें वरण कर लेती हैं।

पाप तो सभी करते हैं, झूठ–चोरी, छल–कपट सब करते हैं, सब अपने को सतानेवाले को सताते हैं; किन्तु जब भगवान किसी को दण्ड देने को कहे तो ज्ञानी बन जाते हैं। वे कहते हैं– हम तो ऐसे हैं ही, गुरुदेव भी ऐसा ही सिखा रहे हैं! आये दिन लोग अपने माता–पिता, बाल–बच्चों के लिये झूठ बोलते देखे जाते हैं किन्तु जब संत ही धर्म के लिये झूठ बोलने की आज्ञा दे तो कहते हैं– आप संत हैं तो भी झूठ बोलने के लिये कह रहे हैं?

लखीमपुर खीरी (उत्तरांचल) से आये हुए अनूप नामक साधक से उसके गुरुजी ने कहा कि तुम्हारे पिता एवं उनके सहयोगी आये हैं यदि तुम उनके साथ नहीं जाना चाहते हो तो कहीं छिप जाओ। वह साधक अपने लोगों से छिपते हुए भाग कर आया था लेकिन जब संत ने कहा तो छिप न पाया। अब कोई सामान्य साधक रहेगा तो कहेगा– देखो ये संत किस काम के हैं, जो छिपा रहे हैं? असुरों से कब छिपना चाहिये, कब उनके सामने आना चाहिये– इसे भगवान ने स्वयं करके दिखाया है। भगवान को प्राप्त करने के लिये चाहे जिससे जो भी छल–कपट करना पड़े, वह छल–कपट में नहीं आता। सारे संत व्यवहार जगत में छिप कर रहते हैं किन्तु उनके छिपने का पाप तो उन्हें लगता ही नहीं।

(तानहं द्विषतः क्रूरान्.....) उन असुरों को जो संतों एवं साधकों के घोर निन्दक होते हैं; मनमाना व्यवहार करनेवाले होते हैं, उन्हें प्रभु बारम्बार नरकगामी बनाता रहता है। यदि वे आसुरी व्यवहार नहीं छोड़ पाते तो उन्हें बार–बार असुर ही बनाता रहता है। ऐसे लोगों से दूर रहने के विषय में ही कहा गया है–

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।

कोई असुर पति, पत्नी से कहता है कि तेरे लिये तो मैं ही भगवान हूँ, तेरे लिये तो पतिव्रत धर्म ही धर्म है। कोई साध्वी पत्नी कहती है– वही पति पूजनीय होता है, जो भगवान को मानता और जानता है। नास्तिक एवं पापकर्मा पति भगवान नहीं राक्षस होता है। बात तो वह सही कह रही है, आजतक कितनी माताएँ पतिव्रता हो गयी हैं? सब मातायें तो पति की सेवा कर ही रही हैं लेकिन जीवन पर्यन्त उनमें पतिव्रता भाव नहीं आ पाता। हाँ, यदि पति भगवत्व्रता होता तो वह निश्चित ही पतिव्रता होती। वैसे ही अगर माता–पिता भगवत्व्रता होते तो पुत्र–पुत्री निश्चित ही मातृ–पितृव्रता होते। जब माता–पिता ही काम–क्रोध, लोभव्रता हैं तो पुत्र भी तो काम–क्रोध

एवं लोभव्रता ही होंगें, इसलिये भक्तों एवं साधकों को सावधान रहना चाहिये। कहीं अर्जुन जैसे शील–संकोच में आकर सद्गुरु को ही ज्ञान न देने लगे और आसुरी प्रकृतिवालों से सदा–सर्वदा बचते हुए, तबतक साधन–भजन करते रहे, जबतक कि उनका लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता। अब भगवान पुनः चेतावनी के स्वर में बोल रहे हैं–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे पार्थ! काम, क्रोध एवं लोभ– ये ही तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, जो अपना नाश करनेवाले हैं। इनको सदा–सर्वदा के लिये त्याग देना चाहिये। इन तीनों से भलीभाँति मुक्त हुआ पुरुष ही भगवत् आचरण करता हुआ परमगति को प्राप्त होता है।

(कामः क्रोधस्तथा लोभः.....एतैर्विमुक्तः.....) आपलोग अपने–अपने घर की कहानी जब सुनाते हैं तो बस हृदय ही बैठ जाता है। काम, क्रोध, लोभादि की मार के कारण सभी अपनी बहू से, अपने बेटे से, अपनी माँ से, अपने पिता से, अपने स्वजनों अथवा परिजनों से पीड़ित हैं। इसी कारण आपकी स्मृति छिन्न–भिन्न हो गई है, देवी–देवता दुःखी हो गये हैं, भगवान तो दुःखी हो ही गया है। धन की मार से तो आप पहले ही दुःखी रहते हैं, दैवी सम्पत्ति नहीं होने के कारण से सम्पूर्ण प्रतिष्ठा भी चली जाती है, जिससे आप दुःख पर दुःख भोगते रहते हैं। संत के पास जाकर आप कहते हैं कि आप मेरे बच्चे को मेरे योग्य बना दें, मेरी बहू को मेरे योग्य बना दें, मेरी माँ को मेरे योग्य बना दें, मेरे पिता को मेरे योग्य बना दें, मेरे हित–मित्रों को मेरे योग्य बना दें। कोई अपवाद होगा जो कहेगा कि पहले मैं भगवान के योग्य हो जाऊँ, फिर किसी को अपने योग्य देखूँगा लेकिन जबतक काम, क्रोध तथा लोभ का त्याग नहीं करेंगे तबतक भगवान के योग्य आप होंगे कैसे? बनारस के चतुर्वेदी कहते हैं कि गुरुदेव मैं भगवान से कुछ माँगता ही नहीं, बहुत से भक्त भी ऐसा कहते हैं कि मैं भगवान से तो कुछ माँगता ही नहीं। महाराज कहता है कि यदि नहीं माँगते हैं भगवान से आप, तो मूर्खता करते हैं। जब काम–क्रोध आपका पीछा कर रहे हैं तो आप प्रभु के पास निष्कामी क्यों बनते हैं? ढोंग क्यों करते हैं आप नहीं माँगने का? भगवान से नहीं माँगेंगे तथा देवता (संस्कार) कुपित ही हो गये हैं तो समाधान कैसे होगा जीवन का। भक्त सुदामा बनने को राजी नहीं हैं आप जबकि सुदामा की माँग को माँग नहीं कहा जाता। जब उनको माँगने की कामना नहीं रह जाती तब धर्मपत्नी की बार–बार प्रताड़ना करने से, उलाहना देने से वे भगवान के पास जाते हैं; यही कारण है कि भगवान से अर्थ माँगने के उपरान्त भी उनकी भक्ति नहीं जाती। इसप्रकार आप सुदामा बन नहीं सकते; क्योंकि माँग नहीं सकते, देवशक्ति आपके साथ है नहीं, विरासत में पिता की अक्रोधता आपके पास है नहीं, तो माँगेंगे क्यों नहीं आप? क्रोध की मार से मन बोझिल हो ही जाता है, शोक–सन्ताप हो ही जाता है, तो माँगेंगे क्यों नहीं? क्यों निष्कामी बन जाते हैं आप? वन में

जाकर साधु झोपड़ी बनाता है, गुफा की अपने–आप ही सफाई करता है। इसप्रकार वन–प्रदेश में भगवान की जगह में ही रहता है कि आकाश में जाकर रहता है? भगवान का ही जल पीता है कि वह जल का निर्माण करता है? यह माँगना नहीं हुआ तो क्या हुआ? भगवती मीरा, भगवद्भक्त सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास तथा अन्यान्य साधक–संतों के पदों में आप देखें कि वे काम, क्रोध तथा लोभ को मारने के लिए भगवान से कितनी प्रार्थना करते हैं। तो क्या वे निष्कामी नहीं थे! भगवान कहता है कि माँगो–माँगो मेरे से माँगो। महाराज एक गूढ़ बात फिर से कहता है– आपके पास देवताओं का काम, क्रोध, लोभ है, असुरों का काम, क्रोध, लोभ है, गन्धर्व–किन्नरों का काम, क्रोध, लोभ है, यक्ष–राक्षसों का पशु–पक्षियों का काम, क्रोध, लोभ है; जबकि काम, क्रो ध, लोभादि आसुरी सम्पत्ति हैं। आप इस बात को जान लें कि उसी आसुरी सम्पत्ति से आपकी दिशायें चारों तरफ से बंद हो गई हैं, लाज जाने को है। जब आप अपने काम, क्रोध, लोभादि को भगवान को समर्पित करते हैं अर्थात् भगवान को दे देते हैं अथवा भगवान के लिए त्याग कर देते हैं तो वही काम, क्रोध, लोभ भगवत् सम्पत्ति बन जाता है, जो आपके लिए समयानुसार शक्ति का काम करता है। आपने सुना होगा कि एक बूँद गंगाजल में यदि असंख्य बूँद सामान्य जल डाल दें तो वह गंगाजल हो जायेगा, असंख्य वर्ष उसमें सड़ाँध नहीं होगी लेकिन यदि असंख्य सामान्य जल की बूँदों में कुछ बूँद गंगाजल डाल दिया जाए तो वह गंगाजल नहीं बन पायेगा, कुछ ही दिनों में उसमें सड़ाँध हो जायेगी। यही बात काम, क्रोध, लोभ भगवान को देने की है। अकामी, अक्रोधी और अलोभी यदि भगवान में अपना सम्पूर्ण काम, क्रोध तथा लोभ समर्पित कर दें तो वह अकामी, अक्रोधी और निर्लोभी बन जाता है। अतः ये मंत्र कहते हैं कि भगवान से आप काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होना माँगें। यदि आप ऐसा कहते हैं कि मैं भगवान से क्यों माँगू, क्या भगवान नहीं जानते? तो ध्रुव ने भी ऐसा कहा था कि हे प्रभु! आप तो अन्तर्यामी हैं, मैं आपसे क्या माँगू? तो भगवान ने कहा था– अन्तर्यामी हूँ तो भी तो आपको वाणी से कहना ही पड़ेगा। क्या लज्जा लगती है माँगने में, कहने में संकोच होता है? इसप्रकार जहाँ माँगना चाहिए वहाँ पर लज्जा लगती है और जहाँ पर लज्जा लगनी चाहिये माँगने में वहाँ माँगने पर नहीं देने पर छीना–झपटी भी कर लेते हैं। माता–पिता की सम्पत्ति चुरा लेते हैं, गुरु एवं मित्र की सम्पत्ति चुरा लेते हैं। इसलिए भगवान ने कहा– इसका एकमात्र कारण है काम, क्रोध, लोभ, मोह; जिसको आप चाहें तो त्याग सकते हैं। जो भगवान को चाहता है, उसके लिए काम, क्रोध, लोभ आदि तत्त्वों से मुक्त होना चाहता है तो उसे मुमुक्षु कहते हैं। जो संसार को चाहता है उसे जीव कहते हैं, क्षुद्र प्राणी कहते हैं, जो पाप (काम, क्रोध, लोभ, मोह) से बँधा हुआ है उसे पशु कहते हैं, जो सात्त्विक शक्ति से बँधा हुआ है उसे देवता कहते हैं तथा जो ज्ञानमय हो गया है उसे आत्मा कहते हैं; इसलिए आप भगवान की आज्ञा का पालन करें।

(एतैर्विमुक्तः कौन्तेय.....) इसप्रकार काम, क्रोध, लोभ जो तीनों ही नरक के द्वार हैं, उनसे अच्छी प्रकार विमुक्त हुआ पुरुष श्रेयमार्ग का अनुसरण करता है और परमगति को प्राप्त कर जाता है।

प्रेय और श्रेय, ये दो मार्ग पुरातन हैं। जो विषयी हैं, कामी, क्रोधी तथा लोभी हैं, वे प्रेय

मार्ग का अनुसरण करते हैं एवं जो भगवद्भक्त हैं, वे श्रेय मार्ग के पथिक होते हैं। प्रेयमार्गी स्वर्ग की कामना से यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाओं को करते हैं, जैसा कि असुर भी करते हैं। असुरों में भी दो प्रकार के लोग हैं– एक रावण, कुम्भकर्ण, बाली एवं कंस की विचारधारावाले, जो सकाम योग, जप, तप, ध्यान से स्वर्ग पर आधिपत्य कर जगत को त्रास देने लगते हैं तथा दूसरे वे जो सकाम जप, तप, योग से स्वर्ग को प्राप्त कर दिव्य–ऐश्वर्यों को भोगकर पुनः मृत्युलोक में आकर सकाम योग, जप, तप करके स्वर्ग को चले जाते हैं। वे कभी स्वर्ग से मृत्युलोक, कभी पितरलोक, कभी गन्धर्वलोक, कभी किन्नर लोकों को प्राप्त करते रहते हैं– जैसा कि नवम् अध्याय में पहले कहा जा चुका है– 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति.....।' भगवान की दृष्टि में इन दोनों प्रकार के पुरुषों की जगह नहीं है, इसी से ये दोनों आसुरी प्रकृति के ही माने जायेंगे। (दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय..... गीता अध्याय दूसरा) इत्यादि, इत्यादि वाक्यों से प्रभु विषयी स्वजनों को भी आसुरी पुरुषों की ही श्रेणी में लाकर खड़ा करते हैं। चाहे भले ही गाँव, घर, परिवार में उनका व्यवहार आसुरी न हो किन्तु यदि वे अपने पेट तथा परिवार के लिए ही अन्न को पकाते हैं अर्थात् जीते हैं तो वे निश्चय ही चोर हैं– 'इष्टान्भोगान्हि वो देवा.....यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' (गीता अ० ३)। ठीक इसके विपरीत जो श्रेय मार्गी हैं, वे तो चाहे घर में रहें चाहे वन में, एकमात्र भगवान के लिए जीते हैं, भगवान के लिए ही मरते हैं। वे काम, क्रोध, लोभ से सर्वथा अनासक्त होकर निष्काम कर्म, जप, तप, योग भगवान को समर्पित कर परम धाम प्राप्त कर लेते हैं।

प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा अर्जुन को भी कामी, क्रोधी, लोभी बना डाला है। अर्जुन ने सर्वप्रथम यह कहा था कि इस रणभूमि में नव विवाहित वधुएँ भी विधवा हो जायेंगी, उस अवस्था में वे परपुरुषों से गमन करेंगी एवं वर्णसंकर सन्तानों को जन्म देंगी। अर्जुन ने ऐसा कहकर परम पवित्र क्षत्राणियों को कलंकित करने की चेष्टा की थी, जबकि वे सती होने में समर्थ थीं। उनके विषय में ऐसा कहना सर्वथा अनुचित था। निश्चितरूप से आसुरी प्रकृतिवाले स्वजनों से मोह होने के कारण उनकी वाणी से अशुभ काम ही आकर ऐसा बोल गया था। पुत्र एवं पुत्रवधू के काम की चिन्ता भी स्वयं का ही काम है, इस काम को भी भगवान त्यागने को कहते हैं। अर्जुन ने दुःख में दुःखी होकर ही इन जघन्य अपराधी दुर्योधन आदि के अपराध को क्षमा करने की बात की थी। 'वह दुःख एवं दया भी क्रोध का ही रूप है तथा स्वजनों एवं दुर्जनों के रक्त से लथपथ राज्य एवं राज्य के सुखों को लेकर हम क्या करेंगे'– ऐसा भी उन्होंने कहा था। ऐसा कहना त्याग नहीं लोभ कहा जायेगा। इसप्रकार के भी काम, क्रोध एवं लोभ को अध्यात्म में प्रवेश करनेवाले साधकों को त्याग देना चाहिये। प्रभु ने इस मंत्र के द्वारा सामाजिक एवं पारिवारिक धर्म में आसक्त हो जाने को काम, क्रोध एवं लोभ आदि में आसक्त हो जाना ही माना है। इस मंत्र के द्वारा भगवान ने पितामहभीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य आदि सभी को कामी, क्रोधी एवं लोभी की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। मानो वे कहना चाहते हैं कि तुम्हारे विपक्ष में जो भी खड़े हैं, ये सब कामी, क्रोधी एवं लोभी ही हैं; अतः इनका वध करना तो महापुण्य का ही हेतु है।

एक दिन अभयानन्द ने बहुत बड़ी बात कह दी कि भगवान मिलना तो दूर अभी तो कोई

ऐसा कर्म न हो जाये जो भगवान को अच्छा न लगे। मुझे तो आध्यात्मिक व्यवहार मिल जाये वही अपने लिये पर्याप्त समझूँगा।

इन मंत्रों में प्रभु ने अर्जुन को फिर कौन्तेय कहकर पुकारा है। मानो वे कह रहे हैं कि तुम साध्वी माँ कुन्ती के पुत्र हो, जो गुरु की आज्ञानुसार तुम्हारे पिता पाण्डु के साथ सती नहीं हुई। यद्यपि वर्तमान में पति के साथ सती न होना पाप कहा जाता है लेकिन चूँकि गुरु की आज्ञा थी इसलिये वह पापकर्म भी उसके लिये महापुण्य का प्रदाता हो गया, जिसका परिणामरूप फल उसे मैं ही मिल गया। अतः तुम भी मेरी आज्ञानुसार पारिवारिक एवं सामाजिक धर्म का त्याग कर सकते हो। महात्मा अर्जुन के मन में सहसा प्रश्न खड़ा हुआ कि मेरे सामने तो आप हैं, किसी साधक के पास सद्गुरु हैं किन्तु अन्य किसी धर्मात्मा के पास न आप हैं और न तो सद्गुरु हैं, तब वह क्या करे? वह तो स्वाभाविक ही है कि सामाजिक मान्यता के अनुसार ही व्यवहार करेगा। प्रभु ने कहा कि नहीं, नहीं, उसके लिये भी एक व्यवस्था है–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

हे पार्थ! उस जिज्ञासु के लिये आध्यात्मिक शास्त्र हैं। शास्त्र की वाणी, मेरी ही वाणी है। अतः सद्गुरु न मिलने तक वह शास्त्रानुसार ही उचित व्यवहार करता रहे। यदि ऐसा नहीं करता तो मनमाने व्यवहार एवं साधना से न साधना की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, न सुख–शान्ति और न परमगति ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये शास्त्र को ही प्रमाण मानकर सजगता पूर्वक व्यवहार करना चाहिये।

(यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य.....) भगवान किसी के भी मन को सर्वप्रथम शास्त्र में बाँध देना चाहते हैं। लोगों को प्रथमावस्था में जबतक सद्गुरु ही शास्त्र की आत्मा नहीं दिखाई पड़ने लगता तबतक शास्त्र–पुराण के वचनों पर ही विश्वास होता है। अतः यदि शास्त्र का परित्याग करके कर्म कर रहे हैं तो भले ही वे कर्म शुभ ही क्यों न हों लेकिन वे सुख–शान्ति प्रदान नहीं कर पाते और जब सुख–शान्ति ही प्रदान नहीं कर रहे हैं तो वे कर्म परमपद दे देंगे, ऐसा कोई कैसे कह सकता है या ऐसा कोई कैसे सोच सकता है। प्रायः लोग शुभकर्म तो करते देखे ही जाते हैं, बड़े–बूढ़ों की सेवा करते हैं लेकिन न उन्हें देवता ही मानते हैं, न भगवान का कोई अंग ही मानते हैं। शास्त्र तो कहता है उस कर्म के साथ भाव भी तो होना चाहिए अन्यथा उन बड़े–बूढ़ों, पिता–पितामहों से थोड़ी वाहवाही मिल जायेगी, गाँव में थोड़ी ख्याति हो जायेगी, सम्भव है उनकी सेवा से भौतिक सुख मिल जायेगा लेकिन चित्त तो आध्यात्मिक नहीं हो पायेगा, आध्यात्मिक सुख एवं शान्ति तो नहीं मिल पायेगी। यह तो महाराज प्रत्येक गाँव–नगर में देख रहा है कि कुछ लोग अपने परिवार के बाल–बच्चों, माता–पिता, पितामहों, गाँव के

बड़े–बूढ़ों के प्रति विशेष समर्पित रहते हैं लेकिन आध्यात्मिकता उनमें अंशमात्र भी नहीं रहती; इससे सिद्ध होता है कि वे उनकी सेवा–शुश्रूषा स्वाभाविक करते हैं, न कि भाव से। एक पुत्र अपनी माता–पिता की खूब सेवा करता है और अपने भाइयों का गला कतरता रहता है तो भले ही उसके माता–पिता उसपर प्रसन्न हों लेकिन उसे शान्ति तो नहीं मिल पायेगी तथा माता–पिता की सम्पत्ति विशेष चुरा लेने से सुख भी कितने दिन रहेगा, दस साल, पन्द्रह साल, इससे विशेष तो वह भी नहीं रह पायेगा! भिखारी को देते तो हैं ही लेकिन देने में देवभाव कहाँ रहता है? ब्राह्मण से पूजा कराते हैं, दक्षिणा भी देते हैं किन्तु जो उसके प्रति भाव होना चाहिए वह कहाँ रहता है? तभी तो दक्षिणा में ऐसी धोती एवं गमछी(तौलिया) देते हैं कि उससे आटा छान लिया जाय; अतः किये–कराये की भी सिद्धि नहीं मिलती। भगवान के नाम के प्रति भी अब मंत्रभाव हो गया है जबकि वह तो सम्पूर्ण मंत्रों की आत्मा है तभी तो उसका गायन किया जाता है, तभी तो प्रभु ने आठवें अध्याय में 'ॐ' को स्मरण करने की बात की, जप करने की नहीं। हाँ, जिनका मन नहीं लगता स्मरण में उनके लिए जप की विधि बता दी जाती है। महाराज जब घर में माताओं को और बाहर खेत में या कारखाने में पुरुषों को दिनो–रात काम करते देखता है तो आश्चर्य कर बैठता है और सोचता है कि यदि यही कर्म भगवद्भाव से भरकर किये जाएँ तो तीन साल होते–होते तो चित्त शुद्ध हो जायेगा लेकिन चित्त शुद्ध होना तो दूर शरीर और मन में इतना रोग लग जाता है कि जीवन ही दूभर हो जाता है, स्वयं के लिए भार बन जाता है।

साधकों को इस मंत्र पर विचार करना होगा कि यदि उनकी साधना की सिद्धि में विशेष विलम्ब हो रहा है तो अवश्य कहीं न कहीं मनमानी साधना हो रही है। यह खोज करना है कि किस करण–उपकरण में दोष है या भाव में दोष है। भगवान आतुर है आने के लिए और आप बेचैन हैं उसे बुलाने के लिए फिर दोनों के बीच में वह कौन सी बाधा आ रही है कि दोनों का मिलन नहीं हो रहा है? भगवान के अनुसार वह मनमाना व्यवहार है। भले ही आप साधना कर रहे हैं लेकिन उसे साधना न कहकर श्रम कहा जायेगा। लोकमत, वेदमत एवं संतमत; ये तीन मत होते हैं। सामाजिक धर्म के अनुसार व्यवहार करते–करते जब साधक को शान्ति नहीं मिल पाती तो उसे जान लेना चाहिये कि लोकमत मनोकल्पित मत है। उसके उपरान्त उसे शास्त्रमत को स्वीकार करना चाहिए। शास्त्र का मंथन करते–करते तो संत की कामना हो ही जाएगी क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रों का आधार सद्गुरु है। अतः सद्गुरु की कामना होते ही सद्गुरु की प्राप्ति अवश्यम्भावी है।

प्रभु मानो कह रहे हैं कि सम्पूर्ण शास्त्र गुरुआज्ञा पालन की आज्ञा दे ही रहे हैं तथा मैं तो तुम्हें सद्गुरु के रूप में मिल ही गया हूँ, अतः मेरी आज्ञा है कि तुम युद्ध करो।

एक साधक घर में साधना कर रहा था। उसके पिता उसे सता रहे थे एवं भाई–बान्धव भी उनका साथ दे रहे थे। कुछ स्वजनों ने उससे पूछा– आपके प्रति जो पिता एवं भाई–बान्धवों के द्वारा दुर्व्यवहार हो रहा है, उसमें आप उन्हें दोषी मान रहे हैं या स्वयं को? साधक ने कहा

कि वर्तमान में मैं तो दोषी हो ही नहीं सकता तथा कोई भी यदि पिता है तो पुत्र को एक वैरी की भाँति ऐसा त्रास दे नहीं सकता। इसलिये मेरे पूर्वजन्म के संस्कार ही पिता आदि के द्वारा त्रास दे रहे हैं। पूर्वजन्मों में अवश्य मेरे द्वारा ब्रह्महत्या हो गयी होगी, वही इनलोगों के माध्यम से मेरे भगवत्पथ में बाधा डालना चाहती है। ब्रह्महत्या माता–पिता एवं स्वजनों का आश्रय लेकर ही अपना कार्य करती है।

इसलिये साधकों को जान लेना चाहिये कि जब पिता अपना शत्रु बन जाये, माँ अपनी वैरिणी बन जाये तो ब्रह्महत्या प्रकट हो गयी है। अतः वे उनका विरोध न करें, उनके द्वारा होने वाली प्रतिकूलता को सहन करें; तब शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्महत्या का प्रायश्चित पूरा हो जायेगा। साधक को एक बात ध्यान रखनी चाहिये कि ब्रह्महत्या का पाप अपवित्र पुरुषों का ही आश्रय लेकर अपना बदला लेता है। यदि ब्रह्महत्या ने पिता का आश्रय लेकर बदला लिया तो अवश्य पिता कहीं न कहीं राम विरोधी है। यदि माँ का आश्रय लिया तो माँ एवं ऐसा ही भाई–बान्धवों आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये तथा यह भी सोचना चाहिए कि बात तो अच्छी ही है कि जिन्हें त्यागना है, वे स्वयं त्याग देते हैं।

(अहंकारं बलं दर्पं.....तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते) पुनः एक बार इन मंत्रों के द्वारा भगवान क्या कहना चाहते हैं देख लें। प्रभु का कहना है कि आप अपनी प्रकृति एवं स्वभाव को पहचानें। जबतक आप अपने स्वभाव को अपने तन, मन, बुद्धि की शक्ति–सामर्थ्य को नहीं पहचान लेते कि तामसी स्वभाव है आपका या राजसी स्वभाव है अथवा तामसी एवं राजसी मिश्रित स्वभाव है तबतक भगवान का होने में यह स्वभाव ही बाधा डालता रहेगा और आप इसे पहचान नहीं पायेंगे। भगवान ऐसा इसलिए भी कह रहे हैं भक्तों से क्योंकि हिरण्यकशिपु के यहाँ प्रह्लाद जन्म ले लेते हैं, विश्रवा के यहाँ रावण जन्म लेता है, कुम्भकरण जन्म लेता है, धृतराष्ट्र के यहाँ युयुत्सु जन्म लेता है जो धर्मात्मा है लेकिन यदि इन अपवाद लोगों को न देखा जाय तो फिर बहुत कुछ दिखाई पड़ेगा। जैसे रावण के यहाँ उसका पुत्र प्रहस्त था जो भगवद्भक्त था, उसने घोर विरोध किया था रावण से लेकिन साहस नहीं हुआ कि जैसा विरोध महात्मा विभीषण ने किया वैसा विरोध कर सके। ऐसा क्यों? इसलिए कि रावण के रक्त का असर उसमें था, रावण के स्वभाव का अंश उसमें था। भगवान कहते हैं कि स्वभाव का स्रोत बहुत गहरे से आता है। किसी बालक में स्वभाव उसके दादा का आ जाता है, परदादा का आ जाता है, अतः अपने स्वभाव पर विश्वास न करें। तो फिर करें क्या? यही कि जब कोई असमर्थ है, बहुत दाग लगे हुए कपड़ों को धोने में तो फिर धोबी को दे देता है और वह उसका समाधान कर देता है। इसीप्रकार अपनी प्रकृति को सर्वप्रथम पहचानने का प्रयत्न करें और पहचान न पाते हों तो सद्गुरु के पास जाकर फिर अपनी प्रकृति का शोधन करायें। तप से शरीर का, संयम से इन्द्रियों का, जप से मन का, चिंतन से बुद्धि का और सद्गुरु की आज्ञा पालन करने से चित्त का शोधन हो जाता है। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो पूर्व के अपने माता–पिता, दादा–परदादा अथवा मामा–मामी आदि के रक्त से रंजित स्वभाव आपके लिए घातक बन जायेगा। फिर क्या घातक बन जायेगा, इसका प्रमाण भगवान देते हैं– 'अहंकारं'– अहंकार प्रकट हो जायेगा। अहंकार क्या है, यह प्रश्न खड़ा होता है। हाँ,

वह अहंकार है 'मैं' और 'मेरा' अर्थात् 'मैं शरीर हूँ, ये मेरे बाल–बच्चे हैं'। ऐसा अहंकार प्रकट होते ही 'बलं दर्पं' यानी बल एवं दर्प प्रकट होगा। वह क्या है? हाँ, अपने बाल–बच्चों को देखकर, अपने धन, वैभव को देखकर, ऐश्वर्य को देखकर अपने क्षुद्र बल का अनुमान लगेगा क्योंकि बल का भी अहंकार होता है। तो बल का अहंकार हो जायेगा तो होगा क्या? 'दर्पम्'– दर्प प्रकट हो जायेगा, यह तीसरा पद है। 'अहंकारं' पहला पद, 'बलम्' दूसरा पद, 'दर्पम्' तीसरा पद। दर्प कहते हैं दम्भ को। भीतर–भीतर अहंकार में फूलकर सीना तानके चलेगा अपने सामने वह कुछ समझेगा ही नहीं किसी को, उसकी वाणी में अहंकार की दुर्गन्ध आती रहेगी।

'कामं क्रोधं च संश्रिताः'– फिर होगा क्या? क्या फल मिलेगा? तो कहते हैं कि वह काम के आश्रित हो जायेगा, क्रोध के आश्रित हो जायेगा। कहाँ तो सद्गुरु के आश्रित होना चाहिए, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के आश्रित रहना चाहिए तो वहाँ काम के आश्रित हो जायेगा, क्रोध के आश्रित हो जायेगा। पल–पल में, क्षण–क्षण में क्रोध प्रकट होता रहेगा, कोई छेड़े सहसा तो जैसे सर्प फुफकार मारता है वैसे फुफकारेगा।

'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः'– उसके उपरान्त तो फिर विलक्षण बात हो जायेगी। अब आगे उसका फल क्या मिलेगा? तो कहते हैं भगवान कि मेरा तो द्वेषी बन ही जायेगा, मेरा तो विरोध करने ही लगेगा और कोई यदि मेरा समर्थन करे तो उसका भी द्वेषी एवं विरोधी हो जायेगा। मेरे से द्वेष करके कहेगा– भगवान! क्या भगवान! कैसा भगवान! यदि हम जप, तप, योग नहीं करेंगे तो भगवान हमको खिला देगा? हमारे बदले कर लेगा क्या वह जप, तप, योग! कर्ण ने अहंकार, बल, दर्प, द्वेष से कहा था– मैं तुम्हारा ब्रह्मास्त्र तक पीछा नहीं छोड़ूँगा अर्जुन! (जबकि अर्जुन के पास ब्रह्मास्त्र से भी परे एक अस्त्र था, वह अस्त्र था भगवान) अर्जुन को वहाँ कहना चाहिए था कि ब्रह्मास्त्र तो मेरे पास भी है जो तुम्हारे ब्रह्मास्त्र की काट है, लेकिन ये मत भूलना कि हमलोगों के पास शिशुपाल जैसे असुरों का मान–मर्दन करनेवाला एक महापुरुष है वह है द्वारिकाधीश। ये मत भूलना कि हमारे पास शिशुपाल, बाणासुर, जरासंध, जयद्रथ आदि के बीच से भगवती रुक्मिणी का अपहरण कर सबका मान–मर्दन करते हुए द्वारिका लेकर चला जानेवाला एक पुरुष है वह है मेरा, तेरा एवं सबका भगवान श्रीकृष्ण। क्या उस अस्त्र का भी सामना कर लोगे? किन्तु अर्जुन वहाँ ऐसी बात कह नहीं पाये, उनकी भूल कही जायेगी या क्या कहा जायेगा, यह तो उनका भगवान ही जाने लेकिन काम और क्रोध तथा बल एवं दर्प के आश्रित हो जाने पर उसका व्यवहार असुरों का सा हो जायेगा, परिणाम होगा कि वह भगवान का ही द्वेषी बन जायेगा और जो भगवानवादी भगवान का समर्थन करेगा उसका ही द्वेषी बन जायेगा। फिर आगे क्या परिणाम होता है भक्त का प्रश्न है, इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु'– इसका परिणाम होता है कि प्रभु उन क्रूर कर्माओं को, असुरों, नराधमों, नीच पुरुषों को बार–बार नरक योनियों में धकेलता रहता है, धक्के देता रहता है और उसी नरककुण्ड में वे गिरते रहते हैं। दुःख पर दुःख देता रहता है, दुःख ही नरक है। वे करेंगे सुख का प्रयत्न और मिल जायेगा दुःख।

कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।।
(उत्तरकाण्ड)

ऐसी योजना बनायेगा कि किसान जैसे अपने अन्न को खेत में डाल देता है और कब वर्षा बरसेगी इसे ज्योतिषियों द्वारा जान लेता है। वह समझता है कि बस काम बन गया है और सब अन्न को वह खेत में डाल देता है। जब खेत में डाल देगा तो 'दुकाल' कर देगा भगवान क्योंकि वर्षा ही नहीं बरसायेगा। असुर के लिए वह बार–बार, बार–बार दुःख पर दुःख देता रहेगा। जैसे असुर करेगा सुख के लिए यत्न, लगेगा कि अब सुख की किरण मिलेगी तबतक वह ऐसी काट काटेगा उस रास्ते की कि बस वहीं गड्ढा बन जायेगा। इसे कहते हैं बारम्बार–बारम्बार नरकयोनियों में ले जाना अर्थात् दुःख पर दुःख देना।

'मूढा जन्मनि जन्मनि'– वे समझ तो पाते नहीं हैं, आसुरी अर्थात् राक्षस योनियों को प्राप्त होते जाते हैं, प्रतिपल बदलता रहता है उनका जीवन। कभी मनुष्य थे, आज देवता हैं तो कल राक्षस हो जायेंगे, परसों कुछ समय के लिए मनुष्य बन जायेंगे अथवा देवता बन जायेंगे, फिर राक्षस बन जायेंगे, ऐसे ही उनका क्रम चलता रहता है। कभी मनुष्य बन जायेंगे तो कभी देवता जैसा व्यवहार हो जायेगा उनका। तो उनके द्वारा कभी जो मनुष्य एवं देवताओं का सा व्यवहार हो जाता है वह तो भुलावे में डालने के लिये होता है।

महाराज के द्वारा इस अध्याय का गूढ़ात्मक तत्त्व खोला जा रहा है जिसपर आप ध्यान दें– (तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु.....) इस संसार में ही उनके लिए नरक का निर्माण करता है भगवान। दुःख सामान्य नरक है, दुःख पर दुःख विशेष नरक है, फिर उस दुःख पर भी दुःख उससे भी विशेषातिविशेष नरक हो जाता है। वह भगवान वहाँ ले जाकर छोड़ता है, वह ऐसी स्थिति में ले जाकर छोड़ता है जहाँ यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि आज जहर खाऊँ या कल, आज मरूँ या कल। 'क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव'– ऐसा नहीं कि मरने के बाद नरक तैयार करेगा, मरने के बाद तो जो करेगा सो करेगा ही बल्कि मंत्र यहाँ कहता है– (संसारेषु) इस संसार में नरक का निर्माण करता है भगवान उनके लिए।

इतना ही नहीं अपने को तथाकथित भक्त समझनेवाले वे आसुरी प्रकृति को ही प्राप्त होते रहते हैं और उनको मित्र भी वैसे ही मिल जाते हैं अर्थात् आसुरी प्रकृति के चाणूर जैसे ही मित्रों को लाकर खड़ा कर देता है ताकि कान भरते रहें उन तथाकथित कंसों का।

'अरे चाणूर! तुम बकवास मत करो।' क्यों महाराज? कंस ने कहा– जब वसुदेव ने कह ही दिया है कि आठवाँ बच्चा लाकर दे दूँगा तो फिर अन्य बच्चों को मारने का क्या अधिकार है? जघन्य अपराध है ये। ऐसा वसुदेव की संगति में कुछ समय के लिए विचार आ गया। मानवोचित वहाँ पर उसका स्वभाव हो गया, असुरों में भी कभी देवोचित स्वभाव देखा जाता है। तबतक मित्र तो चाणूर है न! कहता है– महाराज! यह अंगुली पहली है कि ये पहली है? कहाँ से गिनती करेंगे आप? कहा कंस ने– क्या, ये क्या कह रहे हो तुम? चाणूर ने कहा कि राजन्! मैं नहीं

समझता कि आकाशवाणी ने यहाँ से गिनती करने को कहा है कि यहाँ से गिनती करने को कहा है। तो आठवाँ बच्चा पहला है या आठवाँ बच्चा अन्तिम है? आपका काल पीछा कर रहा है काल! कालचक्र चल रहा है, उस चक्र में कहीं ऐसा न हो कि वह छल करनेवाला भगवान आपसे कहे कि नहीं–नहीं यह पहला है। इसलिए कि किसी पुराण में ऋषि कहता है कि सृष्टि कैसे प्रकट हुई? तो दूसरा उत्तर देता है कि जल से प्रकट हुई। इस न्याय से तो जल पहला हो गया! तो किसी पुराण में कह देता है कि नहीं सर्वप्रथम पृथ्वी प्रकट हुई तब तो पहली यही होनी चाहिए! तबतक किसी पुराण में कहता है कि ना, ना, ना, ना सर्वप्रथम तो अग्निपुरुष प्रकट हुआ, ज्योतिर्मय प्रदेश प्रकट हुआ, तब तो यही पहला होना चाहिए! (असुर बुद्धिमानी में कम तो होते नहीं न!) ऐसा चाणूर के कहने पर कंस ने कहा कि बात तो तुम ठीक कह रहे हो और प्रत्येक जन्म के समय जा कर बच्चों का वध करने लगा। आठवीं बार कन्या को उठाया, मारना चाहता था उसे किन्तु शक्ति थी वह, आकाश में जाकर कह दी– पहला! पहला! पहला! पहला तो जन्म ले ही चुका है! आत्मा प्रकट हो चुका है, तेरा काल प्रकट हो चुका है!

इसप्रकार भगवान ऐसी योजना बना देता है कि वे बाहर भी आसुरी प्रकृति के घेरे में भी घिरते जाते हैं। वे मित्र कान भरते जायेंगे– कभी ऐसा करना चाहिए, कभी वैसा करना चाहिए। भगवान मंथरा को लगा देता है कैकेयी के पास, चाणूर को लगा देता है कंस के पास, कैकसी को लगा देता है रावण के पास।

'आसुरीं योनिमापन्ना'– नानाप्रकार के जो दुष्ट स्वभाववाले लोग हैं इस संसार में वे ही आसुरी योनियाँ हैं। 'त्रिविधं नरकस्येदं'– आसुरी प्रकृति की योनियों के लिए ये तीन– 'काम, क्रोध और लोभ' दिशाओं के अन्य दरवाजे हैं। किन दिशाओं के? हाँ, नानाप्रकार के दुःखरूप नरक ही दिशायें हैं यहाँ पर उन्हीं दिशाओं के ये दरवाजे हैं और दूसरे अर्थों में– यदि बहुत से दुष्ट साथी अपने हो गये, आप उनसे घिर गये तो अनेक दरवाजे हो गये नरक के वे।

'कामः क्रोधस्तथा लोभः'– भगवान उनके लिए यही दरवाजा बन जाता है और इन्हीं दरवाजों से वे काम के लिए जूझने लगते हैं, एकमात्र काम के ही होके रह जाते हैं। वह काम क्या है? स्त्री ही काम है, पुत्र ही काम है, मित्र ही काम है, भाई ही काम है, परिवार ही काम है, स्वजन ही काम हैं। इसप्रकार काम के विविध रूप हैं, बस एकमात्र उसी के लिए जीने लगते हैं। वे कहते हैं आज हमने अमुक वैरी को मार डाला, कल अमुक वैरी मारा जायेगा, 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'– हमारे जैसा कौन है!

(अनेकचित्तविभ्रान्ता.....) ऐसा सोचनेवालों को नानाप्रकार के मोह के जालों में मकड़ी की तरह फँसाकर उसी में उसी मकड़ी की तरह आहें भरने के लिए विवश कर देता है। 'त्रिविधं नरकस्येदं'– असुरों के लिए कह रहे हैं इस मंत्र में। एक ही मंत्र से भक्तों के लिए भी बोलते हैं भगवान तो उसी मंत्र से असुरों को भी बोल रहे हैं। एक मंत्र से कह रहे हैं कि काम, क्रोध तथा लोभ के ही परायण होते हैं असुर, अतः भक्तों को इन्हें त्याग देना चाहिए। 'लोभः'– पेट इतना बड़ा हो जाता है कि कल के लिए बचाते बचाते बचाते..... इतना बचा लेते हैं, फिर भी

पेट भरता नहीं। किसी ने कहा कि मैंने इतना कमा दिया है गुरुजी कि तीन पीढ़ी तक सम्पत्ति टस से मस नहीं होगी। ब्याज ही खाते रहेंगे मेरे बाल–बच्चे, केवल खाना सीखें। इसप्रकार इतना बड़ा पेट हो जाता है कि बढ़ते–बढ़ते तीन पीढ़ी तक उनका पेट बढ़ जाता है। अरे! अब तीन पीढ़ी तक तो उसके बाल–बच्चे ही खायेंगे न! पोते ही खायेंगे न! उसे क्या पता है कि वे उसी को निगल जायेंगे।

'लोभः'– वे काम, क्रोध, लोभ के लिए ही जीनेवाले होते हैं। भगवान ने कहा– भक्तों को चाहिए कि उनका साथ छोड़ दें, भक्तों को चाहिए कि काम, क्रोध, लोभ के लिए न जीयें, यदि जीते हैं तो निश्चितरूप से असुर हो जाते हैं।

'त्रिविधं नरकस्येदं'– नरक नरक की कहानी है ये सब। सुख पाने का यत्न करते हैं, सुख की दिशा की तरफ जा रहे हैं लेकिन चूँकि मनमाना यत्न होने से चलते–चलते पता नहीं दिशा कब हो गयी उलटी, जा रहे थे स्वर्ग की तरफ चले गये नरक में। नरक और स्वर्ग तो यहीं पर है, पेट और पीठ तो यहीं पर है। इसी पेट में मैले का कुण्ड है, गंदे जल का कुण्ड है। जैसे भोजन शुभ कुण्ड से अशुभ कुण्ड में चला जाता है वैसे ही वे भी स्वर्ग की तरफ जाकर नरक की तरफ चले जाते हैं राजा नृग की तरह। दान देते–देते बनना था उन्हें इन्द्र, बन गये गिरगिट। सब जानते हैं इस बात को कि कहाँ इन्द्रपद प्राप्त होना था और कहाँ गिरगिट बनकर कुँए में आ गये। मनमाना करनेवालों के साथ यही होता है। अभी एक भक्त ने कहा– 'बाबा मैं करने चलता हूँ सही और हो जाता है गलत!' अरे! क्यों हो जाता है गलत? दिशा तो सही जानी चाहिए तुम्हारी! खोज करो कि मनमाना तो नहीं कर रहे हो? लोग प्रारब्ध की दुहाई देते हैं कि मेरे भाग्य में यही था, मेरा कर्म ही ऐसा था। तो भगवान कहते हैं कि भाग्य और कर्म की दुहाई देनेवालों के मस्तिष्क को मैं ऐसा ही करता रहता हूँ यानी छिन्न–भिन्न करता रहता हूँ, ऐसा ही सोचते रहेंगे वे। कहते हैं– 'भक्त हैं हम भगवान के' और कर्म एवं भाग्य की दुहाई देते हैं! अतः उनका तो भाग्य ही स्वर्गप्रदाता है और दुर्भाग्य ही नरक प्रदाता है। ऐसे लोगों की क्या बात करनी! भक्तों को विचार करना चाहिए इस मंत्र पर।

महाराज तो सबके प्रश्न का उत्तर दे रहा है और ऐसा नहीं है कि आप सबको उत्तर नहीं मिल रहा होगा, ऐसा नहीं है कि अपनी–अपनी कमी नहीं दिखाई पड़ रही होगी। यह बात अलग है कि अपने मिले हुए उत्तर को आप किनारा कर दें, धारण न करें लेकिन सारी की सारी कमी दिखाई पड़ती है। जब आप शास्त्र पढ़ते हैं तो उस समय कम दिखाई पड़ेगी लेकिन सद्गुरु जब बोलता है तो उस समय विशेष दिखाई पड़ती है। वह बाण मारता है ऐसी जगह कि जहाँ जो वस्तु है वह दिखाई पड़ जाती है।

'त्रिविधं नरकस्येदं'– नरकलोक में तो काम ही ले जाता है, लोग ऐसा कहते हैं लेकिन ना, ना, ना, काम की क्या सामर्थ्य, क्रोध की क्या सामर्थ्य, लोभ की क्या सामर्थ्य कि वे नरक में ले जायें। काम ले जाता है नरक में तो वहाँ प्रभुशक्ति ही काम करती है, क्रोध में प्रभु की शक्ति रहती है लोभ में प्रभु की शक्ति रहती है तभी ये ले जाते हैं नरक में। भगवान की शक्ति से ये

शक्तिमान होते हैं। प्रारब्ध में भगवान ही रहता है यानी सौभाग्य एवं दुर्भाग्य में प्रभु ही रहता है तथा उसी की शक्ति रहती है ऐसा नहीं मानने–जानने एवं समझने से प्रारब्ध आप से बलवान होता जाता है। अतः जिससे प्रारब्ध बलवान है, जिससे कर्म एवं भाग्य बलवान हैं, जिससे संस्कार बलवान है, तो यह सिद्ध होता है कि वह आसुरी प्रकृति का है, इससे सिद्ध होता है कि उसका भगवान उसके लिए मौन है, इससे सिद्ध होता है कि भगवान भी ऐसे लोगों के लिए दुःख पर दुःख देने लगता है। भगवान ही मौन हो गये तभी तो अभिमन्यु मारा गया। मौन इसलिए हो गये थे कि अर्जुन ने ज्ञान बघारा भगवान के पास तो प्रभु ने सोचा– अब अच्छी प्रकार से ज्ञानी बन लो! पहेली बड़ी विचित्र है कि भगवान सत्य कह रहे हैं और वे (अर्जुन) भी सत्य ही समझ रहे हैं। भगवान कह रहे हैं कि मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा और वे समझ रहे हैं कि भगवान कह रहे हैं कि मैं तुम्हारी और तुम्हारे बाल–बच्चों की रक्षा करूँगा। जबकि भगवान की दृष्टि में पिता अलग होता है, पुत्र अलग होता है, माँ अलग होती है, पुत्र–पुत्री अलग होते हैं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' शास्त्र भी यह प्रमाण देता है। भगवान की दृष्टि में पति अलग होता है पत्नी अलग होती है। अर्धांगिनी मानते हैं आप, उसे अपनी आत्मा मानते हैं आप, अपनी भुजा मानते हैं आप तो मानते रहें किन्तु भगवान नहीं मानता। भगवान तो गुरु को अलग मानता है, शिष्य को अलग मानता है, भाई–भाई को अलग मानता है, बहन को अलग मानता है। आप सब मिलकर के एक हो जाते हैं लेकिन वह तो सदा–सर्वदा आपको अलग ही समझता है और अलग जैसा ही व्यवहार भी करता है। आप सम्पत्ति के लिए छीना–झपटी करके अलग होते हैं, अलग होकर के भी अलग नहीं हो पाते क्योंकि मन से तो रक्त का रिश्ता बनाकर रखते हैं तो उसने कभी भी आपके रिश्ते को स्वीकार ही नहीं किया।

'सच में मैं कहता हूँ पार्थ! कि तुम्हारा मैं उद्धार करूँगा'– ऐसा भगवान भी सच ही कह रहे हैं और अर्जुन भी अपने समझ में सच ही समझ रहे हैं। वे सोच रहे हैं कि मिलकर हूँ तो मैं एक ही । गीताजी समाप्त होने पर स्मृति प्राप्त हो गयी उन्हें कि मैं आत्मा हूँ लेकिन यह स्मृति प्राप्त हुई ही नहीं कि भगवान कह रहे हैं– नहीं, नहीं, नहीं, तुम अकेले ही मेरे हो, तुम्हारा अभिमन्यु मेरा नहीं है, मैं अपने शिष्य और भानजे अभिमन्यु के लिए नहीं कहता, मैं द्रौपदी के द्वारा तुम्हारे वीर्य से उत्पन्न होनेवाले पुत्रों के लिए नहीं कहता बल्कि एकमात्र मैं तुम्हारे लिए कहता हूँ कि मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य'– पितृधर्म का परित्याग करके आओ। कहीं तुम पिता हो, पितृधर्म का परित्याग कर दो। सद्गुरु को प्राप्त करने के उपरान्त पितृधर्म का महत्त्व नहीं रह जाता, पुत्रधर्म का महत्त्व नहीं रह जाता, धर्मपत्नी–धर्म का महत्त्व नहीं रह जाता, धर्मपति–धर्म का महत्त्व नहीं रह जाता, भाई के धर्म का महत्त्व नहीं रह जाता बल्कि मात्र सद्गुरु जो कहेगा वही धर्म हो जाता है, ऐसा (सर्वधर्मान्) कहा भगवान ने और महात्मा अर्जुन ने समझ लिया 'सर्वधर्मान्' अर्थात् जो तुम पितामह को अपना मान बैठे हो द्रोणाचार्य, कृपाचार्य को अपना मान बैठे हो, तो शिष्यधर्म का परित्याग कर दो और पौत्र धर्म का परित्याग कर दो, दुर्योधन को तुम अपना भाई मान बैठे हो तो भातृधर्म का परित्याग कर दो। माँ गांधारी को भी तुम अपना मान बैठे हो यदि

उससे डर रहे हो तो पुत्रधर्म का परित्याग कर दो, धृतराष्ट्र से डर रहे हो तो पुत्रधर्म का परित्याग कर दो, लेकिन वे उलटा ही समझ बैठे। भगवान कह रहे हैं कुछ और, वे समझ रहे हैं कुछ और, इसलिए उपदेष्टा बन गये थे। भगवान से उन्होंने कहा था कि ओह! छिः धिक्कार है! हम बुद्धिमान हो करके भी युद्ध करने जा रहे हैं। हम बुद्धिमानों को लोग कहेंगे क्या? ऐसा उपदेश दे दिया था भगवान को, अतः उनके भी मान का मर्दन करना है। भगवान सत्यवक्ता हैं, लेकिन असत्यवक्ता तो सत्यवक्ता की बात भी असत्य ही समझ बैठेगा न!

सद्गुरु के पास वाग्विलास करनेवाला असत्यवक्ता कहा जाता है। सद्गुरु की बात को असत्य समझ लेगा वह असत्य सुन लेगा वह। विरेन्दर (चिरकुण्डा) से पिछली बार आश्रम में महाराज ने कहा– आने दो (कोई व्यक्ति आया था दरवाजे पर)। लेकिन उसने जाकर कहा– हटाओ, हटाओ इनको हटाओ! इन्हें जाने दो। अतिथि आया नहीं, थोड़ी देर के बाद में महाराज ने कहा कि अरे! वह अतिथि आया नहीं! तो विरेन्दर ने कहा कि बाबा! आपने कहा था– जाने दो। तो कहा महाराज ने कि अरे! ये क्या हुआ, तूने तो उलटा ही समझ लिया। इसप्रकार आने दो को जाने दो और जाने दो को आने दो समझेंगे आप, खाने दो को सोने दो और सोने को कह देंगे खाने दो।

'अधर्मं धर्ममिति या'– सारे के सारे सद्गुरु के वाक्यों में विपरीत दिशा की तरफ चिंतन एवं मनन होने लगेगा। कान में बैठा हुआ संस्कार सुन लेगा, आप समझेंगे कि मैं सुन रहा हूँ। इस अध्याय में भगवान ने भूमिका बना ली है ताकि अर्जुन को बहुत कुछ कहना है अठारहवें अध्याय के अन्तिम चरण में। पिटाई करने के पहले पिटाई करने की भूमिका बना ली जाती है, अतः यह भूमिका है। 'त्रिविधं नरकस्येदं'– "ये सारे के सारे स्वजन तुम्हारे क्रोध और लोभ ही हैं, अतः इनका त्याग कर दो फिर मेरी शरण में हो जाओ, सबके साथ नहीं।" ध्रुव अकेले भगवान के पास शरणागत होंगे और ध्रुव के पास ही भगवान आयेंगे ध्रुव के पिता के पास नहीं आयेंगे, माँ के पास नहीं आयेंगे। यह बात अलग है कि सुनीति विदुषी है, साध्वी है उसके पास भगवान पहले ही आ गये थे लेकिन ध्रुव कहें कि हमारे भाई के पास, पिता के पास भगवान आ जायें तो भगवान नहीं आयेंगे। आजतक जिसके पास भगवान आया उसी के लिए आया, वहाँ कोई समझौता नहीं। हिरण्यकशिपु जैसे की छाती को चीरेंगे प्रह्लाद जैसे सुपुत्र के पास। पुत्र के रक्त की चाहना करनेवाले हिरण्यकशिपु जैसे पिता के पास भगवान आकर उसका रक्त पीयेगा और पुत्र देखता रह जायेगा। वज्र से भी कठोर है भगवान, वह ऐसा कठोर है कि पिता पागल हो जाता है और पुत्र महात्मा बन जाता है वहाँ पुत्र कहाँ रहता है आपका! धर्मपत्नी पागल हो जाती है और पति दवा ही करता रह जाता है, उस समय भगवान कहाँ रहता है आपका! बेटा पागल हो जाता है आप देखते रह जाते हैं, पिता पागल हो जाता है आप देखते रह जाते हैं, कहाँ रहता है भगवान आपका। कहते हैं हम भगवान के हैं और भगवान कहते हैं भ्रम में क्यों रहते हैं आप। भगवान के हैं तो कौन–कौन से प्रमाण हैं कि आप भगवान के हैं?

'मन्मना भव मद्भक्तो'– कहनेवाले भगवान, प्रतिज्ञा करनेवाले भगवान कहते हैं कि मैं

अभिमन्यु की रक्षा नहीं करूँगा। अर्जुन ने कहा –मेरे बेटे को मारनेवाले जयद्रथ को मारूँगा। मेरे बेटे को मारनेवाले को मैं कल मारूँगा, ऐसा सुना भगवान ने तो अर्जुन को नाच नचा दिया, वे उसे मार नहीं पाये, शाम हो गयी। उस समय तक बेटा उनका पीछा कर रहा था। कहा भगवान ने कि मार लो, जल्दी करो, नहीं तो संध्या हो रही है। थोड़ी देर के बाद भगवान घोड़ों की मालिश करने लगे। अर्जुन ने कहा कि माधव ये क्या कर रहे हैं आप, सूर्यास्त होने जा रहा है! प्रभु ने कहा कि तेरे को तो अपने बच्चे का बदला दिखाई पड़ रहा है। अरे! तेरे को जितना अपने बच्चे से प्रेम है उससे कहीं अधिक मुझे इन घोड़ों से प्रेम है। ये मेरे वाहन बने हुए हैं। 'समोऽहं सर्वभूतेषु'– मेरे लिए कोई द्वेषी और प्रेमी नहीं है। मेरे जो काम आता है वह मेरा प्रेमी हो जाता है, जो मेरे काम नहीं आता है वह द्वेषी हो जाता है। मैंने उपजाए भले ही सबको लेकिन मेरे काम आते रहे हैं– ये घोड़े, तेरा बच्चा तेरे काम आया होगा। दो दिन काम नहीं आया उसके लिए मरने लगे, मेरे तो इतने सालों से ये घोड़े काम आ रहे हैं। भगवान के लिए जीते हैं, भगवान के लिए मरते हैं, इनका अपना कोई स्वाभिमान नहीं है। तुम्हारे पास स्वाभिमान है, इनके पास कोई बाल–बच्चे नहीं हैं, सम्पूर्णता से अपने–आपको मुझे समर्पित कर बैठे हैं। इसलिए पहले मैं इनके लिए जीऊँ कि तुम्हारे लिए जीऊँ? मैं बच्चे के लिए जीनेवाले के लिए नहीं जीता, अतः मेरे घोड़े स्वस्थ हो जायेंगे, थोड़ा चारा–मारा खा लेंगे, मालिश करूँगा तब रथ में इन्हें जोतूँगा भले तुम्हारा सूरज डूब जाए, चाहें तुम जल के मर जाओ, मेरा इससे कोई संबंध नहीं। पसीना निकल रहा है, हाथ मल रहे हैं अर्जुन लेकिन भगवान ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। भगवान मन ही मन सोच रहे हैं– मारो जयद्रथ को, प्रतिज्ञा की थी तूने कहाँ गयी प्रतिज्ञा? (प्रतिज्ञा एक ही करता है वह है भगवान कि मैं उद्धार करता हूँ और वह सफल होता है, लेकिन जीव प्रतिज्ञा करता है भगवान के पास तो वह असफल हो जाता है।) इसलिए भगवान ने कहा कि जीव को प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए मेरे पास। 'बलं दर्पं' बल– अपने तप का बल, अपनी शक्ति का बल वहाँ पर आड़े आ गया अर्जुन का। सूर्यास्त हो गया, नहीं मार पाये मुँह लटकाये चिता में जलने चल दिये। भगवान ने उनकी प्रतिज्ञा का मान रखा, ऐसे अपराधी अर्जुन का पहले मान–मर्दन किया जिसे आप शरणागत कहते हैं। मान–मर्दन के बाद फिर दिखाया कि देखो सूर्यास्त हुआ कि नहीं हुआ है, लो अपना बदला ले लो। पुत्र का अपना अधिकार है, पिता का अपना अधिकार है, माँ का अपना अधिकार है, सबके अपने–अपने धर्म हैं।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य'– सद्गुरु के धर्म में रहकर तो किसी के धर्म को नहीं परम कर्तव्य को देखते हुए सामयिक जीवन जीना है तब कहीं जाकर हम भगवान के होते हैं। 'कामः क्रोधस्तथालोभः'– भक्त जब प्रतिज्ञा करता है कि पिता–माता के लिए मैं झूठ नहीं बोल सकता, पिता–माता के लिए चोरी नहीं कर सकता, पिता–माता का मान–सम्मान मेरा मान–सम्मान नहीं है तो उसका मान–सम्मान भगवान का मान–सम्मान बन जाता है। यदि ऐसा नहीं मानता तो उसका मान–सम्मान, स्वाभिमान, रावण का मान–सम्मान एवं स्वाभिमान हो जायेगा। ये तो रावण ने कहा था कि मेरे कुल की आन–बान और शान हैं ये। वह कुल की दुहाई देता है। भक्त कुल की दुहाई नहीं देता बल्कि भगवान की दुहाई देता है।

'त्रिविधं नरकस्येदं'– प्रेय एवं श्रेय दो मार्ग होते हैं। प्रेय संसार का मार्ग होता है और श्रेय भगवान का मार्ग होता है। श्रेय–मार्ग का चुनाव करनेवाले हैं जो, वे तो मेरी आज्ञानुसार चलते हैं और जो प्रेय–मार्ग स्वीकार करते हैं वे अपनी माता की, पिता की, भाई–बान्धव की आज्ञानुसार चलते हैं। काम भी आज्ञा देता है, क्रोध भी आज्ञा देता है, लोभ भी आज्ञा देता है, उनकी आज्ञा पालन करते हैं। श्रेय–मार्ग का अनुसरण करनेवाले मुझे प्राप्त हो जाते हैं और प्रेय–मार्ग का अनुसरण करनेवाले नरक को प्राप्त हो जाते हैं। क्षुद्र योनियों को प्राप्त हो जाते हैं मरने के बाद, संसार में नरक भोग लेने के बाद, शरीर छोड़ने के बाद कीट–पतिंगे हो जाते हैं, गधे बन जाते हैं, खच्चर बन जाते हैं, घोड़े बन जाते हैं, साँप, बिच्छू बन जाते हैं बार–बार, ये भी नरकयोनियाँ हैं।

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य'– चाहे कोई कितना भी जप, तप, योग क्यों न करें अपने मन से, कितना ही घोर जप, तप, योग करे लेकिन यदि सद्गुरु का समर्थन न हो, भक्त का आचरण न हो तो फिर घातक परिणाम हो जायेगा शम्बूक की तरह। जिन्होंने अपने मन से घोर जप, तप किया उनकी दुर्गति देखते बनती है। आज कल महाराज तो घर–घर में दुर्गति देख रहा है। अपने को भक्त समझनेवालों को देखता है कि उनकी दुर्दशा क्या हो रही है। क्यों? इसलिए कि उनमें शास्त्र बुद्धि नहीं है। 'वर्तते कामकारतः'– वहाँ व्यवहार काम की आज्ञा से हुआ है, क्रोध की आज्ञा से हुआ है। 'कामकारतः'– भौतिक सिद्धि ही नहीं प्राप्त होती है, आध्यात्मिक सिद्धि तो दूर की बात है, परमगति दूर की बात है। सुख तो पहले जन्म के कारण से मिल भी सकता है किन्तु शान्ति नहीं मिल सकती। चोर की तरह हाय, हाय, हाय करते रहते हैं। कल के दिन गरीब न हो जाएँ, मेरा मान न चला जाए, नाक न कट जाए बस इसीलिए हाय, हाय करते रहते हैं। नींद नहीं आती।

यह अंतिम मंत्र है गीता अध्याय १६ का। अतः प्रमाण को प्रमाणित करते हुए भगवान अपनी बात का शास्त्र से निर्णय करते हैं और मूर्ख पुराण से निर्णय करते हैं। शास्त्र की बात वे जान नहीं पायेंगे। यदि सच पूछा जाये तो आध्यात्मिक शास्त्र से निर्णय करना चाहिए, उपनिषद् ही आध्यात्मिक शास्त्र हैं। वह कहता है कि जब सद्गुरु सामने हो तो फिर वही दिव्य शास्त्र है, वही दिव्य वेद है, वही दिव्य पुराण है, वही दिव्य स्मृति है, वही नवार्णादि मंत्र है, वही सर्वास्त्र है और वही दिव्यास्त्र है। क्या धर्म है, क्या अकर्म है, क्या भला है, क्या बुरा है वही निर्णय करेगा। यदि आप वहाँ पर शास्त्र की दुहाई देते हैं और कहते हैं कि मैं यहाँ पर सत्य हूँ तो आप अपराधी हैं। आप जब सत्य कहते हैं अपने को उसकी बात को काटते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि आपकी दृष्टि में वह अन्तर्यामी नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि आपकी दृष्टि में वह भूत, भविष्य, वर्तमान को नहीं जानता, इससे सिद्ध होता है कि आप ये सिद्ध कर रहे हैं कि उसने कहीं से सुन लिया है, कच्चा कान है उसका, इसलिए मुझे दोषी ठहरा रहा है। गुरुदेव के पास महाराज ने एक पत्र लिखा सन् १९८४ में– एक संत के ऊपर आक्षेप किया था, वे सत्ययुग के अन्तिम चरण के संत थे उनका नाम 'रैक्व' था– उनके पास एक राजा ब्रह्मज्ञान माँगने गया। बैलगाड़ी के नीचे वे बैठे हुए थे, शरीर में खुजली हो गई थी, शरीर देखने में गंदा

लग रहा था, लगता था जैसे कोढ़ी बैठा है, तो लौट आये और अपने गुरु से कहा– वह ब्रह्मज्ञानी हो सकता है? वह तो चिल्ला रहा था, ऐसा लग रहा था जैसे कहाँ का भिखारी है। तो गुरु ने कहा– अरे मूर्ख! ब्रह्मज्ञानी वही है। फिर गये, कहा कि महाराज! हे प्रभु! मैं आपसे ब्रह्मज्ञान माँगने आया हूँ (पहले के राजा राजर्षि होते थे, ब्रह्मज्ञान की चाहना करते थे, तपस्वी हुआ करते थे, निष्कामी हुआ करते थे) कृपा करें आप। आत्मज्ञ रैक्व ने कहा कि अरे! तू चमड़े का पुजारी है। चमार वही होता है जो चमड़े को देखता है, चमड़े को देखनेवाला चमार कहलाता है, वह चमार ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं होता। तो तुझको मैं कोढ़ी दिखाई पड़ रहा था अतः जा, जा, जा! पहले तुम ब्राह्मण बनकर आना, ब्रह्मचारी बनकर आना तब तुम्हें ब्रह्मज्ञान दिया जायेगा। आ गये, बड़ा घोर पश्चात्ताप किया, वहाँ से क्षमा माँगकर आये, कुछ काल ब्रह्मचर्य का पालन किया दूसरी बार वह पहुँचे तो फिर गलती हो गई– सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात रथ पर लेकर चल पड़े और भेंट किया। रैक्व ने कहा– तू तो पत्थर का पुजारी है, पहले चमड़े का पुजारी था, अब पत्थर का पुजारी। तो कहा कि पत्थर से कहीं ब्रह्मज्ञान मिलता है! कहा– जा, जा, जा अभी ब्रह्मचर्य का पालन कर! बिचारा रथ पर अपना खजाना लेकर चला गया, घोर पश्चात्ताप किया, तीसरी बार प्रज्ञा चक्षु खुली और एक गाय लिया तथा एक अपनी कन्या को लिया जो आत्मज्ञान ही चाहती थी। उसने कन्या से कहा– बेटी मैं तुमको दान दूँगा एक आत्मज्ञानी संत को, क्योंकि मुझे उनसे ब्रह्मज्ञान लेना है, क्या तुम स्वीकार करोगी। बेटी ने कहा– जी! आप चाहे जिसे दान कर दें। अब इस बार साथ में सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात नहीं था, अब केवल एक गाय थी दुधारू, एक दिव्य गाय थी और एक कन्या थी। उस दिव्य गाय को और कन्या को भेंट कर दिया तथा कहा कि हे प्रभु! अब आप कृपा करें (पहले की परम्परा थी उस समय कन्या का दान करते थे संतों को, ऐसी हजारों कथाएँ हैं जैसे सौभरि ऋषि के पास एक राजा की सात कन्याएँ चली गयीं)। तो रैक्व के व्यवहार के प्रति महाराज को दोष–दर्शन हो गया। गुरुदेव के पास लिखा कि एक तरफ आत्मज्ञानी संत हैं रैक्व और दूसरी तरफ कन्या का दान ले लिया तो फिर यह क्या बात है? गुरुदेव ने पत्र पाया और वह मार–मारी महाराज को कि महाराज फिर नहीं कुछ कहा। पत्र में महाराज के अनुकूल उत्तर तो था ही नहीं– गुरुदेव ने लिखा तेरा काम बोल रहा है– तेरा 'काम' बोल रहा है– तुम रैक्व को क्या देखोगे अपने 'काम' को देखो! उत्तर मिला नहीं लेकिन उत्तर तो था ही। महाराज आया इन्दौर से सासाराम (गीताघाट) चरणों में प्रणाम किया। कहा कि गुरुदेव अपराध को क्षमा करें, सचमुच में काम बोल रहा था। इसप्रकार सद्गुरु के पास कोई प्रतिवाद क्या करेगा, वह कहाँ बोल रहा है कहाँ नहीं बोल रहा है, क्यों बोल रहा है? वह तो एक बहाना बनाता है कि उन्होंने ऐसा कहा वे वैसा कह रहे हैं। इसलिए अब आप सब भी विचार करें कि आप सब हैं कौन– असुर हैं, देवता हैं, मनुष्य हैं या भक्त हैं? क्या हैं आप! यदि भक्त हैं तो दिव्य वातावरण तो आपका यहीं बन जाना चाहिए, तीन साल बहुत होता है दिव्य वातावरण बनने के लिए, तीन साल नहीं तो छः साल, छः साल नहीं तो नौ साल, नौ साल नहीं तो बारह साल, यह अन्तिम अवधि है, इसके आगे तो किसी भक्त के पास ऐसा नहीं देखा गया। हाँ, अब संत का ही शाप है तो राजा दशरथ अपना प्राण छोड़ देंगे, लेकिन चौदह साल के बाद अयोध्या पुनः हरी–भरी हो जायेगी

राम राजा बनेंगे, भरत–लक्ष्मण चँवर डुलाएँगे, शत्रुघ्न सेवकाई करेंगे, माँ कौसल्या एवं वही कैकेई जो दुर्बुद्धिवाली हो गयी थी तथा सुमित्रा ये तीनों माताएँ आरती उतारेंगी। चौदह साल की अवधि है, चौदह साल के उपरान्त तो संत का शाप भी समाप्त हो जाता है, यदि आप धर्म के साथ रह रहे हैं तो। यदि संत का शाप नहीं है तो तीन साल बहुत होता है, तीन साल में दिव्य वातावरण हो जाना चाहिए, भक्ति निर्मल हो जानी चाहिए, समर्पण सम्पूर्ण हो जाना चाहिए, हर तरह से सम्पन्नता आ जानी चाहिए, शरीर नीरोग हो जाना चाहिए, वाणी में सत्य का वास हो जाना चाहिए, दृष्टि शुभदृष्टि हो जानी चाहिए अर्थात् जो भक्त के पास होना चाहिए वह सबकुछ हो जाना चाहिए। यदि नहीं हो रहा है तो विचार का विषय है।

(तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते.....) अर्जुन मन ही मन हँस रहे हैं कि प्रभु इधर तो शास्त्र के अनुसार चलने को कह रहे हैं और उधर शास्त्र के मर्म को जाननेवाले पितामहभीष्म के साथ युद्ध करने को कह रहे हैं। भगवान ने मन की बात ताड़कर कहा कि शास्त्र को जानने एवं उसके अनुरूप व्यवहार करने में अन्तर है। इन्होंने अवश्य ही धर्मशास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन किया है, तभी तो दुर्योधन ने इन्हें अपना दास बना लिया। इनके सामने तो शास्त्रमत के साथ–साथ संतमत भी था। इसलिये कि विदुर जैसे संत ने धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन आदि के न मानने पर संन्यास ले लिया, अतः इन्हें भी वैसा ही करना चाहिये था।

यही नियम सभी साधकों को अपनाना चाहिये। एक दिन कृपानन्द ने कहा था कि अठारहों अध्याय गीताजी का पाठ रोज करता हूँ तो भी कुछ शान्ति नहीं मिल रही है। महाराज ने कहा– यदि अठारहों अध्याय गीताजी का पाठ करना ही है तो सुबह ही कर लो दिन भर क्यों करते रहते हो? अन्य समय में पाठ किये हुए का चिन्तन करो और अपने लिये प्रभु ने क्या कहा है, वैसा व्यवहार में प्रयोग करो। महाराज तो कहता ही रहता है कि एक घण्टा जप करने के बाद तीन घण्टे चिन्तन, एक घण्टा प्राणायाम के बाद तीन घण्टे का ध्यान, तीन घण्टे का ध्यान करने के बाद छः घण्टे का चिन्तन; जब कोई ऐसे करता है तब उसे शान्ति मिलती है तथा जप एवं ध्यान में विशेष समय जा रहा है तो एक ही अध्याय का पाठ करो– आज प्रथम, कल द्वितीय, आदि आदि। हर अध्याय में भगवान ने आपके योग्य व्यवहार दिया है, वह व्यवहार प्रभु ने प्रयोग के लिये दिया है, न कि पाठ ही के लिये। हर अध्याय आपके जीवन का दर्पण है, जो आपके गुण एवं दोष दोनों को प्रकट करता है। अतः प्रभु का स्मरण करते हुए अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करो।

एक साधक ने महाराज से कहा कि अबके पूर्व मैं जहाँ रहता था, वहाँ इससे विशेष साधन–भजन कर लेता था। महाराज ने कहा– क्यों नहीं! आपने इतनी साधना की, इतनी साधना की कि शरीर में पचासों रोग प्रकट हो गये। जहाँ जप, तप, योग से शरीर निर्मल हो जाता है, भले ही हड्डी ही क्यों न बचे; वहीं आपका तो उलटा हो गया, 'शरीर ही चौपट हो गया। आप दिन भर भगवान के जप एवं ध्यान में ही रहते थे तो भी आपके जप एवं शरीर को भगवान ने कहीं का नहीं रखा। अब कुछ ही दिन में शरीर या तो चला जाता या चिकित्सालय में भर्ती

होता। फिर आपका शरीर चौपट क्यों हो गया, भगवान ने आपकी रक्षा क्यों नहीं की? इसलिए कि आपके पास साधना के किसी न किसी अंग का अभाव था। इस पर आप विचार करें। कैसी साधना थी आपकी कि दिन में वीर्यपात, रात में वीर्यपात, पेशाब के द्वारा वीर्यपात, मल के द्वारा वीर्यपात होता था। छिः! धिक्कार है आपको, जो कह रहे हैं कि उस समय ज्यादा भजन कर लेता था। अरे! वहाँ दिन भर जप एवं ध्यान करते थे तो उसे ही यहाँ भी करते रहो और जिस साधन का अभाव था, उस साधन को भी पकड़ लो। अब से नियमानुसार शुद्ध सात्त्विक हल्का आहार समय से प्राप्त करो, दिन में सोना छोड़कर रात्रि में समय से सोओ और जागो। समयानुसार आसन, प्राणायाम, स्वाध्याय, चिन्तन, सत्संग करो तथा अपने मन की हर बात सद्गुरु को समर्पित कर दो।

एक बार महाराज ने खगेन्द्रानन्द एवं पुष्करानन्द से कहा कि अब आपलोगों ने बहुत से शास्त्र–पुराण पढ़ लिये, बहुत से विद्वानों की पुस्तकें पढ़ ली। अब आपदोनों मनमाना अध्ययन छोड़कर गीताजी का पठन–पाठन एवं चिन्तन प्रारम्भ करें। बुद्धिमान साधक भगवत्प्रसाद को चिन्तन के द्वारा आत्मसात् करता है। श्रीमद्भगवद्गीता भगवत्प्रसाद है। इसके द्वारा गहन चिन्तन करने के उपरान्त अपना दोष बाहर आता है। जितना आप अपने दोष को निकटता से देख लेते हैं, उतना दूसरा नहीं देख पाता। जब दोष दिखाई देता है तो उसका समाधान करें। यदि अपने से समाधान नहीं निकलता है तो सद्गुरु से कहें। फिर देखें जीवन की गुत्थी कैसे नहीं सुलझती है। अरे! जप–तप करते–करते गुरु को पा गये, गुरु की आज्ञा पालन करने से चिन्तन को पा जाओगे तथा चिन्तन करते–करते अपने स्वरूप को पा जाओगे। ताँगे से कोई बस तक पहुँच जाता है तो ताँगा छोड़ देता है, ट्रेन को पाकर बस छोड़ देता है तथा गन्तव्य को पाकर ट्रेन छोड़ देता है। वैसे ही सद्गुरु द्वारा दिये हुए शास्त्र को पाकर पूर्व के शास्त्रों से अनासक्त हो जाना चाहिये, सद्गुरु द्वारा दिये चिन्तन को पाकर पूर्व के चिन्तन का त्याग कर देना चाहिये, सद्गुरु द्वारा दी गई प्रार्थना को पाकर पूर्व की प्रार्थना का त्याग कर देना चाहिये।

जप कालान्तर में सिद्धि देता है किन्तु प्रार्थना एवं चिन्तन तत्काल सिद्धि प्रदान करते हैं। गीता शास्त्र एक आध्यात्मिक चिन्तन की धारा है, आप सहजता से इस चिन्तन की धारा में प्रवेश कर सकते हैं। यह धारा आपको बहाते–बहाते ब्रह्मधारा के पास लेकर जायेगी। पहले सामान्य चिन्तन से विशेष चिन्तन, विशेष चिन्तन से विशेषातिविशेष चिन्तन करने की परम्परा है। आद्यगुरु शंकराचार्य ने कहा है कि गुरुमुख से चिन्तन तो ले लिया लेकिन स्वयं से उसका चिन्तन नहीं किया तो आपने स्वयं का एवं सद्गुरु का अपमान नहीं किया? महाराज प्रायः एक चिन्तन दिया करता है जो गीताजी के दूसरे अध्याय का है जिसे महाराज को महाराज के गुरुदेव ने दिया था–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

(गीता अध्याय–२)

जिसप्रकार शरीर पर वस्त्र होते हैं जिन्हें समयानुसार बदल दिया जाता है; ठीक उसीप्रकार यह शरीर भी जीवात्मा पर वस्त्र के समान होता है, जो बचपन से जवानी में, जवानी से बुढ़ापे में, बुढ़ापे से मृत्यु में, मृत्यु से पुनर्जन्म में बदलता रहता है; किन्तु जीवात्मा जो बचपन में रहता है, वही जवानी में रहता है, जो जवानी में रहता है, वही बुढ़ापे में रहता है, जो बुढ़ापे में रहता है, वही मृत्यु में रहता है, जो मृत्यु में रहता है वही पुनर्जन्म में रहता है; क्योंकि वह अजर है, अमर है, शाश्वत है, सनातन है, पुरातन है, अव्यय है, अविनाशी है, घट–घटवासी और सुख की राशि है। अतः आज से गुरु आदेशानुसार मैं अपने आपको शरीर न मानकर आत्मा, जीवात्मा, अन्तरात्मा मानूँगा तथा जानूँगा/मानूँगी तथा जानूँगी।

यह मंत्र इस गीता शास्त्र की आत्मा है। अब इस आत्मा के ऊपर जिस शरीर का निर्माण है, उसे भी तो आप देखें कि कैसे इस शरीर का निर्माण किया जायेगा। आप कहते हैं कि आज से मैं अपने आपको शरीर नहीं मानूँगा तो फिर दूसरे के शरीर को आप अपना हितैषी कैसे मान लेते हैं? भूल तब होती है, जब अपने को तो शरीर नहीं मानते लेकिन माता–पिता, भाई–बान्धव आदि को मानते हैं। आप अपने शरीर से तो उदासीन हो जाते हैं, अपने शरीर को तो पूछते ही नहीं, जप, तप, योग से तपाते हैं लेकिन दूसरों के शरीर से प्रेम करते हैं। जब आप अपने शरीर, मन, इन्द्रियों को सन्तुष्ट नहीं करते तो दूसरे के तन, मन आदि को सन्तुष्ट क्यों करते हैं? इसप्रकार गहन चिन्तन करने से अपना दोष दिखाई पड़ता है। जब भगवान ने पूर्व में ही कह दिया कि सर्वप्रथम आप स्वयं का उद्धार करें, फिर अन्य की चिन्ता करें अर्थात् आप स्वयं पहले शरीर, मन, बुद्धि से मुक्त हो जायें फिर दूसरे की चिन्ता करें। क्या प्रमाण है कि कल के दिन आपको लकवा नहीं मारेगा, हृदयघात नहीं होगा आदि–आदि। जब ऐसी बात है तो किसी अन्य के लिये क्या जीना? इसलिये बहुत दूर, बहुत दूर, बहुत दूर चले जायें, जहाँ लगे कि आपका नया जन्म है या तो जैसा सद्गुरु कहे वैसा ही करें। आप किस दिन–रात के लिये बैठे हैं, शास्त्र तो ऐसा ही कहता है। यदि आप ऐसा भी नहीं करते तो आप निश्चितरूप से असुर हैं अथवा आसुरी प्रकृति के घेरे में हैं।

महाराज सन् १९८० के लगभग एक संत के पास ठहरा हुआ था, उस सन्त की कुटिया के आस–पास कई साधक रहते थे। उन साधकों में से एक साधक ने महाराज से कुछ क्रियाओं की माँग की। महाराज ने संत से पूछा– आपकी कुटिया के पास रहनेवाला एक साधक जिसकी आप में श्रद्धा है, आपकी प्रशंसा किया करता है; वह कुछ क्रियाओं को सीखना चाहता है, क्या मैं सिखा दूँ? संत ने कहा– नहीं, वे तो पितामहभीष्म हैं। बाद में पता चला कि उन साधकों को उस संत से ईर्ष्या है।

साधक को पग–पग पर सजगता की आवश्यकता होती है। साधक औपचारिकता में मारा जाता है। जब संत या सद्गुरु अपने कवच बन गये हैं, तब शिष्य का कर्तव्य है कि वह किसी अन्य का कवच बनने का प्रयत्न न करे। सन्तों की दृष्टि में पितामहभीष्म की बड़ी अवहेलना है क्योंकि चीर–हरण के समय जहाँ उन्हें विरोध कर देना चाहिये था, वहाँ वे मौन रह गये थे।

आपमें यदि बहुत से सद्‌गुण हैं लेकिन आप आध्यात्मिक नहीं हैं तो परिणाम घातक होगा। राघवानन्द इसके जीते–जागते उदाहरण हैं। ये एक उच्च कोटि के साधक हैं, संन्यास ले लिया है किन्तु अपने स्वजनों से मुक्त नहीं हो पाये थे। इस हेतु इन्हें व्रत करना पड़ा था; तब स्वजन मोह समाप्त हो सका। इसप्रकार उसमें लम्बा समय लग गया। भगवान के लिये जीने लगने पर यदि आप किसी जीव के लिये भी जीते हैं तो आपके जप, तप, योग का अंश उसकी ओर भी जाता है; जिससे आपका पथ विघ्नरहित नहीं हो पाता। जब कोई साधक सिद्धान्त का त्याग कर देता है तो उसके शरीर को देखने मात्र से ही दोष लगता है। जब महाराज आपसे दूसरों की पुस्तकों को पढ़ने से मना करता है तथा एक मात्र वेद, शास्त्र, पुराण, गीता, रामायण आदि पढ़ने को कहता है तो उसके पीछे बहुत बड़ा कारण है। चरित्रभ्रष्ट विद्वानों ने भी गीताजी पर भाष्य किया है, इन अपवित्र विद्वानों ने शास्त्रों, पुराणों पर भी अपना मत दिया है; उनके द्वारा दिये गये मत को पढ़ने से उनका दोष भी अपने में आता है। कामी, क्रोधी, लोभी के द्वारा दी गयी किसी भी विषयवस्तु को आप स्वीकार करते हैं तो आपका तन, मन, वचन, हृदय भी उसके दोष से दूषित होता है।

एक दिन अभयानन्द ने पूछा कि क्या मैं अमुक भजन गा सकता हूँ। महाराज ने कहा "नहीं, वह भजन कामराग से गाया गया है।" साधक को शास्त्रीय राग से भजन गाना चाहिये।

शास्त्र ने साधकों एवं भक्तों के जीवन में बहुत विशेष हस्तक्षेप किया है। शास्त्रानुसार सद्‌गुरु जो ग्रन्थ दें वही पढ़ना, पनघट के पास स्नान को न जाना। सद्‌गुरु के पास भी तामस एवं राजस साधक रहते हैं, उनसे व्यवहार न करना। जहाँ बहुतों का आना–जाना हो, वहाँ मत रहना; इत्यादि इत्यादि।

सन् १९८३ में वर्षभर आत्मानन्द ने अपने तीन साथियों के साथ नमक एवं भात खाया। महाराज ने कहा कि तुम लोग यहाँ के सन्त से मत कह देना! अरे! कन्दमूल से तो इसमें विशेष शक्ति है, शास्त्र तो साधक को रूखा–सूखा खाने को ही कहता है।

मध्यप्रदेश के एक आश्रम में एक माँ को किसी विषैले जन्तु ने काट खाया; वह तड़प रही थी। उसकी यह स्थिति देख, एक साधक दया से भर गया परिणामस्वरूप उसे कन्धे पर उठाकर डाक्टर के पास ले गया। उसके दूसरे साधक मित्र ने उससे कहा कि दया तो मुझे भी आ रही थी लेकिन शास्त्र कहता है कि ब्रह्मचारी दया में मारा जाता है, जैसा कि तुम आज दया में मारे गये। मेरा अनुमान है कि वह माई तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगी। जब वहाँ गृहस्थ थे ही तो तुमने उसे जल्दी से कन्धे पर क्यों उठा लिया। ब्रह्मचर्य धर्म तो कहता है कि यदि गृहस्थ नहीं भी रहते तो भी उसकी सेवा का धर्म तुम्हारा नहीं बनता था।

नर्मदा के किनारे महाराज ने देखा कि एक साधक के पास कराहती हुई एक माँ आयी, रात्रि के नौ बज रहे थे। उस साधक ने उसे उस स्थिति में देखते ही जान लिया कि अब तो इसे यहाँ शरण देनी ही पड़ेगी। अतः साधक ने भी अपने दोनों हाथों से पेट को पकड़कर

कराहना शुरु किया और आह–आह! करते हुए उससे कहा कि माई! तुम इस कुटिया में रहना, मैं तो चिकित्सालय जा रहा हूँ, मेरी तो जान निकली जा रही है। माई ने रोते–कलपते कहा कि फिर मैं यहाँ अकेले कैसे रह सकती हूँ, दूसरे आश्रम में जा रही हूँ। साधक ने कहा कि ठीक है जाओ, अब पता नहीं मैं कितने दिन में चिकित्सालय से लौटूँगा। वह साधक कहीं जाकर छिप गया और जब माँ चली गयी तब लौट कर आया। उस साधक के द्वारा शास्त्र आज्ञा का पालन होते देख महाराज ने एक तीसरे साधक से कहा– साधक के लिये कैसी औपचारिकता, कैसी दया, कैसी करुणा; वह व्यवहार में अभय होता है। जिसको जो भी उसके विषय में कहना हो कह ले, उसको चिन्ता नहीं होती। साधक स्वयं से अपने आध्यात्मिक चरित्र का निर्माण करता है। उसके लिये उसे आर्ष (वैदिक) ऋषियों के चरित्र का ही पठन–पाठन करना होगा। पुष्करानन्द के पास सैकड़ों साधकों की जीवनी है। उनके पास ऐसे साधकों के नाम हैं जो लोगों के दृष्टि में हिमालय जाकर आज तक लौटे नहीं। जब वे लौटते ही नहीं तो क्या प्रमाण है कि वे हैं भी कि नहीं, हैं तो किस हालत में हैं? इसलिये उनके जीवन–चरित्र को छोड़कर प्रमाणित संतों की जीवनी पढ़नी चाहिये। संत तुकाराम, एकनाथ, ज्ञानेश्वर महाराज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, समर्थ स्वामी रामदास, संत नानक, कबीर, भक्त सूरदास एवं भगवती मीरा आदि की जीवनी तो पढ़नी ही चाहिये तथा शास्त्र, पुराण और उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मचारियों की जीवनी भी पढ़नी चाहिये।

(तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते.....) आपके कार्य एवं अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। हाँ, सद्गुरु सामने है तो शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। महेशानन्द ने कहा कि जब भण्डार में ऐरे–गैरे को खाते देखता हूँ तो चिढ़ छूटती है, फिर सोचता हूँ कि यह भण्डार तो महाराज जी का है, मुझे किसी में दोष–दर्शन नहीं करना चाहिये। फिर भी यह दिखायी पड़ जाता है। महाराज ने कहा कि घर से कंजूसी करते आये हैं न आप! अरे! महाराज ने कह ही दिया है कि भण्डार गंगाजी का है, गंगाजी खिला रहीं हैं तो आप देखनेवाले कौन होते हैं? गंगाजी तो कामी, क्रोधी और लोभी सबको खिलाती हैं तथा उन सबका भी उद्धार करती हैं। आप में दोष तब आता है, जब आप अपने पद से विमुख हो जाते हैं।

नोएडा के सुरेन्द्र ने आश्रम में अपने पैसे से दूध खरीदकर पीया; जबकि शास्त्र कहता है कि सद्गृहस्थ में यदि सामर्थ्य है तो आश्रम में संतों को खिला–पिलाकर खाये–पीये। दूध पीते ही उनसे एक अपराध हो गया। सवेरे–सवेरे रवीन्द्र नामक ब्रह्मचारी के साथ दूसरे के बगीचे से कच्चे आम उठाकर ले आये। महाराज ने कहा कि बगीचे के मालिक से पूछा था या पैसे से खरीदा था? उन्होंने कहा कि नहीं, ये तो आँधी से गिरे हुए थे, इसलिये उठा लिये। महाराज ने कहा यहाँ के संतों को मत खिला देना। एक तो यह आम चोरी का कहा जायेगा, दूसरा ब्रह्मचारियों को खट्टा आम नहीं खाना चाहिये। वे जब समझे कि इसे चोरी कहा जायेगा तो पुनः बगीचे में आम रख आये। अचानक दूसरे दिन पाँव में मोंच आ गयी। महाराज ने कहा कि आश्रम में आकर धनवान बनते हो न आप, नोएडा में तो पाँच सौ की रोज शराब पीते थे और यहाँ पचास रूपये का दूध साधकों को पिलाते नहीं बनता। यदि साधकों को दूध पिलाकर पीते तो

शराब भी छूट जाती तथा जीवन भी धन्य हो जाता।

जब सद्गृहस्थ संन्यास आश्रम में एक–दो महीने के लिये आता है तो वह वानप्रस्थी कहलाता है। यदि वह तन, मन, धन, से संपन्न है तो संतों को खिलाकर खाये, उनको कपड़ा पहनाकर पहने, उनकी व्यवस्था को व्यवस्थित करके अपनी व्यवस्था का ध्यान रखे। फिर देखिये कि उससे आश्रम में कितना भजन होता है। कहीं शास्त्र का अर्थ विपरीत न हो जाये, उसके लिये जप–तप के साथ उसका चिन्तन करना होगा।

पितामहभीष्म ने शास्त्र के अर्थ का अनर्थ लगा लिया था। उन्होंने कहा द्रौपदी माँ से कि बेटी! जो भी मेरे से अपराध हो गया था, वह इसलिये कि दुर्योधन का अन्न खाया था न! यदि शास्त्र का अर्थ अपने से नहीं निकलता है तो संत और सद्गुरु से निर्णय कराना चाहिये। शास्त्र कहता है, सद्गुरु कहते हैं कि प्रतिकूलता में जितनी साधना सिद्ध होती है उतनी अनुकूलता में नहीं किन्तु आप जीवनपर्यन्त अपने अनुकूल आसन–अशन एवं वसन (वस्त्र) की व्यवस्था में लगे रहते हैं। महाराज बहुत से साधकों को देखता है कि एक अंश भी प्रतिकूलता सहन नहीं हो रही है; इसलिये कि अनुकूलता की चाह है।

इस अध्यायानुसार दैवी एवं आसुरी प्रकृति का छाया चित्र देखकर सुगमता से प्रकृति की पहचान हो सकती है। तो आयें अब छायाचित्र देखते हैं–

दैवी पुरुष का स्वरूप :–

अभयता ही उसकी	–	आत्मा है;
अहिंसा उसका	–	प्राण है;
ज्ञानयोग एवं चित्त की निर्मलता उसकी	–	दो आँखें हैं;
शान्ति एवं त्याग उसके	–	दो कान हैं;
स्वाध्याय एवं विन्रमता उसके	–	दो नासाछिद्र हैं;
तेज, शौच, अद्रोह, अनभिमानता, शिष्टाचार ही उसकी	–	जिह्वा है;
सत्य एवं अपैशुनता ही उसकी	–	वाणी है;
दया, अलोलुपता, कोमलता, अचंचलता ही उसका	–	पेट है;
यज्ञ एवं दान ही उसकी	–	दो भुजाये हैं;
तप एवं दम (इन्द्रिय निग्रह) उसके	–	दो पैर हैं;
धृति, अक्रोध एवं क्षमा ही उसका	—	बल (शक्ति) है।

आसुरी पुरुष का स्वरूप :–

अभिमान ही उसकी	–	आत्मा है;
काम (मैथुन) ही उसका	–	प्राण है;
परदोष–दर्शन एवं नास्तिकता ही उसकी	–	दो आँखें हैं;
परनिन्दा एवं कामक्रीड़ा सम्बन्धी बातें सुनना उसके	–	दो कान हैं;

अप्रवृत्ति एवं अनिवृत्ति ही उसके	–	दो नासाछिद्र हैं;
मांस एवं अपवित्र भोजन भक्षण तथा मद्यपान ही उसकी	–	जिह्वा है;
असत् सिद्धान्त ही उसकी	–	वाणी है;
लोभ ही उसका	–	पेट है;
चोर, बदमाश, मूर्ख, हिंसक मित्र ही उसकी	–	भुजायें हैं;
राग एवं द्वेष ही उसके	–	दो पैर हैं;
क्रोध ही उसका	–	बल (शक्ति) है;
अज्ञान ही उसका	–	जीवन है;
असंख्य चिन्तायें ही उसके	–	विचार हैं।

मैं बड़ा धनवान, कुटुम्बवान हूँ; मेरे समान दूसरा कौन है? आमोद–प्रमोद करना, घमण्ड, धन, मान के मद में चूर रहना; अशास्त्रीय यज्ञ करना, वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरे शत्रुओं को मारुँगा, मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान एवं सुखी हूँ, आज इसको प्राप्त कर लिया और अब उसे प्राप्त करूँगा, आज इतना धन है कल हजार गुना हो जायेगा;यही उसका } अहंकार है।

इसप्रकार दैवी एवं आसुरी पुरुषों का छायाचित्र पूर्ण हुआ।

अब श्रीरामचरितमानस के अनुसार दैवी एवं आसुरी पुरुषों का छाया चित्र देखें :–

दैवी पुरुष का स्वरूप :–

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी।।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई।।

दो०– तौते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड।।३७।।

विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।।
सम अभूतरिपु विमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।।
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया।।
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी।।
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन।।
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री।।
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर।।

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।।

दो०– निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज।।३८।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

आसुरी पुरुष का स्वरूप :–

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ।।
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।।
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।।
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।।
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन।।
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों।।
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा।।

दो०– पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद।।३९।।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।।
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।।
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती।।
स्वारथ रत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी।।
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं।।
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा।।
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी।।
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

(तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते.....) अब युद्ध की तरफ चलकर देखते हैं कि वहाँ की कहानी क्या है– धृतराष्ट्र ने संजय से कहा कि तुम कह रहे हो कि ये मधुसूदन कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण मानने की बात कर रहे हैं, फिर तो मेरा प्रिय अर्जुन शास्त्रीय न्याय से ही गुरुजनों एवं स्वजनों के विरुद्ध युद्ध नहीं करना चाहता था; तो ये बार–बार युद्ध के लिये क्यों ललकार रहे हैं?

संजय ने कहा–हे राजन्! आज भगवान मधुसूदन ने आध्यात्मिक शास्त्रों की स्थापना कर, भौतिक शास्त्रों का खण्डन कर दिया है। कर्मकाण्डीय शास्त्र अज्ञानियों के अज्ञान की व्यवस्था मात्र है, महाराज! भक्तिपथ में उसका महत्त्व नहीं है।

तो क्या पितामहभीष्म अशास्त्रीय माने जायेंगे? धृतराष्ट्र ने पूछा।

क्यों नहीं, वे तो स्वयं में एक शास्त्र हैं! द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य एक–एक शास्त्र हैं! आपके दुर्योधन के मामा शकुनि के शास्त्र की समानता तो कोई कर ही नहीं सकता!– संजय ने कहा।

ये तुम व्यंग क्यों बोल रहे हो, क्या तुम्हें अपने राजा से भय नहीं है?

नहीं राजन्! नहीं, मुझे भय नहीं है क्योंकि मैंने ब्रह्म के द्वारा ही ब्रह्मशास्त्र सुना है। इसलिये आपके हित के लिये जो सत्य है, वही कहूँगा। क्या भगवान मधुसूदन से कोई विशेष शास्त्र जानता है राजन्! शास्त्र कहता है कि जब सामने सद्गुरु हो, सामने भगवान हो तो फिर शास्त्र की तरफ मत देखना बल्कि सद्गुरु और भगवान की तरफ देखना। जो शास्त्र कहता है– स्वजनों से युद्ध नहीं करना चाहिये वही शास्त्र भगवान विरोधी माता–पिता को त्याग करने की बात भी करता है।

तो क्या गाण्डीव उठा ली अर्जुन ने? धृतराष्ट्र ने पूछा।

उनकी दृष्टि अब विशेष गाण्डीव की तरफ जाने लगी है राजन्! वह समय दूर नहीं जब वे गाण्डीव उठाकर घोर गर्जना करेंगे। थोड़ा ठहरें राजन्! लगता है अर्जुन कुछ भगवान से पूछ रहे हैं।

ऐसा कहकर संजय ने भगवान की तरफ आँख और अर्जुन की तरफ कान लगाये, यहीं से देवताओं एवं असुरों के स्वभाव एवं गुणों का बखान करनेवाला यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त होता है।

(ॐ तत्सदिति.....) सम्पूर्ण अध्यायों के पूर्ण होने पर महर्षि व्यासजी ने एक अद्भुत मंत्र दिया है– "ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विषादयोगो, सांख्ययोगो....., मोक्षसंन्यासयोगो' नाम..... अध्यायः", जिसका आशय है कि आपका विषाद, शोक, सन्ताप अर्जुन का विषाद, शोक, सन्ताप बने; क्योंकि उनका विषाद 'ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्रों' का है। उसीप्रकार उनको भगवान के द्वारा दिया हुआ उपदेश भी ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्रों का ही है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि भौतिक एवं कर्मकाण्डीय शास्त्रों के आचार, विचार एवं व्यवहार तथा आसन, अशन और वसन का आप परित्याग कर दें। यद्यपि महात्मा अर्जुन ने भगवान के पास शास्त्रीय बात करके ही स्वजनों से युद्ध करना अधर्म है ऐसा कहा है किन्तु भगवान उनके कथन को आध्यात्मिक योगशास्त्रीय नहीं मान रहे हैं तभी तो इस अध्याय में कहा उन्होंने– 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' तेरे लिए आध्यात्मिक शास्त्र ही प्रमाण है। यानी तुम्हें भौतिक शास्त्रों का आश्रय लेकर मेरे से बात नहीं करनी चाहिए।

भगवान के द्वारा उपरोक्त मंत्र से गरुड़पुराण भौतिक शास्त्र सिद्ध हो रहा है। इतना ही नहीं बल्कि श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस तथा उपनिषदों को

छोड़कर सभी ग्रन्थ भौतिक हैं क्योंकि उन ग्रन्थों में विशेष देवयज्ञों का ही वर्णन मिलता है जो सामान्य बुद्धिवालों के द्वारा ही ग्रहण किये जाने योग्य हैं। भगवान इसलिए भी आध्यात्मिक शास्त्रों की बात कर रहे हैं क्योंकि अन्य कर्मकाण्डीय ग्रन्थों एवं संहिताओं में देवपूजकों के आचार, विचार, व्यवहार से देवताओं को कुछ लेना–देना नहीं है; वे देवगण तो शुद्ध आसन, अशन, वसन तथा शुद्ध मंत्र के अनुष्ठान से प्रसन्न होनेवाले हैं। जैसे भगवान शिव, ब्रह्मा आदि देवता रावण, कंस, जरासंध, बाणासुर, जयद्रथ आदि के द्वारा जगत के प्रति होते हुए दुर्व्यवहार को नहीं देखते बल्कि उनके घोर जप, तप, योग से प्रसन्न होकर मुँहमाँगा वरदान दे बैठते हैं। ठीक उनके विपरीत निर्गुण–निराकार, शुद्ध सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्ण एवं प्रभु श्रीराम इनसे कुपित होकर इनका सर्वस्व छीन लेते हैं।

महात्मा अर्जुन ने संपूर्ण बातें तो शास्त्र की ही की है– गरुड़पुराण की बात कह करके उन्होंने भगवान की अवहेलना कर दी है– वे ही भगवान अब शास्त्र की बात कर रहे हैं कि (तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते) शास्त्र का ही प्रमाण मानना चाहिए। महात्मा अर्जुन मन ही मन सोच रहे हैं कि मैं तो फिर शास्त्र की ही बात कर रहा था, अशास्त्रीय बात नहीं कर रहा था। इसपर भगवान मानो कह रहे हैं कि 'तुम्हारे द्वारा जो शास्त्र का वर्णन किया गया है वह वैसा नहीं है जैसा कि तुम कर रहे हो, उसे तो गुरु के माध्यम से ही, स्वाध्याय का, मनन का, चिन्तन का अवलम्बन बनाया जाता है।' मनमाना शास्त्र का पठन–पाठन भी आपको मनमाना रास्ता दे सकता है चलने के लिए। शास्त्रज्ञानी तो रावण भी था, कुम्भकर्ण भी था, मेघनाद भी था, इन्हीं की तरह बहुत से असुर भी थे लेकिन उनका शास्त्र कोई काम न आया, अर्थ का अनर्थ हो गया। इसलिए शास्त्र परम्परा में भी गुरु की अध्यक्षता आवश्यक है। जबतक आप सद्गुरु की अध्यक्षता में शास्त्र का स्वाध्याय नहीं करते हैं तबतक कुछ का कुछ हो जायेगा। अति श्रद्धा, अति श्रद्धा से सम्पन्न पुरुष के लिए शास्त्र है, जो श्रद्धा–विश्वास से संपन्न नहीं है उसके लिए तो शास्त्र से वितंडावाद खड़ा हो जाता है, शास्त्र उसके लिए घातक परिणाम दे जाता है। जैसे कोई कह सकता है कि 'जाके प्रिय न राम वैदेही.....', जिन्हें भगवान प्रिय नहीं हैं, वे चाहे माता–पिता, भाई–बान्धव ही क्यों न हों उन्हें करोड़ों वैरी के समान समझकर त्याग दें– ये तो बात कही गयी है लेकिन करोड़ों वैरी समझकर उनके पास वैरी जैसा ही व्यवहार करें, यह नहीं कहा गया। जैसे एक साधक ने रात अपने पिता के साथ फोन पर बहुत कुछ दुर्व्यवहार किया, जैसे वे बोलते थे, उनसे हजार गुना यह बोलता था। अरे! कहा तो गया है कि ऐसे पिता का त्याग कर देना चाहिए लेकिन त्याग का तात्पर्य यह नहीं कि उसका आप निरादर करें, बल्कि साधकों के लिए त्याग का तात्पर्य है– 'उदासीन हो जाएँ।' हाँ, गृहस्थ आश्रम में किसी के पास शक्ति–सामर्थ्य है और कोई अपना स्वजन भगवान विरोधी हो गया है तो उसको उचित दण्ड दें। भगवान महात्मा अर्जुन से कहते हैं कि इनको मारो और संन्यासियों से कहते हैं कि उदासीन हो जाओ– ये दो बातें हैं। बालक के पद पर महात्मा प्रह्लाद ने कभी दुर्व्यवहार नहीं किया पिता से। तो जहाँ–जहाँ यह बात आवे वहाँ पर 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' शास्त्र ने प्रमाण दे दिया कि अपने स्वजन ही भगवान विरोधी हैं तो उनको मार डालो' यह सामान्य अर्थ लगेगा यहाँ पर,

लेकिन अब देखना होगा कि आप किस पद पर हैं, क्या अर्जुन के पद पर हैं? क्या वैसी विषम भूमि है? यदि वैसी विषम भूमि नहीं है तो फिर आपके लिए वहाँ पर 'युद्ध' का तात्पर्य कुछ और हो जायेगा। वहाँ अर्थ हो जायेगा उदासीन हो जाना, आज्ञा का पालन न करना, निवेदन करना और इतने पर भी सताये जाने पर सहन करना ये चार–पाँच चरण हो जाएँगे। किन्तु ऐसा महाराज नहीं देखता कुछ साधकों के व्यवहार को।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'– चार दिन बाद का टिकट बन गया है। भक्त भृगुनाथजी अपनी धर्मपत्नी को लेकर बनारस जा रहे हैं। महाराज ने कहा कि अभी क्यों जा रहे हैं आप? उन्होंने कहा– गुरुदेव! पता नहीं था कि अभी आप कुछ दिन और यहाँ रहेंगे! सोचा– करवा चौथ का व्रत है ये वहाँ मना लेंगी। करवा चौथ का व्रत करना यह शास्त्र कहता है लेकिन चूँकि अब सद्गुरु यहाँ पर है तो फिर करवा चौथ अभी बाकी है– क्या? यदि बाकी भी है तो करवा चौथ सद्गुरु की अध्यक्षता में होगा तो असंख्यगुना प्रभावकारी होगा। तो महाराज ने कहा– और अभी बिगड़ा क्या है, टिकट रद्द करा दीजिए! दूसरी बात– इनको दिया गया है गीता भाष्य पढ़ने को, स्वाध्याय (ज्ञानयज्ञ) करने को लेकिन अभी यज्ञ पूरा भी नहीं हुआ और बीच में यज्ञ छोड़कर चल दिये; क्योंकि शास्त्र कहता है करवा चौथ व्रत करने को। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' एक दूसरा आध्यात्मिक शास्त्र भी तो है उपनिषद्, जो कहता है कि सद्गुरु जब सामने है तो शास्त्र की बात नहीं मानी जायेगी बल्कि उसकी बात मानी जायेगी! इस ठोस बात पर उपनिषद् ने किसी से समझौता नहीं किया है। भगवान ने भी पहले सद्गुरु की अध्यक्षता की बात की है, तब शास्त्र की बात कर रहे हैं। ऐसा न समझ पाने से ही तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

साधक कहते हैं– गुरुदेव! यह शास्त्र ऐसा कहता है लेकिन आप ऐसा कहते हैं, यह तो विरोधी बात हो गई? गुरुदेव क्या आप शास्त्र की बात नहीं मानते? ऐसी ऊहापोह की कल्पनाएँ खड़ी होती हैं सद्गुरु और सन्त के पास! भगवान का यहाँ कहना है कि शास्त्र के अनुसार चलना, सामान्य शास्त्र के लिए नहीं मान लेना चाहिए। वे कह रहे हैं कि जो मैंने कहा है वह शास्त्र में भी लिखा हुआ है। किस शास्त्र में? आध्यात्मिक शास्त्र में। इसी से तो व्यासजी ने लिखा है, 'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः' तो देखना होगा कि इस अध्याय के अन्तिम मंत्र में जो कहा गया है कि शास्त्र ही प्रमाण है तो कौन शास्त्र? इसी का उत्तर है 'योगशास्त्रे ब्रह्मविद्यायां' जिसमें ब्रह्मविद्या की बात की गई है, उस योगशास्त्र का ही प्रमाण मानना चाहिए। जिसमें ब्रह्मविद्या की बात खोल दी गई है, उन योगशास्त्रों की बात प्रमाणित है। अठारह प्रकार की पेटियाँ हैं, जिन्हें अठारह पुराण कहते हैं, जिनमें ब्रह्मविद्या को छिपा लिया गया है किन्तु उपनिषद् में, पातंजल योगदर्शन में, योगवासिष्ठ आदि में ब्रह्मविद्या को खोल दिया गया है, उसी को गीताजी में भगवान ने और भी स्पष्ट खोला है। उन्होंने किसी भी आख्यायिका में बन्द नहीं किया ब्रह्मविद्या को जबकि उपनिषदों में भी ब्रह्मविद्या को कथा के माध्यम से दिया गया लेकिन भगवान ने कथा को हटा दिया। जैसे दुकानदार पेटी से निकालकर गहनों के नमूनों को ला

करके फैला देता है कि जिसका चुनाव जो हो ले लें। वैसे ही प्रभु ने संपूर्ण ब्रह्मविद्या को लाकर रख दिया है। सबके सामने एक ही बात उन्होंने रखी है कि आपके लिए कौन गहना उपयुक्त है, इन दिव्य गहनों में से, इसका सद्गुरु निर्णय करेगा, ब्रह्मविद्या के कौन से अंग को आप पकड़ करके संपूर्ण अंगों को प्राप्त कर पाएँगे, इसका निर्णय सद्गुरु करेगा। अतः ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्र ही आपके कर्म, अकर्म एवं विकर्म का निर्णय करने में सक्षम है जो सद्गुरु के द्वारा प्राप्त हो। इसलिए इसपर विचार करना चाहिए। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' अब यह स्पष्ट हो गई बात कि अबतक जो भी आप सब जानते हैं, यदि ज्ञानकाण्डीय उपनिषद् हाथ में नहीं आया, ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्र आपके हाथ में नहीं आया, योगशास्त्रमय स्मृतियाँ आपके हाथ में नहीं आयीं, योगशास्त्रमय संहिताएँ आपके हाथ में नहीं आयीं तो आपका जानना न जानने के बराबर है। भृगु संहिता भी एक संहिता है लेकिन कर्मकाण्डीय संहिता है यह, योगशास्त्रीय संहिता नहीं है लेकिन वहीं पर घेरंड संहिता योगशास्त्रीय संहिता है। तो वैसी संहिताएँ आपके हाथ में नहीं आयीं तो फिर जो भी कुछ आप जानते हैं, नहीं जानने के बराबर है। यदि आप अध्यात्म में प्रवेश करना चाहते हैं तो योगशास्त्र में जो कुछ आपके लिए कहा गया है वही प्रमाण है न कि आप जो जानते हैं वह प्रमाण है।

एक साधक रात में जो भाषा बोल रहे थे अपने पिता से वह तो पुराणों की भी भाषा नहीं है बल्कि अहंकार की भाषा है और घर में उन पुत्रों की भाषा है जो अति उद्दंड–उच्छृँखल होते हैं। जो अपने को बड़ा ही महत् बुद्धिमान समझ लेते हैं यह उनकी भाषा है, यह ब्रह्मविद्यामय शास्त्रों की परिभाषा नहीं है, इसलिए आप सब विचार करेंगे। 'अभयं सत्वसंशुद्धिः' अभयता का तात्पर्य यह नहीं कि आप चाहे जो भी कुछ कहें, जो भी करें। ये कह रहे थे पिता से कि आपका सर्वनाश हो जायेगा, ऐसे बोलेंगे तो आपका सर्वनाश हो जायेगा। इन्हें आदर्श भक्त व्यवहार का क–च–ट–त–प पता ही नहीं है। इन्हें जानना चाहिए कि पिता मोह में बोल रहा है। इनके ही पिता नहीं बल्कि आपके भी बाल–बच्चे यदि सहसा संन्यास लेंगे तो अपवाद को छोड़कर सब भला–बुरा कहेंगे, आप भी महाराज को बहुत कुछ भला–बुरा बोल सकते हैं। तो यदि आप अभय हो गये हैं, आपका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि आपकी भाषा रावण की हो जाय। यदि वरदान मिल गया आपको संन्यास का तो आपकी भाषा रावण जैसी अहंकार युक्त हो जायेगी क्या? अंगद के पास रावण जो भाषा बोल रहा है, उसकी और इस साधक की भाषा में क्या अन्तर है? तो इनकी ही बात नहीं है, आप सबकी भी तो यही बात है कि शास्त्र की बात आप कहाँ पर क्या समझते हैं। इसलिए सद्गुरु की अध्यक्षता हो और हाथ में योगशास्त्र हो तब बात बनेगी। अध्यात्म में प्रवेश करना है तो योगमय शास्त्रों का स्वाध्याय करना होगा– 'श्रीमद्भागवत महापुराण', 'रामचरितमानस', 'वाल्मीकीय रामायण' और 'महाभारत' से भी उधर गमन किया जाता है, क्योंकि इनमें आदर्श पुत्रों की कथाएँ हैं, उनका सद्व्यवहार है। वे भी सताए गये हैं लेकिन उनका व्यवहार देखते बनता है।

महात्मा युधिष्ठिर अभय हैं, वे जानते हैं कि मैं इस द्यूत क्रीड़ा में पराजित होऊँगा, मेरे

साथ ये असुर छल कर रहे हैं, लेकिन राजधर्म की परिभाषा को उन्होंने अपने ढंग से परिभाषित कर लिया है। उस समय एक तरफ पितामह भीष्म हैं जो उलझे हुए हैं, निर्णय नहीं कर पा रहे हैं, द्वारिका में जाने की आवश्यकता नहीं समझ पा रहे हैं। एक तरफ कहते हैं– द्वारिकाधीश भगवान हैं तो दूसरी तरफ द्यूत क्रीड़ा की तैयारी हो रही है और जान रहे हैं कि इन महात्माओं के साथ छल होगा, तो भी न उनको भीतर से कुछ प्रेरणा हो रही है और न द्वारिका जाकर भगवान से मंत्रणा कर रहे हैं कि मेरा यहाँ पर क्या कर्तव्य है? वही काम महात्मा युधिष्ठिर ने किया। जब उत्पात पर उत्पात, उत्पात पर उत्पात किया जा रहा था हस्तिनापुर में, तो फिर उसी समय महात्मा युधिष्ठिर को भेजना चाहिए था अर्जुन को द्वारिका में कि जाओ पूछो कि हमें क्या करना चाहिए? पुनः–पुनः द्यूत क्रीड़ा के लिए आमंत्रित किया जा रहा है, अब हमारा परम कर्तव्य क्या है? तो ये लोग पूछ नहीं रहे हैं क्योंकि ये लोग अपने ढंग के शास्त्र ज्ञाता हैं। जब युद्ध ठन ही जाता है तब कहते हैं– अर्जुन! जाओ तुम द्वारिका और माधव से सहायता माँग लाओ। वे साक्षात् नारायण हैं। जब सिर पर आ पड़ी तब कहा– अर्जुन! द्वारिका जाओ– यह उनका शास्त्र ज्ञान है। इसी से 'योगशास्त्रे ब्रह्मविद्यायां' की स्थापना की व्यासजी ने और इसको लिपिबद्ध किया। इसप्रकार बार–बार सावधान किया भगवान ने और महाराज भी बार–बार सावधान कर रहा है कि अपने आचार, विचार एवं व्यवहार का अच्छी प्रकार योगशास्त्रों से निर्णय करेंगे।

'ॐ तत्सदिति.....' यह मंत्र संख्या में नहीं है, उपसंहार में है कि अब विराम दिया जा रहा है लेकिन निश्चितरूप से इसकी व्याख्या करनी चाहिए। जब 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं' भगवान ने कह ही दिया तो लोग समझेंगे कि हम शास्त्र के अनुसार चल रहे हैं; किन्तु भगवान कह रहे हैं कि जिस शास्त्र से आप चल रहे हैं, सद्गुरु यदि प्राप्त हो जाय तो उस शास्त्र की बात मैं नहीं करता कि उस शास्त्र से चलना है। हाँ, वह शास्त्र है– रामचरितमानस, वह शास्त्र है– वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, ये भगवत् शास्त्र हैं। यद्यपि इनके लिए योगशास्त्र नहीं लिखा गया है लेकिन ये ब्रह्मशास्त्र हैं तो योगशास्त्र हैं ही। भगवान को देनेवाला शास्त्र अथवा ब्रह्मविद्या को देनेवाला शास्त्र बात दोनों बराबर है। यदि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अन्तिम उपसंहार करते हुए यह कहा कि यह तो ब्रह्म पद को देनेवाला है–

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

तो अब गज का चरित्र आपको पढ़ना होगा। राम नाम जपा क्या गज ने? अजामिल ने राम नाम जपा क्या? गणिका ने समाधि लगा ली क्या, राम नाम जपने में? उनके साधना क्रम को देखना होगा। अतः गणिका की जगह कोई माँ है तो उसे उसके चरित्र को धारण करना होगा,

वाल्मीकि के चरित्र को नहीं धारण करना होगा। सदन मांस काटता है और कोई उस जगह पर है तो फिर उसे सत्यकाम–आरुणि और जाबाल आदि के व्यवहार को नहीं लेना होगा। व्याध–गीध की कहानी आप सब जानते ही हैं कि उनका व्यवहार क्या रहा है। यदि आप व्याध के जैसे व्यवहारवाले हैं तो ऐसा व्यवहार आपको लेना है जिस व्यवहार से उसने भगवान को प्राप्त किया है। इसलिए सावधानी बरतनी चाहिए और यह तब होगा जब सात्विक आहार–व्यवहार आपका होगा। जैसे कर्मकाण्ड में यज्ञशाला में प्रवेश पाने के लिए आपको बाहर का आहार–व्यवहार शुद्ध रखना पड़ता है, व्यवहार भले न शुद्ध हो किन्तु आहार शुद्ध करना होता है, आसन, अशन, वसन शुद्ध करना होता है लेकिन योगशास्त्र में वर्णित व्यवहार को पाने के लिए आहार के साथ–साथ व्यवहार भी शुद्ध करना होता है। देवयज्ञ में व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती, वह मंत्र की संख्या पर निर्भर करता है कि शुद्ध उच्चारण हो और आनुपातिक संख्या हो। आपका व्यवहार किसी के साथ चाहे जैसा भी हो, उससे उसे लेना–देना नहीं है। जैसे जयद्रथ का व्यवहार इतना कुत्सित है, इतना घिनौना है, तो भी भगवान शंकर को प्राप्त कर लिया उसने। अति शुद्ध होकर 'ॐ नमः शिवाय' का जप करने लगा, जिससे भगवान शंकर को आना पड़ा। जिस राक्षस ने भगवती द्रौपदी के साथ कुछ असभ्य हँसी किया था, जिसे महात्मा भीम ने अपना रिश्तेदार समझकर वध करने से छोड़ दिया था। युधिष्ठिर के कहने से केवल सिर के बाल काटकर थोड़ा अपमानित कर दिया था तो ऐसे दुर्व्यवहारी के पास भी भगवान शंकर प्रकट हो जाते हैं लेकिन ब्रह्म प्रकट नहीं होगा, ब्रह्मविद्या प्रकट नहीं होगी। देवता प्रकट हो जाएँगे, प्रकट होते देखे गये हैं और आगे भी होंगे, लेकिन आत्मज्ञान प्रकट नहीं होगा, निर्गुण–निराकार ब्रह्म प्रकट नहीं होगा, जो यथार्थ में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, की आत्मा है, वह आत्मा प्रकट नहीं होगा। इसलिए आपको व्यवहार भी देखना होगा। हाँ, यह बात अलग है कि सद्व्यवहार के लिए सद्संसर्ग चाहिए। दुष्टों की बात की है सोलहवें अध्याय में भगवान ने, इसलिए कि आप पहचान लें कि कौन लक्षण सज्जन के होते हैं, कौन दुष्ट के होते हैं, तो दुष्टों से आप बचने का प्रयत्न करें, उदासीन होने का प्रयत्न करें, छिपने का प्रयत्न करें नहीं तो उनके संसर्ग में उत्पात होने की संभावना बनी की बनी रह जायेगी।

बहुत आपको प्रयत्न करना पड़ेगा योगशास्त्र में प्रवेश पाने के लिए, इसीलिए तो महात्माओं ने सर्वथा एक समय त्याग दिया जगत को, एकान्त वासी हो गये और दूसरे समय में जब सिद्ध हो गये तब प्रकाश में आ गये लेकिन जो गृहस्थाश्रमी आत्मजिज्ञासु हैं उनको युक्ति से उदासीन होना होगा– छल करना होगा, कपट करना होगा, बहाना बनाना होगा, किसी दुष्ट से बचने के लिए।

वह व्यवहार आयेगा कैसे? आयेगा तो सद्गुरु के संसर्ग से, दिव्य ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्रों से, लेकिन उसके साथ संसर्ग और शुद्ध आहार हो। इसलिए जिन–जिन लोगों को इस ब्रह्मविद्यामय योगशास्त्र में प्रवेश करना है, वे इसपर ध्यान दें।

महाराज ने इस पूरे अध्याय को खमाज (दादरा) राग के द्वारा हिन्दी पद में गाया है। यदि

आपको लगे कि किसी और राग से भी गा सकते हैं तो गायें–

सुनों रे पार्थ दोऊ पुरुष जग माहीं, देव प्रकृति असुराहीं ।।
देव कहत प्रभु की यह नगरी, असुर कहत सच नाहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

शम दम दानिक देव स्वभाविक, असुर जीवन भोग माहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

दम्भ मान मद युक्त असुर सब, मोह ग्रसित मन माहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....
कहत कवन मो सम तप दानी, यज्ञ करत सो दिखावहिं ।।
सुनो रे पार्थ.....

अहंकार बल दर्प काम कहँ, आश्रित रहत जग माहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

चलत कुमारग निंदत सबरे, करत न पाप सकुचाहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

जनम जनम देऊँ नरकादिक, हाय करत पछिताहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

समुझावत प्रभु सब भक्तन कहँ, महाराज सुनत न अघाहीं ।।
सुनो रे पार्थ.....

ॐ मासपारायण, छब्बीसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, तेरहवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादरूप दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

यहाँ तक बहुत सी निष्ठाओं की बात भगवान के द्वारा की गई है। उन निष्ठाओं में राजयोग के प्रति, ज्ञानयोग के प्रति, जप, तप, योग के प्रति विशद व्याख्या की गई है, जिसे एक बार पुनः देख लें, तभी आगे बढ़ना ठीक रहेगा। ज्ञानयोग और कर्मयोग पुरातनकाल से दो मार्ग हैं जिनका निरूपण किया गया है। भगवान नारायण ने राजयोग को एक मध्य बिन्दु का मार्ग बताया, जहाँ मार्ग की बात नहीं की जाती है। शरीर, मन, प्राण– इन तीनों का महत्त्वपूर्ण योगदान हो जिस कर्म में उसे कहते हैं कर्मयोग लेकिन जिसमें केवल बुद्धि का ही योगदान हो उसे कहते हैं ज्ञानयोग। बुद्धि से होनेवाला जो अपने स्वरूप का चिंतन है, ब्रह्म के स्वरूप का चिंतन है, माया के स्वरूप का चिंतन है– वह हुआ ज्ञानयोग। जहाँ ज्ञानयोग में पद्मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासन आदि किसी एक आसन से बैठकर, अपने बाल–बच्चों, भाई–बान्धवों का परित्याग करके वनप्रदेश, गुफा अथवा नदी के तट पर झोपड़ी बनाकर उसमें निरंतर अपने स्वरूप का चिंतन करना होता है, वहीं राजयोग में मात्र दर्शन करना होता है, चिंतन भी नहीं करना होता। विचार करना और दर्शन करना दो बातें हैं। जैसे किसी बच्ची को देखकर उसके विषय में काम की कल्पना करना एक बात है और दूसरी बात जहाँ काम प्रयोग में ही लेना होता है अर्थात् वह धर्मपत्नी है, धर्मपत्नी के पास काम के विषय में चिंतन नहीं करना होता वहाँ पर तो स्वाभाविक अधिकार होता है, वहाँ विचार करना ही नहीं होता है। वहाँ पुत्र की कामना से अथवा भगवत्कामना से उससे संबंध करना होता है, लेकिन किसी अन्य बच्ची के विषय में विचार करना होता है कि काम आये। उसमें नानाप्रकार की कल्पनाएँ चलेंगी, पकड़ना कुछ दूभर सा हो जायेगा उसको। तो राजयोग ऐसा ही है, माँ का दर्शन किया जाता है, 'यह माँ ही है' ऐसा चिंतन नहीं किया जाता किन्तु दूसरी माँ के प्रति 'यह माँ है' इसका चिंतन करना पड़ता है। यदि सगी माँ नहीं है तो माँ पहले मानना पड़ेगा, मानते–मानते फिर एक सिद्धि मिलेगी कि वह भी अपनी ही माँ जैसी दिखाई पड़ेगी। जहाँ मानना है, चिंतन करना है दूसरी माँ के प्रति भी, वह ज्ञानयोग है लेकिन जहाँ दूसरी माँ को भी अपनी माँ की तरह देखना ही है अर्थात् दर्शन हो ही रहा है, उसमें चिंतन करने की आवश्यकता नहीं है, वैसा ही व्यवहार होने लगा तो वह है राजयोग, झिझक नहीं है वहाँ पर। उसीप्रकार जिन जिज्ञासुओं को यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्म से प्रकट हुआ दीख पड़ता है, ब्रह्म में ही दीख पड़ता है तथा ब्रह्म सबमें ही दिखाई पड़ता है उनके लिए कठिन क्रियाओं को करने की आवश्यकता नहीं है, उनके लिए कठोर जप, तप, स्वाध्याय अथवा प्राणायाम आदि करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे साधक गिनती के पाये जाते हैं। गीता

अध्याय बारह में भगवान ने मात्र संकेत कर दिया उनके प्रति, किन्तु दूसरे अध्याय में स्पष्ट किया है कि क्रिया के प्रति आग्रहबुद्धि हो गयी है, इसलिए कि वह ब्रह्म कठोर, जप, तप, योग से ही प्राप्त होता है, ऐसे श्रुतियों के सिद्धान्तों को सुनने से बुद्धि अपने पद से विचलित हो गयी है। अतः चिंतन में प्रवृत्त न होकर क्रिया को पकड़ लेती है अन्यथा बुद्धि को क्रिया करने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि किसी विषय को लेकर चिंतन करने में स्वतः प्रवृत्त है, अतः जिसकी ऐसी सामर्थ्य है, जो ऐसी श्रद्धावाला है, जो सबको ब्रह्म में और ब्रह्म को सबमें देख सके उसके लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, हाँ, बस थोड़ा सा ध्यान देने की आवश्यकता है, थोड़ी सजगता की आवश्यकता है। सजगता ही इसमें साधना है और प्रमाद ही मृत्यु है। भगवान ने बारहवें अध्याय में विभाग कर दिया कि माना आपका शरीर रोगी हो गया, पर मन तो रोगी नहीं हुआ? जैसे महाराज एक उदाहरण दिया करता है– दुर्योधन ने कहा– ठहरें भैया (युधिष्ठिर)! वे कर्ण को आग देना चाहते थे, रुक गये। दुर्योधन ने पूछा अर्जुन से कि अर्जुन तुम ये बताओ कि बाण किस पर चलाये, मेरे मित्र कर्ण पर या अपने बड़े भाई कर्ण पर? तो भगवान ने कहा युधिष्ठिर से कि 'इस शव पर अधिकार दुर्योधन का ही बनता है; इसलिए कि अर्जुन ने सचमुच अब जाना है कि ये मेरे बड़े भाई हैं, सूतपुत्र ही जानकर इन्होंने इनका वध किया है।' इसप्रकार आप जब कर्म करते हैं तो उसमें आपकी भावना प्रधान होती है, कर्म प्रधान नहीं होता; यही कारण है कि कर्म सिद्ध होने में धीरे–धीरे लम्बा काल ले लेता है क्योंकि आप भावविहीन हैं, श्रद्धाविहीन हैं। श्रद्धावानों के लिए यह अध्यात्म है। कर्म के प्रति आग्रह हो गया है उत्तम साधकों को भी, अतः भगवान उन्हें कर्म से मुक्त करना चाहते हैं। यदि भगवान ने इतना ही कह दिया कि 'ये सारे के सारे प्राणिपदार्थ मेरे उपजाए हुए हैं; भले हैं, बुरे हैं, चाहे जैसे हैं; तो आपको दोषदर्शन करने का अधिकार नहीं है, फिर आप एकमात्र दर्शन करें। उनके लिए ही भगवान ने नवम् अध्याय में राजयोग दिया है। भगवान के उपजाए हुए प्राणियों के प्रति आप न आग्रही हो सकते हैं न दुराग्रही; फिर आपके शरीर को भी प्रभु ही उपजाए हैं तो यह अंग भी भगवान का हो गया। अतः वहाँ पर द्रष्टा के सिवा शेष साधन कुछ बचता नहीं है। यहाँ पर कोई यह नहीं कह सकता कि मैं असमर्थ हूँ। यदि आप असमर्थ मानते हैं अपने–आपको तो आपकी श्रद्धा में घुन लगा हुआ है और आप स्वीकार करने को राजी हैं अच्छीप्रकार से तो आपके लिए भगवान ने कहा– चलें जप न करें, तप न करें, योग न करें, कोई बात नहीं लेकिन सर्वत्र सबको ब्रह्मरूप में तो देख ही सकते हैं। आपके पास आध्यात्मिक श्रद्धा का अभाव नहीं है तो इससे सुगम साधन है ही नहीं। भगवान ने कहा कि लोग समझते हैं कि जप, तप, योग एवं ध्यान से उसे पकड़ा जाता है। सुन लिया है आपने किसी के विषय में कि उन्होंने घोर जप, तप, योग किया तब भगवान मिला। अतः मेरे को बिना जप, तप के प्रभु कैसे मिलेगा? ऐसा सोचकर कठोर क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं।

एक साधक के पास भगवान आ गये। प्रभु ने कहा– कहाँ जा रहे हो? तो उसने कहा कि मैं तो आपके लिए जा रहा था जंगल में! भगवान बोले कि मैं तो आ ही गया, माँगो! क्या वरदान माँगते हो! साधक ने कहा कि हे प्रभु! यदि मैं अभी वरदान माँग लेता हूँ तो लोग विश्वास नहीं

करेंगे तथा मुझे भी सन्तुष्टि नहीं होगी। वे कहेंगे कि आपने तो कठोर जप, तप, योग किया ही नहीं, अतः भगवान मिल गया यह बात कैसे मानी जाय। अतः बारह साल आप मुझे छुट्टी दे दें। वन में जाता हूँ, घोर जप–तप करता हूँ तो लोग मुझे देखेंगे कि घोर तपस्वी है, लोग महात्मा समझ लेंगे मेरे को, उनमें यह भाव हो जायेगा और मुझे भी अति सन्तुष्टि हो जायेगी। उस समय आप आना, मैं उसी समय वरदान माँग लूँगा। मन में हँसते हुए भगवान ने कहा– तो ठीक है ऐसा ही करते हैं। महात्मा अर्जुन भी यही सोच रहे हैं कि इस जन्म में तो घोर जप, तप, योग नहीं किया; अतः उनको विश्वास ही नहीं हो रहा था कि साक्षात् नारायण मेरे जीवनरथ पर बैठ सकते हैं, इसलिए सोच रहे हैं कि पहले देख लूँगा तब मानूँगा लेकिन भगवान ने जब अपने अलौकिकरूप को दिखाया तो भाग खड़े हुए। यदि पूर्व में आध्यात्मिक साधना आपने की है और उसके माध्यम से श्रद्धा प्रकट हो गयी है तब कर्म के प्रति बुद्धि का आग्रह नहीं रहेगा। तो भगवान ने कहा कि चलें इस राजयोग में ऐसी श्रद्धा आपकी नहीं है, आप यदि सबको भगवान में और भगवान को सबमें नहीं देख सकते तो अभ्यासयोग करें। कभी जप करें, कभी ध्यान करें, कभी स्वाध्याय करें, कभी संकीर्तन करें, कभी सत्संग करें, ऐसे दिन को बिताएँ। यदि इसमें भी आपकी श्रद्धा काम नहीं कर रही है, टिक नहीं रही है, सामर्थ्य उतनी नहीं है अथवा आपका शरीर इसमें साथ नहीं दे रहा है तो स्थूल कर्म करें, यदि सद्गुरु स्थूल कर्म करने को कहता है तो। उसी के लिए फूल लगाएँ उसे सींचें, उसी के लिए झाड़ू लगाएँ, उसी का प्रसाद बनाएँ, उसी के कपड़े धोएँ, वह जिन लोगों की सेवा करने को कहता है उन लोगों की सेवा करें। भगवान कहते हैं कि यदि साधना करने की सामर्थ्य शरीर में नहीं है लेकिन सद्गुरु में श्रद्धा है तो उसके अनुसार उसी की प्रसन्नता के लिए स्थूल कर्म करें, ऐसा मत सोचें कि यही करना होता तो फिर घर ही अच्छा था। लेकिन नहीं, घर में जो कर्म आप करते थे उस कर्म से कर्म ही उत्पन्न होता था भगवान उत्पन्न नहीं होता था, क्योंकि आप परिवार के लिए करते थे। यहाँ चूँकि सद्गुरु के लिए कर रहे हैं; अतः वह कर्म सीधे भगवान के पास जाता है, इसलिए उस कर्म का परिणामरूप फल भगवान ही प्राप्त होता है। भगवान ने कहा– यदि यह भी करने की सामर्थ्य नहीं है तो शास्त्र के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को भोगें। दुःख को भोगते हुए अपने कर्म के फल का त्याग कर दें और जहाँ हैं वहीं पर रहें अर्थात् गृहस्थाश्रम में ही रहें लेकिन उसे अपना मत मानें और दुःख को भोगें, उससे बचने का प्रयत्न न करें। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उतना ही धारण करें जितना कि शरीर को आवश्यक है, तो यह और भी सरल है। इसप्रकार सुगम से सुगम भगवान ने रास्ते बताए लेकिन इसके पूर्व तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि तो सबके लिए बताया था। गृहस्थाश्रम में जो संग्रह की बात बतायी भगवान ने वह संग्रह भिखारी के लिए भी है, संतों के लिए भी है, यज्ञादिक द्रव्यों के लिए भी है, ऐसा नहीं कि अपने बाल–बच्चों के लिए ही है। इसप्रकार धीरे–धीरे आपका चित्त अपने स्वरूप में अथवा ब्रह्म के स्वरूप में निश्चितरूप से व्यवस्थित होगा। सहसा आप कर्म छोड़ बैठते हैं जबकि कर्म छूटना चाहिए। इसका उदाहरण महाराज ने लिया है पेड़ों से। पेड़ को यदि हवा मिल रही है, पानी मिल रहा है, रोशनी मिल रही है तो अपने समय पर फूल आयेगा। पेड़ में जल डालने की आवश्यकता होगी तबतक, जबतक कि पेड़ पृथ्वी में से अपने–आप जल लेने

नहीं लगता। सुरक्षा तबतक देनी होगी जबतक कि इतनी सामर्थ्य पेड़ में न हो जाय, इतना विशाल न हो जाय कि पशु उसे रगड़े तो रगड़ने की चोट को वह सहन कर ले। हवा तो आप क्या देंगे, हवा तो मिलती ही है, उसको रोशनी मिलती ही है। यह दो काम आप कर सकते हैं इसके बाद फूल और फल आना उसका धर्म है, सींचना और सुरक्षा करना आपका धर्म है। उसीप्रकार सद्गुरु के पास पहुँचकर अपने चित्त के चारों तरफ आपने बाड़ लगा दिया अतः उसके घेरे में आ गये, मानो आपने ये सिद्ध किया कि सद्गुरु के आश्रम में आते ही बाड़ लग गयी मेरे व्यवहार में। किन्तु एक काम तो और करना होगा– जैसे उस पौधे को जल आपने दिया, उसीप्रकार अब गुरु के पास आ करके उसकी आज्ञानुसार कर्म करना ही जल देना हुआ। साधना उसकी है लेकिन कर रहे हैं आप। आपकी सामर्थ्य के अनुसार बता दिया तो आप संदेह नहीं कर रहे हैं लेकिन जबतक साधक पूछे नहीं कि मैं किस साधना का अधिकारी हूँ तबतक सद्गुरु नहीं बोलेगा क्योंकि सद्गुरु के प्रति अश्रद्धा भी हो सकती है। इसी से छोड़ दिया जाता है कि पहले आप अपने मन से करके देख लें। मन से करते–करते जब आप टूट जायेंगे अपने–आप से, तब उस समय सचमुच में आंतरिक श्रद्धा उत्पन्न होगी और आप पूछेंगे कि गुरुदेव! बताएँ कि मुझे क्या करना चाहिए उस समय वह पूछना अति प्रभावकारी होगा। जब कर्म से आपकी अभिरुचि खत्म हो गयी है और ज्ञान के प्रति अभिरुचि हो गयी है लेकिन ज्ञान के लिए, राजयोग के लिए जितनी श्रद्धा की आवश्यकता होती है यदि उतनी श्रद्धा नहीं देखी जाती तो श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए ब्रह्म के निमित्त कर्म कराया जाता है अन्यथा कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। जो ये मानते हैं कि सबमें भगवान है उन्हें गुरु आश्रम में रहने की आवश्यकता नहीं होती। कोई भी सद्गुरु वैसे शिष्य को यह नहीं कहता कि तुम यहीं रहो। हाँ, जबतक इस सामर्थ्य को उसने प्राप्त नहीं किया है तबतक गुरुआश्रम की आवश्यकता पड़ती है। वहाँ पर अपने–आप से ही यह देखा जाता है कि अपने मन से चल रहा हूँ कि गुरु के मन से चल रहा हूँ; यह भी देखा जाता है कि मेरे में कितनी श्रद्धा है। अपनी श्रद्धा को तौलना चाहिए– यदि जप–तप से मन ऊब रहा है तो इससे सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं आपमें अश्रद्धा है, जप–तप आपको स्वीकार नहीं कर रहा है तो कहीं न कहीं आप अपनी जगह से हटकर खड़े हैं। गप–शप में रात बीत जाती है लेकिन जप में ऐसा नहीं होता, तो किसी न किसी साधना के अंग का अभाव है उस अभाव को खोजने की आवश्यकता है। जैसे एक स्वाध्यायी का स्वाध्याय में मन लगते–लगते उच्चाटन हो जा रहा है, बारह–बारह घण्टे स्वाध्याय नहीं हो पा रहा है अर्थात् स्वाध्याय रोज बढ़ नहीं रहा है तो कहीं न कहीं, कोई न कोई अंग उसके पास नहीं है। प्रीति बढ़नी चाहिए शरीर थक जाय लेकिन मन न थके। उपन्यास पढ़नेवालों का शरीर थक जाता है लेकिन मन नहीं थकता। वे पढ़ते–पढ़ते सो जाते हैं, क्योंकि काम में श्रद्धा है इसलिए उपन्यास को खत्म करके मानते हैं। उसीप्रकार जो स्वाध्यायी हैं वे थकते नहीं; यदि आत्यन्तिक श्रद्धा है तो शरीर थक जाने के बाद ही छोड़ेंगे स्वाध्याय और विश्राम करने के बाद पुनः स्वाध्याय प्रारम्भ कर देंगे। उन्हें समय ही कहाँ है किसी को देखने का। भगवान ने कहा– जो आपको प्राप्त हो रहा है शरीर के लिए उपयोगी साधन, उसी में सन्तुष्ट हों, उससे विशेष की कामना न करें और अपने योग्य साधना करें। गीता अध्याय बारह में (सन्तुष्टः सततं योगी)

सन्तुष्ट शब्द है– जो प्रभु ने दे दिया उसमें सन्तुष्ट रहें, पहली सन्तुष्टि की बात है कि आपने कौन सा बड़ा सत्कर्म किया है कि घर ही छोड़ दिया। आपको ऐसी शक्ति क्यों दी प्रभु ने कि घर छोड़ दिया। अब वही क्रम यहाँ पर होना चाहिए कि कौन सा आपने पाप कर दिया कि जिस श्रद्धा से घर छोड़ा आपने उसी श्रद्धा से साधना में सबलता नहीं आ रही है, वेग नहीं हो रहा है, जिस वेग से आपने घर छोड़ा वह वेग अब समाप्त हो गया। ध्रुव घर छोड़ते हैं उस समय जो वेग है वह वेग तबतक काम करता है जबतक कि भगवान प्राप्त नहीं हो जाते। नारदजी ने कहा था कि त्रिलोकी का राज दे देता हूँ लेकिन नहीं माना उन्होंने। बीच में माया भी व्यवधान बनकर आती है किन्तु वे स्वीकार नहीं करते हैं। अतः हमारा वेग शिथिल क्यों हो गया, भोजन के प्रति प्रीति क्यों हो गयी, कपड़े के प्रति प्रीति क्यों हो गयी, मान–सम्मान के प्रति प्रीति क्यों हो गयी, शिथिलता क्यों आ गयी, विचार यह करना है। यह दोष क्यों आ गया क्योंकि कहीं न कहीं दोष है तभी मन नहीं लग रहा, कहीं न कहीं आप अपने रास्ते से भटक गये हैं तभी मन नहीं लग रहा है जप में, तप में, ध्यान में, नहीं तो शरीर थकेगा मन नहीं थकेगा, वाणी थकेगी मन नहीं थकेगा। महाराज ने प्रयोग किया है कि आप कर्म कर रहे हैं, उसी समय किसी के छेड़ने के बाद आप उबल गये तो इसका तात्पर्य है कि कर्म में प्रीति नहीं है आपकी, कर्म में श्रद्धा नहीं है आपकी। आप सिद्धान्त को भूल गये, कौन सा कारण था कि प्रभु की प्रेरणा से उसने छेड़ा आपको और सहन न कर सके आप। तो यही प्रमाण है कि कर्म को आप साधना नहीं मान पा रहे हैं, महत्वाकांक्षी बहुत हो गये, किसी को देखकर कि उन्होंने इतनी घोर तपस्या की हम नहीं कर पा रहे हैं। जैसे विद्यार्थी अंक (नम्बर) कम आने पर जहर खा लेते हैं पागल हो जाते हैं। अति महत्वाकांक्षी हो जाना भी घातक परिणाम प्रकट करता है। आपके लिए जो भगवान ने व्यवस्था दी है उसमें यदि सन्तुष्ट नहीं होते हैं, दूसरे को देखते हैं तब आपमें उच्चाटन होगा ही होगा, एक स्थान से दूसरे स्थान, दूसरे स्थान से तीसरे स्थान आप चलते ही रहेंगे। महाराज ने खोज करके देखा है कि यदि आप निष्ठा के साथ श्रद्धा से लगे हुए हैं साधना में तो भोजन, वस्त्र आदि के विषय में सोचना नहीं पड़ता है, आपको चिन्ता नहीं करनी पड़ती है भगवान को ही चिन्ता रहती है। गीताजी में से अपने योग्य सूत्रों को निकाल लेना चाहिए और उन सूत्रों में देखना चाहिए कि हमारी कमी क्या है? कहीं श्रद्धा में ही तो कमी नहीं है क्योंकि प्रधान है श्रद्धा। साधना तो एक बहाना है लेकिन इसी साधना से आपकी निष्ठा का, श्रद्धा का पता चल जाता है तो आयें इस अध्यायानुसार निष्ठाओं का स्वरूप देखते हैं।

अपने हाथ का प्रसाद अमृत होता है, नौकर के हाथ का प्रसाद तामस होता है। जो माताएँ राजसी हैं, जो बाल–बच्चों के साथ रहती हैं उन माताओं का बनाया हुआ भोजन राजसी है। महाराज तो यहाँ तक खोज किया है कि जब महाराज को अनुष्ठान करना होता था तो माँ से कहता था कि मैं जब आऊँ तुम्हारे सामने तभी रोटी पकाना अथवा फलाहार तैयार करना उसे कोई न छूए। लोग कहते हैं कि दिन–दूना, रात–चौगुना साधना बढ़ती है लेकिन नहीं नहीं, महाराज तो कहता है कि साध्वी एवं तपस्वी माताओं के हाथों से या स्वयं से ही बनाए हुए प्रसाद (भोजन) को पाने से दिन में हजारगुना, रात में असंख्यगुना साधना बढ़ती है। अपने हाथ का

प्रसाद भी एक महीना महाराज ने पाकर देखा है समय को बचाने के लिए खिचड़ी बना लेता था लेकिन वह प्रसाद महाप्रसाद होता था। अतः साधक के हाथ का प्रसाद, प्रसाद होता है। यदि आपके लिए ऐसा नहीं है तो कहीं न कहीं, किसी न किसी अंग का अभाव है यहाँ तक देखा है महाराज ने। साधक कोई वीर्यपतन से परेशान होता है तो स्पष्ट है कि राजस भाव से प्रसाद पा रहा है, राजस हाथों का प्रसाद पा रहा है, राजस अन्न का प्रसाद पा रहा है, राजस प्रकृति के साथ रह रहा है, समयानुसार स्नान नहीं किया है, शरीर अपवित्र है, वस्त्र अपवित्र है, आसन अपवित्र है; कहीं न कहीं कोई दोष है ताकि सपने में भगवान उसकी सुरक्षा नहीं कर रहा है। कभी–कभी देखा होगा आपने कि राजस कर्म हो जाते हैं सपने में लेकिन वीर्यपतन आदि नहीं होता, कोई न कोई रक्षक वहाँ होता है। रक्षा यदि नहीं हुई वहाँ पर तो कहीं न कहीं आपकी भूल है। बहुत से साधकों की ऐसी शिकायत होती है। तो सात्त्विक विचारों से भी उसका क्षय हो रहा है, कर्म से भी उसका क्षय हो रहा है। महाराज तो ये कहता है कि एक बिन्दु पर आप आकर खड़े हों कि जंगल में रहूँगा और यदि खुद प्रसाद बनाना हो तो जो भी कुछ आयेगा उसी को बनाकर खा लूँगा। इस तरह न द्वेष होगा किसी से, न समस्या होगी कोई। यदि भिक्षा माँगते हैं तो उसमें भी एक घण्टा समय लगेगा तथा बना बनाया प्रसाद माँग रहे हैं सात घर से तो भी आपको एक घण्टा समय लग जायेगा तथा जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा। भिक्षावृत्ति में ये नियम है, आकाश वृत्ति में भी नियम है, जो मिलेगा वही खाना है।

एक बार एक साधक तीन महीने नमक रोटी खाकर रह गया। दाल, सब्जी आती तो थी लेकिन वह साधना के अनुकूल नहीं रहती थी क्योंकि मिर्च–मसाला विशेष हुआ करता था। उस सब्जी को पशु–पक्षी को खिला देता था, यानी प्रभु को समर्पित कर देता था और सूखी रोटी खा लेता था, अतः उसकी साधना में कोई व्यवधान नहीं आया। इसलिए आपके ऊपर निर्भर करता है कि किसी भी पदार्थ को आप सात्त्विकरूप में कैसे लेते हैं। जो भी सन्त सृष्टि में हुए हैं उन्होंने बाहर में हस्तक्षेप नहीं किया, अपने संस्कारों में हस्तक्षेप नहीं किया, जो आया उसमें से चुनाव कर लिया। रोटी आयी, दाल आयी, किन्तु दाल यदि साधना के योग्य नहीं है तो रोटी खा लिया। जब आप इतना करेंगे तो प्रभु कृपा करेगा और सात्त्विक आहार ही देगा आपको। वह देखे तो कि आप जीभ के लिए खा रहे हैं या भगवान के लिए खा रहे हैं; उसको भी तो पता चलना चाहिए। पिप्पलाद नाम के ऋषि हुए, वे पीपल का फल ही खाये। कणाद नाम के ऋषि हुए वे किसानों के खेत में जो कण गिरे रहते हैं सूख करके, उन कणों को ही इकट्ठा कर खाते थे तथा उसी से साधना कर लेते थे। प्रभु ने जो दिया है जिस समय दिया है, उसी को आप खा लेते हैं तो यह सिद्ध होता है कि आप भगवान के लिए खा रहे हैं, प्रभु के प्रति निष्ठा आपमें है। इसलिए आप विचार करें तथा देखें कि हमारे में क्या कमी है, साधना में उन्नति क्यों नहीं हो रही है? यदि कोई कहता है कि सद्गुरु कृपा नहीं कर रहे हैं तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए। आप विचार करें तथा देखें कि कहाँ कमी हो रही है। आश्रमों के प्रसाद के विषय में उलाहना मिलता है कि साधना के अनुकूल नहीं होता है; तो आप स्वयं जाकर सहयोग कर सकते हैं थोड़ा समय निकालकर। ऐसा तो है नहीं कि समय नहीं मिलता। अच्छे–अच्छे साधकों

को समय मिलता है तो आपको क्यों नहीं मिलेगा? यह सोचें कि आपके मन के अनुकूल बनानेवाला बनाये तो ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है क्योंकि वह तो जैसा है वैसा ही बनाकर देगा, यदि ऐसा व्यवहार करते हैं तो प्रभु कृपा करते हैं फिर देखें कि कैसे ध्यान में मन नहीं लगता? प्रभु तो जपरूप में प्रकट होता है, ध्यानरूप में प्रकट होता है, स्वाध्यायरूप में प्रकट होता है। जब आप जंगल में होंगे तब भिक्षा माँगेंगे ही, स्वयं बनायेंगे ही अथवा किसी भक्त का आश्रय लेना ही पड़ेगा। ऐसा तो है नहीं कि प्रभु आकाशमार्ग से आपके पास भेज दे। हाँ, कुछ लम्बे काल के बाद वैसा भी करेगा लेकिन सहसा तो वह ऐसा करेगा नहीं क्योंकि फिर तो आप साधना नहीं कर पायेंगे। इसलिए बहुत भारी कमी है कहीं न कहीं जिससे जप, तप, योग में मन नहीं लग रहा है, अतः इसपर आप विचार करें। जिस जिसको परेशानी होती हो उन उनको बनानेवालों में दोष नहीं देखना चाहिए, बल्कि उस अवस्था में सहयोग करना चाहिए। सहयोग करने से बनानेवालों को भी श्रद्धा होगी और आपका श्रम भी उसमें हो जायेगा। प्रधान है आपकी निष्ठा, साधना तो बहाना है लेकिन इसी साधना से आपकी निष्ठा का पता चल जाता है तो आयें अब इस अध्यायानुसार निष्ठाओं का स्वरूप देखते हैं।

भगवान मुसकरा रहे हैं– दुर्योधन, शकुनि, अश्वत्थामा की जल्दबाजी पर। वे सब मन ही मन सोच रहे हैं कि ये दोनों (अर्जुन और कृष्ण) हमलोगों को मूर्ख बना रखे हैं, स्वयं तो रणभूमि में गप कर रहे हैं तथा हम सभी मूक बने हुए हैं। उनमें से किसी का साहस भी नहीं हो रहा है कि वे कह सकें कि 'जब युद्ध का बिगुल बज गया है तो आप दोनों क्यों गप कर रहे हैं, यह गप करने की भूमि है या रणभूमि है?' भगवान उन मूर्खों के बीच में भक्त अर्जुन से विनोद किये जा रहे हैं। अर्जुन को भी समय का बोध नहीं है। वे तो भगवान के साथ आध्यात्मिक युद्ध में खो गये हैं। प्रभु ने ऐसा व्यवहार करके तो सबको पराजित कर ही दिया। सेनापति चाहे भले ही भीष्मपितामह हों या धृष्टद्युम्न लेकिन युद्ध तो भगवान के अनुसार ही होगा। भगवान मानो कह रहे हैं कि जिसप्रकार ये लोग न चाहते हुए भी मूकदर्शक से खड़े हैं उसीप्रकार इस युद्धभूमि में मैं सबको मूकदर्शक बनाकर मानूँगा एवं सबको खेला–खेलाकर मरवाऊँगा, जैसे कि गरुड़ सर्प से पहले खेलता है फिर मार डालता है। पितामहभीष्म की मूर्खता पर तो सारे ऋषि–महर्षि भी विनोद कर रहे हैं। यद्यपि उन्होंने (पितामहभीष्म ने) गीताजी सुन ली है और भगवान ने जो भी कहना है कह दिया है किन्तु फिर भी वे अपनी मूर्खता का परित्याग नहीं कर पा रहे हैं। जैसे वे अपने पिता के पास की गई प्रतिज्ञा के कारण भगवान को पहचान कर भी जगत से संन्यास नहीं ले रहे हैं, उसीप्रकार कुछ साधक अपने सद्गुरु को सम्पूर्णता से पहचान लेते हैं कि ये आत्मज्ञानी हैं, फिर भी न वे भलीभाँति राजा जनक के आदर्श को स्वीकार कर पाते हैं और न ही महात्मा शुकदेव ही बन पाते हैं।

प्रभु ने पुरुषोत्तमयोग और दैवासुरसम्पद्विभागयोग (अध्याय १५ एवं १६) महात्मा अर्जुन के बिना माँगे दिया है। जब भगवान महात्मा अर्जुन के समर्पण में समय पर ध्यान नहीं दे रहे हैं तो उनके दिव्य वात्सल्य एवं प्रेम का पान करनेवाले अर्जुन को समय का भान क्यों होगा? अर्जुन तो अब समझ रहे हैं कि यह युद्धक्षेत्र ही एक आश्रम है तथा रथ ही झोपड़ी है एवं पक्ष–विपक्ष

के योद्धा एक–एक वृक्ष हैं। अतः ऐसे दिव्य–आश्रम में शिष्य अर्जुन ने अपने सद्गुरु भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द से प्रार्थना की कि हे प्रभु!

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

महात्मा अर्जुन के प्रश्न को देखकर महाराज का हृदय भी इसी प्रश्न को अर्जुन की ओर से विनोद करते हुए राग–वृन्दावनी सारंग से पद गाते हुए भगवान से पूछता है–

सुनु रे कान्हा जोगिया जगे।
सब तेरी मानें मैं नहिं मानूँ, जग से सारे भगे।
सब तोहें जोगवत मैं नहिं जोगूँ, तासे भले लगे।।
सुनु रे कान्हा .....

चलत पयादें कोपिन काँधे, छोड़ दई है सगे।
कबहुँ अयाचक स्वान वृत्ति में, कबहुँ मधुकरी मँगे।।
सुनु रे कान्हा .....

गुफा नदी तट बैठ खण्डहर, में सुमिरन तोहें लगे।
धूप शीत वर्षा नहीं देखत, निसदिन तेरे पगे।।
सुनु रे कान्हा .....

शास्त्र रहित कोई देव अराधत, कौन गति में लगे।
देव भगत या तेरे भगत वे, कौन भगति में जगे।।
सुनु रे कान्हा .....

सुख दुःख मान अमान सम जानत, माटी स्वर्ण सगे।
महाराज जग से रह मौनी, जग से नाहीं ठगे।।
सुनु रे कान्हा .....

महात्मा अर्जुन ने पूछा– हे कृष्ण! हे प्रभु! जिन्हें न शास्त्र ज्ञात है न सद्गुरु प्राप्त है फिर भी यदि वे श्रद्धा से उपासना में लगे रहते हैं तो उनकी उपासना को आप क्या कहेंगे; राजसी, तामसी या सात्त्विकी?

इस प्रश्न में एक और भी प्रश्न छिपा हुआ है कि उन भक्तों की श्रद्धा के कारण से क्या उन्हें अपने भक्तों की श्रेणी में भी लेंगे?

महात्मा अर्जुन ने, 'हे कृष्ण!' कहकर भगवान से यह प्रश्न किया है, जो अब अटपटा सा भी लग रहा है। जब उन्होंने यह स्पष्ट देख लिया कि साक्षात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही

सगुणरूप में आये हुए हैं तो 'हे प्रभु! हे नारायण!' आदि सम्बोधन करके अपने भावों को प्रकट करना चाहिए था। ऐसा तो आजतक किसी शिष्य ने न किया होगा कि अपने गुरु का नाम ले। हाँ, असंख्य साधकों में से कोई एक–दो साधक सद्गुरु के नाम का अनुष्ठान वैसे ही करते हैं, जैसे रामनाम का, कृष्णनाम का; क्योंकि उन्होंने अपने सद्गुरु को ही सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म माना एवं जाना है। किन्तु एकान्त में बैठकर अनुष्ठान के लिये सद्गुरु का नाम जपना अलग बात है तथा सद्गुरु के सामने ही उनका नाम लेकर व्यवहार करना अलग बात है। महात्मा अर्जुन ने यहाँ जान–बूझकर प्रभु का नाम नहीं लिया है अपितु आत्मविभोरावस्था में 'हे कृष्ण!' वैसे ही प्रकट हुआ जैसे गजराज एवं भगवती द्रौपदी ने हे गोविन्द! हे गोपाल!! हे कृष्ण!!! कहकर प्रभु को पुकारा था। यद्यपि भक्त अर्जुन के स्मृतिपथ में प्रभु के बहुत से नाम हैं, किन्तु अन्य सभी नाम विशेषणयुक्त हैं। यह नाम बाल्यावस्था से ही उनके रोम–रोम में समाया हुआ है। अन्तर इतना ही है कि उस समय वे यह नाम मित्रभाव से, भ्रातृभाव से, जीवभाव से पुकारते थे तथा आज ब्रह्मभाव से पुकार रहे हैं। क्या प्रमाण है कि कृष्णनाम ब्रह्मभाव से ले रहे हैं? हाँ, इसलिये कि एकादश अध्याय में उन्होंने पूर्व में कृष्ण–नाम लेकर पुकारे जाने के लिए क्षमा माँग लिया है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।। (अ० ११)

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।। (अ० ११)

कोई भी साधक एवं भक्त जब नाम एवं नामी में भेद नहीं देखता तो नाम को स्मरण के रूप में लेता है। सत्य तो यह है कि महात्मा अर्जुन के हृदय से प्रकट होनेवाला यह नाम वाणी से बाहर न आ सका, तो भी महर्षि व्यास ने अर्जुन के मन में गूँजनेवाले सम्बोधनमय इस कृष्ण नाम को प्रकट कर ही दिया। कदाचित् यदि यह नाम बाहर भी आ जाता तो भी भगवान इसे अन्यथा दोष में न लेते, इसलिए कि उनके पास व्यवहार की नहीं बल्कि भाव की प्रधानता है।

(येः शास्त्रविधिमुत्सृज्य.....) हे प्रभु! इस जगत में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं। एक अपने सद्गुरु के अनुसार ही चलते हैं; क्योंकि उन्हें गुरु एवं गुरु के वचनों में ही प्रीति एवं श्रद्धा होती है, वे जो कुछ कह दें उसी पर उन्हें विश्वास हो जाता है। दूसरे वे जो पढ़कर, सुनकर बिना गुरु की आज्ञा से संस्कारानुसार अपने स्वभाव से अपने इष्ट की उपासना करते हैं। फिर उनकी श्रद्धा को क्या कहा जायेगा क्योंकि शास्त्र–विधि को तो उन्होंने स्वीकार नहीं किया? ऐसा प्रश्न अर्जुन के द्वारा होना स्वाभाविक था, क्योंकि अबतक भगवान ने सद्गुरु की अध्यक्षता में रहकर ही साधना करने पर जोर दिया है तथा उसके अभाव में शास्त्र की सार्थकता पर बल दिया है। प्रायः गावों एवं नगरों में देखा जाता है कि बहुत से लोगों के पास न शास्त्र है, न सद्गुरु, तो भी संस्कारवश किसी की श्रद्धा शिव में, किसी की विष्णु में, किसी की हनुमान में, गणेश में, सूर्य में, शनि में, राहु एवं केतु में, किसी की मंगल, बुध, बृहस्पति में होती है। इन्दौर के हरसौला गाँव की एक माँ ने पूछा कि बृहस्पति भगवान की पूजा कैसे की जाती है? उसने

कहा कि पता नहीं क्यों बचपन से मेरी उन्हीं में प्रीति है! शिमला के एक बच्चे ने पूछा कि सूर्यदेव की उपासना कैसे की जाती है? क्योंकि मेरी बचपन से ही सूर्य भगवान में ही प्रीति है। महाराज ने पूछा– तुम्हें श्रीराम, श्रीकृष्ण, शंकर, दुर्गा आदि में से कोई अच्छा नहीं लगता? उसने कहा कि नहीं, मेरा मन तो सूर्य भगवान के ही दर्शन करने को करता रहता है। महाराज ने मन में सोचा पूर्वजन्मों में इसने सिद्धिप्राप्ति हेतु सूर्य पर ही त्राटकयोग साधा है, वही संस्कार पीछा कर रहा है। उसीप्रकार किसी की माता–पिता में श्रद्धा हो जाती है, किसी की पति में, किसी की पत्नी में, किसी की पुत्र में आदि–आदि। अर्जुन ऐसा इसलिए पूछ रहे हैं क्योंकि वे देख रहे हैं कि 'पितामहभीष्म जैसे महापुरुष ने भी तो भगवान की राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा की थी तो भी अपने किसी न किसी इष्ट की प्रेरणा से ही तो भगवान के विपक्ष में खड़े हैं! भगवान को पहचानने में मुझे देर हुई, यह बात अलग है; किन्तु ये पितामह जानकर भी अनजाने जैसा कर्म कर रहे हैं। इसलिए यह सिद्ध है कि इनकी आराधना एवं साधना गुणकृत है; रजोगुण, तमोगुण अथवा सतोगुण से परे की नहीं है।' इसीप्रकार भक्त अर्जुन ने अब स्वयं से श्रद्धा का विभाग कर दिया है। सात्त्विक, राजस एवं तामस श्रद्धा प्रारब्धकृत है एवं ब्रह्मश्रद्धा कृपाकृत है। लगता है अब अर्जुन को सभी की श्रद्धा प्रारब्धकृत ही दिखाई पड़ रही है, इसलिए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया है। भगवान ने भी इस प्रश्न पर बहुत विशेष ध्यान दिया। वे सोच रहे हैं कि अर्जुन का अंशमात्र दुराग्रह अभी भी शेष है, इसलिये कि जब यह विषादग्रस्त था तब इसने कहा था कि हे माधव ! मैंने जो कुछ कहा है अशास्त्रीय नहीं कहा है। स्वजनों का वध पौराणिक मतानुसार ब्रह्महत्या का पाप माना गया है तथा उस ब्रह्महत्या से पितरों का कुपित हो जाना अपने पथ से च्युत हो जाना आदि सबकुछ तो गरुड़ पुराण में कहा ही गया है।

महात्मा अर्जुन कह रहे हैं कि फिर भी कोई बात नहीं, मैंने तो सद्गुरु से अपनी बात का अनुमोदन नहीं कराया था अब तो आप मिल ही गये, इसलिये मेरी दिशा बदल गयी अर्थात् आप में ही श्रद्धा हो गयी; किन्तु जीवनभर अपने मन से ही उपासना करनेवाले की क्या गति होगी सात्त्विकी, राजसी या तामसी, इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

हे पार्थ! पूर्वजन्म के संस्कारानुसार उनकी सात्त्विक, राजस एवं तामस– यह तीन प्रकार की श्रद्धा होती है, इतना ही नहीं, सभी पुरुषों की श्रद्धा उनके भावानुसार ही होती है, जो जिस

भाववाला होता है, उसका वही रूप भी होता है। इसलिये सात्त्विक पुरुष देवी–देवताओं की आराधना–साधना करते हैं; राजस पुरुष यक्ष–राक्षसों की तथा तामस पुरुष भूत–प्रेत आदि की पूजा करते हैं।

किसी भी साधक, भक्त एवं जिज्ञासु की कोई भी सात्त्विक, राजस एवं तामस क्रिया, उसके पूर्वजन्म के योनियों में हुए कर्मों के अनुसार ही होती है। भले उसे मनमाना कहा जाता है लेकिन सन्त उसे मनमाना नहीं कहते। मनमाना तब कहा जाता है, जब किसी को सद्गुरु मिल गया तो भी प्रकृति की धारा को वह समझने का प्रयत्न नहीं कर रहा है, यदि समझ भी लिया तो उसका प्रयोग नहीं कर रहा है। मनमाना कैसे कहा जायेगा क्योंकि पूर्वजन्मों के सात्त्विक, राजस एवं तामस कर्म भी तो मन–बुद्धिवाले होते हैं। एक मन तो उन तीनों प्रकार के कर्मों के पास है और दूसरा मन आत्मजिज्ञासु के पास है, तभी महात्मा अर्जुन कह रहे हैं कि जिसे सद्गुरु प्राप्त नहीं है तथा उसे अपने मन का पता नहीं है तो उसकी श्रद्धा क्या है, सात्त्विक, राजस या तामस? इस प्रश्न से साधना के इच्छुक साधकों को यह जान लेना है कि यहाँ अर्जुन ने एक चौथे मन तथा बुद्धि को लाकर खड़ा किया है, जिस मन, बुद्धि, चित्त के द्वारा इन तीनों प्रकार की पूर्वकृत् वासनाओं से उदासीन हुआ जा सकता है। मन से तो मन को त्यागा जा सकता है, किन्तु केवल द्रष्टा होकर इन तीनों कर्मों को त्यागने से तो तन, मन, वचन में शून्यता ही प्रशस्त होगी जो भगवान को अभीष्ट नहीं है। भगवान ने 'उपद्रष्टानुमन्ता' कहकर एक ऐसे द्रष्टामय पुरुष को खड़ा किया है, जिसके पास दिव्य शरीर है, दिव्य इन्द्रियाँ हैं, दिव्य मन, बुद्धि एवं दिव्य हृदय है, जिसके लिए एक शब्द दिया गया है 'प्रज्ञा'। जब प्रज्ञा जागती है तो सामान्य मन, बुद्धि, चित्त आदि कुंठित हो जाते हैं अर्थात् धीरे–धीरे उनका मोक्ष होना प्रारम्भ हो जाता है तथा एकमात्र वहाँ प्रज्ञामय पुरुष रह जाता है, जो उत्पत्ति, पालन एवं संहार नामक क्रियाओं को एकमात्र संकल्प से करता रहता है, जिसे क्रिया नहीं कहा जाता। तो आयें देखते हैं कि महात्मा अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान क्या कह रहे हैं।

साधकों को अपने कर्म को नहीं, भाव को देखना चाहिये कि किस भाव से घर से संन्यास लिया है– ब्रह्मप्राप्ति भाव से या देवप्राप्ति भाव से। जो देवप्राप्ति या सिद्धिप्राप्ति के भाव से संन्यास लिया होगा, वह निश्चितरूप से प्रकृति के घेरे में होगा। उसकी सुरक्षा का दायित्व उसके देवता का होगा, न कि सद्गुरु का या भगवान का, चाहे भले ही वह ब्रह्मज्ञानी गुरु के साथ ही क्यों न रहता हो। कोई तपसिद्धि के लिये, कोई योगसिद्धि के लिये, कोई जपसिद्धि के लिये सद्गुरु की शरण में आता है तो वह सद्गुरु के घेरे में नहीं माना जायेगा, बल्कि वह जप, तप, योग के घेरे में ही समझा जायेगा। उसके संसर्ग में रहने से जप, तप, योग सिद्ध हो जायेगा, लेकिन वह समझे कि मैं प्रकृति के घेरे से मुक्त हो गया, अब मेरी अकालमृत्यु आदि नहीं होगी, तो ऐसा नहीं है। सातवें अध्याय में भगवान ने कह दिया है कि (मनुष्याणां सहस्त्रेषु....) हजारों मनुष्य मेरे नाम से गृहस्थाश्रम का त्याग करते हैं या वहीं रहकर वहाँ से अनासक्त हो जाते हैं लेकिन उन हजारों में से कोई एक दो सिद्ध हो पाते हैं, इसलिये कि उन हजारों में से सब तो मेरे पास किसी न किसी कामना को लेकर आते हैं; सर्वस्व त्यागी तो कोई–कोई ही होता है।

लगभग आठ वर्ष पूर्व इन्दौर (म.प्र.) का एक भक्त हिमालय को जा रहा था। किसी से सन्तों का पता पूछा होगा। दो–चार संतों के पास से होता हुआ महाराज के पास पहुँचा। महाराज ने उससे पूछा कि हिमालय क्यों जा रहे हैं आप? उसने कहा कि अपने–आप को जानने के लिये। महाराज ने कहा कि ठीक है; तब जाएँ। उसने कहा कि कृपया आप बतायें कि वह ब्रह्म क्या है? मैं कौन हूँ? महाराज ने उससे इस विषय में कुछ संकेत किया। उसने सन्तुष्ट होकर कहा कि फिर तो मुझे हिमालय जाने की आवश्यकता नहीं है! महाराज ने कहा कि क्यों नहीं है? जप, तप, योग से तन, मन, वचन, हृदय पवित्र होता है और इसके लिये हिमालय भी उपयुक्त जगह है। यदि आपके सद्गुरु ने हिमालय में ही जप, तप, योग करने को कहा है तो वहाँ जाना चाहिये, यदि सद्गुरु ने ऐसा नहीं कहा तो जहाँ सद्गुरु का वास स्थान है आपके लिए वही हिमालय है। महाराज ने पूछा कि आपके आचार्य ने हिमालय जाने को कहा है क्या? उसने कहा कि नहीं, हमने पढ़ रखा है कि हिमालय में सिद्ध महात्मा रहते हैं.....। महाराज ने कहा कि फिर उन सिद्ध महात्माओं को ही जाकर गुरु क्यों नहीं बनाते आप? आपका गुरु जब उन हिमालयी संतों से विशेष नहीं है तो उसे गुरु मानने का ढोंग क्यों कर रहे हैं? यहाँ हिमालय, हरिद्वार, ऋषिकेश, उत्तरकाशी, गंगोत्री, बद्रीनाथ, केदारनाथ, गोमुख, तपोवन आदि में हजारों साधक एवं भक्त रहते हैं, बारी–बारी से उन सबके पास जाइये और पूछिये कि उनमें से किनको वे सिद्ध संत मिले हैं। वैसे सिद्धों को आप क्या खोजेंगे। वे स्वयं ही जब आवश्यकता पड़ती है तब अपने योग्य पात्र ढूंढ़ लेते हैं एवं जो कुछ कराना होता है करा लेते हैं।

बहुत साल पहले सत्तर के दशक में एक माँ को देखा महाराज ने, गंगोत्री में आये संतों की बड़ी सेवा करती थी, वह युवती थी, कुछ काल के बाद में वह वहाँ से आगे बढ़ी, पाँच–छः किलोमीटर चलने के बाद एक संत के पास रही। फिर वहाँ से दो–चार साल के बाद आगेवाले संत के पास, फिर वहाँ से आगे वाले संतों के पास– ऐसे आगे बढ़ते–बढ़ते तपोवन चली गयी। तपोवन में तपस्या करने लगी, किसी संत ने पूछा कि कुछ मिला वहाँ पर? तो उसने कहा– नहीं मिला, मिलना तो दूर शरीर और भी चौपट हो गया। संत ने कहा– सद्गुरु के कहने से जाना चाहिये था न! अरे! नारदजी ने मधुबन में भेजा ध्रुव को तथा प्रह्लादजी को रखा घर में तो ध्रुवजी के लिए मधुबन ही हिमालय हो गया तथा प्रह्लादजी के लिए घर ही हिमालय हो गया। सद्गुरु जहाँ रखे वही तो हिमालय कहा जाता है!

अपने मन से उपासना करनेवाले जो सात्त्विक पुरुष हैं देवताओं की ही उपासना करते हैं। किन देवताओं की? जो साधुवेश में देवोपासक हैं उन देवताओं की। साधुवेश में भी कोई तो गायत्री मंत्र की उपासना करता रह जाता है, कोई महामृत्युंजय की उपासना करता रह जाता है, कोई नवार्ण मंत्र की उपासना करता रह जाता है। ये सब देवोपासक कहे जाते हैं। तो उस माई को देवोपासक संत ही मिलते गये। ख्याति होती गयी उसकी, ख्याति होती गयी, अन्ततोगत्वा उसकी शारीरिक स्थिति दूभर हो गई। हाँ, यह बात अलग है कि वह देवपूजक संतों की उपासना करते–करते ब्रह्मपूजक हो ही गयी। भगवद्भक्तों ने तो सर्वप्रथम सद्गुरु की खोज की एवं सात्त्विक तप या पूजा करनेवालों ने हिमालय की या किसी अन्य तपोभूमि की।

यक्ष–राक्षसों की उपासना करनेवाले जो धन की चाहनावाले हैं, वे कुबेर की सिद्धि करते हैं, जबकि कोई जरूरी नहीं है कि यदि ब्रह्महत्या का पाप लगा है तो उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हो ही जाए। ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगा है तथा किसी दोष के कारण आप दरिद्र हो गये हैं तो देवोपासना करने से आप अमीर हो जाएँगे, लेकिन ब्रह्महत्या का पाप लग गया है तो जबतक उसका प्रायश्चित नहीं होगा तबतक तो आप देवोपासना करने पर भी वही के वही रहेंगे। तामस पुरुष तो प्रेत आदि की पूजा करते ही हैं। भगवान यहाँ मानो अर्जुन को 'अबतक तुम देवोपासक ही थे' ऐसा बता रहे हैं। राजा शान्तनु भी देवोपासक, कर्ण, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि भी देवोपासक और सच पूछा जाय तो अर्जुन भी देवोपासक ही थे। यद्यपि मन से ही उन्होंने देवोपासना भलीभाँति की थी लेकिन देवोपासना से प्राप्त होनेवाली सारी शक्ति को उन्होंने महात्मा युधिष्ठिर को भेंट कर दिया था, उसके फल का अभी तक उपभोग नहीं किया था। भगवान कहना चाहते हैं कि इसी कारण से तुम मुझ तक पहुँच पाये। कभी–कभार ऐसा भी होते देखा जाता है।

एक उच्चकोटि के तांत्रिक साधक को महाराज ने देखा कि उसने एक संत की शरणागति स्वीकार कर ली। जब उससे पूछा गया कि तुम्हारी तो बड़ी ख्याति है, तुम्हारे पास बहुत से सिद्ध तंत्र हैं! तब उसने कहा कि तंत्र सिद्धियाँ तो हैं लेकिन शान्ति नहीं है। जैसे–जैसे तंत्र सिद्धियाँ मिलती गयीं, वैसे–वैसे मेरी अशान्ति बढ़ती गयी। इसलिये मैंने उस स्थान को एवं तामस साधना, दोनों को छोड़ दिया। अतः इससे सिद्ध होता है कि देवपूजा से आप व्यावहारिक सिद्धि तो प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु शान्ति एवं सत्य को नहीं पा सकते और यदि आपको ब्रह्महत्या का पाप लगा है तो आपके देवता क्या कर लेंगे? ब्रह्महत्या का प्रायश्चित तो ब्रह्म–शरणागति से ही होता है।

मानो भगवान यहाँ अर्जुन से कहना चाहते हैं कि तुम भी तो देवोपासक ही थे। हाँ, अन्तर इतना ही है कि देवोपासना से तुम्हें जिस धन–सम्पत्ति, मान–सम्मान की प्राप्ति हुई, उसका उपभोग न कर, महाराज युधिष्ठिर को तुमने भेंट कर दिया। यही कारण है कि तुम्हारे नहीं चाहने पर भी मैंने तुम्हें अपने घेरे में कर लिया है।

महाराज ने एक माँ को अपने मन से घर में ही सात्त्विक देवोपासना करते देखा। ऐसा कोई व्रत नहीं होगा जिसे वह सांगोपांग न करती हो। वह सम्पूर्ण देवी–देवताओं की सांगोपांग उपासना करती थी। लगभग सम्पूर्ण सुख–सुविधा उसके पास थी किन्तु उसका वह उपभोग नहीं करती थी, जिसका परिणाम हुआ कि वह ब्रह्म की ही उपासिका हो गयी। महाराज ने उससे पूछा कि देवताओं को तुम देवता मानती हो या भगवान? उसने कहा कि ये सभी भगवान के ही विविध रूप हैं, फिर पूछा कि पूर्व से ही तुमने किसी एक रूप की उपासना क्यों नहीं की? तो वह हँसकर बोली कि भगवान जब जिससे जैसी उपासना करवाना चाहता है, वैसी करवा ही लेता है।

(सत्त्वानुरूपा सर्वस्य.....) गृहस्थाश्रम में जो भगवत्सिद्ध संत पाये जाते हैं, उन्होंने

गृहस्थाश्रम के धर्म को ही सर्वप्रथम भगवान समझा है, तभी भगवान की सिद्धि हुई है, ऐसे नहीं। देवोपासना भी यदि निष्काम होती है तो वह आप्तकाम सद्गुरु को ही देनेवाली होती है।

खगेन्द्रानन्द के पिता कर्मयोगी थे। इस जन्म में ज्ञानयोगी न हो सके लेकिन शरीर छोड़ते समय उनसे डा० गणेश प्रसादजी ने पूछा कि आप कहाँ जायेंगे? तो उन्होंने कहा कि गुरुलोक जाऊँगा। एक आश्चर्य देखने को मिला कि उनका कर्मरूपी तप इतना व्यापक हो गया था कि उनका पुत्र पहले ही ज्ञानयोगी हो गया। जब देवोपासना व्यापक हो जाती है, साधक अपनी माँग से भी विशेष साधना कर दिया होता है तो उसकी साधना भगवान के पास चली जाती है। इसी कारण यदि कोई पिता घोर तपस्या करता है तो उसके बाल–बच्चे भी मुक्त होते देखे जाते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कोई–कोई बाल–बच्चे घोर तपस्या करते हैं तो उनके माता–पिता मुक्त हो जाते हैं। महाराज पाण्डु, माँ कुन्ती एवं माँ माद्री की घोर तपस्या का परिणामरूप फल ही था कि उनके पाँचों पुत्र भगवान के हो गये थे। इसीप्रकार अपने चित्त की स्थिति को देखना–परखना चाहिये।

पुष्करानन्द ने एक गूढ़ प्रश्न कर दिया कि हिरण्यकशिपु एवं रावण आदि ने भी तो घोर तप किया था, फिर वे भगवान के क्यों नहीं हो गये? महाराज ने हँसी करते हुए कहा– तभी तो भक्त प्रह्लाद एवं साध्वी माँ मन्दोदरी उनके उद्धार के लिये आ गये।

(.....श्रद्धामयोऽयं पुरुषो.....) महाराज ने देखा है कि एक साधक ने अपने सद्गुरु को साक्षात् सगुण ब्रह्म के रूप में जैसे ही देखा वैसे ही उसके सद्गुरु ने कहा कि अशान्त क्यों हो, सर्वत्र तो ब्रह्म ही है! यह सुनते ही उसके मन को शान्ति मिल गयी। वह जिधर देखता बस, ब्रह्म ही दिखाई पड़ता था। श्रद्धा, विश्वास की पराकाष्ठा में जब साधक पहुँचता है तो उसकी श्रद्धा बहुत विशाल हो जाती है तथा भगवान वहाँ छोटा हो जाता है। उस दिन के उपरान्त वह साधक ब्रह्मदर्शन में उतर गया। जिसप्रकार साधक साधना के लिये किसी एकान्त देश में जाते हैं, उसीप्रकार वह ब्रह्मदर्शन करने के लिये परिव्राजक हो गया। मन में सोचा कि जिस भगवान को मैंने पहले मनुष्य, पशु, पक्षी समझ रखा था; चोर, बदमाश समझ बैठा था; शेर, सर्प, बिच्छू समझ बैठा था अब उसी भगवान में मैं मौनी होकर भ्रमण करता रहूँगा। मेरा भगवान कहीं प्रेम करेगा, कहीं दुत्कारेगा, कहीं डरायेगा, कहीं पागल कहेगा लेकिन अब मैं उसे कुछ भी नहीं कहूँगा।

अन्तःकरण में आपके कौन से प्रश्न हैं? किस कामना से आप जीते हैं? उस कामना के अनुसार ही आपका सद्गुरु आपके लिये सार्थक होता है। आप जो माँग रहे हैं, सद्गुरु वही देता है। आपकी श्रद्धा पर कहीं चोट न पड़े, इसलिये प्रथमावस्था में वह आपकी श्रद्धा के अनुसार ही आपको साधना देता है। आपकी पूर्व की श्रद्धा आपका लम्बे काल तक पीछा करती है। सद्गुरु के पास भी आप सर्वप्रथम स्वयं के देवी–देवता के साथ ही रहते हैं। जैसे–जैसे सद्गुरु में आपकी श्रद्धा बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे आपका पूर्वाग्रह समाप्त होता जाता है। यह बात अलग है कि लम्बा काल (समय) लग जाता है। श्रद्धा में इतना बल है कि भगवती मन्दोदरी राक्षसराज

रावण की धर्मपत्नी होकर भी उसकी धर्मपत्नी नहीं हो सकी, भगवान की ही बनी रह गयी।

कर्मयोग भी अपने–आप में स्वतंत्र है, जब सद्गुरु की अध्यक्षता में होता है। लोग कहते हैं– ज्ञानमार्ग स्वतन्त्र है लेकिन महाराज कहता है कि कर्ममार्ग की परतंत्रता सद्गुरु के माध्यम से है। कर्ममार्ग की सिद्धि के लिए राजा जनक, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव आदि राजर्षियों ने जो सद्गुरु की परतंत्रता स्वीकार की है वह तो उन्होंने स्वेच्छा से ही की है। गुरु ने उनको पहले नहीं चाहा बल्कि उनलोगों ने गुरु को चाहा, अतः जब उनलोगों ने गुरु को चाहा तब वे परतंत्र कहाँ हुए? जो लोग कहते हैं कि ज्ञानमार्ग स्वतन्त्र है, उसमें जप, तप, योगादि साधनाओं की अपेक्षा नहीं है, तो क्या इतनेमात्र से वह स्वतन्त्र हो गया? तथा ज्ञानमार्गी भी तो सद्गुरु की अपेक्षा रखता ही है, फिर स्वतन्त्र कैसे है? इसप्रकार सद्गुरु के माध्यम से दोनों ही मार्ग स्वतंत्र गति से जा रहे हैं। नदी के दो किनारे हैं जैसे, इस किनारे से जाना चाहें तो इस किनारे से जाएँ तथा उस किनारे से जाना चाहें तो उस किनारे से जाएँ। वे दोनों ही किनारे समुद्र तक पहुँचायेंगे। श्रीभागीरथी धाम में भूषणानन्द नामक साधक को देखा। वे भण्डार (प्रसाद) की सेवा देखते हैं। सैकड़ों लोग आ जाएँ तो वे एक घण्टे में सबको प्रसाद खिला देते हैं, ऐसी कुशलता है उनमें। लोग कहते हैं– ये प्रसाद को छू भी दें तो वह दिव्य बन जाता है। उनकी इस सामर्थ्य को, उनकी कुशलता को देखकर महाराज कहा करता है कि यदि ये भण्डार में प्रसाद पानेवालों को भगवान मान लें या भगवान का अंग मान लें तो एकमात्र इसी भाव से इन्हें ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। यही बात इस आश्रम में रहनेवाले मंगलानन्द, रमेशानन्द, माधवानन्द, सच्चिदानन्द इत्यादि की भी है। ये सभी कर्ममार्गीय साधक हैं। कर्म में कर्मठता इनलोगों के पास जन्मजात है, आवश्यकता है कुशलता की। कुशलता क्या? यही कि ये सभी भगवद्भाव से अपने चित्त को भर दें तो श्रद्धा प्रकट हो जायेगी तथा जैसे ही आध्यात्मिक श्रद्धा प्रकट हुई कि काम बन जायेगा, ऐसे लोगों को अन्य साधनाओं की आवश्यकता नहीं है। जिन्हें कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध होता है कि उनके प्रति मेरा यह कर्तव्य बनता है, उनके प्रति मेरा यह कर्तव्य नहीं बनता है, मेरा कर्तव्य कर्म अभी शेष है; ऐसे भक्तों के लिए कर्ममार्ग ही श्रेष्ठ है तथा जिनके लिए कोई भी कर्तव्य कर्म शेष नहीं दिखाई पड़ता उनके लिए ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है। सद्गुरु आश्रम में भी उस साधक के लिए ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है जिसे कोई साधक दिखाई ही नहीं पड़ता अर्थात् कौन साधक क्या कर रहा है, क्या नहीं कर रहा है, इसपर ध्यान ही नहीं जाता। वह समझता है कि ये लोग गुरुदेव के पास आये हुए हैं, अतः इनके व्यवहार को एकमात्र गुरुदेव को ही देखने का अधिकार है। ऐसे आध्यात्मिक श्रद्धा से सम्पन्न साधक के लिए ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है। किसी भी साधक का भाव एवं श्रद्धा देखी जायेगी तथा उसी के अनुसार उसके लिए कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्णय किया जायेगा क्योंकि कर्म–अकर्म प्रधान नहीं होता बल्कि श्रद्धा प्रधान होती है। उच्चकोटि के श्रद्धावाले साधक के साधनपथ में काम, क्रोध, लोभ, राग और द्वेष, उसके पाँचों प्राणों का हनन करने के लिये कभी–कभार प्रकट होते हैं। काम प्राण का हनन करना चाहता है, क्रोध अपान का, लोभ समान का तो राग उदान का एवं द्वेष व्यान का हनन करता है। यदि इन पाँचों प्राणों के हननकर्ता विकारों को स्वीकार नहीं किया जाये तो साधक की भगवत्सिद्धि

में देर नहीं हो सकती। श्रद्धा तो एक ही है चाहे काम में हो, क्रोध में हो, राग में हो, द्वेष में हो, पुत्र में हो, धन में हो या माता–पिता, भाई–बान्धवों में हो। उसकी श्रद्धा के अनुरूप ही उसके स्वरूप का निर्माण होता है। किसी की स्थूल कर्मयोग में ही श्रद्धा रहती है तो किसी की अष्टांगयोग में, किसी की ध्यानयोग में तो किसी की ज्ञानयोग में। जो साधक घर में ही कर्मयोग सम्पन्न करके आया हुआ रहता है, उसके लिये उसकी श्रद्धा के अनुसार गुरु आश्रम में आते ही सद्गुरु द्वारा ध्यानयोग दे दिया जाता है; जो ध्यानयोग से सम्पन्न आया है उसे ज्ञानयोग दिया जाता है। सम्पूर्ण साधनाएँ श्रद्धा के ऊपर निर्भर करती हैं। शुकदेव एवं सत्यकाम जैसे जिज्ञासु के लिये एकमात्र गुरु ही योग है, उनके लिये कोई दूसरा योग नहीं। उसप्रकार के श्रद्धामय साधक के सामने सद्गुरु सम्पूर्णता से पिघल जाता है। शुकदेव ने जब गुरुमुख से अपने स्वरूप के विषय में जाना तो अपने स्वरूप को पचाने के लिये एकान्त में चले गये। उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं था। वे तप और त्याग के साथ ब्रह्मचिन्तनरूप हो गये। यह विज्ञानमय कोष से प्रारम्भ होनेवाली साधना है। पाँच कोष हैं– अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष। क्षुद्र प्राणी शरीरमय कोष तक ही रह जाते हैं, राजसी प्राणी प्राणमय कोष तक सिमटे रहते हैं। कुछ चिन्तनशील, मननशील पुरुष मनोमय कोष से साधना प्रारम्भ करते हैं, वे मन से ही देवी–देवता की उपासना करते हैं। जो उच्चकोटि के श्रद्धावान हैं वे विज्ञानमय कोष से चिन्तन प्रारम्भ करते हैं और शीघ्रातिशीघ्र आनन्दमयरूप हो जाते हैं।

ज्ञानयोगी मात्र सद्गुरु के सिद्धान्त की उपासना करता है। ज्ञान की उपासना के अन्तर्गत पहली भूमिका है– सदा सद्गुरु के साथ रहना; क्योंकि वह सोचता है कि पता नहीं कब वे क्या कहेंगे, उनके भीतर से ज्ञान की कौन सी धारा कब बहेगी। ज्ञानयोग बुद्धि से प्रारम्भ होता है और कर्मयोग शरीर तथा मन से प्रारम्भ होता है। जिसका चित्त अति निर्मल है और जिसे अति श्रद्धा प्राप्त है, सद्गुरु के प्रति अति विश्वास है एवं केवल ज्ञान के लिए ही आया है यानी 'मैं कौन हूँ, ब्रह्म क्या है, कैसा है?' एकमात्र इसके लिए ही आया है, तो उसके लिए क्रिया नहीं होती। जैसे मैं शरीर हूँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि हूँ, ऐसा मानने में इसके लिए कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती है, केवल मानना पड़ता है और मानते–मानते ही उसकी सिद्धि हो जाती है। जिसप्रकार 'मैं शरीर हूँ'– ऐसे भाव को मानने में काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादि की सिद्धि मिल जाती है। ये इसप्रकार सिद्ध हो जाते हैं कि चाहने पर भी नहीं जाते। इसीप्रकार वह पुनः सोचता है कि मैं शरीर हूँ, ऐसा लोगों ने बता दिया है, लेकिन इसमें तो मुझे शान्ति मिल ही नहीं रही है, अतः इससे सिद्ध होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। तो सद्गुरु से वह पूछता है– आप बताएँ कि मैं कौन हूँ? दूसरी बात– जिन देवी–देवताओं की मैं उपासना करता चला आ रहा हूँ, उससे अभी तक मुझे परम शान्ति मिलनी तो दूर रही सिद्धि ही नहीं मिली, इससे सिद्ध होता है कि मेरे लिए वह भी साधन उपयुक्त नहीं है तथा यह भी सिद्ध होता है कि मेरे लिए वह भगवान–भगवान नहीं है जिसकी मैं उपासना कर रहा हूँ। तो गुरुदेव! आप बताएँ कि निश्चितरूप से वह भगवान कौन है, कैसा है? मैं कौन हूँ तथा कैसा हूँ? जैसे साधक समझता है कि साँप को देखने से तत्काल भय हो जायेगा, देर नहीं होगी उसमें। किसी बच्ची से पाणिग्रहण होते ही काम प्रकट

हो जायेगा, उसमें क्रिया नहीं करनी पड़ेगी। उसीप्रकार 'मैं कौन हूँ और भगवान क्या है'– इसको भी केवल वह बता देगा तथा शिष्य को यदि विश्वास हो जायेगा तो तत्क्षण उसे शान्ति मिल जायेगी।

महाराज को गुरुमंत्र लेते समय गुरुदेव ने मात्र आत्मचिन्तन दिया, कोई नाम नहीं दिया उन्होंने। पूर्व की वासना थी महाराज को एक नाम में, तो कहा– आप अपनी वाणी से इस नाम का उच्चारण कर दें। एक महीने बाद में सोचा कि यह क्यों कह दिया था! तो आकर कहा गुरुदेव से कि उस दिन छेड़ दिया था न आपको मैंने, ये अपराध हो गया था मेरे से! वह आपका दिया हुआ नाम नहीं है। आपका मंत्र तो जो आत्मचिन्तन आपने दिया था वही है। जब आपने मेरे लिए जप दिया ही नहीं, चिन्तन ही दिया तो चिन्तन ही मेरे लिए जप है। गुरुदेव ने कहा– हाँ, ठीक है। मेरा तो सबसे पूछने का स्वभाव है कि तुम किसकी उपासना करते हो लेकिन तुमसे तो मैंने यह भी पूछा नहीं था। अतः तुम तो आत्मचिन्तन ही किया करो।

सद्गुरु के पास अपना आग्रह लेकर साधक आता है, वह आग्रह ही उसका पीछा करता है। वह उसी को समझता है कि साधना है; क्योंकि उसी में अबतक उसे शान्ति मिली है लेकिन परम शान्ति नहीं मिली इसलिए जाकर कहता है कि अब आप मुझे परम शान्ति दें। अतः पहला साधक ज्ञानयोगी है, इसके लिए कोई आसन, प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है, यदि श्रद्धा और विश्वास है तो! हाँ, लेकिन तप और त्याग के साथ आत्मचिन्तन की व्यवस्था है। जब जान लिया कि मैं आत्मा हूँ, तब इसे जीवन में उतारना ही शेष है। उसे उतारने के लिए त्याग और तप– ये दोनों चाहिए, बिना तप और त्याग के नहीं होगा। उसके लिए गृहत्याग और चान्द्रायण आदि व्रत हैं। महाराज ने देखा एक साधक को नवीं कक्षा से लेकर ग्यारहवीं कक्षा तक तथा उसके उपरान्त भी कुछ समय तक वह कभी तीन दिन पर खाता, कभी चार दिन पर, कभी पाँच दिन पर अर्थात् जब जब भूख लगती, कमजोरी की अनुभूति होती तभी खाता। नींद उसकी बिल्कुल ही हल्की हो गयी थी और सतोगुण बढ़ गया था। तप से सतोगुण बढ़ जाता है, सतोगुणी मन हो जाता है, सतोगुणी बुद्धि हो जाती है, सतोगुणी इन्द्रियाँ हो जाती हैं तथा सतोगुणी शरीर हो जाता है। उस अवस्था में ब्रह्मचिन्तन सुगमता से होने लगता है, उसमें ध्यान और समाधि की अपेक्षा नहीं होती।

अब भगवान जड़ता तथा मनमाने योग, जप, तप पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं–

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

कितने तामसी पुरुष मनोकल्पित तप को दम्भ एवं अहंकार से युक्त होकर करते हैं, जो शास्त्र विधि से रहित होता है तथा कामना, आसक्ति एवं अभिमान से भी युक्त होता है। भगवान

ने कहा– वे मेरे द्वारा दिये हुए इस मनुष्य शरीर को ही तप द्वारा सताते हैं, जो मुक्ति का द्वार है; अतः निश्चितरूप से उन्हें असुर ही जानना चाहिये।

यह तो सर्वविदित ही है कि कंस, जरासन्ध, रावण, कुम्भकरण आदि असुरों ने घोर तप देवपुरुषों को सताने के लिये ही किया है। ब्रह्म की कामनावालों ने भी घोर तप किया है, उन्होंने भी भगवान के लिये शरीर को सुखा डाला है, लेकिन भगवान ने उनका स्तवन किया है। चौथे अध्याय में शरीर को सुखा देनेवाले चान्द्रायण व्रत की प्रभु ने प्रशंसा की है। ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी ने तो ऐसा घोर तप किया कि उनके शरीर के ऊपर बाँबी ही हो गयी थी, दीमकों ने उनके शरीर का मांस ही खा लिया था, हड्डीमात्र शेष बची थी। भगवती पार्वती का व्रत विख्यात ही है। मनु–शतरूपा के विषय में भी कहा गया है कि

अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा, तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा।।
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

उनमें भी शरीर की मात्र हड्डी शेष बची हुई थी, किन्तु उस समय भगवान ने यह नहीं कहा कि मेरे दिये हुए पंचभूतात्मक शरीर को ये लोग सता रहे हैं। इसलिये कि इन सबो ने भगवत् प्राप्ति की कामना से अनशन किया है। अतः ऐसे तप को शास्त्र विहित अर्थात् शास्त्र विधि से सम्पन्न कहते हैं लेकिन जो त्रिलोकपति बनने की कामना से, दूसरों को सताने की कामना से घोर तप तपते हैं तो उसे भगवान अशास्त्रीय एवं आसुरी कह देते हैं। इसप्रकार भावना के अनुसार ही जप, तप, योग, आसुरी एवं दैवी कहलाते हैं।

महाराज ने एक जगह देखा कि तप से अत्यंत कृश हुई माँ को हाथी पर बैठाकर सैकड़ों लोग शोभायात्रा निकालकर उसकी जयजयकार मना रहे हैं। महाराज ने कहा– इसको भगवान मिल गया है क्या? या कोई सिद्धि मिल गयी है? लोगों ने कहा कि तीन महीने से इसने अन्न, फल, दूध, चाय कुछ भी नहीं लिया है, मात्र जलाहार कर रही थी। महाराज ने कहा– क्या हो गया? क्या गिनीज बुक में निकालने के लिये तप कर रही थी या इसके तप से कुछ जगत का हित हो गया है? शास्त्र तो ऐसे तप का विधान करता ही नहीं, यदि करता भी है तो कहता है कि आमरण अनशन करो तबतक जबतक भगवान न मिल जाय। भगवान की कामना से तप द्वारा शरीर को छोड़ना शास्त्रीय विधि कही जाती है, वहीं पर दूसरे को सताने की कामना से तप करना, मान–सम्मान पाने की कामना से तप करना, अशास्त्रीय तप कहा गया है। भगवान अघोर तप को अशास्त्रीय कहते हैं, क्योंकि वह असुरों के लिये ही है। जयद्रथ ने पाण्डवों का वध करने के लिये घोर तप करके भगवान शंकर से वरदान पा लिया तथा अभिमन्यु का वध कराने में सफल हो गया लेकिन भगवान ने दूसरे दिन ही अर्जुन के द्वारा दौड़ा–दौड़ाकर मरवा डाला। महाराज देहातों में देखता है कि माताएँ बहुत तप करती हैं लेकिन तप के दिन भी फलाहारी पकौड़ी–कचौड़ी खाती रहती हैं या कभी कुछ खाती ही नहीं हैं, यह भी तो अशास्त्रीय तप ही है।

शास्त्रविधि में जप, तप, योग के लिये एक क्रम होता है, एक व्यवस्था होती है। सर्वप्रथम

सद्गुरु की आज्ञा होती है, फिर वही क्रम बतला देता है कि तप को जप के साथ करना, जल्दबाजी मत करना। नारदजी ने भगवती पार्वती को तप की आज्ञा दी तो एक क्रम भी दिया। उन्होंने कहा– तबतक फलाहार करना जबतक शरीर तप करने में समर्थ न हो जाय। उसके उपरान्त कोमल दूर्वा और कोमल पत्ते खाते–खाते सूखे पत्ते पर आ जाना एवं सूखे पत्ते तबतक खाना, जबतक कि उसी पर शरीर सुखपूर्वक न रहने लग जाय। सूखे पत्तों को भी जलाहार करते हुए छोड़ना। जब जलाहार का सम्पूर्णता से अभ्यास हो जाय तो धीरे–धीरे उसे भी छोड़ने का अभ्यास करना, ताकि जप करने में व्यवधान न हो तथा जब नाम एवं नामी एक होकर समाधि लग जाए, तब जलाहार भी अपने–आप छूट जायेगा। इसप्रकार समाधि में संकल्पबल से तबतक रहना, जबतक भगवान न आ जायें; यह सनातन परम्परा है। बिना भगवान के नाम के तप को अशास्त्रीय तप कहा जाता है। अन्न, फल, जल धीरे–धीरे इसलिये छोड़ा जाता है कि मन जप में प्रतिष्ठित होता जाय। मन का निर्माण अन्न से हुआ है। यदि सहसा अन्न को छोड़ दिया जायेगा तो भगवान के नाम को छोड़कर मन अपने उद्गम अन्न की तरफ भागेगा। उसीप्रकार सहसा जल छोड़ दिया जायेगा तो प्राण का निर्माण जल से हुआ है, इसलिये वह प्राण ऊर्ध्वगामी न होकर अपने उद्गम अधोगामी जल की तरफ भागेगा। इसलिये प्रभु ने यहाँ मनमाने तप की घोर निन्दा की है। मनमाना योग–यज्ञ, जप–तप करनेवाला कुछ काल के लिये सम्भव है देवसिद्धि प्राप्त कर ले लेकिन देवसिद्धि के चले जाने के उपरान्त उसके जैसा दीन–हीन भी कोई नहीं होगा। अशास्त्रीय तप तपनेवाले असुरों के संहार की कहानी सब पढ़ते ही हैं, तो भी मनमाने तप की तरफ पग आगे बढ़ ही जाते हैं। यद्यपि मनमाना योग–यज्ञ, जप–तप पुराणों में दिया गया है, लेकिन वहाँ यह भी बताया गया है कि यह आसुरी तप है। इसलिये पुराणों में जिन–जिन असुरों के घोर तप का वर्णन मिलता है, उस तप में श्रद्धा नहीं होनी चाहिए। दुर्योधन ने घोर आसुरी तप करके लक्ष्मी की सिद्धि प्राप्त कर ली थी। तेरह साल के लिये लक्ष्मी ने हस्तिनापुर का राजा भी बना दिया था लेकिन उसी लक्ष्मी ने पुण्य समाप्त होनेपर सम्पूर्णता से सर्वनाश भी करा दिया। इसलिये तप के स्वरूप को भलीभाँति जानकर स्वीकार करना चाहिये। भगवान ने ऐसे विषम समय में घोर तप की निन्दा स्वयं इसलिये की है कि अर्जुन ने सर्वप्रथम संन्यास लेकर घोर तप की कामना की है। अतः अर्जुन जान जाये कि बिना सद्गुरु के अनुमोदन का घोर तप भी घातक ही होता है। अब भगवान ने श्रद्धा के अनुसार किये गये सात्त्विक, राजस एवं तामस आहार तथा यज्ञ, तप, दान के विषय में भी प्रकाश डालने की कामना से अगले मंत्रों को दिया है–

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहीनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥

भगवान ने कहा कि आहार, यज्ञ, दान, तप आदि भी पूर्वकृत संस्कारों के अनुसार तीन–तीन प्रकार के भेदवाले होते हैं, जिसे सभी को जान लेना चाहिये। साधक स्वयं की प्रकृति को भी आहार से ही जान लेता है कि उसकी श्रद्धा सात्त्विकी है या राजसी। जैसे (आयुःसत्त्वबलारोग्य.....) आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रस युक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगनेवाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय लगते हैं तथा अति कड़वे, तीखे, अम्लयुक्त, अति दाहकारक, रूखे, अति गरम और दुःख, शोक–सन्ताप तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय हैं। वैसे ही जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और अपवित्र भी है वह तामस पुरुष को प्रिय होता है।

भगवान मानो संकेत कर रहे हैं कि तुम पाँचों की प्रकृति 'दैवी' इसलिये भी सिद्ध हो रही है क्योंकि तुमलोग शुद्ध सात्त्विक आहार–व्यवहार करनेवाले हो तथा ये कौरव शराबी, मांसाहारी, अति तीखे, खट्टे एवं चरपरा (चटपटा) आदि आहार करनेवाले हैं। इस न्याय से भी इन्हें तुम असुर के रूप में देखो, न कि भाई–बान्धवों के रूप में।

(आयुःसत्त्वबलारोग्य.....) भगवान के द्वारा दिया गया यह मंत्र साधकों के लिये अति महत्त्वपूर्ण है। प्रभु ने स्पष्ट कह दिया कि सात्त्विक आहार आयु प्रदान करनेवाला, बुद्धि को सत्त्वमय बनानेवाला, वीर्य को स्थिर करनेवाला, आरोग्य प्रदान करनेवाला तथा सुख प्रदान करनेवाला एवं भगवान में प्रीति बढ़ानेवाला होता है। वे पदार्थ कौन–कौन हैं जो इन दिव्य गुणों को देनेवाले हैं? इसे भी देखें– जो रस युक्त हैं। दूध, फल, अन्न आदि में भी सात्त्विक रस का विभाग किया जायेगा। देशी गाय, भैंस एवं बकरी, इन तीनों का ही दूध पीया जाता है; जिसमें गाय (देशी) का दूध सात्त्विक, भैंस का राजस तथा बकरी का तामस कहा जाता है। वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों में गाय के दूध को दूध नहीं कहा गया है बल्कि उसे गोरस कहा जाता है। भैंस, बकरी आदि के लिये कहीं भी भैंसरस, बकरीरस आदि का उल्लेख नहीं मिलता है तथा यही गोरस, अमृत भी कहा जाता है। आजतक जितने भी ऋषि–महर्षि, साधक–सिद्ध हुए हैं, उन्होंने इस गोरस को अपनी साधना का आधार बनाया है। कितने संत एवं साधकों ने जबतक साधना सिद्ध न हुई तबतक इसी अमृत का पान किया है। यही अमृत आयु को देनेवाला है अर्थात् शरीर में ऐसे–ऐसे रोग प्रकट होते हैं, जिनके कारण पुरुष जीते हुए भी मरा हुआ सा रहता है, उन रोगों के लिये तो यह रस दिव्य औषधि है; यही रस दिव्य विवेक को प्रकट करता है, जिससे स्वाभाविक ब्रह्मचिन्तन प्राप्त होता है; यही अमृत वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाता है जो साधक का बल, तेज एवं ओज कहलाता है; यही रस इन्द्रिय सुख को बढ़ानेवाला होता है अर्थात् इन्द्रियाँ

रोग ग्रसित न हों तो सुख की प्राप्ति सहज ही होती है। यह अमृत ब्रह्मसाधना में नित्य नयी प्रीति उत्पन्न कराता है। इसी रस को सभी संतों ने ब्रह्म प्रदान करनेवाला कहा है। महाराज ने अपने परम पूज्य गुरुदेव को अनेक वर्षों तक गो माता के अमृत स्वरूप कच्चे दूध का पान करते हुए देखा है; उन्होंने इसे सगुण ब्रह्म का रूप ही बताया है। यही अमृत शरीर में स्थिर रहनेवाला है अर्थात् यह वीर्य बनकर अधोगामी नहीं होता। इसी कारण भगवद्भक्तों को यह स्वाभाविक ही प्रिय है। कितने साधकों ने तो भैंस का दूध पीना तो दूर, सूँघा तक भी नहीं होगा। वे बिना दूध के रह सकते हैं लेकिन भैंस तथा जर्सी आदि विदेशी गायों एवं बकरी आदि के दूध का किसी भी अवस्था में पान नहीं कर सकते। पूर्व के ऋषि–महर्षियों के पास तो गो माता की ही सेवा होती थी। यह महात्माओं की दिव्य सम्पत्ति है।

जो साधक साधनाकाल में अन्न का सेवन करते हैं; उनके लिये चावल और मूँग की दाल ही दिव्य रस है। वे चावल एवं मूँग की दाल से बनी खिचड़ी का ही प्रसाद पाकर साधना में प्रवृत्त होते हैं। जब लोग किसी साधक, सन्त आदि को तिलक लगाते हैं तो उसके साथ अक्षत (चावल) का भी प्रयोग करते हैं। मानो उनके द्वारा ब्रह्म यह संकेत करता है कि यह अन्न नहीं ब्रह्मरस है। साग में पालक, चौलाई, मेथी, बथुआ आदि रस प्रधान सात्त्विक साग ही साधनोपयोगी हैं। फलों में सेव, सन्तरा, मौसमी, केला, अनार, नाशपाती, तरबूज आदि ही सात्त्विक साधनोपयोगी फल हैं। अन्न में जौ की दलिया भी दिव्य गुणों को प्रदान करनेवाली है। यद्यपि तिलहन में तिल का तेल सात्त्विक माना जाता है तो भी साधनाकाल में साधक के लिये किसी भी तेल का उपयोग वर्जित है। तेल के स्थान पर गो माता के घी का उपयोग परम लाभदायी है। हाँ, साधक के लिये कच्चा तिल चबाकर खाना आरोग्य का प्रदाता है। सब्जी में आलू, परवल, तरोई (तोरी), सहजन, लौकी, भिण्डी, मसालों में काली मिर्च, हल्दी, जीरा, सोंठ, अदरक, हींग ही साधनोपयोगी हैं। इसप्रकार उपरोक्त सात्त्विक पदार्थ ही साधक के लिये आयु, बुद्धि, बल, वीर्य और भगवत् प्रीति बढ़ानेवाले हैं। साधक को वात, कफ, पित्त अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुरूप ही आहार लेना चाहिये। ठीक इसके विपरीत अन्य राजसी एवं तामसी पदार्थ राजस, तामसभाव को उत्पन्न करनेवाले हैं। जो साधक घर में अति कड़वा, खट्टा, तीखा, अति लवणयुक्त तथा बासी, अपवित्र एवं जूठा खाने का आदी है, वह चाहे तो धीरे–धीरे शुद्ध, सात्त्विक आहार से अपनी प्रकृति को सात्त्विक बना सकता है। पुष्करानन्द ने एक दिन पूछा कि आप अन्नों के राजा चना, फलों के राजा आम, दालों के राजा अरहर एवं तिलहन के राजा सरसों को साधनोपयोगी नहीं मानते, ऐसा क्यों? महाराज ने कहा ये तो विलासी राजा हैं, जो राजसी पुरुषों के लिये उपयुक्त हैं। महाराज ने साधकों के लिये उपयोगी पदार्थों को चुन–चुनकर लिख दिया है। इसीप्रकार तीन प्रकार के यज्ञों के विषय में भगवान कहते हैं कि

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

हे अर्जुन! मन को भगवान में लगाकर शास्त्रविधि से सम्पन्न निष्कामभाव से किया जानेवाला यज्ञ, देवयज्ञ कहा जाता है तथा जो यज्ञ फल की कामना से दम्भपूर्वक किया जाता है, वह राजस यज्ञ कहा जाता है एवं सकामभाव से किया जानेवाला यज्ञ भी राजस कहा जाता है। वैसे ही शास्त्रविधि से रहित, अन्नदान से रहित, वैदिक मंत्रों से रहित, बिना दक्षिणा के तथा श्रद्धा से हीन होकर किये जानेवाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहा जाता है।

गृहस्थाश्रम में रहने के कारण से देवयज्ञ करने का विधान है। जिसप्रकार द्वार पर आया हुआ अतिथि अर्घ्य, अन्न–जल, मान–सम्मान आदि से पूजा पाने का अधिकारी होता है, भिखारी एक मुट्ठी अन्न पाने का अधिकारी होता है, उसीप्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म देवगण गृहस्थ के द्वारा समयानुसार घी एवं हविष्यान्न के अधिकारी होते हैं। जिनका अग्नि ही मुख है, उस अग्नि नामक मुख में उन–उन देवताओं के नाम के द्वारा आहुति दिये जाने से ही वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। इन्द्र, वरुण, दिक्पाल, अश्विनीकुमार, विश्वदेव, साध्यगण आदि देवता सूक्ष्मरूप से बाहर एवं अन्दर (सम्पूर्ण शरीरों के भीतर) रहते हैं, जिनका भोजन आहुति ही है। इस सृष्टि में बहुत से ऐसे प्राणी हैं जिनका भोजन धूप है, किन्हीं–किन्हीं प्राणियों का भोजन वायु है, किन्हीं–किन्हीं का जल है, किन्हीं–किन्हीं का मिट्टी है आदि आदि। इसीप्रकार देवताओं का भोजन घी एवं हविष्य ही होता है। जैसे श्राद्ध में पितरों को जलदान (तर्पण) देने से वे प्रसन्न होते हैं, उसीप्रकार देवता भी अपनी आहुति पाकर प्रसन्न होते हैं। सम्पूर्ण देवताओं का अपने ऊपर न चाहते हुए भी ऋण रहता ही है। सूर्य, चन्द्रमा हमारे लिये प्रकाश का दान करते हैं, इन्द्रादि देवता समयानुसार वर्षा करते हैं। उसीप्रकार अग्नि, जल, पृथ्वी एवं वायु का योगदान तो सभी जानते ही हैं। अतः सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि हररोज न हो सके तो पर्वों पर अवश्य ही इन्हें आहुति प्रदान करे। आज भी हजारों परिवारों में नित्य ही देवाहुति करके ही प्रसाद पाने का नियम है। बहुत से राजर्षियों ने बहुत प्रकार के यज्ञ किये हैं, जिनमें वाजपेय, राजसूय, विश्वजीत आदि यज्ञ विख्यात हैं; उन राजर्षियों द्वारा दक्षिणा में देने के लिए अन्नदान से अन्न भण्डार, द्रव्यदान से खजाना, गो दान से गोशाला ही खाली करने का आदर्श व्यवहार मिलता है लेकिन उसके बदले में देवताओं से कुछ भी नहीं माँगा, इसलिये उस निष्काम यज्ञ से भी भगवान को प्रसन्न कर लिया। राजा जनक, राजा बलि, राजर्षि हरिश्चन्द्र, रघु आदि निष्काम यज्ञ कर्ताओं में सुविख्यात हैं लेकिन ठीक इसके विपरीत राजा ययाति, अष्टक, नृग, राजा त्रिशंकु आदि सकाम यज्ञकर्ताओं को सभी जानते हैं, जिन्होंने विधि–विधान से यज्ञ सम्पन्न कर स्वर्गलोक माँग लिया। ऐसे लोगों को स्वर्ग तो मिल जाता है लेकिन चित्त शुद्ध नहीं होता तथा भगवद्भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। आजकल ठीक इन दोनों के विपरीत तामसी पुरुषों द्वारा केवल कुल–परम्परा के कारण, परिवार एवं समाज के दबाव के चलते, श्रद्धा से हीन अत्यन्त न्यून मात्रा में दक्षिणा देकर, शास्त्रविधि

से हीन यज्ञ बहुत हो रहे हैं।

महाराज ने देखा है कि इन्दौर के बहुत से गाँवों में यज्ञ कराकर, थोड़ी दक्षिणा ब्राह्मण को देकर, सारी की सारी दक्षिणा अपने भानजे को दे देते हैं। यहाँ तक कि गोदान भी भानजे को ही करते हैं। और तो और श्राद्ध में दी जानेवाली दक्षिणा भी भानजे को ही दे देते हैं। मन में यह धारणा बना बैठे हैं कि सौ ब्राह्मणों से एक भानजा बड़ा होता है। महाराज को हँसी तो तब आयी जब एक साधक ने बताया कि उसकी दादी ने उससे यह कहा था कि अपनी बूआ के लड़के को अपना गुरु बना लो, जिससे सारा का सारा दान घर में ही जायेगा।

(विधिहीनमसृष्टान्नं.....) एक साधक किसी वनप्रदेश के एक मन्दिर पर, जहाँ कोल–भील रहते थे, श्राद्ध के दिनों में हवन करा रहा था जबकि वह साधक एक भी वैदिक मंत्र नहीं जानता था। उसने सोचा कि ये कोल–भील क्या जानेंगे। भण्डारे के दिन कुछ जानकार लोग वहाँ पहुँच गये, उन्होंने हो–हल्ला मचाया कि श्राद्ध के दिनों में यज्ञ कैसा? शोर–गुल सुनते ही वह मनमुखी कर्मकाण्डी वहाँ से भागकर महाराज के पास आया तथा अपना किया–कराया बताने लगा। महाराज ने पूछा कि वहाँ हवन क्यों कराने लगे? उसने कहा कि उनलोगों की हवन में बड़ी प्रीति थी। वे लोग कहते थे कि बहुत से संतों ने आकर यहाँ यज्ञ एवं भण्डारा कराया है, तो मैंने सोचा कि इस यज्ञ के बहाने ही इनलोगों से शराब, गाँजा, भाँग छुड़ाने का सुगम रास्ता प्रतीत हो रहा है। अतः मैंने घोषणा कर दी कि आहुति वही देगा जो शराब, गाँजा, भाँग छोड़ने का वचन दे, ऐसा करने से बहुतों का यह दोष छूट भी गया। मैं तो हवन आदि के विषय में कुछ जानता ही नहीं था कि कब और कैसे कराया जाता है। केवल घी डलवाता था। भण्डारा तो बहुत सुन्दर हुआ लेकिन क्षेत्र में इसकी चर्चा चल पड़ी। लोग सोचते थे कि गुरुजी का शिष्य है तो कुछ विशेष प्रकार का यह यज्ञ होगा।

एक साधक तम्बाकू खाता था। जिस प्रदेश में गया था, वहाँ वह तम्बाकू किससे माँगे? क्योंकि उसके सद्गुरु एवं अन्य शिष्य तो तम्बाकू खाते नहीं थे। अतः वह माँगता तो लोग कहते कि इनके गुरु तो धूम्रपान का विरोध करते हैं! इसलिए उसने अपनी सेवा में लगे हुए भोले भगत से कहा कि एक बंडल बीड़ी एवं एक दियासलाई (माचिस) ला दो। उसने पूछा कि इसका क्या करेंगे? तो साधक ने कहा कि भूत (प्रेत) की पूजा करनी है। तुम्हारे खेत पर एक भूत रहता है, वह माँग रहा था। भोले भगत ने लाकर दे दिया और साधक का काम तम्बाकू की जगह बीड़ी से ही चलने लगा। उस भक्त ने सोचा कि ये सुबह–शाम ही तो भूत को पिलाते होंगे, चलो आज छिपकर देखूँगा कि उनका भूत कैसा है। वह पहले से जाकर झाड़ियों में छिप गया। साधक नियमतः वहाँ शौच करने के लिये गया तथा शौच के लिये बैठने से पहले बीड़ी जलाकर पीने लगा। भोले–भगत ने यह देखा तो सोचा कि लगता है इनके भीतर ही वह भूत रहता है।

इसप्रकार कोई देवयज्ञ करता है, कोई भगवत् यज्ञ करता है और कोई भूतयज्ञ भी करता है। कलियुग में राजस एवं तामस यज्ञों की भरमार हो गयी है।

(विधिहीनमसृष्टान्नं.....) तामसी पुरुष तामसी देवी–देवताओं को प्रसन्न करने के लिये

रक्त एवं मांस की आहुति देते हैं। अभी हाल ही में एक पंजाबी माता–पिता ने अपने एकवर्षीय बालक की हत्याकर तांत्रिक के कहने से इसलिये आहुति दी कि उनकी दरिद्रता दूर हो जायेगी तथा घर के अन्य कष्ट भी दूर हो जायेंगे। ऐसी घटनायें तो आये दिन समाचार पत्रों में छपती ही रहती हैं।

अब भगवान तीन प्रकार के तप का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

इन मंत्रों में भगवान ने विशुद्ध सात्त्विक तप की बात की है जो निष्काम साधकों द्वारा किये जाने योग्य है। इस मंत्र में भगवान ने देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ (विद्वान)– इन चार आत्माओं की पूजा करने का संकेत किया है। सगुण देवता का तात्पर्य माता–पिता एवं बड़े–बूढ़ों से है, द्विज का तात्पर्य साधकों से एवं भगवद्भक्तों से है, गुरु का तात्पर्य सद्गुरु तथा कुलगुरु, पुरोहित एवं अध्यापक से है, प्राज्ञ का तात्पर्य वैदिक विद्वान से है; इन सबके प्रति विनम्र रहना तथा ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप कहा जाता है। कटुवचन न बोलना, सत्य लेकिन प्रिय बोलना, हितकारी वचन बोलना, जप एवं स्वाध्याय करना– यह वाणी का तप कहा जाता है तथा भगवद्भक्ति से मन को प्रसन्न रखना, सबमें एक ईश्वर को देखकर शान्त रहना, तन, मन, वचन पर संयम रखना, व्यर्थ न बोलना अर्थात् मौन रहना, मानसिक पूजा के द्वारा हृदय को भलीभाँति पवित्र रखना– मानसिक तप कहा जाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

इसप्रकार पूर्वोक्त तीन प्रकार के तपों को परम श्रद्धा से, निष्काम भाव से किया जाता है तो वह सात्त्विक तप कहा जाता है।

जिसप्रकार 'पूत के पाँव पालने में दीख जाते हैं', ठीक उसीप्रकार गृहस्थाश्रम में रहनेवाले भगवद्भक्त बालक के व्यवहार से ही पता चल जाता है कि यह सात्त्विक प्रकृति का है। उसके माता–पिता और श्रेष्ठजन सात्त्विक प्रकृति के हों अथवा तामसी या राजसी, किन्तु वह तो चित्तशुद्धि के लिये भगवान जैसी ही उनकी सेवा करता है। इस मंत्र में भगवान ने ऊपर की पंक्ति में श्रद्धापूर्वक सेवा करने की बात की है तथा नीचे की पंक्ति में ब्रह्मचर्य और अहिंसा के साथ रहने को कहा है। इससे सिद्ध होता है कि उस पवित्र बालक के सामने विषय आयेगा, हिंसा आदि

का अवसर आयेगा लेकिन वह उसे स्वीकार न करे। सम्भव है कि उसकी निष्काम सेवाभाव एवं भक्ति को देखकर विषयी माता–पिता के द्वारा विरोध हो। वे उसे अपने भक्तिपथ से विमुख करने के लिये भाँति–भाँति के षड़यन्त्र करें, किन्तु साधक उनके व्यवहार को सहन करे तथा उनकी ऐसी किसी भी योजना को सफल न होने दे, तभी ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा के साथ वह तप कर सकता है। विषयी पुरुष साधक को विषय के माध्यम से ही तप से विमुख करने का प्रयास करते हैं।

महाराज के पास तीन–चार साधक ऐसे हैं, जिनके माता–पिता ने उनकी भगवद्भक्ति को देखकर, यह साधु न हो जाये ऐसा विचारकर जल्दी में उनका विवाह करने का प्रयास किया। यद्यपि यह प्रकृति के द्वारा ली जानेवाली एक परीक्षा होती है; माता, पिता, भाई, बान्धव आदि तो निमित्त मात्र होते हैं। इसलिये साधक उनलोगों से ऐसा जानकर ईर्ष्या न करे, अपितु सेवा–शुश्रूषा मान–सम्मान के साथ करता रहे। ऐसे भक्तबालक को भगवान शीघ्रातिशीघ्र अपने घेरे में वैसे ही खींच लेता है, जैसे चुम्बक लौहकणों को।

अब इस मंत्र को दूसरे अर्थों में देखें–

प्रश्न उठता है कि विवाह होने अथवा बाल–बच्चे होने के पश्चात् यदि भगवत्प्राप्ति की कामना होती है, तब वह ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा के साथ तबतक गृहस्थाश्रम में किस भाँति रहे, जबतक कि संन्यास नहीं ले लेता? हाँ, वह संन्यास की चिन्ता ही क्यों करेगा? कोई आवश्यक है कि संन्यास लेकर ही भगवद्भजन किया जाये! संन्यास लेकर भजन करना अथवा घर में रहकर भजन करना, यह तो भगवान के ऊपर ही निर्भर करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान तीसरे अध्याय में राजा जनक का उदाहरण क्यों देते? थोड़ी सी भक्ति जगती है और साधक घर से भागने की तैयारी करने लगते हैं; जबकि शास्त्र कहता है कि जिस समय भगवत्कामना जगे तो जहाँ हैं वहीं से साधना प्रारम्भ कर दें। धर्मपत्नी के साथ ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि व्रतों को लेकर कैसे रहा जाये? इसका उत्तर सद्गुरु देगा तथा महाभारत, श्रीमद्भागवत महापुराण एवं अन्यान्य ग्रन्थों में जगह–जगह वर्णन मिलता ही है। महाराज के द्वारा भी पूर्व के अध्यायों में कई मंत्रों में इसका वर्णन किया गया है।

(ब्रह्मचर्यमहिंसा च.....) महाराज ने अपने गुरु आश्रम में एक गृहस्थाश्रमी साधक को प्रायः आते देखा है। वे पुलिस विभाग में किसी उच्चपद पर नियुक्त थे। कभी–कभी वे चार–पाँच दिन आश्रम में रह जाया करते थे। उनकी धर्मपत्नी अपनी एक बच्ची के साथ वहाँ प्रायः आती थी तथा सभी साधकों के बीच उन्हें गाली आदि देकर अपमानित करती, लेकिन वे महापुरुष समशान्त बैठे रहते। लोगों के द्वारा यह पूछे जाने पर कि आप कुछ कहते क्यों नहीं हैं; तो वे हँसकर उत्तर देते कि जब मैं इसकी तथा समाज की दृष्टि में अपराधी हूँ ही तो कुछ कहने या प्रतिकार करने का अधिकार नहीं बनता, जब मैं इसकी किसी एक कामना की भी पूर्ति नहीं करता हूँ तो इसके द्वारा दण्डनीय ही हूँ, जब मैं इसे सन्तुष्ट नहीं करता हूँ तो कम से कम गाली–गलौज करके ही सन्तुष्ट हो लेती है। कभी–कभी वह घर पर उनके ऊपर डण्डा भी

चला देती थी, लेकिन उनकी मुसकराहट कभी जाती नहीं थी। मानो वे संत तुकाराम या अष्टावक्र ही हैं। उनसे हँसी की जाती कि यदि ऐसे ही रहना है तो आप संन्यास क्यों नहीं ले लेते हैं। वे कहते थे कि यदि संन्यास लेकर यहाँ गुरु आश्रम में भी रहता हूँ तो वह डण्डा बरसाने यहाँ भी आ ही जायेगी। इसलिये जबतक गुरुदेव का शरीर यहाँ पर है, तबतक मैं संन्यास नहीं लूँगा। गुरुदेव के पास भी वह उनके विषय में बक–बक बोलती तो वे हँसते रहते और शिष्यों के बीच कहते कि जितने भी विवाहित पुरुष मेरे पास आते हैं, यदि वे कुछ विशेष साधना में उतर जाते हैं तो उन सबकी धर्मपत्नियाँ उनके साथ–साथ मुझपर भी नाराज हो जाती हैं तथा जिन पतियों की पत्नियाँ साधना में उतर जाती हैं, उनके पति, अपनी पत्नी के साथ–साथ मुझपर भी नाराज रहते हैं। इतना ही नहीं जिन पिताओं के पुत्र यहाँ विशेष आते हैं और साधन–भजन करते हैं, उनके पिता अपने पुत्रोंसहित मुझपर भी नाराज रहते हैं, ठीक वैसे ही जो पिता यहाँ पर विशेष बैठे रहते हैं, उनके पुत्र कहते हैं कि काम–धाम छोड़कर पिताजी दिन भर बाबा के पास ही बैठे रहते हैं।

इसलिये भगवान ने साधकों को उनलोगों का विरोध करने को नहीं कहा, (अनुद्वेगकरं वाक्यं.....) क्योंकि वैसी अवस्था में कभी–कभार साधक झुंझलाकर, अति खिन्न होकर, भक्तिपथ से सत्य बात कह सकता है जिससे वे लोग उससे चिढ़ सकते हैं। यही नहीं, यदि साधक प्रेमपूर्वक भी उनके सामने सत्य बोले, जो भले उनके हित में हो तो भी वे सहन नहीं कर सकते। इसलिये यदि कुछ बात कहनी ही हो तो पहले प्रेमपूर्वक उनसे पूछे कि क्या मैं भी कुछ कह सकता हूँ। इतने पर भी कुछ बोलने का अवसर न मिले तो जड़भरत की भाँति कष्ट झेलता रहे। यदि साधक वाणी से अपशब्द कहता है तो वाणी का तप जाता रहता है लेकिन यदि वह कुछ वर्षों तक वाणी के तप के साथ रहता है तो वह जो कुछ कहेगा वह पूरा हो जायेगा। इस मंत्र में स्वाध्याय पद आया है, इसका तात्पर्य है कि सन्तों, ऋषियों, साधकों एवं भक्तों की जीवनी पढ़ता रहे, अपने साधनपथ के अनुकूल ग्रन्थों का पाठ करता रहे, अपने गुण–दोषों पर चिन्तन करता रहे, ताकि साधनपथ में सहनशक्ति बनी रहे।

(मनःप्रसादः सौम्यत्वं.....) सभी प्राणियों में अपने ही इष्ट को देखने से मन भगवत्प्रसाद से भर जाता है। परिणाम होता है कि विनम्रता और सरलता उसके तन, मन, वचन, से सहज ही प्रकट होती रहती है। यह तब होगा, जब किसी के सिद्धान्त का विरोध न करे और न ही स्वीकार करे। इतना ही नहीं (आत्म विनिग्रहः) वह अपने मन के एक भी विचार को स्वीकार न करे। इसप्रकार इन सबसे अनासक्त होते ही स्वाभाविक ही उनका निग्रह हो जायेगा।

(भावसंशुद्धिः.....) जब भगवद्भाव, दीपक की लौ की तरह निर्मल बना रह जाय अथवा धूमरहित (धुँआ रहित) आग की तरह एकरस ब्रह्मभाव रहने लगे, तब इसे मानसिक तप कहा जाता है।

इसप्रकार चाहे गृहस्थाश्रम में साधक हो या संन्यासाश्रम में, वह जबतक शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तप नहीं करता तबतक उसे निष्काम साधक एवं भक्त नहीं कहा जा सकता।

(श्रद्धया परया तप्तं.....) भगवान ने पूर्वोक्त तप को परम श्रद्धा से करने को कहा है। यदि किसी विरोधी तत्त्व के प्रति एक अंश भी अश्रद्धा होती है तो वह सात्त्विक तप में नहीं आयेगा। जैसे एक साधक में अपने पिता–माता, भाई–बान्धवों के प्रति कभी–कभी अश्रद्धा होते देखी जाती है। ये कभी–कभी उनलोगों को अपशब्द बोल जाते हैं। महाराज इनसे कहता है कि यह उत्तम भक्त एवं तपस्वी का लक्षण नहीं है। आज थोड़ा विरोध करनेपर माता–पिता का आप अपमान कर देते हैं तो कल के दिन भगवान के द्वारा कठोर परीक्षा लेनेपर आप भगवान से भी विमुख होकर नास्तिक हो सकते हैं। इस साधनपथ में आनेपर माता–पिता, भाई–बान्धवों से विशेष भगवान की माया की मार पड़ती है। माता–पिता तो दया के वशीभूत होकर छोड़ भी देते हैं, किन्तु अपना प्रारब्ध लम्बे काल तक पीछा नहीं छोड़ता। घर–परिवार से आप युद्ध कर सफल हो सकते हैं, लेकिन क्या जंगल में शेर, चीते, भालू और सर्प से भी युद्ध कर लेंगे? अपना प्रारब्ध उनके माध्यम से भी तो बदला ले सकता है? अपने पिता को हिरण्यकशिपु कहने के पहले देखना चाहिये कि मेरे में प्रह्लाद के कितने गुण हैं। भक्त प्रह्लाद ने कभी स्वप्न में भी अपने पिता का अपमान नहीं किया है। हाँ! यह बात अलग है कि उनके सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। अतः जिस वाणी से इन्होंने अपने पिता को हिरण्यकशिपु बनाया उसी वाणी से अपने भगवान के पास उनकी सद्बुद्धि की माँग भी तो कर सकते थे? क्या इन्हीं के साथ ऐसी घटना घटी? क्या अन्य साधकों एवं संतों के साथ ऐसी घटना नहीं घटी है?

काकभुशुण्डिजी ने भक्त गरुड़ से अपनी जीवनी को बताया है–

चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।।
खेलउँ तहूँ बालकन्ह मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला।।
प्रौढ़ भएँ मोहि पिता पढ़ावा। समझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।।
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी।।
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।।
प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।।
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

प्रह्लाद की तरह उनके पिता ने खूब विरोध किया था लेकिन उन्होंने अपने पिता का अपमान कभी नहीं किया। कोई क्या अपमान करेगा? महाराज तो नहीं समझता कि अपने प्रारब्ध का भी कोई अपमान करने की सामर्थ्य रखता है।

सन् १९९८–९९ के लगभग जंगलात के अधिकारियों ने एक साधक की गुफा पर कब्जा कर लिया। वह गंगोत्री के लिये पैदल चल पड़ा। उत्तरकाशी के आस–पास रास्ते की गुफा पर रात्रि में विश्राम किया; भालू आया शरीर को चीर–फाड़ डाला। अब इस विषय में कोई किसे दोष देगा? साधक में एक पैसा भी सकामता है तो वह प्रकृति के घेरे में है। इस न्याय से जो साधक अपना विरोध करनेवाले के प्रति स्वयं भी विरोध प्रकट कर देता है तो वह सकामी है, निष्कामी नहीं। इन मंत्रों के द्वारा पता चलता है कि साधक की सुरक्षा कहीं बिखरने न पाये इस

पर विशेष जोर दिया गया है। जो साधक उपरोक्त मंत्रों के अनुसार व्यवहार करता है तो कालान्तर में प्रभु उसपर कृपा करता है तथा उसके सारे के सारे रास्ते खुल जाते हैं। ठीक इसके विपरीत स्वभाववाले साधक के विषय में भगवान अगले मंत्रों से कहते हैं–

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥

जो तप सत्कार, मान–सम्मान तथा अपनी पूजा करने के निमित्त दम्भपूर्वक किया जाता है, वह राजस तप कहा जाता है एवं जो तप अति क्लेशपूर्वक तन, मन, वचन, हृदय को दुःख देते हुए दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, मूर्खों द्वारा किया गया वह तप तामस तप कहा जाता है।

उपरोक्त शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप को कोई माता–पिता एवं गुरुजनों से मान–सम्मान पाने के लिये करता है अथवा भीतर में कुछ और भाव है बाहर में कुछ और तो वह तप राजस कहा जाता है। महाराज के दृष्टिपथ में एक ऐसा पुत्र है जो अपने माता–पिता एवं गुरुजनों की इसलिये सेवा करता है कि पिता अपनी सारी सम्पत्ति उसी के नाम से कर दें, जबकि उसके अन्य भाई भी हैं। वह उनलोगों की सेवा करने में इस ढंग से तत्पर रहता है जैसे उसके लिये वे भगवान हों। उसकी धर्मपत्नी कहती है कि कबतक इनलोगों के द्वारा मैं सतायी जाऊँगी? वह कहता है घबराओ मत, वह दिन दूर नहीं, जिस दिन पिता की चाभी (चाबी) मेरे पास आनेवाली है। उस दिन तुम चाहे उनलोगों की सेवा करना या न करना, बात बिगड़नेवाली नहीं है। इसी सेवा से सर्वत्र मेरी प्रतिष्ठा भी है। तुम्हारी थोड़ी सी असावधानी में सम्पत्ति मिलना तो दूर, सारी प्रतिष्ठा भी धूल में मिल जायेगी।

निष्काम तपस्वी को भगवान के निमित्त एकान्त में जाकर घोर तप तपने का विधान है, ताकि उनकी प्रसिद्धि न हो लेकिन प्रमादवश बहुत से साधक गाँव के किनारे, नगर के किनारे घोर तप–तपकर इतनी ख्याति अर्जित कर लेते हैं कि उनका पूरा जीवन दिखावे में ही बीत जाता है। ऐसे तप को राजस तप कहते हैं।

(मूढग्राहेणात्मनो यत्.....) इसीप्रकार मूढ़ तामसी पुरुषों के द्वारा अति कष्टपूर्वक दूसरे को दुःख देने के लिये ही जो तप किया जाता है वह तामस तप कहा जाता है।

सन् १९७६ में महाराज एक गुफा में रहता था। वहाँ पड़ोस के गाँव के रहनेवाले एक ब्राह्मण ने एक वैश्य के द्वारा छोटे से अपराध पर उसका सर्वनाश कर डालने की इच्छा से मारण तंत्र का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया। रात्रि के १२ से ३ बजे तक तंत्र का जप करने के उपरान्त गाँव के बाहर पीपल वृक्ष के ऊपर चढ़कर वह उस वैश्य का नाम लेकर बड़े जोरों से चिल्लाता

कि अमुक वैश्य का नाश हो जायेऽऽ.....! इसप्रकार वह छः–सात बार आवाज देता। उसकी इतनी घोर गर्जना होती थी कि लगभग दो–तीन किलोमीटर दूर तक के लोगों को सुनाई देती थी। यद्यपि उसके शरीर में कुष्ठ रोग हो गया था; दाढ़ी, बाल एवं शरीर की आकृति से लगता था कि राक्षस ही है। वैश्य ने, उसके हितैषियों ने, क्षेत्र के लोगों ने उसे मनाने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वह तीन–चार वर्षों तक न माना। बिचारे वैश्य के यहाँ काफी कुछ अनिष्ट हो गया तथा ३०–३५ वर्ष का जवान भाई भी छत से गिरकर मर गया। उसके उपरान्त उस राक्षसी, तामसी, आसुरी प्रकृति के ब्राह्मण ने न जाने कितना धन लेकर उस वैश्य को क्षमा किया। भगवान ने ऐसे तामस तप की घोर निन्दा की है। ऐसे तप के द्वारा दूसरे का अपकार करनेवालों को भगवान कभी क्षमा नहीं करता। इसप्रकार भगवान ने दान के भी तीन स्वरूप बताये हैं –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

हे पार्थ! गृहस्थ के दरवाजे पर ब्राह्मण, संत, गाय, पक्षी, याचक (भिखारी) अपनी–अपनी अभीष्ट कामना को लेकर आते हैं, मानो भगवान ही इन रूपों में आता है। अतः जो जैसा पात्र है उसके अनुरूप ही, बिना किसी कामना के भगवद्भावना से दिया जानेवाला दान सात्त्विक दान कहलाता है और ठीक इसके विपरीत सकाम भाव से दिया हुआ दान राजस तथा इन दोनों से भिन्न असमय में कुपात्र को अवज्ञापूर्वक जो दान दिया जाता है, वह तामसी दान कहलाता है।

युद्ध की तरफ दृष्टि करते हैं तो लगता है प्रभु ने यहाँ अर्जुन से मधुर विनोद किया है कि हे पार्थ! तुम भिखारी बनने जा रहे थे लेकिन तुम्हारे जैसा दाता पुरुष भिखारी बने, यह अच्छी बात नहीं है। अतः ऐसा करो कि तुम अपने तन, मन, वचन एवं हृदय को मुझे ही दान कर दो; अब मेरे जैसा सत्पात्र याचक तुम कहाँ पाओगे? जीवन में तुमने कुपात्र–सत्पात्र का विचार न करके एकमात्र देना सीखा है। इसी से तो मुझे तुमसे तुम्हीं को माँगने में प्रीति उत्पन्न हो रही है। ऐसा सुनकर अर्जुन की स्थिति भी अति विचित्र हो गयी है। मानो वे कह रहे हों कि हे प्रभु! आप अपनी वस्तु को ही मुझसे क्यों माँग रहे हैं? जबतक मैं रहस्य को नहीं जानता था, तबतक लेने एवं देने का भाव था, लेकिन अब तो आपकी ही वस्तु आपके लिये समर्पित है।

(दातव्यमिति यद्दानं.....) जगत के सारे सद्गुरु अपने शिष्यों से सचमुच में उसे ही माँगते हैं। जब–जब सद्गुरु दरवाजे पर आये अथवा सामने खड़ा हो तब–तब जान लेना चाहिये कि ये दस प्रतिशत में से एक प्रतिशत माँगने नहीं आये हैं और न ही घर–परिवार अथवा सम्पत्ति

ही माँगने आये हैं, बल्कि हमारा जीवन ही माँगने आये हैं। देने–लेने का सौदा सद्गुरु एवं भगवान से करना चाहिये। इनके जैसे पात्र को पाकर जीवन देना ही कर्तव्य है, इस निश्चय से अपना जीवन देना चाहिये। दस प्रतिशत दान में सद्गुरु का हिस्सा नहीं होता। वह हिस्सेदारी नहीं करता अर्धांग भी नहीं बनता, वह तो सर्वांग ही रहता है और सर्वांग ही बनता है। अतः सर्वस्व ही ले लेता है।

मानो भगवान कह रहे हैं कि इन कुपात्रों को हस्तिनापुर क्यों देना चाहते हो? कुपात्र को तो कभी दान दिया ही नहीं जाता। उसे भिक्षा दी जाती है, वह भिखारी ही समझा जाता है। तुम अवज्ञापूर्वक तुच्छभाव से ही तो हस्तिनापुर छोड़ रहे थे! तुम कितनी भारी भूल कर रहे थे क्योंकि तुम्हें उस त्याग का फल ही नहीं मिलता।

भक्तों साधकों एवं जिज्ञासुओं को दान के गूढ़ात्मक रहस्यों को बतानेवाले इन तीनों मंत्रों पर विचार करना चाहिये कि भगवान के द्वारा दिये हुए अमूल्य शरीर को कहीं, कुपात्रों को तो दान नहीं कर दिया है? यदि माता–पिता, भाई–बान्धव, सगे–सम्बन्धी विषयी ही हैं तो निश्चितरूप से वे कुपात्र हैं। यदि उन्हीं को दान कर दिया है, तो भगवान की इस अमूल्य निधि (शरीर) का घोर अपमान है, भगवान इस मंत्र में इस भूल को सुधारने का संकेत कर रहे हैं। प्रभु ने सर्वप्रथम अपने शरीर को माँ यशोदा एवं नन्द बाबा जैसी दिव्य आत्माओं को दान किया, फिर सन्दीपनि जैसे ऋषि को दान किया, फिर सत्य की प्रतिमूर्ति एवं धर्म के साक्षात् विग्रह वसुदेव, देवकी एवं उग्रसेन को दान किया, फिर शक्ति स्वरूपिणी सोलह हजार गोपियों को दान कर दिया। उसके उपरान्त भगवती कुन्ती एवं द्रौपदी को दान दिया और अब अपने को अर्जुन के माध्यम से पाँचों पाण्डवों को दान दे दिया तथा अन्तिम चरण में अपने को गीताजी के माध्यम से सम्पूर्ण संसार को दे दिया है। इतना ही नहीं, भक्तों, साधकों एवं संतों से यह भी कह दिया कि मुझे गीतारूप में कुपात्रों को मत दान कर देना।

(दातव्यमिति यद्दानं.....) देशकाल और पात्र को पाकर जो कुपात्र जैसा व्यवहार करके अवज्ञापूर्वक न देने योग्य वस्तु का दान कर देता है, इस पर भी विचार करना चाहिये। इसे समझने के लिये एक कथा को देखते चलें–

अपने को महादानी समझनेवाले एक राजा के पास एक विनोदी स्वभाव के सन्त, दान की चाहना से चले गये। दरवाजे पर द्वारपाल से कहा कि जाकर राजा से कह दो कि एक घुमक्कड़ साधु दान चाहता है। द्वारपाल ने राजा के पास से लौटकर कहा कि हे महात्मन्! मेरे महाराज तो सुबह–सुबह एक घण्टा ही दान दिया करते हैं। अब तो वे कल ही आपको दान दे पायेंगे। उस विनोदी सन्त ने द्वारपालों की अवमानना करते हुए भीतर प्रवेश किया और देखा कि राजा अपने दान देने के स्थान से लौट रहा है। उन्होंने आवाज लगाई कि हे राजन्! कल को किसने देखा है? मैं समझता हूँ कि आपको भूख–प्यास लग आयी होगी, दान देते–देते थक गये होंगे, किन्तु मेरे लिये एक बार अपने दायें हाथ को और भी कष्ट दे दें, यदि वह विशेष थक गया हो तो बायें से ही कुछ दे दें। उस अपमानित राजा ने क्रोध में भरकर घोड़े की लीद उठायी और

कहा कि लो! इसी को खाओ। सन्त ने हँसते हुए अपनी झोली फैलाकर उसे स्वीकार कर लिया तथा कहा कि हे राजन्! आपका कल्याण हो! और चलते बने। दूसरे दिन अश्वशाला (घुड़शाला) के सफाई–कर्मचारियों ने आकर कहा कि हे राजन्! हम अश्वशाला की चाहे जितनी सफाई कर रहे हैं, उतनी ही वहाँ घोड़े की लीद बढ़ती जा रही है। लगता है किसी ने तंत्र, मंत्र, जादू, टोना कर दिया है। तबतक अन्य कर्मचारियों ने आकर कहा कि हे राजन्! महल में कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ घोड़े की लीद न पड़ी हो। अरे! ये क्या! राजन्! आप नीचे देखें! यहाँ भी तो सब जगहों में लीद ही फैली हुई है। राजा ने आश्चर्यचकित होकर देखा तो उसे यह समझते देर न लगी कि लगता है कि कल जो सन्त आये थे, यह उन्हीं के अपमान का परिणामरूप फल है। उसने अत्यन्त व्याकुल हो अपने सद्गुरु के पास जाकर इस घटना को बताकर उनसे रक्षा की प्रार्थना की। सद्गुरु ने कहा कि उन महात्मा को खोजकर उनसे क्षमा याचना करो। वे ही इसका निदान करेंगे। दो–तीन दिन खोजने पर भी वे सन्त न मिले। तबतक तो महल के कोने–कोने में लीद के ढेर लग चुके थे। अंत में महल को छोड़ देना पड़ा। सद्गुरु ने बताया कि हे राजन्। यदि आप उपाय कर सकें तो एक उपाय है कि आप किसीप्रकार इस नगर में अपनी घोर निन्दा कराएँ, तब इसका समाधान हो जायेगा। राजा ने कहा कि हे प्रभु! आप ही इसका उपाय बतायें। सद्गुरु ने कहा कि अपनी पुत्री से झूठी शादी रचा लें! खिन्नमना राजा ने ऐसा ही किया। उसने नगर में यह घोषणा करा दी कि अमुक दिन राजा अपनी पुत्री से विवाह करने जा रहे हैं, अतः नगर के सभी लोग उस बारात में सम्मिलित हों। ऐसी घोषणा सुनकर नगर में हाहाकार मच गया। पंडितों ने आकर राजा से इस अपराध के परिणाम को भुगतने की चेतावनी दी। बहुत सी माताओं ने आकर कन्या को समझाया कि तुम ही मना कर दो। कन्या मन ही मन मुसकराते हुए कहती कि इसमें क्या हो गया? जो पेड़ लगाता है, वही उसका फल खाता है। मैं उनके लिये फल ही तो हूँ! राजा एकान्त कमरे में अपनी कन्या को भगवती मानकर पूजा करता था। राजा ने अपनी बेटी से पूर्व में ही मंत्रणा कर ली थी कि स्वयं को और राज्य को बचाने के लिए ऐसा करना ही पड़ेगा। जब पाप का प्रायश्चित हो जायेगा तो सभी लोग रहस्य जान ही जायेंगे कि यह एकमात्र विवाह का ढोंग किया गया था। राजा पानी की बोतलों में रंग डाल मदिरा पीने का स्वाँग करता; शराबियों जैसा व्यवहार करता और बोलता कि लोग मुझे बुरा कहते हैं, जबकि मैं किसी को बुरा नहीं कहता लेकिन जब मैं बुरा हो गया तो हो ही गया, अब क्या करुँ? राजा के ऐसे आचरण को देखकर उसकी नगर में घोर निन्दा होती रही इधर उसका पाप क्षीण होता रहा। इसप्रकार जैसे–जैसे निन्दा होती गयी वैसे–वैसे घोड़े की लीद समाप्त होती गयी। अन्त में राजा ने जितनी लीद उन सन्त को दी थी, उतनी उनके पलंग के पास रह गयी। महल की सफाई की गयी। राजा उस महल में चले गये लेकिन पलंग के नीचेवाली लीद यथावत् बनी रहती। पूछनेपर राजा को सद्गुरु ने बताया कि आपके नगर में एक बढ़ई रहता है, वह भगवान का परम प्रिय भक्त है। यदि वह किसीप्रकार आपकी निन्दा कर दे तो वह लीद उसे ही खानी पड़ेगी।

राजा किसान का वेश बनाकर बढ़ई के पास पहुँचा और कहा कि अरे भइया! मैं बहुत दूर

से आ रहा हूँ, अभी आगे दस कोस जाना है। क्या रात्रि विश्राम अपने यहाँ करने दोगे? बढ़ई ने कहा– क्यों नहीं, क्यों नहीं! भोजन करें, विश्राम करें आपका ही तो घर है! राजा ने कहा कि नहीं नहीं! भोजन–पानी का नाम मत लो। तुम्हारे महापापी राजा के नगर में तो आ जाने से मुझे कुछ पाप लग गया ही होगा, जिसका मुझे प्रायश्चित करना पड़ेगा तथा इस नगर का अन्न, जल खा लेने से तो ब्रह्महत्या का पाप लग जायेगा। यह तो रात्रि में मैं चोर–डकैतों के भय से तुम्हारे यहाँ आ गया। पता नहीं, तुम लोग इस नगर में कैसे रहते हो? ऐसे राज्य में रहने से तो किसी दूसरे नगर में जाकर भिक्षा का अन्न खाना ही उत्तम है। जिस महापापी ने अपनी बेटी से विवाह करके धर्म एवं शास्त्र तथा कुल, समाज की घोर निन्दा की है, उसका कोई वध करनेवाला भी अभी तक नहीं हुआ! छिः!..... छिः!..... छिः!..... तुम भोजन की बात कर रहे हो! मैं तो तुम्हारे पंलग पर भी नहीं सोऊँगा। कुश की चटाई ला दो, मैं उसी पर रात बिता लूँगा तथा भोर होते ही बिना किसी का मुख देखे नगर से बाहर निकल जाऊँगा। अरे भाई! तुम मौन क्यों हो? कुछ तो बोलो! जो वाणी से विरोध करने की सामर्थ्य रखता है और यदि ऐसा नहीं करता तो उसे गूँगा होने का पाप लग जाता है। अच्छा! तुमसे एक गूढ़ बात बताता हूँ– तुम उस राजा की थोड़ी निन्दा कर दिया करो अन्यथा तुम्हारे घर में गूँगी सन्तानें जन्म लेंगी। अरे! सुन ही नहीं रहे हो अथवा राजा के जासूसों से डर रहे हो कि कहीं वे पकड़ न लें? अब बढ़ई भगत ने अपनी चुप्पी तोड़ दी और प्रणाम करके हँसते हुए कहा कि हे राजन्! जितनी आपने उस संत को लीद दी है, उतनी तो आपको ही खानी पड़ेगी। वे संत उस लीद को मुझे नहीं खाने देंगे; क्योंकि मैं तो आपकी निन्दा करने से रहा। मैं प्रभुकृपा से सबकुछ जानता हूँ। इसलिये आप जलपान करें और अपने महल को लौट जायें।

(अदेशकाले यद्दानं.....) इस मंत्र के भाव को भी महाराज एक कथा के माध्यम से स्पष्ट करता है। महाराज के जीवन में यह कथा बड़ी काम आयी। सम्भव है आपके लिये भी यह निर्मल दर्पण का कार्य करे।

दान के रहस्य को जाननेवाला एक भक्त अपनी परम साध्वी कन्या को देशकाल, अवस्था के अनुरूप उत्तम पात्र को दान देना चाहता था; किन्तु उसके लिये कुछ अर्थ की भी आवश्यकता होती है, जो उसके पास पर्याप्त मात्रा में नहीं था। वह अपनी कन्या को लेकर नगर के दानी राजा के पास पहुँचा। कहा! हे अन्नदाता! यह आपकी कन्या है जो अब विवाह के योग्य हो गयी है। मैं इसकी अवस्था, गुण एवं सद्व्यवहार के अनुरूप ही इसे एक सुयोग्य, सत्पात्र पुरुष को दान करना चाहता हूँ; क्योंकि शास्त्र ऐसा ही कहता है कि 'अदेशकाले.....तत्तामसमुदाहृतम्।' तो हे राजन्! आप कुछ कृपा करें, मुझे कुछ धन दान दे दें जिससे कि मैं यह यज्ञ सम्पन्न कर सकूँ। दिव्य तेज, गुण एवं लावण्य से सम्पन्न परम योगिनी उस सोलह वर्षीय कन्या को देखकर साठ वर्षीय राजा ने काम के वशीभूत होकर कहा कि मेरे से सुयोग्य, सत्पात्र पुरुष तुम्हें कहाँ मिलेगा? यदि तुम इसे मुझे ही दान कर देते हो तो यह रानी बन जायेगी तथा मैं तुम्हारी भी दरिद्रता दूर कर दूँगा। जाओ! शुभ योग, लग्न, वार देखकर विवाह की तैयारी करो। मन से अत्यन्त आहत वह पिता अपनी कन्या को लेकर घर लौट गया। पुत्री ने कहा कि पिताजी! आप

चिन्ता न करें। उस राक्षस राजा से जाकर कहें कि हे राजन्! अमुक स्वर्ग में मेरी बेटी की श्रृंगारपेटी रखी है। यदि आप उसे ला दें तो वह आपसे शादी कर लेगी। राजा एक सिद्ध संत के पास गया। संत ने उसका प्रयोजन जान उसके सिर पर हाथ रखा तो राजा ने देखा कि वह उसी स्वर्ग में है। उसने स्वर्ग के द्वारपालों से पूछा कि अमुक कन्या की श्रृंगारपेटी यहाँ रखी गयी है क्या? द्वारपालों ने कहा कि हाँ, हाँ; इसी महल में रखी है। राजा ने पूछा कि क्या वह मुझे मिल सकती है? द्वारपालों ने कहा कि हाँ क्यों नहीं! लेकिन जब आप यहाँ तक आ ही गये हैं तो स्वर्ग भी घूम लें! राजा घूमते–घूमते एक दिव्य महल के पास पहुँचा, जिसमें सुखोपभोग के सारे विषय एवं पदार्थ रखे हुए थे। जब वह उस महल के पिछले हिस्से में पहुँचा तो देखा कि महल के पिछले भाग में आग लगी हुई है। बहुत से देवपुरुष वहाँ खड़े–खड़े उसे देखकर प्रसन्न हो रहे हैं। राजा ने कहा कि आप सब हँस रहे हैं! इस आग को बुझाते क्यों नहीं? ऐसा कहकर उसने सरोवर से जल भरकर उस आग को बुझाना चाहा तो एक देवपुरुष ने कहा कि तुम कहाँ से आये हो? जानते नहीं कि यह आग इस महल को जलाने के लिये ही लगायी गयी है! महल तो मृत्युलोक के उस दानी राजा के स्वागत के लिये ही बनाया गया था, जो कन्या को दान देने के बदले उससे विवाह ही करना चाहता है! अभी तो तुम इसी महल को जलते देख रहे हो, इसके जलने के पश्चात् उस मृत्युलोकवाले महल में भी आग लगा दी जायेगी। इतना ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति में आग लगाकर उसे भिखारी बनाकर छोड़ दिया जायेगा। राजा को सुनते ही मूर्छा आ गयी और समाधि टूट गयी तथा सन्त के चरणों में गिरकर क्षमा माँगी और उसके पश्चात् स्वयं उस कन्या के लिये एक सुयोग्य वर खोजकर उसकी शादी करा दी।

जीवन में आये दिन ऐसी ही तो घटनाएँ घट रही हैं। किसी के महल में आग लग रही है, किसी के धन में, मन में, बुद्धि में, चित्त में और किसी के सबकुछ में आग लग रही है; क्योंकि प्रमादवश सत्पात्र के साथ कुपात्र का व्यवहार हो जाता है और कभी–कभी कुपात्र के साथ सत्पात्र जैसा। स्वयं भगवान ने सदा कुपात्र एवं सत्पात्र के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह करके दिखाया है। द्वारिका में उनके द्वार पर अर्जुन और दुर्योधन दोनों एक बार याचक थे। प्रभु ने अर्जुन के साथ–साथ दुर्योधन को भी निराश नहीं किया। अर्जुन जैसे सत्पात्र को स्वयं अपने को दान कर दिया और उद्दण्ड, उच्छृंखल, अमर्यादित, अशिष्ट दुर्योधन जैसे याचक को नारायणी सेना दे दी। तत्कालीन समय में नारायणी सेना अजेय थी, किन्तु उस सेना के लगभग सारे सैनिक बड़े अभिमानी हो गये थे; भगवान के कारण वे स्वयं के आगे किसी को कुछ समझते नहीं थे, चाहे जिस–तिस का अपमान किया करते थे। अतः भगवान ने सोचा कि युद्ध के मैदान में दुर्योधन जब विशेष अपराध करेगा तो उस समय ये सब उसके छक्के छुड़ा देंगे; भले ही उसके पक्ष से युद्ध क्यों न करें अर्थात् अनीतिगत युद्ध नहीं करने देंगे।

गृहस्थाश्रम में आये दिन यज्ञ, व्रत एवं दान का अवसर आता रहता है। अतः कल्याण चाहनेवाले को अच्छीप्रकार इसके स्वरूप को विचारकर तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये। अब यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं को भावानुसार करनेवालों की गति तथा इनका मूल आधार क्या है? इस विषय में भगवान कहते हैं–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

'ॐ, तत् और सत्' ये ब्रह्म के तीन वैदिक नाम हैं, जो साधकों के द्वारा यज्ञ, दान, तप एवं स्वाध्याय आदि के प्रारम्भ करने के पूर्व स्मरण किये जाते हैं। साधक मूलतः तीन प्रकार के होते हैं– एक निर्गुण उपासक, दूसरा सगुण उपासक एवं तीसरा देवोपासक। जो निर्गुण–निराकार ब्रह्म के उपासक हैं, वे एकमात्र अव्यय, अविनाशी ब्रह्म के वाचक 'ॐ' का ही उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं को प्रारम्भ करते हैं। उनकी भावना में योग ॐ ही है, तप ॐ ही है, दान ॐ ही है, स्वाध्याय ॐ ही है आदि–आदि, यह भाव होता है। जिसका परिणामरूपी फल यह है कि उनकी सारी क्रिया ॐमय हो जाती है। जो सगुण ब्रह्म को माननेवाले साधक यज्ञमयपुरुष भगवान विष्णु की उपासना करते हैं वे यज्ञ, दान, तपरूपी क्रियाओं को 'तत्' ब्रह्म के इस नाम से प्रारम्भ करते हैं, मानो उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान विष्णु के लिये समर्पित होती हैं। वे मोक्ष की चाहनावाले साधक उन्हीं को समर्पित कर, उनसे अपने अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त कर लेते हैं। इसीप्रकार

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

कुछ साधकों के द्वारा 'सत्' ही ब्रह्म है, ऐसा समझकर पूर्वोक्त यज्ञादि क्रियाओं को सत् कहकर प्रारम्भ किया जाता है।

स्पष्ट है कि इन तीनों प्रकार के उपासकों द्वारा स्मरण किये जानेवाले नाम तो भिन्न–भिन्न हैं; किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है।

गृहस्थाश्रमोचित व्यवहार में देवयज्ञ की भी प्रधानता है। मृत्युलोक की अपेक्षा देवलोक को 'सत्' कहा गया है। उसके अधिष्ठाता देवगण साधकों का सहयोग किया करते हैं। अतः उनके इस योगदान के कारण से उनके प्रति किया जानेवाला यज्ञ, दान, तप भी सत् ही है, यदि उनसे उसके बदले में कुछ न लिया जाये तो। राजा पृथु ने निन्यानबे अश्वमेध यज्ञों को 'सत्'– भगवान के इस नाम का स्मरण करके प्रारम्भ किया तथा इसी के स्मरण के साथ समर्पित कर दिया। उनका वह यज्ञ सचमुच सत्मय हो गया अर्थात् ब्रह्ममय हो गया; किन्तु जब सत् कहकर सौवाँ अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया तब इन्द्र भयभीत हो गये और उस यज्ञ में विघ्न डालने का प्रयास करने लगे। तब इन्द्र से भगवत् शक्तियों ने कहा कि हे देवराज! आप भयभीत क्यों होते हो?

ये तो साक्षात् सनातन परम पुरुष के अंश हैं। इन्होंने तो इस पृथ्वी का उद्धार करने के उद्देश्य से यह सतोमय यज्ञ किया है, न कि आपके तुच्छ इन्द्रपद को प्राप्त करने के लिये।

(ॐ तत्सदिति.....) इसे संकेत में इसप्रकार भी समझें–

ॐ– यज्ञ है	तत्– तप है	सत्– दान है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– अकार है	तत्– उकार है	सत्– मकार है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– जाग्रदवस्था है	तत्– स्वप्नावस्था है	सत्– सुषुप्ति अवस्था है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।

त्रिपदा गायत्री में :–

ॐ– भूः है	तत्– भुवः है	सत्– स्वः है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।

महामृत्युञ्जय मंत्र की तीन शक्तियाँ ही ब्रह्म के तीन रूप हैं :–

ॐ– ह्रौं है	तत्– जूं है	सत्– सः है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।

नवार्ण मंत्र के तीन बीज मंत्र ही ब्रह्म के तीन नाम हैं :–

ॐ– ऐं है	तत्– ह्रीं है	सत्– क्लीं है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– सरस्वती है	तत्– दुर्गा है	सत्– काली है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– देवता है	तत्– मनुष्य है	सत्–अधम योनियाँ है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– द्युलोक एवं सूर्य है	तत्– आकाश, वायु एवं अग्नि है	सत्– जल एवं पृथ्वी है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– बुद्धि है	तत्– वाणी है	सत्– वीर्य है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– देवलोक है	तत्– मनुष्यलोक है	सत्– पाताल लोक है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– राजा है	तत्– प्रजा है	सत्– राज्य है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– संन्यासाश्रम है	तत्– ब्रह्मचर्याश्रम है	सत्– गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– बचपनावस्था है	तत्– युवावस्था है	सत्– वृद्धावस्था है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– माँ है	तत्– पिता है	सत्– भाई, बान्धव है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– साधक है	तत्– चिन्तन है	सत्– लोक संग्रह है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।

ॐ– ध्यान है	तत्– स्वाध्याय है	सत्– निष्काम कर्म है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– अक्षर निष्काम पुरुष है	तत्– उसकी आत्मा है, वेद है	सत्– उसका शरीर यज्ञ है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– ज्ञानयोग की षट्सम्पत्ति है	तत्– अष्टांगयोग है	सत्– नवधाभक्ति है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– राजयोग है	तत्– ज्ञानयोग है	सत्– कर्मयोग है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– ज्ञानसमाधि है	तत्– जप है	सत्– तप है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– ब्रह्मज्ञानी है	तत्– साधक है	सत्– जिज्ञासु है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– सद्गुरु है	तत्– शिष्य है	सत्– इन दोनों का योग है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– 'भगवान कृष्ण' है	तत्– 'अर्जुन' है	सत्– 'दोनों सेनाएँ' है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।
ॐ– वेद है	तत्– उपनिषद् है	सत्– पुराण एवं शास्त्र है;	ये ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं।

इसीप्रकार भगवद्भक्तों, साधकों एवं जिज्ञासुओं का कर्तव्य है कि सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को भगवान के इन्हीं तीन स्वरूपों में विभक्त हुआ देखें तथा तदनुरूप व्यवहार करें। इसप्रकार वे साधक, भक्त आदि 'ॐ तत् सत्' इन्हीं तीन रूपों एवं नामों के द्वारा इस विश्व को देखते हैं, तो उन्हें क्या फल मिलता है? इस विषय में भगवान कहते हैं–

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥२७॥

यज्ञ, दान एवं तप आदि की प्रतिष्ठा सत् में होती है, ऐसा वेद, पुराण आदि कहते हैं। इस मंत्र में सत् का तात्पर्य 'ॐ तत्सत्' से लेना चाहिये। 'ॐ तत्सत्' ही आदर भाव के लिये संतों, साधकों एवं भक्तों में 'हरिःॐ तत्सत्' के रूप में विख्यात है। यज्ञ, तप, दान के अतिरिक्त सामान्य से सामान्य कर्म भी भगवद्भाव से करके प्रभु को समर्पित कर दिया जाये तो 'ॐ तत्सत्' अर्थात् ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

संयोगवश एक जमादारनी (मेहतरानी) अपनी सखी, सहेलियों के साथ एक सिद्ध संत के पास दर्शन के लिये चली गयी। उसने देखा कि उनका स्वास्थ्य खराब होने से उनके शौच की सफाई एक शिष्य बड़े आदर–भाव से कर रहा है। ऐसा देखते ही उसने निर्णय कर लिया कि आज से मैं लोगों के मैले को भगवान का मैला समझूँगी। संत के मैले में एवं असंत के मैले में

अन्तर क्या है? उस दिन से उसने अपने नित्य के कर्म में श्रद्धा एवं भाव को जोड़ लिया अन्ततोगत्वा वही निकृष्ट कर्म भगवद्भाववाला होने से उसकी भगवत् प्राप्ति का कारण बना।

(सद्भावे साधुभावे च....यज्ञे तपसि दाने च....) कितने सज्जनों एवं धर्मात्माओं के द्वारा स्वर्ग को ही सत् समझा जाता है। उससे आगे उनकी पहुँच नहीं होती। अतः उसी के निमित्त से यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया को करते हैं। इतना ही नहीं, स्वर्ग की कामना से ही सकामी सज्जन बड़े–बूढ़ों एवं अपने माता–पिता की सेवा किया करते हैं। 'सत्' शब्द सतोगुण के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है एवं ब्रह्म के अर्थ में भी तथा सतोगुण, स्वर्गीय अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है, इसलिये अब इस मंत्र का भाव दूसरे अर्थों में देखें–

उत्तम साधक यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं को 'ॐ' कहकर करता है। मध्यम साधक विष्णुभाव से 'तत्' कहकर के करता है तथा उसी क्रिया को अधम साधक देवभाव से 'सत्' कहकर किया करता है। इस न्याय से 'ॐ' ब्रह्मलोक है, 'तत्' विष्णुलोक है और 'सत्' देवलोक है। आपने देखा होगा कि निर्गुण–निराकार साधक 'ॐ' कहकर प्रसाद पाता है तथा सगुण उपासक 'तुभ्यमेव समर्पये' कहकर प्रसाद पाता है और देवोपासक ॐ अग्नये स्वाहा, ॐ वरुणाय स्वाहा, ॐ इन्द्राय स्वाहा इत्यादि देवताओं का आवाहन करके प्रसाद पाता है, लेकिन

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे पार्थ! अश्रद्धापूर्वक किया हुआ हवन, दिया हुआ दान तथा तपा हुआ तप और अन्य किये हुए सम्पूर्ण कर्म असत् ही हो जाते हैं, उनका फल न यहाँ मिलता है और न परलोक में ही मिलता है।

भगवान भक्त अर्जुन से सर्वस्व माँग रहे हैं क्योंकि कहीं वे भय, संकोच अथवा दबाव में अपने तन, मन, वचन, हृदय को अश्रद्धापूर्वक न दें, इसलिये भी भगवान ने ऐसा कहा है। शल्य ने दुर्योधन को अश्रद्धापूर्वक अपने शरीर को दान कर दिया, जिसका पश्चात्ताप उन्होंने स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द के सामने किया। भगवान ने कहा था कि कोई बात नहीं, अश्रद्धापूर्वक तन को उसे दान कर दें और श्रद्धापूर्वक मन, वचन, हृदय को मुझे दे दें। सन्त एवं भगवान श्रद्धा एवं भाव खाते हैं। कोई श्रद्धा एवं भावमय पुरुष है तो स्वीकार करते हैं, अन्यथा नहीं। व्रतों के दिनों में दिन भर चाय पीना, फल खाना, फलाहारी कचौड़ी–पकौड़ी खाना, ये सब व्रत के प्रति थोड़ी बहुत अश्रद्धा का ही परिणाम है। यद्यपि उसका भी फल मिलता है लेकिन रोग अलग से हो जाता है। यहाँ श्रद्धा का तात्पर्य भगवद्भाव से है। भगवद्भाव से किया हुआ जप, तप ही ब्रह्मकर्म है। उसके विपरीत सारे के सारे सत्कर्म; देवकर्म, मानुषकर्म, आसुरकर्म एवं पशु–पक्षीकर्म ही माने जायेंगे। कई लोग मोह के वशीभूत किये हुए कर्म को भी श्रद्धा ही समझ लेते हैं। कोई लोभी पुरुष बाल–बच्चों के हितार्थ यज्ञ, दान, तप बिना श्रद्धा के तो करेगा नहीं, लेकिन भगवान उस श्रद्धा को श्रद्धा नहीं मानते। प्रायः पुराणों एवं ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है

कि इन्द्र ने अमुक तपस्वी के तप में बाधा डाली, अमुक याज्ञिक के यज्ञ में बाधा डाली, अमुक दानी के दान में बाधा डाली इत्यादि; ऐसा क्यों? इसलिये कि इन्द्र को यह पता है कि यह भगवद्श्रद्धावाला नहीं है, इसलिये यह अपने दुष्कर्मों का उल्लंघन किये बिना भगवद्भाव को कैसे प्राप्त कर सकता है। इन्द्र कहते हैं कि मैं तो निमित्त हूँ, मेरे माध्यम से इन लोगों का पाप ही बाधा डालता है।

(अश्रद्धया हुतं दत्तं.....) एक भक्त ने कहा कि गुरुजी! मेरे पीछे बहुत भीड़ है। मैं तो बहुतों को साधु बनाऊँगा; क्योंकि उन लोगों ने मुझसे वचन लिया है कि यदि मुझे सद्गुरु मिल जायेंगे तो मैं उन्हें भी लाऊँगा। महाराज ने कहा कि आपके पीछे जो बहुत भीड़ है, वह अभी पीछे ही है लेकिन जो भीतर एवं आगे में भीड़ है, उसे आप साधु बना देंगे तब पीछे की भीड़ को साधु बना पायेंगे। भीतर एवं आगे में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि इन्द्रियों में रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीड़ को जब साधु बना दोगे तब तो पीछे की भीड़ को साधु बना पाओगे! अभी तो तुम्हें ही साधु बनने में वर्षों लग सकते हैं; क्योंकि क्या प्रमाण है कि तुम भगवान के लिये आये हो? हो सकता है कि सिद्धि के लिये आये हो! यदि सिद्धि के लिये आये होगे तो तुम्हारे द्वारा किया गया जप, तप, योग सब अश्रद्धामय माना जायेगा। हाँ, उसे देवश्रद्धा कहा जा सकता है। महाराज ने भी पढ़ते समय अपने मित्रों को वचन दिया था कि जब मैं भगवान के लिये वन को जाऊँगा तब तुमलोगों को भी साथ ले चलूँगा; लेकिन जिस दिन चला उस दिन बिना उन सबको बताये, चुपके से चल दिया। कुछ वर्षों के बाद पता चला कि उन सबकी भगवद्भक्ति बिखर गयी। वे जहाँ से खड़े हुए थे वहीं बैठ गये। सबके संस्कार अलग–अलग होते हैं। संसर्ग से कुछ समय के लिये संन्यास भाव में प्रवाहित होते देखे जा सकते हैं लेकिन सम्पूर्णता से बदल नहीं सकते। हाँ, यदि संत का लम्बा संसर्ग एवं सत्संग मिले तो वैसे लोगों का संस्कार भगवद्मय हो जाता है। लेकिन जब महाराज ही संत नहीं था तो फिर उन लोगों को संत कैसे बनाता? अतः आप भ्रम में हैं कि आप साधु हो गये। हाँ, आप जिज्ञासु कहे जा सकते हैं। यदि यह ब्रह्मजिज्ञासा तीन–चार वर्ष ठहर जाये तो फिर आप साधक कहे जा सकते हैं, यदि बारह वर्ष ठहर जाये तो सम्भव है कि आप साधु बन जायें। घर छोड़ने के उपरान्त भी लम्बे वर्षों तक साधुता प्राप्त हो महाराज इसकी प्रतीक्षा करता रहा और भगवान से प्रार्थना करता रहा कि

(राग – पटदीप)

साधु रहनि प्रभु माँगू दे दे।
जासे भगत प्रिय लागत तोहें, भेद अभेद को भेदे,
जासु रहनि प्रभु धावत आवत, चलत न कबहुँ कुवेदे।।१।।

राग द्वेष इर्ष्या नहिं मन में, हर्ष विषाद हुँ खेदे,
कर्म अकर्म शुभाशुभ त्यागी, चाह अचाह न लेदे।।२।।

शत्रु–मित्र अमान मान सम, शीतहुँ उष्ण न खेदे,
सुख दुःख निन्दा स्तुति सम जानत, आसक्तिहुँ अभेदे।। ३।।

मौन रहत घर द्वार न जानत, जानत वेद सुवेदे।
महाराज जस तस सों जीते, प्रभु कहँ सब कुछ देदे।। ४।।

श्रद्धा से सम्पन्न पुरुष वही है जिसने पहले अपने मन, बुद्धि, चित्त को साधु बना दिया है, फिर उसे अन्य को साधु बनाने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। उसके संसर्ग में जो आते हैं, वे स्वतः ही साधु बन जाते हैं। उत्तम अधिकारी वही है, जो भगवत् सिद्धान्त का प्रचार–प्रसार करता है न कि किसी को साधु बनाने के चक्कर में रहता है।

(अश्रद्धया हुतं दत्तं.....) जब साधक दूसरे की क्रिया को देखता है तो उसे अपनी क्रिया के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम होता है कि उसे अपने स्थान से भी उच्चाटन हो जाता है। अब वह साधना के योग्य स्थान ढूँढ़ता फिरता है। यदि ढूँढ़ते–ढूँढ़ते स्थान मिल भी जाता है, तो उससमय तक वैराग्य ही समाप्त हो जाता है।

सन् १९८४ में महाराज इंदौर क्षेत्र के अम्बाचन्दन गाँव से तीन–चार किलोमीटर दूर 'झर' नामक स्थान पर पहुँचा। जंगल और गुफा तथा निर्मल झरना देखकर मन प्रसन्न हो गया। लोगों ने कहा– यह झरना तो होली तक सूख जाता है! तो आत्मानन्द ने कहा कि यहाँ तो छः–सात महीने ही जल रहता है, फिर क्या करेंगे? महाराज ने कहा कि जल आकाश से आता है। छः–सात महीने का तो जल है ही, इस समय को तो पहले पकड़ लो! बाद की बाद में देखेंगे! और सच में ऐसा ही हुआ। वहाँ के (भगौरा) देवकरन सिंह आंजना ने उस झरने के पास ही कुआँ खोद दिया।

यद्यपि सृष्टि में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ किसी बात की कमी न हो, लेकिन यदि आपमें श्रद्धा है तो वहाँ भगवान हर चीज की व्यवस्था कर ही देगा। ऋषिकेश में गंगाजी के किनारे रहनेवाले बहुत से साधक महाराज से कहते हैं कि गंगाजल हमें अनुकूल नहीं पड़ता, सदा पेट खराब ही रहता है। महाराज उनलोगों से कहता है कि आपलोगों को न गंगाजल में श्रद्धा है और न साधना में श्रद्धा है। तीर्थस्थल में बिना जप, तप, योग के रहने पर स्वाभाविक है कि बहुत से रोग उत्पन्न हो जायेंगे। कोई पाँच–छः घण्टे सवेरे और तीन–चार घण्टे शाम साधना करे, तब देखे कि पेट खराब होता है कि खराब पेट सही हो जाता है।

(अश्रद्धया हुतं दत्तं.....) एक, भौतिक श्रद्धा होती है दूसरी आध्यात्मिक श्रद्धा होती है। भौतिक श्रद्धा की अन्तिम गति देवताओं तक होती है और आध्यात्मिक श्रद्धा की अन्तिम गति ब्रह्म तक होती है। भौतिक श्रद्धा सकामी के हृदय से प्रकट होती है और देवलोक देकर समाप्त हो जाती है तथा आध्यात्मिक श्रद्धा निष्कामी साधक के हृदय से प्रकट होती है और उसे ब्रह्म तक पहुँचाकर स्वयं भी ब्रह्ममय हो जाती है। निष्कामी वही है जिसने शरीर को ही दान कर दिया है और सकामी वही है जो शरीर को एवं शरीर के सुखों को ही माँगता रहता है। निष्कामी

के द्वारा श्रद्धापूर्वक जप, तप, यज्ञ, दान किये जाने पर उसके पास बिना प्रयास के, उसके बिना चाहे सन्त, सत्संग, शास्त्र प्राप्त होते रहते हैं। इतना ही नहीं, साधनोपयोगी आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ जैसे शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि तथा यम, नियम, आसन आदि और नवधाभक्ति आदि अपने–आप प्राप्त होते रहते हैं। यही नहीं, समयानुसार प्रकृति (संस्कार, प्रारब्ध) के द्वारा साधनपथ में नानाप्रकार के उत्पात आते रहते हैं; किन्तु साधक की आत्यन्तिक श्रद्धाभाव के कारण ब्रह्म किसी न किसी रूप में आकर उत्पातों को दूर करता रहता है।

संजय के कुछ मौन हो जाने से धृतराष्ट्र के हृदय में उथल–पुथल मची हुई है। वे पूछ बैठते हैं कि संजय! तुम मौन क्यों हो जा रहे हो? पहले तो तुम स्वयं मुझे बताने में उत्सुकता दिखाते थे, अब मुझे ही तुमसे पूछना पड़ रहा है। क्या विदुर की भाँति तुम भी मुझे छोड़ने की स्थिति में हो?

नहीं राजन्! छोड़ना और संन्यास लेना दो बातें हैं। छोड़ना द्वेषपूर्वक भी होता है जबकि संन्यास प्रभु प्रेम के कारण होता है। इन दोनों गुरु–शिष्यों के दिव्य संवाद में मुझे तो अपने स्वरूप की ही जानकारी हो गयी। मैंने स्पष्ट जान लिया कि मैं भी अर्जुन की भाँति देवपूजक ही था जबकि देवश्रद्धा क्या, ब्रह्मश्रद्धा (आध्यात्मिक श्रद्धा) के अतिरिक्त किसी भी श्रद्धा को भगवान अश्रद्धा ही मान रहे हैं। हे राजन्! महात्मा अर्जुन को अब यह भलीभाँति पता चल गया है कि वे कभी ब्रह्मपूजक रहे ही नहीं हैं अर्थात् ब्रह्मदर्शन की कामना कभी उनमें हुई ही नहीं है। मैं तो नहीं देखता राजन्! कि जगत में कोई निष्कामी पुरुष भी है और जो हैं, उनकी गिनती नहीं के बराबर है। इसलिये आप मौन होने की बात कर रहे हैं और मैं तो संन्यास लेने की बात सोच रहा हूँ। अभी गुरुदेव (व्यासजी) की आज्ञा से मैं विवश हूँ, लेकिन युद्धोपरान्त मेरा संन्यास लेना निश्चित है। रही बात इस समय भगवान और अर्जुन के स्थिति की तो शास्त्रार्थ में अर्जुन पराजित हो गये हैं। यद्यपि वे अति प्रसन्न हैं, तथापि कहीं लज्जा एवं संकोच से भरे हुए भी हैं। वे उधेड़बुन में लगे हुए हैं कि कोई प्रश्न आवे। भगवान भी मुसकरा रहे हैं कि देखता हूँ कि अब यह कहाँ से प्रश्न ढूँढ़ता है।

सद्गुरु एवं शिष्य की प्रधानता इसी में है कि ब्रह्म तथा ब्रह्मविषयक निर्णय लेने में शिष्य प्रश्न करे एवं सद्गुरु उसका उत्तर दे। वह तबतक उत्तर देता रहे, जबतक श्रद्धापूर्वक किये गये शिष्य के सारे के सारे प्रश्न गिर न जायें तथा वह मौन न हो जाये। जब शिष्य मौनी हो जाता है तब आध्यात्मिकवाद (तर्क) की सार्थकता होती है। संवाद की यही परम्परा है। यदि शिष्य कुतर्क करता है तो संवाद नहीं हो सकेगा। महाराज भी भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द को बारम्बार प्रणाम करता है कि उन्होंने अपने शिष्य के अपराधों की ओर न देखकर, उसे शास्त्रार्थ करने का अवसर प्रदान किया। इस समय भगवान के समक्ष अर्जुन की क्या स्थिति है, यह तो महाराज अपने परम प्रिय एक साधक की स्थिति से देख रहा है।

वह भी बड़ा कुशल शास्त्रीय तार्किक है। जब उसका तर्क समाप्त हो जाता है और निरुत्तर हो जाता है तो कभी तो अति प्रसन्न हो जाता है और कभी संकोच में भरकर नीचे, ऊपर, दाँयें,

बाँयें देखते हुए सिर खुजलाने लगता है, तो महाराज हँसकर कहता है कि क्या बात हो गयी? अब कुछ नहीं आ रहा है? तो वह भी हँसकर विनोद करता है कि गुरुदेव हररोज तो मैं पराजित ही हो जाता हूँ, किसी दिन मेरी भी तो विजय होनी चाहिये!

भगवान मन ही मन प्रसन्न होकर खड़े–खड़े देख रहे हैं कि यह तो प्रश्न ही ढूँढ़ रहा है। अच्छा देखता हूँ कि गाण्डीव उठाता है या पुनः कोई प्रश्न खड़ा करता है। तो आयें हमलोग भी प्रभु का ध्यान करते हुए प्रतीक्षा करें कि अगले चरण में क्या दृश्य उपस्थित होता है।

महाराज ने इस अध्याय को पद के रूप में 'राग–केदार' के द्वारा गाया है। आप भी आयें और महाराज के साथ गाकर प्रभु को रिझाने का प्रयास करें एवं इस अध्याय के पाठ का भी फल प्राप्त करें।

श्याम बताओ श्रद्धा की बतियाँ,
मनमाने पूजत दिन रतियाँ।।
कहत प्रभु मनमुख की श्रद्धा, त्रिविध देव अवराधे।
सात्त्विक देव यक्ष को राजस, तामस भूत की मतियाँ।।
श्याम बताओ.....

जेहि पूजत जो रूप वहि वाको, अद्‌भुद मरम बताऊँ।
शास्त्र रहित जप योग रहित जो, वह राक्षस की भतियाँ।।
श्याम बताओ.....

यज्ञ दान तप त्रिविध त्रिविध महँ, त्रिविध खाद्य बिलगाऊँ।
यदि सब करे कर्म समर्पण, प्रभु की पावे गतियाँ।।
श्याम बताओ.....

हरि ॐ तत्सत कहत करत कोई, यज्ञ दान तप भावे।
प्रभु अर्जुन संवाद पद गावत, महाराज की मतियाँ।।
श्याम बताओ.....

ॐ मासपारायण, सत्ताईसवाँ विश्राम ॐ

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवादरूप श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

ॐ

अथ अष्टादशोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

यह मोक्षसंन्यासयोग नाम अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण योगों को आत्मसात् करता हुआ, सम्पूर्ण यौगिक क्रियाओं से मुक्त करता है तथा मोक्ष की कामना भी एकप्रकार का बन्धन है, ऐसी उद्घोषणा करता है। मोक्ष प्राप्त करने की भावना का त्याग कर देना अपने–आप से योग हो जाने जैसा है; क्योंकि अपने स्वरूप में स्थित हुए बिना मोक्षप्राप्ति की भावना का त्याग करना असम्भव है। 'मोक्षसंन्यासयोग' से स्पष्ट ध्वनि निकल रही है कि सम्पूर्ण गीताशास्त्र का रहस्य जान लेने के उपरान्त मोक्ष से संन्यास हो ही जाता है। प्रायः जगत में यह बात विख्यात है कि साधना बन्धन से मुक्त होने के लिए ही की जाती है। मुक्ति, मुक्ति, मुक्ति; मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त करना है, यह भाषा रूढ़ हो गई है, जबकि मुक्ति, भगवान और आत्मज्ञान ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान जिसको मिल गया, इसका तात्पर्य है कि वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो गया अर्थात् जगतभाव से शरीरभाव से 'मैं' तथा 'मेरे' भाव से, 'तू' और 'तेरे' भाव से अनासक्त हो गया; इसप्रकार मोक्ष की कामना भी जाती रही।

आद्यगुरु शंकराचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए मुक्तकण्ठ से छन्द के रूप में गाया है–

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।१।।

न च प्राणसंज्ञो न च पञ्चवायुर्न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोषः।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायू चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।२।।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।३।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदाः न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।४।।

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।५।।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।६।।

प्रायः लोगों की ऐसी धारणा रहती है कि घर–बार छोड़ देनेवाले संन्यासियों के लिए ही मोक्ष है, इस मान्यता को भी भगवान ने गीताशास्त्र में ध्वस्त कर दिया है।

शास्त्रार्थ में पराजित महात्मा अर्जुन ने सम्पूर्णता से भगवान की शरणागति स्वीकार कर ली है। अब उनके प्रश्नरूप निवेदन का यह अन्तिम प्रश्न उपसंहार है। यद्यपि वाणी से किये जाते हुए प्रश्नों के उत्तर पाने के उपरान्त भी बहुत सी कल्पनायें उनके भीतर से उठेंगी लेकिन प्रकटरूप में अब मात्र एक ही प्रश्न रह गया है।

एक बात जान लेनी चाहिए कि जब महाराज के पास कोई संन्यासी साधक आता है और यदि वह कोई प्रश्न करता है तो उसके प्रश्न करने का लक्ष्य चाहे जो भी हो, लेकिन महाराज का लक्ष्य एकमात्र उत्तर देने का ही नहीं होता; बल्कि लक्ष्य यह होता है कि किस भाँति उसके प्रश्न का उत्तर देकर उसे संन्यास में ही प्रतिष्ठित किया जाय। वैसे ही महात्मा अर्जुन गृहस्थाश्रमी साधकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, इसलिए उनका लक्ष्य यह भी है कि उनको (गृहस्थाश्रमी साधकों को) कर्मयोग में प्रतिष्ठित कैसे किया जाय लेकिन प्रश्न गृहस्थाश्रमी साधकों के साथ–साथ संन्यासाश्रमी साधकों के लिए भी है। महात्मा अर्जुन कुछ कम नहीं हैं, वे अनुमान ज्ञान से जान रहे हैं कि युद्धोपरान्त मुझे संन्यास लेना है, अतः संन्यास, संन्यासी तथा त्याग और त्यागी के स्वरूप को भलीभाँति जान लेने की कामना में अन्यथा दोष नहीं है। वे इस विषय का समाधान इसलिए करा लेना चाहते हैं क्योंकि जैसे आज इस विषम युद्धभूमि में आकर विषम कर्म (स्वजनों से युद्ध) करना पड़ रहा है, वैसे ही कहीं संन्यास की भूमि में जाकर विषम कर्म (गृहस्थ–कर्म) न करना पड़ जाय।

महात्मा अर्जुन को भगवान नारायण ने उत्साहित करने के दृष्टिकोण से अथवा जनसमुदाय में वे उन विशेषणों से विभूषित हैं, इस न्याय से बहुत से विशेषणों से सम्बोधित किया है। यही नहीं, प्यार से, दुत्कार से तथा व्यंग्यात्मक भावों से भी उन विशेषणों से विभूषित किया है, जैसे हे महाबाहो, हे गुडाकेश, हे धनञ्जय इत्यादि इत्यादि। अब महात्मा अर्जुन का हृदय हे महाबाहो, हे महाबाहो, हे धनञ्जय आदि सुनते–सुनते संकोच से भर गया है। इसलिए अब प्रेम में भरकर वे मानो भगवान को उलाहना दे रहे हैं कि हे प्रभु! महाबाहो तो आप हैं तथा निम्न मंत्र से ही प्रश्न भी कर रहे हैं। तो देखें कि एक ही मंत्र में उलाहना एवं प्रश्न कैसे खड़े किये गये हैं–

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश!! हे केशिनिसूदन!!! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्–पृथक् जानना चाहता हूँ।

महात्मा अर्जुन ने तीन विशेषणयुक्त संज्ञाओं से प्रभु को सम्बोधित करके अपने प्रति किये गये विशेषणों का खण्डन कर दिया है। महाबाहो से महाबाहो का खण्डन, हृषीकेश से गुडाकेश का खण्डन तथा केशिनिसूदन से भारत, धनञ्जय आदि नामों का खण्डन स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। गुरु एवं शिष्य दोनों एक ही नाम से एक–दूसरे को पुकारें, ऐसा किसी भी ग्रन्थ में, किसी भी प्रसंग में देखा नहीं जाता। हाँ, दो समान नामवाले मित्रों में एक ही प्रकार का सम्बोधन पाया जाता है। यहाँ तक कि प्रेमभाव के कारण पति–पत्नी एक ही नाम से पुकारे जायँ, यह भी देखा जाता है। जैसे झाँसी में एक दम्पति रहते हैं; पति का नाम है रामेश्वर शर्मा एवं पत्नी का नाम प्रतिभा शर्मा। परस्पर में जब वे एक–दूसरे को पुकारते हैं तो पति कहता है– ऐ रजुवा! तो पत्नी कहती है– आयी रजुवा! आत्मानन्द और महाराज ने पहली बार जब ऐसा सुना तो पूछा कि अरे! रजुवा नाम है किसका? तो उनलोगों ने हँसते हुए कहा– हम दोनों का, लेकिन गुरु–शिष्य परम्परा में विनोद में भी ऐसी बात नहीं देखी जाती। इसी न्याय से जब महात्मा अर्जुन ने भगवान नारायण को महाबाहो कहकर सम्बोधित किया तो भगवान हँस पड़े और मन ही मन विनोद करते हुए प्रभु ने कहा कि घबराओ मत, तुम महाबाहो भी हो ही, अभी मैं दिखाऊँगा कि तुम महाबाहो कैसे हो। महात्मा अर्जुन कह रहे हैं कि हे प्रभु! महाबाहो तो आप ही हैं। जगत के लोग भले ऐसा कहें, रथी, महारथी कहें लेकिन आप क्यों कहते हैं, मेरा हृदय बैठा जा रहा है। हे जगत्पते! हे केशिनिसूदन!! आपने केशी नामक राक्षस के मान का मर्दन करते हुए उसका वध कर दिया था, जिसके अधिकार में सम्पूर्ण लोक आ गये थे। अतः वैसे महाबाहो का जब आपने वध कर दिया तब एकमात्र महाबाहो आप ही हैं, दूसरा नहीं। हे प्रभु! आपके जिस शिष्य का तन, मन, वचन, हृदय वश में ही नहीं है, उसे आप महाबाहो कह रहे हैं? जिसकी भुजा बाहर है और भीतर प्रवेश ही नहीं कर पा रही है, उसे आप महाबाहो कह रहे हैं? विश्वरूप दर्शन के समय आपकी बड़ी दिव्य भुजाओं को मैंने देखा है, नानाप्रकार के दिव्य पैरों को, अनेकानेक दिव्य उदरों को, अनेकानेक दिव्य मुखों को, अनेकानेक दिव्य वाणियों को भी देखा है; फिर आप किस न्याय से मुझे महाबाहो कह रहे हैं? वैसे भी अब यह धरा मेरी भुजा की आकांक्षा नहीं कर रही है, आपकी भुजा की छत्रछाया चाहती है। हाँ निमित्त भले ही आप मुझे बना लें, यह बात अलग है।

रणधीर! रणवीर!! रणजीत!!! इत्यादि नामों से जयघोष किये जाते हुए, अपने रण विजेता पुत्र के द्वारा प्रणाम किये जाने पर उस साध्वी माँ ने कहा कि तुम्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो बेटे! पुत्र ने कहा – अरे माँ! तुमने रणजीत नहीं कहा! रणजीत की जय हो! रणवीर की जय हो!! ऐसा सुनकर तुम्हें प्रसन्नता नहीं हो रही है? मैंने अपने शत्रु को पराजित कर, उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया है; फिर भी तुम प्रसन्न नहीं हो! माँ ने कहा– नहीं बेटे! तुमने रण में विजय पायी है, रथी–महारथियों पर विजय पायी है, अभी तूने बाहर के शत्रु को पराजित किया है, भीतर के मनरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की है। भीतर भी एक युद्धभूमि है बेटे! जिसमें मन ही सेनापति है तथा काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, मोह–ममता इत्यादि उसके बाहुबली महारथी हैं। जब तुम उनपर विजय प्राप्त कर लोगे तब मैं तुम्हें रणवीर, रणजीत, रणधीर आदि नामों से पुकारूँगी। जिसके भीतर–बाहर दोनों ओर से जय–जयकार हो रही हो, मैं उसी को रणजीत

कहती हूँ बेटे! पुत्र ने कहा– तो लो, यदि तुम्हें यही प्रिय है तो आज्ञा करो अब मैं रणजीत होकर ही लौटूँगा। बेटे के ऐसा कहने पर माँ ने कहा– तो जाओ मैं आज्ञा और आशीर्वाद दोनों देती हूँ। सद्गुरु की शरण में जाकर आत्मज्ञानी होकर लौटे हुए अपने प्रिय पुत्र को माँ ने पुनः रणजीत नहीं कहा, बल्कि माँ ने कहा कि अब मैं रणजीत कहकर तुम्हारा उपहास नहीं करूँगी बेटे! क्योंकि अब तुम योद्धा रहे ही नहीं, अब तो तुम महात्मा हो गये हो, संत हो गये हो, आत्मा हो गये हो। अतः तुम पूर्वोक्त क्षुद्र उपाधि के योग्य नहीं हो।

ठीक यही बात महात्मा अर्जुन ने भगवान नारायण के प्रति कही कि जिन प्रभु ने अपने संकल्पबल से मेरे मन, बुद्धि, चित्त में प्रवेशकर अपनी ज्ञानरूपी महत् भुजा से मेरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, संशय, शोक–सन्तापरूपी शत्रुओं का दमन कर दिया है, उन प्रभु को मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने मेरे सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे कृतार्थ कर दिया है, वैसे हृषीकेश भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने मेरे मोहरूपी केशी नामक राक्षस का वध कर दिया है वैसे केशिनिसूदन नाम से विख्यात भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ तथा आप से जानना चाहता हूँ कि संन्यास और त्याग का वास्तविक स्वरूप क्या है? यद्यपि आपने बहुत बार इसका संकेत किया है, किन्तु आप एक बार और भी कृपा कर दें; फिर तो मैं कृतार्थ हो ही जाऊँगा।

एक ही मंत्र में भगवान को तीन नामों से स्मरण करना तथा संन्यास एवं त्याग के तत्त्वों को पृथक्–पृथक् जानने की कामना करना इस ब्रह्मविद्यामय मंत्र की दिव्यता है। यह अपने–आपमें भगवान के सम्पूर्णस्वरूपों को समेटे हुए मानो उनकी सम्पूर्ण झाँकी को प्रस्तुत कर देना चाहता है। इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

हे पार्थ! कुछ सन्तजन सकाम कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं तथा कुछ कहते हैं कि क्या सकाम और क्या निष्काम बल्कि सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को ही त्याग कहा जायेगा। कुछ साधक कहते हैं कि ऐसा कौन सा कर्म है जो दोषयुक्त नहीं है, अतः सम्पूर्ण कर्मों के त्याग को ही त्याग कहते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टि में गृहस्थाश्रम का परित्यागकर परिव्राजकरूप में रहना ही संन्यास है, तथा कुछ ऐसे हैं जो यज्ञ, दान एवं तपरूप क्रियाओं के त्याग को त्याग नहीं कहते।

भगवान की दृष्टि में संन्यास एवं त्याग के स्वरूप में किसीप्रकार की भिन्नता नहीं है अर्थात् ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान की दृष्टि में जिसने मायावाद को, भाग्यवाद को एवं

कर्मवाद को त्यागकर ब्रह्मवाद को स्वीकार कर लिया है वही संन्यासी व त्यागी है न कि घर–बार को छोड़कर वनप्रदेश में गमन करनेवाला। भगवान नारायण का ऐसा अर्थ करना गृहस्थाश्रमी साधक के लिए, वानप्रस्थी साधक के लिए, संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी के लिए है, न कि संन्यासी के लिए। प्रभु ने पहले अपना मत नहीं दिया; क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि भक्तों को यह लग जाय कि ये अपना ही मत सुना रहे हैं, लगता है इनके पास किसी अन्य के मत का स्वागत ही नहीं है। अतः प्रभु ने अन्य महात्माओं के मतों की भी प्रस्तावना कर दी कि कुछ मनीषीजन कहते हैं– आत्मज्ञान के जिज्ञासु के लिए सकाम कर्म का त्याग कर देना ही संन्यास है अर्थात् देवादि लोकों की कामना से की जानेवाली यज्ञ, दान एवं तपरूप क्रियाओं का त्याग कर देना ही संन्यास है। उनकी समझ में निष्काम कर्म की ही प्रधानता है। वे कहते हैं कि जब एक क्षण भी व्यक्ति बिना कर्म के रहता ही नहीं है तो किसी भी कर्तव्य कर्म को निष्काम भाव से क्यों न करें। दूसरे संत कहते हैं कि 'सर्वकर्मफलत्यागं– कोई भी कर्म सकाम नहीं होता अपितु भावना सकाम होती है। इसलिए किसी भी सत्कर्म का त्याग क्यों करें? अतः कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फलों का ही त्याग करें तथा अन्य महात्मा जन कहते हैं कि 'त्याज्यं दोषवदित्येके'– यदि किसी में फल को त्यागने की सामर्थ्य हो तब तो फल त्यागेगा! जब सामने फल आ जाता है तो बड़े–बड़े धीर–वीर भी फल में आसक्त हो ही जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र, देवर्षि नारद, तपस्वी सौभरि इत्यादि अपनी साधनावस्था में फल के प्रकट होनेपर अच्छीप्रकार से मोहित होते देखे जाते हैं। इसलिए सम्पूर्णता से कर्म को ही त्याग देना चाहिये क्योंकि जबतक कर्म में दोष नहीं रहता तबतक साधक दोषयुक्त फल में फँसता ही नहीं है। इसका खण्डन करते हुए कोई चौथा संत कहता है कि सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देने के उपरान्त भी तो कर्मफल प्रकट होते देखे जाते हैं। क्या कर्मों का त्याग महाकर्म नहीं है? महाकर्ता तो वही है, जिसने सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर दिया है। अतः उसके पास तो सृष्टि के सम्पूर्ण फल आयेंगे ही आयेंगे, वैसी अवस्था में कोई आवश्यक नहीं है कि जिसप्रकार उसने कर्म का सहजता से त्याग कर दिया, उसीप्रकार फल का भी त्याग कर दे। यहाँ तक कि आत्मज्ञान होने के पूर्व कर्मत्यागी के मन को भीतर एवं बाहर से सात्त्विक, राजस एवं तामस विचार घेर ही लेते हैं। अतः 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'। यज्ञ, दान एवं तपरूपी क्रियाओं का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वयं महाराज ही देखता है कि निर्विकल्प ध्यान में बैठनेवाला साधक भी तो सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके ही बैठता है लेकिन तीन घण्टे में विचारों की जिस मार से वह पीड़ित होता है उतना तो कोई अपने शत्रु से भी नहीं होता होगा। निर्विकल्प ध्यान का प्रचार–प्रसार करनेवाले साधक कहते हैं कि चुपचाप द्रष्टा हो जाओ; भगवान के नाम का भी जप न करो क्योंकि वह वाणी का विषय है, बुद्धि से स्वयं के स्वरूप का चिन्तन भी मत करो क्योंकि वह बुद्धि का विषय है जबकि तुम निर्विषयी हो; शरीर को बिल्कुल छोड़ दो, वह चाहे जिस अवस्था में रहे तुम तो एकमात्र द्रष्टा हो जाओ इत्यादि इत्यादि।

अरे! द्रष्टा होना तो फल है न कि क्रिया। इसी से चतुर्थ प्रकार के संत कहते हैं कि नहीं, नहीं! जबतक आत्मज्ञान न हो जाय तबतक यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया का त्याग तो करना ही नहीं

चाहिये बल्कि सजग होकर, प्रमाद रहित होकर बड़ी लगन एवं निष्ठा के साथ इन कर्मों का सम्पादन करता रहे। स्थूल कर्मों की भाँति ये कर्म नहीं हैं बल्कि आत्मज्ञान होने के पूर्व ये तन, मन, वचन की पूजा हैं।

(त्याज्यं दोषवदित्येके.....) तीसरे मनीषी जब यज्ञ, दान, तपरूप कर्म को भी दोषयुक्त बता रहे हैं तो उसके पीछे उनके पास कुछ मौलिक कारण भी हैं। वे कहते हैं कि "बिचारे राजा नृग ने क्या यज्ञ, दान, तप कम किया था? किन्तु उनके दान देने में थोड़ी सी भूल के कारण शाप द्वारा गिरगिट बना दिया गया। हरिश्चन्द्र को सत्य बोलने पर विश्वामित्र ने सताने में कोई कसर न छोड़ी। प्रह्लाद के द्वारा प्रभु नाम जपने पर उनके पिता हिरण्यकशिपु ने अपनी क्रोधाग्नि को खूब तृप्त किया, भरपेट त्रास दिया। भले ही वह मारा गया लेकिन प्रह्लाद को अधमरा करके मरा। पाण्डव कितने धर्मात्मा पुरुष थे; किन्तु कौरवों ने उन्हें नचा दिया, जीते जी पृथ्वीपति नहीं बनने दिया। वे पाँचों जीवित रहके क्या कर सके? क्योंकि उनके सारे के सारे बाल–बच्चे मारे गये! यही नहीं, मातृ–पितृ भक्त श्रवणकुमार का वध कर दिया गया। अतः क्या अच्छे और क्या बुरे, ये सारे के सारे कर्म दोषयुक्त हैं।" वे कहते हैं कि जिसप्रकार चन्दन की लकड़ी का धुँआ हो, या सामान्य लकड़ी का धुँआ, धुँआ तो धुँआ ही है। अतः परमार्थ साधन में कोई भी कर्म सत्कर्म हो या दुष्कर्म, त्याज्य है। इस मत का खण्डन करते हुए चौथा पुरुष कहता है कि 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं'– भक्त, साधक एवं सन्त आदि केवल सताये जाने मात्र से ही अपने यज्ञ, दान एवं तपरूपी क्रियाओं का त्याग कर दें तो इससे बड़ी कोई मूर्खता हो ही नहीं सकती, क्योंकि जिन लोगों ने सताये जाने पर भी यज्ञ, दान एवं तपरूपी क्रियाओं को किया, उन्होंने तो यह कहा ही नहीं कि यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया का त्याग कर देना क्योंकि बड़ा कष्ट है? सत्य तो यह है कि उन सभी को इसके परिणाम में भगवान प्राप्त हो चुके हैं और ठीक इसके विपरीत जिन लोगों ने सताये जाने के भय से सत्कर्मों का त्याग कर दिया वे कोई भी सिद्ध हुए हों, ऐसा इतिहास में नहीं मिलता।

आजकल बहुत सी संस्थाएँ यज्ञ, दान और तप का विरोध कर रही हैं तथा राजयोग की परिभाषा अपनी सुविधानुसार देती हैं। उन संस्थाओं में कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जो तप और दान का समर्थन तो करती हैं; किन्तु युगों पुराने अध्यात्म विज्ञान के जप तथा यज्ञ जैसे मूलभूत स्तम्भों का खण्डन करती हैं। कुछ ऐसी संस्थायें हैं जो जप का समर्थन करती हैं लेकिन यज्ञ और तप का विरोध करती हैं; लेकिन दान देने के पक्ष में सारे धर्मावलम्बी और सारी संस्थायें एकमत हैं, चाहें वे हिन्दू (बौद्ध, जैन, सिख तथा वैदिक मतावलम्बी), मुस्लिम, ईसाई, यहूदी आदि कोई भी हों। जो सम्प्रदाय या संस्थायें दान देने का समर्थन करते हुए कहती हैं कि दान देने से धन पवित्र होता है, धन–धान्य की वृद्धि होती है, तो क्या वे संस्थायें यह नहीं जानतीं कि तप से शरीर एवं इन्द्रियाँ पवित्र होती हैं, जप से मन पवित्र होता है तथा यज्ञ से भाव एवं वातावरण पवित्र होता है?

इन चारों मतों में भगवान नारायण ने चौथे पुरुष के मत का समर्थन करते हुए कहा कि

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

हे भरतश्रेष्ठ! हे पुरुषसिंह! कर्मत्याग भी सात्त्विक, राजस तथा तामस पुरुषों के कारण से तीन प्रकार का कहा गया है। मेरा तो निर्णय यह है कि यज्ञ, दान तथा तपरूप कर्म किसी भी अवस्था में, किसी के भी द्वारा त्याज्य है ही नहीं; क्योंकि इन्हीं तीनों से साधकों के तन, मन, वचन एवं हृदय पवित्र होते हैं। इसलिए इन कर्मों को आसक्ति तथा फल का त्यागकर निश्चितरूप से करना चाहिए।

(त्यागो हि पुरुषव्याघ्र.....) साधकों की प्रकृति को देखकर ही प्रभु ने सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार के त्याग की बात की है क्योंकि तीन प्रकार के साधक हैं– उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् संन्यासाश्रमी साधक यानी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ आश्रमी यानी वानप्रस्थी एवं गृहस्थाश्रमी साधक। भगवान नारायण ने मानो इनकी तरफ संकेत किया है। चूँकि द्वापर और कलियुग की संधि की बेला थी और प्रभु जान रहे थे कि आनेवाले समय में ब्रह्मचर्य संन्यासाश्रम में विलीन हो जाएगा और वानप्रस्थ गृहस्थाश्रम में अर्थात् आगे आनेवाले जो माता–पिता हैं, वे बाल–बच्चों को छोड़कर वनप्रदेश में नहीं जायेंगे। वे घर में अपना अलग कमरा करके अथवा अपना अलग मकान बना करके भगवान की आराधना–साधना करेंगे। अतः वहीं वानप्रस्थ के नियमों का पालन करेंगे और ब्रह्मचारी संन्यासी सद्गुरु के ही आश्रम में सामान्य विद्या और विशेष विद्या को श्रवण करेंगे। क्यों? इसलिए कि विद्वान लोलुप हो जायेंगे अर्थ का अनर्थ करेंगे। परिभाषा को अपने ढंग से परिभाषित करेंगे जैसा कि आजकल हो रहा है। इस न्याय से भगवान ने चारों आश्रमों को दो भागों में बाँट दिया और कहा– 'निश्चयं शृणु'– अब प्रतिज्ञा करते हैं भगवान कि देखो मेरा तो इसमें चौथे पुरुष का समर्थन है। वह जो कहता है यज्ञ, दान और तपरूप क्रिया का त्याग नहीं करना चाहिए बल्कि प्रमादरहित होकर सजग होकर सदा इनका सम्पादन करना चाहिए वही गृहस्थाश्रम में संन्यासी एवं त्यागी है। क्यों करना चाहिए? इसलिए कि जबतक कि 'क्या त्याग है, क्या संन्यास है, कौन बड़ा है और कौन छोटा है', ऐसा न जान लिया जाय तबतक वही गृहस्थाश्रम में संन्यासी एवं त्यागी है, उसके लिए यज्ञ, दान, तप का त्याग घातक हो जायेगा।

साधकों की प्रकृति को देखकर ही प्रभु ने सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार के त्याग की बात की है। यह तो सभी जानते ही हैं कि उत्तम, मध्यम और अधम, ये तीन साधकों की

श्रेणियाँ हैं, जिनमें उत्तम साधक तप के साथ ज्ञानयोग का साधन करता है, मध्यम श्रेणी का साधक दान के साथ जपयोग का साधन करता है तथा अधम साधक यज्ञ के साथ स्वर्ग की कामना से जीवन व्यतीत करता है। उत्तम साधक संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी है, मध्यम साधक वानप्रस्थी ब्रह्मचारी है एवं अधम साधक गृहस्थाश्रमी देव याज्ञिक ब्रह्मचारी है। हाँ, यदि गृहस्थाश्रमी ब्रह्मचारी सद्गुरु के अभाव में देवयज्ञ निष्कामभाव से कर रहा है तो वह भी द्वितीय श्रेणी में आ ही जायेगा, वैसे ही यदि कोई गृहस्थाश्रमी भक्त अथवा साधक यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं के माध्यम से ज्ञानयोग की साधना कर रहा है तो वह महात्मा जनक का आदर्श ही है। जब भगवान कह रहे हैं कि अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने के उपरान्त भी यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिये तो इसमें बहुत विशेष प्रयोजन है। वह यह कि जब यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं से खाना, कपड़ा, मकान मिल गया तो अब इन्हीं क्रियाओं को करते हुए भगवान से भगवान को ही माँगे। प्रायः देखा जाता है कि स्वर्गीय ऐश्वर्य अर्थात् खाना, कपड़ा, मकान, मान, सम्मान आदि पाकर लोग यज्ञ, दान, तप का परित्याग कर देते हैं। पुत्र की कामनावाले पुत्र प्राप्ति के उपरान्त इन क्रियाओं का त्याग कर देते हैं। यहाँ तक कि सद्गुरु को पाकर भी अपने तन, मन, वचन, हृदय को पवित्र करनेवाली इन क्रियाओं का त्याग करते देखे जाते हैं।

एक दम्पति पुत्र की कामना से जप–तप कर रहे थे। कुछ वर्षोपरान्त राम–श्याम नामक पुत्र हुए। धर्मपत्नी ने तो भी जप, तप और दान का त्याग नहीं किया। परिणामस्वरूप उसे भक्ति भी प्राप्त हो गई। बारह वर्ष पश्चात् एक दिन दोनों बच्चे गंगाजी में डूब गये। घर में शाम को धर्मपत्नी ने पति के आने पर भोजन परोसा। पति के पूछने पर कि राम–श्याम कहाँ गये? धर्मपत्नी ने कहा कि जब देखो तब राम–श्याम, राम–श्याम। अरे! पहले प्रसाद तो पायें, कहीं खेल रहे होंगे आ जायेंगे। प्रसाद पाकर हाथ धोते समय धर्मपत्नी ने कहा कि आपने सुना नहीं होगा– नगर के सेठ अपने मित्र के पास दो लाल रखकर तीर्थयात्रा को चले गये थे, चार महीने के बाद लौटे हैं। मित्र से लाल माँगने पर उसने कहा कि आपने तो मेरे पास लाल रखे ही नहीं। इसका निर्णय तो पंचायत करेगी लेकिन अब आप बताइये कि उसे लाल लौटाने चाहियें अथवा नहीं? पति ने कहा कि वे तो महाचोर हैं। मित्र के साथ ऐसा धोखा! इस संसार में कैसे–कैसे मित्रहन्ता हैं! प्रभु इन्हें कैसे क्षमा कर देता है? धर्मपत्नी ने कहा कि अच्छा, अच्छा! आपके ज्ञान का स्वागत है। तो सुनें– हमलोगों के जप, तप, योग से प्रसन्न होकर प्रभु ने हमलोगों के पास राम, श्याम नाम के दो लाल धरोहर के रूप में रखे थे। अब वे गंगाजी के माध्यम से राम, श्याम को माँगने आये थे, अतः उन्हें ले गये, फिर तो हम लोगों के लिये भी खुशी की बात है! धर्मपति ने आश्चर्यचकित होकर कहा कि तुम क्या कहना चाहती हो? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मेरे दोनों लाल डूब गये। धर्मपत्नी ने कहा कि हाँ हाँ; आपकी भाषा में वे डूब गये और मेरी भाषा में प्रभु के पास चले गये। ऐसा सुनते ही धर्मपति मूर्च्छित हो गया और धर्मपत्नी इस थोथे ज्ञान पर मुसकराती रही।

प्रभु ने कहा कि यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं का आत्मज्ञान होने तक इसलिए त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि इनसे पुरुष तन, मन, धन से परम पावन होता है। जिन्होंने सद्गुरु के माध्यम

से यह जान लिया कि 'मैं आत्मा हूँ' तो मात्र इतने से ही वे सन्तोष न करें। वे ऐसा न सोचें कि जिसप्रकार शिकार के हाथ में आ जाने पर धनुष–बाण को रख दिया जाता है, उसीप्रकार 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा जान लेने पर जप, तप, यज्ञ की आवश्यकता नहीं रहती। बात तो ठीक है कि शिकार हाथ में आया और धनुष–बाण छूट गया वैसे ही आत्मज्ञान हुआ तो सारे कर्म छूट गये लेकिन दृष्टान्त कभी द्राष्टान्त की समानता नहीं कर सकता। अध्यात्म में आजतक कोई भी भौतिक उदाहरण पूरा का पूरा संकेत नहीं कर पाया, इसलिए कि उदाहरण सब अधूरे होते हैं; अतः सुनने में और 'मैं आत्मा हूँ' ऐसी वास्तविक अनुभूति में आकाश–पाताल का अंतर है। इस मंत्र में 'पावनानि मनीषिणाम्' आया हुआ है; जिसका तात्पर्य साधकों से लेना चाहिये न कि संतों से।

प्रभु श्रीराम की वैराग्यावस्था के कारण से प्रकट हुई ब्रह्मजिज्ञासा को देखकर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने उन्हें ज्ञानयोग के द्वारा अथवा सत्संग के द्वारा बाईस–तेईस दिन में अपने स्वरूप में स्थित कर दिया। प्रत्येक आख्यायिका एवं प्रसंग को सुनाने के उपरान्त उन्होंने श्रीराम प्रभु से कहा है कि हे राम! आप साक्षात् नारायण हैं। आप ही सनातन परम पुरुष हैं। आप ही जगत की आत्मा हैं। थोड़े समय के लिये आपने सनकादिकों के शाप का सम्मान किया है। उस कथा प्रसंग को लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ने भी बड़े ध्यान से सुना। लक्ष्मण ने तो ऐसा सुनते ही प्रभु श्रीराम को साक्षात् ब्रह्म के रूप में देखना एवं व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया लेकिन इतने ही मात्र से उनमें संत का व्यवहार नहीं आ गया। भरत जैसे भगवद्भक्त के प्रति भी लम्बे काल तक उनमें द्वेष की छाया दिखाई पड़ी। बाहर में प्रभु श्रीराम को सगुण ब्रह्म मान लिया है लेकिन उनके सर्वव्याप्त निर्गुण–निराकार स्वरूप का बोध तत्काल ही नहीं हुआ। अतः जबतक दोनों ही स्वरूपों को भलीभाँति जान नहीं लिया जाता, तबतक ब्रह्म को पूरा जाना हुआ नहीं माना जा सकता।

महात्मा अर्जुन ने भी प्रभु को पहले बाहर से देखा फिर उन्हें भगवत् कृपा से भीतर–बाहर सर्वत्र व्याप्त देखा। इसी से उन्होंने हे महाबाहो! हे केशिनिसूदन!! हे हृषीकेश!!! इत्यादि नामों से पुकारना प्रारम्भ कर दिया है। उसीप्रकार जिसने गुरु के उपदेश एवं स्वयं के चिन्तन से अपने आत्मस्वरूप को भले ही भलीभाँति जान लिया हो लेकिन इतना मात्र जानने से तन, मन, वचन में पवित्रता नहीं आती। दो प्रकार के पुरुष होते हैं– एक जान लेते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ' तो संन्यास ले लेते हैं, अतः उनके लिये यहाँ बात नहीं की जा रही है; लेकिन गृहस्थाश्रम में यदि किसी ने सद्गुरु की बात पर विश्वास कर लिया कि 'मैं आत्मा हूँ', तो इतना ही विश्वास कर लेने से वह आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो जाएगा; क्योंकि उसे अपवित्र पुरुषों के बीच में रहना है। इसलिए पुनः कहीं वह ज्ञान तिरोहित न हो जाय, कहीं व्यवहार असाधु जैसा न हो जाय, इसकारण से शरीर को मन, बुद्धि, चित्त को भी पवित्र रखना है; जिसके लिए यज्ञ, दान एवं तपरूप क्रियाओं को धारण करना अनिवार्य है। शरीर की विशिष्ट पवित्रता के लिए इन्द्रियों का दमन विख्यात है, मन की पवित्रता के लिए अन्न की पवित्रता, जो दान से होती है, विख्यात है तथा जप से चारों वाणियों की पवित्रता विख्यात है। यहाँ मंत्र में 'तप' शब्द है जिसका आधार

जप एवं चिन्तन है। इसे बातूनीज्ञान का आश्रय लेकर त्यागना नहीं चाहिए। सद्गृहस्थ के दरवाजे कोई संत जाता है तो यह जानकर उसकी अवमानना न करे कि जो ये जानते हैं, वह तो मैं भी जानता हूँ।

भगवान बुद्ध ज्ञानोपरान्त लौटे। भिक्षाटन के लिए एक दिन पिता के दरवाजे ही पहुँच गये। पिता ने कहा– क्यों ढोंग करते हो! जो तूने जंगल में पाया है वह तो मैंने दंगल में रहते हुए ही पाया है, सिंहासन पर बैठे–बैठे पा लिया है। अतः मैं अभी भी कहता हूँ कि यह भिखारीपना छोड़ दो और राज्यपद को स्वीकार कर लो। भगवान बुद्ध सम शान्त थे, दरवाजे से चले गये। चलें यह तो आत्मज्ञानी की बात है, उनके पिता आत्मज्ञानी थे, अपने पुत्र की परीक्षा लेने का उनको अधिकार था; क्योंकि उन्होंने आत्मज्ञानी पैदा किया है; लेकिन अभी जिन्होंने, 'मैं आत्मा हूँ' केवल माना है, जाना नहीं है, उन्हें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए; बल्कि संन्यासी पुत्र दरवाजे पर आये तो अपने को पिता माननेवाले पुरुष को उस संन्यासी (पुत्र) को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में रहने के कारण से जब भगवान अपने आदर्श व्यवहार का त्याग नहीं करते तो अन्य गृहस्थाश्रमी साधक तो भूलकर भी यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया का त्याग न करें।

कब तथा कैसे यज्ञ करना चाहिए, पात्र को पाकर क्या और कितना दान देना चाहिए तथा तप के कौन–कौन से अंग हैं और तप भी कब करना चाहिए, इसको यदि आप नहीं जानते तो आप तपस्वी नहीं हैं। अतः आपके हाथ का खाना, आपके द्वारा दिये गये किसी पदार्थ का संन्यासी साधक द्वारा स्वीकार करना उसके लिए घातक हो जायेगा। समयानुसार आपके तन, मन, वचन में वैराग्य नहीं आया तो जान लेना कि आपने यज्ञ, दान, तप किया ही नहीं है। यज्ञ के अभाव में देवता कुपित हो जाते हैं, दान के अभाव में धन कुपित हो जाता है और तप के अभाव में तन (शरीर) कुपित हो जाता है। यही कारण है कि भगवान ने जगह–जगह पर यज्ञ, दान तथा तप करने का संकेत किया है।

(.....यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्) 'पावनानि मनीषिणाम्' पद के द्वारा प्रभु सम्पूर्ण निष्काम भक्तों एवं साधकों की वन्दना करते हैं, जैसे चौथे अध्याय में भी प्रभु ने भक्तों की वन्दना की– जो भक्त मुझे जिस भाव से जितना भजता है, मैं भी उसे उतना ही भजता हूँ। प्रभु स्तवन इसलिए करते हैं कि सब ओर से स्वर्ग, स्वर्ग, स्वर्ग पाने, मिलने की ही आवाज आ रही है, तो भी वह स्वर्ग को नहीं चाहता है, भगवान को ही चाहता है, इसीलिए तो वह मनीषी है। भगवान को जैसे ही चाहा कोई, वह मनीषी हो गया। अतः माता–पिता, भाई–बान्धवों को उस मनीषी का आदर–सम्मान करना चाहिए, भले ही वह अपना पुत्र ही क्यों न हो।

'जरउ सो संपति सदन सुख'– महात्मा भरत के साथ सारी प्रजा जाना चाहती है चित्रकूट में और आवाहन कर दिया अपने गुरुजी से तथा माँ से कह दिया कि 'जरउ सो सम्पति' आग लग जाए अयोध्या के राज्य में, जिस राज्य में राम नहीं वह राज्य नहीं, जिस सुहृद के पास राम नहीं वह सुहृद नहीं, जिस माता–पिता के पास राम नहीं वे माता–पिता नहीं। 'सनमुख होत जो

राम पद करै न कोटि सहाइ' जो पुत्र को रामजी के पास जाते समय सहयोग न करे वह अपना सुहृद नहीं। अरे! वह हजार गुना बल प्रदान करे तथा कहे कि जा बेटे! मेरे बस की तो बात नहीं है राम को पाना, तप करना। तुम्हारे में जिज्ञासा हो रही है तो तुम ही पाओ, भगवान को लाओ, मुझे भी दर्शन करा देना, ऐसे मनीषी माता–पिता (साधकों) की वन्दना भगवान नारायण ने अठारहवें अध्याय में कर दी है। अन्य जगहों में भी वन्दना की है लेकिन यहाँ विशेष वन्दना है 'पावनानि मनीषिणाम्' की। महात्मा भरत ने भगवान तक पहुँचने में भी यज्ञ, दान एवं तपरूप क्रियाओं का त्याग किया ही नहीं, जिसका परिणाम हुआ कि देवता, ऋषि, साधक, सिद्ध सभी उनका सहयोग कर रहे हैं।

(एतान्यपि तु कर्माणि.....) यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं को बिना आसक्ति और फल के त्यागे, कोई भी पुरुष भगवद्भक्त कहला ही नहीं सकता। कर्म में आसक्ति एवं फल की चाहना के कारण से ही पुरुष में दीनता आती है और दीनता के आते ही तन, मन, वचन का सम्पूर्ण ओज जाता रहता है। यदि कोई सकामी पुरुष इन क्रियाओं को करता है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह उसमें सफल ही हो। यहाँ पर प्रभु ने इसलिए भी यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं में आसक्ति और फल को त्यागने को कहा है; क्योंकि स्वयं अर्जुन को ही नरमेध यज्ञ (धर्मयुद्ध) करना है। परिणामरूप फल होगा कि उनके (अर्जुन के) ही सारे पुत्र उसमें स्वाहा हो जायेंगे। तभी तो भगवान नारायण ने बहुत देर के बाद, ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम चरण में कहा है कि अवश्य तुम्हारी विजय होगी, जिस विजय प्राप्ति की घोषणा को प्रथम चरण में ही करना चाहिये था; क्योंकि अर्जुन ने पूछा ही है कि हम हारेंगे या जीतेंगे– 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।' भगवान ने मात्र इतना ही कहा है कि तुम विजयी होओगे, यह नहीं कहा कि तुम्हारे बाल–बच्चे, हित–मित्र सभी स्वर्गलोक को चले जायेंगे। अन्धे के पास भले ही सूर्य प्रकाश की बरसात करता रहे किन्तु वह प्रकाश का दर्शन तो नहीं कर सकता। ठीक उसीप्रकार महात्मा अर्जुन के पास भले ही भगवान की बात समझने की क्षमता न हो लेकिन प्रभु तो स्पष्ट कह ही रहे हैं कि आसक्ति एवं फल का त्याग करके तब तुम इस नरमेध यज्ञ को करना, अपने तन, मन, वचन एवं हृदय को दान करना एवं पुत्रों तथा स्वजनों के स्वाहा हो जाने पर उस दुःख को सहन करना; क्योंकि पुत्र, धन एवं मान–सम्मान ये तीन फल हैं जो तुम्हें प्राप्त हैं, उनमें धन, मान, सम्मान तो मिल जायेगा किन्तु पुत्रादिरूप फल का नाश हो जायेगा। यदि भगवान संकेत न देकर स्पष्ट ही कह देते कि तुम लोगों के सारे पुत्र मारे जायेंगे, फिर तो एक अन्य समस्या खड़ी हो जाती, हो सकता था अर्जुन उसी समय विरोध कर देते। अर्जुन ने भगवान को पहचान लिया है, वे यह समझ बैठे हैं कि मेरा, मेरे बाल–बच्चों तथा मेरे परम प्रिय मित्रों का नाश तो होगा ही नहीं। भगवान ने यहाँ पर फल को त्यागकर युद्ध करो, ऐसा इसलिए कहा है क्योंकि जब अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र एवं अन्यान्य पुत्र मारे जायेंगे उस समय यदि अर्जुन पूछेगा कि आपने पहले क्यों नहीं बताया कि तुम्हारे पुत्रों का सर्वनाश हो जायेगा, तो मैं कह दूँगा कि मैंने तो कहा ही था– 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' कि यज्ञ, दान एवं तपादि क्रियाओं को आसक्ति एवं फल का त्याग करके करो। अब जब तुम बुद्धि के कंगाल हो तो मैं क्या करूँ?

प्रभु ने इन मंत्रों में सर्वप्रथम यज्ञ करने को कहा, फिर दान देने को कहा और तब तप करने को कहा; वह इसलिए कि यज्ञ बिना दक्षिणा के पूर्ण नहीं होता अर्थात् सर्वप्रथम यज्ञ किया जाता है तब दक्षिणा दी जाती है। तत्पश्चात् यदि अपना मनोरथ सिद्ध होने में विलम्ब हो रहा है तो प्रतीक्षारूपी तप करने को कहा। यही नहीं यज्ञ, दान करने के उपरान्त भी यदि दुःख आते ही जा रहे हैं तो उसे सहन करने को कहा, क्योंकि उसमें भगवान का ही कुछ प्रयोजन है। इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये महाराज तत्कालीन उदाहरण दे रहा है–

एक दिन वनप्रदेश में यज्ञ, दान, तप आदिरूप क्रियाओं को अनासक्त भाव से करनेवाले महाराज युधिष्ठिर से भगवती द्रौपदी उलाहना देते हुए कहती है–

'हे धर्मराज! यह बात ब्राह्मण, देवता एवं गुरु सभी जानते हैं कि आपका राज्य धर्म के लिये है, आपका जीवन धर्म के लिये है। मुझे इस बात का दृढ़ निश्चय है कि आप धर्म के लिये भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा मुझे भी त्याग सकते हैं। मैंने अपने गुरुजनों से सुना है कि यदि कोई अपने धर्म की रक्षा करे तो वह अपने रक्षक की रक्षा करता है। परन्तु मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि मानो वह धर्म भी आपकी रक्षा नहीं करता। यह क्या बात है?

धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा– "नहीं, नहीं! तुम ऐसा न सोचो। मैं कर्म का फल पाने के लिये कर्म नहीं करता। मैं तो दान देना धर्म है इसलिए देता हूँ, यज्ञ करना चाहिये इसलिए यज्ञ करता हूँ। फल मिले या नहीं मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिये; इसलिए मैं अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ। मैं धर्मफल के लिये धर्म नहीं करता, धर्मपालन का कारण यह है कि वेदों की ऐसी आज्ञा है और संत पुरुषों ने उसका पालन किया है। मैंने स्वभाव से ही अपने मन को धर्म में लगा दिया है। किसी भी धर्मज्ञ पुरुष के लिये धर्म के साथ मोल–तोल करना बहुत ही निन्दनीय है। जो धर्म को दुहना चाहता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता। जो धर्म करके नास्तिकतावश उसपर शंका करता है, वह पापी है। मैं तुम्हें यह बात बड़ी दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि धर्म पर कभी शंका मत करना। धर्म पर शंका करनेवाले की अधोगति होती है। जो दुर्बल हृदय पुरुष धर्म व ऋषियों के वचनों पर शंका करता है वह मोक्ष से दूर हो जाता है, वेदपाठी, धर्मात्मा और कुलीन पुरुष को ही वृद्ध कहा जाता है। वह पापी तो चोरों के समान है, जो मूर्खतावश शास्त्रों का उल्लंघन करके धर्म पर शंका करता है। अभी तुमने कुछ ही दिन पहले परम तपस्वी मार्कण्डेय ऋषि को देखा था, जो धर्म के प्रभाव से चिरंजीवी हैं। व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक्र आदि सभी ऋषि धर्मपालन से ही ज्ञान सम्पन्न हुए हैं। यह बात तुम्हारे सामने है कि वे लोग दिव्य योग से युक्त हैं, शाप–वरदान दे सकते हैं और देवताओं से भी बड़े हैं। उन लोगों ने अपनी अद्‌भुत शक्ति से वेद और धर्म का साक्षात्कार किया है। वे लोग धर्म की ही महिमा का वर्णन करते हैं। अतः तुम अपने मूढ़ मन से ईश्वर और धर्म पर आक्षेप मत करो तथा न कोई शंका ही करो।"

(संक्षिप्त महाभारत, वनपर्व, पृष्ठ १६२)

(एतान्यपि तु कर्माणि.....) उपरोक्त, यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया अनासक्त होकर तथा

फल को त्यागकर करने को जब भगवान कह रहे हैं तो इससे स्पष्ट है कि तन, मन, वचन एवं हृदय इतना पवित्र हो जाय कि यज्ञ, तपादिमय जीवन होने पर भी यदि दैहिक, दैविक एवं भौतिक बाधाएँ आवें तो किसीप्रकार का संशय न हो। चौदहवें अध्याय में प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि यज्ञ, तप, योगादि क्रियाओं के सम्पादन से सतोगुण बढ़ता है तथा जब रोम–रोम से सतोगुण प्रवाहित होने लगता है तो सतोगुणी बुद्धि प्रकट हो ही जाती है। वह इसलिए कि जब आप यज्ञादि क्रियाओं को निष्काम कर रहे होते हैं तो सतोगुणी बुद्धि प्रकट होने पर अनुकूल या प्रतिकूल घटनाओं के स्रोत का पता चलता है, तब द्रौपदी जैसा संशयात्मक चित्त नहीं हो पाता। सन्त के व्यवहार पर जितना असन्त दृष्टि रखता है उतना कोई नहीं रखता। उसे तो उसका व्यवहार सदा दुर्व्यवहार ही लगता है। उसके मन में इस विषय में किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं होता कि ये ढोंगी नहीं हैं; रही बात उनकी जो न संत हैं और न ही असंत हैं, उनके मन में भी धर्मात्मा पुरुषों के व्यवहार के प्रति यदा–कदा शंकायें आ ही जाती हैं। उनकी तो बात ही छोड़ें, सद्गुरु के प्रति शिष्य के मन में भी यदा–कदा संशयरूप वृत्ति उठ जाती है। तो साधकों को विचार करना चाहिये कि वे जनसामान्य के व्यवहार का अनुकरण न करें; क्योंकि जिसप्रकार कमरे में झाड़ू लगाकर छोड़ देनेपर तथा वर्ष भर पश्चात् ताला खोलने पर कमरे में धूलकण जमा हुआ मिलता है तथा मकड़ियों के जाले से घर भरा हुआ रहता है, उसीप्रकार 'मैं आत्मा हूँ', ऐसा जानने के उपरान्त भी जप, तप, योग आदि क्रियाओं को यदि त्याग दिया जाये, तो घोर प्रतिकूलता के अवसर पर शोक, सन्ताप, संशय, भ्रमरूप वृत्तियाँ घेर ही लेती हैं। इसलिए जिस नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्ति की बात भगवान आगे के मंत्रों में करेंगे उसकी प्राप्ति होने तक निष्कामभाव से यज्ञ, दान, तपरूप क्रियाओं को करते रहना चाहिए।

अब इस मंत्र के माध्यम से हमलोग युद्ध के मैदान में चलते हैं और देखते हैं कि भगवान महात्मा अर्जुन से क्या कह रहे हैं।

पुनः पूर्वोक्त मंत्रों का ही विस्तार करते हुए प्रभु ने कहा–

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अपने प्रति नियत किये गये कर्म को अज्ञान और अहंकार के वशीभूत होकर त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। सम्पूर्ण कर्म दुःखरूप ही हैं, ऐसा समझकर शारीरिक दुःख के भय से अपने कर्तव्य कर्म का त्याग राजस त्याग कहा जाता है। ठीक इसके विपरीत, करना ही

कर्तव्य है ऐसा समझकर आसक्ति एवं फल का त्याग करके कर्तव्य कर्म करना सात्त्विक त्याग कहा जाता है।

प्रत्येक वर्ग ने, वर्ण ने, कुल–परिवार ने, मानव ने अपने–अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म का निर्णय शास्त्रानुसार कर लिया है। बच्चा अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म को जानता है वैसे ही माता–पिता, धर्मपत्नी एवं मित्रादि भी अपने–अपने कर्तव्य कर्मों को भलीभाँति जानते हैं; तदनुरूप व्यवहार भी करते हैं, लेकिन अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्मों को जानते हुए भी अपना अभीष्ट मनोरथ पूरा न होने पर जब कोई दूसरे के धर्म को स्वीकार कर लेता है या कर्मपथ का ही त्याग कर देता है तो उसके त्याग का फल नहीं मिलता। जितने भी लोग घर को त्यागकर तंत्र साधना में उतर जाते हैं वे तामस त्यागी होते हैं, तभी तो उनके त्याग का विपरीत फल मिलता है। कहाँ तो घर छोड़ने पर आत्मज्ञानी गुरु मिलना चाहिये वहाँ तांत्रिक गुरु मिल गया, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनमाना त्याग करनेवाले को प्रत्यवाय दोष लगता ही है। जिसप्रकार कर्ण ने अपने गुरु परशुरामजी के पास झूठ बोलकर शस्त्रविद्या ग्रहण की थी जिसका परिणामरूप फल यह हुआ कि वह विद्या उसके लिये घातक हो गयी, उसीप्रकार छल–कपट के साथ सद्गुरु के पास भी रहनेवाले साधकों की दुरवस्था देखी ही जाती है। जिस साधक के लिये जप, तप, योग भार बन जाता है उसे जान लेना चाहिये कि उसने तामस त्याग किया है। तामसी त्यागियों के स्वरूप का वर्णन ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने अपने परम प्रिय शिष्य भरत से करते हुए कहा है–

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना।।
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।।
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू।।
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी।।
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी।।
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई।।

दो०– सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग।।१७२।।

बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू।।
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुरु बंधु बिरोधी।।
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी।।
सोचनीय सबहीं बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जन होई।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

उपरोक्त चौपाइयों एवं दोहे के द्वारा नियत किये गये कर्तव्यकर्मों को तो संकेत के द्वारा आप सबने समझ ही लिया होगा, अब राजस त्याग के विषय में सुनें–

(दुःखमित्येव यत्कर्म.....) भगवान के नाम पर गृहस्थाश्रम का त्याग करनेवाले सौ साधकों में से पंचानबे साधक राजस त्यागी ही होते हैं। घर में अपने अनुकूल व्यवहार नहीं होने से वे संन्यास ऐसा कहते हुए लेते हैं कि गोली मारो ऐसे व्यवहार को जहाँ अपना कुछ अधिकार ही नहीं। जगने से लेकर सोने तक पिता, चाचा, ताऊ, दादा एवं बड़े–बूढ़ों के ही अधिकार में रहना पड़ता है। अपने मन का तो यहाँ कुछ होता ही नहीं, जब देखो तब कान में यही आवाज आती है कि अरे सोते ही रहोगे! आवारा जैसे घूमने से रोटी मिलेगी? काम–धाम तुम्हारा बाप करेगा? इत्यादि इत्यादि। उसके उपरान्त वह सोचता है कि इससे तो अच्छा है कि किसी आश्रम में जाकर आनन्द लूँ। भगवान के नाम पर दो रोटी मिलने से तो कोई रोक सकता नहीं।

बात तो सही है प्रभु के नाम पर दो रोटी तो समयानुसार मिल ही जाएगी लेकिन दुःखों से ऊबकर आये हुए ऐसे राजस त्यागी को शान्ति नहीं मिलेगी बल्कि जो घर में से ही समयानुसार अपने स्वाभाविक कर्तव्यकर्मों को करता हुआ आया होगा वही ब्रह्मचारी के स्वाभाविक धर्म को सहजता से स्वीकार कर सकता है, दूसरा नहीं। ठीक इसके विपरीत–

(कार्यमित्येव यत्कर्म.....) जो अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म को अनासक्त भाव से करता हुआ संन्यासाश्रम में आया है, वह बिना प्रयास के ही साधु स्वभाव को धारण कर लेता है। भगवान के लिये समयानुसार संन्यास लेना परम कर्तव्य है, ऐसा सोचकर घर का त्याग करनेवाले साधक को न चाहते हुए भी त्याग का फल (ब्रह्म) मिल ही जाता है। आसक्ति और फल का त्याग कर यज्ञ, दान और तप करनेवालों में से राजा पृथु, राजा शिवि तथा मुद्गल ऋषि का नाम प्रथम श्रेणी में आता है। जिनमें निष्कामयज्ञ के लिये महाराज पृथु सुविख्यात हैं, निष्काम भाव से दान देने में राजा शिवि एवं निष्काम तप करने में महर्षि मुद्गल का स्मरण किया जाता है।

प्रभु ने मुक्त कण्ठ से कहा–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

जो साधक दूसरे के विशिष्ट कर्म को देखकर उसकी चाहना नहीं करता है तथा अपने तुच्छ लगनेवाले कर्म को देखकर उससे द्वेष नहीं करता है, घृणा नहीं करता है, वह आत्मस्वरूप में स्थित साधक ही संशयरहित एवं बुद्धिमान है तथा शरीरधारी मनुष्य के द्वारा तो कर्मों का त्याग सम्पूर्णता से सम्भव है ही नहीं, इसलिए जो कर्मफल त्यागी है वही त्यागी और संन्यासी है, ऐसा जानना चाहिये।

(न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म.....) भगवद्भक्त सदन कसाई, तुलाधार वैश्य एवं आधुनिक संत

रैदास को कौन नहीं जानता? जिन्होंने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उपरान्त भी लोक हितार्थ अपने निकृष्ट दिखने–वाले कर्म का त्याग नहीं किया। महात्मा लक्ष्मण वनवास काल में घोर जप, तप, योग कर सकते थे, किन्तु पहरेदारीरूप निकृष्ट कर्म को ही उन्होंने स्वेच्छा से स्वीकार किया। भरत के द्वारा नन्दीग्राम में घोर जप, तप, योग हो रहा है ऐसा सुनकर भी वे अपने निकृष्ट से दिखने–वाले कर्तव्य कर्म से विमुख नहीं होते हैं। निकृष्ट सी दिखने–वाली साधना करनेवाले साधक प्रायः विशिष्ट साधना को देखकर मोहित होते देखे जाते हैं। परिणामस्वरूप अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म से विमुख तो हो ही जाते हैं एवं विशिष्ट साधना जप, तप, योग पकड़ में आती नहीं है, इसलिए न घर के होते हैं न घाट के।

महाराज के पास भूषणानन्द (बनारसी दास) नाम के एक साधक हैं जो भण्डार की सेवा सँभालते हैं। एक बार उन्हें भी देखा–देखी जलाहार व्रत करने का मन कर गया और व्रत प्रारम्भ कर दिया। तीसरे–चौथे दिन वायुदोष के कारण पेट में असह्य पीड़ा हुई, जिससे व्रत त्याग करना पड़ा। महाराज ने कहा कि आपकी तो यह स्वाभाविक साधना नहीं है, फिर आप दूसरे की साधना की ओर क्यों आकर्षित होते हैं। आप तो भण्डार में मात्र अपने हाथ से प्रसाद छू देते हैं तो भी अमृत बन जाता है। एक घण्टे में आप तीन–चार सौ लोगों को प्रसाद बनाकर खिलाने की क्षमता रखते हैं, फिर आप ऐसा क्यों समझते हैं कि जप, तप, योग से आपकी साधना निकृष्ट है। आप तो मात्र इतना ही स्मरण रखें कि भण्डार में स्त्री–पुरुष, बाल–बच्चों के रूप में भगवान ही खाने आये हैं एवं मैं इन्हें भोग लगा रहा हूँ, तो आपको सम्पूर्ण जप, तप, योग, स्वाध्याय, सत्संग तथा असंख्य अश्वमेधादि यज्ञों का फल मिल जायेगा।

भगवती शबरी को निकृष्ट सेवा ही मिली थी जबकि उसने उसे ही विशिष्ट साधना समझ लिया था। जिसका परिणामरूप फल सभी जानते हैं कि प्रभु श्रीराम ने उसे अपनी आत्मा बना लिया था।

(न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म.....) कर्म दुःखरूप है ऐसा सोच करके बाल–बच्चों से लड़ाई–झगड़ा करके कोई चल दिया वन को, साधु बन गया तो उसे लौटना पड़ेगा। अतः आत्मजिज्ञासु को जो गृहस्थाश्रम में है, वह अकुशल कर्म से द्वेष न करे और कुशल कर्म से प्रेम न करे। अकुशल कर्म क्या है और कुशल कर्म क्या है? शुभ कर्म कुशल कर्म है और अशुभ कर्म अकुशल कर्म है। यहाँ पर देखना होगा जो नियत कर्म किया गया है वह शुभ कर्म है और जो नियत नहीं है आपके लिए वह अशुभ कर्म है। यदि पुत्र पिता का कर्म करने लगे तो वह अशुभ हो जायेगा। ब्रह्मचारी यदि संन्यासी का कर्म करने लगे तो अकुशल कर्म हो जाएगा। हाँ, भेष (वेश) तो रहेगा संन्यासी का लेकिन व्यवहार करना होगा ब्रह्मचारी का। ब्रह्मचारी यदि परिव्राजक जैसा रहने लगे तो अशुभ कर्म हो जायेगा। यदि वह परिव्राजक जैसा आज यहाँ, कल वहाँ, परसों वहाँ ऐसा चलने लगा तो वह अकुशल कर्म हो जाएगा क्योंकि वह संन्यासी का कर्म है, ब्रह्मज्ञानी का कर्म है, ब्रह्मचारी का नहीं। ब्रह्मचारी का कर्म क्या है? 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' एकान्त देश में जहाँ सद्गुरु ने कह दिया है रहने को वहाँ पर या उसके आश्रम में ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करते हुए

अपने ध्यान, जप, तप, योग का अभ्यास करे अथवा सद्गुरु ने जो कर्मयोग दे दिया है तो उसका पालन करे, वह उसके लिए कुशल कर्म है। इस कुशल कर्म में भी आसक्त न हो, नहीं तो गुरु का अपमान हो जाएगा। यदि साधक अपनी साधना में भी आसक्त हो जाता है और जल्दबाजी करता है तो इससे सिद्ध होता है कि अपने–आपको आत्मा नहीं मानता, गुरु की आज्ञा उल्लंघन कर बैठा है तभी उसे अशान्ति होती है, यह अकुशल कर्म है। मन से अकुशल कर्म, बुद्धि से अकुशल कर्म, शरीर से अकुशल कर्म, ये मानसिक अकुशल कर्म हैं। सद्गुरु कोई भी आज्ञा दे सकता है। स्वजनों से युद्ध करना महात्मा अर्जुन के लिए अकुशल कर्म है क्योंकि स्वजनों का वध करना अशुभ कर्म है। कभी उनके जीवन में ऐसा अवसर आया ही नहीं था। वे कुशल कर्म में भलीभाँति आसक्त हो गये थे। अतः शुभ कर्म में उनकी आसक्ति हो गयी थी, अशुभ से द्वेष कर बैठे थे। इसलिए कि उन्हें आत्मज्ञान नहीं था। अतः जो अज्ञानी की, देहाभिमानी की दुर्दशा होती है, विषम समय में वह दुर्दशा हो गयी। कामासक्त पुरुष कर्म तो बहुत करता है, बहुत कर्म करता है लेकिन अपने को शरीर मानता है इसलिए उसके शरीर पर, मन पर, बुद्धि पर प्रकृति का उत्पात होता रहता है, क्षोभ पर क्षोभ, क्षोभ पर क्षोभ होता रहता है। लेकिन 'त्यागी सत्त्वसमाविष्टः'– यदि यज्ञ, दान, तपरूप क्रिया के फल का त्याग करता है तो फिर वह सत्त्व में (आत्मरूप में) स्थित है, संशयरहित हो गया है, ऐसा समझा जायेगा। कर्म सब दुःखरूप है ऐसा सोचकर घर का त्याग कर देता है तो यह राजस त्याग है, वैसे ही मूर्खतापूर्ण त्याग कर देना तामस त्याग है। 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म'– कुशल कर्म भी सामने आ जायेगा क्योंकि इस जीव–जगत में जबतक आप घर में हैं तबतक आप अपने अभिभावकों के अधिकार में भी हैं। आप देखना एक बात कहने जा रहा है महाराज कि घर में यदि भगवद्भक्त माता–पिता से बच्चा अलग होकर रहने लग जाए तो भिखारी बन जायेगा। आज के बच्चे सज्जन एवं धर्मात्मा माता–पिता से भी अलग हो जाते हैं क्योंकि भिखारी बनना है उनको, ऐसा महाराज ने अपनी आँखों से देखा है और शास्त्र भी ऐसा ही कहता है। क्यों? धर्मात्मा माता–पिता के लिए वैसा काला दिन उनके जीवन में कोई नहीं होगा जिस दिन उनके रहते ही उनके बच्चे परस्पर में बँटवारा कर लेते हैं। यही नहीं, वे भी पाँच–छः बच्चों में से किसी बच्चे के साथ रहने लगते हैं। वे बाहर में तो दिखाते नहीं लेकिन मन के भीतर कलपते रहते हैं। अतः उनकी आह पड़ती है और बच्चे भिखारी हो जाते हैं– बीस साल, पच्चीस साल, तीस साल के बाद। क्यों अलग हुए? अपने सुख के लिए, अपनी धर्मपत्नी के सुख के लिए, अपने बाल–बच्चों के सुख के लिए तो माता–पिता का त्याग कर देना यानी ब्रह्महत्या का पाप लग जाना माना जाता है लेकिन वही बच्चा यदि भगवान के लिए माता–पिता का त्याग कर देता है तो सम्पूर्ण अश्वमेध यज्ञों का फल मिल जाता है, सम्पूर्ण राजसूय यज्ञों का फल मिल जाता है, सम्पूर्ण नरमेध यज्ञों का फल मिल जाता है, सम्पूर्ण वेदों के स्वाध्याय का फल मिल जाता है, सम्पूर्ण तपों के तपने का फल मिल जाता है। क्रिया एक ही है, एक पुत्र छोड़ रहा है अपने सुख के लिए माता–पिता को और दूसरा छोड़ रहा है भगवान के लिए। एक के छोड़ने में माता–पिता का कल्याण है। वह कौन है? हाँ, वह जो भगवद्भक्त है। आधी रात को माता–पिता को छोड़कर भाग गया भगवान के लिए, अतः उसके त्याग में भगवान

आता है। वह भगवान उसके लिए भी आता है, उसके माता–पिता के लिए भी आता है, उसके पूर्वजों के लिए भी आता है, उसके पितरों के लिए भी आता है, उसके भाई–बान्धवों के लिए भी आता है; किन्तु दूसरे के त्याग में जो राजसिक, तामसिक त्यागी है, जिसने माता–पिता को अपने सुख के लिए त्याग दिया है वह अपने तो जाता ही है अपने माता–पिता को भी ले जाता है, अपने भाई–बान्धवों को भी ले जाता है और नरकगामी बना देता है।

एक नगर में देखा महाराज ने– एक पिता अरबपति हो गये उनके रहते ही बच्चों ने बँटवारा कर लिया अब उनके जाते ही ये चौराहे पर आते जा रहे हैं बड़े वेग से। बड़े वेग से कलकारखानों में ताला लगता जा रहा है। दस साल, बारह साल, बीस साल के उपरान्त जाते–जाते–जाते सारा का सारा ऐवर्श्य चला जायेगा। कलियुग में साझा व्यापार सफल होगा, श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है। 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म'– क्रिया एक ही फल दो। पुत्र भगवान के लिए छोड़ता है तो शुभ कर्म हो जाता है, माता–पिता के लिए छोड़ता है तो अशुभ कर्म हो जाता है। कोई धर्मपत्नी, पति के पास उनकी माँ जैसा व्यवहार करने लगे तो वितण्डावाद खड़ा हो जायेगा। आजकल घर में जो वातावरण विषाक्त हो गया है उसका एक मात्र यही कारण है कि सभी अपने–अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म से ही द्वेष करने लगे हैं। पुत्र को पिता के पद पर बैठने की जल्दबाजी है, पिता को गुरु का पद अच्छा लग रहा है इसलिए पुत्र के साथ गुरु जैसा व्यवहार करने लगता है; कुलगुरु, ब्रह्मज्ञानी संत जैसा व्यवहार करने लगा है; पुत्रवधू, सास जैसा व्यवहार करने लगी है; बेटी, पिता की सम्पत्ति पर पुत्र के समान अधिकार जमाने लगी है। कहाँ तक कहा जाये अपवाद को छोड़कर सभी को अपना कर्म अकुशल अर्थात् अशुभ लग रहा है।

ध्यान और समाधि में आसक्त चित्तवाले अपने एक शिष्य से सद्गुरु ने कहा कि यदि ध्यान और समाधि में भी आसक्ति हो जाती है तो यह कर्म तुम्हारे लिये अशुभ हो जायेगा। संसार से आसक्त होना और समाधि में आसक्त होना बात तो बराबर है। सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों को एवं अपने को आत्मरूप देखना तथा तदनुरूप व्यवहार करना ही ज्ञानसमाधि है। जबतक व्यवहार में आओगे नहीं तबतक कैसे पता चलेगा कि चित्त द्वन्द्वरहित हो गया है या नहीं।

(न हि देहभृता शक्यं.....) जबतक संशय, शोक, सन्ताप मन को आन्दोलित कर रहे हैं, तबतक अपने कर्तव्य कर्म का त्याग कर संन्यास लेना महामूर्खता है। हाँ! जब संशय का निवारण हो जाये तब वह संन्यास लेने का अधिकारी है। जबतक जाति का, वर्ण का, कुल का, प्रदेश का एवं देश का मन में अभिमान है तबतक सर्वथा कर्म का त्याग हो ही नहीं सकता।

एक भक्त के माता–पिता आकर आश्रम में रहने लगे। कुछ ही दिन में पिता ने कहा कि महाराज मेरे से यहाँ पर नहीं रहा जायेगा। महाराज ने पूछा क्यों? धर्मपत्नी तो आपके पास ही है, बच्चों के पास किसी बात की कमी है नहीं, जेब खर्च के लिये उन लोगों ने आपको तीन लाख दे ही दिया है, फिर आपको यहाँ रहने में क्या आपत्ति है? उन्होंने कहा कि महाराज मैं कर्म के बिना नहीं रह सकता। महाराज ने कहा यहाँ तो आपके योग्य कर्म है ही! उन्होंने कहा कि

महाराज मैंने केवल अपने मन से कर्म किया है और कराया भी है। यहाँ तो केवल संतों के मन से करना है किसी से करा तो सकता नहीं। और सच बात तो यह है कि मैं सन्तों की आज्ञा में भी चौबीस घण्टे नहीं रह सकता। यहाँ सामान चाहे जहाँ पड़ा रहता है, सब्जी सड़ती रहती है, फेंकी जाती है; यह सब तो मेरे से देखा ही नहीं जाता। यहाँ तो किसी संत को चिन्ता ही नहीं है कि कहाँ से आ रहा है, कहाँ से नहीं। महाराज ने कहा कि यहाँ भी यदि संतों को चिन्ता होने लगे तो आपके घर में तथा यहाँ में क्या अन्तर रह जायेगा। अरे! जो बचता है वह तो गो माता खा ही लेती है। उन्होंने कहा कि नहीं महाराज, 'मैं तो चला।' अतः ऐसे पुरुषों को गृहस्थाश्रम में ही बाल–बच्चों, घरबार को भगवान का समझते हुए तबतक रहना चाहिये जबतक प्रभु कृपा न कर दे।

एक माँ ने कहा कि बाबा अब मैं घर में नहीं रहना चाहती। पूछा कि क्यों नहीं रहोगी? उसने कहा कि अब मुझे इनके साथ (धर्मपति के साथ) रहने में शान्ति नहीं मिलती। तब महाराज ने कहा– इनके साथ रहती ही क्यों हो? मन से भगवान के साथ रहो। किसी दिन भगवान आयेगा और जहाँ हो वहीं पर कृपा करके चला जायेगा या निर्मल वैराग्य देकर शबरी जैसा घर से भगा देगा।

जबतक साधक का विवाह नहीं हुआ रहता है तबतक साधक के मन में संसार पाँच पैसा रहता है। विवाह होते ही उसके मन में पंचानबे पैसा संसार प्रवेश कर जाता है। वही संसार संन्यास की कामना होने पर भीतर–बाहर से बाधा बनता है एवं जब सचमुच में साधक भगवान का होने लगता है तब धीरे–धीरे संसार भी उसके हृदय से बाहर निकलने लगता है तथा कालान्तर में सम्पूर्णता से संन्यास पद दे देता है।

(न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म.....) उधर इस मंत्र के द्वारा जब रणभूमि में देखते हैं तो मानो प्रभु कहते हैं कि हे पार्थ! तुम्हारे जैसे धर्मात्मा पुरुष के लिये धर्मयुद्ध ही विशिष्ट साधना है। यद्यपि देखने में यह घोर हिंसात्मक कर्म लग रहा है, किन्तु परिणाम में यह मुझे ही देनेवाला है। तपस्वियों के तप को, योगियों के योग को एवं परिव्राजकों के त्याग को सुनकर तुम मोहित हो गये हो, जबकि उनके तप, योग तथा त्याग में कोई आवश्यक नहीं है कि मेरा वास हो ही, लेकिन तुम्हारे युद्धकर्म में मेरा वास है, यह तो निश्चित ही है। यदि तुम यह समझते हो कि भीष्म, द्रोण आदि भी तो धर्मयुद्ध ही कर रहे हैं, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उन्होंने तो मुझसे युद्ध की आज्ञा माँगी ही नहीं है और न ही इन दोनों ने अपने गुरु परशुरामजी से ही आज्ञा माँगी है। अतः इनके युद्धरूप कर्म में न सद्गुरु का वास है न मेरा वास है। इसलिए इस विषम कर्म से, जो मेरी दृष्टि में सम है, तुम द्वेष न करो।

(न हि देहभृता शक्यं.....) मानो भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि अपने एवं बाल–बच्चों के शरीर का अभिमान तो तुमको है ही, फिर परिव्राजक संन्यासी बनने का ढोंग क्यों करते हो? अपने ढोंग को तो तुम्हें स्वयं देखना चाहिये, तब तुम स्वतः ही मेरी आज्ञानुसार चलोगे। महात्मा अर्जुन ने भगवान से मानो मौन प्रश्न किया कि अब तो मैं जान ही गया कि

सभी अपने–अपने कर्म से ही जन्मते हैं, जीते हैं एवं अपने–अपने कर्मफल को ही भोगते हैं तो फिर आप मेरे से ऐसी–ऐसी बात क्यों कह रहे हैं? इसी का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं–

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥१२॥

हे पार्थ! भले, बुरे एवं भले–बुरे (मिश्रित), ये तीन प्रकार के फल अज्ञानियों के शरीर छोड़ने के उपरान्त भी उनके साथ ही जाते हैं लेकिन संन्यासियों के साथ ये बात नहीं है। उनको ये तीनों प्रकार के फल किसी भी काल में प्राप्त नहीं होते।

यहाँ संन्यासी का तात्पर्य निष्काम कर्मयोगी से है तथा अज्ञानी का तात्पर्य सकामी से है। प्राणियों के जीवन से ही उनके कर्मों का गणित कर लेना चाहिये। इष्ट फल, अनिष्ट फल और इष्ट–अनिष्ट (मिश्रित) ये तीन प्रकार के फल प्राप्त किये हुए प्राणी पाये जाते हैं इस जीवजगत में। जो पूर्वजन्म के नारकीय प्राणी होते हैं अर्थात् असुरकर्मा होते हैं वे पशु–पक्षी, कीट–पतिंगे, साँप–बिच्छू आदि बन जाते हैं अर्थात् उनको अनिष्ट फल मिल जाता है, जो एकमात्र दुःख भोगने के लिए ही जन्म लेते हैं तथा शुभ कर्म का सम्पादन करनेवाले महापुरुषों को इष्ट फल मिल जाता है यानी उनको देवलोक मिल जाता है, वे ही राजघराने में या अति समृद्ध घराने में जन्म लेते हैं। एक तीसरा पुरुष जो कि मिश्रित फल प्राप्त करता है, वह मनुष्यलोक में ही शुभ फल और अशुभ फल दोनों को भोगने आता है। इसके लिए वह सामान्य घर में जन्म लेता है जो न अमीर होता है न गरीब होता है यानी कमाना है और खाना है ऐसा घराना मिलता है। भगवान ने कहा कि मरने के उपरान्त ये तीन प्रकार के फलवाले पुरुष जन्म लेते हुए देखे जाते हैं, इससे सिद्ध हो गया कि यहाँ इस मनुष्य लोक में मिश्रित कर्म किये हुए लोग ही विशेष जन्म लेते हैं। यहाँ थोड़ा धैर्य के साथ मात्र ये जानकर कि ये संन्यासियों के लिए महाराज बात कर रहे हैं, कोई भी गृहस्थ अपने ऊपर नहीं लेगा। अब देखेंगे कि मिश्रित फलवाला यह जो मनुष्य शरीर है जो सुख भी भोगता है दुःख भी भोगता है तो सुख और दुःख क्यों भोगता है? वह इसलिए कि सुख मित्र है, वैरी दुःख है। गृहस्थाश्रम में मित्र भी होते हैं, वैरी भी होते हैं। सज्जन माँ शुभ फल है, दुर्जन माँ अशुभ फल है, सज्जन पिता शुभ फल है, दुर्जन पिता अशुभ फल है, सज्जन पुत्र–पुत्री शुभ, असज्जन अशुभ इत्यादि इत्यादि। जो शुभ और अशुभ फल जानता है वह अशुभ को भोग लेता है और शुभ का त्याग कर देता है। जिन्होंने अशुभ को यहाँ भोग लिया है और शुभ का अवसर आया तो स्वीकार नहीं किया तो वह त्याग बड़ा महत्त्व का हो जाता है। शुभ का अवसर क्या आया? हाँ, शादी करने का, वह देव यज्ञ का फल है यानी शुभ कर्म का फल उसे अब मिलनेवाला है अर्थात् शादी करने का अवसर आया और भगवान के लिए अपने शुभफल का त्याग कर दिया तो जैसे ही त्याग कर दिया वैसे ही उसे सद्गुरु मिल जाता है यह नियम है। जब आप भी अशुभ को भोग लेंगे और शुभ का त्याग कर देंगे तो परम फल मिलेगा। परम फल भगवान है और उसका प्रतिनिधि संत और सद्गुरु होता है, अतः फलरूप में वही मिल जायेगा। अब यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि जो साधक मृत्युलोक

में ही निष्काम हो गये हैं उनके लिये क्या कहा जायेगा? तो उनके लिये यही कहा जायेगा कि वे ब्रह्मलोक के प्राणी हैं, जिन्होंने अशुभ कर्म का सर्वथा त्याग कर दिया है एवं शुभ कर्म भी सद्गुरु की आज्ञानुसार कर रहे हैं। इसलिए कि उन्हें यह अनुभूति हो रही है कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, अतः दुःख को हटाने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि वह शरीररूप प्रारब्ध का एक अंग ही है। सुख को स्वीकार नहीं करते इसलिए कि वह उनके मन का अंग बनना चाहता है, जबकि उनके मन का अंग तो सद्गुरु तथा सद्गुरु का सिद्धान्त ही है। अतः वे अंग एवं अंगी दोनों से मुक्त हो गये हैं। वे बाहर के सगुण दुःख से उदासीन रहते हैं, वैरी के उत्पातों को सहन करते हैं, मित्र बनाते नहीं जो सगुण सुख अर्थात् शुभ फल है। इसप्रकार जब वे सुख और दुःख से सर्वथा उदासीन ही रहते हैं तो मिश्रित फल का प्रश्न ही नहीं उठता। अशुभ को भोग लिया और शुभ का त्याग कर दिया तो वह उस ब्रह्मचारी का दिव्य जन्म है। वह गृहस्थाश्रम के लिये मर गया और भगवान के लिये जी गया। त्याग ही उसका दिव्य कर्म है एवं स्वरूप स्थिति ही उसका दिव्य जन्म है।

(अनिष्टमिष्टं मिश्रं च.....) लेकिन संन्यासियों के लिए? कौन संन्यासी? यह प्रश्न महात्मा अर्जुन ने पूछा। हाँ! जिन्होंने संन्यास ले लिया है, कहा कि कौन? कहा– जिन्होंने घर में संन्यास ले लिया है। कहा कैसे? कहा– जनक के जैसे (गीता अध्याय तीन)। उनके मरने के उपरान्त अब पुनः इष्ट और अनिष्ट और मिश्रित ये तीनों फल नहीं मिलेंगे और दूसरे उन संन्यासियों को जिन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया है, जिनका दिव्य जन्म हो गया सद्गुरु के आश्रम में अथवा वनप्रदेश में रहते हुए कर्म के फल का त्याग कर दिया है उन्होंने, अतः वे पुनः जन्म नहीं लेंगे। यदि कर्म के फल में आसक्त हैं अथवा कर्म के फल को चाहते हैं और इसी बीच मर गये तो जन्म होगा, गीता अध्याय छः के अनुसार। ब्रह्मचारीगण इसे जानेंगे, अतः सुनें। भगवान नारायण ने कहा है कि ब्रह्मचारी को पहले आत्मभाव में स्थित होकर तब जप, तप, योगरूप साधना करनी चाहिए, ध्यान करना चाहिए, ताकि यदि बीच में प्राण छोड़ने का समय आ जाए तो वह यह न जाने कि मैं प्राण छोड़ रहा हूँ अथवा मेरा प्राण छूट रहा है। तो फिर वह योग, जप, तप क्यों करे, जब ऐसा है तो? कहा– लोकसंग्रह के लिए। जबतक है तबतक जगत के साधकों के लिए। वैसे ही कठोरता से नियम का पालन करना होगा क्योंकि जैसा वह करेगा वैसा ही तो दूसरे साधक भी करेंगे। प्रथमावस्था में उड़ने की चाहना से वायुयान में बल देना पड़ता है उसीप्रकार ब्रह्म की कामना से कर्म करना और जब आत्मरूपता का बोध हो गया तो आत्मरूप होकर लोकसंग्रह के लिए कर्म करना, नहीं तो गुरु का अपमान हो जायेगा। यदि आपने मान लिया कि मैं शरीर नहीं हूँ और फिर आपमें जल्दबाजी है, आप कामना कर रहे हैं जल्दी साधना सिद्ध क्यों नहीं हो रही तो पूजा पाने के लिए क्या? आरती नहीं हो रही इसलिए? अब तो आरती ही शेष है न! आप कौन हैं? जब बता दिया गया कि आप आत्मा हैं और आत्मा का विवेचन भी कर दिया गया फिर साधना तो अब लोकसंग्रह के लिए ही करना है! माँ ने बताया कि तुम अग्रवाल हो, तुम ब्राह्मण हो, तो उसको मान लिया और उसका चिंतन ही नहीं किया और जिसने दिखा दिया कि तुम आत्मा कैसे हो, फिर उसमें स्थिरता नहीं हो रही है, यह

क्या बात है? इससे सिद्ध होता है कि कोई न कोई दुराग्रह है आपमें। भगवान के लिए आप नहीं जी रहे हैं।

(न हि देहभृता शक्यं.....) सोलह आने में जब कोई बारह आना देहाभिमानी हो जाता है तो उसकी गृहस्थाश्रम में शादी करा दी जाती है। संतों की व्यवस्था है और वहाँ पर विधि है कि धर्मपत्नी के साथ कब और कैसे रहना। यदि वैसा ही कोई रहता है तो इस मृत्युलोक से कुछ वर्षों के बाद आगे बढ़ जाता है। वह दिव्यजन्मा हो जाता है, गुरु के लोक में आ जाता है या गुरु उसी के घर में अपना लोक बसा लेता है, जैसे राजा जनक के घर में अष्टावक्र का जाना और वहाँ अपना बसेरा करना यही तो सिद्ध करता है, जबकि भगवती सुनैना थी वहाँ पर, बाल–बच्चे वहाँ पर थे। जैसे रघुवंशियों के घर में बसेरा करना भगवान का, बाबा नन्द के यहाँ प्रकट होना किन्तु वरदान देना माँ कौसल्या को, माँ यशोदा को, क्योंकि ये अपने धर्मपति के साथ धर्मपूर्वक रह रही हैं। यदि कोई पुत्र अपने माता–पिता को माता–पिता ही समझ रहा है तो फिर वह दिव्यजन्मा नहीं हुआ। माता–पिता को भगवान समझ करके और भगवान की आज्ञा समझ करके सेवा कर रहा है तब वह दिव्यजन्मा है। फिर कुछ सालों के बाद अपने बाल–बच्चों के रहते ही वह आगे बढ़ जाता है, दिव्य लोकों को चला जाता है। दिव्य लोक अर्थात् सद्गुरु लोक या तो उसके घर में बस जायेगा या तो वह सद्गुरु लोक को चला जायेगा।

भगवान के साथ होकर, संत के साथ होकर यदि हम सुख भोग रहे हैं तो उस सुख को सुख नहीं कहते बल्कि प्रसाद कहते हैं। पति को खिलाकर जो माताएँ खाती हैं, वे आर्य माताएँ हैं; शिष्य सद्गुरु को भोग लगाके खाता है, वह प्रसाद हो जाता है। अतः शुभफल को भी सद्गुरु की आज्ञा से कोई स्वीकार कर रहा है तो सद्गुरु की आज्ञा से उस शुभफल को अस्वीकार भी कर सकता है। श्रीराम प्रभु ने गुरुजी के कहने से सीताजी को स्वीकार किया और राजतंत्र के नियमों को धारण किया तो किसी विशेष प्रयोजन से उस शुभफल (भगवती सीता) को वनवास दे दिया। इसप्रकार ग्रहण करने में और छोड़ने में उसे क्षोभ नहीं होता। किसे? जो शुभ–अशुभ और मिश्रित कर्मों को जानता है उसे। अतः भलीभाँति कर्मविपाक के स्वरूप को जानना चाहिए।

भगवान ने अवसर पाकर इस कर्मविपाक को समझाने के लिये सांख्यमत को लाकर खड़ा किया है–

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

शरीर वाणी एवं मन से प्रारम्भ होनेवाले शास्त्रीय अथवा अशास्त्रीय कर्मों के सिद्ध होने में अधिष्ठान, कर्ता, करण, इच्छा तथा दैव– ये पाँच कारण ही सांख्यमत के अनुसार कहे गये हैं। जब इन पाँचों कारणों से ही कर्म का सम्पादन होता है तो–

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

जो मूर्ख आत्मा को ही कर्ता मानता है वह यथार्थ नहीं देखता। ठीक इसके विपरीत जो अपने–आपको कर्ता नहीं मानता वह पुरुष कर्तव्य कर्म के उपस्थित होने पर यदि तीनों लोकों का संहार कर दे, तो भी उसे पाप स्पर्श नहीं करता।

(अधिष्ठानं तथा कर्ता.....) सामान्य पुरुषों के द्वारा शरीर से, मन से, वाणी से इन तीनों से कर्म होते देखे जाते हैं। इन तीनों से कौन से कर्म होते हैं? शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ मिश्रित अर्थात् शास्त्रीय, अशास्त्रीय एवं शास्त्रीय–अशास्त्रीय मिश्रित। उन कर्मों का आश्रय कौन होता है? उन कर्मों का आश्रय यह शरीर होना चाहिए क्योंकि शरीर न हो तो कर्म होगा कैसे? यदि आप ऐसा कहते हैं तो शरीर तो जड़ है यह कर्मों का आश्रय कैसे हो सकता है? ऐसा कहने से तो सांख्यमत को स्वीकार करना हुआ; क्योंकि सांख्यमत के प्रणेता भगवान कपिल हैं, उन्होंने सूक्ष्मतत्त्व दिया है, वह यही कि प्रकृति स्वतंत्र है जबकि प्रकृतिवाद तो भगवान के मत के विरुद्ध है। भगवान के मत के अनुसार ब्रह्मवाद ही स्वतंत्र है। भगवान कपिल का सांख्यमत जो संख्या के अन्तर्गत है ऐसा सांख्यमत भगवान को अभिप्रेत नहीं है अर्थात् स्वीकार नहीं है। भगवान की दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई है ही नहीं। माया वैसे ही दिखाई पड़ रही है जैसे ठूँठ पेड़ में प्रेत दिखाई पड़ता है। ठूँठ पेड़ तो अन्धकार में दूर से लगता है कि भूत खड़ा है लेकिन खोजने पर वहाँ भूत नहीं मिलता। भगवान को तो इसी ब्रह्मवाद का प्रचार–प्रसार करने का मन है लेकिन महात्मा अर्जुन जैसा जो देहाभिमानी है जो शुभ और अशुभ में आसक्त है जिसने सद्गुरु नहीं बना रखा पहले जिसकी बुद्धि आध्यात्मिक नहीं हुई है उसको समझाना है। इसलिए सर्वप्रथम सांख्यमत का प्रतिपादन कर, फिर उसका खण्डन कर ब्रह्मवाद का आश्रय लेना ही पड़ेगा, प्रभु ने ऐसा सोचकर पुनः ब्रह्मवाद को उठा लिया और सामने लाकर रख दिया। वह क्या? यही कि 'अधिष्ठानं तथा कर्ता'– शरीर ही है अधिष्ठान जिस कर्म का। यदि ऐसा है तो उसके द्वारा कर्म कौन करता है? तो कहते हैं– प्रकृति ही करती है। अरे! ऐसा तो अज्ञानी कहते हैं, सांख्यवादी कहते हैं लेकिन ब्रह्मवादी ऐसा नहीं कहता। वह तो कहता है– ब्रह्म ही है आश्रय जिसका, उस ब्रह्म की अध्यक्षता में शरीर के द्वारा प्रकृति करती है; प्रकृति यानी 'मैं शरीर हूँ' यह भाव ही प्रकृति है लेकिन यह प्रकृति भी

स्वतंत्र कर्ता नहीं है बल्कि ब्रह्म की अध्यक्षता में सत, रज, तमरूप प्रकृति, शरीर एवं इन्द्रियाँरूप करण–उपकरण, नानाप्रकार की इच्छाएँ तथा पाँचवाँ कारण दैव (प्रारब्ध) का योग जब बनता है तभी शरीर एवं मन–वाणी से कोई भी कर्म सम्पन्न होता है चाहे वह शास्त्रीय हो अथवा अशास्त्रीय। वैसे तो शरीर आश्रय है सूक्ष्म शरीर का, सूक्ष्म शरीर आश्रय है कारण शरीर का और इन तीनों ही का आश्रय ब्रह्म है ऐसा वेदान्त स्वीकार करता है। योगशास्त्र के अनुसार स्थूलशरीर का आश्रय है सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर का आश्रय है कारण शरीर, कारण शरीर का आश्रय है महाकारण शरीर, महाकारण शरीर का आश्रय है हंस शरीर और हंस शरीर का आश्रय है परमहंस शरीर तथा परमहंस शरीर का आश्रय है कैवल्य शरीर और इन सबका आश्रय है शुद्ध–साक्षी चेतन आत्मा। उसीप्रकार स्थूल शरीर ही लिंग शरीर का आश्रय है, सपने का शरीर भी इसी शरीर के माध्यम से स्वप्न–जगत में विचरण करता है, वह इसी शरीर को अपना शरीर मान लेता है। सुषुप्ति अर्थात् कारण शरीर का भी यही स्थूल शरीर आश्रय है क्योंकि यह शरीर है तभी तो सुषुप्ति को प्राप्त होता है। लिंग शरीर तथा यह शरीर प्रारब्ध के अधीन हैं और प्रारब्ध द्रष्टा के अधीन है। आत्मा अकर्ता है इसे सिद्ध करना है भगवान को। आप कर्ता न बनें भगवान यह भी चाहते हैं इसलिए महात्मा अर्जुन का प्रश्न है कि इष्ट अनिष्ट और मिश्रित कर्म का कर्ता कौन है? प्रभु कहते हैं भाव ही कर्ता है, अहंकार ही कर्ता है, इससे सिद्ध होता है कि भाव ही अहंकार है। कौन भाव? मैं शरीर हूँ, मैं अमुक जाति का हूँ, मैं अमुक गाँव–घर का हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ इत्यादि इत्यादि। ये जो भाव है (अहंकार) यही माया कहलाता है। अतः यह माया ही कर्ता है। कहाँ अहंकार कर्ता है जगत में? हाँ, शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा की अध्यक्षता में। किससे करता है– तो कहते हैं हाथ से, पाँव से, मन से, वाणी से, आँखों से, कानों से ये नानाप्रकार के करण और उपकरण हैं इन्हीं से वह कर्ता शुभ और अशुभ कर्म का सम्पादन करता है। और भी साधन हैं? तो कहते हैं– हाँ, इच्छाएँ भी हैं। क्योंकि जबतक कर्म के प्रति कोई इच्छा नहीं होती, जबतक कुछ पाने की इच्छा नहीं होती किसी को तबतक वह कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः नानाप्रकार की इच्छाओं के बल से कर्ता होता है। क्या और है? कहा कि हाँ पाँचवाँ हेतु दैव है उसे कहते हैं संस्कार। जब दैव का संयोग नहीं मिलेगा तो कोई भी कर्म हो ही नहीं सकेगा। कोई दूर देश से भागीरथी धाम आ रहा है और रास्ते में गाड़ी दुर्घटनाग्रस्त हो गई, हाथ–पाँव टूट गये, तो यहाँ तक आने का प्रारब्ध नहीं था। लोग यही कहते हैं मेरे भाग्य में ऐसा ही था। दैव ने साथ नहीं दिया, इसलिए वह पुरुष यहाँ तक नहीं आ सका। वह पाँचवाँ हेतु बहुत बलवान है यद्यपि पाँचों का एक–दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है। सभी अपनी जगह बलवान हैं लेकिन पाँचवें को भगवान ने विशेष बलवान कहा। क्यों विशेष बलवान कहा? क्योंकि शरीर नहीं रहेगा तो भी वह दैव बलवान रहता है। वही दैव कर्म और कर्मफल के संयोग की रचना करता है, आत्मा नहीं। जैसे महाराज के पास आए हुए कुछ साधक ऐसे हैं जो अपने–आप बिना अता–पता के आ गए। जैसे नदी में बहता हुआ पेड़ बहता जा रहा है, बहता जा रहा है, यदि कसाई पकड़ लेता है उस पेड़ को तो बकरा काटने की बलिवेदी बनाता है और यदि उसी लकड़ी को कोई भक्त पकड़ लेता है तो वह भगवान का सिंहासन बनाता है। लकड़ी एक ही है लेकिन दैव को तो देखो, संयोग को तो देखो कि एक लकड़ी बकरे की बलिवेदी बनती है और दुसरी प्रभु

का सिंहासन बनती है। उसीप्रकार अपने–आप ब्रह्मचारीगण भी इस जीव–जगत में घर–गाँव से सद्गुरु के धाम आ गये। ये ऐसी लकड़ियाँ हैं जो भगवान का सिंहासन बन गयी हैं, इनमें भगवान बैठ गया है, ये गीताजी सुन रही हैं, पूजा होने लगी है इनकी, इसे कहते हैं दैव। जब इच्छाएँ प्रकट होती हैं कि चलो संत मिलेंगे तीर्थ में, कोई सिद्ध संत मिलेगा तो वहाँ पर मैं कौन हूँ, भगवान क्या है, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, धर्म–अधर्म क्या है यह पूछूँगा इत्यादि इत्यादि। ये नानाप्रकार की इच्छाएँ हैं और उन इच्छाओं को दैव लाकर संत के पास पूरी कराता है। वह योग लाकर खड़ा कर देता है। आजतक सनातन काल से चला आ रहा है यह दैव, 'न मे भक्तः प्रणश्यति'– अघोरी के पास भी चले जाते आप, तांत्रिक के पास भी चले जाते आप, मांत्रिक के पास भी चले जाते आप, पूर्वजन्म का योग है तभी तो सद्गुरु के पास आते हैं। पूर्वजन्म में भी आपने सात्त्विक साधना की है, ब्रह्म साधना की है, इसी से ब्रह्मकर्म की ही जहाँ प्रधानता है उसी जगह पर वह दैव आपके शरीर को ले जाता है। संसार एक नदी है उस नदी में बहते हुए शरीर सद्गुरु तक आता है। यहाँ आत्मा की तो कोई प्रधानता नहीं दिखाई दे रही है। हाँ, जैसे सूर्य की अध्यक्षता में सारे प्राणी अपने कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण अज्ञानियों का आश्रय अज्ञान है, अज्ञान का आश्रय शरीर है और शरीर का आश्रय यह सगुण–साकार ब्रह्म है जिसे लोग संसार कहते हैं। कोई भक्त इसे विश्वरूप भगवान कहता है और भगवान इसे माया कहते हैं। तो इस मायामय शरीर का आश्रय यह मायामय संसार है और इस मायामय संसार का आश्रय निर्गुण–निराकार ब्रह्म है। अतः माया ही कर्ता है और आप तो निराकार आत्मा हैं। आजतक जितने भी शुभ तथा अशुभ कर्म होते आये उन शुभ–अशुभ कर्मों के होने में पाँच कारण हैं, आत्मा इसका कारण नहीं है इसलिए उस संन्यासी को उसका दोष नहीं लगता। इस दृष्टि से पूर्व के किये हुए सारे कर्म उसकी ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं (गीता अध्याय ४)।

अहर्निश जो इस चिन्तन में है कि क्या सचमुच में मैंने किया है या नहीं किया है, यदि किया है तो पाप लगेगा, नहीं किया है तो पाप नहीं लगेगा। इसप्रकार मैं अकर्ता ही हूँ, इस निर्णय से सम्पूर्ण कर्मविपाक से वह अलग हो जाता है, कर्तापने के घेरे से बाहर आ जाता है। इसी से मानस आदि ग्रंथों में तथा पुराणों एवं शास्त्रों में कहा गया है कि हजारों गायों का वध करके आया है कोई, हजारों ब्राह्मणों का वध करके आया है कोई, गुरुसम्पत्ति चुरा के आया है कोई तो भी जैसे ही सद्गुरु का आश्रय लिया वैसे ही सम्पूर्ण कर्तापने के पाप से मुक्त हो जाता है।

एक बार युद्ध के मैदान की तरफ भी देखते चलें– संसार एक नदी है, उसमें शरीररूपी पेड़ बहते हुए चले जा रहे हैं। अपने–आप बिना किसी प्रयास के संयोग से कभी–कभार दो, चार या पाँच का मिलन हो जाता है और दैववश ही उनका बिछुड़ना भी देखा जाता है। इसमें किसी की भी प्रधानता तो दिखायी नहीं पड़ रही है। इसलिए मानो भगवान महात्मा अर्जुन से कहते हैं कि 'हे पार्थ! इस महाप्रलयंकारी धर्मयुद्ध का आश्रय मैं हूँ, भक्त, संत एवं देवता इसके कर्ता हैं, तुम्हारा शरीर इसका करण–उपकरण है तथा संतों, भक्तों एवं देवताओं की इन नराधम, नीच, असुरों के वध की कामना ही इच्छा है एवं दैव, इन पाँचों के योग से यह नरमेध यज्ञ (धर्मयुद्ध)

सम्पन्न होने जा रहा है। इसलिए तुम अपने को कर्ता मानकर व्यर्थ ही व्यथित क्यों हो रहे हो? हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्मों का आश्रय शरीर है, शरीर का आश्रय यह सगुण–साकार ब्रह्म है, जिसे लोग संसार कहते हैं तथा इस सगुण–साकार ब्रह्म का आश्रय मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म हूँ– जो अकर्ता हूँ तथा वही निर्गुण निराकार आत्मा तुम भी हो। इस न्याय से भी भले–बुरे एवं मिश्रित कर्म तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकते। यह दृष्टि भी तो ज्ञानाग्नि ही है, जिसमें सम्पूर्ण कर्म भस्म होते रहते हैं।'

कभी–कभार न चाहते हुए भी साधक की बुद्धि की योग्यतानुसार किसी वस्तु का आश्रय लेकर ही किसी विषय को प्रकाशित किया जाता है। जैसे दूज के चन्द्रमा को दिखाना हो तो कहते हैं– वह देखो! चन्द्रमा! ऐसा कहने से भी जब उस व्यक्ति को न दिखाई दे तो कहा जाता है कि मेरी उँगली की सीध में देखो अथवा उस पेड़ की उस शाखा के अग्रभाग में देखो। ठीक इसीप्रकार प्रभु ने यद्यपि प्रकृतिवाद का खण्डन कर दिया है तथा ब्रह्मवाद की स्थापना कर दी है लेकिन तो भी जब अर्जुन ने प्रश्न कर ही दिया तब भगवान ने पुनः सांख्यमत का खण्डन कर अपने अभिप्राय का संकेत किया है। शुभ, अशुभ एवं मिश्रित कर्म तो होते ही रहेंगे। इनसे छुटकारा कैसे मिले? इसका भी उपाय प्रभु ने बता दिया है लेकिन अर्जुन के नहीं समझ पाने से पुनः कहते हैं कि शरीर, मन तथा वाणी इनका अधिष्ठान ब्रह्म (विशुद्ध द्रष्टा) है। कर्ता रजोगुणी, सतोगुणी तथा तमोगुणी संस्कार हैं; मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ नानाप्रकार के करण हैं; नानाप्रकार की कामनाएँ चौथा कारण है तथा पाँचवाँ कारण दैव (प्रारब्ध) है। इस न्याय से आत्मा वैसे ही अकर्ता रहता है, जैसे सूर्य की अध्यक्षता में सारे प्राणी अपना–अपना काम करते रहते हैं। वे प्राणी चाहे शुभ कर्म करें अथवा अशुभ, उनके कर्मों से जिसप्रकार सूर्य लिपायमान नहीं होते ठीक उसीप्रकार साक्षी, चेतन आत्मा भी इन पाँचों कारणों से प्रकट होनेवाले शुभाशुभ कर्मों से लिपायमान नहीं होता। जिसप्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा एक ही है वह कभी भी इन अवस्थाओं के प्रकट होने पर शुभाशुभ कर्मों से लिपायमान नहीं होता, उसीप्रकार जो स्वयं को किसी भी काल में अर्थात् हर समय आत्मस्वरूप होने के कारण से अकर्ता ही जानता है उस पुरुष के शरीर, वाणी आदि के द्वारा यदि सम्पूर्ण जगत का संहार भी हो रहा हो तो वह साक्षी बना रहने के कारण से ऐसा नहीं मानता कि मैंने संहार किया है।

भगवान के अनुसार प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता वैसे ही है जैसे सूर्य की अध्यक्षता में सम्पूर्ण प्राणियों की स्वतन्त्रता। किसी भी मनुष्य के द्वारा करते हुए कर्म को सूर्य नहीं कह सकते कि मैंने किया और न ही कोई मनुष्य कहता है कि मेरे कर्म के कर्ता सूर्य हैं। यद्यपि दृष्टान्त कभी द्राष्टान्त की समानता नहीं कर सकता तथापि भगवान को अपने मत के अनुसार कर्मविपाक की झाँकी प्रस्तुत करने में कोई हानि नहीं है। भगवान की दृष्टि में तो उनके (स्वयं के) सिवा कोई है ही नहीं, फिर संख्या से सम्पन्न होनेवाला सांख्यमत कहाँ से आ गया। प्रभु की दृष्टि में तो संसार वैसे ही दिखाई पड़ रहा है जैसे कि रज्जु में सर्प, सीपी में चाँदी, ठूंठ (पेड़) में भूत। प्रभु सोच रहे हैं कि जिस मत का प्रचार–प्रसार मुझे करना ही नहीं चाहिये, उसी मत का आश्रय लेकर अपनी प्रिय आत्मा को समझाना पड़ रहा है। जिसप्रकार क माने कमल, ख माने खरगोश,

ग माने गणेश तो होता ही नहीं लेकिन तो भी छोटे बालक को चूँकि अक्षर का ज्ञान कराना है, अक्षर स्मरण में रहें इसीलिए ऐसी आकृति भी दे दी जाती है। सामवेदीय स्वर विज्ञान में पारंगत हो जाने के उपरान्त सा, रे, ग, म, प, ध, नी; इन सात स्वरों की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि अकार ही सात स्वरों में विभक्त हो जाता है; किन्तु स्वर–विज्ञानी क्या करे, बिना स्वर के वह स्वर का बोध करा ही नहीं पाता। ठीक यही बात भगवान के साथ भी लागू हो रही है। कर्ता, क्रिया, करण–उपकरण तथा कर्म भी एकमात्र वे ही हैं लेकिन क्या करें? ऐसा नहीं समझ पाने के कारण से अर्जुन के सामने प्रकृति को ही कर्ता सिद्ध कर रहे हैं। कहाँ तक कहा जाय, जिस रथ पर भगवान बैठे हुए हैं वह रथ भी उन्हीं का संकल्प है न कि प्रकृति का; क्योंकि युद्धोपरान्त प्रभु ने अर्जुन से कहा– हे पार्थ! यदि तुम अपना भला चाहते हो तो इस रथ से मेरे उतरने के पहले ही अपने अक्षय तरकस एवं गाण्डीव सहित दिव्यास्त्रों को लेकर रथ से उतर जाओ। जब अर्जुन उतर गये तो प्रभु के उस रथ से उतरते ही वह दिव्य रथ पलभर में जलकर राख हो गया। पाँचों पाण्डवों ने उस आश्चर्यमय घटना का रहस्य प्रभु से पूछा। प्रभु ने कहा कि जिसप्रकार मकड़ी स्वयं के लार से जाला बुनती है उसीप्रकार मैंने इस दिव्य रथ को असुरों का विनाश करने के लिये संकल्प से ही प्रकट किया था, अब वह कार्य पूर्ण हुआ अतः वह संकल्प से ही विलीन हो गया। वे ही भगवान प्रकृति के कर्ता नहीं होने पर भी उसे कर्ता बता रहे हैं। महाराज भी उन्हीं की धारा में बहकर इस कर्मतत्त्व को प्रकृति के अनुसार ही खोलने का प्रयत्न कर रहा है–

(अधिष्ठानं तथा कर्ता.....) द्रष्टा ही अधिष्ठान है क्योंकि यदि देखनेवाला न हो तो प्रकृति दिखायेगी ही किसको? जब द्रष्टा है तभी तामस विचार अपना काम करते हैं, राजस एवं सात्त्विक विचार अपना काम करते हैं, लेकिन इन तीनों ही प्रकार के विचारों के लिये करण–उपकरण, इच्छाओं एवं दैव का होना अनिवार्य है अन्यथा विचार, विचार ही रह जायेंगे। वे मानसिक स्तर पर ही तरंगों की भाँति तरंगित होते रहेंगे। जिसप्रकार गीता–भाष्य करने में महाराज के गुरुदेव अधिष्ठान हैं– न उन्होंने गीताजी को महाराज की आत्मा बनाया होता और न यह गीता–भाष्य प्रकट होता। विशुद्ध साधक ही, जिन्होंने गीता भाष्य की माँग की थी वे कर्ता हैं। उनकी आँखें, उनके कान, उनकी मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ करण–उपकरण हैं। गीता भाष्य महाराज के द्वारा सुनने की इच्छा, ये चौथा कारण है एवं संयोग (दैव) अर्थात् महाराज और साधकों का निर्विघ्न मिलन पाँचवाँ कारण है। दैव ने गीता भाष्य होने के पाँच–छः महीनों में दैहिक, दैविक, भौतिक कोई भी उत्पात नहीं होने दिया। इसप्रकार महाराज कह सकता है कि यह भाष्य पञ्चकारणों के उपस्थित होने पर प्रकट हुआ। एक अन्य उदाहरण से भी इस कर्मविपाक को समझें– कोई बद्रीनाथ धाम तीर्थयात्रा करने जाना चाहता है तो उसका अधिष्ठान बद्रीनारायण होंगे, कर्ता उसकी सतोगुणी भावना होगी, तीसरा कारण धन होगा, चौथा कारण दर्शन के साथ–साथ प्रभु से माँगने की नानाप्रकार की कामनाएँ होंगी। इन चारों कारणों के रहने पर भी यदि यात्रा काल में किसी प्रिय की मृत्यु हो गयी या अपना ही अंग–भंग हो गया तो यात्रा नहीं हो सकती है, यह दैव के वश में है। अतः पाँचवाँ कारण दैव ही है। इस न्याय से जो साधक, भक्त स्वयं को कर्ता नहीं मानते वे किसी भी पाप अथवा

पुण्यरूप कर्म से लिपायमान नहीं होते।

अब इस मंत्र का अर्थ दूसरे शब्दों में देखें– शरीर ही अधिष्ठान है, अहंकार ही कर्ता है, नानात्व भाव ही करण है, नानाप्रकार की इच्छायें तथा दैव ये पाँचों किसी भी कर्म के कारण हैं। अब पुनः देखें– स्थूलशरीर आश्रय है, सूक्ष्मशरीर कर्ता है, मन करण है तथा नानाप्रकार की इच्छायें एवं दैव इन पाँचों के मिलने से कोई कर्म सम्पादित होता है। पुनः देखें– सूक्ष्मशरीर आश्रय है, कारणशरीर कर्ता है, बुद्धि करण है, नानाप्रकार की इच्छायें एवं दैव इन पाँचों के योग से ही कोई भी कर्म सम्पन्न होता है। पुनः देखें– कारणशरीर आश्रय है, महाकारणशरीर कर्ता है, चित्त करण है तथा नानाप्रकार की इच्छाएँ एवं दैव; इन पाँचों के योग से ही कोई भी कर्म सम्पन्न होता है। पुनः देखें– महाकारणशरीर आश्रय है, हंसशरीर कर्ता है, प्रज्ञा करण है तथा नानाप्रकार की इच्छाएँ एवं दैव इन पाँचों के योग से ही कोई कर्म सम्पादित होता है। पुनः देखें– हंसशरीर आश्रय है, परमहंसशरीर कर्ता है, संकल्प ही उसका करण है तथा इच्छाएँ एवं दैव इन पाँचों के योग से ही कोई भी कर्म सम्पन्न होता है। पुनः देखें– परमहंसशरीर आश्रय है, कैवल्यशरीर कर्ता है, ॐ ही करण है तथा इच्छाएँ एवं दैव का योग– इन पाँचों के मिलने से ही कोई भी कर्म सम्पन्न होता है। पुनः देखें– माँ आश्रय है, पिता कर्ता है, पुत्र करण है तथा परिवार के लोग इच्छाएँ हैं एवं दैव; इन पाँचों के योग से ही शास्त्रीय तथा अशास्त्रीय कर्म हो रहे हैं।

आत्मरूप से आप ही आश्रय हैं, 'मैं शरीर हूँ' यह भाव ही कर्ता है तथा शरीर सहित इन्द्रियाँ ही करण एवं उपकरण हैं, नानाप्रकार की कामनाएँ एवं दैव इन पाँचों के योग से ही हर कर्म सम्पन्न होते हैं। प्रभु किसी भी भाँति यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि आप किसी भी काल में कर्ता नहीं हो सकते, जैसे यदि आप केवल इतना ही मान लें कि माँ आश्रय है, पिता कर्ता, शरीर एवं इन्द्रियाँ करण–उपकरण हैं, उनकी इच्छायें तथा दैव इन पाँचों के योग से ही जगत–व्यवहार चल रहा है तो भी कर्ताभाव से मुक्त होने में किसीप्रकार की कठिनता नहीं होगी ।

इन पाँचों में दैव निश्चितरूप से बलवान कहा जाता है; क्योंकि शरीर (प्रारब्ध) के नहीं रहने पर भी वह चिदाकाश में या भूताकाश में अपने संकल्प से सृष्टि की रचना कर कर्म एवं भाग्यवाद को खड़ा कर देता है और पुनः इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्रित इन कर्मों का जन्मदाता हो जाता है।

(यस्य नाहङ्कृतो भावो.....) जिसकी बुद्धि में यह भाव नहीं है कि मैं कर्ता हूँ, तो वह इन सम्पूर्ण लोकों को मारकर भी पाप से लिपायमान नहीं होता। इस मंत्र में 'इमाँल्लोकान्' आया हुआ है; यहाँ लोक शब्द शरीर के लिये आया है न कि संसार के लिये। सम्पूर्ण शरीरों में कोई–कोई सात्त्विक लोक कहे जाते हैं, कोई राजस तथा कोई तामस लोक। जैसे भीष्मपितामह सात्त्विकलोक हैं तो द्रोणाचार्य राजसलोक एवं दुर्योधन, कर्ण, अश्वत्थामा आदि तामसलोक हैं। उसीप्रकार मानो भगवान संकेत कर रहे हैं कि जो इन्हें लोक के रूप में देखता है और अपने को अकर्ता तथा उपरोक्त पञ्च कारणों को कर्ता देखता है, वह यह कैसे कहेगा कि मैंने इन्हें मारा या ये मेरे द्वारा मारे गये।

(यस्य नाहङ्कृतो भावो.....) शास्त्र में माँ को पृथ्वी का स्वरूप माना गया है, जो साधक के तीनों लोकों की जननी है। जाग्रत् एक लोक है, स्वप्न दूसरा लोक है तथा सुषुप्ति तीसरा लोक है। इन तीनों लोकरूप शरीर को जन्म देनेवाली माँ को त्यागकर ब्रह्मचारी संन्यास ले लेता है तो भी उसे पाप नहीं लगता। त्याग देना या वध कर देना शास्त्रानुसार एक समान है। ऐसे मातृहन्ता ब्रह्मचारी को पाप के बदले भगवान ही मिल जाता है। दूसरे अर्थों में माता, पिता, धर्मपत्नी ये ही तीन लोक हैं। वह इन्हीं तीनों लोकों को त्यागकर प्रभु के शरणागत हो जाता है और पाप के बदले भगवान को प्राप्त करता है। वह कहता है– मैंने कहाँ त्यागा! आत्मस्वरूप होने से न मैं शरीर हूँ न वे शरीर हैं, न मैं उनका पुत्र हूँ और न मेरे वे माता–पिता आदि हैं। यदि आत्मस्वरूप होकर भी वे अपने को शरीर ही मानते रहें तो उसमें मेरा क्या दोष है!

(तत्रैवं सति कर्तारम्.....) इसप्रकार पाँचों कारणों के द्वारा होते हुए कर्म को मैं ही करता हूँ ऐसा जो मूर्ख कहता है, उसकी बुद्धि अति मलिन है। जब ज्ञानी ज्ञान की बात करता है तब अज्ञानी हँसते हैं कि बड़ा ज्ञानी बन रहा है। यही कारण है कि प्रभु ने अपने ज्ञान को किसी के सामने प्रकट ही नहीं किया और जब अपने प्रिय आत्मा अर्जुन के पास कहने लगे तो प्रथमावस्था में उनके भी उपहास के पात्र बन गये। प्रभु ने यहाँ आत्मीय भाव से सभी को डाँटा–फटकारा है कि जब आप आत्मरूप होने से अकर्ता ही हैं तो क्यों नहीं मानते कि मैंने कुछ किया ही नहीं। जब जान गये तो तत्क्षण ही अकर्ताभाव में स्थित हो जाना चाहिये। स्वप्नलोक में हररोज आप अपने भाई–बान्धव, बाल–बच्चों को मारते हैं अर्थात् जगने के बाद छोड़ देते हैं तो आपको पाप कहाँ लगता है। इस न्याय से जिसकी बुद्धि में ऐसा निर्णय होता ही नहीं कि मैंने किसी को जन्माया, उसका लालन, पालन, पोषण किया और अब वह मर गया तो वह सम्पूर्ण लोकों का परित्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।

(तत्रैवं सति कर्तारम्.....) यहाँ पर आकर विराम मिला है। अब आगे भगवान नारायण और भी कर्म के गुह्यतम रहस्यों को बतायेंगे कि आप कर्ता कैसे नहीं हैं, आपने कभी कर्म कैसे नहीं किया है। इन पाँचों कारणों से कर्म अपने–आप कैसे हो रहे हैं, यह मायावाद कैसे है, स्वप्न में जो वासना कर्म की हेतु होती है वही जाग्रत् में कैसे कर्म की हेतु है, कैसे असत् कर्म का कारण बनती है, इस विषय में तथा कितने प्रकार के दान हैं, कर्म हैं, यज्ञ हैं, तप हैं इत्यादि इत्यादि। क्योंकि राजस, तामस एवं सात्त्विक वृत्तियाँ ही लोक–लोकान्तर में फैली हुई हैं, इसकारण से कर्म भी वैसे के वैसे ही होने चाहिएँ। इसको भगवान विस्तार से बताने की इच्छा से कह रहे हैं कि जो कल के दिन आपको संन्यासी बनानेवाला है, संन्यासी बनाकर सबकुछ देनेवाला है वह तो देकर रहेगा चाहे आप घर में संन्यासी बनें, चाहे घर छोड़कर संन्यासी बनें बात बराबर है, अरे! बात तो भगवान के सर्वस्व होने की है। यह ऐसा ज्ञान है जिससे कि महात्मा अर्जुन युद्ध करेंगे लेकिन इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित कर्म का फल उन्हें नहीं मिलेगा।

महात्मा संजय ने भी इस परिभाषा को सुना है और इस विज्ञान को यह कहकर कि हे राजन्! सुना आपने!

कहा धृतराष्ट्र ने– अंधे के पास तुम व्यंग क्यों बोल रहे हो? बोलो! माधव ने क्या कहा? बोलो!

भगवान ने जो कुछ भी कहा था संजय ने वह सुना दिया।

धृतराष्ट्र ने कहा कि संजय! यह विलक्षण बात है कि आत्मा अकर्ता भी है कर्ता ही नहीं है, केवल शरीर भी कर्ता नहीं है; यह रहस्यमय बात है। इस पहेली पर ध्यान दो, एक बार फिर से बता दो! देखो तो अर्जुन की इस समय स्थिति क्या है?

संजय ने कहा– राजन्! जैसे कोई आभा आ गयी हो सद्गुरु के पास परम ज्ञान को प्राप्त हुए किसी शिष्य के चेहरे पर, वैसे ही उनके चेहरे पर भी आभा आ गयी है। पूर्व में जो भयभीत थे, उन महात्मा अर्जुन ने लगता है अब जान लिया है कि अबतक मैंने कुछ नहीं किया और अब करूँगा भी नहीं। जैसे अभी सूरज तो आया ही नहीं राजन् लेकिन अंधकार है ही नहीं, उसीप्रकार अभी सारे प्रश्नों का उत्तर तो मिला ही नहीं लेकिन लगता है कि महात्मा अर्जुन अति सन्तुष्ट हो गये हैं। ऐसी नानाप्रकार की किन मुद्राओं से वे मुद्रित नहीं हैं। अतः किस मुद्रा का बखान करूँ राजन्! प्रतिपल मुद्रा बदल रही है, क्योंकि प्रभु द्वारा प्रतिपल ज्ञान की गंगा बह रही है। अतः उसी के अनुरूप प्रतिपल उनकी मुद्रा भी बदल रही है।

तो ठीक है आगे देखो, अब भगवान नारायण आगे की प्रस्तावना क्या देते हैं?

विचार तो दोनों तरफ चल रहे हैं– भगवान के भी मन में और महात्मा अर्जुन के भी मन में। जैसे महाराज जब बोल रहा है तो आपलोगों में से भी किसी–किसी के मन में विचार आ जाते हैं, वैसे ही जैसे एक साधक और महाराज में विवाद खड़ा हो गया दूसरे अध्याय में जिसे महाराज मानने को राजी नहीं और साधक भी मानने को राजी नहीं है कि भविष्य की बात आप इसमें क्यों लिखायेंगे! महाराज कहता है– इसलिए लिखायेंगे क्योंकि युद्ध के मैदान में भगवान ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की बात क्यों करेंगे? उन्हें युद्ध की बात करनी चाहिए! ये विषयान्तर नहीं हुआ क्या? विषय है युद्ध का लेकिन ज्ञान करो, ध्यान करो फिर युद्ध करो, ज्ञान करो, ध्यान करो फिर युद्ध करो, ये तो कोई बात हुई नहीं!

तस्माद्युध्यस्व भारत, तस्माद्युध्यस्व भारत, तस्माद्युध्यस्व भारत, यह तो कोई प्रवचन है नहीं कि ज्ञान, ध्यान की बात करते–करते फिर कहना कि युद्ध करो, यह कहाँ की बात है, ऐसा भगवान पर आक्षेप किया जा सकता है लेकिन जो भगवद्भक्त हैं वे आक्षेप नहीं करेंगे। विषयान्तर, विषयान्तर, विषयान्तर, योग की बात करने की तो आवश्यकता ही नहीं थी, आत्मसंयम योग की बात करने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि युद्ध के मैदान में अर्जुन बैठे हुए हैं, कभी खड़े होते हैं, वहाँ पर तो समय भी नहीं है और विषयान्तर से विषयान्तर हो जाना यह बहुत बड़ा दोष है लेकिन प्रभु ने इस बात पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया कि लोग क्या कहेंगे। विषमस्थल में खड़े हैं और समस्थल की बात कर रहे हैं। उसीप्रकार अर्जुन भी ब्रह्म के सामने हैं और विषमब्रह्म की बात कर रहे हैं। इसप्रकार विषयान्तर हो जाता है। दूध जिसको नहीं पचता इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूध खराब है बल्कि उसका पेट ही खराब है। वैसे ही जिसको जो विषय समझ

में नहीं आता तो जान लेना चाहिए कि उसकी बुद्धि अभी समझने में सक्षम नहीं है। 'यस्य नाहङ्कृतो भावः' पर महात्मा अर्जुन हँस पड़े, व्यंग्यात्मक हँसी हँस दी कि जब आप पर पड़ेगा तब पता चलेगा जबकि उनके सामने नारायणी सेना खड़ी ही है तो भी अर्जुन के मन में यह बात बार–बार कौंध जाती है कि इनके स्वजन होते तब पता चलता। विस्मृति हो जाती है आत्मस्मृति की। आत्मविस्मृति हो जाने से जीव की स्मृति आ जाती है। जीव अभी कुछ और है और कुछ क्षण के बाद कुछ और हो जाएगा, अभी रोएगा कुछ देर में हँसेगा। भगवान नारायण ने जब कहा है कि जो उपरोक्त तत्त्व को जानता है वह 'त्रिलोकी का वध करके भी वध के दोष से लिपायमान नहीं होता, ये लोक ही क्या, त्रिलोकी का तुच्छ से तुच्छ प्राणी भी उसके शरीर का वध करना चाहे तो भी उसके मन में खेद नहीं होगा।' प्रभु ने जब ऐसा कहा है तो करके भी दिखाया है। शरीर छोड़ते समय जब वे सम्पूर्ण वृत्तियों को संकल्पबल से अपने कारण में विलीन कर परम द्रष्टारूप हो गये थे उसी समय बहेलिये ने हिरण समझकर बाण चलाया था और प्रभु ने कहा– तुमने मुझे नहीं मारा। मुझे मार भी कौन सकता है अतः तुम चिन्ता न करो।

इसका और भी स्पष्टीकरण करने के लिये भगवान कह रहे हैं कि

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

हे पार्थ! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; ये तीनों ही कर्म के प्रेरक होते हैं तथा कर्ता, करण एवं क्रिया ये तीनों मिलकर, कर्म का संग्रह कर लेते हैं। इसी कारण ज्ञान, कर्म तथा कर्ता भी तीन प्रकार के पुरुषों के कारण तीन प्रकार के हो जाते हैं।

(ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता.....) परिज्ञाता कहते हैं जाननेवाले को, ज्ञेय कहते हैं जानने में आनेवाली वस्तु को और ज्ञान कहते हैं जिसके द्वारा जाना जाये। जब इन तीनों का संयोग होता है तो कर्म करने की प्रेरणा भीतर से उत्पन्न होती है। आपकी अध्यक्षता में ज्ञेय वस्तु है आपका अकर्तापना, आपका द्रष्टापना। द्रष्टापने को जाननेवाला कौन है? वह है आपकी बुद्धि तथा जिसके द्वारा जाना जाये वह है गीताजी का ज्ञान अथवा यों कहें कि अध्यात्मज्ञान।

अब आपको कौतूहल हो सकता है कि जाननेवाली बुद्धि क्यों है, हम क्यों नहीं? वह इसलिए कि आप आत्मा हैं न, तथा आत्मा जानने न जानने से परे है। वह स्वयं से स्वयं को तो जानता ही रहता है, इसी तथ्य को तो यहाँ पर प्रकाशित करना है। कर्म के रहस्यात्मक विषय को जानकर बुद्धि का ही मोक्ष होता है, न कि आत्मा का। बन्धन का भी अनुभव बुद्धि करती है, न कि आत्मा। भगवान को अद्वैत की सिद्धि ही अभीष्ट है तथा द्वैत का निराकरण करना है। तो भगवान के अद्वैत और सांख्यमत में क्या अन्तर है? हाँ, यही कि अद्वैत में माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और सांख्य मतानुसार माया की स्वतन्त्र सत्ता है। अद्वैतवादी कहते हैं

कि रज्जु में सर्प कभी किसी काल में जन्म लिया ही नहीं तो सांख्यवादी कहते हैं कि भले ही रस्सी सर्प नहीं है लेकिन रस्सी के कारण सर्प की सत्यता तो सिद्ध हो ही रही है। अद्वैतवादी कहते हैं कि सूर्य एवं सूर्य की किरणों में कोई अन्तर नहीं है, जल एवं बर्फ में कोई अन्तर नहीं है, मिट्टी तथा घड़े में कोई अन्तर नहीं है तो सांख्यवादी कहते हैं कि यह तो यही बात हो गयी कि पिता एवं पुत्र में कोई अन्तर ही नहीं है, जबकि पिता राक्षस है तो पुत्र भक्त है या पुत्र राक्षस है तो पिता भक्त है। जब दोनों एक जातीय होते हुए स्वभाव से द्विजातीय हों तो अन्तर क्यों नहीं माना जायेगा? इस न्याय से पुत्र सम्पूर्णता से स्वतन्त्र है, वह अपने ढंग से सृजन, संहार एवं पालन कर रहा है एवं पिता वहाँ पर मूक द्रष्टा बना हुआ है। पुनः सांख्यवादी दूसरा उदाहरण देते हैं कि स्पष्ट ही दिखायी पड़ रहा है कि पृथ्वी की अपेक्षा जड़ी–बूटियों की स्वतन्त्र सत्ता है ही तथा पृथ्वी द्रष्टा है। वे यह भी कहते हैं कि मानो सूर्य ब्रह्म है एवं मनुष्य उसकी प्रकृति है– सूर्य द्रष्टा है एवं मनुष्यरूप प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता है। इसके विपरीत अद्वैतवादी कहते हैं कि जब भूकम्प आता है, सभी धराशायी हो जाते हैं तो वे उस समय क्यों नहीं कर्ता होते और यदि वे कहते हैं कि त्रिगुण ही कर्ता हैं तो संतों पर वे तीनों गुण प्रभाव क्यों नहीं डालते? स्वयं सांख्यकार भगवान कपिल के अधिकार में तो वे तीनों गुण थे ही, फिर वे किस न्याय से कहते हैं कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता है।

एक दिन पुष्करानन्द ने बताया कि गुरुदेव! मैंने पढ़ा था कि सांख्य नास्तिक दर्शन है। महाराज ने कहा– नहीं, नहीं! एक मात्र प्रकृति को ही स्वतन्त्र कर्ता मान लेने से सांख्यमत अनीश्वरवादी नहीं सिद्ध होता। स्वयं भगवान कपिल अपने–आपको शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा मानते हैं फिर वे अनीश्वरवादी तथा सांख्य मत नास्तिक दर्शन कैसे हो सकता है? एकमात्र देवी–देवताओं का उल्लेख नहीं करने मात्र से ही सांख्य अनीश्वरवादी नहीं सिद्ध होता। सांख्यमत तो अद्वैत के अति निकट है, इसलिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने दूसरे अध्याय, पाँचवें अध्याय तथा इस अट्ठारहवें अध्याय में इसके माध्यम से भी अर्जुन को समझाने–बुझाने का प्रयत्न किया है। रही बात देवताओं के न मानने की तो उस समय एकमात्र आद्य शक्ति और ज्योतिर्लिंग की उपासना होती है, जिस समय भगवान कपिल का प्राकट्य हुआ है। उस समय वे किसका उल्लेख करते; क्योंकि उस समय तो श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि का अवतरण हुआ ही नहीं था। उस समय तप एवं ध्यान की ही प्रधानता थी। इसलिए उनका प्रयास है कि शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा को छेड़ा ही न जाय तथा प्रकृति के दोष को उजागर कर दिया जाय। भगवान नारायण ने इसीकारण से सांख्यमत का समर्थन किया है कि साधक स्वयं को कर्ता न मानकर कम से कम प्रकृति को ही कर्ता माने।

अद्वैतवादी कहते हैं कि स्वप्न के मनुष्य यदि कर्ता होते तो जागने के बाद भी कर्ता होते लेकिन जगने के बाद तो उनकी सत्ता है ही नहीं। अतः जो द्रष्टा है उसी की सत्ता स्वप्न में होने से स्वप्न के दृश्य कर्ता जैसे दीखते हैं, जबकि वे दृश्य उसी की वासना होने के कारण से निर्गुण ही हैं। यहाँ तक प्रभु ने आपको अकर्ता सिद्ध कर दिया तथा 'ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय' को प्रकृति के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया।

आप जो कहते हैं कि मैं कर्ता हूँ तो यह आप नहीं कह रहे हैं अपितु आपकी मूर्खता ही यहाँ पर ज्ञाता बन रही है लेकिन कोई बात नहीं। चलें सत्संग ही यहाँ पर ज्ञान है, जिसके द्वारा आपकी मूर्खता ज्ञेयवस्तु को जानती है और गीताजी ही ज्ञेयवस्तु हैं जिससे वह मूर्खता प्रबुद्धता में बदल जाती है। महाराज कहता है कि नहीं यह एक संयोग है क्योंकि आत्मा तो परम ज्ञानी है, सर्वज्ञ है उसे तो सुनने–जानने की आवश्यकता ही नहीं है और शरीर सम्पूर्णता से अज्ञानी ही है, इसको सुनने–जानने की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए दोनों के बीच में आप व्यर्थ ही क्यों प्रवेश कर रहे हैं। तो फिर आप ही बतायें कि हम दोनों के बीच में क्या है? इसका उत्तर है कि जन्म–जन्मान्तर से आपने संस्कारों को अपना संस्कार मान लिया, विचारों को अपना विचार मान लिया। जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश से आपकी आँखें देखती हैं लेकिन मूर्खतावश कहते हैं कि मैं देखता हूँ। सूर्य कभी नहीं कहता कि आपकी आँखों से मैं देखता हूँ उसीप्रकार सूर्य की ही भाँति आप साक्षी हैं, द्रष्टा हैं। आपके द्रष्टापने के रूप में स्थित होने से जो पूर्व का संस्कार है, वही कर्ता का भाव, जानने का भाव लिये हुए आपके सामने खड़ा हो जाता है। वह संस्कार ही कहता है कि गीताजी मैंने सुना है लेकिन आप को लगता है कि मैंने सुना है।

(.....करणं कर्म कर्तेति.....) आपकी अध्यक्षता में आँखों के माध्यम से संस्कार देखता है, जैसे शरीर सो जाता है और आपकी वासना स्वप्नलोक बन जाती है, अतः आँखें होते हुए भी देख नहीं पातीं। यही नहीं, यदि आप जाग्रदवस्था में ही हैं लेकिन आँखों में रोशनी नहीं है अथवा दृष्टिहीन हैं तो भी आँखें देख नहीं पातीं। इसलिए एक आँख, दूसरा पूर्वजन्म के संस्कार तथा तीसरा इस जन्म के कर्म ये तीनों ही दृष्टिरूप कर्म को संचित करते हैं। जब भीतर से यह कामना प्रकट होती है कि मैं अमुक कर्म करूँ तो इस कामना को ही यहाँ कर्म कहा गया है। पूर्वजन्म की जब–जब इच्छा प्रकट होती है तो उसी इच्छा से वर्तमान कर्म इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित होते हैं। इसप्रकार जब तीनों का योग होता है तब कर्म से कर्म का संग्रह होता है। जैसे कम्पोस्ट गड्ढा है, झाड़ू है एवं कूड़ा–करकट है तो स्वाभाविक ही झाड़ू के द्वारा कूड़ा–करकट इकट्ठाकर, कम्पोस्ट गड्ढे में डाला जायेगा। कूड़े–करकट को, कूड़े–करकट (कम्पोस्ट) में ही डाला जाता है, उसीप्रकार कर्म ही कर्म को संचित करता है। इस न्याय से इन्द्रियाँ करण हैं, संस्कार कर्ता है एवं कर्म वर्तमान कालिक कर्म हैं। जब आपके भीतर में क, च, ट, त, प; अ, ई, ऊ– व्यंजन तथा स्वर पूर्व से विद्यमान हैं, तभी शब्द विज्ञान को आप समझकर संचित कर पाते हैं। यदि आपको अंग्रेजी वर्णमाला की जानकारी है ही नहीं तो कोई अंग्रेजी में बोलता रहे, आपके मन में अथवा इन्द्रियों में उन शब्दों का संग्रह होगा ही नहीं। इसप्रकार भगवान नारायण ने सांख्यमत के द्वारा आप अकर्ता ही हैं, ऐसा सिद्ध कर दिया।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा कर्ता, कर्म, करण को समझाने के लिये महाराज ने एक रेखाचित्र खींचा है, जिससे आप भलीभाँति इस रहस्य का गणित कर सकते हैं–

परिज्ञाता	*ज्ञान*	*ज्ञेय*	*कर्ता*	*करण*	*कर्म*
ब्रह्म	संकल्प शक्ति	प्रकृति (आद्यशक्ति)	त्रिगुण	प्रारब्ध (अज्ञान)	सृजन, संहार, पालन
ॐ	विश्वरूप	तिर्यग्योनियाँ	संकल्पशक्ति	प्रकृतिरूप बीज	विविधरूप धारण करना
ब्रह्मचारी	जप,तप,योगादि	ब्रह्मविद्या	श्रद्धा	ब्रह्मचर्य	समाधि
ऋषि	दिव्यदृष्टि	वेद	ब्रह्म प्रेरणा	प्रज्ञा	ऋचा (मंत्र)
आकाश	शब्द	वायु	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	सृजन
वायु	स्पर्श	अग्नि	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	सृजन
अग्नि(तेज)	रूप	जल	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	सृजन
जल	रस	पृथ्वी	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	सृजन
पृथ्वी	गन्ध	पेड़, पौधे आदि तथा पृथ्वी से उत्पन्न प्राणी, जैसेः—केंचुआ, दीमक आदि	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	सृजन
बीज	वृक्ष	फूल	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	फल
औषधियाँ	गुण	रोग	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	रोग निदान
पशु	अज्ञान	बन्धन	प्रारब्ध	शक्ति	मनुष्य के काम आना
पक्षी	अज्ञान	स्वतन्त्रता	प्रारब्ध	क्षुधा	दिन भर खाना
देवता	संकल्पशक्ति	सुख व ऐश्वर्य भोग	इच्छाशक्ति	इच्छाशक्ति	मनुष्य का भला या बुरा करना
ॐ	कैवल्यशरीर	द्रष्टापना	इच्छाशक्ति	प्रारब्ध	परमहंस शरीर
परम हंसशरीर	हंसशरीर	अहं ब्रह्मास्मि	इच्छाशक्ति	प्रारब्ध	जगत कल्याण
हंसशरीर	महाकारणशरीर	ज्ञान समाधि	धारणा	ध्यान	साधना में लगे रहना
महाकारणशरीर	कारणशरीर	धारणा	ब्रह्मचिन्तन	सद्गुरु	धारणा
कारणशरीर	सूक्ष्मशरीर	वैराग्य	जप	सद्गुरु	तप
सूक्ष्मशरीर	स्थूलशरीर	ब्रह्म जिज्ञासा	सेवा, शुश्रूषा	सद्गुरु	अनासक्ति
स्थूलशरीर	अज्ञान	संसार	प्रारब्ध	मूर्खता	सुख—दुःख
शम	दम	उपरति	तितिक्षा	श्रद्धा	समाधान
माता	पिता	पुत्र	रजोगुण	काम	अज्ञान
सद्गुरु	समाधि	वरदान एवं शाप देने की शक्ति	त्याग	ब्रह्मविद्या का प्रचार प्रसार	शिष्य
आप	बुद्धि	मन	इच्छायें	इन्द्रियाँ	आपका शरीर

(ज्ञानं कर्म च कर्ता च.....) इसी तत्त्व को समझाने के लिये प्रभु ने ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि,

धृति एवं सुख के तीन–तीन भेद बताये हैं। स्वर्ग से लेकर यहाँ तक सात्त्विक, राजस एवं तामस ये तीन प्रकार के ही पुरुष पाये जाते हैं, जिनकी प्रकृति अहर्निश चलायमान रहती है; तो इस पर ध्यान दें–

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

जब साधक एवं भक्त सम्पूर्ण प्राणिपदार्थों में एक ही आत्मा को रमण करता हुआ जानते हैं तो उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान कहा जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा पृथक्–पृथक् है– यह ज्ञान राजस है तथा यह शरीर ही आत्मा है– यह तामस ज्ञान है।

(सर्वभूतेषु येनैकं.....) जिसप्रकार एक ही आकाश सम्पूर्ण घड़ों में, मठों में, कुओं में होते हुए भी घटाकाश, मठाकाश, कूपाकाश नाम से विख्यात है, उसीप्रकार भक्त ऐसा अनुभव करते हैं कि निर्गुण–निराकार ब्रह्म चींटी से लेकर हाथी तक, मनुष्य से लेकर देवता तक, सबमें एक समान विद्यमान है।

भक्त प्रह्लाद ने विष्णु भगवान से विनोद किया कि आप पहले नरसिंहरूप में क्यों आये थे? जबकि मैं तो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का ही जाप करता था, अतः आपको इसी रूप में ही पहले आना चाहिये था। तो भगवान ने भी विनोद किया कि मैं सबमें विद्यमान हूँ न! इसलिए आते समय सोचा कि सिर बना लूँ सिंह का, आँख बना लूँ हाथी का, कान बना लूँ गधे का, मुख बना लूँ घोड़े का, गर्दन बना लूँ ऊँट का, हाथ बना लूँ सर्प का, पेट बना लूँ बैल का, पाँव बना लूँ मनुष्य का; लेकिन ऐसा करने पर तुम्हारा पापरूप हिरण्यकशिपु तो देखते ही भाग खड़ा होता। वास्तव में तो उसने वरदान माँगा था कि मैं देवता, मनुष्य, पशु–पक्षी किसी से न मरुँ।

सर्वप्रथम महात्मा प्रह्लाद ने 'सम्पूर्ण भूत प्राणियों में भगवान विष्णु ही विद्यमान हैं' ऐसी कल्पना करके ध्यान किया है। उसी कारण से निर्गुण–निराकार ब्रह्म दूसरी बार विष्णुरूप में प्रकट हुआ। जब भगवान ने उनसे वरदान माँगने को कहा, तब उन्होंने आत्मज्ञान माँगा था।

(पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं.....) सम्पूर्ण भूतप्राणियों में आत्मा अलग–अलग है, ऐसा मानना राजस ज्ञान कहलाता है। आप सभी जानते हैं कि कोई शिव के रूप में, कोई विष्णु के रूप में, कोई सद्गुरु के रूप में, कोई देवी के रूप में, कोई देवता के रूप में– भगवान को मानता है। यद्यपि पृथक्–पृथक् पुरुषों में पृथक्–पृथक् भावना के द्वारा अनेक देवी–देवताओं की कल्पना हो गयी है, तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि आपके हृदय में कम से कम कोई तुच्छ प्राणी तो वास

नहीं कर रहा है तथा आप दूसरे के भगवान का विरोध भी नहीं कर रहे हैं। अतः कालान्तर में आपका भगवान भी तो व्यापक होगा ही होगा, तत्पश्चात् वह यही बतायेगा कि सभी भगवानों के रूप में मैं ही हूँ। इतना ही नहीं, सबमें वह एक ही रूपवाला होकर सात्त्विक ज्ञान बन जायेगा।

(यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्.....) मैं शरीर हूँ, मैं ही खाता–पीता, सोता–जागता हूँ आदि– यह तामस ज्ञान है। उनका शरीर तामस, मन तामस, बुद्धि तामस होने के कारण से अज्ञान ही ज्ञान जैसा लगने लगता है। तामसी पुरुष कहता है कि मैं शरीररूप से आत्मा हूँ एवं इस मूर्ति में मेरा भगवान है, तो भी उसके इस ज्ञान को अस्वीकार नहीं किया गया इसलिए कि कम से कम मूर्ति में तो भगवान को मानता है या मूर्ति को तो भगवान मानता है। किसी बच्चे से पूछेंगे कि भगवान कहाँ रहता है तो कहेगा कि मन्दिर में भगवान है। उससे आगे बढ़ने पर वह कहेगा कि मन में भगवान रहता है। इसीप्रकार वह सात्त्विक ज्ञान फिर परम ज्ञान तक पहुँच जाता है।

(.....अतत्त्वार्थवदल्पं च.....) प्रभु को तामस ज्ञान अच्छा नहीं लगा इसलिए उन्होंने कटु आलोचना कर दी कि वह कैसा मूर्ख है जो तत्त्व है उसे अतत्त्व कह रहा है एवं जो अतत्त्व है उसे तत्त्व कह रहा है। वह शरीर है ही नहीं और कह रहा है कि मैं शरीर हूँ और मुझ शुद्ध, साक्षी, चेतन तत्त्व को मूर्ति बना दिया। शरीररूप से अपने को आत्मा समझ लिया और पत्थर की मूर्ति को परमात्मा समझ लिया। उसने सत्य सनातन धर्म के विरोधियों के मत को स्वीकार कर लिया। उनमें से एक के मतानुसार जितना बड़ा शरीर है उतना ही बड़ी आत्मा है तथा उदाहरण देते हैं कि यदि एक हाथ लम्बी लकड़ी है तो अग्नि भी उतनी ही लम्बाई में होने के कारण से एक हाथ लम्बी है, इस न्याय से आत्मा भी शरीर के बराबर ही है। इस सिद्धान्त के अनुगामियों ने अपने गुरु को अवतार मान लिया है और मूर्ति के रूप में पूजते हैं। जब किसी को अपने सिद्धान्त का व्यापक प्रचार–प्रसार करना होता है तो सर्वप्रथम सनातन धर्म पर ही कुठाराघात करते हैं। वे कहते हैं कि अपने स्वरूप का बोध घोर तप से ही होता है। अतः एकमात्र तप ही उनका स्वामी बन जाता है।

हे पार्थ! उन मूर्खों को कौन समझाये, तुमको तो मैंने समझा लिया। यद्यपि उनको भी भरी सभा में मैं दूत बनकर इसी ज्ञान को समझाने की चेष्टा में था लेकिन उन मूर्खों ने मुझे ही समझाना प्रारम्भ कर दिया। भक्त अर्जुन ने हँसते हुए कहा कि हे प्रभु! आप उन मूर्खों को समझाने क्यों चले गये? प्रभु ने कहा– क्या करूँ मैं तो इन पितृभक्त पितामह तथा गुरुभक्त आचार्यद्रोण के चलते गया था ताकि वे यह न कहें कि माधव ने हमलोगों को समझाया तक नहीं। महात्मा अर्जुन मन ही मन हँसते हुए कह रहे हैं कि कहीं अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये तो नहीं ज्ञान दे रहे हैं क्योंकि इस ज्ञान को पहले ही मुझे क्यों नहीं दिया। प्रभु ने मन की बात जान ली, अतः कहा कि यदि ऐसी बात होती तो मैं अन्यथा ज्ञान भी तो दे सकता था! रही बात पूर्व में बताने की तो यह ज्ञान बताने से नहीं मिलता, सद्गुरु की आज्ञापालन से मिलता है। ज्ञान सद्गुरु की आज्ञा में बसता है। वह जब आवश्यकता समझता है तब कृपा कर देता है। जैसे

किसान तैयार किये हुए खेत में बीज बोता है उसीप्रकार जब साधक का तन, मन, वचन पवित्र हो जाता है तो उसमें आध्यात्मिक श्रद्धा जग जाती है, वह समझ लेता है कि अब साधक को मैं जो कुछ भी कहूँगा उसे अविश्वास नहीं होगा तब उसे आध्यात्मिक ज्ञान देने लगता है।

लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व महाराज ने आत्मानन्द से कहा कि अमुक संत ब्रह्म हैं। आत्मानन्द ने कहा कि कैसे मान लूँ कि वे ब्रह्म हैं? तो महाराज ने कहा कि चलो अमुक संत को तो मान लो! उन्होंने कहा कि कैसे मान लूँ कि वे भी ब्रह्म हैं । ब्रह्म मान लेना इतना सस्ता बना रखा है आपने! हाँ; उन लोगों को सिद्ध मानता हूँ। महाराज ने कहा कि 'ॐ' को ब्रह्म मानते ही नहीं हो, अपने को ब्रह्म मानते ही नहीं हो, संतों में से किसी भी संत को ब्रह्म मानते ही नहीं हो तो तुम मानते किसको हो? उन्होंने कहा कि जब अपने–आप अनुभव होगा तो बताऊँगा। महाराज ने कहा– चलो यह भी बड़ी बात है कि कम से कम संतों को सिद्ध तो मानते हो!

महाराज की यह सोची–समझी गुप्त योजना थी कि कम से कम ये संतों को तो मानें। संतों को मानते–मानते कालान्तर में साधक संत तो हो ही जाता है, फिर तो जान ही लेता है कि ब्रह्म क्या है, क्या नहीं है। इसलिए तामस ज्ञान को भी भगवान ने ज्ञान की श्रेणी में रख दिया अन्यथा तामस ज्ञान को किसी भी आचार्य ने ज्ञान की श्रेणी में रखा ही नहीं। यही कारण है कि भगवान ने मूर्ति स्थापना को भी स्वीकार कर लिया; क्योंकि धीरे–धीरे मूर्ति के माध्यम से ही श्रद्धा प्रकट हो जायेगी तथा वही श्रद्धा कालान्तर में श्रद्धेय को प्रकट कर देगी। बात तो सही ही है कि वह मूर्ति तो भगवान नहीं है लेकिन मूर्ति के भीतर–बाहर तो भगवान है ही। भक्त भले ही उसमें भगवान को न देख पा रहा हो लेकिन भगवान तो भक्त को देख ही रहा है जो कालान्तर में उस मूर्ति के माध्यम से ही कृपा कर देगा।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥

जो न कुशल कर्म में आसक्त होता है न अकुशल से द्वेष करता है ऐसे निष्कामी पुरुष द्वारा किये गये स्वाभाविक कर्म को सात्त्विक कहा जाता है, परन्तु जो अहंकार एवं कामना तथा बहुत परिश्रम से किया जानेवाला है ऐसा कर्म राजस कहा जाता है तथा परिणाम को न देखकर, हानि तथा हिंसा एवं सामर्थ्य पर विचार किये बिना मूर्खतापूर्वक किया जानेवाला कर्म तामस कहा जाता है।

यहाँ चौबीस घण्टे कर्म करने की बात नहीं कही गयी है, क्योंकि साधक जब सूक्ष्म कर्म

में प्रवृत्त रहता है तो स्थूल कर्म में वासना रहती ही नहीं है अर्थात् जब जप, तप, योग में तन, मन, वचन, हृदय भलीभाँति संलग्न हो जाते हैं, तल्लीन एवं लवलीन हो जाते हैं तो स्थूल कर्म की ओर मन भागता ही नहीं है, सहज ही उससे अनासक्ति आती है। कम से कम स्थूल कर्म से जब साधक अच्छीप्रकार राग–द्वेषरहित हो गया है तो सूक्ष्म कर्म में प्रतिष्ठा हो ही जाती है। कोई चाहे कि स्थूल–सूक्ष्म तथा कारण कर्मों से एकसाथ अनासक्ति हो जाय तो ऐसा कभी किसी साधक के साथ हुआ ही नहीं है। साधक जब विश्वास कर लेता है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ और न ही कर्मों का कर्ता हूँ तो उसके द्वारा नित्य कर्म ही होते हैं, नैमित्तिक की तो बात ही नहीं है तथा नैमित्तिक कर्म नहीं हो रहा है तो फिर कर्मों से प्रीति अथवा द्वेष कैसा?

महाराज ने एक साधक को देखा है, वह वर्ष भर जंगल में पन्द्रह–सोलह घण्टे ध्यान करता था लेकिन जब अपने सद्गुरु के पास किसी विशेष अवसर पर जाता था तो वहाँ उनकी सेवा–शुश्रूषा में सहज ही सारा समय देता। उनके पास बैठे रहना, कभी उनके द्वारा कहे गये सत्संग को लिखना, नित्य ही उनका सत्संग सुनना, अन्य गुरु भाइयों के साथ आध्यात्मिक चर्चा करना, समयानुसार गुरुदेव को शौच–स्नान कराना, उनके सोने के बाद सोना इत्यादि। उन दिनों यही उसकी दिनचर्या होती थी और उनके पास से जंगल में जाने पर दिनो–रात ध्यान–समाधि में सहज ही प्रवृत्त हो जाना, उसकी विलक्षण स्थिति थी। महाराज उससे पूछता कि यह सिद्धि तुम्हें कैसे मिली कि सद्गुरु के पास जाते हो तो ब्रह्मचारी जैसे हो जाते हो और जंगल में सिद्धसाधक हो जाते हो तथा गुरुजी के पास चौबीस घण्टे कर्मयोगी एवं ज्ञानयोगी हो जाते हो और वहाँ से आने के बाद चौबीस घण्टे ध्यानयोगी हो जाते हो। वह साधक कहता कि जब गुरुजी ने बता ही दिया कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ तो न मेरा कर्मयोग है न ज्ञानयोग है और न ही यह चौबीस घण्टे का ध्यानयोग है। आखिर जंगल में मैं करूँ तो क्या करूँ? मैं अपने–आप में रहता हूँ तथा मन के पास कोई काम नहीं है सो वह बुद्धि में विलीन हो जाता है। बुद्धि को कुछ निर्णय करना है नहीं, सब निर्णय हो चुका है सो वह मुझ द्रष्टा में विलीन हो जाती है। तुम समझते हो कि मैं ध्यान करता हूँ और मैं समझता हूँ कि मन, बुद्धि और चित्त ही मेरा ध्यान कर रहे हैं। रही बात शरीर के सदा आसन में बैठे रहने की तो बेचारा यह जड़ क्या करे? इसका स्वामी मन तो अपने कारण में विलीन हो जाता है तो यह सम शान्त बैठा रहता है। समयानुसार स्नान, शौच, भोजन प्रसाद हो ही जाता है। यदि आप पूछते हैं कि चौबीस घण्टे में एक ही बार सही आप फल–दूध क्यों लेते हैं? तो यह शरीर का धर्म है, खानेवाले एवं खिलानेवाले से पूछो; खिलाने–पिलानेवाले समय पर आकर खिला–पिला देते हैं। भूखा रहने का तो कुछ प्रयोजन रह नहीं जाता, इसलिए बेचारा यह शरीर नामक पुरुष खा–पी लेता है। जब ऐसी बात है तो दो–तीन बार यह क्यों नहीं खाता? अरे! यह हल चलायेगा तब तो इतना खायेगा या जप या स्वाध्याय करे तब तो विशेष खा पायेगा!

पुष्करानन्द ने प्रश्न किया था कि गुरुजी! सद्गुरु के पास कर्मयोगी और ध्यानयोगी दो प्रकार के साधक हैं, उनमें ध्यानयोगी तो सदा ब्रह्मचिन्तन में एवं सद्गुरु के निर्गुण–निराकाररूप के ध्यान में लगा रहेगा लेकिन जो चौबीस घण्टे उनकी सेवा–शुश्रूषा में लगा रहेगा वह अहर्निश

ब्रह्मचिन्तन कैसे करेगा? हाँ! यही तो विलक्षण बात है कि सद्गुरु को अहर्निश ब्रह्मरूप में देखकर सेवा करने से ब्रह्मचिन्तन का फल मिल ही जाता है। पुनः उसने प्रश्न किया था कि वह सद्गुरु के प्रति अहर्निश ब्रह्मभाव लाये कैसे? तो यह उच्चकोटि की श्रद्धा की सिद्धि है, जिससे उसे सद्गुरु ब्रह्मरूप में दिखायी ही पड़ता है, जैसे जिस दिन किसी बच्चे का किसी बच्ची से पाणिग्रहण होता है तो उन दोनों को परस्पर में अहर्निश पति–पत्नी का भाव लाने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह तो उसी दिन सिद्ध हो जाता है लेकिन जिस साधक को सद्गुरु के प्रति ब्रह्मभाव नहीं हो रहा है तो उसी साधक के विषय में कहा गया है–'संशयात्मा विनश्यति'– संशययुक्त पुरुष नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है।

(यत्तु कामेप्सुना कर्म.....) जो राजस कर्ता है उसके भीतर में कोई न कोई कामना अवश्य रहती है, उसे सद्गुरु की बात पर पूरा विश्वास नहीं होता। सद्गुरु कहता है कि तुम आत्मा हो, तो वह कहता है कि 'सृजन, संहार एवं पालन की शक्ति तो मेरे में है ही नहीं तो मैं आत्मा कैसे हो सकता हूँ? यदि अपने को आत्मा मानने से ही कोई आत्मा हो जाता है तो सारे साधक बिना साधना के ही आत्मरूप हो जायें!' अतः सद्गुरु से वह जप, तप, योग आदि की सिद्धि की पहले माँग करता है और सद्गुरु के द्वारा दिये हुए साधन को तन, मन, वचन, हृदय से बड़ी लगन के साथ करता है। लेकिन जब साधना के बीच में दैहिक, दैविक एवं भौतिक बाधायें आकर आक्रमण करती हैं तब उस साधक की लोलुपता एवं खिन्नता देखते बनती है।

महाराज ने सन् १९८३ में एक ऐसे गृहस्थाश्रमी साधक को देखा जो थानेदार (दरोगा) के पद पर था। उसे दो–चार महीना सतोगुण के कारण से अच्छा ध्यान लग गया तो उसने सोचा कि यदि मैं नौकरी छोड़ दूँ तो चौबीस घण्टे साधना का समय मिलेगा और मैं शीघ्रातिशीघ्र सिद्ध हो जाऊँगा। उसके सद्गुरु ने संकेत भी किया था कि तुम जैसा सोच रहे हो, वह आवश्यक नहीं है। संस्कार एक जैसा साथ नहीं देता। ध्यान लगना अलग बात है और निर्मल वैराग्य होना अलग बात है लेकिन उसे तो सिद्धि की ललक थी, इसलिए नौकरी छोड़ दिया तथा घर पर ही विशेष साधना करने लगा। सब काम–धाम छोड़ दिया और चौबीस घण्टे साधना होती नहीं थी। यहाँ तक कि सवेरे दो घण्टे एवं शाम को एक घण्टा भी ध्यान में नहीं बैठ पाता था, समय काटना कठिन हो गया था। अतः वह दिन में भी सोता, रात में भी सोता। उसके वीर्य में रोग लग गया था; तो दिन में भी स्वप्नदोष होता था रात में भी स्वप्नदोष होता था। इसप्रकार शरीर सूखकर हड्डी हो गया और बहुत परिश्रम के उपरान्त भी उसका ध्यान में मन नहीं लगता था। अन्ततोगत्वा वह एक सामान्य पुरुष जैसा जीवन जीने लगा।

सकाम जप, तप, योग को भगवान ने राजस कर्म में इसलिए रखा कि एक तो उस साधना में बड़ा बल लगाना पड़ता है, कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है एवं शीघ्र सिद्धि न मिलने पर उच्चाटन की सम्भावना भी बनी रहती है और कदाचित् वह साधना सिद्ध भी हो गयी तो परिणाम में वह दुःख देनेवाली ही होती है। सकामकर्मी साधकों के वृत्तान्त से तो पूरा इतिहास भरा पड़ा है। वैसे साधकों को शीघ्र सिद्धिलाभ न होने पर सद्गुरु से भी द्वेष होने की सम्भावना

बनी रहती है।

महाराज ने सन् १९८४ में एक ऐसे साधक को देखा जो लोगों से अपने सद्गुरु के विषय में भला–बुरा कहता रहता था। महाराज ने उससे पूछा कि तुम ऐसा क्यों करते हो? तो उसने कहा कि मेरे प्रति कृपा कर ही नहीं रहे हैं। अमुक–अमुक साधकों को सिद्धि दे दी इन्होंने लेकिन मुझे तो साधना भी नहीं दी, सिद्धि देना तो दूर ही है। महाराज ने उसकी बात उसके सद्गुरु तक पहुँचायी तो ऐसा सुन उन्होंने कहा कि मैंने तो उससे कई बार कहा कि सुबह से शाम तक खड़े–खड़े जप करो, बहुत जल्दी सिद्धि मिल जायेगी लेकिन वह सुनता ही नहीं है तो मैं क्या करूँ।

साधकों को ऐसी स्थिति से बचाने के लिये ही वेद में यह प्रार्थना दी गयी है–

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

साधक हर रोज अपने भगवान से प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभु! हम और हमारे गुरुदेव सदा–सर्वदा साथ–साथ रहें, एकसाथ सिद्धिरूप ऐश्वर्यों को भोगें, एकसाथ ध्यान, ज्ञान, विज्ञानरूप ऐश्वर्यों को भोगें, एकसाथ तेजस्वी एवं ओजस्वी बनें!' यहाँ पर यह अर्थ लेना चाहिये कि गुरुदेव अपनी साधना करें एवं उनकी आज्ञा में मैं उनके द्वारा बतायी गयी साधना करूँ। हम एकसाथ रहें इसका अर्थ यह लेना चाहिये कि गुरुदेव मुझे स्वीकार कर अपने साथ रखें। 'सहनौ भुनक्तु' अर्थात् एक साथ ऐश्वर्यों को भोगें; तो वह कौन सा ऐश्वर्य है? दिव्यरस, दिव्यस्पर्श, दिव्यगन्ध, दिव्यश्रवण, दिव्यतेज इत्यादि ही ब्रह्म के दिव्य ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म का तेज ही यहाँ पर दिव्यतेज है, उसका निर्गुण–निराकाररूप ही यहाँ पर दिव्यरूप है, ब्रह्मस्पर्श (आनन्दमय कोष का खुलना) ही यहाँ पर दिव्यस्पर्श है, साधना के समय भीतर में प्रकट होनवाली ब्रह्मसुगन्धि ही दिव्यगन्ध है तथा ज्ञानसमाधि ही दिव्यरस है इत्यादि। शिष्य ने मानो हँसी की है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि गुरुदेव अपने तो दिव्यरस, दिव्यतेज, दिव्यरूप, दिव्यगन्ध इत्यादि की अनुभूति कर रहे हैं और मुझे तो इनकी अनुभूति करा ही नहीं रहे हैं; ऐसा भी तो नहीं होना चाहिये। अतः हे प्रभु! आप उन्हें प्रेरणा दें कि वे मुझे भी इन सबकी अनुभूति करायें। 'सहवीर्यं करवावहै'– वे तो अनन्त सामर्थ्यवान हैं, वे सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और मैं बहिर्मुख रहता हूँ; वे ऐसा न करें, मुझे भी सदा सर्वदा के लिये अन्तर्मुखी बनायें। वह साधक जिस बल एवं सामर्थ्य से अपनी साधना सम्पन्न कर सकता है उसी सामर्थ्य की माँग भी कर रहा है। 'तेजस्वि नावधीतमस्तु'– हे प्रभु! वे अपने जैसा ही हमें भी तेजस्वी बना दें। जैसे जगत उनके तेज के सामने तेजहीन लगता है वैसा ही मेरे साथ भी हो जाये। 'मा विद्विषावहै'– लेकिन हे प्रभु! एक काम यह भी करना कि गुरुदेव के द्वारा कृपा करवाने से पूर्व, आप भी कृपा करना कि मेरे द्वारा उनके प्रति कोई दुर्व्यवहार न हो जिससे वे मेरे से उदासीन न हो जायें। इतना ही नहीं मेरा काल मेरा पीछा कर रहा है, दूषित संस्कार मेरे मन, बुद्धि, चित्त में प्रवेश कर रहे हैं। कहीं

ऐसा न हो कि वे ही मुझमें उनके प्रति द्वेष उत्पन्न कराकर उनका विरोधी बना दें; क्योंकि हे जगत्पते! सद्गुरु को शिष्य से उदासीन होते और शिष्य को सद्गुरु से विरोध करते देखा गया है। अतः मेरे गुरुदेव एवं मेरे मध्य ऐसा व्यवहार न हो। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! हम दोनों के दैहिक, दैविक एवं भौतिक तीनों तापों को आप दूर करें।

भगवान शिव, भगवती सती के पति एवं सद्गुरु दोनों थे किन्तु भगवती सती के प्रमाद से उनके जीवन के बाधक संस्कार ने भगवान शंकर के प्रति छल करा दिया। परिणाम क्या हुआ, सब जानते हैं। अतः यदि राजस कर्ता को सात्त्विक कर्ता बनना है तो इस प्रार्थना के द्वारा वह भगवत् कृपारूपी प्रसाद पाकर आगे बढ़ सकता है।

(अनुबन्धं क्षयं हिंसा.....) इस मंत्र का मौलिक भाव है कि मनमाना कर्म करनेवाले पुरुष को तामस कर्ता कहते हैं। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्म का परिणाम क्या होगा, मेरे कर्म से दूसरे को कितनी हानि होगी, दूसरे के मन को कितनी पीड़ा होगी। चोरी–चकारी, बदमाशी से; छल, कपट, दम्भाचरण से अथवा चाहे जिस भाँति मेरा एवं मेरे बाल–बच्चों का पेट भरे वह वैसा ही कर्म करता है और वैसे ही कर्मों का सिद्धान्त भी बघारता है। कदाचित् वह साधक बन गया तो वह अपनी शक्ति एवं संस्कार आदि पर विचार न कर, देखा–देखी मनमाना जप–तप प्रारम्भ कर देता है।

ऐसा ही एक साधक एक संत के पास पहुँचा। उन्होंने उसे भण्डार की सेवा दे दी। कुछ ही दिनों में वह सदा जप, तप, योग करनेवाले साधकों की साधना से आकृष्ट हो गया तब गुरुजी से कहा कि यदि मुझे भण्डार में ही सेवा करनी होती तो मेरे लिये घर बड़ा सुन्दर था। क्या कारण है कि आपने मुझे जप, तप, योग के योग्य नहीं समझा। गुरुजी ने कहा कि यही कारण है कि तुम सद्गुरु एवं संत में भी दोष देखनेवाले हो तथा दूसरों से ईर्ष्या करनेवाले हो। जिन साधकों को आज तुम ध्यान, ज्ञान, विज्ञान में पारंगत देख रहे हो, उन लोगों ने पूर्वजन्म में या इसी जन्म में जिसे तुम निकृष्ट कर्म समझ रहे हो उसे खूब किया है।

सूक्ष्म साधना में राग–द्वेष ही तो बाधा बनते हैं। असुरों के सारे कर्म तामस कर्म ही तो कहे जाते हैं। जब साधना बार–बार बदली जाती है तो वह भी तामस ही कही जाती है। जब संस्कार बार–बार धक्का देता है, तब कहीं जाकर उसे गुरु की बात पर विश्वास होता है। तामसी साधक भगवान को भी समय में बाँधना चाहते हैं, जबकि जो कालातीत है, वह काल की अपेक्षा नहीं रखता। वह आपके काल में क्यों बँधेगा? समय सीमा में क्यों बँधेगा? समय सीमा में आबद्ध होकर किया जानेवाला कर्म तामस कर्म कहा जाता है।

मानो भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि ये विपक्ष में जितने भी योद्धा खड़े हैं ये तामसी योद्धा हैं। महात्मा अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभु! यदि परिणाम को न जानने से, हानि–लाभ को न जानने से ही ये तामसी योद्धा हैं, तो फिर मेरी भी गिनती आप उन्हीं में क्यों नहीं करते? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं– यदि तुमने परिणाम पर विचार न किया होता तो नारायणी सेना के बदले मुझे क्यों माँगा होता? यदि तुमलोगों को अपने पर विश्वास होता तो मेरे शरणागत क्यों

होते? इनलोगों को तो न अपने पर विश्वास है, न अपने गुरुजनों पर, तभी तो इन सबका मन शोक, सन्ताप एवं विषाद से भरा हुआ है। इसलिए तुम्हारा कर्म देखने में तामस होकर भी तामस नहीं कहा जायेगा। जितना तुमने युद्ध से होनेवाली क्षति पर विचार किया है, उतना किसी अन्य ने नहीं किया।

ॐ मासपारायण, अट्ठाईसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, चौदहवाँ विश्राम ॐ

आप सात्त्विक, राजस या तामस कर्ता हैं इसका निर्णय निम्न मंत्रों से देखें–

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥२८॥

जो साधक कर्मों से मुक्त है फिर भी अपने कर्तव्य कर्मों को अति उत्साहित होकर, उस कर्म की सिद्धि–असिद्धि को न चाहता हुआ, अहंकाररहित होकर कर रहा है तो वह निर्विकार साधक सात्त्विक कर्ता कहा जाता है तथा जो कर्मफल में आसक्त, लोभी, हिंसक, अशिष्ट तथा हर्ष–शोक से युक्त है, वह राजस कर्ता कहा जाता है एवं जो पुरुष विषयी, मूर्ख, घमण्डी, धूर्त, दूसरे की जीविका पर लात मारनेवाला तथा आलसी और दीर्घसूत्री है वह तामस कर्ता कहा जाता है।

(मुक्तसङ्गोऽनहंवादी.....) क्या प्रमाण है कि कोई साधक कर्म से मुक्त है? हाँ, जैसे वह अपने प्रिय कर्म स्वाध्याय में तल्लीन एवं लवलीन है, अभी दो चार पंक्ति पढ़ने को शेष ही हैं, तभी गुरुजी ने आवाज लगायी तो साधक, ''जी! आया!'' कहता हुआ, दौड़ते हुए, सामने उपस्थित हो जाता है, तो वह निश्चितरूप से कर्म से अनासक्त है, ठीक इसके विपरीत जो यह कहकर 'जी आया' और जल्दी–जल्दी दो पंक्ति पढ़कर जाता है तो वह कर्म में आसक्त है। प्रथम साधक सद्गुरु में आसक्त होकर कर्म से मुक्त हो गया है एवं दूसरा साधक कर्म में आसक्त होने से सद्गुरु से दूर है, तथा ठीक इसके विपरीत तीसरा साधक कहता है कि यहाँ तो पढ़ना भी दूभर हो गया है और आराम से पढ़कर गुरुजी के पास जाता है। गुरुजी हँसते हुए पूछते हैं कि देर क्यों हो गयी? तो वह भी हँसते हुए कहता है कि गुरुदेव दो–चार पंक्ति रह गयी थी तो सोचा कि पढ़कर चलूँ।

धनबाद (झारखण्ड) के निवासी दीनानाथ मित्तल एवं उनकी धर्मपत्नी सुनीता मित्तल ने जैसे ही सुना कि महाराजजी हमारे बगीचे के पीपल वृक्ष के नीचे पाँच दिन गीताजी का भाष्य

करेंगे, वैसे ही दोनों आत्मविभोर होकर अपने सौभाग्य की सराहना करने लगे और तीनों वृक्षों को चबूतरे (वेदिका) से मढ़वा दिया। उन्होंने वहाँ ऐसी व्यवस्था की कि मानो उनकी बेटी का विवाह ही होनेवाला हो। चबूतरों का रंग–रोगन देखते ही बनता था। वे पीपल वृक्ष का उतना महत्त्व नहीं जानते थे। जब महाराज ने बताया कि इसके नीचे पाँच मिनट का जप, पाँच घण्टे के बराबर होता है, तो अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगे तथा कहा कि अच्छा किया बाबा! आप नहीं कहते तो लोग पीपल देवता को कटवाने के लिये कह रहे थे। सुनीता ने कहा कि देवता मानते ही कहाँ थे, पेड़ मानते थे, तभी तो कटवाने की बात हुई! इन दोनों को गीता भाष्य से क्या प्रयोजन था, तो भी निष्काम भाव से व्यवस्था करना सात्त्विक कर्ता का लक्षण प्रस्तुत करता है।

प्रश्न है कि मैं योग, जप, तप कर रहा हूँ– ऐसा अहंकार तो सात्त्विक कर्ता को भी होगा? क्यों नहीं! अवश्य होगा। आसक्तिरहित होने के कारण से इस अहंकार को सात्त्विक अहंकार की संज्ञा तो दी गयी है लेकिन उसे अहंकार की कोटि में नहीं लिया जाता। जप, तपमय जीवन तो हनुमानजी का भी है; वे भी कहते हैं कि मैं प्रभु का नाम लेता हूँ, प्रभु के लिये जीता हूँ, प्रभु का दास हूँ। ऐसा कहने मात्र से उन्हें अहंकारी नहीं कहा जा सकता।

रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे।
अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि।।१६।।

पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः।

देवता तथा असुर भी मुझे अस्त्र अथवा पाश से बाँध नहीं सकते। इसके लिये मुझे भी ब्रह्माजी से वरदान मिल चुका है।

राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम्।।१७।।

विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः।

राक्षसराज को देखने की इच्छा से ही मैंने अस्त्र से बँधना स्वीकार किया है। यद्यपि इस समय मैं अस्त्र से मुक्त हूँ, तथापि इन राक्षसों ने मुझे बँधा समझकर ही यहाँ लाकर तुम्हें सौंपा है।

केनचिद् रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम्।।१८।।

दूतोऽहमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजसः।
श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो।।१९।।

भगवान श्रीरामचन्द्रजी का कुछ कार्य है, जिसके लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।

(श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण–सुन्दरकाण्ड)

इन मंत्रों के द्वारा सात्त्विक कर्ता का लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

(.....सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः.....) सात्त्विक साधक जब भगवान के लिये जीने लगता है या निकल पड़ता है, तो भगवान भी उसके लिये अपने धाम से चल पड़ता है, यदि किसी भक्त का भगवान क्षीरसागर में रहता है तो वह भी साधक के लिये चल पड़ता है, यदि किसी का भगवान कैलाश पर्वत पर रहता है तो वह वहीं से चल पड़ता है और किसी का भगवान भीतर–बाहर व्याप्त है तो वह उस साधक के लिये किसी न किसी रूप में प्रकट होने की सोचने लगता है। यही बात समाधि की है, वह तो अपने पास ही है लेकिन जिस दिन साधक ध्यान के लिये गमन करता है, प्रवृत्त होता है, उसी दिन वह समाधि भी उसके लिये चल पड़ती है। आप नहीं देखते कि जब आप गन्तव्य की ओर गमन करते हैं तो वह भी आपकी ओर चल देता है। कर्म की सिद्धि–असिद्धि में सम रहनेवाले निर्विकार साधक के पास सम एवं निर्विकार ब्रह्म ही तो आयेगा!

(मुक्तसङ्गोऽनहंवादी.....) जो साधक 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा विश्वास कर कहता है कि मैं मुक्त हो गया हूँ और सचमुच में उसे विश्वास हो गया कि अब मैं मरुँगा–जिऊँगा नहीं, तो उसे कर्मों में अनासक्तिरूप सिद्धि प्राप्त हो ही जायेगी तथा अनासक्ति की सिद्धि है अहंकाररहित होना, उसे वह अनहंकारता प्राप्त हो ही जायेगी। यही नहीं– 'धृत्युत्साह समन्वितः'– उसके भीतर सात्त्विक धृति तथा सात्त्विक उत्साह का संचार भी हो ही जायेगा।

(मुक्तसङ्गोऽनहंवादी.....) भगवान का लक्ष्य सर्वप्रथम एकमात्र महात्मा अर्जुन हैं, उसके बाद जगत है। इसलिए वे इस मंत्र में अर्जुन से क्या कहना चाहते हैं; देखें–

हे पार्थ! ये महात्मा युधिष्ठिर सात्त्विक कर्ता ही हैं। उन्होंने जान लिया था कि मैं जूए में शकुनि से हार जाऊँगा, तो भी उन्होंने जूआ खेला। इस जीवजगत में ऐसे विलक्षण पुरुष कम पाये जाते हैं, जो धर्म को देखते हुए पराजय को सहर्ष स्वीकार करते हैं। ये पितामहभीष्म तथा द्रोणाचार्य भी धृति एवं उत्साह से सम्पन्न हैं, वे मन ही मन सोच रहे हैं कि कम से कम भगवान के सामने तो मरेंगे! उन्हें आधा ज्ञान है तो आधा अज्ञान। वे अति उत्साहपूर्वक दुर्योधन से छल करने में लगे हुए हैं। हे पार्थ! इस समय कम से कम वे तुम्हारे से तो विशेष सात्त्विक कर्ता हैं ही; क्योंकि उन्होंने अपने को मुक्त मान लिया है, इसलिए कि वे सोच रहे हैं कि हम माधव के सामने मरेंगे और एक तुम हो कि माधव तुम्हारे साथ है तो भी तुमने अपने को बद्ध (बँधा हुआ) मान लिया है। महात्मा अर्जुन ने पूछा कि फिर आपने अस्त्र क्यों नहीं उठाया? तो प्रभु ने कहा कि मेरे अस्त्र उठाते ही ये पितामह अस्त्र छोड़ देंगे और इनके अस्त्र छोड़ते ही द्रोणाचार्य भी अस्त्र छोड़ देंगे, तत्पश्चात् कृपाचार्य अस्त्र छोड़ देंगे, फिर तो मेरा प्रयोजन सिद्ध होगा ही नहीं। इस न्याय से ये तुम्हारे से विशेष हैं, क्योंकि मैं तुम्हारे रथ पर बैठा हूँ तो भी तुम सिद्धि–असिद्धि, हारने–जीतने की बात करते हो। तुम तो जीतने में लाभ मान रहे हो तथा भीष्म और आचार्य द्रोण हारने में लाभ मान रहे हैं। इस न्याय से इस समय तुम राजस एवं तामस कर्ता हो गये हो।

भगवान लगभग अब अन्तिम चरण में पहुँच गये हैं। इसीलिये वे अर्जुन के वर्तमान कालिक स्वरूप को अच्छीप्रकार प्रकाशित कर देना चाहते हैं। शिष्य का किस समय क्या स्वरूप है? यह बताना भी सद्गुरु का कर्तव्य हो जाता है; क्योंकि कहीं शिष्य को अपनी श्रेष्ठता अथवा अश्रेष्ठता का भ्रम न हो जाये। इसलिए शिष्य को बताना पड़ता है कि तुम्हारे से कौन साधक श्रेष्ठ है अथवा निम्न है। यदि सिद्धि–असिद्धि की कामना को ध्यान में रखकर कोई कर्म करता है तो उसकी जय में शंका बनी ही रहती है। एक साधक ने एक दिन पूछा कि आप मुझे घर छोड़ने को क्यों नहीं कहते? महाराज ने कहा कि यदि कह देगा तो तुम्हारी पराजय हो जायेगी। जीतूँगा कि हारुँगा; इस वाक्य में, इस भाव में ही पराजय है। साधना सिद्ध होगी कि नहीं? बस ऐसा सोचते ही पराजय हो गयी, मैं सफल होऊँगा कि नहीं, इस संशय में ही पराजय हो गयी। और 'सिद्धि–असिद्धि, जय–पराजय, लाभ–हानि भगवान के हाथ में हैं'; इस एक वाक्य में ही सात्त्विक कर्ता की विजय हो गयी, ऐसी विलक्षण बात है ये।

महात्मा भरत ने प्रतिज्ञा की कि 'मरुँगा राम के लिये, जीऊँगा राम के लिए।' उन्होंने किसी को भी अपने जीवन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। माँ कैकेयी, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ तथा अयोध्यावासियों ने उनसे दिव्य आदर्श व्यवहार करना चाहा था, लेकिन उन्होंने किसी की एक न सुनी। वे प्रभु को लाने के लिये वन को चल पड़े। कभी–कभी मार्ग में संकल्प में विकल्प उठ खड़ा होता है, वे सोचते हैं कि

रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

जब प्रभु मेरे कुसंस्कारों की ओर देखेंगे तो वे किसी जन्म में भी मेरे अपराधों को क्षमा नहीं कर पायेंगे। कहीं ऐसा न हो कि कोई उनसे जाकर कह दे कि पापात्मा भरत आ रहा है तो वे कहीं चित्रकूट से आगे निकल जायें; क्योंकि सारी की सारी उपाधि–व्याधि मेरे कारण से ही हुई है। अतः मुझ नारकीय को वे क्यों देखना पसंद करेंगे! ऐसा सोचते–सोचते उनके पाँव ठिठक से जाते हैं कि उनके पास जाऊँ कि नहीं जाऊँ। अयोध्या तो जाऊँगा नहीं तथा प्रभु के पास जाने में संकोच ही हो रहा है, तो फिर मैं कहाँ जाऊँ? भगवान मिलेंगे नहीं, तो फिर मैं भी उन्हीं के लिये किसी वनप्रदेश में जाकर मर जाऊँ; उनके नाम का जप करता हुआ अनशन करते हुए प्राण छोड़ दूँ। अब तो यह निश्चय है कि करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी प्रभु मुझे नहीं चाहेंगे। भरत ने अपने जीवन का गणित कर लिया, लेकिन तुरन्त संकल्प प्रकट होता है–

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी।।
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ।।
(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

जब भरत को राम का रामत्व दिखायी पड़ता है, उनकी कृपालुता, दयालुता तथा भक्त वत्सलता दिखायी पड़ती है तो उनके पाँव बड़े वेग से आगे बढ़ते हैं। अपनी करनी दिखायी पड़ने

पर पाँव ठिठक जाते हैं तथा प्रभु की करनी दिखायी पड़ने पर पाँव बढ़ने लगते हैं।

(.....सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः.....) जय एवं पराजय आपकी भावना के अन्तर्गत है। सात्त्विक कर्ता सोचता है– साधना सिद्ध होती है तो सिद्धि मिलती है, भगवान तो मिलता है नहीं, भगवान तो 'मैं शरीर हूँ' इस भाव के त्याग से मिलता है। हाँ; साधना से सद्गुरु की बात पर विश्वास करने की क्षमता आती है लेकिन साधना से प्राप्त सिद्धि का परित्याग करे तो उस श्रद्धा के प्रकट होने पर 'मैं शरीर हूँ' इस भाव का त्याग कर देता है। जैसे ही वह त्याग करता है वैसे ही उसका भगवान उसके मन में, बुद्धि में, चित्त में प्रवेश कर जाता है। बस अब वहाँ उसका भगवान ही रहता है, दूसरा नहीं।

सात्त्विक साधक सिद्धि–असिद्धि को समान समझता है यह बात तो समझ में नहीं आ रही कि असिद्धि को सिद्धि के समान क्यों समझेगा? तो सुनें– प्रभु श्रीराम के शरणागत होने के कारण से महात्मा विभीषण को उनसे युद्ध नहीं करना पड़ रहा है– यह उनकी सिद्धि है। सिद्धि–असिद्धि को समान समझनेवाले उस महात्मा के ऊपर रावण ने वज्र के द्वारा प्रहार किया। शरणागत भक्त वत्सल प्रभु ने उनके ऊपर उस शक्ति को आते देख बड़ी तेजी से छलांग लगाकर विभीषण के सामने खड़े होकर उस शक्ति को अपने छाती में धारण कर लिया और मूर्च्छित हो गये। कभी किसी काल में भी रावण की ओर युद्ध की दृष्टि से न देख पानेवाले विभीषण ने गदा उठायी और रावण पर टूट पड़े। इसप्रकार अद्भुत कौशल, पराक्रम एवं शौर्य के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया।

(आपने ऐसा क्यों कहा कि विभीषण का रावण के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। ऐसा क्यों नहीं कहा कि रावण का विभीषण के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया? हाँ, इसलिए कि रावण का विभीषण के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ, महाराज ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि वह तो उन्हें तिनके के भी बराबर नहीं समझता था।)

यह बात अलग है कि रावण द्वारा विभीषण के प्रति गदा प्रहार को अंगद, हनुमान आदि ने आकर रोक लिया लेकिन जगत में कीर्ति छा गयी कि जिस अहिंसक, जिस भक्त ने कभी स्वप्न में भी युद्ध नहीं किया था, वह अपने भाई के साथ प्रभु श्रीराम के लिए युद्ध कर रहा है। उसी समय जामवन्त, सुग्रीव, अंगद, नल–नील आदि का प्रभु श्रीराम के प्रति पक्षपात करने का जो भ्रम था वह समाप्त हो गया। इन भक्तों ने शरण में आये हुए विभीषण को प्रभु श्रीराम से शरण में न लेने को कहा था लेकिन हनुमानजी के कहने से प्रभु श्रीराम ने 'आओ लंकेश, आओ!' ऐसे आदरसूचक राजपद से सम्बोधित किया था। अतः जामवन्त आदि ने सोचा कि विभीषण वैरी का भाई है न, इसलिए विशेष महत्त्ववाला हो गया। श्रीराम लंकेश कहकर क्यों न पुकारें! प्रभु श्रीराम ने महात्मा विभीषण को युद्ध का अवसर देकर उन सबको उत्तर दिया है। इस न्याय से सिद्धि एवं असिद्धि में सम होकर विषम कर्म करने के उपरान्त भी सम रहा जा सकता है, जिसप्रकार विभीषण ने भगवान के लिये जीवन–मरण की आशा छोड़कर निर्विकार भाव से धैर्य एवं उत्साह के साथ युद्ध किया है।

(प्रभु का उन्हें लंकेश कहने के दो अर्थ हैं; इसलिए कि लंका भी तो दो हैं– एक भीतर की, एक बाहर की। विभीषण के हृदयरूपी लंका में प्रभु स्वयं बैठ गये हैं एवं बाहर की लंका में उन्होंने विभीषण को बैठा दिया है। भीतर की लंका में अहंकार बसता है, उस अहंकाररूपी रावण का छेदनकर प्रभु ने उन्हें भक्ति, शक्ति, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान का वरदान दे दिया और स्वयं भी भीतर बैठ गये।)

भक्त की सिद्धि एवं असिद्धि दोनों ही भगवान की होती हैं। आप नहीं देखते कि पिता की सारी की सारी कमाई पुत्र के लिये होती है जो कि सनातन परम्परा है। वैसे ही जो भगवान के शरणागत हो गया उसकी सिद्धि–असिद्धि, हार–जीत भी तो भगवान की ही हो गयी! इस न्याय से यदि अर्जुन पराजित होते हैं तो भगवान की पराजय मानी जायेगी। इसलिए 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः'– आत्मस्वरूप में रहनेवाला पुरुष सिद्धि–असिद्धि, हार–जीत को सम समझते हुए अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन करता है तो वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है– 'कर्ता सात्त्विक उच्यते।'

(रागी कर्मफलप्रेप्सुः.....) सात्त्विक कर्ता के विपरीत राजस कर्ता का स्वभाव होता है कि वह कर्मफल में आसक्त होकर ही कर्म करता है अथवा यों समझें कि जब वह कर्म में आसक्त हो जाता है तो कर्मफल की चाहना उसमें प्रकट हो ही जाती है। जैसे ही कर्मफल की चाहना उसमें होगी वैसे ही लोभ नामक ग्राह आकर उसे पकड़ लेगा, फिर येन केन प्रकारेण धन, मान, सम्मान कमाने की कामना प्रकट हो जायेगी, जिसके लिये भले ही उसे हिंसात्मक कर्म क्यों न करना पड़े; दम्भ, कपट, पाखण्ड क्यों न करना पड़े। इसप्रकार वह अपवित्र व्यवहारवाला पुरुष कभी लाभ होने पर हर्षित होगा और कभी हानि होने पर शोक से ग्रसित होगा। लोभ के कारण ही रावण जैसे पराक्रमी एवं महावीर पुरुष ने भगवती सीता तक का अपहरण कर लिया था, जो उसके जीवन का महाकलंक था, वह प्रभु श्रीराम को उस समय भी तो युद्ध के लिये ललकार सकता था! लोभ के कारण ही दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर से छल किया था, जिसके हर्ष का आधार ही शोक है। पाण्डवों के तेरह वर्ष के वनवास के उपरान्त भी वह हर्ष की जगह इसलिए शोक–सन्ताप से ग्रसित रहता था कि कहीं वनवास के उपरान्त वे हमारे ऊपर आक्रमण न कर दें। भगवान का यहाँ संकेत है कि ऐसे राजस कर्ता को कर्म के सुफल के साथ–साथ कुफल की भी उसी समय कल्पना कर लेनी चाहिये; क्योंकि भौतिक सुख का घेरा दैहिक, दैविक एवं भौतिक इन तीनों प्रकार का दुःख ही है। जैसे फसल बोनेवाला किसान यह भी जानता है कि फसल पकने तक घास–फूस से, पशु–पक्षियों से जूझना ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, आँधी, तूफान एवं ओले का भी भय बना ही रहता है और आश्चर्यजनक बात तो यह है कि फसल बोने के पहले, बीच में और बाद में भी घास–फूस का सामना करना ही पड़ता है। उसीप्रकार कर्मफल चाहने के पूर्व दुःख, कर्मफल अर्थात् सुख की चाहना का दुःख और कर्मफल भोगकर समाप्त होने पर फल के समाप्त होने के दुःख का भी सामना करना ही पड़ता है।

(रागी कर्मफलप्रेप्सुः.....) पुत्र ही कर्मफल है। आप नहीं देखते कि जो उस कर्मफल में

आसक्त है वह नाती की माँग शुरू कर देता है। नाती में आसक्त होता है तो लोभ और भी बढ़ता है तब पुनः परपोते की माँग शुरू कर देता है। उसके उपरान्त वह पुरुष उन राग, हर्ष, शोक आदि दुर्गुणों के साथ ही परलोक गमन कर जाता है। दूसरे अर्थों में कर्म में आसक्त पुरुष भौतिक फल की चाहना करने के कारण से मानो भगवान से ही द्रोह कर रहा है। इसी से इस मंत्र में प्रभु ने 'हिंसात्मकोऽशुचिः' कहा है। जो कर्म एवं कर्मफल में ही आसक्त होता है वह मानो भगवान से ही द्रोह करता है, जबकि आसक्त तो भगवान में होना चाहिये। जिस शरीर को भगवान ने भजन के द्वारा भगवत् प्राप्ति के लिये ही दिया है, उस शरीर से भगवत् फल न चाहना ही तो भगवान की हिंसा करना है। वैसा पुरुष सम्पूर्ण दुःखों एवं शोक, सन्तापों से घिरा रहे तो कौन सी बड़ी बात हो गयी।

(अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः.....) जो विषयी है, कालान्तर में उसमें मूर्खता प्रशस्त हो ही जाती है। उसके उपरान्त वह पत्थर हृदयवाला शठ, दूसरे की आजीविका हननकर अपना पेट भरने लगता है। इसकारण वह पुरुषार्थ से रहित हो जाता है और भक्त मलूकदास के पद का गलत अर्थ लेते हुए कहता है कि

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।

जब अजगर एवं पंछी को भगवान पर इतना विश्वास है तो हम तो मनुष्य हैं फिर हमें तो उनसे भी विशेष भगवान पर विश्वास करना चाहिये! पिता की सम्पत्ति से खा–पीकर सदा सोये रहनेवाला, पिता के नाराज होने पर कहता है कि मैंने तो नहीं कहा था कि आप मुझे जन्माएँ और जन्माया है तो अब खिलाएँ। मैं तो बैठे–बैठे खाने के लिए ही भाग्य लेकर आया हूँ। कभी–कभी जब वह होश में आता है तो विषाद से ग्रसित हो जाता है– हाय खाते–पीते, सोते–जागते जीवन बीता जा रहा है तो भी मुझ मूर्ख को चेत नहीं हो रहा है! थोड़े क्षण में ही कहता है कि चलो कोई बात नहीं, अभी खा, पी, सो लूँ, बुढ़ापे में तो चाहने पर भी नींद नहीं आयेगी। अतः दिन–रात पूरा भजन में ही झोंक दूँगा। वह कभी पशु जैसा जीवन जीता है, कभी पक्षी जैसा एवं कभी असुरों सा जीवन जीने लगता है। इस मंत्र में भगवान ने उसके जीवन के व्यवहार की कई प्राणियों से तुलना की है। अयुक्त कहकर के, उसे विषयी मनुष्य कहकर भला–बुरा कह रहे हैं, प्राकृत कहकर मूर्ख मनुष्यों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है, स्तब्ध कहकर जड़ पागल बनाते हैं, शठ तथा नैष्कृतः कहकर राक्षस बनाते हैं, आलसी कहकर कुम्भकर्ण के रूप में उपहास करते हैं, विषादी कहकर तामसी जिज्ञासु के रूप में आंशिक सराहना भी कर देते हैं, दीर्घसूत्री कहकर प्रमादी की श्रेणी में खड़ा करते हैं तथा ललकारते भी हैं कि ऐसे तामस कर्ताओं को पृथ्वी का भार बनकर जीने का अधिकार नहीं है। ऐसे शठ एवं मूर्ख अपने साथ–साथ दूसरों के लिये भी घातक होते हैं।

महाराज ने एक गाँव में देखा कि एक पिता के तीन–चार पुत्र थे। उसमें से एक पुत्र महाविषयी, शठ, मूर्ख, लम्पट, शराबी, वेश्यागामी, मांसाहारी, जुआरी था। उसने अपने ऐसे आचरण से पिता एवं भाइयों को गरीबी के घोर संकट में लाकर खड़ा कर दिया, अन्ततोगत्वा

जब देखा कि अब शेष कुछ भी नहीं बचा, तो जहर खाकर मर गया। उसके माता–पिता एवं भाई आदि साधु स्वभाव के थे। उनसे कुछ कहने पर कहते थे कि हम लोगों का भाग्य ही ऐसा है, हम कर भी क्या सकते हैं।

कभी–कभार तामसी कर्ता भी पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण से संत के शरणागत होकर उनकी छत्रछाया में रहने लगते हैं, वे वहाँ भी विषादी तथा दीर्घसूत्री होकर ही रहते हैं। अन्य शिष्यों के विरोध करने पर सद्गुरु कहते हैं कि बेचारा सारे दुर्गुण तो छोड़कर आया है अब कुछ ही दिनों में इन दुर्गुणों को भी छोड़ ही देगा। साधक कहते हैं कि गुरुदेव ये सात बजे उठकर टहल–टहलकर मंजन करते हैं, नौ बजे स्नान करते हैं लेकिन खाने के लिए समय से बैठ जाते हैं। गुरुदेव! आप इसपर विचार नहीं कर रहे हैं। यह दोष अन्य साधकों में भी फैल सकता है। गुरुदेव कहते हैं कि सहसा आप लोगों जैसा कैसे बना दूँ, जैसे सारे शिशुओं की मातायें उनके सम्पूर्ण अंगों पर तेल और उबटन लगाकर मजबूत कर देती हैं। वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि यदि कोई तामसी साधक आ जाये तो धीरे–धीरे उसे राजस फिर सात्त्विक बनायें।

महाराज के पास कभी–कभार ऐसे साधक आ जाते हैं; तो उनसे कहता है कि केवल खाओगे, पीओगे, सोओगे कि साधना भी करोगे? तो वे बहाना बनाते हुए कहते हैं कि माँ की गोद में शिशु केवल दूध पीता है, कुछ कर्म नहीं करता। भगवान के नाम पर तो घर–बार सबकुछ छोड़ ही दिया गया, क्या उनके नाम पर प्रेम से भोजन भी न खायें! ऐसे साधक कल से साधना शुरू करूँगा, परसों से शुरू करूँगा; ऐसा कहकर समय बिताते रहते हैं और कालान्तर में शरीर रोगग्रस्त हो जाता है तो उनके पास विषाद करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता। आश्चर्य की बात तो यह है कि अहर्निश तन, मन, वचन, हृदय को जप, तप, योग, ज्ञान, ध्यान, विज्ञान में ढालने के लिये चार–पाँच वर्ष पर्याप्त हैं। उसके बाद तो साधना (अर्थात् ध्यान समाधि) संकल्पवत् हो जाती है। जैसे विषयी पुरुष के नहीं चाहने पर भी चौबीस घण्टे मन में विषय की कामना ही प्रकट होती रहती है, वैसे ही उस साधक से, उसके मन, बुद्धि, चित्त से स्वतः ही ज्ञान, ध्यान, विज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहती है।

(अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः.....) उधर युद्ध के मैदान में भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! आज तुम विषादी हो गये थे, दीर्घसूत्री हो गये थे और अपने को बड़ा पण्डित मान लिया था तूने। अरे! कल को किसने देखा। कोई आवश्यक है कि कल इनकी बुद्धि सात्त्विक हो ही जायेगी और हस्तिनापुर का समाधान हो जायेगा? यह सिंहासन मेरा है, कल मेरे बाल–बच्चों का होगा; ऐसा कहता हुआ अयुक्त, मूर्ख, जड़, शठ, चोर, लम्पट दुर्योधन सिंहासन पर बैठा हुआ है। आज तुमलोगों की मूर्खता से ही यह नराधम, नीच सिंहासन पर बैठा है, अन्यथा वह सिंहासन पर नहीं होता। तुम्हारी माँ एवं महाराज युधिष्ठिर ने तुमसे कहा था कि जाओ द्वारिकाधीश भगवान को ले आओ लेकिन तुम इतनी ही देर में भूलकर विषादी हो गये थे। तुमने द्वारिका में किसको माँगा था– भगवान कृष्ण को या जादूगर कृष्ण को या तांत्रिक, मांत्रिक कृष्ण को? उस दिन तो तुमने कहा था कि हे मधुसूदन! मुझे तो आप चाहियें, नारायणी सेना नहीं चाहिये, आप हैं तो मेरे पास

सबकुछ है, आप नहीं हैं तो कुछ भी नहीं है। उस दिन तो तुम ज्ञान बघार रहे थे, शरणागत भक्त बन रहे थे, परमज्ञानी बन रहे थे और आज मेरा अपमान पर अपमान, अपमान पर अपमान किये जा रहे हो।

प्रभु ने एक बार फिर महात्मा अर्जुन को सजगकर ललकारा है एवं उत्साहित किया है।

अर्जुन ने कहा– नहीं, नहीं, नहीं! हे प्रभु नहीं! अब तो ऐसा न कहें। हे प्रभु! अब तो जल्दी करें और तीनों प्रकार की बुद्धि, धृति एवं सुख की कहानी भी कह दें, ताकि मैं जान लूँ कि मेरे पास कब किस बुद्धि एवं धृति का समावेश हो गया था एवं मैं किस सुख में आसक्त हो गया था।

प्रभु ने कहा तो लो बुद्धि एवं धृति के गुणों के अनुसार ही तीनों स्वरूपों को सुनो–

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९॥

प्रवृतिं च निवृतिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्धन, मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानती है, वह सात्त्विकी है, तथा जो यथार्थ नहीं जानती है वह बुद्धि राजसी है एवं जो धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म अर्थात् सब कुछ विपरीत ही जानती है वह बुद्धि तामसी है।

(प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च.....) जो बुद्धि कब कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये और कब कर्मों से निवृत्त होना चाहिये; कब किसके साथ रहना चाहिये, किसके साथ नहीं रहना चाहिये; कब कर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिये, कब ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना चाहिये; कब भक्तिपथ का पथिक होना चाहिए और कब राजयोग का, कब अष्टांगयोग का, तो कब ध्यानयोग का, कब ब्रह्मचर्य मार्ग का, तो कब परिव्राजक मार्ग का अनुसरण करना चाहिये; यह सब यथार्थ जानती है तो वह बुद्धि निश्चितरूप से सात्त्विक है। क्या कर्म है, क्या अकर्म है तथा क्या विकर्म है, जो बुद्धि इसे जानती है, वह सात्त्विक है। कहाँ, कब, किससे भयभीत होना चाहिये एवं कहाँ, कब, किससे भयभीत नहीं होना चाहिये जो बुद्धि इस रहस्य को जानती है वह सात्त्विकी है। बन्धन क्या है, मोक्ष क्या है, मेरा तन, मन, वचन, हृदय कितने अनुपात में बन्धन में है तथा कितने अनुपात में मोक्ष में है और यदि बन्धन में है तो इसका मोक्ष कैसे होगा, कौन बन्धन में है, कौन मोक्ष में है तथा कौन दोनों के मध्य में है; जो बुद्धि यह सब यथार्थ जानती है वह सात्त्विकी है और जो

यह सबकुछ नहीं जानती वह बुद्धि राजसी है।

जो पुरुष समझता है कि अब सद्गुरु मिल गया तो क्या देखना, छलांग लगा दो और उनकी आज्ञा में अपने जीवन को झोंक दो, पूरे जीवन को दाव पर लगा दो, तो उसकी बुद्धि परम सात्त्विक है। वह पुरुष कहता है कि संसार एक नदी है, मेरा शरीर ही नाव है, सद्गुरु उसमें मल्लाह है और मैं उस नौका में बैठनेवाला यात्री हूँ, तो फिर किस बात की चिंता है, ऐसी बुद्धि तो निश्चितरूप से परम सात्त्विकी है। यदि ऐसा योग बन गया है तो फिर किस बात की प्रतीक्षा में हो? जवानी में यदि वैराग्य हो गया तो फिर बुढ़ापे की प्रतीक्षा में क्यों हो? ऐसा विचार करनेवाली बुद्धि निश्चितरूप से परम सात्त्विक है।

जवानी रोती है कब,
वह बुढ़ापे में साधना की अपेक्षा करता है तब;
बुढ़ापा भी रोती है कब,
बूढ़ा विषयी ही रहता है जब।
वह कल की बात करता है,
पर कल कभी नहीं आता उसके पास।
कल आता ही नहीं;
क्योंकि मूर्ख के पास कल आता है
ज्ञानी के पास तो कल आता ही नहीं।
कल आयेगा क्यों?
क्योंकि यह कलियुग है।
कल का युग मूर्खों का है,
कलियुग नाम पड़ा है इससे
क्योंकि मूर्ख कल की ही बात करते हैं।
कल देखेंगे–कल देख लेंगे;
इसलिए इसका नाम कलियुग है।
कलियुग अर्थात् कलि का युग।
कलियुग में कली, कली ही रह जाती है,
फूल नहीं बन पाती; क्योंकि प्रकाश नहीं मिल पाता है।
मूर्ख ही कली रह जाता है;
क्योंकि ज्ञानी का साथ नहीं मिलता है उसको।
कली तो फूल बन जाती है,
कल के दिन लेकिन कलियुग के प्राणी
कली के कली ही रह जाते हैं।
सम्भावना बनती है बीज से वृक्ष बनने की
लेकिन सुरक्षा हो तब तो उसकी!

वे मूर्ख कहते हैं– यह कल का युग है,
कल का अर्थ यहाँ पर कल अर्थात् नल से है।
जब कल कारखानों का ही युग है
तो फिर ज्ञान, ध्यान, विज्ञान के कारखाने पनपेंगे कैसे?
लेकिन जाने दो कहने दो मूर्खों को ऐसा
मुझे तो सद्गुरु मिल गया है भवसागर पार जाने को।
अतः मेरे लिये यह कलियुग नहीं सतयुग है,
ऐसा निर्णय करनेवाली बुद्धि परम सात्त्विक कही जाती है।

(.....बन्धं मोक्षं च या वेत्ति.....) भगवान कहते हैं कि लोग मोक्ष को जानने की चेष्टा करते हैं जबकि पहले बन्धन को जानना चाहिये। बन्धन है भी कि नहीं; इसपर तो पहले विचार करें! प्रभु की दृष्टि में मोक्ष सहज है, नित्य है, उसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बन्धन छूट गया, तो मुक्ति तो मिल ही जायेगी। कैदी बन्धन के कारण को जानता है कि क्यों वह कारागार में आया है एवं इससे छूटने का उपाय क्या है। अरे! सहज उपाय है– जिस कारण से वह कारागार में बन्द है उस कारण को ही जीवन में पुनः न आने देने के लिये भगवान से प्रार्थना करे। वह नित्य प्रति कहे कि हे प्रभु! अब मैं चोरी–चकारी, बदमाशी नहीं करुँगा तथा मैं अन्य किसीप्रकार का भी अपराध नहीं करूँगा। यदि मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तो इस कारागार से मुक्त करें। तो कुछ ही दिन में वह कैदी मुक्त हो जायेगा।

(.....बन्धं मोक्षं च या वेत्ति.....) यदि अपनी बुद्धि के द्वारा बन्धन को जानने की क्षमता नहीं है तो सद्गुरु से अपने बन्धन का निर्णय करानेवाली बुद्धि भी सात्त्विक बुद्धि ही कही जाती है। आखिर बन्धन से मुक्ति होगी कैसे, इसपर पुनः चिन्तन कर विचार किया जा रहा है– यदि कोई पुरुष प्रवृत्ति से निवृत्ति को धारण कर ले तो वह बन्धन से मुक्त हो जायेगा। इस मंत्र में ही प्रश्न भी है उत्तर भी है। यदि ऐसा है तो फिर यह सुनें कि प्रवृत्ति से निवृत्ति कैसे होगी– यदि भगवान के लिए प्रवृत्ति होने लगे तो भौतिक प्रवृत्ति से निवृत्ति हो जायेगी। विषयी, साधक, सिद्ध, सयाने– ये पुरुषों की श्रेणियाँ हैं। विषयी पुरुषों की बुद्धि अलग होती है, साधकों की बुद्धि अलग होती है तथा सिद्धों की अलग होती है। तो सर्वप्रथम साधकों की बुद्धि से इसका अर्थ देखें– भगवान नारायण ने यहाँ पर साधकों के लिये यह संकेत दिया है कि वे प्रवृत्ति के स्वरूप को जब जान लें तो भौतिक प्रवृत्तिवाले पुरुषों से निवृत्त हो जायें और ब्रह्म की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जायें। ब्रह्म के लिये कर्म करते–करते वे कालान्तर में सद्गुरु को पाकर ब्रह्ममय प्रवृत्ति से भी निवृत्त हो जायेंगे। इसप्रकार ब्रह्म का कार्य करते–करते वे अकार्यमय हो जायेंगे, उनमें अकर्तापना स्वयं ही प्रशस्त हो जायेगा। इसे एक बार पुनः समझें– जो बद्ध प्राणी हैं, सर्वप्रथम उनका साथ छोड़ दें। आपको यह पहली सिद्धि मिलेगी कि कम से कम उनसे मोक्ष हो जायेगा, फिर अपने को सद्गुरु के पास जाकर बन्धन में डाल दें, आप स्वतन्त्र न रहें। अब सद्गुरु के संयम में स्वयं को बाँध दें। उसके उपरान्त तो आपको मुक्ति का बोध कराना सद्गुरु का काम है– जो बुद्धि ऐसा जानती है वह निश्चितरूप से सात्त्विकी है। सिद्ध की बुद्धि तो यही है कि

वह किसी भी काल में अपने को शरीर न मानकर 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा माने रहती है। संत की बुद्धि के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं; क्योंकि उसके पास तो बुद्धि होती ही नहीं है। वह तो जानने न जानने से परे है अर्थात् वह तो ब्रह्म ही है; संकल्प ही उसकी इन्द्रियाँ हैं, संकल्प ही उसका मन है और संकल्प ही उसकी बुद्धि है।

(यया धर्ममधर्मं च.....) ठीक इसके विपरीत जो कार्य–अकार्य के, धर्म–अधर्म के, प्रवृत्ति–निवृत्ति के स्वरूप को नहीं जानती है– वह बुद्धि 'राजसी' है।

महाराज से एक भक्त ने कहा कि बाबा! तीनों बच्चों ने हृदय से मेरा साथ छोड़ दिया है, बहुओं ने भी हम दोनों का त्याग कर दिया है। यह तो आपकी कृपा है कि अबतक इनलोगों ने हमलोगों से सामना नहीं किया। अब तो आप हमलोगों को अपने आश्रम में ही शरण दें लेकिन मैं समझता हूँ कि मेरी धर्मपत्नी इतनी नारकीय है कि वह आश्रम में भी नहीं रह पायेगी। तो कभी मन में आता है कि क्यों न तीर्थ में एक मकान खरीद लूँ और एक नौकर रखकर वहीं पर भगवान के लिये जीऊँ तथा कभी मन में आता है कि यहाँ पर चार–पाँच मकान हैं, उनमें से एक में धर्मपत्नी के साथ रहूँ, नौकर चाकर सेवा कर ही देंगे। कोई पूछेगा तो कह दूँगा कि बुढ़ापा आ गयी है, साधन–भजन के लिये एकान्त चाहिये– ऐसा कहने से साँप भी मर जायेगा और लाठी भी नहीं टूटेगी, दुनिया जानेगी भी नहीं कि घर में क्या हो रहा है लेकिन बाबा जो निकट सम्बन्धी हैं, वे तो जान ही जायेंगे। मेरा तो दिमाग ही नहीं काम कर रहा है कि क्या करूँ? इसप्रकार जो कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्णय नहीं कर पाती, ऐसी बुद्धि को राजसी बुद्धि कहते हैं।

महाराज से एक साधक ने कहा कि गुरुदेव! पहले मैं अखण्ड जप करता था, दो–तीन वर्ष ही किया था कि मन को लगा कि योग से जल्दी सिद्धि मिलती है तो योग में प्रवृत्त हो गया। कुछ ही महीने योग किया था कि किसी तान्त्रिक के चक्कर में फँस गया। पता नहीं उसने मुझे कुछ खिला दिया या तंत्र का विपरीत प्रभाव पड़ा, पता नहीं क्या हुआ– ऐसा उच्चाटन हो गया है कि मैं एक जगह स्थिर नहीं रह पा रहा हूँ। अब मैं क्या करूँ, समझ में नहीं आता। इसप्रकार की अनिश्चयात्मिका बुद्धि को ही राजसी बुद्धि कहते हैं।

ठीक इस सात्त्विक एवं राजस बुद्धि से विपरीत बुद्धि को तामसी बुद्धि कहते हैं। (अधर्मं धर्ममिति.....) अधर्म को ही धर्म मान लेनेवाली बुद्धि को यहाँ तामस बुद्धि कहा गया है, जब साधक अपने को शरीर तथा सद्गुरु को जीव मान लेता है तो यही तामस बुद्धि कही जाती है। अपने को जातिवाला एवं ब्रह्म को अजातिवाला मान लेना ही तामसी बुद्धि का लक्षण है, जबकि सभी तो ब्रह्मजाति के ही हैं। जो वर्ण–व्यवस्था दी गयी है वह बाहर की व्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिये है, न कि उस व्यवस्था को हृदय में स्थान देने के लिए। कुछ लोग कहते हैं कि हम आत्मा हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि कृष्ण एवं राम पुरुषों में उत्तम तो हैं लेकिन भगवान नहीं हैं। जिनका आदर्श व्यवहार असुरों को भी अति प्रिय है वह तो उनकी दृष्टि में एक विशेष पुरुष है तथा स्वयं वे अपने को साक्षात् आत्मा मानते हैं– ऐसी बुद्धि ही तामसी है। कहाँ तक कहा जाय सर्वकालों में वे वेद, शास्त्र एवं संत के विरुद्ध ही व्यवहार किया करते हैं।

(अधर्मं धर्ममिति या.....) थोड़ा युद्ध में चलकर देखें कि प्रभु अर्जुन से क्या कह रहे हैं? प्रभु ने कहा कि हे पार्थ! मैं तुमसे तामस बुद्धि के विषय में क्या कहूँ क्योंकि कुछ समय पूर्व तो तुम्हारी बुद्धि ही तामसी हो गयी थी। तुमने ही तो अधर्म को धर्म मान लिया था। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को तुमने जीव मान लिया था। देखते हुए भी अनदेखे जैसा, जानते हुए भी अनजाने जैसा व्यवहार कर रहे थे। बचपन से लेकर तुमने मेरे ऐश्वर्य को, प्रताप को तथा शक्ति को देखा–सुना है कि अबतक मेरे सामने किसी को अशुभ दृष्टि से देखने की सामर्थ्य नहीं है। जिन कंस, शिशुपाल, जरासंध आदि ने देखने का साहस किया वे जलकर खाक हो गये, फिर भी तुम कहते थे कि हे माधव! हम हारेंगे कि जीतेंगे और यह भी कहते थे कि हम बुद्धिमान होकर भी मूर्खों जैसा कर्म करने जा रहे हैं। तूने अपने साथ–साथ मुझे भी मूर्ख बना दिया था, जबकि मूर्ख तो तुम बन ही गये थे। धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म माननेवाला मूर्ख जड़, शठ तथा विषादी हो ही जाता है। समब्रह्म को ही तुमने विषमब्रह्म मान लिया था। सम्पूर्ण लोकों का अधिपति तुम्हारे रथ पर बैठा है लेकिन तुमने उसे एक लोकवाला भी नहीं माना था। यही नहीं, मुझ ब्रह्म को तुमने जीव मान लिया था लेकिन चलो 'जभी जागे तभी सवेरा।' तुम्हें अपनी मूर्खता तो दिखायी पड़ गयी!

प्रभु ने सोचा कि इसने मुझे एकमात्र अपना साला ही समझ लिया था। व्यवहार में साला अपशब्द जैसे प्रयोग होता है। भगवान ने सोचा कि कहीं मुझे साला कहने से इसे कहीं विशेष प्रायश्चित न करना पड़ जाय, इसलिए गालियों की बौछार कर दी। गाली से ही प्रारम्भ होने वाली गीताजी अब गाली से ही समाप्त होने जा रही है। लंकिनी जैसे को हनुमानजी का घूँसा चाहिये, तब वैसे को चेत होता है। वैसे ही अर्जुन जैसे की पिटाई होने पर ही प्रबुद्धता आती है। सद्गुरु की मार खाये बिना आजतक कोई प्रबुद्ध हुआ कहाँ!

भगवान के द्वारा अब धृति के स्वरूप को जानें–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्यां धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥३५॥

आध्यात्मिक कर्म को धारण करनेवाली धृति को सात्त्विक कहते हैं। आध्यात्मिक कर्म तो जप, तप, ध्यान, योग एवं सत्संग तथा स्वाध्याय कहलाता है किन्तु भगवान ने इस मंत्र में 'अव्यभिचारिणीयोग' पद दिया है। ऐसा करके उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि भगवान के निमित्त किया जानेवाला ही जप, तप, योग, धारणा, ध्यान आदि सात्त्विक धृति के अन्तर्गत आयेंगे।

अन्यथा वे राजस एवं तामस धृति के अन्तर्गत स्वीकारे जायेंगे। मन, प्राण तथा इन्द्रियों में भगवान को धारण कर लिया या इन इन्द्रियों को भगवान को दे दिया, बात बराबर है। ठीक इसके विपरीत–

(यया तु धर्मकामार्थान्.....) यदि जप, तप, योग, को धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति के लिये स्वीकार करते हैं तो ऐसी धृति को राजस धृति कहते हैं। अपवाद को छोड़कर लगभग सभी तो राजसी धृतिवाले ही होते हैं क्योंकि सभी सुख एवं ऐश्वर्य की कामना से ही जप, तप, योग करते हैं। दस हजार साधकों में से नौ हजार नौ सौ निन्यानबे साधक अष्टसिद्धि, नवनिधि की कामना से ही योग, जप, तप को धारण करते हैं। ऐसी धृति को ही राजसी धृति कहते हैं तथा इन दोनों से विपरीत धृति को तामसी धृति कहते हैं–

(यया स्वप्नं भयं शोकं.....) दिन–रात नींद, आलस, प्रमाद, भय, शोक, सन्ताप, विषाद तथा मद को धारण किये रहना तामसी धृति कही जाती है। 'न विमुञ्चति दुर्मेधा'– वैसे को भगवान दुर्बुद्धिवाला कह रहे हैं। भगवान का संकेत है कि पुरुष चाहे तो इन वृत्तियों का त्याग कर सकता है। 'आप यह कैसी विपरीत बात कर रहे हैं? कहीं नींद भी छोड़नेवाली वस्तु है? आलस, प्रमाद आदि तो स्वतः ही प्रकट होते हैं, अतः इन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है?' ऐसा नहीं है बल्कि छोड़ने का तात्पर्य यहाँ पर अनासक्ति से है तथा भक्तिपक्ष में समर्पण से है। जब ये वृत्तियाँ आयें तो अपना नहीं मानकर, प्रकृति का मानना ही छोड़ना है। या कोई अपने को शरीर न मानकर आत्मा मान ले और आत्मरूपता को धारण करे तो स्वतः ही ये अपना साथ छोड़ देती हैं। भगवान ने यहाँ 'मेधा' शब्द का प्रयोग किया है– जब कोई भगवान के लिये जीता है तो उसे महत् मेधावान कहा जाता है। मानो वे अर्जुन से कह रहे हों कि तुम महत् मेधाशक्ति से सम्पन्न थे तथा आज स्वजनों में आसक्त होकर दुर्मेधायुक्त हो गये हो। जब बुद्धि का मन्थन किया जाता है तब विवेक जाग जाता है, जब विवेक का मन्थन किया जाता है तब मेधाशक्ति जग जाती है। मेधा आध्यात्मिक शक्ति है, इसलिए दुर्मेधा का यहाँ आध्यात्मिक अर्थ लेना होगा। 'यया स्वप्नं भयं शोकं' अर्थात् वह मोहरूपी रात्रि में ही सोता रहता है; क्योंकि वह दिन–रात तो सो नहीं सकता, कोई कितना सोयेगा! इसलिए नानात्व देखना ही एक नींद है। वह द्वैत में सोता है, जबकि उसे देखना चाहिये कि सब रूपों में मेरा भगवान ही है। लेकिन जैसे ही उसने नानात्व देखा वैसे ही प्रमादी हो गया। अतः उसकी मेधा जो पूर्व में सात्त्विक थी अब असात्त्विक हो गयी, मूर्खों की मेधा हो गयी। नानात्व देखा और वह भयभीत हो गया, कहने लगा कि गुरुजी! मुझे तो शेर, साँप, भालू एवं चोर आदि का बहुत भय लगता है। अरे! सात्त्विक मेधा को लेकर आये थे दुर्मेधा कैसे आ गयी? अवश्य आपने किसी दुर्बुद्धि का साथ किया होगा। भगवत् चिन्तन के अभाव में भी साधक दुर्मेधावाला हो जाता है। यदि दिन–रात साधक द्वैत में जीने लगता है तो भय हो जाता है, तब वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है।

उसकी ऐसी स्थिति क्यों होती है; इसपर भगवान कहते हैं–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

हे भरतश्रेष्ठ! तीन प्रकार के सुख को सुनो जिससे तुम यह जान लोगे कि ऐसा क्यों होता है– अभ्यासकाल में विष जैसा प्रतीत होनेवाला तथा सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करनेवाला, परम अमृत (परम ज्ञान) प्रदान करनेवाला, भगवदर्थ जप, तप, योग के कारण से भगवत् बुद्धि से प्राप्त भगवद्भक्ति ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूप प्रसाद सात्त्विक सुख कहा जाता है और प्रारम्भ में अमृत तुल्य प्रतीत होनेवाला तथा परिणाम में विष तुल्य; इन्द्रियों तथा विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला शब्द, स्पर्शादि सुख, राजस सुख कहा जाता है। ठीक इन दोनों ही सुखों के विपरीत प्रारम्भ एवं अंत में भी पुरुष को मोहित करनेवाला, निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होनेवाले सुख को तामस सुख कहते हैं।

भगवान के लिये जीने लगने पर अति क्लेश, अति क्लेश को सहन करना पड़ता है। भगवान के नाम पर आप निर्विषयी तो हो ही गये, भले ही आप भीतर से विषयी हैं लेकिन विषय को स्वीकार न करने से आपको निर्विषयी कहना ही होगा फिर भी निर्विषयी भगवान आपके पास प्रकट न हुआ, आपने माता, पिता, भाई, बान्धवों तथा हित, मित्रों का त्याग कर दिया लेकिन फिर भी सर्वत्यागी भगवान आपके पास नहीं आया– अब इससे बड़ा क्लेश क्या होगा? पेड़ ने पत्तों को छोड़ दिया पर उसमें कोपलें नहीं आयीं तो उसे जितना क्लेश होता है, उतना ही क्लेश आपको भी होता होगा। एक समय ऐसा आता है जब साधक को स्वजन, परिवार भी याद नहीं आते। तो भी न ध्यान लगता है न भगवान आता है, न समाधि ही आती है। वैसी अवस्था में लम्बा काल भी बीत जाता है। वह अति क्लेश का समय होता है, वह दुःखद समय काटना विषपान के समान जान पड़ता है। ऐसे में साधक विरह वेदना में भरकर लोगों से भगवान के विषय में बहुत कुछ कह जाता है। जैसा कि एक बार महाराज ने भी भगवान के चुप्पी साधे रहने के कारण जगत के लोगों को सावधान किया, अपने–आप में होकर राग झिंझोटी में एक पद गाया–

मनमोहना के घर नहिं जाना बड़ा दुःख दे ओ।
आवे बुलावे छिपि–छिपि जावे, बहुत ठगे ओ ठग नहीं जाना।।

मनमोहना के घर नहिं.....
सबकुछ ले वो दे नाहिं कुछ भी, भूखे प्यासे रह जाना,
बहुत कहे वो दिखावे ना कुछ, आश लगी की लगी रह जाना।।
मनमोहना के घर नहिं.....
कहत अकेले कोई साथ न लाना, पर अपने छिपि–छिपि भग जाना,
महाराज यह राज प्रभु की, बिना जनाये कैसे जाना
मनमोहना के घर नहिं.....

महाराज ने साधकों को सचेत किया है कि जिसको पहले ही सुख चाहिये वह संन्यास न ले; अन्यथा संन्यास उसके लिये घातक हो जायेगा। इसलिए भगवान की कामना से संन्यास लेना। वैसे ही जो घर में एकमात्र भगवान के लिये ही जियेगा तो महात्मा प्रह्लाद के प्रति होनेवाली दुर्दशा उसके साथ भी होने लगेगी। ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं कि कोई भगवान के लिए जीये और उसकी दुर्दशा न हो। एक बार एक बात और कही थी महाराज ने राग जयजयवंती में–

आज तू मौन क्यों नटराज।।
खोल खोल अब चुप्पी खोल, ले अपनी साज बाज।।१।।
आज तू मौन क्यों.....
पग घुँघरु बाँधि करधनि काँधि, मोर मुकुट से राज।।२।।
आज तू मौन क्यों.....
मधुर मुरलीधर कर मुरलीधर, सरस खयाल गाज।।३।।
आज तू मौन क्यों.....
ले लो पखावज झूम झूम अब, छुमक–छुमक के ताज।।४।।
आज तू मौन क्यों.....
फूँक राग बाग बाग होऊँ, महाराज की लाज।।५।।
आज तू मौन क्यों.....

आप भी भगवान से उलाहना देकर तो देखें। जब भगवान की विरहवेदना में हृदय से टीस पैदा होती है, उस समय विरहवेदना के छन्द प्रकट होते हैं। यदि आपकी ऐसी स्थिति नहीं हुई तो फिर मोह ही प्रकट हो जायेगा। दो प्रकार के साधक होते हैं– एक समयानुसार भगवान के नहीं आने पर ब्रह्मराग में छन्द गाकर कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं; इस भाँति प्रभु की प्रतीक्षा करते हैं एवं दूसरे निराश होकर पुनः काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष की राग गाने लगते हैं तथा साधु का वेश धारण किये वह राजा जनक बनने का ढोंग करते हैं। महाराज भी पहले सोचता था कि भगवान की शरण में जायेंगे तो भगवान लोक लेगा अर्थात् गले लगा लेगा एवं कहेगा कि आओ, आओ! तुम्हारी ही तो आवश्यकता थी। किन्तु बहुत वर्षों तक ब्रह्म ने प्यार किया ही नहीं, वह दुत्कारता ही रहा। हाँ! यह बात अलग है कि महाराज उसके दुत्कार को

ही सत्कार समझता रहा। जब कोई कहता कि भगवान नहीं आये तो शिष्य क्यों रख लिया आपने? तो महाराज हँसते हुए व्यंगपूर्ण वाणी में कहता कि क्या करें, भगवान तो आता ही नहीं तो फिर किससे बोले–चाले, भगवान की चालाकी की कथा किससे कहे, किससे कहे कि भगवान बड़ा निष्ठुर है मेरे दुःख को वह सुनने को तैयार नहीं इसलिए दुःख को सुनाने के लिये शिष्यों को स्वीकार कर लिया। वैसे भी महाराज शिष्य एवं गुरु के रहस्यात्मक स्वरूप को देखकर गाता है राग गोरखकल्याण से–

शिष्य नये पर प्रीति पुरानी, कैसी अद्‌भुत है ये कहानी।।

दूर देश में जनम लिये पर, एक देश में आये,
एक नजर में मधुर मिलन की, अद्‌भुत छटा लखाये।
भूल गये घर बार देश को, एक दूजे को मानी।।१।।
शिष्य नये पर प्रीति पुरानी.....

हित मित्र अरु भाई–बन्धु तो, उनको नहीं सुहाते,
सुख–सम्पत्ति सब मान बड़ाई, दोनों को नहीं भाते।
काम–क्रोध अरु लोभ छोड़ के, दे दी प्रभु को जवानी।।२।।
शिष्य नये पर प्रीति पुरानी.....

बिहरत मन दोनों के संग में, दिन रात नहीं देखें,
शिष्य गुरु की भाव भंगिमा, एक में एक समानी।
मन बुद्धि सब एक दुजे में, अद्‌भुत प्रेम कहानी।।३।।
शिष्य नये पर प्रीति पुरानी.....

एक अद्‌भुत पहेली है, जिसे उच्चकोटि के शिष्य ही जानते हैं कि जब सद्‌गुरु ही उनका शीर्ष बन जाता है, उनका मस्तिष्क बन जाता है, तब वे ही शिष्य शीर्ष, शीश तथा मस्तिष्क कहलाते हैं। उसके पूर्व घर–परिवार एवं स्वजन ही उनके अशीश (बिना सिर का) बने रहते हैं, इसलिए वे शिष्य कहाँ कहलायेंगे। खोपड़ी में, शीश में (सिर में) जबतक सुख की कामना रहेगी तबतक वे गृहस्थ हैं, उनमें शिष्यत्व कहाँ से प्रकट होगा!

(यत्तदग्रे विषमिव.....) आत्मप्रसाद तब मिलता है जब आप विष को भी प्रसाद बना लेते हैं। अनात्म–पदार्थ का प्रसाद ही है– 'विष'। इस आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रकृति की धारा को ठीक उलटी दिशा में ले जाना होता है। बालक गर्भ में गर्भासन लगाकर रहता है, उसीप्रकार साधक पद्‌मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासन लगाकर जप, तप, योग करता रहता है। रीढ़ की हड्डी स्वाभाविकरूप में टेढ़ी रहती है, उसे सीधा करना होता है। 'मैं शरीर हूँ' के बदले में 'मैं आत्मा हूँ' का अहर्निश स्मरण रखना होता है। ऐसा करने पर कभी–कभी उच्चाटन, भ्रम, संशय, काम, क्रोध, राग, द्वेष नामक विष प्रकट होते हैं, जिनका सामना करना पड़ता है। बाहर का उत्पात अलग और भीतर का उत्पात अलग सहन करना होता है, भगवान खिलाये तो खाना

होता है। सबकुछ छोड़ने को कहता है और रोटी माँगने की भी आज्ञा नहीं देता। किसीरूप में आकर कुत्ते की भाँति रोटी दे देता है तो भी उसे प्रसाद समझकर खाना होता है।

नर्मदा के किनारे महाराज चौबीस घण्टे से भूखा बैठा था। भगवान एक व्यक्ति के रूप में आया कहा कि लें भूखे हैं न आप! ये मूंगफली खा लें। सौ ग्राम कच्ची मूंगफली देकर चला गया। इसप्रकार जो खाने योग्य नहीं है, वह खाने को देगा, जहाँ रहने योग्य नहीं है, वहाँ रहने को देगा और फिर कालान्तर में ठोक बजाकर स्वयं ही सबरूप बनकर आयेगा फिर तो सर्वत्र अमृत ही अमृत, अमृत ही अमृत, अमृत ही अमृत हो जायेगा लेकिन ठीक इसके विपरीत–

(विषयेन्द्रियसंयोगात्.....) जो सर्वप्रथम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान, सम्मानरूप विषय में रमण करते हुए इन्द्रिय सुख को ही अमृत समझते हैं, वे बाद में जर्जर तन से, जर्जर बुद्धि से चारपायी पर पड़े–पड़े कराहते रहते हैं। जिस विषय को अमृत समझा गया था, वही विषय वृद्धावस्था में विष बन जाता है। बाल–बच्चे धक्का देकर कहते हैं– भजन का समय है भजन करो, बक–बक मत करो, पौत्रादि चिढ़ाते हैं। यहाँ तक कि जगतवाले भी उनसे मौनी हो जाते हैं। वे उल्लू जैसा बैठे रहते हैं, बात करने भी कोई नहीं आता तरस–तरस जाते हैं बात करने को।

मचल जाती है जीभ बहुत कुछ खाने को
स्वाद याद करके टपकती है लार
पर वे कह नहीं पाते किसी से।
हाय रे बुढ़ापा!
यह दुर्दशा कर देती है कैसी?
साक्षात् राक्षसी है ये
कोई जान नहीं पाता कि आती कैसे है?
जवानी निगल जाती है
पर जवान जान पाता नहीं
वह तो मस्त रहता है मस्ती में
उसे क्या पता कोई राक्षसी
पीछे पड़ी है उसके।
उसे क्या पता कि बच्चे देंगे धक्के
गले को पकड़कर कहेंगे–
यदि बक बक किये तो टीप दूँगा गला
सुरधाम चले जायेंगे!
चुप! फिर किये बक बक!
तो लो! बन्द किये देता हूँ किवाड़ को
पिजड़े में बन्द घायल कुत्ते की तरह

भों भों भूँकते रहो
खोलेगा नहीं किवाड़ कोई!
देखता हूँ मौन कैसे नहीं होते हो!
जीवन जी गये यों ही,
शान को बघारने में लाज नहीं आती!
किस बात का दम्भ भरते हो
क्या विशेष कुछ कमा के रख दिये हो?
खाने के लाले पड़े रहे जीवन भर,
फिर भी कहते हैं मैंने ये किया वो किया,
डींग हाँकते हाँकते लुटा दिया जीवन
और अब कहते हैं तुम यह कर रहे हो वह कर रहे हो
अरे हम चाहे जैसे जियें!
तुम्हारे जीवन से तो अच्छा जी रहे हैं
अब हलवा पूड़ी खीर पकौड़ी
कचर रहे हो फिर भी लाज नहीं आती मन में
कमाई करते थे तो क्यों नहीं खाए ऐसे
अतः शान्ति से बैठे रहो आदमी जैसे
अन्यथा महँगा पड़ेगा टाँय टुँइ करना।
बड़े उत्पात मचा रखे थे आपने
बहु–बेटों को सताकर मार डाला था
समझते थे कि मेरे जैसा कोई है ही नहीं
कहते हैं कि दुनिया देखी मैंने
यही दुनिया देखी आपने कि वह किसी काम नहीं आयी?
यही दुनिया है आपकी
चाहे जहाँ खँखार थूकते हो दिनभर
नरक बना रखा घर को पेशाब टट्टी से?
दुनिया देखी आपने,
हाय रे आपकी दुनिया जो खा रही है आपको।
कोई पूछने भी नहीं आता भइया बाबू कहते हुए
कि तुम कैसे हो?
फिर भी दुनिया देखी आपने
छिः धिक्कार है आपकी दुनियाँ को।
पड़ोसियों से कहता है बेटा
बूढ़े तो देखे मैंने बहुत पर पिता जैसे नहीं देखे

नाक में दम कर दिया है इन्होंने तो
कहती है पत्नी भाग जाऊँगी मैं तो अब
पोते तो इनके चुपके से निकलते हैं
क्या करूँ यार कहाँ जाऊँ?
ऐसी अति की तो हद ही हो गयी है।
यह तो गरीब के बूढ़े की कहानी थी
अमीर का बूढ़ा कुछ और ही कहता है
वह कहता है साले–
दूँगा नहीं कौड़ी एक
भीख माँगते फिरोगे तुम
बेटियों को बुलाकर करा लूँगा सेवा सब
तिजोरी दे दूँगा उन्हीं को
तरसते रह जाओगे
अतः आओ तुम होश में जोश मत दिखाओ
नौकर चाकर मेरे कहीं तुम्हारे से अच्छे हैं।
अरे मूर्ख! विदेशियों की कहानी नहीं सुना तूने!
जब वे दुःखी होते हैं बेटे–बेटियों से
तो विरासत को अपने कुत्ते को लिख जाते हैं
मैं वैसा तो नहीं करूँगा क्योंकि मैं भारतीय हूँ
लेकिन बनाऊँगा उत्तराधिकारी नौकर को
तो देखते रह जाओगे।
कोर्ट कचहरी क्या कर लेगी मेरा
वे तो तुम्हें दादा की विरासत ही दिलायेंगे!
और उनकी क्या कमाई है तुम जानते ही हो!
कमाया मैंने बुद्धि से,
अब खाऊँगा खिलाऊँगा बुद्धि से
जा! भाग जा! मेरी अर्थी में हाथ मत लगाना
यदि हाथ लगाये तो भस्म हो जाओगे
पीछा नहीं छोड़ूँगा,
भूत बनकर मार डालूँगा तुझको
समझता नहीं मैं कौन हूँ?
झिड़कता हुआ बेटा आगे बढ़ जाता है यह कहता हुआ
बड़े भगवान बनते हैं तो मरें!
बुलावें बेटी को करावें सेवा उससे

दे दें सब उसको
ये मेरे भाग्य विधाता नहीं हैं।
खा लूँगा जी लूँगा लेकिन
ऐसे काल से तो भगवान बचाये
ऐसा तो रावण बोलता था!
वाणी से दुर्गन्ध आती है अहंकार की
लगता है भगवान हैं ये मेरे
भगवान भी नहीं कहता है ऐसा
जबकि जगत को देता है वह सबकुछ
छिः! ऐसे बाप से तो
बिना बाप का रहना अच्छा है।
कहाँ तो राम राम जपना चाहिए बुढ़ापे में
तो धन का इतना अभिमान!
प्रणाम करता हूँ ऐसे धन को
जो भगवान भुला देता है।

इन दोनों के विपरीत तामस सुख तो अति विलक्षण है, जिसके विषय में भगवान कहते हैं–

(यदग्रे चानुबन्धे च.....) यह ऐसा सुख है जो प्रथम एवं बाद में भी मोहित करता रहता है। वह निद्रा, आलस, प्रमाद से उत्पन्न होनेवाला सुख ही तामस सुख कहलाता है। ऐसे पुरुष को कोई जगाकर देखे, गाली या चाँटा मिल जायेगा। कुम्भकरण इस आलस, प्रमाद एवं नींद में इतना आसक्त था कि रावण के पास निर्णय होने में ही बड़ा समय लग गया कि इसे जगायेगा कौन? कहीं उसे जगाने में वह उत्पात न मचा दे। प्रारम्भ और अन्त में यानी जागते समय और सोते समय भी नींद के द्वारा सुख मिलता है। वह तामसी पुरुष दस–बारह घण्टे सोने के बाद कहता है कि मन प्रसन्न हो गया, ताजगी आ गयी। वह जब–जब खायेगा, पीयेगा तब–तब सोकर ताजगी का अनुभव करेगा। घायल मन नींद से संतुष्ट हो जाता है जबकि वह सन्तुष्टि अति घातक होती है। नींद बहुमूल्य समय को निगल जाती है। मृत्यु के समय वह नींद में ही रहने के कारण से पेड़–पौधा या कीट–पतिंगा बन जाता है। भगवान कहता है कि अब पेड़ बनकर सोते रहो।

महाराज ने इस गीताजी में एक विलक्षणता देखी कि जिन दीनानाथ मित्तल के बगीचे में महाराज गीताभाष्य लिख रहा है, उनका भी चौबीस घण्टे में बहुत समय आलस्य, प्रमाद एवं नींद में जाता था लेकिन जबसे यहाँ गीताजी का भाष्य हो रहा है, तबसे उनको महाराज ने दिन में सोते नहीं देखा। रात में भी महाराज को सुलाकर सोना और प्रातः ही उठ जाना उनकी दिनचर्या बन गयी थी। वे हँस रहे थे कि बाबा यह गीताजी भगवान की कैसी शक्ति है कि मेरे जैसा पुरुष इस भाष्य के सुनने में, व्यवस्था करने में व्यस्त हो गया है। यदि ऐसा लम्बा काल

मिल जाये तो फिर तो मेरा यह दोष ही समाप्त हो जायेगा। महाराज ने कहा कि आपने गीता भाष्य होते समय साधकों एवं संतों की तन, मन, वचन एवं हृदय से सेवा की है न! चौबीस घण्टे आपके मन में भक्तिभाव से एक ही विचार दौड़ता रहता है कि कहीं किसी बात की कमी तो नहीं हो रही है; फिर नींदरूपी कालरात्रि आपके पास कैसे आयेगी।

इन तीन प्रकार के गुणों का, सुखों का विस्तार कहाँ तक है, इस विषय में भगवान कहते हैं–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥

हे पार्थ! सत्यलोकों से लेकर असत्यलोकों तक, स्वर्गादिलोकों से लेकर नरकादिलोकों तक, दिव्य लोकों से लेकर अदिव्य, अदिव्य–दिव्य अर्थात् मिश्रित लोक (मृत्युलोक) तक के सारे के सारे प्राणी इन्हीं त्रिविध गुणों से आबद्ध हैं अर्थात् बँधे हुए हैं।

भगवान ने यहाँ त्रिविध गुण कहकर यह संकेत किया कि इन्हीं ज्ञान, कर्म, कर्ता, धृति, सुख आदि से ही सारे के सारे प्राणी मोहित हो रहे हैं। दिव्य लोक सतोमय हैं, मनुष्यलोक सतोमय तथा रजोमय है तथा पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे आदि (नरकादिलोक) तमोमय हैं। तीन गुणों के अनुसार ही तीनों लोक जैसे– सुषुप्तिलोक तमोमय है; स्वप्नलोक रजोमय है तथा जाग्रत्–लोक सतोमय एवं रजोमय है। कभी–कभी स्वप्नलोक भी सतोमय बन जाता है तब, जब सद्गुरु के द्वारा दिव्य सम्भाषण होता है अथवा किसी देवी–देवता या भगवान का दर्शन, स्पर्श या वरदान प्राप्त होता है। यही नहीं, मृत्युलोक भी तब तमोमय होता है, जब कोई पुरुष पशु–पक्षियों जैसा जीवन जीता है। यद्यपि सुषुप्तिलोक तमोमय है किन्तु उसके माध्यम से किसी साधक की छलांग तुरीयावस्था में लग गयी तो वह लोक भी दिव्य लोक कहा जायेगा।

(न तदस्ति पृथिव्यां वा.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! अभी तुम एक दिव्य लोक में वास कर रहे हो। मेरी अध्यक्षता में रहने के कारण तुम एक अलौकिक लोक के वासी हो गये हो। गुरुलोक में होकर भी भले ही तुम्हें क्षत्रिय का व्यवहार करना है लेकिन वह एक क्षत्रिय का नहीं, योद्धा का व्यवहार कहा जायेगा। इस युद्धभूमि में तुम्हारी कोई जाति नहीं है। वैसे भी योद्धा की कोई जाति होती कहाँ है? तुमने तो स्वयं दुर्योधन के मुख से सुना ही है कि जैसे नदियों की कोई जाति नहीं होती वैसे ही वीरों की कोई जाति नहीं होती। महावीर योद्धा अपने पौरुष एवं तेज से पहचाना जाता है। इस मूर्ख ने ऐसा कहा ही नहीं बल्कि कर के भी दिखा दिया कि कर्ण को अंगदेश का राजा बनाकर तुम्हारे विपक्ष में लाकर खड़ा कर दिया। यहाँ तो तुम जाति की बात कर ही नहीं सकते; क्योंकि इस नराधम नीच ने युद्ध के मैदान में अपने पक्ष से यवनों को भी उतारा है। इसप्रकार इस समय किसी जाति विशेष की बात मत करो; क्योंकि

मैं ब्रह्म हूँ और तुम मेरी जाति के हो, इसलिए अब तुम ब्रह्मजाति के होकर ही युद्ध करो न कि क्षत्रिय जाति के होकर। हे पार्थ! जब कोई ब्रह्मजाति का होकर युद्ध करता है तो वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। तुम्हारे ये विपक्षी धर्मरक्षा के लिये युद्ध नहीं कर रहे हैं, बल्कि अपने उदर के भरण–पोषण एवं मान–सम्मान की रक्षा के लिये युद्ध कर रहे हैं। इन लोगों ने धर्म को ही बन्दी बना लिया है। अतः उस धर्म के उद्धार के लिये मेरी आज्ञानुसार युद्ध करो।

(ब्राह्मणक्षत्रियविशां.....) तुम क्षत्रिय जाति की बात करते हो तथा मैं कर्म, गुण एवं स्वभाव के अनुसार जाति का विभाग करता हूँ। वे महामूर्ख होते हैं, जो अपने–पराये की पहचान वर्ण तथा जाति के अनुसार करते हैं।

भगवान ने कुछ समय पूर्व (चौथे अध्याय में) वर्णव्यवस्था की बात की है। वहाँ पर उन्होंने जो संकेत किया था सम्भव है महात्मा अर्जुन को भलीभाँति समझ में न आया हो, इसलिए पुनः इस गोपनीय रहस्य को उजागर कर रहे हैं। आम लोगों में भी वर्ण–व्यवस्था के प्रति आये दिन रस्सा–कस्सी होती रहती है, जबकि तीनों गुणों एवं तीन प्रकार के कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों की रचना सत्ययुग के द्वितीय चरण के उपरान्त प्रारम्भ हुई, उसके पूर्व तो एकमात्र ब्रह्म–वर्ण ही था। इसलिए गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार ही अपनी प्रकृति को पहचानना होगा, तभी उद्धार सम्भव है अन्यथा नहीं। एक दिव्य उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है–

प्रभु श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ये क्षत्रिय कुल में प्रकट हुए हैं। एक समय ऐसा आता है जब वनवासी प्रभु श्रीराम ब्रह्म हो जाते हैं (क्योंकि संन्यासी ब्रह्म होता है), लक्ष्मण ब्राह्मण हो जाते हैं (ब्रह्मचारी ब्राह्मण होता है), भरत क्षत्रिय हो जाते हैं और सुमन्त्र वैश्य तथा शत्रुघ्न शूद्र हो जाते हैं। यहाँ पर ब्रह्म राम ने मधुर वर्ण–व्यवस्था दी है। भरत, सुमन्त्र तथा शत्रुघ्न भी लक्ष्मण की भाँति ब्रह्मचर्य–व्रत धारण करके वन में रहना चाहते हैं किन्तु उनके कर्म, गुण एवं स्वभाव के अनुसार प्रभु श्रीराम उनकी व्यवस्था कर ही देते हैं। उन्होंने लक्ष्मण को तो ब्राह्मण बना लिया एवं भरत को क्षत्रिय– इसलिए कि भरत में क्षत्रियोचित गुण–धर्म स्वभावतः है। वे प्रजा को पुत्रवत् मान रहे हैं, प्रजा को पुत्रवत् मानने की उनमें क्षमता है। सुमन्त्र में वैश्यत्व स्वाभाविक है इसलिए कि राजा दशरथ के समय भी आय–व्यय का सम्पूर्ण भार उन्हीं के ऊपर था तथा शत्रुघ्न में स्वाभाविक ही श्रीराम, लक्ष्मण एवं भरत के प्रति सेवाभाव था, इसलिए उन्हें स्वाभाविक ही शूद्र अर्थात् सेवक पद दे दिया गया।

फिर महात्मा अर्जुन के मन में आया कि अच्छा होता कि प्रभु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के स्वभाव को पुनः सविस्तार बताते। मन की बात ताड़कर प्रभु ने कहा–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

हे पार्थ! शम, दम, उपरति, तितिक्षा, यम, नियम, आदि का पालन, तप, स्वाध्याय तथा ब्रह्म का प्रचार–प्रसार, ब्रह्म की अवधारणा, ब्रह्म के लिये ही जीना–मरना; अहिंसा आदि व्रतों के साथ रहना और भीतर–बाहर से पवित्र रहने के स्वभाववाला पुरुष ब्राह्मण कहा जाता है क्योंकि यही उसके स्वाभाविक गुण हैं। वैसे ही शूरता, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्ध से पलायन न करना, दान देने का स्वभाव तथा स्वामीभाव ये क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं और खेती करना, गो पालन करना, व्यापार करना वैश्य के स्वाभाविक गुण हैं तथा इन तीनों वर्णों की अध्यक्षता में रहकर सेवा करना ये शूद्र का स्वाभाविक गुण है।

महाराज देखता है कि बहुत से लोग कथाओं का लोगों के बीच अपनी सुविधानुसार प्रचार–प्रसार करते हैं। उन्हीं लोगों ने वर्ण–व्यवस्था को भी अपने ढंग से व्यवस्थित करने का प्रयास किया है तथा स्वाभाविक एवं सहज कर्म को भी वर्ग एवं जाति से जोड़ने का प्रयास किया है। महाराज पद्मपुराण में वर्णित एक ऐसी कथा को दे रहा है जिससे भगवान के मनोभाव को समझने में अति सुगमता हो जायेगी।

एक मूक नामक चाण्डाल को घर में ही भगवत् प्राप्ति की कामना हो गयी। उसने भगवान के इस अभिप्राय को पूर्व में ही भगवत् कृपा से ही जान लिया कि जब कर्म में प्रीति न हो, लोभ में प्रवृत्ति न हो, एकमात्र भगवान की ही कामना हो तो उसे कर्म मार्ग का परित्याग कर देना चाहिये, भले ही वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में से कोई भी क्यों न हो। ऐसा सोचकर उसने घर में ही खगवृत्ति से जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। जब किसान फसल काट लेते, तब वह पक्षी की तरह दाना चुगकर लाता और बाल–बच्चोंसहित उदर–पोषण करता। यही नहीं, वह जगत से मौनी होकर रहने लगा, इसलिए मूक कहलाया। अपने बाल–बच्चों से भी उसने इसी वृत्ति को स्वीकार करने को कहा तथा वह अहर्निश प्रभु नाम जपा करता। बाल–बच्चों की दुर्दशा को देखकर वह रोज धर्मपत्नी के द्वारा प्रताड़ित होता तो कहता कि यदि कर्म करके अच्छीप्रकार रह सकते हो तो कर्म करो। वह भक्त संन्यासोचित कर्म–धर्म को ही धारण किये हुए शम, दम, अहिंसा आदि व्रतों के साथ रहने लगा। एक दिन वह नदी के तट पर स्नान कर रहा था तो उसके जर्जर हुए वस्त्रों के स्थान पर प्रभु ने अच्छे वस्त्र रख दिये। उन वस्त्रों को देखकर उसने सोचा कि किसी के वस्त्र यहाँ पर छूट गये होंगे। उन वस्त्रों को नहीं लेने पर भगवान ने राह में हीरे रख दिये। उसने सोचा कि लगता है यह किसी की माया है, यदि भगवान की भी माया है तो क्या हुआ? जबतक वह बोलेगा नहीं तबतक कुछ भी नहीं लूँगा और अपने व्रत में ही रहूँगा। अब भगवान ज्योतिषी के रूप में गाँव में आकर सबका भविष्य

बताने लगे। मूक भक्त की धर्मपत्नी से कहा कि मेरा ज्योतिष कहता है कि तुम बाल–बच्चोंसहित, अपने पति से बहुत पीड़ित हो रही हो। पाँच दिन पूर्व तुम्हारे पति को बहुत सी सम्पत्ति मिली थी। भगवान ने हीरा दिया था, उसने लिया ही नहीं। धर्मपत्नी दौड़ी हुई गयी और अपने पति को ज्योतिषी के पास ले आयी तथा पूछा कि ये जो कह रहे हैं, वह सत्य है क्या? भक्त ने कहा कि हाँ सत्य है लेकिन तुम जानती नहीं हो कि धन ही तो सारे अनर्थों का मूल है? यह सुन ज्योतिषी ने कहा कि तुम कैसी बात कह रहे हो? बिना धन के धर्म होता है क्या? गृहस्थाश्रम में रहते हो, दान कैसे करोगे? मूक भक्त ने कहा– दान! कैसा दान? जब मैंने स्वयं को ही दान कर दिया है तो दान किस बात का? ज्योतिषी ने कहा 'अच्छा तो तुम देव पूजा कैसे करोगे? क्योंकि यह तो गृहस्थाश्रम का मूल है।' भक्त ने कहा कि जब मैंने अपने मन की ही पूजा नहीं की, तो देव पूजा कैसी? यह जो मेरा अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रत है– यही मेरा योग है, जप है, तप है तथा दान है। ऐसा कहते हुए वह चलता बना। जैसे ही वह चला वैसे ही भगवान प्रकट हो गये।

जिसके पास मन की चंचलता को रोकने के लिये चिन्तनरूप साधन है, जिससे शम नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है, वही ब्राह्मण है तथा शम की प्राप्ति होने पर जो इन्द्रिय निग्रह होता है वही दम कहलाता है। शम, दम के प्राप्त होने पर जो प्रतिकूलता आती है उस प्रतिकूलता को सहन करना तप कहलाता है। ब्रह्मभाव ही परम पवित्रता कही जाती है। सभी अशान्त करना चाहते हैं लेकिन अशान्त नहीं हो रहा है; अतः मन, वाणी की कोमलतावाला वह ज्ञान–विज्ञान से सम्पन्न, निश्चितरूप से इस जीवजगत में ब्रह्म है। उसके लिये किसी जाति–वर्ण की बात नहीं की जा सकती।

मूक भक्त की जीवनी को देखकर जातिगत ब्राह्मणवाद तो धराशायी हो ही गया होगा। यह उन लोगों का प्रत्युत्तर है जो यह कहते हैं कि पुत्र जबतक माता–पिता आदि की सेवा नहीं करेगा तबतक उसका उद्धार नहीं होगा। वे मनगढ़ंत कथाओं के द्वारा अथवा कथाओं का स्वयं से अर्थ करके, यह सिद्ध करते हैं कि शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ, कोल–भील आदि को मन्दिर में नहीं जाना चाहिये तथा भजन नहीं करना चाहिये। उनको सदन कसाई एवं संत रैदास की कथा क्या मिल गयी, जातिवाद के अनुसार कर्म करने का उपदेश देने के लिये सहारा मिल गया। इसप्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में आने पर आपके कर्म, गुण एवं स्वभाव के अुनसार आपकी जाति का निर्णय किया जायेगा भले ही आप किसी भी जाति से क्यों न आये हों।

(शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं.....) भगवान ने इस मंत्र के द्वारा यह सिद्ध किया है कि अर्जुन में ये सम्पूर्ण गुण हैं; इसलिए वे स्वयं अपने स्वाभाविक गुणों को याद करें तथा वे यह भी जान लें कि जिसप्रकार जाग्रत् में निद्रा प्रवेश कर जाती है, उसीप्रकार थोड़े से समय के लिये उनमें क्षत्रिय स्वभाव के विरुद्ध संन्यासी का धर्म प्रवेश कर गया था।

युद्ध की तरफ यदि रुख करते हैं तो मानो भगवान कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह आर्यावर्त महात्माओं की भूमि है, धर्मवीरों एवं तेजवानों की भूमि है। जो प्रजा की सुरक्षा के लिये अपने

प्राणों की आहुति तक दे देता है वही क्षत्रिय है, वही मेरा छत्र है। यही छत्र आज नराधम दुर्योधन के पास चला गया है, जिसे छीनकर मुझे तुम्हें देना है। 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं.....' ये क्षत्रिय तो हैं ही नहीं, ये सब के सब इस समय कर्म और स्वभाव से वैश्य हो गये हैं, चाण्डाल हो गये हैं, राक्षस हो गये हैं; तो इन्हें राजपद लेने का क्या अधिकार है? इसलिए इनका वध करना तुम्हारा धर्म हो जाता है। इसप्रकार व्यक्ति का जैसे ही धर्म–कर्म बदलता है, वैसे ही उसका वही रूप हो जाता है।

एक साधक अपने एक क्षत्रिय भक्त के पास ठहरा हुआ था। वहाँ पर उस साधक के पिता भी दर्शन को चले आये जो ब्राह्मण थे। वे किसी क्षत्रिय के भी हाथ का बना हुआ नहीं खाते थे। लोगों ने पूछा कि महाराज! आप तो हमारा बनाया हुआ नहीं खायेंगे? तो क्या आप स्वयं बनायेंगे अथवा किसी ब्राह्मण का प्रबन्ध किया जाये? उन्होंने कहा कि आज तो मैं महाराजजी के पास आया हूँ, अतः इनका ही प्रसाद पाऊँगा। इसप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता। '.....परिचर्यात्मकं कर्म.....' इस न्याय से जिसका माता, पिता एवं बड़े, बूढ़ों की सेवा आदि में मन लगता है, वही यहाँ शूद्र (सेवक) के अर्थ में लिया जायेगा। जो अपने स्वाभाविक कर्म–धर्म से व्यवहार करता है उसके लिए भगवान कहते हैं–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

अपने अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म को करते हुए परब्रह्म परमात्मा को समर्पित करके ही साधक भगवद्सिद्धिरूप परम लाभ को प्राप्त कर जाता है। जिस निर्गुण–निराकार ब्रह्म से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है तथा यह जगत जिससे व्याप्त है उसी प्रभु की अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्मरूपी फूलों से पूजा करने से मानव को अपने आत्मस्वरूप की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

अपने स्वाभाविक कर्म, धर्म का निर्णय व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता है। जब वह ब्रह्म–जिज्ञासु हो जायेगा तो मनमाना कर्म नहीं कर सकता; क्योंकि वहाँ वह सद्गुरु की आज्ञा में होता है। अतः उसका प्रत्येक कर्म सद्गुरु (ब्रह्म) को ही समर्पित होता है। कर्मफल समर्पित होने के कारण ही ब्रह्म सामने आता है, जैसे लक्ष्मण और हनुमान के सामने शूर्पणखा एवं सुरसा का आना। जब इन दोनों महापुरुषों ने इस प्राप्त फल का परित्याग कर दिया, तब उन दोनों को उनका अभीष्ट मनोरथ 'ब्रह्मज्ञान' प्राप्त हो गया।

सन् १९८४ में एक भक्त ने पूछा कि महाराजजी! आपके सभी भक्तों में मैं ही गरीब क्यों हूँ? महाराज ने कहा– 'कल बताया जायेगा।' सुबह वह भक्त आया तो महाराज ने पूर्व की योजनानुसार कहा कि अरे नीलाम्बर! दिल्ली से फोन आया है, महाराज को पाँच हजार रुपये

की अति आवश्यकता है। उसने कहा कि गुरुदेव! आप पाँच हजार की बात कर रहे हैं, पाँच पैसा भी मेरे पास नहीं है। महाराज ने कहा कि नेतागिरी करते हो तो क्या इतना भी तुम्हें कोई नहीं देगा? उसके उत्तर न देने पर महाराज ने कहा कि कुछ खेत बेच दो या गिरवी रख दो! उसने कहा कि गुरुदेव! कौड़ी का मोल भी कोई नहीं लेगा। महाराज मौन हो गया। पुनः दूसरे दिन उसके आते ही महाराज की पूर्व योजनानुसार एक भक्त ने कहा कि अरे नीलाम्बर! तुम यहाँ हो और उधर तुम्हारे बच्चे के दोनों पावों को जीप ने कुचल दिया है। ऐसा सुनते ही नीलाम्बर ठिठका सा रह गया। महाराज ने उसकी घबराहट को देखकर कहा कि अरे कन्हैया! (बक्सर, बिहार) अब यह पैसा कहाँ से पायेगा? कम से कम पचास हजार रुपये दे दो। नीलाम्बर ने दुःखी होकर कहा कि नहीं महाराजजी! मैं अभी खेत बेच दूँगा; क्योंकि डेढ़–दो लाख के बिना काम नहीं चलेगा। महाराज ने कहा– खेत इतना महँगा बिकेगा? उसने कहा कि महाराजजी! यहाँ तो लोग खेत के लिये मुँह बाये (लालायित) खड़े रहते हैं। तब महाराज ने हँसते हुए कहा कि तुम इसी से गरीब हो, क्योंकि तुम अपने स्वधर्म का पालन नहीं करते हो। महाराज ने वह जो पाँच हजार रुपये माँगे थे, वे तो तुम्हारी परीक्षा के लिये थे। अब चलो, महाराज दिखाता है कि कोई धनवान क्यों होता है। महाराज शाम को पड़ोसी गाँव रामपुर में भक्त ओझाजी के पास पहुँचा। उन्होंने सामने जलपान रखा तो महाराज ने कहा कि जलपान तो नहीं कर सकता महाराज। उन्होंने पूछा कि क्यों? कोई अपराध हो गया मेरे से? महाराज ने कहा– नहीं, नहीं, महाराज ने सोच रखा है कि जो पचास हजार रुपये देगा, उसी के यहाँ कुछ खायेगा–पीयेगा। उन्होंने मस्ती में हँसते हुए कहा कि पाया जाय, पाया जाय महाराज! पैसा कब चाहिये? महाराज ने कहा कि कल शाम को। महाराज ने पूछा कि अभी बच्ची का विवाह किया है आपने, फिर पैसा कहाँ से आयेगा? उन्होंने फिर ठहाका लगाया कि मैंने तो आपसे यह नहीं पूछा कि आप पैसे का क्या करेंगे? क्योंकि दाता का यह पूछने का धर्म नहीं होता, उसीप्रकार माँगनेवाला यह नहीं पूछता कि आप पैसे कहाँ से लायेंगे। वैसे भी यह मकान, खेत सब आपका है; आपकी ही वस्तु तो आपको देनी है। महाराज ने कहा कि पैसा मिल गया। आपकी परीक्षा हो रही थी जिसमें आपने महत् सफलता प्राप्त की है। आपके ही विद्यार्थी नीलाम्बर के एक प्रश्न का उत्तर देना था कि वह गरीब क्यों है।

(यतः प्रवृत्तिर्भूतानां.....) भगवान ने इस मंत्र के द्वारा उन स्वार्थपरक पुरुषों पर करारी चोट की है। उन्होंने कहा कि जिससे जगत की उत्पत्ति हुई है तथा जो सर्वत्र व्याप्त है अर्थात् जो सबका आधार है, उसकी प्रसन्नता के निमित्त कर्म करने पर वह ब्रह्म ही प्राप्त हो जाता है। इस न्याय से इस भाववाला पुरुष लाखों में कोई एक होता है। कोई अपने हृदय से पूछे कि वह किसकी प्रसन्नता के लिये कर्म कर रहा है? प्रायः सभी अपने बाल–बच्चों, परिवार–कुटुम्ब, हित–नातेदार आदि की प्रसन्नता के लिये ही कर्म करते हैं। यदि कोई खोज करे तो चौबीस घण्टे में उसे इसका पता चल जायेगा।

सारे के सारे लोग कुत्ते जैसा जीवन जीते हैं। विषयी पुत्र विषयी माता–पिता का कुत्ता है, वे माता–पिता विषयी पुत्र के कुत्ते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण नातों को समझना चाहिये। रोटी डालते

ही कुत्ता उसका हो जाता है और जीवनपर्यन्त उसी की नौकरी–चाकरी करने लगता है। कुत्ता अपने जीवन को दाव पर लगाकर स्वामी की सेवकाई करने से मुक्तिधाम को नहीं चला जाता, ब्रह्मज्ञानी नहीं हो जाता। एक आज का कुत्ता है तो दूसरा कल का कुत्ता हो जाता है। बचपन का कुत्ता, बाद में बुढ़ापे का कुत्ता इन दोनों में क्या अन्तर है! लोग कहते हैं कि मातृ–पितृभक्त होना चाहिये। अरे! कैसा मातृभक्त, पितृभक्त, पतिभक्त? लक्ष्मण तो पितृभक्त थे नहीं, उसके विपरीत भी उन्होंने आत्मलाभ किया। ऐसी जगह वह बात कहाँ चली जाती है जहाँ पर अपने माता–पिता की सेवा कर ईश्वर प्राप्ति की बात कही जाती है। अरे! किसी संत ने देखा कि यह जड़ बुद्धिवाला है, योग, जप, चिन्तन, मनन, स्वाध्याय आदि क्या करेगा? उसके लिये वह कह देता है कि माता–पिता देवता हैं; अतः उनकी सेवा–शुश्रूषा करोगे तो भगवान मिल जायेगा। यदि ऐसा न कहे तो उन जड़ मनुष्यों का जीवन ही व्यर्थ चला जायेगा, कम से कम देवत्व बुद्धि आयेगी तभी तो परम तत्त्व की तरफ वे गमन करेंगे!

(.....स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य.....) साधक अपने स्वकर्म से ही ब्रह्म की पूजा करे, परकर्म से नहीं। अपना–अपना स्वकर्म अलग–अलग होता है, यदि किसी पुरुष का स्वभाव भक्त का है तो वह भक्त का कर्म करे भले ही शूद्र के घर में ही क्यों न जन्मा हो। किसी ने महाराज से पूछा कि तब तो शूद्र विवाह–शादी करा सकता है, पूजा–पाठ करा सकता है, यज्ञादि कर्म करा सकता है? नहीं–नहीं, भगवान का यहाँ पर ऐसा आशय नहीं है। वे तो भक्त के स्वभावानुसार उसके साधना की व्यवस्था दे रहे हैं न कि कर्म की। भगवान देवपूजा की बात कर ही नहीं रहे हैं। आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है ही नहीं, यज्ञ तथा पूजा–पाठ से है ही नहीं। जनेऊ पहनकर कोई ब्राह्मण हो जायेगा, ऐसा भगवान नहीं कहते। यज्ञ करना–कराना, पूजा–पाठ करना–कराना, उपरोहित्य कर्म करना ब्राह्मण जाति का कर्म है न कि ब्राह्मण–कुल में जन्मे हुए भक्त का। यदि ऐसा होता तो भक्त सुदामा भूखे नहीं मरते? इसीप्रकार क्षत्रिय जाति में जन्मे हुए पुरुष का कर्म धर्मयुद्ध करना एवं प्रजापालन करना है न कि क्षत्रिय जाति में जन्मे हुए भक्त का। फिर तो भगवान बुद्ध को ज्ञान नहीं होना चाहिये था अथवा बहुत से क्षत्रिय बालक प्रारम्भ से ही भागवत धर्म स्वीकार कर लेते हैं, फिर तो उनकी साधना सिद्ध नहीं होनी चाहिये? इसप्रकार वैश्य एवं शूद्र जाति के सन्दर्भ में भी जानना चाहिये। किसी भी वर्ग में जन्मे हुए भक्त का एक ही धर्म है, वह है भागवत धर्म। इस धर्म को धारणकर वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियों से मुक्त होकर ब्रह्मजाति का हो जाता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

देखने–सुनने में बहुत मधुर एवं प्रीतिकर लगनेवाले दूसरे के कर्म–धर्म से अपना अच्छीप्रकार

से किया हुआ स्वाभाविक कर्म–धर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि अपने स्वाभाविक कर्मरूप धर्म को पालन करता हुआ पुरुष पाप को प्राप्त नहीं होता। अतः हे कौन्तेय! देखने में दोषों से परिपूर्ण अपने स्वाभाविक कर्तव्यकर्मों को त्यागना नहीं चाहिए क्योंकि जिसप्रकार सम्पूर्ण ईंधन, धुएँ से आच्छादित रहता है उसीप्रकार सम्पूर्ण कर्म किसी न किसी दोष से दूषित हैं।

पराये के धर्म को स्वीकार कर लेना तो मृत्यु को स्वीकार कर लेने जैसा है। कैसा पराया धर्म? यहाँ पर भगवान ने विलक्षण बात कही है। उन्होंने जितना कहा है, देखते बनता है। उन्होंने कहा कि माँ का स्वभाव कुछ और है, पिता का कुछ और, भाई का स्वभाव कुछ और, मित्र का स्वभाव कुछ और, धर्मपत्नी का स्वभाव कुछ और है तथा धर्मपति का स्वभाव कुछ और है तो भक्त इनमें से किसी के स्वभाव को स्वीकार न करे। पिता चमड़े की पूजा करता है अर्थात् मोह से ग्रसित है तो भक्त बालक–बालिकाएँ चमड़े के पुजारी न बनें। माँ पेट की ही पुजारिन है तो भक्त बालक–बालिकाएँ भोजन के ही पुजारी न बनें। धर्मपत्नी एकमात्र वासना की पुजारिन है तो भक्तपति काम का पुजारी न बने। भक्त बालक–बालिकाएँ अपने माता–पिता, भाई–बान्धवों तथा जाति के स्वभाव को धारण क्यों करेंगे? वे अपना कर्म–धर्म लेकर आये हैं अतः वे विषयी स्वजनों के स्वभाव को क्यों धारण करेंगे।

महाराज दशरथ की तीन रानियाँ थीं लेकिन प्रभु राम ने तो उनके स्वभाव को धारण नहीं किया। उनकी तो एक ही धर्मपत्नी थी। यदि पिता के स्वभाव को उन्होंने धारण किया होता तो आज घर–घर में उनकी पूजा नहीं होती। सबके हृदय के देवता बननेवाले भगवान श्रीराम अपने पिता के सम्पूर्ण कर्म–धर्म को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि स्वभाव से वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण राम फिर ब्रह्म हो जाते हैं। ब्रह्म भक्तों के लिये जीता है, लव तथा कुश के विपक्ष में खड़े होने पर दया न करनेवाले राम अपने पुत्रों के लिये नहीं जीते, प्रजा के लिये जीते हैं। कैकेयी एवं पुत्रों के लिये राजा दशरथ जीते हैं लेकिन श्रीराम भगवती सीता, पुत्रों एवं परिवार के लिये नहीं जीते।

इसप्रकार अपने सहजधर्म में विचरता हुआ कोई पुरुष उस धर्म का सम्पादन करके उससे प्राप्त होनेवाले फल को ब्रह्म को समर्पित कर दे तो ब्रह्म सिद्धि हो जाती है; ब्रह्मसिद्धि अर्थात् 'मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ' ऐसी अनुभूति हो जाती है।

एक साधक ने महाराज से कहा कि जब मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था, उस समय एक दिन स्वप्न में इष्ट का दर्शन हुआ और उसी दिन से भगवत् भजन में लग गया। एक माँ को छोड़कर बाकी सभी ने यहाँ तक कि अध्यापकों ने भी यह कह दिया कि यह पागल हो गया है। वर्षभर बाद सबने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि लगता है यह भक्त है, साधक है। ग्यारहवीं कक्षा में जाने पर लोगों को लगा कि यह सिद्ध है। तत्पश्चात् मैंने संन्यास ले लिया तथा लोगों ने कहा कि अरे! वे तो सन्त ही थे। चौथी कक्षा से आठवीं कक्षा तक मेरे पास कल्पना का भगवान था। नवीं कक्षा में सचमुच में स्वप्न में भगवान आ गये तब उनकी विशेष उपासना प्रारम्भ हो गयी। उस भगवान ने 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया', 'कहाँ जाऊँगा', 'निर्गुण निराकर ब्रह्म क्या

है'; जन्म, मृत्यु, बन्धन तथा मोक्ष का रहस्य क्या है, संसार की उत्पत्ति का कारण एवं माया का स्वरूप क्या है– इस जिज्ञासा तक पहुँचा दिया अर्थात् आध्यात्मिक भूमि तक पहुँचा दिया। आध्यात्मिक भूमि में पहुँचने पर सद्गुरु मिल गया। डेढ़ वर्ष पश्चात् हिमालय को चल दिया, रास्ते में वही संत मिले जो स्वप्न में मिले थे। उन्हीं को सद्गुरु बनाया जिन्होंने सम्पूर्ण रहस्यों को खोल दिया। उस समय मैंने अपने धर्म को देखा न कि जाति या परिवार के धर्म को और जैसे ही भागवत धर्म को अपनाया तो भले ही पिता, भाई–बान्धव रोते रहे, मैं बड़ी तेजी से आगे बढ़ता गया। उनकी आह अथवा वेदना का कोई भी असर न पड़ा। इस न्याय से भी मैं जानता हूँ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि से अलग हटकर एक भक्त की जाति होती है, जिसे ब्रह्मजाति कहते हैं; एक भक्त का धर्म होता है, जिसे भागवत धर्म कहते हैं।

(श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः.....) इस न्याय से दूसरे के धर्म से अपना स्वाभाविक धर्म ही श्रेष्ठ है, भले ही लोग यह कहते रहें कि ऐसा कैसा भागवत धर्म है अर्थात् भक्त का धर्म है, जिसमें भिखारी जैसे भीख माँगकर खाना है अथवा कुत्ते जैसा दूसरे की रोटी की आस लगाये रहना है अथवा पक्षी जैसा चुन–चुनकर खाना है। इस न्याय से भक्त के लिये पिता का धर्म पराया धर्म है, पुत्र का धर्म पराया धर्म है, पत्नी का धर्म पराया धर्म है, हित–मित्रों का धर्म पराया धर्म है, जाति–वर्ण का धर्म पराया धर्म है। इसप्रकार यदि भक्त स्वाभाविक कर्म करता है तो उसे पाप स्पर्श नहीं करता।

(सहजं कर्म कौन्तेय.....) अतः भगवान का आशय है कि भगवदर्थ कर्म सहज है अर्थात् भगवान के लिये जीना सहज है तथा अज्ञानियों के लिये जीना असहज है। एकमात्र अज्ञानियों की दृष्टि में ही साधु–सन्त आलसी, प्रमादी एवं निठल्ले दिखते हैं। अतः उनके कहने से भक्तों का धर्म दोषयुक्त नहीं हो जायेगा, भक्तों एवं सन्तों का जीवन कलंकित नहीं हो जायेगा। ऐसा सोचकर साधक अपनी शक्ति–सामर्थ्य एवं स्वभाव को देखे और निर्णय करे कि मैं ध्यान का अधिकारी हूँ या जप का, मैं स्वाध्याय का अधिकारी हूँ या गुरु आश्रम में झाड़ू लगाने का। अपने स्वभावानुसार एक साधक बारह घण्टे ध्यान में बैठता है तो दूसरा बारह घण्टे जप करता है, तीसरा साधक बारह घण्टे स्वाध्याय करता है तथा चौथा बारह घण्टे कर्मयोग करता है। तो भले ही किसी की दृष्टि में कोई साधना उत्कृष्ट हो या निकृष्ट लेकिन स्वभावानुसार होने के कारण उन चारों को एक ही भगवद् सिद्धिरूप फल मिलेगा। जिसप्रकार कोई भी लकड़ी धुएँ से रहित नहीं है, उसीप्रकार कोई भी कर्म दोष से रहित नहीं है।

स्वयं महाराज प्रथम चरण में एकमात्र भगवान का भजन गाकर उन्हें सुनाता था। यद्यपि जानता था कि ध्रुव, प्रह्लाद ने दिन–रात जप किया है लेकिन मन जप में लगता ही न था; बस भगवान का गुणानुवाद करता था कालान्तर में उसी सामवेद ने ब्रह्मवेद तक पहुँचा दिया इसलिए –

असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

जो पुरुष सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला है, सर्वत्र इच्छारहित एवं जितेन्द्रिय है वह संन्यासयोग के द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। हे पार्थ! वह नैष्कर्म्यसिद्धिरूप ब्रह्म संन्यासयोग के द्वारा कैसे प्राप्त होगा, इसे संक्षेप में कहता हूँ, ध्यान से सुनो।

यह ब्रह्मविद्या का एक अलौकिक मंत्र सामने आया है जो किसी भी पुराण और शास्त्र में नहीं पाया जाता। सृष्टि का यह प्रथम एवं अन्तिम दिव्य शास्त्र है जिसने मुक्त कण्ठ से भगवत् प्राप्ति होने के उपरान्त नैष्कर्म्यसिद्धि के प्राप्त होने की बात की है। यदि आप जान गये कि मैं आत्मा हूँ तो इतने से सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये; क्योंकि 'मैं आत्मा हूँ' यह सिद्ध की सिद्धि है; किन्तु आत्मा की सिद्धि है 'नैष्कर्म्यसिद्धि'। इसे इसप्रकार समझें– पशु–पक्षी की सिद्धि है मनुष्ययोनि को प्राप्त करना, मनुष्ययोनि की सिद्धि है भगवान के पास सकामी भक्त हो जाना, सकामी भक्त की सिद्धि है निष्कामी हो जाना, निष्कामी भक्त की सिद्धि है आत्मज्ञानी हो जाना, आत्मज्ञानी की सिद्धि है नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर जाना। जब आप छठे अध्याय, नवें अध्याय, चौदहवें–पन्द्रहवें अध्याय आदि में वर्णित किसी भी साधना से सिद्ध हो गये, सर्वज्ञ हो गये तो इतने से ही सन्तोष मत कर लेना। इस सर्वज्ञता को ब्रह्म की सर्वज्ञता नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि साधकों को प्राकृत सर्वज्ञता की सिद्धि भी मिलती है। जप, तप, योगादि की साधना से प्रकृति के सम्पूर्ण अंग–उपांगों पर अधिकार हो जाता है, प्रकृति के गर्भ में कौन सी वस्तु कहाँ छिपी हुई है, इसका पता चल जाता है। इसे भी लोग सर्वज्ञता कहते हैं। शरीर पर, इन्द्रियों पर, मन, बुद्धि, चित्त पर सम्पूर्णता से आपका अधिकार हो गया तो आप सगुण ब्रह्म हो गये। आप आकाश में गमन करते हैं, पृथ्वी में समा जाते हैं, सबके मन की बात जान लेते हैं; यही नहीं, आप स्वयं को शरीर नहीं ब्रह्म मान बैठे हैं तो भी एकमात्र इतने से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये।

महात्मा अर्जुन ने मानो पूछा कि हे प्रभु! ऐसे ब्रह्मस्वरूप हुए पुरुष को भी घोर तप करने की आवश्यकता है क्या? भगवान ने कहा– क्यों नहीं! उसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना है। ऐसा सुनते ही भक्त अर्जुन ने आश्चर्य की भाँति भगवान की ओर देखा, संजय ने धृतराष्ट्र की ओर देखा, व्यासजी को समाधि लग गयी, आकाश में स्थित सिद्धों ने भी एक–दूसरे की ओर देखा और कहने लगे, ''यह क्या? यह तो कल्पना से बाहर की बात है।'' जिसने 'मैं ब्रह्म हूँ' सद्गुरु के मुख से सुन लिया है, चित्तशुद्धि के उपरान्त देख लिया है, प्रकृति विजेता भी हो गया है, भूत–भविष्य का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ हो गया है; फिर भी नैष्कर्म्यसिद्धि के लिये साधना करना! यह तो आश्चर्य है लेकिन नैष्कर्म्यसिद्धि क्या है, इसे जानने के लिये वे सब पुनः सावधान हो गये।

जब कोई अपने को सर्वज्ञ मानता है, अपने को सिद्ध कहता है, तो उसी समय वह अल्पज्ञ

हो जाता है। विश्वामित्र ने नये स्वर्ग का सृजन किया तो भी वे अल्पज्ञ अर्थात् असिद्ध ही रहे। क्योंकि उनकी सर्वज्ञता एवं सामर्थ्यता को चुनौती देते हुए मेनका एवं उर्वशी ने भंग कर दिया। तो नैष्कर्म्यसिद्धि कहते किसे हैं, इसे सुनें–

आपने वरदान दे दिया उसके उपरान्त लगे ही नहीं कि आपने वरदान भी दिया है, आपने करुणा की, कृपा की, दया की लेकिन आपको लगे ही नहीं कि मैंने करुणा, कृपा या दया की है। यह एक ऐसी सिद्धि है जिसे पाकर जगत में सबकुछ किया जाता है अर्थात् देखा जाता है, सुना जाता है, बोला जाता है, मनन–चिन्तन किया जाता है लेकिन लगता नहीं है कि मैंने यह सबकुछ किया है अर्थात् विषय की विषयता उसके चित्त पर प्रभाव डाले बिना बाहर की बाहर रह जाती है– यही नैष्कर्म्यसिद्धि है। प्रथमावस्था में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा मानता है, द्वितीयावस्था में ब्रह्म हो जाता है, तृतीयावस्था में नैष्कर्म्यसिद्धि के लिये प्रयास करता है। भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! संत के उस नैष्कर्म्यसिद्धि को मैं थोड़े में बता रहा हूँ, इसे सावधान होकर सुनो, कल्पना बाद में कर लेना। यह नैष्कर्म्यसिद्धि तो संन्यासयोग के द्वारा प्राप्त होती है।

संन्यासयोग के द्वारा यह कैसे प्राप्त होती है, इसे तो अगले मंत्रों में स्पष्ट किया जायेगा, लेकिन यदि भगवान इसे विस्तार से बताते तो निश्चितरूप से प्रयोग करके बताते। वह प्रयोग कैसा होता? महाराज उस प्रयोग को एक संत के प्रसंग के माध्यम से स्पष्ट करता है–

एक सद्गुरु ने अपने एक शिष्य को साथ लिया। भिखारी का वेश बनाकर साधक से कहा कि चाहे कोई कुछ भी कहे तुम उसका प्रतिकार मत करना। ग्यारह बजे रात्रि को संत ने एक गृहस्थ का दरवाजा खटखटाया। घर के स्वामी ने दरवाजा खोला तो देखा– दो हट्टे–कट्टे भिखारी हैं। देखते ही उसने गर्जना की भागो! और दरवाजा बन्द कर दिया। कच्ची नींद में वे बाधा बन गये थे। पाँच मिनट बाद फिर संत ने दरवाजा खटखटाया। इस बार वह गाली बकता हुआ दरवाजा खोला और कहा कि ऐसा व्यवहार करने पर लाज को भी लाज आ जाती है लेकिन तुम दोनों को तो लाज भी नहीं लगती है। अरे निर्लज्ज! दोनों हट्टे–कट्टे हो, कमाकर खा ही सकते हो! अब शिष्य तमतमा गया, वह आँखें तरेरकर उस गृहस्थ को शाप देने ही वाला था कि तबतक उस गृहस्थ ने झटके से दरवाजा बन्द किया और जाकर सो गया। सद्गुरु ने शिष्य को शान्त किया तथा कहा कि ऐसी अवस्था में भी चित्त पर प्रभाव न पड़े, इसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि कहते हैं। तुम अपने को आत्मा मानते हो तथा वह अपने को शरीर मानता है, वह हमलोगों के व्यवहार से आगबबूला हो गया और तुम उसके व्यवहार से आगबबूले हो गये तो उसमें तथा तुममें क्या अन्तर रह गया! तुमने तो गीताजी के दूसरे अध्याय में पढ़ा ही है कि 'वेदाविनाशिनं नित्यं.....कं घातयति हन्ति कम्' जो जानता है कि मैं आत्मा हूँ वह कैसे समझता है कि उसको मैंने मारा और वह मर गया। उसीप्रकार इसने तो समझा कि मैं इनका अपमान कर रहा हूँ; क्योंकि वह अपने को शरीर ही मानता है लेकिन तुम तो अपने को आत्मा मानते हो! तो तुमने कैसे समझ लिया कि उसने तुमको गाली दी? शिष्य ने कहा कि गुरुदेव वह मुझे गाली दे ले लेकिन मेरे सामने आपको गाली दे यह मुझसे असह्य है। सद्गुरु ने कहा कि 'मुझे

और आपको'– ऐसा भाव कैसे आया? फिर तो तुम मुझे भी शरीर ही मान रहे हो! शिष्य ने कहा कि यदि शरीर नहीं मानूँ तो आपकी पिटाई होती रहे और मैं देखता रहूँ? जब आप मेरे लिये जी सकते हैं तो मैं आपके लिये क्यों नहीं जी सकता? सद्गुरु ने कहा– हाँ, हाँ, क्यों नहीं; लेकिन नैष्कर्म्यसिद्धि वाले का जीना कुछ और ही होता है। यदि तुम्हारी जगह मैं रहता तो उस पुरुष को शरीर न मानकर आत्मा समझकर बड़े प्रेम से कहता कि हट्टा–कट्टा शरीर हो सकता है, आत्मा नहीं हो सकता; आलसी एवं कर्मठ शरीर हो सकता है, आत्मा नहीं हो सकता। क्या आपने अपने शरीर को बच्चे से जवान, जवान से बूढ़ा बनाया है? माना कि आप हट्टे–कट्टे हैं, किन्तु क्या आपने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है? क्या जब आपका काल आपके सामने आयेगा तो आप उससे भी इसप्रकार कहेंगे? पुनः सद्गुरु ने शिष्य से कहा कि क्या हनुमानजी के सामने रावण ने उनके प्रभु श्रीरामजी को भला–बुरा नहीं कहा था; तो हनुमानजी ने जो प्रत्युत्तर किया, तुम उस आदर्श को नहीं जानते हो? ऐसा कहकर सद्गुरु ने शिष्य से कहा कि अच्छा! अब इसे एकमात्र तुम लीला के रूप में देखना, किसी घटना का प्रतिकार मत करना। ऐसा कहकर सद्गुरु ने पुनः दरवाजा खटखटा दिया। नींद के सुख में अति आसक्त वह पुरुष यह चिल्लाता हुआ बाहर निकला कि ठहरो! मैं तुम दोनों को अभी बताता हूँ– दोनों को धक्का देकर गिरा दिया। फिर लात–घूसों से मारता हुआ सद्गुरु को घसीटकर सड़क पर ले गया। पुनः शिष्य पर टूट पड़ा तथा जिसप्रकार सिंह हिरण को घसीटता है वैसे ही घसीटते हुए पटक–पटककर सड़क पर ले जाकर छोड़ दिया और जाकर सो गया। सद्गुरु ने पुनः दरवाजा खटखटाया तथा कहा– माना कि हमने आपको बहुत कष्ट दे दिया है; किन्तु इस वर्षा से बचने के लिये यहाँ कोई मन्दिर अथवा धर्मशाला नहीं है; अतः हमें विवश होकर किसी और का दरवाजा खटखटाना होगा, उसे भी आपकी ही भाँति कष्ट उठाना पड़ेगा। चाहे इस घर में या किसी अन्य में, कहीं न कहीं तो हमें शरण लेनी ही होगी; अतः किसी दूसरे को जो कष्ट होगा उसे आप ही क्यों न उठा लें! संत की वाणी सुनकर उस पुरुष का हृदय दहल गया तथा पश्चात्तापपूर्वक चरणों में गिरकर कहने लगा कि हे प्रभु! कहीं इस भिखारी के वेश में आये हुए आप साक्षात् नर एवं नारायण तो नहीं हैं अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से तो कोई नहीं हैं? क्योंकि इतना अपमान तो ब्रह्म के सिवा कोई दूसरा सहन ही नहीं कर सकता। इसप्रकार उस भक्त को क्षमादान करते हुए शिष्य एवं सद्गुरु ने रात बितायी और सुबह आगे बढ़े।

अब थोड़ा युद्ध के मैदान में आते हैं और देखते हैं कि धृतराष्ट्र के मन में क्या उथल–पुथल मच रही है। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा– हे राजन्!

धृतराष्ट्र ने कहा– हाँ बोलो!

संजय ने कहा– भगवान ने नैष्कर्म्यसिद्धि की बात की है, जिसे मैंने पहली बार सुना है। जो साधक, संत एवं योगी सर्वज्ञ हैं उनके लिए भी एक अलग साधना का विधान बता रहे हैं ये।

धृतराष्ट्र ने कहा– तो क्या ये जो महर्षि व्यास हैं, इस स्थिति में नहीं हैं?

संजय ने कहा कि मैं यह तो नहीं जानता लेकिन प्रभु कह रहे हैं कि जो आकाश में गमन कर सकता है, मन, बुद्धि में गमन कर सकता है, जड़ को चेतन और चेतन को जड़ कर सकता है, यदि वह ब्रह्मभाव से भावित हो गया तो उसे एक अलग साधना करनी चाहिए, जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो।

धृतराष्ट्र ने कहा– अच्छा तो देखो, ये विलक्षण मूर्तिवाले हैं, विलक्षण चित्तवाले हैं, विलक्षण आभावाले हैं, विलक्षण कर्म करते हैं, तो विलक्षण साधना को भी सुनो और मुझे बताओ जो कभी काम आ जाए मेरे।

संजय ने कहा– राजन्! अभी आप ब्रह्म ही नहीं हुए हैं, अभी तो आप साधक ही नहीं हुए हैं, फिर काम कैसे आयेगी सुनी हुई बात?

धृतराष्ट्र ने कहा– सुनते–सुनते तो साधक हो जाऊँगा! बहुत बार तो तुम कहते हो कि सुनने से फल मिलता है तो मुझे कुछ फल नहीं मिल रहा होगा क्या?

संजय ने कहा– अच्छा–अच्छा! तो ठीक है प्रतीक्षा करें राजन्! प्रतीक्षा करें!!

सावधान हो गये संजय, अर्जुन सावधान हो गये और आप सब भी सावधान हो जाएँ।

अब आप सब समझ गये होंगे कि नैष्कर्म्यसिद्धि क्या है और अब अगले मंत्रों द्वारा सुनें कि यह नैष्कर्म्यसिद्धि कैसे प्राप्त की जाती है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, सात्त्विक धृति के द्वारा तन, मन, वचन पर संयमकर शब्द, स्पर्शादि विषयों को त्यागकर उनसे राग–द्वेष से रहित हुआ साधक एकान्त देश अर्थात् वन, गुफा, नदीतट आदि पर रहकर हल्का आहार लेता हुआ, शरीर, वाणी एवं मन से अनासक्त हुआ निर्मल वैराग्य से सदा–सर्वदा ध्यानयोग में रमण करे। इसप्रकार अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर ममतारहित हुआ तथा धैर्यवान साधक ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के योग्य होता है।

जिसने पूर्व की साधनाओं को साध लिया है, उन साधनाओं से प्राप्त होनेवाली आध्यात्मिक शक्ति से विशुद्ध हो गयी है बुद्धि जिसकी, विशुद्ध बुद्धि अर्थात् ब्रह्म की बुद्धि। कैसी ब्रह्म की

बुद्धि? 'मैं आत्मा हूँ' इस ज्ञान से सम्पन्न होनेवाले सन्त की बुद्धि। वह सन्त ही ब्रह्म है, उस संत को मेधाशक्ति प्राप्त होती है, उस मेधाशक्ति से (विशुद्ध बुद्धि से) 'धृत्यात्मानं नियम्य च'– सात्त्विक धृति से अपने शरीर को, वाणी को, मन को, इन्द्रियों को वश में कर लिया है जिसने। ऐसा संत (ब्रह्म) 'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि जहाँ से प्राप्त होते हैं, उन विषयों को त्यागकर; सुन्दर खाने, पीने, देखने तथा सुनने की जिज्ञासा को छोड़कर, किसी से न द्वेष करता हुआ, न राग करता हुआ, सबको आत्मरूप समझकर– 'विविक्तसेवी लघ्वाशी'– एकान्त देश में चला जाय। बहुत दूर, बहुत दूर; अपने प्रदेश से दूर तथा अपने प्रदेश से जो प्रदेश लगते हैं उनसे भी दूर, जहाँ उसको जानने–पहचाननेवाला कोई न हो, जहाँ उसको लगे कि उसका पुनर्जन्म हुआ है, वहाँ चला जाये। आपने देखा होगा कि पश्चिम का संत पूरब चला जाता है, उत्तर का दक्षिण तथा दक्षिण का उत्तर चला जाता है आदि–आदि। रामजी हिमालय नहीं जायेंगे; क्योंकि अयोध्या के निकट है न वह; इसलिए दक्षिण भारत चले जायेंगे। ऋषभदेव आदि जितने भी रघुवंशियों ने संन्यास लिया, उन सबने सुदूर प्रदेशों का ही आश्रय लिया, जहाँ कभी भी उनको कोई अपना न मिले। 'यतवाक्कायमानसः'– वहाँ वाणी को मौन करके रखे, अपने को जनाये नहीं कि मैं बहुत कुछ जानता हूँ। भाषा से भी संत की पहचान हो जाती है, अतः भाषा को तोड़ मरोड़कर बोले, जिससे पहचान में न आवे। बाल को बिखेर ले, अंग में धूल छिड़क ले या भस्म रमा ले– ऐसा वेश बना ले कि लोग घृणा करें। 'विविक्तसेवी लघ्वाशी'– उस एकान्त प्रदेश में जो कुछ भी खाने को मिल जाय, उसमें से भी हल्का सात्त्विक आहार करे और न मिले तो उसकी चिन्ता न करे, अयाचक वृत्ति से रहे। इसप्रकार सदा अपने स्वरूप में स्थित रहने का प्रयत्न करे।

इन मंत्रों के द्वारा ध्यानयोग का तात्पर्य आँख बन्द करके बैठने से नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप में चिन्तन के द्वारा स्थित होने से है; क्योंकि ज्योतिर्मय ध्यान, नादब्रह्म का ध्यान, भृकुटि मध्य का ध्यान अर्थात् चित्तशुद्धि के जितने भी साधन हैं, जिनसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं– वे सारी की सारी साधनायें पूर्व में कर ली गयी हैं, अतः वह अहर्निश अपने स्वरूप में रहे। 'ध्यानयोगपरो नित्यं'– यहाँ नित्य पद है, इसका तात्पर्य है– अहर्निश, प्रतिपल, प्रतिक्षण। वह नित्य ध्यानयोग में भी रहे एवं वैराग्ययोग में भी रहे। इन दो पहलुओं को धारण किये रहे; क्योंकि यदि वह वैराग्य में व्यवहार का त्याग नहीं करता तो वह नित्य वैरागी, नित्य ध्यानयोगी नहीं हो सकता।

एक संत ने बताया था कि जब अज्ञात भ्रमण कर रहा था तो गाँव में ठहरना होता ही नहीं था। एक रात कहीं देवालय, खण्डहर या वृक्ष के नीचे बिताकर चलता बनता। इसलिए किसी से परिचय हुआ ही नहीं। किसी का आश्रय लेने से अथवा किसी को देने से ही सम्बन्ध होता है। इसलिए कई दिन भूखा भी रहना पड़ता था।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'– उसके एक ओर ध्यानयोग है तो दूसरी ओर वैराग्ययोग। वैराग्ययोग में यदि किसी साधक का भी साथ हो जाता है तो सम्भावना कुछ की कुछ हो जाती है अर्थात्

नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति में सन्देह हो जाता है। संन्यासयोग के अन्तर्गत क्या हम सम्पूर्ण अंगोपांगों का पालन कर रहे हैं– इसपर ध्यान देना चाहिये। यदि कोई साधक नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करने का यत्न करते हुए परिव्राजक धर्म को धारण न करते हुए वनप्रदेश में एक ही स्थान पर रह रहा है तो वह भी उपरोक्त लक्षणों के साथ ही रहे।

महात्मा अर्जुन को लगा कि यह तो अति कठिन है। प्रभु ने मन की बात जानकर कहा कि नहीं, नहीं!

(अहङ्कारं बलं दर्पं.....) पहले की साधना भी कठिन ही थी; किन्तु अब सरल हो गयी, तो फिर यह साधना भी सरल हो जायेगी, अति सुगम हो जायेगी। आखिर ऐसा कब होगा? तो कहते हैं– 'अहंकार' अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' इस अहंकार का त्याग करके, पूर्व की साधनाओं से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियों के अहंकार को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित रहने का प्रयत्न करे; क्योंकि सिद्धियाँ ही बल हैं। यदि वह अहंकार और बल को नहीं त्यागता है तो दम्भी हो जाता है। प्रदर्शन में दम्भ स्वतः ही प्रकट हो जाता है।

(कामं क्रोधं परिग्रहम्) बाहर के काम को छोड़कर आया, धर्मपत्नी को छोड़कर आया, धर्मपत्नी काम है, पुत्र काम है, भाई–बान्धव, हित–मित्र काम हैं। ये सब निर्गुण इच्छा के सगुणरूप हैं; इच्छा ही काम है, इन सबको छोड़कर आया, जल्दबाजी को छोड़कर आया। जल्दबाजी में क्रोध उत्पन्न होता है। असन्तोष ही क्रोध है, इन सबको छोड़ दे; क्योंकि जब सबको छोड़ देगा तो वैरभाव स्वतः ही छूट जायेगा अर्थात् वैरियों के उत्पात होते रहने पर, सताये जाने पर भी क्रोध को अस्वीकार कर दे। अपने पास कल के लिये कुछ न बचाये। उसके शरीर पर फटे, चिथड़े वस्त्र हों एवं कहीं भी पेड़ के नीचे, खण्डहर में, किसी गुफा में अथवा नदी के तट पर अपने स्वरूप का चिन्तन करता रहे। अपने पास पात्र भी न रखता हुआ, 'हाथ ही जिसके पात्र हैं' वैसा अपरिग्रही अर्थात् अच्छीप्रकार से सम्पूर्ण वासनाओं को छोड़कर ममता, मोह को छोड़कर कालान्तर में सम शान्त, निर्गुण–निराकार ब्रह्मरूप हो ही जाता है। देखने में वह सगुण ब्रह्म कहा जायेगा लेकिन होगा वह निर्गुण–निराकार क्योंकि निर्गुण–निराकाररूप होने में ही नैष्कर्म्यसिद्धि सम्भव है। यदि हवा में लकीर खींचते हैं तो दिखाई नहीं पड़ती, लेकिन जल एवं थल में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है, वैसे ही कर्म विपाक का नियम है। जब सामान्य पुरुष कर्म करेंगे तो कर्म का संस्कार उनके चित्त पर लम्बे काल तक बना रहेगा लेकिन जब साधक कर्म करेगा तो कर्म दिखाई तो पड़ेगा लेकिन मिटता जायेगा। वैसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त सन्त के द्वारा कर्म होता दिखाई तो पड़ेगा लेकिन उसका चित्त उसके प्रभाव से सर्वथा अछूता रहेगा।

नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त संत अपवाद में गृहस्थाश्रम में भी पाये जाते हैं। वैसे ही, एक संत की कथा स्कन्द पुराण में पायी जाती है–

एक नगर में शूद्र जाति के एक नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त सन्त गृहस्थाश्रम में रहते थे। एक बार उस नगर के राजकुमार को अकेले ही तीर्थाटन करने की इच्छा हुई तो उसने अपनी धर्मपत्नी से कहा कि मैं तुम्हें शूद्र जाति के एक नैष्कर्म्य सिद्ध सन्त के पास छोड़कर जाऊँगा; क्योंकि

महल में तो नौकर–चाकर हैं, तुम अकेले कैसे रहोगी? (यहाँ पर शूद्र जाति व्यवहार के लिये तथा विषय को स्पष्ट करने के लिये कही गयी है, वस्तुतः ब्रह्म (भक्त) जाति से परे है) राजकुमार ने उन संत से कहा कि जबतक मैं तीर्थाटन करके लौट नहीं आता, तबतक आप मेरी धर्मपत्नी को सुरक्षा की दृष्टि से आश्रय प्रदान करें। संत ने कहा कि हे राजकुमार! लोग क्या कहेंगे? राजकुमार ने कहा कि मैं तो कुछ नहीं कहूँगा! संत ने कहा– तो ठीक है, लेकिन घर में अति गरीबी है और आपकी कोई वस्तु लूँगा नहीं; मेरे घर की ही रोटी खाकर इनको उतने समय तक रहना होगा, यहाँ राजसी वस्त्र त्यागने पड़ेंगे, जो दूँ वही पहनना होगा; एक ही बिस्तर पर एक ओर मेरी धर्मपत्नी होगी, बीच में मैं रहूँगा एवं दूसरी तरफ ये रहेंगी तथा किनारे मेरा बच्चा रहेगा। स्वीकार है आपको? राजकुमार ने कहा कि हाँ, स्वीकार है।

राजकुमार के आने पर उन संत ने नगर के बीचों–बीच एक चिता जलायी। राजकुमार ने कहा– आप ये क्या कर रहे हैं तो संत ने कहा कि नगर की सारी प्रजा कहती है कि मैंने निन्दित कर्म किया है तो यह शरीर रहकर क्या करेगा? ऐसा कहते हुए वे अग्नि में प्रवेश कर गये। लेकिन सभी यह देखकर हतप्रभ रह गये कि वे ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। सम्पूर्ण देवी–देवता प्रकट हुए और उन्हें दिव्य लोक को लेकर चले गये।

नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति के लिये उन ब्रह्मचारियों को जिन्होंने सद्गुरु की आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन किया है, कभी भी अपने मन की बात नहीं माना है, उनके लिये आत्मानुभूति के लिये छः माह पर्याप्त है। उसके उपरान्त नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति में चाहे जितना समय लगे। प्रश्न उठता है कि नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्ति हेतु समय का अनुमान क्यों नहीं दिया जा रहा है? तो यह प्रयोग का विषय है न कि वाणी का। शरणागत होते ही थोड़े से प्रयास से ही ब्रह्मचारी की सारी इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार गमन करने लगती हैं, जैसे कुशल सारथि की थोड़ी सी कला से ही घोड़े उसके अनुसार गमन करने लगते हैं।

बहुधा संतों की बातों को आजकल के तथाकथित विद्वानों ने तो तोड़–मरोड़कर, बिना तथ्य को जाने, अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने लाओत्से, क्राइस्ट आदि के बहुत से गीत गाये, इतना ही नहीं उन्होंने काण्ट, हेगल, सुकरात, प्लेटो आदि दार्शनिकों को भी ब्रह्मज्ञानी संतों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। इसलिए कि विद्यार्थियों को अपनी ओर मोड़कर उन्हें अपने अनुसार चलाया जाये। इतना ही नहीं, वे किसी भी साधक, संत आदि के चरित्र को अपने अनुसार गाते हैं। जैसे एक तथाकथित साधक ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक झाँकी दी है। वह कहता है कि विवेकानन्द को जब ब्रह्मजिज्ञासा हुई तो वे ध्यानस्थ योगियों का गला पकड़कर पूछते थे कि बताइये, आपने भगवान को देखा है? तथा वह इस व्यवहार को 'परम जिज्ञासुओं' के व्यवहार की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। यदि ऐसी ही बात होती तो स्वयं विवेकानन्द अपने सन्दर्भ में ऐसा क्यों लिखते कि मैं पवहारी बाबा(उत्तर प्रदेश, गाजीपुर–गंगा के किनारे) के पास २१ दिन प्रतीक्षारत रहा, जिससे कि समाधि से विरत होने (उठने) पर वे मुझे अपनी शरणागति प्रदान करें। इनके ऐसे दिव्य व्यवहार की झाँकी भगवान

शुकदेव से मिलती है, जिन्होंने राजा जनक से मिलने के लिये २१ दिन तक महल के दरवाजे पर प्रतीक्षा की थी। उसी तथाकथित साधुवेश में रहनेवाले विद्वान ने लक्ष्मण जैसे दिव्य ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य पर भी उँगली उठायी है।

सन् १९७४, महाराज हिमालय प्रदेश में एक आश्रम में ठहरा हुआ था। वहाँ देखा कि उस आश्रम के संत का शिष्य उनका घोर अपमान कर रहा है, जबकि वह आकाश गमन जैसी स्थिति को प्राप्त हो चुका था। इस आश्चर्यमय घटना को देखकर महाराज ने उन सन्त से पूछा कि यह क्या रहस्य है? तो उन सन्त ने कहा कि यह मेरे पास ब्रह्म के लिये नहीं, सिद्धि के लिये आया था। यदि किसी दुष्ट प्रकृतिवाले को सिद्धियाँ मिल जायें तो वह भस्मासुर बन ही जाता है, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। सद्गुरु के साथ व्यवहार में आने पर निष्काम साधक ही उसके व्यवहार को पचा पाता है। दो प्रकार के शिष्य होते हैं– एक वे जिन्होंने गुरु बनाना चाहिये, इस शास्त्रोक्ति के पालन हेतु गुरु बना लिया, वे साधना गुरु के अनुसार करेंगे लेकिन व्यवहार अपने मन से करेंगे। उनके लिये सद्गुरु के अनुसार रहना कठिन हो जाता है; दूसरे वे जो सद्गुरु की बताई हुई साधना अनुसार तो चलते ही हैं तथा व्यवहार में भी उसकी आज्ञानुसार ही चलते हैं। जिन्हें कालान्तर में नैष्कर्म्यसिद्धि भी गले लगाती है।

इसलिए महाराज की अनुभूति कहती है कि साधकों को सद्गुरु की शरणागति स्वीकार करने के पूर्व आदर्श शिष्यों की जीवनी पढ़नी चाहिये, यदि न पढ़ी हो तो शिष्यत्व स्वीकार करने के उपरान्त भी अवश्य उनका स्वाध्याय करें।

सिद्धियाँ, सतोगुणी समाधिगत होती हैं अर्थात् प्रकृतिगत होती हैं, लेकिन नैष्कर्म्यसिद्धि ब्रह्मगत होती है। स्वयं महाराज ने देखा है कि वे साधक ही सफल होते हैं जो सदगुरु के पास निष्कामी होते हैं। यदि उनमें एक पैसा भी सकामता है तो उन्हें जीवन के अन्तिम चरण में रोने के लिये आँख भी नहीं मिलती। आँहें भरते रह जाते हैं लेकिन तबतक समय निकल गया रहता है, अब उन्हें अगले जीवन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

यहाँ संन्यासयोग का प्रकरण चल रहा है, 'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'– जिसप्रकार वह संन्यासी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों को त्यागकर वनप्रदेश में रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी भी इन सम्पूर्ण विषयों को त्यागकर ही गुरु आश्रम में रहे ऐसा छठे अध्याय में कहा गया है; तो फिर इन दोनों में अन्तर क्या है? हाँ यही कि वन प्रदेशीय साधक संन्यास के नियमों के साथ–साथ ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण नियमों को धारण करके रहता है लेकिन गुरु आश्रम में रहनेवाला साधक संन्यास के सम्पूर्ण नियमों को न धारणकर ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण नियमों को धारण करके रहता है। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि चाहनेवाले साधक को आप्तकाम सन्त की जीवनी को देखना होगा। ऐसी कई जीवनी उपनिषदों, पुराणों एवं अन्यान्य ग्रन्थों में सविस्तार लिखी हुई हैं। 'योगवासिष्ठ' में तो ऐसी जीवनियों की भरमार है।

महाराज ने एक साधक से पूछा कि आप पैसा तो जमा करते हैं न? उन्होंने कहा कि नहीं;

जो दान–दक्षिणा मिल जाती है उससे भण्डारा कर देता हूँ। महाराज ने कहा– आपने तो उस पैसे को अपना समझकर ही भण्डारा किया, फिर आपमें एवं गृहस्थ में क्या अन्तर है? आप रहते हैं सद्गुरु के आश्रम में और करते हैं अपना भण्डारा; यह किस ब्रह्मचारी का नियम है? इसप्रकार जबतक आदर्श ब्रह्मचारियों की जीवनी न पढ़ी जाये तबतक अपने दोष का पता नहीं चलता।

(अहङ्कारं बलं दर्पं.....) जिन्हें आत्मबोध हो गया है लेकिन नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं प्राप्त हुई है, उन्हें अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह तथा ममता इन सात दोषों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। 'शरीर, प्रकृति का एक कर्म है तथा खाना, पीना, सोना, जागना एवं परस्पर में व्यवहार करना यह शरीर का कर्म है।' इसप्रकार प्रकृति एवं शरीर इन दोनों के कर्मों से सदा–सर्वदा के लिये अछूता रहना नैष्कर्म्यसिद्धि है। बद्रीनाथ भगवान का पट खुलने के बीस–पच्चीस दिन पूर्व यदि कोई वहाँ जाये तो अलकनन्दा दिखेगी ही नहीं, नीचे–नीचे जल की पतली धारा बहती रहती है। यदि जल को भान हो जाये कि मेरे ऊपर बर्फ की चट्टान हो गयी है तो फिर उसकी मौलिकता जाती रहेगी– ऐसी विषमावस्था में भी जल यदि सम शान्त रहता है तो यह उसकी नैष्कर्म्यसिद्धि कही जायेगी। हिमालय की झीलों में बर्फ की चट्टानें तैरती रहती हैं। यदि सरोवर का जल कहता है कि मेरे में बर्फ की चट्टानें तैरती रहती हैं तो उसकी मौलिकता जाती रहेगी। उसीप्रकार जिस सन्त के भीतर से समयानुसार करुणा, कृपा, दया और वरदान प्रकट हो जाता है तथा वह कहता है कि यह सब मैंने किया, तो उसकी मौलिकता जाती रहेगी और यही अहंकार जन्म–मृत्यु का कारण बन जायेगा। ठीक इसके विपरीत यदि वह ऐसी अवस्था में भी ऐसा समझता है कि वरदान, कृपा, करुणा आदि सतोगुणी प्रकृति की धारा है, तो वही नैष्कर्म्यसिद्धि वाला है।

'परिग्रहम्'– सन्ध्या करने का, वेद–पुराणों आदि के स्वाध्याय का तथा जप, तप, योग आदि का भी परिग्रह होता है। वह ऐसी अवस्था में इन सबका परित्याग कर दे तथा अपनी स्वरूपानुभूति को अहर्निश पचावे तथा पचाते–पचाते 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अनुभूति रोम–रोम से बहने लगे एवं किसी भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल अवस्था में चित्त छिन्न–भिन्न न हो; तब उसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त पुरुष कहा जाता है। प्रतिकूल से प्रतिकूल अवस्था में भी, भीतर–बाहर जब स्वयं का स्वरूप ही दिखाई पड़े तब वह नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त पुरुष माना जाता है। इसके पूर्व कई सिद्धियाँ पायी जाती हैं– पहली सिद्धि है मुमुक्षुता, इससे प्रकट होनेवाली दूसरी सिद्धि है शिष्यत्व, इससे प्रकट होनेवाली सिद्धि है सद्गुरु के पास समर्पण, इससे प्रकट होनेवाली सिद्धि है सिद्धत्व एवं इससे प्रकट होनेवाली तथा अन्तिम सिद्धि है नैष्कर्म्यसिद्धि, जिसके लिये अभी भूमिका बनायी जा रही है।

यदि कोई साधक कहता है कि मेरा अमुक धर्म है, अमुक कर्तव्य है तो वह त्याग कर ही नहीं सकता। यदि उसे एक भी कर्तव्य कर्म का बोध हो रहा है तो वह सद्गुरु आश्रम से संन्यास नहीं ले सकता। परिवार, गाँव, क्षेत्र, प्रदेश की भक्ति का त्याग करते–करते जब देशभक्ति का भी त्याग कर देता है; तब उसे संन्यास लेने का अधिकार प्राप्त होता है। जबतक उसमें किसी

की भी भक्ति है, तबतक उसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो ही नहीं सकती।

एक साधक ने पूछा कि क्या सद्गुरु की भक्ति का भी त्याग करना होगा? नहीं, नहीं वह किसी अवस्था में भी सद्गुरु की भक्ति का त्याग नहीं कर सकता बल्कि जब अपने तन, मन, वचन, हृदय की भक्ति का त्याग कर सद्गुरुरूप हो जायेगा, तभी नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करेगा।

'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते'– इसप्रकार अहंकार, बल, दर्प, काम आदि विकारों को त्यागकर जगत में किसीप्रकार का व्यवहार न करता हुआ, नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त कर, निश्चितरूप से ब्रह्मभूत हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है, निर्वाणरूप हो जाता है। ऐसे ही ब्रह्मभूत पुरुष के लिये रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में लिखा है–

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।।

किष्किन्धाकाण्ड में भी कहते हैं–

जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रिय गन उपजे ग्याना।।

अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हुए सन्त की इन्द्रियों को भी आत्मज्ञान हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहनेवाले संस्कारों को भी आत्मज्ञान हो जायेगा। जैसे नेत्रों में देखनेवाले संस्कार आत्मज्ञानी ही हो जायेंगे, वाणी में बोलनेवाले संस्कार बैठे हैं वे भी आत्मज्ञानी हो जायेंगे आदि आदि। यहाँ पर उस मत का निषेध किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि प्रारब्ध को तो भोगना ही पड़ता है। प्रारब्ध को तो न भक्त भोगता है न संन्यासी भोगता है, शरीर भी तो प्रारब्ध ही है अतः वह शरीर सगुण ब्रह्म बन जाता है; भक्तों, साधकों एवं सन्तों के काम आने लगता है। पुष्करानन्द ने एक बार पूछा था कि फिर सन्त का शरीर भी कभी–कभी रोगग्रस्त क्यों हो जाता है? इसका उत्तर है कि एक ओर वह ब्रह्म है, दूसरी ओर शरीर है, शरीर का भोक्ता शरीर की स्मृति है तथा वह तो अपने–आपका ही भोक्ता है अर्थात् वह सदा अपने–आप में ही रहता है। यद्यपि यह विलक्षण स्थिति है, जो बुद्धि के द्वारा समझने में अति कठिन है फिर भी एक उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है– जैसे कोई पुरुष स्वप्न भी देख रहा है एवं स्थूल शरीर से बड़बड़ा भी रहा है। एक ही समय में दो पुरुष हैं– एक स्वप्नमय पुरुष और दूसरा जाग्रत्मय पुरुष। स्वप्नमय पुरुष जाग्रत्मय पुरुष का बड़बड़ाना नहीं जान रहा है और जाग्रत् पुरुष (स्थूलशरीर), स्वप्नमय पुरुष के क्रिया–कलाप से अनभिज्ञ है। एक समय में एक ओर (स्वप्न में) एक पुरुष पूरी तरह जाग रहा है और दूसरा पुरुष बड़बड़ा रहा है। इतना ही नहीं एक व्यक्ति को देखा जो स्वप्न में ही अपने सारे काम कर लेता था तथा पुनः सो भी जाता और जागने पर कहता कि लगता है मेरा सारा कार्य भगवान करके चले जाते हैं।

बनारस में सुदामा तिवारीजी के पिताजी स्वप्न में भगवान श्रीकृष्ण एवं राधाजी का दर्शन कर रहे थे कि अचानक वे स्वप्न में ही उठकर भगवान श्रीकृष्ण और राधिकाजी को पकड़ने

लगे। भगवान, राधिका के संग पीछे की ओर हटते गये तथा वे उनका पीछा करते–करते घर से दूर चले गये। बच्चों ने देखा कि वे कहते जा रहे हैं कि चलिये–चलिये कहाँ तक जायेंगे, मैं तो पकड़ ही लूँगा। बच्चों ने उन्हें पकड़कर झकझोरा एवं पूछा कि कहाँ जा रहे हैं? क्या कह रहे हैं? तो वे जग गये और कहा– अरे! मैं यहाँ कैसे आ गया? मैं तो स्वप्न देख रहा था।

इसप्रकार इन दोनों पुरुषों से पृथक् आत्मरूप हुआ पुरुष स्थित रहता है तथा जिसप्रकार दोनों पुरुष (जाग्रत्मय एवं स्वप्नमय) एक–दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं अर्थात् सर्वथा पृथक् रहते हैं, उसीप्रकार वह नैष्कर्म्यसिद्ध आत्मज्ञानी पुरुष भी इन दोनों ही पुरुषों से सर्वथा अतीत रहता है। इसप्रकार शरीर पर आये हुए, दुःख, व्याधि को वह किसीप्रकार अपना नहीं समझता।

लेकिन प्रश्न तो यह भी है कि दुःख आया ही क्यों, व्याधि आयी ही क्यों? वे ब्रह्मरूप क्यों नहीं हो गये? इसका उत्तर है कि एक दिन रामानन्द ने कहा कि महाराजजी मैंने एक गणित किया है कि एक संत के शरीर पर जब–जब रोग एवं व्याधि आती है, तब–तब उनके किसी परम प्रिय भक्त पर घोर संकट आया होता है। क्या यह बात सही है? तब महाराज ने कहा कि अक्षरशः सत्य है। संत का उपासक भक्त अपने दुःख को उन्हीं को समर्पित कर देता है। वे तो निरन्तर अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं; अतः उनका शरीर श्रद्धा से समर्पित किये हुए दुःख को भोग लेता है। अब पुनः प्रश्न खड़ा होता है कि यदि कोई भक्त अपने देह मुक्त सद्गुरु को अपना दुःख समर्पित करता है तो उसका भोक्ता कौन होगा? तो इसका उत्तर यह है कि निश्चितरूप से वही भोगेगा। वह बहुत से लोकों में उसी शरीर जैसा पुनः प्रकट हो गया रहता है (जैसे उसके उपासक ने शरीर छोड़ दिया है तथा पुनर्जन्म में स्वप्न जगत की भाँति उनको प्राप्त कर लिया है।) और उन्हीं शरीरों से समर्पित किये हुए दुःखों को भोगता है। अरे! उसकी व्यापकता तो शास्त्र–पुराणों से सिद्ध है ही अथवा वही पुनः भगवान श्रीराम या प्रभु श्रीकृष्ण जैसे रूप में प्रकट होकर भक्तों के दुःख को भोग लेता है। अरे! सभी जानते हैं कि प्रभु ने अपने नग्न होकर भगवती द्रौपदी को नग्न होने से बचा लिया, तभी तो सनकादिकों के रूप में नग्न होकर घूमता रहता है। इसप्रकार नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त शरीर भक्तों का प्रारब्ध बन जाता है। अतः किसी भी ब्रह्मज्ञानी को समर्पित किया हुआ कोई भी कर्म ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

पुष्करानन्द ने पूछा कि ऐसे सन्त की स्थिति क्या होगी? यही प्रश्न महात्मा अर्जुन ने भी पूछा है कि हे प्रभु! वह नैष्कर्म्यसिद्ध पुरुष तो विलक्षण ही होगा; एक बार पुनः उसके स्वरूप एवं व्यवहार की झाँकी प्रस्तुत कर दें! इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

वह ब्रह्मस्वरूप हुआ पुरुष अपने–आपमें प्रसन्न रहनेवाला, न किसी बात की चिन्ता करता है, न किसी से कुछ चाहता ही है। अतः सम्पूर्ण भूतों में एकात्मदृष्टि के कारण से मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर जाता है, जिस भक्ति के द्वारा मैं जैसा हूँ और जो कुछ भी हूँ, इन सम्पूर्ण तत्त्वों को इसीप्रकार जानकर मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में वास कर जाता है। उसके उपरान्त तो वह मेरी अध्यक्षता में रहते हुए मेरी प्रसन्नता के लिए मेरी आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत सनातन एवं अव्यय अविनाशी परमपद को प्राप्त कर जाता है।

(ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा.....) ब्रह्मस्वरूप हुआ पुरुष शरीर के विषय में न शोक–सन्ताप करता है न ही उसके लिये किसीप्रकार की इच्छा करता है तथा इन्द्रियों में रहनेवाले संस्कारों की दृष्टि भी ब्रह्ममय हो जाने के कारण से वह प्रभु की पराभक्ति को प्राप्त कर जाता है। वह जीव–जगत की उपासना करने लगता है। किस जीव–जगत की? जो उससे ब्रह्म को चाहते हैं या कोई विषय चाहते हैं; उससे उन सबकी इच्छा पूरी होती है, निष्कामियों की निष्कामता तथा सकामियों की सकामता पूरी होती है। 'समः सर्वेषु भूतेषु'– सम्पूर्ण भूतों को तथा सम्पूर्ण भूतों के भीतर–बाहर एकमात्र समब्रह्म अर्थात् निर्गुण–निराकार ब्रह्म को देखने के कारण ही वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है। तो क्या वह चोर, बदमाश, शैतान, वेश्यागामी, जुआरी, शराबी आदि को भी ब्रह्म के रूप में देखता है? क्यों नहीं! वह देखता है कि ब्रह्म ही सम एवं विषमरूपों को धारण किये हुए है। सामान्य भक्ति, विशेष भक्ति, अपरा भक्ति, पराभक्ति का स्वरूप पूर्व के अध्यायों में भलीभाँति प्रकाशित किया गया है। अपरब्रह्म की उपासना करने के कारण से साधक अपराभक्ति को प्राप्त करता है। माता, पिता, भाई, बान्धव, हित, मित्र, सुहृद, वैरी, भले, बुरे, पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि जो विषमब्रह्म हैं; उनके प्रति देवभावना करना ही अपरब्रह्म की उपासना करना है। इसप्रकार अपरब्रह्म की उपासना करते–करते वह आगे बढ़ जाता है, उनकी उपासना करते–करते जब जप, तप, योग की उपासना करता है तो यह अपराभक्ति है। प्राकृत सतोमयी समाधि की कामना करना अपराभक्ति है। ज्योतिर्मय ध्यान, नादयोगमय ध्यान लगे, ऐसी कामना करना अपराभक्ति है। एक समय में साधक के दो भाग हो जाते हैं– एक भाग से मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव आदि की भावना से भक्ति करता रहता है चाहे भले ही उसकी माँ कुलटा हो, पिता दुराचारी हो। उनके दोषों पर ध्यान न देकर अपने कर्तव्य का निर्वहन करना, भगवान की कामना से उनकी सेवा–शुश्रूषा करना यह अपरा भक्ति है। दूसरे भाग से जप, तप, योग करना यह अपरा भक्ति है। इसप्रकार दोनों रूपों से अपरब्रह्म की उपासना करते–करते जब ब्रह्मानुभूति होने पर अपर ब्रह्मभाव से भी संन्यास ले लेता है तब वह 'मद्भक्तिं लभते पराम्'– मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर जाता है। वह ब्रह्म अपरा से परे है इसलिए परा कहलाता है। इसी न्याय से अपरब्रह्म एवं परमब्रह्म ये दो नाम वेदों, पुराणों में सुविख्यात हैं। वह परमब्रह्म अपरा की आत्मा है, जप की

आत्मा है, तप की आत्मा है, योग की आत्मा है, ध्यान की आत्मा है, समाधि की आत्मा है। इस न्याय से वह सबसे परे है, अतः वह परमरूप हुआ पुरुष अपने–आप में स्थित हो जाता है तथा पराभक्ति को प्राप्त होकर वह गा उठता है–

'भजु निजरूपं भजु निजरूपं भजु निजरूपं दूरं दूरं.....।'

भज का तात्पर्य होता है खाना तथा ग्रहण करना, भज का तात्पर्य होता है भजन करना अर्थात् स्मरण करना। इसप्रकार पराभक्ति का तात्पर्य है सर्वत्र सबरूपों में स्वयं को ही देखना तथा निर्गुण–निराकार एवं सगुण–साकाररूप हो जाना।

(भक्त्या मामभिजानाति.....) इसी पराभक्ति से अपनी शक्ति–सामर्थ्य को भलीभाँति जानकर अपने ही स्वरूप में विचरने से नैष्कर्म्यसिद्ध हुआ, कर्मसिद्ध हुआ, ज्ञानसिद्ध हुआ संत तत्काल ही परम निर्वाणरूप हो जाता है।

महात्मा अर्जुन को कौतूहल पर कौतूहल हो रहा है। वे यह सोचने के लिये विवश हो जाते हैं कि क्या यह सिद्धि गृहस्थों को भी प्राप्त होती है? हाँ, इस अध्याय में भगवान नारायण ने अबतक संन्यासयोग की ही प्रस्तावना की है, अतः गृहस्थाश्रम में होने के नाते पराभक्ति के प्रति लोभ होना स्वाभाविक है। अबतक उन्होंने जान लिया है कि मुझे अभी गृहस्थाश्रम में ही रहना है, इसीसे उनके मन में ऐसा विचार आया है। प्रभु ने उनके मौन प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा– हाँ, हाँ, क्यों नहीं! यदि राजा जनक जैसा कोई मुमुक्षु घर में है तथा उसे अष्टावक्र जैसा संन्यासी गुरु मिल गया तो यह पराभक्ति वहीं प्राप्त हो सकती है। कैसे?

(सर्वकर्माण्यपि सदा.....) जैसे संन्यासाश्रमी ब्रह्मचारी प्रतिपल सद्गुरु की आज्ञानुसार त्यागवृत्ति एवं ग्रहणवृत्ति के साथ रहता है और उनकी महति कृपा से पराभक्ति को प्राप्त करता है; वैसे ही सद्गृहस्थ भी अपने सद्गुरु के अनुसार ही अपने कर्म–धर्म का निर्णय कराता हुआ, तदनुसार व्यवहार करता है तो वह पराभक्ति को प्राप्त हो ही जाता है।

ब्रह्मचारी सद्गुरु के पास त्याग एवं ग्रहणवृत्ति के साथ रहता है, इसका क्या तात्पर्य है? हाँ, यही कि वह गुरुदेव के साथ रहकर अन्य किसी के भी साथ व्यावहारिक सम्बन्ध न करे– यह त्यागवृत्ति है तथा वहाँ जप, तप, योग, के साथ रहना ग्रहणवृत्ति है। जहाँ संन्यासी सर्वत्यागी होकर पराभक्ति को प्राप्त करता है वहीं सद्गृहस्थ, सद्गुरु की आज्ञानुसार त्यागवृत्ति एवं ग्रहणवृत्ति को धारण करते हुए पराभक्ति को प्राप्त करता है।

प्रभुभक्त हनुमान, महात्मा भरत तथा बहुत से राजर्षि इसके साक्षात् प्रमाण हैं। हनुमानजी के तो भीतर–बाहर राम हैं; हृदय के भीतर में तो रामनाम और बाहर साक्षात् रामरूप। ऐसी परम शक्ति एवं पराभक्ति से सम्पन्न हनुमानजी ने यदि लंका को जला दिया तो क्या बड़ी बात है। अंगद जैसा सामान्य भक्त भी प्रभुराम जैसे सद्गुरु की आज्ञा पाकर पराभक्ति की ओर बढ़ जाता है, जिसके हृदय में सुग्रीव के प्रति महान ईर्ष्या एवं द्वेष भरा हुआ है। वह समुद्र तट पर कहता है कि हे जामवन्त! यह निश्चित हो गया कि कोई समुद्र के उस पार लंका में नहीं जा सकता

एवं भगवती सीता का पता किये बिना लौटने पर तो सुग्रीव मार ही डालेंगे। इसलिए मैं यहीं अनशन करके भगवान के नाम पर प्राण त्याग दूँगा। जिस अंगद ने ऐसा कहते हुए जामवन्त जैसे भक्त की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया था, उसी ने जब प्रभु श्रीराम से रावण के दरबार में जाने की आज्ञा पायी तो किञ्चिन्मात्र भी लौटने में सन्देह नहीं किया, अपितु कहा–

स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ।

वह जान गया कि प्रभु की आज्ञा में ही शक्ति का वास है, अतः लंका से त्रिलोकपति रावण को पराजितकर त्रिलोकविजेता होकर लौटा। इसप्रकार– 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।' वह भक्त प्रभु की आज्ञानुसार कर्म करता हुआ तथा फल को समर्पित करता हुआ, परम शाश्वत पद को प्राप्त कर जाता है।

इस न्याय से यदि किसी के जीवन में दुःख–कष्ट है तो उसे जानना चाहिये कि कहीं न कहीं उसने सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन किया है। सद्गुरु की आज्ञानुसार चलनेवाले के ऊपर यदि ब्रह्महत्या भी आक्रमण करे तो वह भी उस भक्त की परम श्रद्धा एवं विश्वास के कारण उसे प्रणामकर लौट जाती है। महाराज कहाँ तक कहे; प्रभु उस भक्त के लिये ब्रह्महत्या को भी प्रसाद बना देते हैं, चाहे वह भक्त संन्यासाश्रम में हो या गृहस्थाश्रम में। प्रभु (सद्गुरु) की कृपा प्रसाद से ही वह शाश्वत पद को प्राप्त कर जाता है।

प्रायः एक संत कहा करते थे कि आजकल लोग साधना पर बड़ा विश्वास करने लगे हैं, जबकि यह आवश्यक नहीं है कि उनकी साधना सिद्ध हो ही जाए क्योंकि वह लम्बे समय की अपेक्षा रखती है। अतः अपने सद्गुरु की सेवा–शुश्रूषा करके उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये तथा जब वे प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहें तो आत्मपद को माँग लेना चाहिये; क्योंकि संत एवं सद्गुरु की सिद्धि समर्पित भक्त के लिये ही होती है, निर्वाणरूप हो जाने के उपरान्त तो वह उन्हीं भक्तों के लिये शरीर धारण किये रहता है।

ॐ मासपारायण, उनतीसवाँ विश्राम ॐ

अबतक प्रभु ने महात्मा अर्जुन के साथ–साथ समष्टि उपदेश किया है, अब पुनः उनका संवाद एकमात्र भक्त अर्जुन के लिये ही होने जा रहा है। यह बात अलग है कि साधक एवं भक्त उसे अपने लिये स्वीकार कर लेंगे। सम्पूर्ण गीताशास्त्र का उपसंहार एकमात्र अर्जुन के प्रति करके भगवान उन्हें महत् बड़ाई देना चाहते हैं। ऐसा करें भी क्यों नहीं; क्योंकि उन्हीं के निमित्त से तो संतों, साधकों एवं भक्तों को गीतारूप सगुण ब्रह्म की प्राप्ति हुई है, ऐसे महात्मा अर्जुन को महाराज भी शत्–शत् नमन करता है। आयें अब भगवान का महात्मा अर्जुन के प्रति लाड़, प्यार, दुलार एवं लताड़ भी देखें–

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

हे पार्थ! आज तुम अपने चित्त को मेरे चित्त में ही आहुति दे दो और मेरे ही आश्रित होकर, मेरी आज्ञा का पालन आज से ही प्रारम्भ कर दो। इसप्रकार अहर्निश इस कर्मयोग के साथ तुम मेरे शरणागत हो जाओ। ऐसा करने से तुम मेरी कृपा से ही सम्पूर्ण दुर्गुणों को पार कर जाओगे लेकिन एक बात ध्यान रखो कि यदि अहंकार के वशीभूत होकर मेरी आज्ञा पर ध्यान नहीं दोगे तो तुम कहीं के नहीं रहोगे।

सर्वप्रथम युद्धभूमि में चलकर देखते हैं कि वहाँ की क्या स्थिति है– वहाँ प्रभु कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुमने कभी भी गुरुजनोंसहित महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा का भी उल्लंघन नहीं किया है, इससे स्पष्ट होता है कि तुम मेरी भी आज्ञा का पालन कर सकते हो (महात्मा अर्जुन ने एक बार महाराज युधिष्ठिर की ओर देखा)। प्रभु ने कहा कि उनकी ओर क्या देख रहे हो, ये तो महात्मा हैं, जब तुम मेरी आज्ञा का पालन करोगे तो ये अति प्रसन्न हो जायेंगे। तुम्हारे सखा मुझ कृष्ण को ये भलीभाँति जानते एवं पहचानते हैं। ये स्वयं ही जानते हैं कि मैं शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही तुम्हारा सारथि बना हुआ हूँ। ये स्वयं ही चाहते हैं कि तुम मेरी आज्ञा पालन करो, देर होने पर तो ये दुःखी होंगे। अतः तुम मेरी आज्ञा पालन कर इन्हें भी सन्तुष्ट करो।

महात्मा अर्जुन के मन में आया कि ये भगवान मधुसूदन बार–बार अपनी ही आज्ञा पालन करने की आज्ञा दे रहे हैं, कहीं इस रणभूमि में महाराज युधिष्ठिर ने कुछ और ही आज्ञा दे दी तो? प्रभु ने महात्मा अर्जुन के मन की बात ताड़ ली और कहा कि हे पार्थ! यही तो बात है कि इस रणभूमि में तुम मेरे अतिरिक्त इनकी क्या, किसी की भी बात नहीं मानोगे। दुर्योधन, शकुनि, अश्वत्थामा आदि युद्ध में छल भी कर सकते हैं, अति विनम्र एवं अति दयालु महाराज युधिष्ठिर के प्रति कहीं ये छली शरणागत हो गये (पितामहभीष्म, द्रोणाचार्य एवं कर्ण आदि महारथियों के धराशायी होने पर ये ऐसा कर भी सकते हैं) तो वैसी अवस्था में महाराज युधिष्ठिर युद्धविराम की घोषणा कर सकते हैं, तब तुम संशयरहित एवं निर्भय होकर कह सकोगे कि अब तो मैं महाराज युधिष्ठिर का हूँ ही नहीं, अब तो मैं भगवान नारायण का हो गया हूँ, अतः ये कौन होते हैं शरण देनेवाले। हे पार्थ! मैं इसकारण भी यह कह रहा हूँ कि तुम मेरे शरणागत होकर युद्ध करो। उस समय तो हमें भी छल करने की आवश्यकता पड़ेगी, अतः ये धर्मात्मा उस समय व्यवधान बन सकते हैं। वहाँ तुम्हें मेरी ही आज्ञा का पालन करना होगा। ये कौरव असुर हैं, असुर तो छल के साथ ही युद्ध करते आये हैं। इस न्याय से भी तुम्हें सम्पूर्णता से मेरे ही शरणागत होना है। गृहस्थ–भूमि में, अपने अभिभावक के नाते तुम इन महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पालन करते आये हो लेकिन यह युद्धभूमि है उस पर भी अब मैं तुम्हारा सद्गुरु हो गया हूँ। जबतक मैं तुम्हारा सद्गुरु नहीं था तबतक इस धर्मात्मा की आज्ञा में रहना तुम्हारा धर्म था लेकिन सद्गुरु के नाते भी मेरी आज्ञा का पालन करना तुम्हारा सर्वोपरि धर्म है।

महाराज ने पूर्व के अध्यायों में चार सगाइयों की बात कही है– पाँच से बारह वर्ष तक बच्चे से बच्चे की सगाई (मित्रता), बारह से अट्ठारह वर्ष तक पुत्र की माता और पिता से सगाई, अट्ठारह से बीस–बाईस तक धर्मपत्नी के साथ सगाई तथा उसके उपरान्त सद्गुरु से सगाई। सद्गुरु के मिल जाने के उपरान्त किसी भी सगाई का महत्त्व नहीं रह जाता। इस मंत्र के द्वारा प्रभु ने 'चेतसा सर्वकर्माणि' कहा है 'मनसा सर्वकर्माणि' अथवा 'तनसा सर्वकर्माणि' नहीं कहा। 'चेतसा सर्वकर्माणि' अर्थात् हृदय से सम्पूर्ण कर्मों को मेरी आज्ञानुसार मेरी प्रसन्नता के लिये ही करना। भगवान ने ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन को बाँध लिया है– मानो प्रभु कह रहे हैं कि खिन्नमना होकर तुम्हें युद्ध नहीं करने दूँगा, विषादी चित्त से किये हुए युद्ध को मैं स्वीकार नहीं करूँगा। हे पार्थ! जैसे कोई भी महात्मा रोती–कलपती हुई माँ के हाथों से मधुकरी नहीं लेता, वैसे ही यदि हृदय से तुम युद्ध स्वीकार करते हो तो मुझे स्वीकार है अन्यथा अस्वीकार है। यदि तुम कहते हो कि ऐसा कैसे हो सकता है; तो 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'– बुद्धियोग का आश्रय ले लो तो सुगमता से हो जायेगा अर्थात् मेरे लिये ही तुम्हारा प्राण हो, मन हो, जीवन हो एवं कर्म हो, यही बुद्धियोग है। यदि तुम कहते हो कि इस विषम युद्ध में महापाप लग जायेगा तो ऐसा नहीं है–

(मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि.....) मेरी कृपा से तो तुम सम्पूर्ण दुर्गुणों को पार कर ही जाओगे; करोगे युद्ध और दूर होंगे दुर्गुण, मारोगे इन भौतिक गुरुओं को और दूर होंगे तुम्हारे सम्पूर्ण पाप। वैसे भी तो तुम्हें महापाप लग ही गया है क्योंकि वह तुम ही हो जिसने शक्ति एवं सामर्थ्य रहते हुए भी अपनी धर्मपत्नी को नग्न होते हुए देखा है। यह बात अलग है कि मैंने उसे नग्न होने नहीं दिया। 'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्'– यदि अहंकार के वशीभूत होकर मेरा कहना नहीं मानते हो तो कल्याणी द्रौपदी का बदला लूँगा और तुम्हें नंगा करके छोड़ूँगा। भूत नंगा होता है, आहें भरते रहोगे। नारी को नग्न होते हुए देखने से तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप तो लग ही गया है तथा उसी ने तुम्हारी मति मार ली है। तुम्हें धर्मात्मा कहते–कहते बहुत समय हो गया मेरे को जबकि सम्पूर्ण दुर्गुणों की खान हो गये हो तुम। कोई एक ही पाप हजार पाप के बराबर होता है, तुमने वही पाप किया है कि महात्मा विदुर के आह्वान करने पर भी कि यहाँ महापाप हो रहा है, पुत्रवधू नग्न की जा रही है– ऐसा सुनकर भी तुमने गाण्डीव नहीं उठाया था उसी पाप के कारण से आज तुम्हारे हाथ से गाण्डीव छूट गया है; क्योंकि पापात्मा के हाथ में शक्ति नहीं रहती। वही पाप सम्पूर्ण दुर्गुणों को देनेवाला है और उसी पाप ने मुझ ब्रह्म की आज्ञा की अवहेलना करने के लिये तुम्हें विवश कर दिया है। यदि तुम मेरी आज्ञानुसार चलते हो तो तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा अन्यथा सर्वनाश करके छोड़ूँगा।

प्रभु ने उन्हें सम्पूर्ण दिशाओं से घेर लिया है और मनुष्योचित व्यवहार को याद दिलाया है। मानो वे कह रहे हों कि मनुष्योचित व्यवहार को तो तूने खूब कर दिखाया है, अब वीरोचित व्यवहार को दिखाना है! वीरोचित व्यवहार होता है कि यदि पिता ही धर्मयुद्ध में विपक्षी बनकर आये तो उसके साथ युद्ध करना होता है। जब कोई स्वयं को महारथी एवं महावीर मानता है तो वह वैसा कहलाने का अधिकारी तभी है जब वह भगवान का होकर रहता है अन्यथा वह

हिजड़ा ही है, नपुंसक ही है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

हे पार्थ! यदि अहंकार के वशीभूत हुए तुम युद्ध नहीं करते हो तो यह निश्चय तुम्हारा झूठा है; क्योंकि तुम्हारा स्वभाव इस युद्ध में तुम्हें बरबस ढकेल देगा। जिस युद्ध को तुम स्वजनों के मोह के वशीभूत हुआ नहीं करना चाहते हो उसे अपने प्रारब्ध के वशीभूत होने के कारण से तुम अवश्य करोगे।

हे पार्थ! एक बात और सुनो– मैं तुम्हारा सारथि भी हूँ और आज यदि तुम युद्ध करने से मना करते हो तो मैं सारथित्व का व्रत त्याग दूँगा तथा किनारे जाकर बैठ जाऊँगा, क्योंकि मिथ्याचारी एवं असत्यवक्ता मेरा सबसे बड़ा शत्रु है। मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा कहना ही तुम्हारा मिथ्या वचन है, क्योंकि तुम्हारा प्रारब्धरूप पाप तुमसे युद्ध तो अवश्य करायेगा। तुम अपने स्वभाव से भी बाध्य हो– जब ये कौरव तुम्हें नपुंसक, कायर, डरपोक कहकर हँसी उड़ायेंगे तब तुम्हारे जैसा अहंकारी पुरुष, जिसे महावीर होने का अहंकार है, जो महायोद्धा होने का दम्भ भरता फिरता है; वह यह अपमान सहन नहीं कर सकेगा बल्कि गाण्डीव उठाकर युद्ध करेगा। उस समय आवाहन करने पर भी तुम मुझे नहीं पाओगे। वैसी अवस्था में मैं तुम्हें निमित्त न बनाकर स्वयं अपने संकल्प को निमित्त बनाऊँगा।

इन मंत्रों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि जिसका सर्वस्व भगवान होता है तथा जिसका सर्वस्व भगवान के लिये होता है, यदि वह कभी अपने कर्तव्य कर्म से विचलित भी होता है तो भगवान उसे मनाना जानता है। महात्मा अर्जुन भगवान के अति आत्मीय हैं इसलिए ऐसी विषमावस्था में भगवान के द्वारा उनके साथ इसप्रकार का व्यवहार उनमें शोभा देता है। 'मिथ्यैष व्यवसायस्ते'– तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है, यह तुम्हारा बकवास है, वाग्विलास है; क्योंकि तुम्हारा शास्त्रज्ञान मिथ्या है, तुम्हारा व्यवहार मिथ्या है, तुम्हारा निर्णय मिथ्या है, तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या है। क्या तुम नहीं जानते हो कि ब्रह्म की प्रतिज्ञा ही प्रतिज्ञा कही जाती है! जीव जो आज कहता है कि 'मैं यह नहीं करूँगा' कल उसी को करता है। तुम आज जीव जैसी बात कर रहे हो। मैं तो तुम्हें भक्त बनाकर अपनी पराभक्ति देना चाहता हूँ। स्वीकार है तो ठीक अन्यथा अपनी राग अलापो, विषादराग अलापो, मूढ़राग अलापो, संन्यासराग अलापो। मैं देखता हूँ कि तुम इन रागों को कैसे गा सकते हो।

(स्वभावजेन कौन्तेय.....) इस मंत्र में एक बार पुनः भगवान ने महात्मा अर्जुन को कौन्तेय कहकर पुकारा है। हे कौन्तेय! तुम एक वीरांगना माँ के पुत्र हो, जिसने इस युद्ध के मैदान में तुम्हें ललकारते हुए भेजा है। तुम उसकी लाज बचाओ, उसका स्वाभिमान मत जाने दो। यदि

तुम मेरा कहा नहीं मानते हो तो तुम्हारा प्रारब्ध तुम्हारे हृदय में, मन, बुद्धि, चित्त में बैठा हुआ है वह तुम्हारी मूर्खता को भलीभाँति जानता है, वह तुम्हारे से यह युद्ध कराके मानेगा। सोचो, उसके अनुसार तुम नाचना चाहते हो या मेरे अनुसार। यद्यपि वह प्रारब्ध धर्म एवं अधर्म दोनों रूप है, किन्तु वर्तमान में तो वह अधर्म ही तुम्हारा ईश्वर बना हुआ है, इस समय तो मोह ही तुम्हारा ईश्वर बना हुआ है। उसने तुम्हें भलीप्रकार से अपने वश में कर लिया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में ईश्वर बैठा हुआ है वही अपनी त्रिगुणमयी माया के द्वारा सभी को इस शरीररूपी यन्त्र से घुमाता रहता है। इसलिए हे भारत! मैं तो कहता हूँ कि तुम उसी प्रभु के शरणागत हो जाओ। उसी की कृपा से परम शान्ति एवं परम शाश्वत पद को प्राप्त कर जाओगे।

यद्यपि अन्तर्यामी ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय के भीतर बैठा हुआ है, तो भी उसे अपना नहीं मानने से, उसके शरणागत नहीं होने से, प्रारब्ध ही ईश्वर बनकर इस शरीररूपी यंत्र से अपनी इच्छानुसार कर्म करता रहता है। हे पार्थ! मूर्खों के हृदय में ऐश्वर्य ही ईश्वर है वही सबको अपने ढंग से नचा रहा है। अब तुमने समझ लिया होगा कि मूर्ख प्रारब्ध के अनुसार नाचते हैं और भक्त भगवान के अनुसार। अब तुम बताओ कि प्रारब्ध के अनुसार नाचना चाहते हो या मेरे अनुसार।

भगवान ने महात्मा अर्जुन को चुनौती दे दी लेकिन वे स्तब्ध रह गये। प्रभु ने मूर्खों के लिये एक अलग भगवान की स्थापना कर दी, उसका नाम है 'प्रारब्ध'।

संजय ने आश्चर्यचकित हो धृतराष्ट्र की ओर देखा और कहा कि हे राजन्! तन, मन, वचन, हृदयसहित भगवान ने अर्जुन को स्तम्भित कर दिया है।

ऐसी क्या बात हो गयी संजय!

अर्जुन बोल ही नहीं रहे हैं अन्नदाता! इसलिए भगवान नारायण ने मानो नरसिंहरूप धारण कर लिया है, वे कहते हैं कि तुमने द्रौपदी को नग्न होते देखा है इसलिए यदि तुम मेरा कहा नहीं मानते हो तो मैं तुम्हें नंगा करके मानूँगा।

धृतराष्ट्र ने कहा– बात तो वे ठीक ही कह रहे हैं संजय। वैसी घृणित घटना को भुलाया नहीं जा सकता। सच पूछो तो वैसी अवस्था में पाण्डवों को विरोध करना चाहिये था। ऐसा करने से कम से कम मेरे मूर्ख पुत्र, मेरी पुत्रवधू की ओर आँख उठाकर देखने का साहस तो नहीं करते!

हाँ, तो देखो संजय! यह क्षण देखने योग्य है, देखो ऐसे क्षण में क्या स्थिति बनती है? परिणामरूप फल क्या होता है? मेरा अनुज पुत्र (अर्जुन) समर्पित होता है कि नहीं?

संजय ने पूछा कि आप क्या कह रहे हैं राजन्! समर्पित होना चाहिये अथवा नहीं?

धृतराष्ट्र ने कहा– मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ संजय! तुम तो भलीभाँति जानते ही हो कि इस समय मेरी बुद्धि मोह से ग्रसित हो गयी है, वह भला क्या निर्णय करेगी।

तो ठीक है राजन्! अभी निर्णय हो जाता है, आप समय की प्रतीक्षा करें।

यहाँ स्पष्ट है कि साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार गृहस्थाश्रमोचित नीतियाँ हैं; राजा के द्वारा ये विशेषरूप से ग्राह्य हैं। भगवान महाराजाओं के भी महाराज हैं, अतः उन्होंने अवसर पाकर इन्हीं नीतियों से अपने परम प्रिय अर्जुन को समझाने का प्रयास किया है। जब वे नहीं समझ पाये तब प्रभु ने यह प्रलोभन दिया कि तुम्हारी विजय तो सुनिश्चित है, तुम व्यर्थ में शोक–सन्ताप क्यों कर रहे हो, किन्तु भक्त अर्जुन प्रलोभन में नहीं पड़े क्योंकि वे लोभी तो थे ही नहीं। उनके द्वारा युद्ध करने से मना करना तो व्यावहारिक धर्म के अन्तर्गत ही था; भले ही वह मोह से उत्पन्न क्यों न हो। उसके उपरान्त भी जब महात्मा अर्जुन मौन ही रहते हैं, तब भगवान ने दण्डनीति का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा कि तुमने स्वयं से ही महादुर्गुण महापापरूपी नदी बहायी है। मेरी कृपा के बिना तो उस नदी को तुम पार कर ही नहीं सकते। यदि तुम कहते हो कि वह कौन सी पापरूपी नदी है जिसे मैंने बहाया है तो सुनो– सामर्थ्य होते हुए भी यदि किसी नरपशु द्वारा बलात् किसी नारी को नग्न होते हुए कोई देखता है, तो उस पुरुष को अन्धा होने का पाप लग जाता है। वैसी स्थिति में उसके सारे के सारे पुण्य उस नदी में बह जाते हैं। तुमने नहीं देखा कि कल्याणी द्रौपदी ने 'अन्धे का अन्धा होता है'– कहकर एक ऐसी नदी बहायी, जिसमें वह स्वयं बहने लगी! यदि मैं नहीं होता तो उसे तो असुर बहा ही ले गये होते। प्रभु ने पुनः कहा कि जो सामर्थ्य होने पर भी समयानुसार नहीं बोलता उसे गूँगा होने का पाप लग जाता है। इस न्याय से तुम्हें गूँगा होने का भी पाप लगा है, तभी तो तुम वाचाल हो गये हो, बकवास करने लगे हो, शास्त्रों के बहाने अपने मोह को धर्म बता रहे हो! भगवान ने एक बार पुनः महात्मा अर्जुन के सम्पूर्ण सिद्धान्तों को धराशायी कर दिया है, अब अर्जुन मौन हो गये हैं। अतः भगवान ने कहा– 'स्वभावजेन कौन्तेय' जिसप्रकार सम्पूर्ण प्राणी अपने स्वभाव के वशीभूत हैं उसीप्रकार तुम भी अपने स्वभाव अर्थात् प्रारब्ध के ही वशीभूत हो। यदि मेरा कहना नहीं मानते हो तो फिर 'ईश्वरः सर्वभूतानां'– सम्पूर्ण भूतों का स्वामी जो प्रारब्ध है, वही उनका ईश्वर है, वही तुम्हारा भी ईश्वर बन जायेगा और अपने अनुसार तुमसे कर्म करवाता रहेगा। यहाँ तक कि वह तुम्हारे द्वारा युद्ध भी करायेगा।

(ईश्वरः सर्वभूतानाम्.....) सम्पूर्ण भूतप्राणियों के भीतर–बाहर ईश्वर व्याप्त है, किन्तु उसके शरणागत न होने पर इस शरीर के भीतर इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि में बैठे हुए प्रारब्ध के द्वारा ही उनका शरीर नाचता रहता है। सभी साधक जानते हैं कि शरीर का ईश्वर इन्द्रियाँ हैं,

इन्द्रियों का ईश्वर मन है, मन का ईश्वर बुद्धि है तथा इन सबका ईश्वर प्राण है और प्राणसहित इन सबका ईश्वर प्रारब्ध है तथा प्रारब्ध का भी ईश्वर ब्रह्म है। यह क्रमशः ईश्वरवाद की परिकल्पना है जबकि ईश्वर शब्द बहुवाची है। बहुत लोगों ने ईश्वर का अर्थ एकमात्र ब्रह्म से ही कर लिया है, जबकि अज्ञानियों का (मूर्खों का) ऐश्वर्य ही ईश्वर होता है; क्योंकि वे ऐश्वर्य के लिये ही जीते हैं। 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'– किन्तु इस मंत्र के द्वारा सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर प्रारब्ध है ऐसा अर्थ भी लेना चाहिये, जो सबके हृदय में बैठा हुआ है तथा अपने संकल्प बल से सबको नचाता रहता है। इस न्याय से धृतराष्ट्र का ईश्वर दुर्योधन है; क्योंकि वे दुर्योधन के माध्यम से नाचते हैं, दुर्योधन का ईश्वर शकुनि एवं कर्ण आदि हैं; क्योंकि वह उनके माध्यम से नाचता है। द्रोणाचार्य का ईश्वर अश्वत्थामा है, पितामहभीष्म का ईश्वर प्रतिज्ञा है और प्रभु इन्हें इनके प्रारब्धानुसार ही नचा–नचाकर मारेंगे। नर्तकियों के नृत्य को देखनेवाले लोग भी भीतर से नाचते हैं। नाचने की कला तो वे जानते नहीं, अतः मन से ही उस कला को आत्मसात् करते हुए समय व्यतीत करते हैं। वैसे ही कोई गाकर, कोई नाचकर कोई आलोचनाकर, अनाप–शनाप बकवासकर समय व्यतीत करते हैं। इसीप्रकार ये सारे के सारे पक्ष–विपक्ष के लोग अबतक स्वार्थपरक युद्ध करते हुए समय व्यतीत करते आये हैं। इसीकारण इस युद्धभूमि में 'मैं उनको उनके प्रारब्धानुसार ही नचा–नचाकर मरवाऊँगा।' मानो भगवान कह रहे हैं कि इन सबके हृदय में इनका प्रारब्धरूपी ईश्वर बैठा हुआ है, जो इस समय मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा के सम्मुख कुण्ठित हो जायेगा। इनमें से कोई भगवान शिव को, कोई ब्रह्मा को, कोई विष्णु को, कोई सूर्य को, कोई अग्नि को, कोई अन्यान्य देवी–देवताओं को, कोई भूत–प्रेतों को पूजनेवाले हैं, ये सारे के सारे देवी–देवता तो मेरे से ही नाचते हैं। ऐसे समय में ये देवी–देवता किसी की रक्षा नहीं करेंगे, बल्कि रक्षा करने के ठीक विपरीत मेरे इस नरमेध यज्ञ में सहायक बनेंगे।

(ईश्वरः सर्वभूतानाम्.....) मानो भगवान कह रहे हैं कि यह शरीर एक दिव्य यंत्र है जिसकी रचना प्रारब्ध नामक पुरुष ने ईश्वर की अध्यक्षता में की है। अतः वह ईश्वर की शक्ति से ही शक्तिमान होकर अज्ञानी के शरीर को अपने अनुसार चलाता है। यदि तुम्हें भी प्रारब्ध नामक पुरुष के द्वारा नाचना है तो 'तमेव शरणं गच्छ'– जाओ, अपने उसी महापाप (प्रारब्ध) रूप ईश्वर की शरण में जाओ। यदि तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं है तो मुझे भी तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि तुमने मुझे सद्गुरु ही बना दिया है जबकि मैंने तुम्हें प्रमाण भी दे दिया है कि मैं तुम्हारा सद्गुरु ही नहीं भगवान भी हूँ लेकिन तो भी तुम मौनी हो गये हो, तो जाओ सम्पूर्ण भावों से उसी (प्रारब्ध) के लिये जीवन को दाव पर लगा दो, फिर तुम्हें शान्ति मिल जायेगी, जैसे इन मूर्खों ने अपना जीवन दुर्योधन की प्राणरक्षा करने हेतु दाव पर लगा दिया है। पितामहभीष्म ने सम्पूर्ण जीवन को हस्तिनापुर की सुरक्षा हेतु दाव पर लगा दिया है, वैसे ही तुम भी भिखारी बनकर हस्तिनापुर की सुरक्षा करो, संन्यासी बनकर इसकी सुरक्षा करो। युद्ध करने की प्रतिज्ञा करके भी तुम इस प्रतिज्ञारूप युद्ध से विमुख हो रहे हो। चन्द्रवंशी चन्द्रमा की तरह होते हैं, जिसप्रकार वह घटता है बढ़ता है, उसीप्रकार उनमें भी संकल्प–विकल्प होता रहता है। सूर्यवंशियों के पास संकल्प–विकल्प नहीं होता वे सूर्य के समान ही चमकते–दमकते रहते हैं,

उनमें आरोह–अवरोह, उतार–चढ़ाव नहीं होता। इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुम सूर्यवंशी हो; क्योंकि आजतक तुम्हारे में संकल्प देखा गया विकल्प नहीं; लेकिन यदि तुम अपने को चन्द्रवंशी ही मानते हो तो उन्हीं क्षुद्रों की भाँति जीवन जीओ; क्योंकि तुम्हारे वे ईश्वर तुम्हारे अनुसार तो पितरलोक में ही हैं! तो जाओ, 'तमेव शरणं गच्छ'– उन्हीं की शरण में जाओ, उन्हीं के कृपाप्रसाद से तुम्हें शान्ति मिल जायेगी। मैं तो समझता था कि तुम परम शान्ति की माँग कर रहे हो, यही नहीं मैं तो समझता था कि तुम मेरे प्रथम और अन्तिम शिष्य हो, इसलिए तुम्हें साधना न करनी पड़े और मैं तुम्हें अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति दे दूँ, मैं तो समझता था कि तुम मेरी आज्ञा का पालन कर दो और मैं तुम्हारा काम कर दूँ, तुम्हें मुक्ति दे दूँ। तुम जानते हो कि यदि मैं एक बार अपना चक्र घुमा दूँ तो ये सारे के सारे लोग धराशायी हो जायेंगे लेकिन उससे क्या बड़ी बात हो जायेगी! भक्तों को चरित्र गायन का तो अवसर ही नहीं मिलेगा!

(ईश्वरः सर्वभूतानाम्.....तमेव शरणं गच्छ.....) इन दोनों ही मंत्रों का महाराज ने व्यंग्यात्मक अर्थ किया है; जिससे ईश्वर प्रेमी भक्तों को गहरी चोट पहुँच सकती है। अतः इन दोनों मंत्रों का जो भावार्थ विख्यात है वह भी सुनें–

(ईश्वरः सर्वभूतानाम्.....तमेव शरणं गच्छ.....) हे पार्थ! सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी भगवान निश्चितरूप से बैठा हुआ है, तो भी वे माया के वशीभूत हुए इधर–उधर भटकते रहते हैं। कम से कम तुम तो सम्पूर्ण श्रद्धा एवं भाव से उसकी शरण में आ जाओ। ऐसा करने से निश्चित ही, इस विषम युद्ध को करने पर भी उसकी कृपा से सनातन परमपद को प्राप्त कर जाओगे।

भगवान नारायण ने यहाँ पर शुद्ध चेतन साक्षी ब्रह्म की सबके हृदय में स्थापना की है। वह तबतक मौनी होता है जबतक साधक वाचाल होता है, वह तबतक अकर्ता होता है जबतक साधक अपने को कर्ता समझता है, लेकिन जब वह सम्पूर्णता से उसके शरणागत हो जाता है तब वही सम शान्त सच्चिदानन्द परमात्मा उसके लिये कर्ता तथा वक्ता बन जाता है।

महाराज के पास कुछ वर्ष पूर्व जगत की दुरवस्था तथा सर्वत्र व्याप्त छल–कपट को देखकर शंकर (शंकरानन्द) नामक भक्त आया, उसने कहा कि महाराजजी! अब जीने की इच्छा नहीं होती। महाराज ने कहा– कोई बात नहीं यह तो अच्छी बात है; अब अपने हृदय में बैठे हुए भगवान के लिये जीयो; माया के लिये जीकर कौन सुखी एवं शान्त हुआ है? सम्पूर्णता से संन्यास लेकर सदा–सर्वदा के लिये भगवान के हो जाओ, शान्ति मिल जायेगी। उसे जगत के लोगों को देखने–बोलने, मिलने–जुलने का मन नहीं करता था, उसकी वही स्थिति आश्रम में भी थी। इसलिए यहाँ भी कुछ हद तक, कुछ समय तक अशान्त रहा। महाराज ने देखा कि यह स्वाध्याय (ज्ञानयज्ञ) का अधिकारी है, अतः महाराज ने गीताभाष्य करके सर्वप्रथम उसे लिखने को दे दिया। उसने पाँच, छः महीने में ही दिन–रात एक करके सम्पूर्ण भाष्य लिख दिया, उसके उपरान्त वह भलीभाँति सम शान्त हो गया। परिणामरूप फल है कि यह भाष्य समय से पूर्व ही

सम्पन्न हो सका। इसप्रकार अपने स्वभाव को देखकर तदनुरूप कर्म के अनुसार ही सम्पूर्ण श्रद्धा–भाव से हृदयस्थ ब्रह्म के शरणागत होना चाहिये।

प्रभु ने महात्मा अर्जुन को सर्म्पूण श्रद्धा, विश्वास एवं भाव के साथ ब्रह्म के ही शरणागत हो जाओ, ऐसा कहकर पुनः कहा–

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

हे पार्थ! तुम्हारे लिये मेरे द्वारा गोपनीय से गोपनीय रहस्य कहा जा चुका है। अब तुम खूब अच्छीप्रकार से विचार कर लो, उसके उपरान्त जैसा रुचे वैसा करो।

भगवान नारायण ने अबतक महात्मा अर्जुन के पास जीवन की तथा जीवन जीने की कला के साथ–साथ साधना के सम्पूर्ण अंगों की प्रस्तावना कर दी है। वह क्या? मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, किसलिये आया हूँ? ब्रह्म क्या है, माया क्या है, जीव क्या है? ज्ञान और अज्ञान क्या है? धर्म और अधर्म क्या है, सत्य और असत्य क्या है? कर्म, अकर्म और विकर्म क्या है? बन्धन और मोक्ष क्या है? इन सबका स्पष्टीकरण कर प्रभु ने ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग तथा राजयोग आदि के सम्पूर्ण स्वरूपों की गुत्थी खोलकर रख दी है तथा महात्मा अर्जुन को विचार करने का अवसर दे दिया है। प्रभु ने कहा कि तुम जल्द से जल्द अपना निर्णय बताओ ताकि मैं स्वयं अपना कार्य करूँ। महात्मा अर्जुन के पास न अब कोई तर्क है, न प्रश्न है और न ही अब कोई शब्द है। महात्मा अर्जुन की ऐसी स्थिति को देखकर महाराज, उदारमना भगवान को प्रणाम करते हुए राग–भीमपलासी में एक पद गाकर उस झाँकी को प्रस्तुत करता है–

घेरा डाला ऐसा वे भग नहीं पाये।
महाराज प्रभु ज्ञान पथिक अर्जुन को ज्ञान सुनाये;
कर्मयोग की मधुर पहेली भारत को आनि सुनाये।
भक्तियोग के भगति–जुगति से, सारे भरम मिटाये।।
घेरा डाला ऐसा.....
भीष्म द्रोण को देखि कह अर्जुन इनसों बहुत ठगाये,
धर्मध्वजी ये महारथी हैं पर हमको भरमाये।
भृकुटि तरेरें देखि दुर्योधन वह मूरख सरमाये।।
घेरा डाला ऐसा.....
चहुँ दिसि चितवत सिंघ की चितवनि, कौरव देखि थर्राये;
मधुर मधुर विहँसत प्रभु मन में, महाराज चित भाये।
राजयोग की महिमा ऐसी जड़ चेतन हो जाये।।
घेरा डाला ऐसा.....

जोग जुगुति बिनु गुरुकृपा से, निज स्वरूप को पाये;
महाराज प्रभु भक्त मिलन की, अद्‌भुत छटा लखाये।
सपथ लेत अब प्रभु अर्जुन से, भव सागर तरि जाये।।
घेरा डाला ऐसा.....

प्रभु ने अर्जुन की ऐसी स्थिति को देखकर दयार्द्र चित्त से अभयदान देते हुए कहा–

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

हे पार्थ! मैं सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों में से भी परम गोपनीय रहस्य को तुम्हारे सम्मुख कह रहा हूँ कि भले ही तुम मुझे अपनी आत्मा न मानो लेकिन मैं सत्य कहता हूँ कि तुम मेरी आत्मा हो, मैं सत्य कहता हूँ कि तुम मेरे परम प्रिय भक्त हो, मैं सत्य कहता हूँ कि इस समय तुम मेरे सर्वस्व हो। इसलिए तुम्हारे कल्याण की इच्छा से मैं तुमसे जो कह रहा हूँ, वह ध्यान से सुनो तथा जो माँग रहा हूँ उसे प्रेम से दे दो। 'मन्मना भव मद्भक्तो'– हे पार्थ! तुम अब मुझे अपने मन को दे दो, मेरे ही भक्त बन जाओ, मेरी शरण में आकर मुझे नमस्कार करो। यदि तुम इतना कर लेते हो तो तुझ प्रिय के पास मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मुझे ही प्राप्त कर जाओगे। इतना ही नहीं– (सर्वधर्मान्परित्यज्य.....) सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरे शरणागत हो जाओ तो इन गुरुजनों और स्वजनों के वध से होनेवाले महापाप से मुक्तकर मैं तुम्हें परमपद दे दूँगा, चिन्ता मत करो।

इस मंत्र से पता चलता है कि ब्रह्म जबतक प्रतिज्ञा नहीं करता तबतक मनुष्य को क्या देवताओं को भी उसकी बात पर विश्वास नहीं होता। पति–पत्नी परस्पर में प्रतिज्ञा करके ही परिणय सूत्र में बँधते हैं, परस्पर में दो मित्र प्रतिज्ञा करते हुए एक–दूसरे को साथी बनाते हैं। प्रायः सभी परस्पर में एक–दूसरे के लिए प्रतिज्ञा करके जीते हैं।

हनुमानजी ने जब देखा कि जबतक श्रीराम प्रभु बाली से रक्षा करने का वचन नहीं देते, तबतक सुग्रीव को विश्वास नहीं होगा, अतः अग्नि का साक्षी देकर भगवान और सुग्रीव में मित्रता करा दी। भगवान ने आकाशवाणी के द्वारा देवताओं को वचन दिया कि आप सब थोड़ा समय और भी प्रतीक्षा करें, मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि रावणसहित सम्पूर्ण असुरों का वध करने के लिये मैं आ रहा हूँ। उन्हीं भगवान नारायण ने श्रीरामरूप में आकर वनप्रदेश में सन्तों के मध्य

प्रतिज्ञा करके ही उन्हें सन्तोष प्रदान किया–

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।।
(अरण्यकाण्ड, रामचरितमानस)

इसप्रकार प्रभु ने भी महात्मा अर्जुन को सन्तोष प्रदान करते हुए कहा–

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि तुम मेरी शरण में आ जाते हो तो तुम्हें मैं विजय और कीर्ति के साथ–साथ निर्वाण पद भी दूँगा। तुम जो सोचते हो कि यदि तुम स्वजनों और गुरुजनों का वध करोगे तो तुम्हारी अपकीर्ति हो जायेगी, तो ऐसा नहीं है। बल्कि ठीक इसके विपरीत तुम्हारी कीर्ति फैल जायेगी। इतना ही नहीं, तुम्हें निर्वाणपद प्राप्ति के लिये जप, तप, योग आदि साधनों को करना ही नहीं पड़ेगा क्योंकि तुम मेरे आध्यात्मिक विरासत (सम्पत्ति) के भी अधिकारी हो।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....) भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन से मन माँगा है। मन जहाँ जाता है, वहीं पर तन भी जाता है, वहीं पर बुद्धि भी जाती है अर्थात् वहीं पर सर्वस्व चला जाता है। भगवान का कहना है कि यदि तन को देना नहीं चाहते हो तो कोई बात नहीं, यह तन माँ कुन्ती का ही रहे, महाराज युधिष्ठिर का ही रहे। इस युद्ध में तुम उन्हीं लोगों की आज्ञा से आये हो न कि मेरी आज्ञा से; इसलिए मन मुझे दे दो और तन से युद्ध करने का श्रेय उन्हें दे देना। मन में मुझे बिठा लो और तन से उनकी प्रसन्नता के लिये युद्ध करो और यदि ऐसा नहीं कर सकते तो भी कोई बात नहीं, मेरी ही आज्ञा से युद्ध करो। शरीर से मोह होता है जीव को, इसलिए भगवान तन को नहीं माँगते क्योंकि तन तो बहुतों का जूठा है; पर जब मन भगवान का बन जाता है तो जूठा तन भी अति पावन बन जाता है। सभी जानते हैं कि भगवान पवित्र वस्तु का ही भोग लगाता है– वह पवित्र वस्तु मन ही है जो सम्पूर्ण पदार्थों को खाने के उपरान्त भी भूखा रह जाता है, निर्मल का निर्मल रह जाता है, पावन का पावन रह जाता है लेकिन शरीर, माता, पिता, भाई, बान्धवों आदि के द्वारा अपना माने जाने से जूठा हो जाता है।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....) महात्मा अर्जुन ने मानो कहा कि मन को यदि मैं आपको दे दूँगा तो आप क्या करेंगे? तो प्रभु ने कहा कि उसी क्षण तुम्हारे मन में बैठ जाऊँगा। जैसे बाहर में तुम्हारे रथ पर बैठा हूँ, वैसे ही तुम्हारे मनरूपी रथ पर भी बैठ जाऊँगा और जैसे ही तुम्हारे मन में बैठूँगा, वैसे ही तुम सहज में ही शरणागत होकर दिव्य छन्दों द्वारा मेरी वन्दना करने लगोगे। उसी समय मेरे हृदय से तुम्हारे लिये करुणा के साथ कृपा की बरसात होनी प्रारम्भ हो जायेगी। मानो भक्त अर्जुन ने कहा कि मैं मन को कैसे दूँ माधव? यह कोई वस्तु तो है नहीं कि उठाया और दे दिया। फिर इस मन से स्वजनों को भी कैसे निकालूँ? प्रभु ने कहा कि सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग करके एक बार कहो तो कि हे माधव! मैं इस मन को आपको देना चाहता हूँ, यदि यह सत्य है तो आप इस मन को ले लें तथा मेरे हृदय में आकर बैठ जाएँ। इतना कहते ही मैं तुम्हारे मन से स्वजनों को भगाकर उसमें बैठ जाऊँगा। सूर्य बिना अन्धकार को भगाये जगत में आना

जानता है, वैसे ही मैं तुम्हारे सहित सम्पूर्ण भक्तों के मन में बैठना जानता हूँ। मेरे द्वारा मन में बैठते ही तुम्हारे जो स्वजन बैठे हुए हैं, वे सदा–सर्वदा के लिये भाग जायेंगे, उनका अता–पता भी न होगा। इसके पूर्व तुमने दिव्य रूप देखना चाहा था जिसे मैंने दिखाया भी, जिसने विश्वरूप दिखाया, उसी ने निर्गुण–निराकाररूप का भी बोध कराया और वही अब तुम्हारे सामने तुमसे एकमात्र मन माँगता है। यदि तुम कहते हो कि मन लेकर क्या करेंगे? तो सुनो– अपने मन से मैं सृष्टि का संकल्प करता हूँ, उसका पालन करता हूँ, संहार करता हूँ तथा भक्त का मन लेकर, भक्त के शुभाशुभ सृष्टि का संहारकर उसके लिये दिव्य लोक का निर्माण कर देता हूँ। इसप्रकार तुम मन को तो देकर देखो! ऐसा करने से तुम्हारा राज्य तुम्हारे पास तथा तुम्हारा मन मेरे पास हो जायेगा। ऐसी विलक्षण स्थिति को पाकर तुम धन्य हो जाओगे।

जो जिसकी उपासना करता है, उसी का भक्त कहा जाता है। इसलिए जीव की उपासना बाहर से करनी चाहिये और ब्रह्म की भीतर से। जीवन में जब जिसकी पराजय होती है तब वह जान ले कि उसने ब्रह्म के पद पर जीव को बैठा दिया है। भीतर का सिंहासन ब्रह्म का सिंहासन है, यदि उस ब्रह्म की जगह पर कोई माता–पिता, भाई–बान्धवों को बैठा लेता है तो जीवन–जीवन उसके भीतर–बाहर पराजय आकर डेरा डाल लेती है।

भगवान नारायण ने द्वारिका को अपने हृदय में नहीं बैठाया है और न ही गोपियों को ही बैठाया है। यदि उन्होंने राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि गिनती की गोपियों को भीतर बिठाया है तो गोपियों के रूप में नहीं शक्ति के रूप में; क्योंकि वे उनकी शक्तियाँ थीं। इसप्रकार उन्होंने कुछ को भीतर और कुछ को बाहर बिठाया। बाहर बिठायी गयी गोपियों को कोल–भीलों ने लूट लिया, भीतर बिठायी गयी गोपियों को कोई नहीं लूट पाया। ब्रह्म जीव को अपने हृदय में नहीं बिठाता, आत्मा को बिठाता है तथा आत्मा के अर्थात् भक्तों के हृदय में ही बैठता है। जिन गोपियों ने उन्हें कामरूप में देखा, प्रभु ने उन्हें हृदय से बाहर का बाहर रख दिया; जिन्होंने द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण, ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण, योगी श्रीकृष्ण, तान्त्रिक–मांत्रिक श्रीकृष्ण समझा उन्हें भी प्रभु ने बाहर का बाहर रख दिया लेकिन जिन गोपियों ने गुरुजनों के कहने से अथवा पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण उन्हें भगवान के रूप में देखा था, उन्हें अपने मन में बिठा लिया था। अतः उनकी जीवन में कभी पराजय नहीं हुई।

भगवान की भगवत्ता इसी में है कि अपने भक्त के पास भविष्य का संकेत लाकर रख दें, ताकि भविष्य में उसे शंका न हो। भीलों के द्वारा गोपियों के लूटे जाने पर महात्मा अर्जुन को संशय हो सकता था कि 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरा उद्धार करूँगा। ऐसी मेरे सामने प्रतिज्ञा करनेवाले भगवान गोपियों का ही उद्धार नहीं कर रहे हैं तो मेरा क्या करेंगे!' उस समय अर्जुन यह जान लें कि इन्होंने भगवान को अपना मन भगवान मानकर नहीं दिया था, इसलिए वे लूटी गयी हैं।

'मन्मना भव मद्भक्तो.....' और 'सर्वधर्मान्परित्यज्य.....'– ये दो मंत्र भगवान नारायण के अन्तिम प्रतिज्ञामय मंत्र हैं, जिन्हें भक्तों को याद कर लेना चाहिये। इसके बाद तो प्रभु ने श्रुतिफल

बताया है। अध्याय दो में 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं.....' से लेकर इस अध्याय के 'सर्वधर्मान्परित्यज्य. ....' तक प्रभु ने बहुत कुछ कह दिया है अर्थात् कुछ कहने को शेष न रहा, इसीलिये प्रभु ने कहा– 'मद्याजी मां नमस्कुरु'– मेरी शरण में आकर भगवद्भावना से मुझे प्रणाम करो, ताकि तुम्हारे सिर पर मेरा वरदहस्त जा सके और मैं तुम्हारे लिये शक्तिपात कर सकूँ।

महात्मा अर्जुन ने अबतक प्रभु को भाई के रूप में, सखा के रूप में, गुरु के रूप में प्रणाम करते हुए, एकादश अध्याय में भगवान के रूप में प्रणाम किया है लेकिन उन्होंने उस प्रणाम को सर्वस्व नहीं माना है। ऐसा प्रणाम तो लोग स्वप्न में भी अपने इष्ट को, देवी–देवताओं को करते पाये जाते हैं लेकिन शरणागत नहीं हो पाते। इसलिए प्रभु ने सर्वप्रथम, 'मद्याजी' (मेरी शरण में हो जाओ) कहा और तब कहा– 'मां नमस्कुरु' (मुझे नमस्कार करो)।

शरणागत हो जाने का तात्पर्य होता है भगवान को अपना स्वाभिमान देना, सद्गुरु को अपना स्वाभिमान देना। लोग अपने माता–पिता, भाई–बान्धव आदि में से किसी को भी अपना स्वाभिमान नहीं देते, इसलिए प्रभु ने ऐसा कहकर अर्जुन का मानो स्वाभिमान माँगा है। प्रभु ने कहा कि तुमने तो प्रतिज्ञा नहीं की लेकिन मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि हर तरह से इस जीव–जगत से मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा।

'मामेवैष्यसि सत्यं ते'– भगवान ने कहा कि 'मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।' इससे संकेत मिलता है कि एक सत्य प्रतिज्ञा होती है, एक असत्य प्रतिज्ञा होती है। जीव असत्य प्रतिज्ञावाला भी होता है, इसीलिये भगवान ने यहाँ 'सत्य' विशेषण लगा दिया। उस रणभूमि में जहाँ पक्ष–विपक्ष आमने–सामने है, उन सबके बीच में भगवान ने महात्मा अर्जुन का उद्धार करने की घोषणा (प्रतिज्ञा) कर दी।

एक दिन पुष्करानन्द ने पूछा था कि गुरुदेव क्या प्रतिज्ञा सबके बीच में करनी चाहिये? महाराज ने कहा कि करना क्या चाहिये, करते ही हैं! नवरात्रि, शिवरात्रि, एकादशी एवं अन्यान्य व्रतों में सबके सामने यह प्रतिज्ञा करते हैं कि इन दिनों में अन्न नहीं लेंगे केवल फलाहार या जलाहार व्रत ही करेंगे। इसलिए माता, पिता, भाई, बान्धवों के मध्य आप प्रतिज्ञा करें कि आज से ब्रह्म के लिये जीऊँगा। इसप्रकार हृदय में भगवान होगा तथा बाहर में उसकी आत्मायें अर्थात् माता–पिता, भाई–बान्धव, बाल–बच्चे आदि होंगे, जो बाहर के बाहर रह जायेंगे। सबको ही तो भगवान चाहिये, जो आज भगवान को नहीं चाहता उसे आज नहीं तो विवश होकर ही भगवान को कल चाहना होगा। इसमें संकोच की क्या बात है? यदि धर्मपत्नी को बाहर का बाहर बिठाये रहते हैं, मन में नहीं जाने देते तो क्या उसका शृंगार चला जाता है तथा भीतर में (हृदय में) बिठा लेते हैं तो क्या वह आपकी आराध्या होकर वरदान देती है? उसीप्रकार कोई धर्मपत्नी, धर्मपति को बाहर बिठाने की जगह भीतर बिठा लेती है तो क्या वे उसके लिये वरदानी बन जाते हैं? क्या माता–पिता को हृदय में बिठा लेते हैं तो वे वरदान देकर चले जायेंगे! अरे! जिनके मन, बुद्धि, चित्त का उद्धार ही नहीं हुआ है, उनको मन में बैठाने का क्या औचित्य है? यह तो एक विडम्बना ही कही जायेगी। भगवान का आशय यहाँ यह है कि दोनों ही प्रसन्न रहें, भीतर में

भगवान तथा बाहर में उसकी आत्मायें। इसप्रकार दोनों का ही सम्मान हो जाता है। मैं भगवान का हूँ और भगवान मेरा है, ऐसा कहने से भगवान का सम्मान हो जाता है तथा ये सब (स्वजन एवं प्राणी) भगवान के हैं ऐसा कहने से भगवान की आत्माओं का भी सम्मान हो जाता है यही मौलिक मंत्र है, यही मौलिक सिद्धान्त है।

माँ सुमित्रा ने अपने भगवद्भक्त प्रिय पुत्र लक्ष्मण से कहा– जाओ बेटे! जाओ! आज से भीतर–बाहर राम–सीता को बिठा लो, मुझे बाहर रख दो; क्योंकि मेरे हृदय में राम दूसरा है अर्थात् बाहर का राम मेरे पति अभी जीवित हैं; ऐसा कहकर भगवती सुमित्रा ने लक्ष्मण का तिरस्कार नहीं किया, अपितु सम्मान ही किया है।

सद्गुरु भी अपने शिष्यों से मन ही माँगते हैं; क्योंकि उस निर्मल मन में, उस विशाल मन में अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति को रख देना चाहते हैं। उनको शिष्यों के बाहर के व्यवहार से कुछ लेना–देना नहीं रहता। जो मन दे सकता है, उसी से मन माँगा जाता है, जो नहीं दे सकता उससे क्या माँगेगा? क्या पशु–पक्षी से मन माँगेगा? सद्गुरु एवं शिष्य दोनों ही एक–दूसरे के लिये दाता होते हैं। शिष्य अपना सर्वस्व मन देता है और सद्गुरु उसे अपनी सर्वस्व आध्यात्मिक शक्ति देता है। इसप्रकार ये दोनों महादानी एक–दूसरे में आसीन हो जाते हैं। भगवान की प्रतिज्ञा की तरह ही सारे सद्गुरु उसी प्रतिज्ञा में आज भी प्रतिष्ठित हैं तथा उन समर्पित साधकों के लिये जीते हैं। यदि एक अंश भी शिष्य ने मन को बचाकर रखा है तो सद्गुरु उसके लिये सम्पूर्णता से नहीं जी पाता। भगवान को मन देना ही सबकुछ नहीं है; क्योंकि आर्त और अर्थार्थी भी तो अपना मन देते हैं लेकिन उनके मनोरथ को पूरा करके भगवान उनके लिये जी नहीं पाता। इसलिए भगवान को मन देकर उन्हें माँग लेना ही, मन देना कहा जाता है। उसीप्रकार सद्गुरु को भी मन देकर सद्गुरु से आध्यात्मिक चिन्तन माँग लिया जाता है; क्योंकि सद्गुरु एक चिन्तन है, एक सिद्धान्त है, आध्यात्मिक ज्ञान है। वह शरीर तो कभी होता नहीं, वह तो एक दिव्य राज है, दिव्य रहस्य है; नाम तो शरीर को पुकारने का संकेत मात्र है। वैसे ही आप भी एक रहस्य हैं क्योंकि आप शरीर नहीं हो सकते। अतः आप अपने मन को सद्गुरु को देकर अपने रहस्यमय स्वरूप को जान लें।

(सर्वधर्मान्परित्यज्य.....) अब पुनः युद्ध के मैदान में चलते हैं जहाँ भगवान अपने प्रिय अर्जुन से कुछ विशेष ही कहते हैं– हे पार्थ! यदि तुम सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर देते हो, तो मैं भी अपने शुद्ध साक्षी स्वरूप का परित्यागकर तुम्हारे लिये कर्ता बन जाऊँगा। ये कौरव सर्वधर्म त्यागी हैं तो तुम्हें सर्वधर्मत्यागी बनने में क्या आपत्ति है? आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य गुरुधर्म त्यागी बनें तथा तुम शिष्यधर्मा बनो, यह कहाँ का न्याय है? ये सब कुलधर्म त्यागी बनें तथा तुम कुलधर्म पालनकर्ता बनो, यह कहाँ का न्याय है? धृतराष्ट्र राजधर्म का त्याग करें तथा तुम राजधर्म का पालन करो, यह कौन सा धर्म है? पितामह ने पितामह पद का त्याग कर दिया है एवं तुम प्रपौत्रधर्म को धारण किये बैठे हो, यह कहाँ का धर्म है? और कहाँ तक कहूँ, इन लोगों ने भागवत धर्म का ही त्याग कर दिया है इसलिए तुम इन सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर भागवत धर्म धारण कर

लो। वह भागवत धर्म मैं ही हूँ, मैं ही सर्वधर्मा हूँ लेकिन इन लोगों ने मुझ सर्वधर्मा का ही त्याग कर दिया है। अतः तुम क्यों न इन सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर, सर्वधर्मा मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को स्वीकार कर लो। मातृधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म, भ्रातृधर्म, राजधर्म इत्यादि बहुत से धर्म होते हैं, तुम इन सारे धर्मों का परित्याग कर दो तथा मुझ एक ही से सम्पूर्ण नातों को जोड़ लो। मुझे तुम माँ समझ लो, पिता समझ लो, भाई समझ लो इत्यादि–इत्यादि। इसप्रकार सारे नातों के द्वारा मैं तुम्हारे काम आऊँगा। यदि साधक सद्गुरु को साक्षात् सगुण ब्रह्म के रूप में देखता है तो उसके काम, क्रोध, लोभ आदि ये सारे के सारे विकार स्वतः ही चले जाते हैं। जब शिष्य सद्गुरु से अपने सम्पूर्ण जीवन की कहानी कहता है तो वह उसका मित्र बन जाता है तथा ज्ञानयोग एवं कर्मयोगरूपी दोनों दिव्य स्तनों से जब वह अमृत पिलाता है तब वह उसके लिये माँ बन जाता है। वैसे ही कभी पुत्र बनकर, कभी माँ बनकर, कभी बेटी बनकर, कभी मित्र बनकर, कभी भाई बनकर वह शिष्य के काम आता है।

भगवान जब सम्पूर्ण धर्मों के परित्याग की बात करते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि इस युद्धभूमि में एक भाई के नाते को छोड़कर सारे के सारे नाते मर जायेंगे अर्थात् इन सबके सारे मित्र, सारे बच्चे, सारे स्वजन तथा गुरुजन आदि स्वर्गवासी हो जायेंगे। यदि अभी से सम्पूर्ण नातों को भगवान से जोड़ लेते हैं तो वैसी स्थिति में शोक–सन्ताप नहीं होगा। आध्यात्मिक भाषा में ये स्वजन ही सगुण पाप हैं, अतः इन सारे पापों से भगवान अर्जुन को मुक्त कर देना चाहते हैं।

एक दिन पुष्करानन्द ने कहा कि गुरुजी! इस जन्म में मेरा उद्धार नहीं हो सकता न? मैं इतना पुण्यात्मा कहाँ हूँ? महाराज ने कहा कि तुम इतनी छोटी सी उम्र में भगवान के लिये वन को चल सकते हो फिर भी कहते हो कि मेरे में शक्ति कहाँ है? क्या इससे पहले तुम इस शक्ति को जानते थे? तुम्हारे जिस भगवान ने अभी अट्ठारह वर्ष की अवस्था में ऐसी कृपा कर दी, वही आगे भी कृपा करेगा! मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, कहाँ जाऊँगा? मन से प्रकट होना कम बड़ी बात है क्या? घोर जप, तप करने के उपरान्त ऐसे प्रश्न मन से प्रकट होते हैं, जबकि तुम्हें सहज ही प्राप्त हैं। तुम किस कारण से अपने को कमजोर समझते हो? तुम आध्यात्मिक महारथी हो, आध्यात्मिक महावीर हो, तुम भगवान के एक वरदपुत्र हो, जो चलता है वन में भगवान के लिये और रास्ते में मिलता है 'सद्गुरु', जो चलता है भगवान के लिये और मिल जाती है गीताजी। ये प्राकृतिक दिव्य–शुभ संकेत एवं लक्षण हैं। 'पूत का पाँव पालने में दीख जाता है' इस कहावत से जो भी एक साधक को साधन प्राप्त होना चाहिये, वह सब तुम्हें प्राप्त है। ऐसा है तभी तो भगवती माँ गंगा ने तुम्हें महाराज का भाष्य लिखने के लिये गणेशजी की तरह भेज दिया! भगवान तुम्हारे में है और तुम भगवान के हो, तभी तो तुमको यह दिव्य ज्ञानयज्ञ लिपिबद्ध करने का अवसर मिला है!

प्रायः साधक अपनी शक्ति–सामर्थ्य से अनभिज्ञ रहते हैं, चिन्तन के अभाव में प्रभुकृपारूपी प्रसाद को भी नहीं समझ पाते हैं; जिससे कि परम सन्तोष की जगह असन्तोष के भागी बन जाते

हैं। वैसी अवस्था में अपनी शक्ति निष्क्रिय सी जान पड़ती है, अपना तेज प्रभावहीन सा दिखायी पड़ता है, जबकि उपरोक्त लक्षणोंवाले साधक को तो प्रभु को प्रतिपल धन्यवाद देना चाहिये।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....) एक बार पुनः इस मंत्र पर विचार कर लें क्योंकि प्रभु ने विराम देते–देते अपने हृदय को भी भक्तों में ही विराम देने का मन बना रखा है।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....मोक्षयिष्यामि मा शुचः.....) इस अठारहवें अध्याय में महात्मा अर्जुन का अंतिम प्रश्न था जिसका भगवान के द्वारा उत्तर दिये जाने के उपरान्त उनके हृदय क्षेत्र से सारे प्रश्न समाप्त हो गये हैं। अब उनके हृदय से प्रश्न फिर प्रकट नहीं होगा और जो होगा उसका उत्तर अपने–आप मिल जायेगा। प्रश्न में अपना मौलिक तत्त्व छिपा रहता है। जहाँ से संशय खड़ा होता है वहीं से समाधान भी प्रकट होता है, पेट एवं पीठ की तरह। इसलिए साधक के प्रश्न जब खड़े होते हैं तो वे ध्यान में ही उसके उत्तर की प्रतीक्षा करते हैं। जब प्रश्न खड़ा हो गया तो उस प्रश्न को निरर्थक नहीं जाने देते। वे कहते हैं कि जहाँ से प्रश्न खड़ा हुआ है हमें पुनः इस प्रश्न को वहीं भेजना है, अतः वहीं से इसका उत्तर आये। जैसे जिस पृथ्वी से जहाँ से फूल प्रकट होते हैं वहीं से काँटे प्रकट होते हैं, उसीप्रकार जिस हृदयक्षेत्र से राजस, तामस वृत्ति प्रकट होती है वहीं से सात्त्विक वृत्ति प्रकट होती है। ठीक उसीप्रकार अवरोधक तत्त्व और उसके जो विरोधी तत्त्व हैं, दोनों एक ही जगह से खड़े होते हैं। छठे अध्याय में प्रभु ने यद्यपि संन्यास और त्याग के स्वरूप का भलीभाँति विवेचन कर दिया है लेकिन चूँकि उदार दृष्टि न होने के कारण से, भगवान के प्रति जीवभाव होने से, भगवान के द्वारा दिया हुआ उत्तर महत् उदार न हो सका, निरर्थक सा हो गया। इसलिए संन्यास की कामना से अभिभूत महात्मा अर्जुन संन्यास का अभी पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। मानो वे संकल्प कर रहे हैं कि ठीक है, अभी तो आप अपना प्रयोजन पूरा करायें इस शरीर से, इन भुजाओं से, इन पैरों से, इस वाणी से लेकिन अंतिम चरण में जब आपका प्रयोजन पूरा हो जायेगा तो फिर अपना प्रयोजन आपसे मैं पूरा कराऊँगा अर्थात् संन्यास ले लूँगा। अतः पुनः–पुनः संन्यास और त्याग के तत्त्व को उन्होंने भलीभाँति जान लिया ताकि वैसी अवस्था में क्या त्याग करना चाहिए और क्या ग्रहण करना चाहिए, ये दोनों बातें पुनः उनको आन्दोलित न करें। संन्यास जीव का मौलिक तत्त्व है। महात्मा अर्जुन भाग खड़े हुए थे युद्ध के मैदान से लेकिन भागना संन्यास के लिए था न कि वनप्रदेश में तेरह साल के छिपने जैसा। यह तो सत्य ही है कि संन्यास के लिए भागनेवाला कभी न कभी सच में ही भाग जाता है।

पहले कागज पर नक्शा बनाया जाता है मकान का, उसके उपरान्त नक्शा बनते–बनते फिर उसका साकाररूप धरती पर खड़ा हो जाता है जिसे आप अच्छीप्रकार से जानते ही हैं। वैसे ही भावी जीवन की कल्पना पहले मन से फूटती है और यदि लम्बे काल वह धारा चलती रही तो फिर साकार भी होती है। महात्मा अर्जुन के द्वारा यह गीताजी का सम्पुट किया जा रहा है। प्रश्न से भी सम्पुट होता है, उत्तर से भी सम्पुट होता है। महात्मा अर्जुन का प्रथम सम्पुट संन्यास लेने से लगा है और अब संन्यास के तत्त्व को समझने से लग रहा है। ठीक उसी तरह

जैसे प्रभु के द्वारा ब्रह्मविद्यारूप ज्ञान का सम्पुट 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से लगा था और अब 'मन्मना भव.....सर्वधर्मान्.....' से लग रहा है।

मन से ही लोग अशुभ मनन करते हैं, सामान्य बुद्धि से ही अशुभ चिन्तन करते हैं और प्रज्ञावादी बन जाते हैं। अतः अब सम्पुट भगवान कैसे करते हैं, उसे देखें। कहते हैं कि ऐसा करो– इस मन को ही तुम मुझे दे दो। यह तुम्हारा मन नहीं है अपितु तुम्हारे स्वजनों का मन है। आचार्य द्रोण ने दिया है तुम्हें अपने मन को, वह मन मुझे दे दो, पितामहभीष्म ने जो दिया है तुम्हें मन को वह मन मुझे दे दो। दुर्योधन ने भी तुम्हें अहंकारमय मन दिया है, कर्ण ने भी द्वेषमय मन दिया है, शकुनि ने भी कपटमय मन दिया है तुम्हारे को, अतः उस मन को दे दो, मोहमय मन को दे दो; क्योंकि तुम्हारे बाल–बच्चों ने इसे दिया है। अभिमन्यु के प्रति तुम्हारे मन में विशेष जगह है; क्योंकि अभिमन्यु ने तुम्हारे को मन दे दिया है, अभिमन्यु के द्वारा मन दे देने से फिर तुम्हारे में भी उसका मन आ गया है। यद्यपि तुम निर्विकार थे, निर्विकार हो लेकिन बीच में दूसरे के मन को ले लेने से, दूसरे की बुद्धि को अपनी बुद्धि मान लेने से तुम जीव के मनवाले हो गये हो, जीव की बुद्धिवाले हो गये हो। इसलिए दे दो उस मन को, दे दो उस बुद्धि को, दे दो उस हृदय को, जिसमें 'हस्तिनापुर' बड़े लम्बे समय से अपना स्थान जमा रखा है। सिंहासन की कामना तुम्हें नहीं है लेकिन उस सिंहासन को मानो दुर्योधन ने छीन लिया है, अतः शोक–सन्ताप होते–होते आज आध्यात्मिक विषाद हो गया जिसके लिए हम युद्ध करेंगे।

अर्जुन तो फिर रहेंगे ही नहीं घर में, इसलिए कि अन्त में संन्यास लेंगे तो सर्वप्रथम संन्यासी घर में वैरागी बनता है। जबतक कोई घर में वैरागी नहीं बनता तबतक प्रभु के चरणों का अनुरागी नहीं बनता और जबतक अनुरागी नहीं बनता तबतक दिव्य संन्यास उसमें फलित नहीं होता। सांसारिक मन को देने के बाद जीव साधक कहलाता है, फिर वह जीव नहीं रहता। साधक सर्वप्रथम जिज्ञासु होता है लेकिन उसके उपरान्त जब आगे बढ़ता है और मन को देता है तो फिर साधक कहलाता है। कालान्तर में फिर वही सिद्ध, संत और ब्रह्म नाम से विभूषित होता है। इसलिए इस आख्यायिका से खोजना है कि हमने किन–किन लोगों के मन को अपना मन मान लिया है।

कामियों के मन को भी आपने ले रखा है तभी आपमें काम की उत्पत्ति हो रही है, क्रोधियों के मन को ले रखा है तभी आपमें क्रोध की उत्पत्ति हो रही है, लोभियों के मन को आपने ले रखा है तभी आपमें लोभ की उत्पत्ति हो रही है, रागी, द्वेषी, छली, कपटियों के मन को ले रखा है आपने, तभी आपमें राग, द्वेष, छल, कपट आदि की वृत्तियाँ प्रकट हो रही हैं। आपमें दिव्य तेज, दिव्य शौर्य क्यों न हो लेकिन जब आपमें गुरु को मन, बुद्धि देने की कामना नहीं हो रही है तो वह दिव्य तेज, शौर्य कर्ण का दिव्य तेज एवं शौर्य है। सद्गुरु आपको डाँटेगा–फटकारेगा फिर मौन हो जायेगा। कितना डाँटेगा? अतः अपने स्वभाव को नहीं बदलें तो वह मौन हो जायेगा और भगवान शंकर बन जायेगा। जैसे वे सती को समझाते–बुझाते मौन हो गये थे। उन्होंने कहा था कि जिन्हें तुम राजा दशरथ का पुत्र मानती हो, तपस्वी मानती हो, वे साक्षात् सच्चिदानन्दघन

परमात्मा हैं, उन्हीं का गुणानुवाद और चरित्र सुनने मैं महात्मा अगस्त्य के पास गया था। इसलिए तुम मेरी बात पर विश्वास करो। एक तरफ तुम कहती हो कि आप साक्षात् नारायण हैं, आप सच्चिदानन्दघन हैं और दूसरी तरफ तुम्हारा सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही कह रहा है कि ये अयोध्यापति साक्षात् नारायण हैं, ये मेरी आत्मा हैं, तो इस बात पर विश्वास नहीं कर पा रही हो। तुम्हारे लिए तो मैं सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हूँ लेकिन हमारे लिए तो ये ही नित्यानन्द परमपुरुष परमात्मा हैं तो भी सती ने नहीं माना तो नहीं माना। इसके उपरान्त तो फिर जो हुआ उस घटना को आप सब जानते हैं।

महाराज जब श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत का पाठ करने को कहता है तो उसमें आचार्यसंहिता के दिव्य सोपान हैं, वे आपको सहज में ही प्राप्त होते हैं मात्र पाठ करने से। घर का मन लेकर आये हैं आप, बुद्धि लेकर आये हैं, चित्त लेकर आये हैं, घर का आचार–विचार लेकर आये हैं। सम्भव है कि आपका पिता अशिष्ट हो, उसकी अशिष्टता आपके रक्त में समायी हो, उसकी अशिष्टता आपके मन, बुद्धि, चित्त में समायी हुई हो और कालान्तर में कभी वह आपके लिए घातक बन जाये। इसलिए आप से कहता है कि कम से कम श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भागवत का पाठ करें ताकि भगवान श्रीराम का आदर्श, भगवान श्रीकृष्ण का आदर्श, उनकी दिव्य मर्यादा आपको प्राप्त हो, तब कहीं जाकर आप सफल होंगे।

इसलिए महात्मा अर्जुन से भगवान ने कहा– 'तुम्हारे में जो अशिष्टता प्रशस्त हो गई थी वह इस समय नहीं है, संशय का निवारण हो चुका है क्योंकि तुमने मुझे पूरी तरह पहचान लिया है तो भी मैं मन माँगता हूँ। तुम अपने मन पर विश्वास मत करो।' बहुत बड़ी बात कह दी भगवान ने। मानो सद्गुरु माँगता है कि घर से आप आये हैं तो पहले घर का मन दे दें, घर की बुद्धि दे दें, घर का व्यवहार दे दें।

उपनिषद् कहता है– शिष्य जाते हैं सद्गुरु के पास तो सद्गुरु कहता है कि बोलने की आवश्यकता कुछ नहीं है। यदि आप सब को लगता है कि आप सब का मनोरथ मेरे पास पूरा हो जायेगा तो सर्वप्रथम इस आश्रम में पहले आप ब्रह्मचर्य पालन करते हुए कुछ काल तक निवास करें। जब मुझे विश्वास हो जायेगा कि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा आपमें हो गयी तब मैं स्वयं आपलोगों से पूछूँगा कि आपलोग क्या चाहते हैं। तो शिष्य साहस नहीं करते थे बोलने का, यह आदर्श परम्परा है।

इसलिए भगवान ने कहा कि 'मन्मना भव मद्भक्तो'– कहीं अपने अहंकार के भक्त तो आप नहीं हैं? इसलिए मेरे भक्त बन जाएँ। सर्वप्रथम प्रभु ने त्याग की बात की है, संन्यास की अंतिम में बात की। वह यह कि तीन प्रकार का मन है, तीन प्रकार की बुद्धि है, तीन प्रकार की धृति है, तीन प्रकार का कर्म है, तीन प्रकार का सुख है, तीन प्रकार का भोजन है, तीन प्रकार का यज्ञ, दान और तप है इत्यादि इत्यादि, इसको त्याग दें। ये तीन–तीन प्रकार के तत्त्व प्रकृतिगत हैं, मायागत हैं। इसलिए त्यागे जा सकते हैं।

महाराज अब आगे बढ़कर बोलता है– तीन–तीन प्रकार के ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति,

सुख, तप और त्याग तथा आहार ये सब परिवारगत हैं। क्यों कह दिया महाराज ने ऐसा? इसलिए कि जिस परिवार में आप जन्म लेते हैं उस परिवार का परम्परागत व्यवहार ही आपको प्राप्त होता है और उस परम्परागत व्यवहार से ही आपके मन का निर्माण होता है, आपकी बुद्धि का निर्माण होता है, आपके हृदय का, आपके आहार–व्यवहार का निर्माण होता है। कोल–भीलों के घर में जन्मनेवाले बालक का आहार मांस होगा। उसका ऐसा व्यवहार होगा जो कि शास्त्र से स्पर्श ही नहीं कर रहा होगा, शास्त्र से उसे लेना–देना ही नहीं होगा। अतः उसकी धृति द्वारा मांस–शराब और भूत–प्रेत आदि धारण किये जायेंगे, उसकी बुद्धि द्वारा अधर्म कर्म ही धारण किये जायेंगे इत्यादि इत्यादि।

अतः 'मन्मना भव मद्भक्तो'– उस मन को जो परिवारगत है, जातिगत है, समाजगत है दे दें और प्रभु के भक्त बन जायें। जब सबकुछ कोई अपना खो देता है तो अपने अहंकार का भक्त बन जाता है। भिखारी भी अपने अहंकार का दास होता है। यदि भिखारी को आप छेड़ेंगे तो चिढ़ जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि कहीं न कहीं वह अपने अहंकार का दास है। वह कहता है देना हो तो दो, आपसे मैं छीना–झपटी तो नहीं करता– ऐसे भिखारी होते हैं और अब तो एक रुपया से कम देने पर पैसे फेंकने लगे हैं। वे भिखारी नहीं होते, अहंकारी होते हैं। भिखारी उसे कहते हैं जो दे उसका भला जो न दे उसका भी भला– ऐसा कहता और सोचता हो।

तो कहते हैं कि 'मन्मना भव मद्भक्तो'– मन के विविधरूप हैं, उन विविधरूपों को प्रभु को देकर फिर अपने अहंकार के आप दास न बनें, प्रभु के दास बन जाएँ। सबकुछ दे देने के बाद भी मैं शरीर हूँ, मैं कुछ हूँ– ऐसा शरीरभाव बचा रह जाता है। 'मैं कुछ शेष हूँ' अतः ऐसे शेष होनेपना के भाव को भी सद्गुरु माँगता है। शिशु के पास में न जाति है, न परिवार का बोध है। तीन महीने के शिशु के पास कुछ भी नहीं होता लेकिन आँख दिखायेंगे तो चिल्ला पड़ेगा, रो पड़ेगा, डाँटेंगे तो चिल्ला पड़ेगा। उस शिशु को अहं का बोध है, अर्थात् ये मुझे डाँटनेवाले कौन होते हैं? ऐसा उसका भाव है। वह जानता तो कुछ है नहीं लेकिन एक तत्त्व उसके पास है कि वह अपने 'मैं' का दास है, सेवक है। तो 'मद्याजी' अर्थात् पहले सम्पूर्ण सिद्धान्तों के साथ अपने मन को दे दें और मेरे ही भक्त बन जायें– ऐसा सभी सद्गुरु अपने शिष्यों से चाहते हैं। सद्गुरु और भगवान सामान्य लोगों की दृष्टि में दो बातें हैं। जब प्रथम में भगवान को महात्मा अर्जुन ने सद्गुरु समझ लिया था तो कहीं ऐसा न हो कि उन्हें भगवान समझकर वे पुनः सद्गुरु के रूप में ही देखने के लिए बाध्य हो जायें। इसलिए प्रभु ने कहा– 'मन्मना भव मद्भक्तो' मेरे ही भक्त बन जाओ। अब तुम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भक्त नहीं बन सकते हो। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि महात्मा अर्जुन से कहा था भगवान ने कि पहले तुम अपने इष्ट का स्मरण करो और दुर्गा कवच का स्तवन करते हुए उस महात्मा ने रथ की परिक्रमा की थी, भगवती दुर्गा का स्तवन करते हुए रथ पर आसीन हुए थे। भगवान अब इस बात को नकारते हैं, कहते हैं कि तुम वही हो जिसने मेरे इस रथ पर आसीन रहते हुए भी दुर्गाजी का स्मरण किया था। अब मैं नहीं चाहता कि तुम उस भगवती के भक्त बनो। पहले मेरे भक्त बन जाओ; क्योंकि तुमने कहा है कि

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

यहाँ गूढ़ात्मक रहस्य छिपा हुआ है। 'मन्मना भव मद्भक्तो'– महात्मा अर्जुन से यदि भगवान इतना ही कहते कि द्रोणाचार्य के भक्त न बनो, पितामहभीष्म के, स्वजनों के भक्त न बनो, अपने अहंकार के भक्त न बनो तो फिर वहाँ पर यह कहते कि दुर्गाजी के भक्त तो बनो लेकिन कहते हैं कि नहीं सर्वप्रथम मेरे भक्त बन जाओ और सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर दो। जिन–जिन देवताओं के प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य होता था उस कर्तव्य का त्याग कर दो। कहीं ऐसा न हो कि वे युद्ध के मैदान में आड़े आ जायें। भगवान ने बड़ी बारीकी से दृष्टिपात करके महात्मा अर्जुन से कहा कि तुम किसी के भक्त नहीं बन सकते। इसलिए कि यहाँ जितने भी हैं, किसी न किसी देवता के भक्त हैं। तुम पहले दुर्गाजी की उपासना करोगे इस युद्ध के मैदान में अर्थात् स्मरण करोगे तो तुम्हारी जगह कोई और भी दुर्गाजी का स्मरण कर रहा होगा, अतः द्वन्द्व हो जायेगा। वह एक ही पुरुष है– वह मैं हूँ, जिसकी उपासना कोई भी योद्धा नहीं कर रहा होगा। अतः सम्पूर्णता से मैं तुम्हारा होकर रहूँगा, तुम्हारे भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे होकर रक्षा करूँगा। यदि मेरा कोई उपासक यहाँ पर तुम्हारा विपक्षी रहता तो तुम्हारी पूजा की काट हो जाती।

लीलावती ने पूछा योगवासिष्ठ में सरस्वती देवी से अंतरिक्ष में कि हे भगवती! मेरे पति ने तो आपकी ही उपासना की थी अतः ये सिंधु नरेश से क्यों पराजित हो गए? तो सरस्वती देवी ने कहा कि हे साध्वी! तुम्हारे पति ने और सिंधु नरेश दोनों ने ही मेरी उपासना की थी लेकिन तुम्हारे पति ने मेरी उपासना निष्काम की थी, विजय की कामना से नहीं की थी और सिंधु नरेश ने मेरी उपासना विजय की कामना से की थी। अतः तुम्हारे पति पराजित हुए, उनका वध हो गया और सिंधु नरेश विजयी हुए। तो वह आश्चर्य की तरह देखती रह गयी थी।

भगवान मानो उसी तत्त्व को लाकर खड़ा कर रहे हों कि एकमात्र तुम मेरे भक्त होके रह जाओ, कहीं दुर्गाजी की तुमने निष्काम उपासना की हो और कोई सकामी भक्त हो यहाँ दुर्गाजी की उपासना करनेवाला तो तुम उससे पराजित भी हो सकते हो। शिव की उपासना यदि तुम करते हो तो यहाँ तो उनकी उपासना करनेवाले बहुत हैं– जयद्रथ भी, अश्वत्थामा भी महा उपासक हैं शिव के, देवी के, काली के। इसमें ब्रह्मा की उपासना करनेवाले जितने तुम हो उससे कहीं कम वे लोग भी नहीं हैं जिन्होंने ब्रह्मास्त्र पाया है (अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र पाया है) तो तुम जिस–जिस की उपासना करोगे, उस–उस की उपासना करनेवाले इस युद्ध में बहुत से होंगे और वे भी सकामी होंगे। तो सम्भव है तुम्हारे लिए वे समस्या बन जायें।

यह मत भूलो कि ये महाराज सत्यवादी युधिष्ठिर जो शकुनि से पराजित हो गए थे तो यही कारण था कि इन्होंने सत्य की उपासना निष्काम की है और शकुनि ने अपने इष्ट की उपासना सकाम की है। इसलिए सत्य ने द्यूत क्रीड़ा में इनको विजयी नहीं बनाया। सत्य देखता रह गया था और वे पराजित हो गए थे। इसलिए इस युद्ध के मैदान में अथवा आज से तुम एकमात्र मेरे होकर रह जाओ। तुमने भलीभाँति जान लिया है कि मेरे में भगवती का वास है,

शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवी–देवताओं का वास है। दशम् अध्याय में भगवान नारायण ने कहा है–

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।'

ये नौ देवियाँ हैं, अतः ये नौ देवियाँ मैं ही हूँ। ॐ का आधार लेकर प्रकट होने वाली, ऐं, ह्रीं, क्लीं अर्थात् काली, दुर्गा, सरस्वती ये तीन शक्तियाँ प्रकट होती हैं और इन तीनों के उपरान्त जो अन्य छः देवियाँ हैं, जो इनकी अंगोपांग हैं, इसप्रकार नौ होती हैं। अंगोपांग भी हैं और अलग से इनकी सत्ता सी भी प्रतीत होती है। तो ये नौ जो शक्तियाँ हैं वह मैं ही हूँ, मैं ही इन शक्तियों के रूप में प्रकाशित होता हूँ। पहले यह घोषणा भगवान ने कर दी है, यही नहीं गायत्री मंत्र मैं ही हूँ, महामृत्युंजय मैं ही हूँ, 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि' जब शंकरमय हो गया तो शंकर से प्रकट होनेवाला कोई भी तत्त्व, जो कुछ भी है सो मैं ही हूँ। विष्णु मैं हूँ, आदित्य नाम है विष्णु का, तो जिसकी उपासना करोगे वह सबकुछ मैं हूँ लेकिन इसरूप में मेरी उपासना कोई नहीं कर रहा है– इसरूप में इस युद्ध के मैदान में एकमात्र तुम हो। महाराज युधिष्ठिर के बाद तुम ही ब्रह्म के रूप में देख रहे हो मेरे को। तुम देख रहे हो कि मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही सगुण साकार के रूप में तुम्हारा सारथि, तुम्हारा सद्गुरु और अब साक्षात् सगुण–साकार ब्रह्म बना हुआ हूँ; अतः ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा दुर्गा आदि देवियों को भी तो तुमने अपना मन दिया है, उस मन को अब मुझे दे दो। 'मन्मना भव मद्भक्तो' मेरे ही भक्त बन जाओ– सद्गुरु संकोच नहीं करता अपने अधिकारी शिष्य को पाकर, वह वैसे ही सारी गुप्त बातें कह देता है जैसे माँ संकोच नहीं करती अपने बेटे से कहने में कि तुम्हारी मुख्य माँ तो मैं ही हूँ बेटा! अन्य जगत की माताएँ गौण हैं। अतः अब बालक को अन्य जगत की माताओं के प्रति अकामता नहीं आ सकती, उस अकामता के लिए सिद्धि चाहिए। अपनी माँ के पास तीस वर्ष का बालक निर्विकार नग्न भी हो सकता है, जैसे मानो भगवान शंकर हो लेकिन परायी माँ के पास जिसको माँ मान लिया है लम्बे काल तक, उसके पास जबतक संकल्प शक्ति से संकल्पवान नहीं हो जाता तबतक नग्न नहीं हो सकता। तो इसलिए माँ कहती है– 'बेटा तुम्हारी तो असली माँ मैं हूँ', दूसरी माताएँ, माताएँ तो हैं, लेकिन उनके सामने आँखों को नीचा कर लेना। महाराज की माँ ने भी कहा था, लगता था कि वह जानती थी कि इसे संन्यास लेना है, उसने कहा था– सब जगह मत सो जाना। चार वचन उसने लिया था– सब जगह मत सोना, सबका मत खाना, नदी–नालों से जबरदस्ती मत करना, एक और जिसे महाराज नहीं बताता है। वह कथा कहा करती थी– राजा के पास एक नौकर था, बड़ा ही मधुर नेत्रोंवाला, वाणीवाला, दिव्य रूपवाला। राजकुमारी उसपर रीझ गयी। वह एक दिन तीसरी मंजिल पर से उतर रहा था, मध्य सीढ़ी पर आया ही था तबतक राजकुमारी ने उसका हाथ पकड़ लिया। राजकुमारी ने प्रेम का दान माँगा, उसने मना कर दिया। राजकुमारी ने कहा कि अब तुम भाग तो सकते नहीं। दोनों ही तरफ तुम्हारी मृत्यु है, स्वीकार नहीं करते हो तो मारे जाओगे, क्योंकि मैं चिल्लाऊँगी कि देखो ये पकड़ लिया है, रक्षा करो, रक्षा करो तथा तुम्हारी दृष्टि में तुम पथभ्रष्ट होते हो तो यह भी मृत्यु ही है। अतः तुम

निर्णय करो कि कौन सी मृत्यु चाहिए तुम्हारे को। यदि कामरूपी मृत्यु को स्वीकार कर लेते हो अभी ही तो जी भी सकते हो, लेकिन दूसरी मृत्यु के बाद अगले जन्म की तैयारी करोगे। तो उस नौकर ने क्या किया होगा, उसे माँ ने नहीं बताया वह इतनी ही कथा कहा करती थी। अतः 'मन्मना भव मद्भक्तो' ऐसा भगवान जब कहते हैं तो अव्यभिचारिणी भक्तियोग प्रशस्त होता है। जब माँ कहती थी तो ये सिद्ध करती थी कि जबतक अपने आत्मस्वरूप कि सिद्धि न हो जाए, जबतक सब ब्रह्मरूप में दिखाई न पड़ने लगें तबतक ब्रह्मचारी के रूप में रहना, जब सिद्धि हो जाए तब संत के रूप में रहना, उसके पूर्व कभी संत बनने का ढोंग मत करना।

बहुत सारे साधक ठगे जाते हैं, जो ढोंग करते हैं। ढोंग में उनका पतन होता है यह सिद्ध करने में कि हम संत हैं। इसलिए भगवान कहते हैं कि जैसे अधिकारी पुत्रों से माँ कहती है कि तुम मुझे ही माँ के रूप में देखना, अन्य माताओं को माँ के रूप में समझना लेकिन माँ जैसा बाहर–बाहर व्यवहार करना। भीतर प्रवेश मत कर जाना, नहीं तो वहाँ घातक परिणाम हो जायेगा। वैसे ही भगवान ने यहाँ पर महात्मा अर्जुन से कहा– तुमने देख ही लिया और जब जान लिया कि ये वासुदेव साक्षात् नारायण हैं तब तुम अब सबकी उपासना करना त्याग दो, एकमात्र मेरी उपासना करो।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....सर्वधर्मान्परित्यज्य.....) इन मंत्रों का एक और गूढ़ात्मक तत्त्व देखें–

चार वेद, छः शास्त्र और अठारह पुराण ये सबमें प्रसिद्धि को प्राप्त हुए भगवत् ग्रन्थ हैं। सर्वप्रथम तो एक ही वेद था, उसका नाम है सामवेद। उसके उपरांत जैसे ब्रह्म से तीन प्रकार की प्रकृति प्रकट होती है, वैसे ही सामवेद से यजुर्वेद, अथर्ववेद और ऋग्वेद ये तीन प्रकार के वेद प्रकट हुए। फिर तो अंग–उपांगों का निर्माण प्रारम्भ हो गया अर्थात् अठारह सूक्ष्म तत्त्वों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, वे हैं– अठाहरण पुराण। जैसे आत्मा से मन, बुद्धि, अहंकार पहले तीन तत्त्व प्रकट होते हैं फिर अठारह तत्त्व प्रकट होते हैं, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच विषय तथा सत्, रज एवं तम तीन गुण भी हैं। इसप्रकार देखा जाय तो महर्षि व्यास ने सूक्ष्म शरीर को लाकर स्थूल रूप में खड़ा किया है। जैसे स्वप्न जगत का शरीर होता है वैसे ही समाधि का एक शरीर होता है, जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। उसके भीतर कारण शरीर होता है जिसका स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर है और सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर जिसे आप देख रहे हैं जो पंच भौतिक कहा जाता है जिसका स्थूल शरीर नाम ही है, यही है। वैसे ही कारण शरीर सामवेद है और सूक्ष्म शरीर अठारह पुराण हैं। इसप्रकार यह एक दिव्य पुरुष सबके घर–घर में आज बैठा हुआ है, चाहे उसकी कोई वंदना करे, अर्चना करे या न करे, चाहे उसमें दीमक लग जाए और चाहे ऐसे ही सड़ जाए। यह बात अलग है कि जैसे–जैसे दीमक लगती जाती है घर में रखे हुए पुराणों एवं ग्रन्थों में, वैसे–वैसे उस घर के लोगों के शरीर में भी दीमक लगती जाती है। जैसे–जैसे वे सड़ते जाते हैं वैसे–वैसे लोगों का शरीर सड़ता जाता है, बुद्धि बिषाक्त होती जाती है, मन रोगी होता जाता है, चित्त छिन्न–भिन्न होता जाता है। इस बात पर ध्यान दिया

महर्षि व्यास ने, इसी कारण से उन्होंने भगवान और अर्जुन के दिव्य संवाद को अठारह अध्याय के रूप में रूपान्तरित कर दिया। आज अठारह पुराण पढ़ने का समय नहीं है किसी के पास तो कहते हैं चलें कोई बात नहीं, ये गीताजी के अठारह अध्याय ही अठारह पुराण हैं, एक अध्याय के पढ़ने में पाँच मिनट का समय लगता है, तो फिर यह जान लेना कि हम एक पुराण ही पढ़ रहे हैं। सामवेद– यजुर्वेद, ऋग्वेद, अथर्ववेद में समाया हुआ है, ये तीनों वेद पुराणों में समाये हुए हैं और ये सारे पुराण तथा तीनों वेद एवं सामवेद, गीताजी के अठारह अध्यायों में समाये हुए हैं। इसलिए 'मन्मना भव मद्भक्तो' कहकर भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि मैं गीता के रूप में हूँ। पहले पुराणों के रूप में था, इसके पूर्व तीन वेदों के रूप में था, उसके पूर्व सामवेद के रूप में था और उसके पूर्व तो मैं निर्गुण–निराकार ब्रह्म ही था। इसलिए कोई बात नहीं, जब पुराणों को पढ़ने में मन नहीं लगता तो फिर अन्य ग्रंथों का पठन–पाठन आप न करें और न ही किन्हीं बुद्धिवादी विद्वानों के ग्रंथो का अवलोकन करें, न उसमें समय दें बल्कि इस मेरे गीताजी रूप को अपना सम्पूर्ण मन दे दें, इसी के मंत्रों पर मनन एवं चिन्तन करें ताकि कालान्तर में ये मंत्र आपके लिए मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन बन जायें। इसके उपरांत तो फिर ध्यान–समाधि आपके लिए फलित होगी। महाराज के पास तो इस मंत्र का यह भी अर्थ है– बालक अपने माता–पिता से परिचित होता है, फिर उनके द्वारा वह विद्या से परिचित कराया जाता है। जब अपने को विद्वान समझता है तो फिर प्राकृत कवियों और प्राकृत लेखकों के जीवन में अपने जीवन को समर्पित करता जाता है जो भगवान को अभीष्ट नहीं है। वे नहीं चाहते कि प्राकृत कवियों की कविता पढ़ें आप, प्राकृत लेखकों के लेख पढ़ें आप। अन्यथा पाश्चात्य विद्वानों की विद्वता आपमें प्रकट हो जायेगी और विशेष छलांग लगी है तो फिर आप चार्वाक बनकर रह जायेंगे, जिसको भगवान मिला नहीं था, आकाश तत्त्व मिला जिससे वह कहता है कि आकाश से आगे कुछ है ही नहीं। इसलिए भगवान कहते हैं 'मन्मना भव' इस गीताजी में ही मन को लगाना, इसके ही भक्त बनकर रह जाना।

गोस्वामीजी के रामचरितमानस में कृष्ण नाम कहीं है ही नहीं, एक जगह है भी तो अनमने ढंग से। कृष्ण नाम से एक तरफ कंस डरता है, विरोध कर देता है गर्ग जैसे आत्मज्ञानी गुरु से कि कृष्ण नाम क्यों रखा आपने उस बालक का तो दूसरी तरफ अपने राम का बचाव करने में गोस्वामी तुलसीदासजी डरते हैं। वह इसलिए कि कहीं कृष्ण नाम का गायन करूँगा मानस में तो फिर राम नाम बड़ा कैसे होगा? लेकिन भगवान कृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने 'रामः शस्त्रभृतामहम्' कहकर घोषणा कर दी कि राम नाम में और मेरे नाम में कोई अन्तर नहीं है। जहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी ने मेरा राम नाम सम्पूर्ण नामों में सर्वोपरि होवे, ऐसा वरदान माँगा है भगवान से नारदजी के माध्यम से, वहीं पर सार्वभौम दृष्टि से प्रभु ने गीता अध्याय दस में सम्पूर्ण शक्तिमानों के स्वरूपों को और सम्पूर्ण शक्तियों के स्वरूपों को लाकर खड़ा किया है– किसी प्रकार का भेद दर्शन करने की बात कतई नहीं की। इसका तात्पर्य यह नहीं कि गोस्वामीजी ने अपनी बुद्धि को राम नाम तक ही सीमित किया बल्कि अनपायनी भक्ति में अपने ही प्रभु का नाम सम्पूर्ण नामों के रूप में दिखाई पड़ता है, इसी कारण से उसी नाम

को सर्वोपरि रखते हैं। भगवान भक्तों से कहते हैं– यह कलियुग है। राम का आदर्श आप पूरी तरह से स्वीकार नहीं कर पाते तो कोई बात नहीं, मेरे आदर्श को स्वीकार नहीं कर पाते तो भी कोई बात नहीं, एक तीसरा भी रूप है मेरा– वह न राम का रूप है, न मेरा कृष्णरूप है। रामरूप रचा मैंने पहले फिर कृष्णरूप रचा, अब कलियुग के हेतु को देखकर गीताजी बन गया तो गीताजी के भक्त बन जाएँ– 'मन्मना भव' का तात्पर्य यह भी है। 'मन्मना भव मद्भक्तो' मद्भक्तो– गीताजी मैं हूँ, इसमें मन लगाना, गीताजी का ही भक्त बन जाना। भक्ति के कई रूप होते हैं, उन रूपों में शरणागति भी बिखरी हुई रहती है, इसलिए भगवान ने कहा 'मद्याजी'– ध्यान देना, कहीं किसी अन्य के भी शरणागत मत रहना। यदि एक अंश भी किसी के शरणागत रहे तो फिर गीताजी के शरणागत नहीं हो पाएँगे, उसमें दोष–दर्शन हो जायेगा। 'मद्याजी' सम्पूर्णता से शरणागति हो, यह लगे कि गीताजी में जो भी कुछ कहा गया है, वह सर्वथा सत्य है, जो इसमें कहा गया है वही सम्पूर्ण स्मृतियों में, पुराणों में एवं वेदों में कहा गया है, तब 'मद्याजी' अर्थात् भगवान की शरण में आप हो सकते हैं यानी गीताजी की शरणागति स्वीकार कर सकते हैं। तभी 'मां नमस्कुरु' भगवान ने कहा कि मुझे गीतारूप में नमस्कार करो। एक डकैत को देखा महाराज ने, रोज गीताजी को प्रणाम करना, रोज पूरा पाठ करना, आरती दिखाना उसके नित्य पूजा के मुख्य अंगों में से था। उसने बहुत वध किये थे, आज वह संन्यास ले रखा है, घोर तप कर रहा है अज्ञात में। अतः नमस्कार करना हृदय से ऐसे, जैसे आपको भगवान ही मिल गया हो। प्रभु का कहना है कि कोई बात नहीं, मेरे कृष्णरूप की आराधना–साधना मत करना लेकिन मेरे इस रूप को जो आपके लिए ग्राह्य है यानी गीतारूप को प्रणाम करना अर्थात् अन्य रूपों (अन्य ग्रन्थों) को आदर–मान देना किन्तु उनके शरणागत मत हो जाना। प्रणाम का तात्पर्य है– आज्ञा पालन करना। 'नमस्कुरु'– नमस्कार करें अर्थात् आज्ञा पालन करें। यदि इतना करते हैं आप तो भगवान कहते हैं– यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं वैसे ही आपका उद्धार करूँगा जैसे अपने परम प्रिय भक्त अर्जुन का उद्धार किया था।'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' भगवान की दृष्टि में जो भक्त है वह अतिशय प्रिय वैसे ही है, जैसे माँ के गर्भ से जिस दिन बालक बाहर आता है तो भले वह माँ को न पहचाने छः महीने लेकिन वह माँ की उसी दिन आत्मा बन जाता है, प्राण बन जाता है, मन बन जाता है, बुद्धि बन जाता है, चित्त बन जाता है। उसके बिना तो वह जी ही नहीं पाती। हर पल, हर क्षण वह उसकी देख–रेख में रहती है– बिल्ली नोच न जाये, कोई कुत्ता आक्रमण न करे, उसके ऊपर कोई पक्षी चोंच न मार दे, इसका ध्यान रखती है। हर बात का ध्यान रखती है कि शरीर कहीं विशेष तापमान से तापित तो नहीं हो गया अथवा विशेष कहीं ठंढा तो नहीं हो गया। इस प्रकार भीतर से बाहर से, ऊपर से नीचे से, दाएँ से बाएँ से, सब ओर से उसी की होकर रह जाती है। वैसे ही भगवान कहते हैं कि जो गीताजी के शरणागत हो जाते हैं, मैं उनके लिए भीतर से बाहर से, ऊपर से नीचे से, बाएँ से दाएँ से यानी सब ओर से कवच बनकर रह जाता हूँ। यह होगा कैसे? यह प्रश्न है महात्मा अर्जुन का इसी प्रश्न के उत्तर में प्रभु कहते हैं–

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'– गृहस्थ आश्रम में समयानुसार बहुत से व्रत सामने

आते हैं– नवरात्रि का व्रत, कार्तिक का व्रत, उसके उपरांत मलमास का महीना जो पौष– (१३ दिस. से १३ जन.) माघ के अंतर्गत प्रत्येक साल आता है, फिर शिवरात्रि है, महाशिवरात्रि है, पुनः नवरात्रि है– ऐसे बहुत से पर्व होते हैं, चातुर्मास तो अपने–आप में पर्व है ही, तो इन पर्वों के आश्रित होकर ही मत रह जाना– 'सर्वधर्मान्' गृहस्थ आश्रम में बहुत से धर्म लाकर खड़े किये गये हैं। ये धर्म उनके लिए खड़े किये गये हैं, जो भगवान को नहीं चाहते। इतना ही नहीं, जो भगवान को नहीं चाहते उनके लिए महामृत्युंजय जप है, उनके लिए गायत्री है, उनके लिए नवार्ण मंत्र है, उनके लिए साबर तंत्र, टोना–टोटका आदि ये सबकुछ हैं। ये सब पृथक्–पृथक् धर्म हैं, जो समयानुसार गृहस्थ आश्रम में लोग धारण करते हैं लेकिन मेरा भक्त तंत्र को धारण करे, मंत्र को धारण करे, योग को जप–तप को धारण करे, यह मुझे अभीष्ट नहीं है अर्थात् मनमाना ऐसा करे, ये सब अभीष्ट नहीं है। मनमाना जप–तप करने में अनेक देवी–देवताओं का जप–तप उसमें समा जायेगा। ऐसा कहकर भगवान महात्मा अर्जुन को संदेशरूप उपदेश दे रहे हैं कि तुमने अबतक कुल–धर्म के अनुसार, वैष्णव–धर्म को भी स्वीकार किया, शाक्त–धर्म को स्वीकार किया, शैव–धर्म को भी स्वीकार किया, शिव की भी उपासना तूने की, भगवती के तो उपासक तुम हो ही और भगवान विष्णु तो तुम्हारे सामने अनेक रूप धारण करके खड़े ही हैं अर्थात् ब्रह्म वैष्णवता को लेकर खड़ा ही है, तो अब ऐसा न करो, अब वह समय नहीं है। आप से भी भगवान कहते हैं कि आप उपासना नहीं कर सकते सबकी, अतः यदि एक गीताजी की उपासना करते हैं तो सबकी उपासना उसमें हो जाती है। विधि–निषेध की बात की गयी है अन्य धर्मों की उपासना में। शाक्त–धर्म में आप जाते हैं तो बहुत शुद्धि–अशुद्धि की बात की गयी है, शैव में भी जाते हैं तो बहुत सी बातें हैं, वैष्णव भक्त बनते हैं तो अब तो उसमें भी भाग–विभाग हो गया, प्रभु श्रीराम को माननेवाले भगवान श्रीकृष्ण को माननेवालों से वैर करते हैं और उनको माननेवाले भगवान श्रीराम को माननेवालों से वैर करते हैं। बहुत सी बातें हैं लेकिन गीताजी मेरा ऐसा दिव्य रूप हैं कि इस रूप की सब उपासना करते हैं– क्या हिन्दू, क्या मुसलिम, क्या सिक्ख–ईसाई यानी कौन ऐसा है जो कि इसकी उपासना नहीं करता। तो 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' जैसे मुसलमानों ने सम्पूर्ण धर्मों को त्याग करके भी इस गीताजी को स्वीकार किया, वैसे ही आप गृहस्थ आश्रम में रहकर, जो अपने धर्म के अनुसार नानाप्रकार की स्मृतियों को, पुराणों को पढ़ते हैं, तो एक समय में ऐसा करें कि उन सबको छोड़ करके मात्र एक गीताजी को आत्मसात् कर लें, इसके उपरांत जिसको भी पढ़ने का मन करे पढ़ना। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, भगवान जब कहते हैं ऐसा तो इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण पापों से महामृत्युंजय जप मुक्त नहीं कर सकता, सम्पूर्ण पापों से नवार्ण मंत्र मुक्त नहीं कर सकता, सम्पूर्ण पापों से अन्य कोई मंत्र मुक्त नहीं कर सकते लेकिन सम्पूर्ण पापों से गीताजी का पाठ मुक्त कर सकता है, मुक्त कर देगा (कर सकता ही नहीं है, मुक्त कर देगा) उसमें प्रवेश करके आप देखें, भगवान का ऐसा कहना है। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' सत्यनारायण व्रत की कथा पूर्णिमा को होती है, आपके घर का धर्म है अर्थात् कुलधर्म बन जाता है। उसमें भी अब बहुत सी आलोचनाओं की सम्भावना हो गई है, लोग बहुत कुछ कहने लगे हैं। अब तो वह कथा लोप

सी हो गई। क्यों? इसलिए कि बहुत सी वाममार्गीय संस्थाएँ आकर खड़ी हो गयी हैं। वे कहती हैं कि उस पोथी में है क्या? पाँच तो कथाएँ हैं। अरे उन कथाओं को पढ़ने से तो अच्छा है कि किसी ग्रंथ को पढ़ें। अतः बुद्धिभ्रम हो गया है लोगों में। उसमें एक मौलिक तत्त्व छिपा हुआ है जिसे लोग नहीं जान पाते हैं। कथा को देखते हैं, कथा की आत्मा को नहीं देख पाते, इसलिए अब वो कथा भी लोप हो गई। इसलिए भगवान ने भविष्य को देखकर उस समय कहा था और आज भी कह रहे हैं कि सम्पूर्ण ग्रंथों का अवलोकन करना आप छोड़ दें। जब अच्छीप्रकार से गीताजी को आप देख सकें, इसमें गोते लगा सकें और जब यह आपको स्वीकार कर ले तब इसकी आज्ञा से आप अन्य ग्रंथों का पठन–पाठन करें, भगवान का ऐसा कहना है। जितने भी आजतक सन्त हुए, ऋषि–महर्षि हुए, अवतार हुए, उन्होंने जो कुछ कहा, उसके उपरांत कह दिया कि जो मैं कह रहा हूँ वही सत्य है। चाहे अवधूत गीता देखें, अष्टावक्र गीता देखें, गर्भ गीता को देखें, सबने यही बात कही जो भगवान नारायण ने कही है। इसलिए महाराज भगवान की बात का समर्थन करता है। जिस समय अन्यान्य सन्तों ने कहा है वह काल वैसा ही था जिस काल के लिए वे कह रहे हैं। इस काल के लिए भी वे झूठे नहीं हैं लेकिन वह काल नहीं हैं। इसलिए भगवान 'मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। क्यों? ऐसा कहने से तो सम्पूर्ण मतों का खंडन हो जाता है? इसी का उत्तर दिया महाराज ने कि वह काल नहीं है। आज वाल्मीकि रामायण को महाराज मना करेगा पढ़ने को क्योंकि वह काल नहीं है, कोई वेद कहेगा पढ़ने को तो काल नहीं है यानी समय नहीं है। इसलिए सत्य प्रतिज्ञा करते हैं भगवान कि विकर्म तो सबके लिए है, सद्गुरु सबके लिए है और धर्मयुद्ध सबके लिए है। इसलिए भगवान कहते हैं कि आपके लिए यह आत्मा बन जायेगी, गीता पुराण बन जायेगी, गीता मन, बुद्धि, चित्त बन जायेगी, अतः इसपर आप विचार करें।

(मन्मना भव मद्भक्तो.....सर्वधर्मान्परित्यज्य.....) इन दो मंत्रों के द्वारा भगवान ने इस अट्ठारहवें अध्याय का मानो सार दिया है। महाराज ने भी इस अट्ठारहवें अध्याय को साररूप में भैरवी (दादरा) राग में गाया है, जिसे आप भी गायें और इस अध्याय के पाठ का फल प्राप्त करें–

सुनो रे पार्थ मोहें दे दे मन अपना।
मुक्त करौं तोहें यह सच कहना।।

बन जा भगत नमस्कार कर, टूटे मोह के सपना।
संन्यासी बस वही कहावे, छोड़े व्यर्थ कल्पना।।१।।
सुनो रे पार्थ मोहें.....

त्रिविध ज्ञान कर्म कर्ता सो, बुद्धि धृति जल्पना।
इनसों झगरत कहँरत निसदिन, त्रिविध ताप सों तपना।।२।।
सुनो रे पार्थ मोहें.....

अहंकार मद दम्भ मान तजि, कामादिक को त्यजना।

ध्यानयोग नित करे आलिंगन, निज स्वरूप को जपना।।३।।
सुनो रे पार्थ मोहें.....

सर्वधर्म तजि शरणागत मन, मम आज्ञा वस रहना।
महाराज माधव अर्जुन जहँ, विजय विवेक सम्पत्ति सब बसना।।४।।
सुनो रे पार्थ मोहें.....

मन ही मन भगवान को प्रणामकर महात्मा अर्जुन ने प्रभु की आज्ञानुसार सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर दिया। भगवान ने उनके मन की बात जान ली, इसलिए कहा–

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

हे पार्थ! इस ब्रह्मविद्या को (मुझे गीतारूप में) जो तपस्वी नहीं है उसे मत दान कर देना, जो भक्त नहीं है उसे मत दान कर देना, जिसे सुनने की जिज्ञासा नहीं है, उसे मत दान कर देना और जो मेरा तथा सनातन धर्म का घोर निन्दक है उसे तो भूलकर भी मत देना। युद्धोपरान्त जब तुम मेरे इस गूढ़ात्मक तत्त्वमय शरीर को मेरे परम प्रिय भक्तों में दान दोगे तो मेरी पराभक्ति तुझे वरण करेगी, इस विषय में तुम किञ्चित् मात्र भी सन्देह न करो। जो मेरे परम प्रिय भक्तों में इसका प्रचार–प्रसार करेगा, वह मेरे द्वारा निश्चय ही पराभक्ति को प्राप्त करेगा; इसमें किञ्चित् मात्र भी संशय नहीं करना चाहिये। इतना ही नहीं, इस मनुष्यलोक में उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला कोई होगा ही नहीं, यही नहीं बल्कि न कोई मेरा वैसा परम प्रिय था न आगे रहेगा।

जब मैं अपने को चाहे जिस–तिस को दान नहीं करता तो तुम इस दिव्य शरीर को तथा मन, बुद्धि, चित्त को मेरे को छोड़कर किसे दान दोगे? तुमने भगवान के द्वारा दिये हुए इस शरीर को प्रजा को दान कर दिया था लेकिन उस प्रजा ने स्वयं को तुम्हें दान नहीं किया था। तुम पाँचों भाई प्रजा के लिए मर मिटे लेकिन कल्याणी द्रौपदी के चीरहरण के समय प्रजा ने विद्रोह नहीं किया। यही नहीं, जब छल के द्वारा तुम लोग तेरह वर्षों के लिए वन को भेजे जा रहे थे तो भी प्रजा ने तुमलोगों की बाट नहीं रोकी और न ही इस दुःसमाचार को सुनने के उपरान्त इन भूपालों (राजाओं) ने तुमलोगों की सुरक्षा में आकर हस्तिनापुर को धिक्कारा। तुमने अबतक अपने तन, मन, वचन, हृदय को कुपात्रों को ही दे रखा था। अब समय आ गया है कि मेरे इस दिव्य शरीर को जो अर्जुन नाम से विख्यात है उसे लौटा दो या अपनी वस्तु मानकर ही मुझे

दान कर दो; क्योंकि दोनों ही ओर से अर्जुन नामक इस दिव्य शरीर पर मेरा ही अधिकार है।

भगवान को यह बात इसलिए करनी पड़ रही है क्योंकि जिन भक्तों के हाथ में प्रभु गीतारूप में दान दिये जायेंगे कहीं ऐसा न हो कि उन्होंने अपने शरीर को कुपात्रों को दान दे रखा हो। अतः जो अपने शरीर का मूल्य नहीं समझता, वह मेरे इस दिव्य गीतारूपी शरीर का मूल्य क्या समझेगा।

(इदं ते नातपस्काय.....) भगवान गीताप्रेमी साधकों, भक्तों एवं सन्तों से भी कहते हैं कि इस गूढ़ात्मक ब्रह्मविद्यामय शास्त्र को भगवद्भक्तों को ही देना चाहिये किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वे भक्त जप, तप, योग से सम्पन्न हैं कि नहीं तथा श्रद्धाभाव से सुनने के इच्छुक हैं कि नहीं। कभी–कभार ऐसा भी होता है कि उपरोक्त सारे गुण होने पर भी सुनने की जिज्ञासा नहीं होती, तो वैसी अवस्था में यह दिव्य शास्त्र सुनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये तथा यह भी ध्यान देना चाहिए कि यह भगवती सती की भाँति एकपक्षीय भक्त तो नहीं है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि कोई अपने भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य भगवान को मानता ही नहीं है। महाराज ने तो यहाँ तक देखा है कि कोई निर्गुणी भक्त, सगुण साधना की आलोचना करता है, तो कोई सगुण साधक निर्गुण साधना की, कोई शैव वैष्णवभक्तों की, तो कोई वैष्णव शैवभक्तों की। इसलिए जो किसी का भी आलोचक नहीं है और सनातनधर्म में अति निष्ठावान है, वैसे भक्तों में यदि इस गीताशास्त्र का दान करता है तो अति प्रभावकारी हो जाता है। जैसे भगवान शिव ने अपनी प्रिय आत्मा भगवती पार्वती को अवसर पाकर श्रीरामचरितमानस का दान दिया था, जैसे काकभुशुण्डिजी ने उसी रामायणरूप आध्यात्मिक शास्त्र को समयानुसार प्रिय पात्र गरुड़जी को दान दिया था, जिसप्रकार समयानुसार अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को पाकर अष्टावक्रजी (याज्ञवल्क्य) ने उसी मानस को दान किया था, उसीप्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द ने अवसर पाकर महात्मा अर्जुन को निमित्त बनाकर लोकहितार्थ, भगवद्भक्तों, साधकों एवं सन्तों को यह ब्रह्मविद्यामय गीताशास्त्र दान दिया है। जिसप्रकार सद्गुरु अपने प्रिय शिष्य को पाकर इस ब्रह्मविद्यारूपी गीताशास्त्र का दान करते हैं, उसीप्रकार आप सब को भी समयानुसार उचित पात्र को ही इस गीताजी के गूढ़ात्मक रहस्य को भेंट करना चाहिये। जिज्ञासु चाहे रात्रि में आये चाहे दिन में, उसके पास आलस–प्रमाद मत करना, भगवान की वस्तु को भगवान की भाँति दाता होकर देना। भगवान तो स्वप्न में भी जिज्ञासुओं को निराश नहीं करता; उसने तो युद्ध के मैदान में ही इस दिव्य शास्त्र को दान दिया था। इसी ब्रह्मविद्या को भगवान सूर्य ने हनुमानजी को अन्तरिक्ष में गमन करते हुए ही दान किया था अथवा जिसप्रकार अवसर पाकर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने अपने परम प्रिय शिष्य श्रीरामजी को इस ब्रह्मविद्या को भेंट किया था, उसीप्रकार प्रिय पात्र को पाकर चलते, फिरते, उठते, बैठते किसी भी अवस्था में भी इस ब्रह्मविद्यारूप शास्त्र के गूढ़ात्मक रहस्य को दान करते हैं तो आप प्रभु के परम प्रिय पात्र होते हैं; क्योंकि स्वयं भगवान ने कहा है–

(य इमं परमं गुह्यं.....) जब भगवान कह रहे हैं कि इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये

तो इसका अर्थ रहस्यात्मक है। तथाकथित विद्वान बहुधा ऐसा कहते पाये जाते हैं कि कहीं शास्त्र का पाठ करने तथा उसका प्रचार–प्रसार करने से ही भगवान मिल जायेगा? वे इस बात को अतिशयोक्तिपूर्ण कहा करते हैं। अतः उनकी बात को सुनकर संशय होने की सम्भावना हो सकती है। पुनः–

(न च तस्मान्मनुष्येषु.....) प्रभु तो प्रतिज्ञापूर्ण वचन कह रहे हैं कि इस मनुष्यलोक में गीतापाठी जैसा परम प्रिय भक्त न था, न है, न आगे रहेगा, इसलिए अब साधक गीताजी की महिमा के विषय में स्वयं विचार कर लें। भगवान इस गीताशास्त्र के पठन–पाठन, भगवद्भक्तों में प्रचार–प्रसार का फल कहते हुए अघाते नहीं हैं, वे पुनः कहते हैं–

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

हे पार्थ! तुम्हारे और मेरे द्वारा प्राप्त हुए, इस दिव्य संवाद का जो श्रद्धापूर्वक नित्य पाठ करेंगे, उनके द्वारा किये हुए ज्ञानयज्ञ से मैं पूजित होऊँगा। इतना ही नहीं जो भक्त श्रद्धापूर्वक मात्र इसके पाठ को किसी के द्वारा सुनेंगे वे भी संसार सागरसे मुक्त होकर पुण्यवानों के लोक को प्राप्त कर जायेंगे। मानो भगवान कह रहे हैं कि वैसे भक्तों एवं साधकों को किसी अन्य यज्ञ को करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का फल एकमात्र गीताजी के पठन, पाठन, श्रवण, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन से ही प्राप्त हो जाता है। इस मंत्र में पाठ करने की बात की गयी है। इसका अर्थ एकमात्र पाठ से ही नहीं लेना चाहिये बल्कि मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन से भी लेना चाहिए।

यदि किसी के पास नित्य प्रति अट्ठारहों अध्याय के पाठ का समय नहीं है तो वह नित्यप्रति मात्र एक अध्याय का अर्थ के साथ पाठ करके, जिसमें मात्र पाँच–छः मिनट का समय लगता है, फिर चिन्तन के साथ उसका प्रयोग करना प्रारम्भ करे। यदि कोई संस्कृत पाठ से ही अर्थ को समझ लेता है तो उसे मंत्रों के हिन्दी अर्थ के पाठ की आवश्यकता नहीं है तथा यदि कोई संस्कृत पढ़ना नहीं जानता वह मात्र हिन्दी में ही पाठ करे, फल उतना ही प्राप्त होगा। पाठ करने में समय ही क्या लगता है? दूसरे, ग्यारहवें, अट्ठारहवें अध्याय का पाठ करने में पाँच से सात मिनट; छठे, नवें एवं दसवें अध्याय का पाठ करने में मात्र चार–पाँच मिनट; सातवें, आठवें अध्याय का पाठ करने में मात्र तीन से चार मिनट; बारहवें, सोलहवें एवं पन्द्रहवें अध्याय का पाठ करने में मात्र ढाई से तीन मिनट; तेरहवें, चौदहवें अध्याय का पाठ करने में मात्र तीन से सवा तीन मिनट; तीसरे एवं चौथे अध्याय का पाठ करने में साढ़े तीन से पौने चार मिनट, पाँचवें अध्याय में पौने दो से दो मिनट तथा प्रथम अध्याय के पाठ में मात्र साढ़े चार से पौने पाँच मिनट लगेगा। चौबीस घण्टे में यदि पाठ करने के बहाने भगवान को इतना भी समय देते हैं तो आपका

जीवन कृतकृत्य हो जायेगा। अन्यान्य देवी–देवताओं के मंत्रों के जप एवं अनुष्ठान से पूर्व बहुत से विधि–निषेध की बात की गयी है लेकिन इस गीताशास्त्र के पठन–पाठन में किसी भी निषेध की बात नहीं की गयी है, एकमात्र प्रभु ने श्रद्धा की माँग की है। अर्थात् श्रद्धा से पाठ करना, यही विधि है, अश्रद्धा से पाठ मत करना, यही निषेध है। यदि पाठ करने में असमर्थता है तो कोई बात नहीं, आपके लिये भगवान कहते हैं–

(श्रद्धावाननसूयश्च.....) यह भारतभूमि है, प्रत्येक गाँव–नगर में, बहुत से घरों में, गीतापाठी होते हैं। उनके पास जाकर श्रद्धापूर्वक सुन लेना अथवा अपने घर में बाल–बच्चों से ही पढ़वाकर सुन लेना तथा प्रभु यह भी कहते हैं कि एकमात्र श्रद्धापूर्वक गीताजी का पाठ सुनने से ही मैं उसे इस अशुभ संसार से मुक्तकर, दिव्य लोकों को भेज दूँगा। यही नहीं, उसके सारे के सारे दुःख–दौर्मनस्य को समाप्तकर, इस मृत्युलोक में भी स्वर्गीय वातावरण बना दूँगा।

महर्षि व्यास ने गीतापाठ के पूर्व गीताजी की महिमा गायी है और प्रभु ने पाठ के साथ–साथ सुनने की भी महिमा गायी है। प्रभु ने यह नहीं कहा कि ब्राह्मण के द्वारा अथवा संत के द्वारा ही सुनना, बल्कि समय पर जो भी उपलब्ध है, उसी के द्वारा सुन लेना। प्रभु ने यह भी नहीं कहा कि ब्राह्मण ही इसके पाठ के अधिकारी हैं बल्कि वे कहते हैं कि चाहे संसार में कोई भी हो, यदि उसके पास गीताजी में श्रद्धा है तो वह पाठ का अधिकारी है; चाहे भले ही वह वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चाण्डाल या म्लेच्छ क्यों न हो।

एक बहू के द्वारा नित्यप्रति गीताजी का पाठ करने पर तथा सहेलियों में प्रचार–प्रसार करने पर उसके सास–ससुर ने कहा कि हमारा घर सन्न्यासाश्रम है क्या, जो तुम ये नाटक कर रही हो? उसने कहा कि गृहस्थाश्रम तो कहने के लिये ही है, है तो सब संन्यासाश्रम ही; क्योंकि किसी को भी सभी आश्रमों से भगवान के पास जाना है। रही बात गीताजी का पाठ करने और सहेलियों में प्रचार–प्रसार करने की तो मैं तो भगवान की आज्ञा पालन कर रही हूँ; क्योंकि प्रभु ने कहा है कि जो भक्तों में गीताशास्त्र के गूढ़ात्मक रहस्य को कहेगा उसके जैसा कोई मेरा प्रिय न था, न है और न ही रहेगा। क्या जब मैं भगवान की प्रिय बन जाऊँगी तो वह मेरे नाते आपलोगों को प्यार नहीं करेंगे? क्या आपलोगों को भगवान का प्रिय बनना अच्छा नहीं लगता? वैसे भी मैं भगवान को देती भी तो क्या हूँ, एकमात्र श्रद्धापूर्वक पाठ कर लेती हूँ, खाली समय में श्रद्धापूर्वक सहेलियों को सुना देती हूँ, कोई ताम–झाम तो करती नहीं। ऐसे प्रिय वचन भी उन लोगों को अच्छे न लगे, अतः उन्होंने उसे घर से निष्कासित कर दिया और वह पतिसहित किराये के मकान में रहने लगी। प्रभु कृपाप्रसाद ऐसा बरसा कि दो–चार वर्षो में ही वह धनवान हो गयी और उसके सास–ससुर आदि अति दरिद्र हो गये। अन्ततोगत्वा उनकी दुर्दशा उससे देखी न गयी तब वह पुनः उन्हें घर में लाकर उनकी सेवा करने लगी।

सन् १९७८ में महाराज ने एक डकैत को देखा, जिसने दो–चार संतों का गीताभाष्य अपने घर में रखा था। हररोज समय मिलने पर धूप–दीप दिखाकर उन्हें प्रणाम कर लेता। तीन–चार

वर्षों के पश्चात् उसने संन्यास ले लिया और सदा–सर्वदा के लिये अज्ञात हो गया।

इसप्रकार महाराज ने अनुभव किया है कि गीताजी को भगवान समझकर ही कोई श्रद्धाभाव के साथ प्रणाम करे तो उसके पास शीघ्रातिशीघ्र सद्गुरु चला आयेगा जो सम्पूर्ण आवश्यकताओं की आवश्यकता है।

श्रुतिफल कहकर स्वयं प्रभु ने अब प्रसन्न चित्त हुए महात्मा अर्जुन से पूछा–

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥७२॥

हे पार्थ! मुझे जो कुछ भी कहना था, वह सब कह दिया। क्या तुमने मेरे द्वारा कहे हुए ज्ञान को एकाग्रचित्त होकर सुना है? निश्चितरूप से तुमने ध्यान से सुना होगा तो अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला तुम्हारा मोह तो नष्ट हो ही गया होगा। तो बताओ– क्या तुम स्वस्थ चित्त हो गये हो, क्या तुम्हारा शोक–सन्ताप जा चुका है, क्या सहर्ष मेरी आज्ञा का पालन कर सकते हो? ऐसा सुनकर जिनके हृदय की सारी ममता, मोह का उत्पात नष्ट हो गया है, जिनका मुख मण्डल दिव्य तेज से उद्भाषित हो रहा है, जो स्वयं को दिव्य शक्ति से सम्पन्न अनुभव कर रहे हैं, वैसे महात्मा अर्जुन ने बड़ी तेजी के साथ रथ से नीचे उतरकर, गाण्डीव को उठाकर कहा–

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥७३॥

(राग – मालगुंजी)

पाई मैंने माधव स्मृति आज पाई।।
उठा ली धनुष लो करूँ सेवा तुम्हरी।
आयी आज आयी स्मृति मोरी आई।।१।।
पाई मैंने माधव.....

हे अच्युत! हुआ था च्युत आज पद से,
न पहचान पाया तुम्हें अपने मद से।
क्षमादान कर दो हे भक्तन्ह सहाई।।२।।
पाई मैंने माधव.....

न देरी करो अब आज्ञा तो दे दो,
मेरे निमित्त से असुर सारे भेदो।
महाराज देखे यह अद्भुत सगाई।।३।।
पाई मैंने माधव.....

हे अच्युत! मैं सचमुच ही अपने पद से च्युत हो गया था। मैं ही नहीं, मेरी इन्द्रियाँ, मेरे मन, बुद्धि, चित्त ये सब भी अपने पद से च्युत हो चुके थे और अब जब मैं स्वस्थ हो गया हूँ तो ये सब भी स्वस्थ हो गये हैं। हे जगत्पते! मोह–ममता के कारण मुझे आत्मस्वरूप की विस्मृति हो गयी थी, किन्तु अब आपकी महति कृपा से अपने–आपकी स्मृति हो आयी है और शरीरभाव की विस्मृति हो गयी है।

महात्मा अर्जुन ने वीरासन में बैठकर एक हाथ से प्रभु के चरणों को पकड़कर और नेत्रों से प्रभु को देखते हुए कहा कि जल्दी करें माधव! जल्दी करें! हे प्रभु! अब आज्ञा दें, हे सच्चिदानन्द! अब मैं अपने–आपको ही भीतर–बाहर, ऊपर–नीचे सर्वत्र देख रहा हूँ। मरने–मारने की, जीने–जिलाने की कहानी अब मेरे चित्त से निकल गयी है, अतः जल्दी करें, आज्ञा करें ताकि इन सबको मैं ठिकाने लगाऊँ। आपके नरमेध यज्ञ प्रारम्भ करने का सही समय उपस्थित हो गया है। आपका कालाग्निरूप हवनकुण्ड (मुख) धूमरहित हो चुका है तथा वह लपलपाती हुई जिह्वारूपी लपटों से मानो कह रहा है कि हे पार्थ! अब जल्दी करो, प्रेमपूर्वक इन असुरों की मेरे में आहुति दे दो।

जीव जबतक प्रतिज्ञा नहीं करता, तबतक दृढ़व्रती नहीं होता तथा जबतक दृढ़व्रती नहीं होता तबतक संकल्पवान नहीं होता एवं जबतक संकल्पवान नहीं होता तबतक उसके सम्पूर्ण विकल्प धराशायी नहीं होते। अतः साधक एवं भक्त को महत् संकल्प चाहिये। सर्वप्रथम प्रभु ने सम्पूर्ण पापों से महात्मा अर्जुन का उद्धार करने की प्रतिज्ञा की, तब महात्मा अर्जुन से भी नहीं रहा गया। वे भी भगवान से पीछे क्यों रहेंगे, उन्होंने भी गाण्डीव उठाकर प्रभु की आज्ञा पालन करने की प्रतिज्ञा कर ही ली। यहीं पर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द एवं महात्मा अर्जुन की यह दिव्य आख्यायिका भक्तों, साधकों एवं सन्तों के हृदय में अन्तर्ध्यान हो जाती है। क्या वह दिव्य संवाद समाप्त नहीं हुआ? नहीं; क्योंकि ब्रह्म की वाणी व्यापक होती जाती है, व्यापक होती जाती है, व्यापक होती जाती है। सारे के सारे तंत्र, मंत्र, योग च्युत होते (गिरते) देखे जाते हैं लेकिन ब्रह्म की वाणी च्युत नहीं होती। अतः वह भी अच्युत कही जाती है। ब्रह्म अच्युत है, उसकी वाणी अच्युत है, उसका मन अच्युत है, उसकी बुद्धि अच्युत है, उसके नेत्र, कान, नाक आदि सम्पूर्ण अंग–प्रत्यंग भी अच्युत हैं। तो आयें अब भगवान अच्युत के विषय में संजय क्या कहते हैं इसे सुनें–

इस दिव्य घटनाक्रम को देखते हुए भक्त संजय हतप्रभ से रह गये थे। वे कभी–कभी जय हो! जय हो! जय हो! हे प्रभु! आपकी जय हो! ऐसी जयघोष की ध्वनि बीच–बीच में किये जा रहे थे। धृतराष्ट्र भी खूब समझ रहे थे कि लगता है दुर्योधन बाजी हार गया; क्योंकि अवश्य ही अर्जुन ने माधव की आज्ञा पालन करना स्वीकार कर लिया है, तभी यह संजय आनन्द में भरकर धीरे–धीरे जयघोष की ध्वनि कर रहा है। अब प्रकट में होकर धृतराष्ट्र ने पूछा कि क्या हो रहा है संजय? तब गद्गद कण्ठ एवं रूँधे हुए स्वर से संजय ने कहा–

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

हे राजन्! भगवान वासुदेव एवं महात्मा अर्जुन की दिव्य मुद्राओं के सहित दिव्य झाँकी महर्षि व्यास की कृपा से मुझे दिखायी पड़ रही है। उनका यह दिव्य, रोमांचकारी संवाद मुझे बार–बार अन्तर्मुख किये दे रहा है। इन नर–नारायण की झाँकी मेरे हृदय में उतर गयी है, इसलिए परमानन्द मेरे रोम–रोम से बह रहा है। मैं देख रहा हूँ कि महात्मा अर्जुन दायीं भुजा से गाण्डीव को उठाकर, भगवान नारायण के चरणों की मानो सौगन्ध खाकर उठ खड़े हुए हैं तथा सम्पूर्ण सेना की ओर वीरोचित मुद्रा से दृष्टिपात कर रहे हैं। जो विषादरूप हो गये थे, वे ही अब रौद्ररूपवाले हो गये हैं और जल्दी करें! जल्दी करें!! आज्ञा दें! ऐसी आज्ञा माँग रहे हैं।

धृतराष्ट्र ने पूछा कि भगवान मधुसूदन की स्थिति तो बताओ कि वे क्या कर रहे हैं?

संजय ने कहा कि हे राजन्! उनके दिव्य तेजोमय मुखमण्डल से मधुर प्रसन्नता बिखर रही है। अब भगवान भी सब ओर देख रहे हैं। इन दोनों ही गुरु–शिष्यों ने अन्तरिक्ष से लेकर भूतल तक, आगे–पीछे दृष्टिपात कर दिया है। मानो वे दोनों सेनाओं को सन्देश दे रहे हैं कि जैसे रणभूमि में आप सब ने हम दोनों को समय दिया है वैसे ही हम भी आप सब को समय देते हैं कि जिसको जो कुछ भी कहना–सुनना हो वह कह–सुन सकता है या अब आप सभी युद्ध के लिये तैयार हो जायें। यही नहीं, मानो भगवान पुनः कह रहे हैं कि मेरे परम प्रिय शिष्य अर्जुन ने जो मेरी आत्मा है, गाण्डीव उठा ली है। अतः अब उसे आत्मसात् करने के लिये भी आप सब तैयार हो जायें।

हे राजन्! प्रभु प्रसन्नवदन होकर ऐसे देख रहे हैं कि मानो सम्पूर्ण जगत की प्रसन्नता ने उन्हीं को वरण कर लिया हो। उन्होंने एक बार पुनः अर्जुन की ओर निहारते हुए कन्धे पर हाथ रखा है और महात्मा अर्जुन भी उन्हीं की ओर देख रहे हैं। मानो वे कह रहे हैं कि हे प्रभु! आप जल्दी से आज्ञा दें। हे राजन्! कभी दोनों एक–दूसरे को देखकर एक हो जाते हैं और कभी दोनों सम्पूर्ण सेनाओं की ओर दृष्टिपात करने लगते हैं। ये दोनों कभी पितामह की ओर, तो कभी आचार्य द्रोण की ओर, तो कभी कुलगुरु कृपाचार्य की ओर, तो कभी आपके प्रिय पुत्र दुर्योधन की ओर देखने लगते हैं। वे जिन–जिन की ओर देखते हैं, उन–उन का सिर झुक जाता है।

धृतराष्ट्र ने कहा कि ओह! संजय तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। तुम महात्मा हो संजय! महात्मा हो! चलो जो होगा मैं जान गया, लेकिन अब मैं निश्चित ही जीवन धारण करूँगा संजय! जैसे तुमने युद्ध का बिगुल बजने से लेकर अबतक नर–नारायण की झाँकी को प्रकाशित

किया है, वैसे ही युद्धभूमि में जब कभी इन दोनों का संवाद हो अथवा दोनों जब इस रणभूमि में किसी को कुछ न समझते हुए अभय मुद्रा में स्वच्छन्द विचरण करें तो उनकी उन मुद्राओं को भी मुझे बताते रहना।

आपकी जैसी इच्छा राजन्! महर्षि व्यास ने मेरे ऊपर आपके कारण से ही तो कृपा की है। अवश्य आपने कुछ पुण्य कर्म किया है अथवा आपका अवश्य कुछ उनके चरणों में समर्पण है तभी तो उन्होंने आपकी सेवा में मुझे नियुक्त किया है! इसलिए मैं आपके सौभाग्य की सराहना करता हूँ। हो सकता है कि कालान्तर में यह युद्ध ही आपके परम सौभाग्य का कारण बनें और आप संन्यास ले लें। हे राजन्! महर्षि व्यास की कृपा आपके माध्यम से मेरे पर ही हो गयी है। इस दिव्य संवाद को सुनकर मेरा हृदय आह्लाद से भर गया है। मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह दिव्य दर्शन एवं दिव्य संवाद मुझे प्राप्त होगा। अतः–

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥७७॥

हे राजन्! इस समय तो मैं बोलने की स्थिति में भी नहीं हूँ; क्योंकि नर–नारायण के दिव्य संवाद ने मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। अतः मैं चाहकर भी किसी अन्य विषय पर ध्यान नहीं दे पा रहा हूँ।

(तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य.....) हे राजन्! जब मैं प्रभु के विश्वरूप को स्मरण करता हूँ तो बस आश्चर्य की तरह देखता रह जाता हूँ। बस वह निर्गुण–निराकार, वह दिव्य तेजोमय अद्भुत झाँकी सर्वत्र दिखायी पड़ने लगती है। हे भूपाल! विश्वरुप के दर्शन के पूर्व भी भगवान के बहुत से दिव्य रूपों को मैंने देखा। कभी उन्हें सौम्य एवं शान्त रस में होकर महात्मा अर्जुन को सान्त्वना देते देखा है, तो कभी श्रृंगाररूप होकर प्रकृति के मधुर स्वरूप का वर्णन करते देखा है, और कभी रौद्ररुप होकर प्रचण्ड कालाग्निरूपी मुख से सम्पूर्ण जगत को निगलते हुए देखा है। इसप्रकार वे अद्भुत झाकियाँ मेरे मानसपटल पर आ–आकर मुझे अपनी ओर बरबस खींच लेती हैं। अब तो मैं सोच रहा हूँ राजन् कि युद्ध को भी देख पाऊँगा अथवा नहीं। लेकिन चूँकि भगवान नारायण इस दिव्य रथ पर विद्यमान हैं और वे पता नहीं अभी इस युद्धभूमि में कितने दिव्य रूप दिखायेंगे, उन्हीं दिव्य रूपों के दर्शन की कामना से ही मैं इस युद्ध को देख पाऊँगा राजन्! इसप्रकार कहते–कहते भावावेश में आकर संजय ने भी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की भाँति महात्मा अर्जुन के विजय की उद्घोषणा कर दी–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥७८॥

हे राजन्! जिसके रथ पर योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और सम्पूर्ण जीवन को दाव पर लगाकर उनके चरणों में समर्पित हुए भक्त अर्जुन हैं, वहाँ विजय, विवेक एवं विभूतियाँ आकर अपने–आपको समर्पित कर देती हैं– ऐसा मेरा निश्चित मत है।

इतना ही नहीं, हे नरेश! जहाँ अर्जुन जैसे शिष्य के लिये योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण जैसे सद्गुरु प्राप्त हैं वहीं सम्पूर्ण भौतिक अथवा आध्यात्मिक विजय सुनिश्चित है। हे राजन्! पितामह, आचार्यद्रोण, कुलगुरु कृपाचार्य आदि ये भौतिक विवेकवान हैं, इसीलिये वे भौतिक विज्ञानवादी ही होकर रह गये, वहीं पर महात्मा अर्जुन अब आध्यात्मिक विवेक से सम्पन्न हैं। अतः इनके सामने इन सबका विवेक निष्क्रिय होकर रह जायेगा। जीव के निमित्त की हुई प्रतिज्ञा, आध्यात्मिक विवेक का कारण नहीं बनती राजन्! वह प्रतिज्ञा तो विवेक को अपहृत करनेवाली होती है। यह आचार्यद्रोण का वही तुच्छ विवेक है, जिससे प्रेरित होकर वे पुत्र की प्रसन्नता के लिये युद्ध करने को खड़े हैं, यह वही तुच्छ विवेक है जिसने कुलगुरु कृपाचार्य को शिष्यों के दो पक्षों में से एक पक्ष में लाकर खड़ा कर दिया है। अतः वहाँ पर पराजय तो सुनिश्चित है राजन्! आपकी सारी की सारी विभूतियों का सर्वनाश सुनिश्चित है। मेरी इस यथार्थ अनुभूति को देखने के लिये आप प्रतीक्षा करें।

(यत्र योगेश्वरः कृष्णो.....) इसप्रकार सृजन, संहार एवं पालनरूपी शक्ति से सम्पन्न सद्गुरु की अध्यक्षता में यदि महात्मा अर्जुन जैसा शिष्य हो, गुडाकेश अर्जुन जैसा शिष्य हो, जितेन्द्रिय अर्जुन जैसा शिष्य हो, महाबाहो अर्जुन जैसा शिष्य हो, परन्तप अर्जुन जैसा शिष्य हो तो उसी के चरणों को आध्यात्मिक विजय चूमती है, सम्पूर्ण सिद्धियाँ उसी के शरणागत होकर अपने–आपको धन्य समझती हैं।

महाराज भी चाहता है कि आप भी गुडाकेश हों, महाबाहो हों, परन्तप हों; आप भी अपनी साध्वी माँ की लाज बचायें, जिसने आपको भगवत्प्राप्ति के लिये ही जन्माया है। जिन साधकों ने संन्यास ले लिया है, वे अपनी शक्ति–सामर्थ्य को समझें। उनका संन्यास लेना प्रभुकृपा का प्रसादरूप फल ही है, उनके लिये तो सद्गुरु विशेष सार्थक है। जो इस युद्धभूमि में आने के उपरान्त मुड़कर पीछे देखता है, उसे प्रत्यवायदोष लग जाता है। यह दोष आपको न लगे, इसलिए आप विषयता को छोड़ दें, शृंगारराग को छोड़ दें तथा त्यागराग गायें। संन्यासी त्यागराग गाता है और विषयी शृंगारराग गाता है, कामी कामराग गाता है, क्रोधी क्रोधराग गाता है– ये सब रागिनियाँ हैं। आप त्यागराग गायें फिर देखें कि आपका त्याग ही ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म आपका त्याग है तथा निर्गुण ब्रह्म आपकी आत्मा है। आपके त्यागरूप हृदय में ही सद्गुरु का सिद्धान्त बैठता है। यदि संन्यास लेने के उपरान्त भी आप हररोज पराजित होते हैं तो आप जान लें कि आप त्यागराग उचित रीति से नहीं गा रहे हैं। यदि आप भलीभाँति त्यागराग नहीं गा पा रहे हैं तो महाराज के हृदय से प्रकट हुए इस गीताभाष्य का पठन, पाठन एवं चिन्तन, मनन करें फिर देखें कि आप त्यागराग कैसे नहीं गा पाते? यदि आप इस भाष्य को चिन्तन का विषय बनाते हैं तो निश्चितरूप से वह त्याग आपका प्राण बन जायेगा; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

बन जायेगा। इतना ही नहीं, द्वैताद्वैत से परे परमपद को देनेवाला बन जायेगा। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है, जिसमें साधना का महत्त्व नहीं है, साध्य तो है लेकिन साधना नहीं है। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जिसमें दर्शन का महत्त्व है, समर्पण का महत्त्व है। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जिसमें प्रत्यवायदोष होता ही नहीं। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जिसके पठन, पाठन, श्रवण, मनन, चिन्तन मात्र से गायत्री मंत्र, महामृत्युञ्जय मंत्र, नवार्ण मंत्र के जप का फल स्वतः ही मिल जाता है। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जिसके अधिकारी स्वामी, सेवक, माता, पिता, पुत्र, नाती, पोते; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कोल, भील, चाण्डाल, म्लेच्छ एवं स्त्री आदि सभी हैं। जिसके पठन, पाठन में शुद्धि–अशुद्धि का कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है, फिर भी फल मिलता है, जिसके सुनने मात्र से फल मिलता है। यह ऐसी ब्रह्मविद्या है जो सबके लिये साध्य है। यह ऐसी ब्रह्मविद्या (गीता) है जो हाथ में आते ही जीवनदान दे देती है। यह गीताशास्त्र ऐसी ब्रह्मविद्या है जो मात्र हाथ में आयी है, अभी स्वाध्याय किया ही नहीं गया है, तो भी कोई आपको शस्त्र से नहीं मार सकता, जल डुबो नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती। आप भगवान की आत्मा हैं, आपके लिये ही यह ब्रह्मविद्या है। अतः महाराज भी इस ब्रह्मविद्या को आपलोगों के हृदय में बैठे हुए आपलोगों के इष्ट को ही समर्पित करता है। बड़े प्रेम से इस ब्रह्मविद्यारूपी शास्त्र को गुरुदेव ने महाराज को दिया था और कहा था कि इससे प्राप्त अपने अनुभव को डायरी पर लिखते जाना। महाराज ने बड़े आदर, मान, सम्मान के साथ उस आज्ञा को स्वीकार किया और उसी दिन से दिव्य अनुभव को अपने हृदयरूपी डायरी पर लिखना प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि इससे पवित्र, स्वच्छ और निर्मल कोई डायरी नहीं हो सकती। अवसर पाकर महाराज ने उसी हृदयरूपी डायरी के पन्ने से निकालकर आपके हृदय में इसे लिपिबद्ध किया है जो समयानुसार फलवती होती रहेगी। यह ब्रह्मविद्या गुरुयोग से प्रकट होती है तथा परस्पर के योग से इसका प्रचार–प्रसार होता है। यह कहने, सुनने से व्यापक होती जाती है; इसी से इसे श्रुति कहते हैं।

महाराज के द्वारा गीताभाष्य होने का श्रेय आत्मानन्द, रामानन्द, शेषानन्द, अवधेशानन्द, राधेश्याम एवं मुन्नालाल (ग्वालियर) को प्राप्त होता है; क्योंकि इन्हीं लोगों ने गीताभाष्य करने के लिये कई वर्षों तक महाराज का पीछा किया। अन्ततोगत्वा इस वर्ष (मार्च–२००५) ऋषिकेश में इनलोगों ने गीताभाष्य करने के लिये घेर ही लिया। महाराज को भी परम पूज्य गुरुदेव की कही हुई बात याद आ गयी। अतः इनलोगों के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा श्रीसंवत् २०६२ फाल्गुन शुक्ल पक्ष पूर्णिमा दिन शुक्रवार तदनुसार दिनांक २५.०३.२००५ को गीताभाष्य सहज ही साधकों के बीच गंगाजी के तट पर श्रीभागीरथी धाम (ऋषिकेश) में प्रारम्भ हो गया। इसप्रकार अबाध गति से चलते हुए श्रीसंवत् २०६२ ज्येष्ठ कृष्णपक्ष अमावस्या दिन सोमवार तदनुसार दिनांक ०६.०६.२००५ को भाष्य पूरा हुआ। जिसे हररोज शंकरानन्द लिपिबद्ध करते गये और अशोकानन्द ने भी यथासम्भव सहयोग किया। गीताभाष्य में आये हुए गेय छन्दों एवं पदों को दिव्य राग–रागिनियों से गाकर श्री उमानाथ शरण 'प्रेमी' संगीताचार्य (मुंगेर, बिहार) ने भी हृदय से अपनी सेवा प्रस्तुत की है। इस भाष्य में शब्दों की शुद्धि–अशुद्धि का ध्यान अपने

साधकों एवं भक्तों ने ही किया जिनके नाम श्रोताओं में दिये गये हैं उनके अतिरिक्त चूहीरामजी, सीमा, बिमला, बबिता (कमरऊ, हि.प्र.), नीरू (दिगाली, हि.प्र.), सुदामाजी, दिनेशजी, अशोकजी, अंकितजी, जयराम प्रसादजी (पूर्व प्रचार्य), शंकर प्रसादजी एवं शिव कुमारजी (वाराणसी, उ.प्र.), प्रकाशजी, रामचन्द्रजी (बरकट्ठा, झारखण्ड), राधेश्यामजी (सासाराम, बिहार) तथा समयानुसार इनलोगों का समाधान करनेवाले डॉ० मधुरेन्द्रजी (भभुआ, बिहार, हिन्दू कालेज मुरादाबाद युनिवर्सिटी में कार्यरत) और धर्मेन्द्रजी (समाजशास्त्री) एवं आशा (इमीलियाँ, पटना बिहार) एवं ब्रह्मचारी पाडुरंग (महाराष्ट्र), कम्प्यूटर पर अथक प्रयास के साथ भाष्य को अंकित करने का श्रेय जाता है सत्यव्रत शर्मा (उत्कर्ष सेन्टर, ऋषिकेश), रक्षा–अक्षर (श्रीभागीरथी धाम) एवं पंकज और गौरव (बिट्टू) दिल्ली तथा इन सबकी सेवा का श्रेय प्राप्त होता है हरिओम, अभिषेक (श्रीभागीरथी धाम) एवं योगेश (तिल्लौर, इन्दौर, म.प्र.) को। साधकों के मध्य भाष्य किये जाने के कारण बहुत से विषय सर्वसाधारण के योग्य नहीं थे, इसलिए महाराज ने आत्मानन्द, पुष्करानन्द एवं अभयानन्द के अथक प्रयास से उन विषयों को निकालकर भाष्य को इसरूप में लिपिबद्ध कराया। गीताभाष्य सुननेवाले साधकों, आत्मानन्द, रामानन्द, अवधेशानन्द, अभयानन्द, अशोकानन्द, शेषानन्द, शंकरानन्द, पूर्णानन्द, कृपानन्द, रमेशानन्द, पुष्करानन्द, भूषणानन्द, शरदानन्द, राघवानन्द, सुदामानन्द (नमः शिवाय), मंगलानन्द, खगेन्द्रानन्द, श्यामानन्द, महेशानन्द, उमेशानन्द, सच्चिदानन्द, माधवानन्द, भृगुनाथजी एवं गिरिजा माई (पति–पत्नी), पार्वती माई, जयप्रकाशजी, यशोदा माई (रानी), हरिश्चन्द्र (पीली धोतीवाले) एवं हनुमानदास और बाबूलाल ने अपने भक्तिभाव एवं समर्पण से महाराज को सन्तुष्ट कर दिया है।

जिसप्रकार गीताजी का प्रादुर्भाव होने में निमित्त महात्मा अर्जुन थे, उसीप्रकार महाराज द्वारा गीताभाष्य प्रकट होने में ये उच्चकोटि के तपस्वी, वीतरागी एवं संन्यासी साधक ही निमित्त हैं। ये दिव्य श्रोता श्रवण करने में थकते नहीं थे। इनकी गीताजी के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा, श्रद्धा एवं भाव–भंगिमा को देखकर महाराज का हृदय आनन्दातिरेक से बार–बार रोमांचित हो जाता है। अब जब महाराज इन साधकों के दिव्य हृदय में बैठे हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द एवं उनके परम प्रिय शिष्य महात्मा अर्जुन से विदा ले रहा है तो इनकी वन्दना करने का जी (मन) चाहता है लेकिन इन दोनों ही गुरु–शिष्य की जोड़ी ने महाराज का मन अपनी तरफ खींच लिया है, अतः वाणी भी अन्तर्मुख हुई जा रही है। तो क्या हुआ– वे मन ले लेंगे, वाणी ले लेंगे किन्तु आत्मस्मृति तो नहीं ले पायेंगे? उस आत्मस्मृति से ही महाराज मिश्रित भैरवी (राग) में वन्दना कर ही लेगा।

महात्मा अर्जुन ने महाराज के भारी होते हुए मन को देखा और दया से अभिभूत हो गये, इसलिए उन्होंने प्रभु से कहा हे माधव! हम इनका मन दे दें क्योंकि मन छिन जाने से इनकी वाणी किसी काम की नहीं, ये तो द्रष्टा होकर रह जायेंगे।

प्रभु ने जल्दबाजी की मुद्रा में कहा– ये क्या कह रहे हो पार्थ? इसने भाष्य करते समय हम दोनों के मन को चुरा रखा था। अतः अब हमारी बारी है कि हम दोनों इसके मन, वाणी

दोनों को चुरा लें। अच्छा! तो जल्दी करो भागो यहाँ से अन्यथा यह हम दोनों का पीछा नहीं छोड़ेगा। बहुत कुछ हमारा राज तो इसने खोल ही दिया है अब भी जो कुछ शेष बचा है जिसे हम छिपाना चाहेंगे, वह भी खोल देगा।

महाराज ने कहा– नहीं, नहीं, हे महावीर अर्जुन! आप प्रभु से कहें, ये ऐसा न करें; क्योंकि महाराज ने इस मन को, इस वाणी को गीता प्रेमी साधकों को, भक्तों को देने के लिए बचा रखा है यह तो उनके साथ अन्याय होगा? इन बिचारों ने प्रभु का क्या बिगाड़ रखा है, यदि दण्ड देना ही है तो महाराज को लेकर भाग जायें और तन, मन, वचन, हृदय इन जिज्ञासु साधकों के लिए छोड़ दें।

हे प्रभु! ये ठीक कह रहे हैं, ऐसा करना तो उनके साथ नहीं बल्कि इन साधकों एवं भक्तों के साथ अन्याय होगा।

अर्जुन! तुम समझ नहीं रहे हो, आखिर अपनी सारी पोल खुलवाना चाहते हो क्या?

हे प्रभु! हम दोनों की पोल ये खोलें! मैं ऐसा नहीं समझता।

हे पार्थ! ऐसा न कहो जब तुम विषादी बनकर मेरे रहस्यों को मेरे से ही उद्भाषित करा सकते हो तो क्या यह परम विरागी बनकर, परम आतुर बनकर, परम विरही बनकर मुझे अपने अन्य रहस्यों को खोलने के लिए बाध्य नहीं कर लेगा?

महात्मा अर्जुन को प्रभु की बात कुछ जँच गयी और वे मुसकराते हुए मौन हो महाराज की तरफ देखने लगे।

तब महाराज ने कहा– हे जितेन्द्रिय! हे सन्त एवं भक्त रक्षक अर्जुन! यह समय प्रभु की बातों में आने का नहीं है। महाराज भी प्रभु से मन एवं वाणी लेने में आपको ही निमित्त बनाना चाहता है। जब ये आपके जीवनरथ को अपने अनुसार चला सकते हैं तो क्या आप इनके जीवनरथ को हिला भी नहीं सकते? ये मत भूलें कि आपका काम बन गया है तो आप भक्तों एवं सन्तों का काम बनाने के लिए ही इस युद्धभूमि में उतरे हुए हैं। यदि आप निमित्त नहीं बनेंगे तो महाराज के पास दूसरा विकल्प भी है।

हाँ पार्थ! ये ठीक कह रहे हैं। यदि मैं तुम्हारे कहने से इनकी वाणी एवं मन नहीं लौटाऊँगा तो ये इस रथ पर बैठे हुए भक्त हनुमान से उलाहना देंगे और निश्चितरूप से हनुमान इन्हीं का ही पक्ष लेंगे। अतः मैं तुम्हारे कहने से ही इनका मन एवं वाणी लौटा दूँगा। दोनों ही नर–नारायण की जोड़ी का परस्पर में यह मधुर संवाद हो ही रहा था कि महाराज का स्वर फूट पड़ा, प्रातः काल होने के कारण भैरवी आकर सामने नृत्य करने लगी और वन्दना बहने लगी–

वन्दना करुँ ना करुँ स्वर गीला हो रहा।
क्रन्दना करुँ ना करुँ मन ढीला हो रहा।।
प्रभु के चरण तो दिख ही रहे,

प्राण सारी कहानी लिख ही रहे।
स्यन्दना धरुँ ना धरुँ तन पीला हो रहा।।१।।
वन्दना करुँ ना करुँ.....
आधी उमर मेरी बित ही गयी,
झोली भरी थी रित ही गयी ।
व्यंजना तरुँ न तरुँ चक्र ढीला हो रहा।।२।।
वन्दना करुँ ना करुँ.....
हे अर्जुन दिला दो मन को प्रभु से।
महाराज माँगे सबके विभु से।
रंजना करुँ ना करुँ "मैं" अकेला हो रहा।।३।।
वन्दना करुँ ना करुँ.....

इसप्रकार इस दर्द भरी वेदना को प्रभु ने पहचाना और जगत–हितार्थ महाराज के मन एवं वाणी को लौटा दिया। इसप्रकार भक्तों के हृदयरूपी रथ पर बैठे हुए भगवान नारायण एवं नररूप अर्जुन को तथा आप सब के इष्ट को महाराज प्रणाम करता है, प्रणाम करता है, प्रणाम करता है तथा उन्हीं की प्रेरणा से किये हुए इस दिव्य भाष्य को उन्हीं के चरणों में समर्पित करता है।

ॐ मासपारायण, तीसवाँ विश्राम ॐ
ॐ अर्धमासपारायण, पंद्रहवाँ विश्राम ॐ

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मविद्यारूप योगशास्त्र में भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का संवादरूप मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

जिसप्रकार शरीर पर वस्त्र होते हैं जिन्हें समयानुसार बदल दिया जाता है; ठीक उसीप्रकार यह शरीर भी जीवात्मा पर वस्त्र के समान होता है, जो बचपन से जवानी में, जवानी से बुढ़ापे में, बुढ़ापे से मृत्यु में, मृत्यु से पुनर्जन्म में बदलता रहता है; किन्तु जीवात्मा जो बचपन में रहता है वही जवानी में रहता है, जो जवानी में रहता है वही बुढ़ापे में रहता है, जो बुढ़ापे में रहता है वही मृत्यु में रहता है, जो मृत्यु में रहता है वही पुनर्जन्म में रहता है; क्योंकि वह अजर है अमर है शाश्वत है सनातन है पुरातन है अव्यय है अविनाशी है घट–घटवासी और सुख की राशि है। अतः आज से गुरु आदेशानुसार मैं अपने आपको शरीर न मानकर आत्मा जीवात्मा अन्तरात्मा मानूँगा तथा जानूँगा/मानूँगी तथा जानूँगी।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि–हिय–कमल विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते।। जय०।।

कर्म–सुमर्म–प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान–विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा।।जय०।।

निश्चल–भक्ति–विधायिनि, निर्मल मलहारी।
शरण–रहस्य–प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी।।जय०।।

राग–द्वेष–विदारिणी, कारिणि मोद सदा।
भव–भय–हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा।।जय०।।

आसुर–भाव–विनाशिनि, नाशिनि तम–रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि–रसिका सजनी।।जय०।।

समता, त्याग सिखावनि, हरि–मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी।।जय०।।

दया–सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरिपद–प्रेम दान कर अपनो कर लीजै।।जय०।।